संवत् २०३४, शक १९००, सन् १९७८

[illegible] आवृत्ति

प्रकाशक और मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय-मण्डल, भारत मुद्रणालय,
किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

अनुशासनपर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारत सरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिये हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिये हम माननीय श्री स्व. गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ जी. एम. बिरलाजीका भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिये हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।





महाभारत

अनुशासनपर्व

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

युधिष्ठिर उवाच—

शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह ।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति कृत्वेदमीदृशम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! शोकसे पार होनेके लिये उपाय स्वरूप सूक्ष्म शान्तिका अनेक तरहसे आपने वर्णन किया है; परन्तु आपने यह ऐसा उपदेश करनेपर भी मेरा अन्तःकरण शान्त नहीं होता है ॥ १ ॥

अस्मिन्नर्थे बहुविधा शान्तिरुक्ता त्वयानघ ।
स्वकृते का नु शान्तिः स्याच्छमाद्बहुविधादपि ॥ २ ॥

हे अनघ ! इस विषयमें आपने शान्तिके अनेक प्रकारके उपाय कहे हैं, परंतु अनेक प्रकारके शान्तिके उपाय जाननेसे स्वयं किये हुए पापोंसे मनकी शान्ति किस प्रकार हो सकती है ? ॥ २ ॥

शराचितशरीरं हि तीव्रव्रणमुदीक्ष्य च ।
शमं नोपलभे वीर दुष्कृतान्येव चिन्तयन् ॥ ३ ॥

हे वीर ! आपका शरीर बाणोंसे सब प्रकार परिपूरित और तीव्र घावोंसे युक्त देखकर निज पापोंको सोचके मैं शान्तिका लाभ करनेमें असमर्थ होरहा हूं ॥ ३ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाचलम् ।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम् ॥ ४ ॥

हे पुरुषप्रवर ! पर्वतसे गिरनेवालेकी भांति आपके शरीरसे रुधिर बहकर सारे अंग खूनसे परिपूरित हो गये हैं; यह देखकर मैं वर्षाकालके कमलकी भांति दुःखी होता हूं ॥ ४ ॥

अतः कष्टतरं किं नु मत्कृते यत्पितामहः ।
इमामवस्थां गमितः प्रत्यमित्रै रणाजिरे ।
तथैवान्ये नृपतयः सहपुत्राः सबान्धवाः ॥ ५ ॥

इससे बढके और क्या कष्ट होगा, कि हमारे लिये युद्धमें शत्रुओंने आप हमारे पितामहको इस अवस्थामें पहुंचा दिया और दूसरे राजा लोग भी पुत्र तथा बान्धवोंके सहित मेरे ही लिये मारे गये हैं ॥ ५ ॥

वयं हि धार्तराष्ट्राश्च कालमन्युवशानुगाः ।
कृत्वेदं निन्दितं कर्म प्राप्स्यामः कां गतिं नृप ॥ ६ ॥

हे राजन् ! हम लोग तथा धृतराष्ट्रके पुत्र काल और क्रोधके वशमें होकर यह निन्दित कर्मके करनेसे कैसी गतिको पावेंगे ॥ ६ ॥

अहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा ।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ ॥ ७ ॥

मैं आपका नाशक और सुहृदोंका वध करनेवाला होकर, आपको पृथ्वीपर पडे और दुःखित देखकर किसी प्रकार भी शान्ति लाभ करनेमें समर्थ नहीं होता हूं ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच—

परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि ।
कर्मण्यस्मिन्महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम् ॥ ८ ॥

भीष्म बोले— हे महाभाग ! काल, प्रारब्ध और ईश्वरके आधीनमें रहनेवाले तुम सदा परतन्त्र हो, फिर किस लिये अपनेको पापपुण्यका कारण समझते हो ? कर्मोंका कारण सूक्ष्म है, इससे वह मनसे प्रत्यक्ष नहीं होता और अतीन्द्रिय है ॥ ८ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः　　॥ ९ ॥

इस विषयमें विद्वान् लोग काल, व्याध, सर्पके सहित मृत्यु और गौतमीके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासको कहा करते हैं ॥ ९ ॥

गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता ।
सर्पेण दष्टं स्वं पुत्रमपश्यद्गतचेतनम्　　॥ १० ॥

हे कुन्तीपुत्र ! गौतमी नामकी एक शम गुणसे युक्त बूढी ब्राह्मणीने निज पुत्रको सांपके काटनेसे चेतनारहित देखा ॥ १० ॥

अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः ।
लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत्　　॥ ११ ॥

अनन्तर अर्जुनक नामवाले किसी व्याधने क्रोधके वशमें होकर उस सांपको तांतके जालसे बांधके गौतमीके समीप लाया ॥ ११ ॥

तां चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः ।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना　　॥ १२ ॥

लाकर उससे कहा— हे महाभागे ! यह अधम सर्प तुम्हारे पुत्रका नाशक है, इसलिये किस प्रकार इसका वध करूं, सो शीघ्र कहो ॥ १२ ॥

अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा ।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति　　॥ १३ ॥

इसको आगमें डालूं अथवा टुकडे टुकडे करके काटूं ? यह बालकका नाशक पापात्मा बहुत समय तक जीवित रहनेके योग्य नहीं है ॥ १३ ॥

गौतम्युवाच—

विसृजैनमबुद्धिस्त्वं न वध्योऽर्जुनक त्वया ।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात्प्रारब्धे सति चिन्तयन् ।　　॥ १४ ॥

गौतमी बोली— हे अर्जुनक ! तुम इसे छोड दो; तुम्हें बुद्धि नहीं है; तुम इसका वध न करना । प्रारब्ध कोई टाल नहीं सकता, यह जानकर उसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पापका भार ला देगा ? ॥ १४ ॥

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः ।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके　　॥ १५ ॥

इस लोकमें धर्मसे चलकर जो लोग अपनेको हलके रखते हैं, वेही जलके बीच नौकाकी भांति संसाररूपी समुद्रसे पार होते हैं; और जो लोग पापके द्वारा भारी हुए हैं, वे जलके बीच गिरे हुए शस्त्रकी भांति डूब जाते हैं ॥ १५ ॥

×

न चामृत्युर्भविता वै हतेऽस्मिन्को वात्ययः स्यादहतेऽस्मिञ्जनस्य ।
अस्योत्सर्गे प्राणयुक्तस्य जन्तोर्मृत्योर्लोकं को नु गच्छेदनन्तम् ॥ १६ ॥

इसे मारनेसे मेरा मरा हुआ पुत्र जीवित न होगा, और इस सर्पके जीते रहनेमें ही तुम्हारी कौनसी बुराई होगी ? इस प्राणयुक्त जीवको मारके कौन पुरुष यमराजके अनन्त लोकमें जायगा ? ॥ १६ ॥

लुब्धक उवाच—

जानाम्येवं नेह गुणागुणज्ञाः सर्वे नियुक्ता गुरवो वै भवन्ति ।
स्वस्थस्यैते तूपदेशा भवन्ति तस्मात्क्षुद्रं सर्पमेनं हनिष्ये ॥ १७ ॥

व्याध बोला— मैं जानता हूं, कि गुण और अवगुणोंको जाननेवाले बडे लोग सबकी पीडासे पीडित हुआ नहीं करते हैं; परन्तु ये सब उपदेश भले चङ्गेके लिये हैं, दुःखितके लिये नहीं हैं, इसलिये इस क्षुद्र सर्पको मैं मार डालूंगा ॥ १७ ॥

समीप्सन्तः कालयोगं त्यजन्ति सद्यः शुचं त्वर्थविदस्त्यजन्ति ।
श्रेयःक्षयः शोचतां नित्यशो हि तस्मात्त्याज्यं जहि शोकं हतेऽस्मिन् ॥ १८ ॥

शमयुक्त मनुष्य ' कालके सहारेसे इसका नाश हुआ है ' ऐसा समझकर शोक नहीं करते और प्रतिकार करनेवाले पुरुष उस ही समय शत्रुको मारके शोक परित्याग किया करते हैं; दूसरे लोग कल्याणका नाश होनेपर सदा उसके लिये शोक करते रहते हैं, इसलिये मेरे हाथसे इस सांपके मरनेसे तुम शोक परित्याग करो ॥ १८ ॥

गौतम्युवाच—

न चैवार्तिर्विद्यतेऽस्मद्विधानां धर्मारामः सततं सज्जनो हि ।
नित्यायस्तो बालजनो न चास्ति धर्मो ह्येष प्रभवाम्यस्य नाहम् ॥ १९ ॥

गौतमी बोली— समान लोगोंको इस प्रकार कभी किसी तरहकी हानिसे पीडा नहीं होती, क्योंकि सज्जन लोग सदा ही धर्मपरायणतामें आनन्द मानते हैं; इस बालककी मृत्युका यही समय निर्दिष्ट था। इसलिये इस सांपके नाश करनेमें मैं असमर्थ हूं, क्योंकि यह धर्म नहीं है ॥ १९ ॥

न ब्राह्मणानां कोपोऽस्ति कुतः कोपाच्च यातना ।
मार्दवात्क्षम्यतां साधो मुच्यतामेष पन्नगः ॥ २० ॥

ब्राह्मणोंको क्रोध नहीं होना चाहिये, फिर कोपके कारण दूसरोंको दुःख कैसे देंगे ? हे साधु ! इसलिये तुम भी कोमलताका अवलम्बन करके क्षमा करो और इस सर्पको छोड दो ॥ २० ॥

लुब्धक उवाच—

हत्वा लाभः श्रेय एवाव्ययं स्याल्लघ्वो लाभो बलवद्भिः प्रशस्तः ।

कालाल्लाभो यस्तु सद्यो भवेत हते श्रेयः कुत्सिते त्वीदृशे स्यात् ॥ २१ ॥

व्याध बोला— इसे मारनेसे जो लाभ होगा, वही अक्षय लाभ है । शक्तिमानोंसे शीघ्र ही लाभ उठाना, उत्तम है । कालसे आजही जो लाभ होगा, वही इस नीच सर्पके मारनेसे श्रेयस्कर होगा ॥ २१ ॥

गौतम्युवाच—

कार्थप्राप्तिर्गृह्य शत्रुं निहत्य का वा शान्तिः प्राप्य शत्रुं नमुक्त्वा ।

कस्मात्सौम्य भुजगे न क्षमेयं मोक्षं वा किं कारणं नास्य कुर्याम् ॥ २२ ॥

गौतमी बोली— शत्रुको पराजित करके उसे मारनेसे क्या अर्थ–लाभ है ? और शत्रुको अपने वशमें करके फिर उसे न छोड देनेसे किस शान्तिकी प्राप्ति होती है ? हे सौम्य ! इसलिये किस निमित्त मैं इस सर्पके अपराधको क्षमा न करूं ? और किस कारणसे ही इसके छुडानेके निमित्त यत्नवती न हूंगी ? ॥ २२ ॥

लुब्धक उवाच—

अस्मादेकस्माद्बहवो रक्षितव्या नैको बहुभ्यो गौतमि रक्षितव्यः ।

कृतागसं धर्मविदस्त्यजन्ति सरीसृपं पापमिमं जहि त्वम् ॥ २३ ॥

व्याध बोला— हे गौतमी ! इस एक सर्पसे अनेक प्राणियोंके जीवनकी रक्षा करनी उचित है और अनेकोंको त्यागके एककी रक्षा करना योग्य नहीं है । धर्म जाननेवाले मनुष्य अपराधीको त्याग देते हैं, इसलिये तुम इस पापी सांपका वध करो ॥ २३ ॥

गौतम्युवाच—

नास्मिन्हते पन्नगे पुत्रको मे संप्राप्स्यते लुब्धक जीवितं वै ।

गुणं चान्यं नास्य वधे प्रपश्ये तस्मात्सर्पं लुब्धक मुञ्च जीवम् ॥ २४ ॥

गौतमी बोली— हे व्याध ! इस सर्पके मारनेसे मेरा पुत्र फिर जीवित नहीं होगा और इसका वध करनेसे दूसरा कुछ पुण्य भी मुझे नहीं दीखता है, इसलिये इस सर्पको जीते ही छोड दो ॥ २४ ॥

लुब्धक उवाच—

वृत्रं हत्वा देवराट् श्रेष्ठभाग्वै यज्ञं हत्वा भागमवाप चैव ।

शूली देवो देववृत्तं कुरु त्वं क्षिप्रं सर्पं जहि मा भूद्विशङ्का ॥ २५ ॥

व्याध बोला— देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारके श्रेष्ठ पदका लाभ किया है, त्रिशूलधारी महादेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस करके यज्ञ–भाग पाया है, इसलिये तुम्हें भी देवताओंके व्यवहारका आचरण करना योग्य है; शीघ्र ही इस सर्पको मार डालो, इसमें कुछ भी शङ्का मत करो ॥ २५ ॥

भीष्म उवाच—

असकृत्प्रोच्यमानापि गौतमी भुजगं प्रति।
लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम् ॥ २६ ॥

भीष्म बोले– व्याधने सांपको मारनेके लिये गौतमीको वार वार उत्तेजित किया, परन्तु उस महाभागाने पापकार्यमें मन नहीं लगाया ॥ २६ ॥

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात्संस्तभ्य पन्नगः।
उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः ॥ २७ ॥

अनन्तर पाश पीडित सर्प लम्बी स्वांस छोडके अत्यन्त कष्टसे धीरज धरके मृदुस्वरसे मनुष्यकी वाणीमें बोलने लगा ॥ २७ ॥

को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश।
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत् ॥ २८ ॥

हे मूर्ख अर्जुनक ! इस विषयमें मेरा क्या दोष है ? मैं पराधीन और परवश हूं, इसलिये मृत्युने ही मुझे इसके लिये प्रेरणा की थी ॥ २८ ॥

तस्यायं वचनाद्दष्टो न कोपेन न काम्यया।
तस्य तत्किल्विषं लुब्ध विद्यते यदि किल्विषम् ॥ २९ ॥

मैंने मृत्युकी आज्ञानुसार इसे काटा है, कोप अथवा कामनानुसार दंशन नहीं किया है; इसमें यदि पाप हो, तो जिसने मुझे प्रेरणा की है, वह पाप उसे ही लगेगा ॥ २९ ॥

लुब्धक उवाच—

यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम्।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात्त्वमपि किल्विषी ॥ ३० ॥

व्याध बोला– हे भुजङ्ग ! यदि तुमने दूसरेके वशमें होकर यह अशुभ कर्म किया है, तोभी तुम इस विषयमें कारण हो; इसलिये तुम भी पापभागी हो ॥ ३० ॥

मृत्पात्रस्य क्रियायां हि दण्डचक्रादयो यथा।
कारणत्वे प्रकल्प्यन्ते तथा त्वमपि पन्नग ॥ ३१ ॥

हे सर्प ! जैसे मिट्टीका पात्र बनानेमें दण्ड, चक्र, आदि कारण रूपसे कल्पित होते हैं, वैसे ही तुमभी इस बालकके वधमें कारण है ॥ ३१ ॥

किल्विषी चापि मे वध्यः किल्विषी चासि पन्नग।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजंगम ॥ ३२ ॥

हे पन्नग ! पाप करनेवाला मेरे लिये वध्य है; तुम भी पापी मालूम होते हो और इस विषयमें अपनेको ही कारण कहते हो ॥ ३२ ॥

सर्प उवाच—

सर्वे एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा ।
तथाहमपि तस्मान्मे नैष हेतुर्मतस्तव ॥ ३३ ॥

सर्प बोला— जैसे दण्ड, चक्र प्रभृति सब ही पराधीन हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्युके वशमें हूं, इससे मेरा यह दोष–हेतु तुम्हारे समीप युक्ति–सम्मत नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

अथ वा मतमेतत्ते तेऽप्यन्योन्यप्रयोजकाः ।
कार्यकारणसंदेहो भवत्यन्योन्यचोदनात् ॥ ३४ ॥

अथवा यदि तुम्हें ऐसा ही सम्मत हो तो दण्डचक्र प्रभृति परस्परके प्रयोजक हो सकते हैं, इसलिये कारण हैं; तो परस्परकी प्रेरणावशसे कार्य–कारणके भावमें सन्देह हुआ करता है ॥ ३४ ॥

एवं सति न दोषो मे नास्मि वध्यो न किल्बिषी ।
किल्बिषं समवाये स्यान्मन्यसे यदि किल्बिषम् ॥ ३५ ॥

यदि ऐसा ही माना जावे, तोभी मेरा दोष नहीं है, मैं वध करनेके योग्य अथवा पापी नहीं हूं; यदि तुम इसमें किसीका पाप समझते हो, तो वह सारे कारणोंके समुदायपर पाप हो सकता है ॥ ३५ ॥

लुब्धक उवाच—

कारणं यदि न स्याद्वै न कर्ता स्यास्त्वमप्युत ।
विनाशे कारणं त्वं च तस्माद्वध्योऽसि मे मतः ॥ ३६ ॥

व्याध बोला—तुम यदि विनाश कार्यमें अपनेको कारण अथवा कर्त्ता नहीं समझते हो, तोभी इस विनाशके विषयमें साक्षात् सम्बन्धसे तुम ही कारण हो, इसलिये मेरे विचारसे तुम वध करनेके योग्य हो ॥ ३६ ॥

असत्यपि कृते कार्ये नेह पन्नग लिप्यते ।
तस्मान्नात्रैव हेतुः स्याद्वध्यः किं बहु भाषसे ॥ ३७ ॥

हे भुजङ्ग ! पाप कार्य करके भी यदि कर्त्ता अपनेको उससे लिप्त न समझे, तब तो इस विषयमें कोई भी कारण नहीं हो सकता; इसलिये उपस्थित विषयमें तुम ही कर्त्ता हो, इसीसे वध्य मालूम होते हो, क्यों तुम बडीबोल बोलते हो ? ॥ ३७ ॥

सर्प उवाच—

कार्याभावे क्रिया न स्यात्सत्यसत्यपि कारणे ।
तस्मात्त्वमस्मिन्हेतौ मे वाच्यो हेतुर्विशेषतः ॥ ३८ ॥

सर्प बोला— योजक–कर्त्ता–कारण रहे अथवा न रहे, कर्ताके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही इस तुल्य हेतुके स्थलमें मृत्युहीका कारणत्व विशेष रीतिसे विचारना चाहिये और वही दोषी है ॥ ३८ ॥

यद्यहं कारणत्वेन मतो लुब्धक तत्त्वतः ।
अन्यः प्रयोगे स्यादत्र किल्बिषी जन्तुनाशने ॥ ३९ ॥

हे व्याध ! यदि मैं कारण अर्थात् प्रयोज्य कर्तृरूपसे यथार्थमें ही तुम्हारे समीप युक्तिसंगत होऊं, तो मेरा प्रयोजक दूसरा कोई कर्ता अवश्य है, इस जीवके नाश विषयमें वही पापी हो सकता है ॥ ३९ ॥

लुब्धक उवाच—

वध्यस्त्वं मम दुर्बुद्धे बालघाती नृशंसकृत् ।
भाषसे किं बहु पुनर्वध्यः सन्पन्नगाधम ॥ ४० ॥

व्याध बोला– रे नीचबुद्धि अधम सर्प ! तू जानकर इस बालकका प्राणनाशरूपी अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कार्य करके मेरे हाथसे वध्य हुआ है; वध्य होके भी बार बार बडी बातें क्यों करता है ? ॥ ४० ॥

सर्प उवाच—

यथा हवींषि जुह्वाना मखे वै लुब्धकर्त्विजः ।
न फलं प्राप्नुवन्त्यत्र परलोके तथा ह्यहम् ॥ ४१ ॥

सर्प बोला– हे व्याध ! जैसे ऋत्विज लोग यज्ञाग्निमें घृतकी आहुति देनेसे इहलोक या परलोकमें उसके फलभागी नहीं होते, उसी प्रकार इस विषयके फल सम्बन्धमें मैं भी वैसा ही हूं ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच—

तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु पन्नगे मृत्युचोदिते ।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम् ॥ ४२ ॥

भीष्म बोले– मृत्यु-प्रेरित सर्पके ऐसा बारबार कहते रहने पर मृत्यु स्वयं उस स्थानपर उपस्थित हुआ और उस सर्पसे इस प्रकार कहने लगा ॥ ४२ ॥

कालेनाहं प्रणुदितः पन्नग त्वामचूचुदम् ।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं वा प्राणिनः शिशोः ॥ ४३ ॥

हे सर्प ! मैंने कालके द्वारा प्रेरित होकर तुम्हें प्रेरणा की थी, इसलिये तुम इस बालकके विनाश विषयमें कारण नहीं हो, मैं भी इसके नाशका कारण नहीं हूं ॥ ४३ ॥

यथा वायुर्जलधरान्विकर्षति ततस्ततः ।
तद्वज्जलदवत्सर्प कालस्याहं वशानुगः ॥ ४४ ॥

हे सर्प ! जैसे वायु बादलोंको इधर उधर कर देती है, वैसे ही मैं भी बादलकी भांति कालके वशमें हूं ॥ ४४ ॥

सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा ये च केचन ।
भावाः कालात्मकाः सर्वे प्रवर्तन्ते हि जन्तुषु ॥ ४५ ॥

जो सब सात्विक, राजसिक और तामसिक भाव हैं, वे सभी कालात्मक होकर प्राणिमात्रमें निवास करते हैं ॥ ४५ ॥

जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुवि ।
सर्वे कालात्मकाः सर्प कालात्मकमिदं जगत् ॥ ४६ ॥

हे भुजंग ! द्युलोकवा भूलोकमें जितने स्थावरजंगम पदार्थ हैं, वे सभी कालात्मक हैं; इसलिये यह जगत् कालस्वरूप कहा जाता है ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तयश्च या लोके तथैव च निवृत्तयः ।
तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम् ॥ ४७ ॥

इस लोकमें प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा जो कुछ उनकी विकृतियां होती हैं, वे सब कालात्मकरूपसे वर्णित हुआ करती हैं ॥ ४७ ॥

आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः ।
अग्निः खं पृथिवी मित्र ओषध्यो वसवस्तथा ॥ ४८ ॥

हे पन्नग ! सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, औषधी, वसु, ॥ ४८ ॥

सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नग ।
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च तथा पुनः ॥ ४९ ॥

नदी, समुद्र तथा भाव और अभाव ये सब ही कालके सहारे बार बार उत्पन्न और संहृत होते हैं ॥ ४९ ॥

एवं ज्ञात्वा कथं मां त्वं सदोषं सर्प मन्यसे ।
अथ चैवंगते दोषो मयि त्वमपि दोषवान् ॥ ५० ॥

हे सर्प ! ऐसा सब जानके भी तुम मुझे क्यों दोषी समझते हो ? यदि इसमें मुझे दोष लगे, तो तुम भी दोषी हो ॥ ५० ॥

सर्प उवाच—

निर्दोषं दोषवन्तं वा न त्वा मृत्यो ब्रवीम्यहम् ।
त्वयाहं चोदित इति ब्रवीम्येतावदेव तु ॥ ५१ ॥

सर्प बोला– हे मृत्यु ! मैं तुम्हें सदोष वा निर्दोष नहीं कहता हूं, मैं केवल तुम्हारे द्वारा प्रेरित हुआ हूं, इतनाही कहता हूं ॥ ५१ ॥

यदि काले तु दोषोऽस्ति यदि तत्रापि नेष्यते ।
दोषो नैव परीक्ष्यो मे न ह्यत्राधिकृता वयम् ॥ ५२ ॥

यदि कालको दोष लगता हो अथवा उसमें दोष लगना अभिलषित न हो; उस दोषकी परीक्षा करना मेरा कार्य नहीं है, क्योंकि उस विषयमें मैं अधिकारी नहीं हूं ॥ ५२ ॥

निर्मोक्षस्त्वस्य दोषस्य मया कार्यो यथा तथा ।
मृत्यो विदोषः स्यामेव यथा तन्मे प्रयोजनम् ॥ ५३ ॥

मेरे ऊपर लगाया गया इस दोषका निवारण जैसे–तैसे करना मेरा कर्त्तव्य है; वैसे ही इस विषयमें जिस प्रकार मृत्युका भी दोष न हो, वह भी मेरा प्रयोजन है ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच—

सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम् ।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर सर्प अर्जुनकसे बोला, तुमने मृत्युका वचन सुना, अब मैं निरपराधी हूं, मुझे पाशबन्धनके द्वारा दुःखित करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ५४ ॥

लुब्धक उवाच—

मृत्योः श्रुतं मे वचनं तव चैव भुजंगम ।
नैव तावद्विदोषत्वं भवति त्वयि पन्नग ॥ ५५ ॥

व्याध बोला– हे भुजंग ! मैंने मृत्युका और तुम्हारा वचन सुना है, परंतु इससे तुम्हारी निर्दोषता सिद्ध नहीं होती है ॥ ५५ ॥

मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि जन्तोरस्य विनाशने ।
उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम् ॥ ५६ ॥

मृत्यु और तुम इस जीवके विनाश विषयमें कारण हो, मैं तुम दोनोंको ही कारण या अपराधी समझता हूं; जो कारण नहीं है, उसे कारण नहीं कहता ॥ ५६ ॥

धिङ्मृत्युं च दुरात्मानं क्रूरं दुःखकरं सताम् ।
त्वां चैवाहं वधिष्यामि पापं पापस्य कारणम् ॥ ५७ ॥

साधुओंको दुःख देनेवाले क्रूर दुष्टात्मा मृत्युको धिक्कार है और तू इस पापका कारण है; इसलिये मैं तुझ पापात्माका अवश्य वध करूंगा ॥ ५७ ॥

मृत्युरुवाच—

विवशौ कालवशगावावां तद्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक्प्रपश्यसि ॥ ५८ ॥

मृत्यु बोला– हम कालके वशमें रहनेके कारण परवश हैं, हम उसकी आज्ञाका पालन करते हैं; इसलिये यदि तुम पूरी रीतिसे विचार करोगे, तो हम लोगोंको दोषयुक्त न कह सकोगे ॥ ५८ ॥

लुब्धक उवाच—

शुभाशुभौ कालवशौ यदि वै मृत्युपन्नगौ ।
हर्षक्रोधौ कथं स्यातामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ५९ ॥

व्याध बोला— हे मृत्यु ! हे सर्प यदि तुम दोनों कालके वशमें हो, तब मुझको परोपकारीके विषयमें हर्ष और अपकार करनेवाले तुमपर क्रोध क्यों उत्पन्न होता है, उसे स्पष्ट रूपसे प्रकट करो, मैं इसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ ५९ ॥

मृत्युरुवाच—

याः काश्चिदिह चेष्टाः स्युः सर्वाः कालप्रचोदिताः ।
पूर्वमेवैतदुक्तं हि मया लुब्धक कालतः ॥ ६० ॥

मृत्यु बोला— इस जगत्के बीच प्राणियोंमें जो कुछ कार्य संघटित होते हैं, काल ही उन सबका प्रयोजक है । हे व्याध ! कालकी प्रेरणानुसार सब कार्य हुआ करते हैं, यह बात तुमसे मैंने पहले ही कही है ॥ ६० ॥

तस्मादुभौ कालवशावावां तद्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ त्वया लुब्धक कर्हिचित् ॥ ६१ ॥

इसलिये हम दोनों ही कालके वशमें होकर उसके आदेशका पालन करते हैं । हे व्याध ! इसलिये तुम हम लोगोंको किसी विषयमें दोषी नहीं सिद्ध कर सकते ॥ ६१ ॥

भीष्म उवाच—

अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन्धर्मार्थसंशये ।
अब्रवीत्पन्नगं मृत्युं लुब्धमर्जुनकं च तम् ॥ ६२ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर उस धार्मिक विषयमें निर्माण होनेपर काल स्वयं वहां उपस्थित होकर सर्प, मृत्यु और अर्जुनक व्याधसे यह वचन कहने लगा ॥ ६२ ॥

काल उवाच—

नैवाहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः ।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः ॥ ६३ ॥

काल बोला— हे व्याध ! मैं यह मृत्यु, और यह सर्प, हम तीनों ही इस जीवकी मृत्युके विषयमें अपराधी नहीं हैं, हम लोग किसीकी मृत्युमें प्रयोजक भी नहीं हैं ॥ ६३ ॥

अकरोद्यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम् ।
प्रणाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा ॥ ६४ ॥

हे अर्जुनक ! इस बालकने जैसा कर्म किया था, वह कर्म ही इसकी मृत्युमें प्रेरक है; इसके विनाशका कारण दूसरा कोई भी नहीं है; यह जीव निज कर्मवशसे ही मरता है ॥ ६४ ॥

×

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः ।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ॥ ६५ ॥
इस बालकने जो कर्म किया था, उसहीके द्वारा यह मृत्युको प्राप्त हुआ है; इसलिये इसका कर्म ही इसके विनाशका कारण है, हम सब लोग कर्मके वशीभूत हैं ॥ ६५ ॥

कर्मदायादवाँल्लोकः कर्मसंबन्धलक्षणः ।
कर्माणि चोदयन्तीह यथान्योन्यं तथा वयम् ॥ ६६ ॥
जगत्में कर्म ही पुत्रकी भांति लोगोंका अनुगमन करनेवाला है, कर्म ही सुख-दुःख, पाप-पुण्यके संबंधका बोधक है । जैसे इस लोकमें सब कर्म परस्परके प्रयोजक होते हैं, वैसे हम लोगभी कर्मोंसे प्रेरित हैं ॥ ६६ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ६७ ॥
जैसे कुम्हार मिट्टीके पिण्डसे जैसी इच्छा करता है, वैसाही पात्र बनाता है, मनुष्य भी उस ही प्रकार अपने किये हुए कर्मके फलको पाता है ॥ ६७ ॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसंबद्धौ निरन्तरम् ।
तथा कर्म च कर्ता च संबद्धावात्मकर्मभिः ॥ ६८ ॥
जैसे छाया और धूपका सदा परस्पर सम्बन्ध है, वैसे ही कर्म और कर्त्ता सदा ही अपने कर्मोंके द्वारा एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं ॥ ६८ ॥

एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान् ।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ॥ ६९ ॥
इसलिये मैं, मृत्यु, सर्प, तुम अथवा यह बूढी ब्राह्मणी, हम लोग कोई भी इस बालककी मृत्युके कारण नहीं हैं; यह बालक ही कर्मके अनुसार इस विषयमें कारण है ॥ ६९ ॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप ।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान्मत्वार्जुनकमब्रवीत् ॥ ७० ॥
हे राजन् ! कालके ऐसा कहते रहनेपर ' सब लोग अपने कर्मसे ही फलका भोग करते हैं ' ब्राह्मणी गौतमी ऐसा निश्चय करके अर्जुनकसे कहने लगी ॥ ७० ॥

नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम् ।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥ ७१ ॥
काल, सर्प और मृत्यु, इनमेंसे कोई भी यहां कारण नहीं है, यह बालक निज कर्मोंसे कालके द्वाराही मृत्युको प्राप्त हुआ है ॥ ७१ ॥

मया च तत्कृतं कर्म येनायं मे सुतः सुतः ।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥ ७२ ॥

मैंने भी पुत्रशोकप्रद कर्म किया था, जिससे कि मेरा यह पुत्र पञ्चत्वको प्राप्त हुआ है; इस समय काल और मृत्यु अपने स्थानको गमन करें । हे अर्जुनक ! तुम भी सर्पको छोड दो ॥ ७२ ॥

भीष्म उवाच—

ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः ।
अभूद्विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥ ७३ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर काल, मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले अर्जुनका शोक छूटा और ब्राह्मणी गये । गौतमी भी शोकरहित हुई ॥ ७३ ॥

एतच्छ्रुत्वा शमं गच्छ मा भूश्चिन्तापरो नृप ।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकांस्त्रीन्विद्धि मनुजर्षभ ॥ ७४ ॥

हे महाराज ! इसे सुनके तुम शान्ति अवलम्बन करो, चिन्ता मत करो । हे नरश्रेष्ठ ! सब कोई निजकर्म निबन्धनसे इन तीन लोकोंमें रहते हैं ॥ ७४ ॥

न तु त्वया कृतं पार्थ नापि दुर्योधनेन वै ।
कालेन तत्कृतं विद्धि विहता येन पार्थिवाः ॥ ७५ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! राजा लोग जिन कर्मोंके सहारे मारे गये, वे तुम्हारा अथवा दुर्योधनके कृत कर्म नहीं थे; जानना चाहिये, कि वे कालके द्वारा विहित हुए थे । ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः ।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ७६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– महातेजस्वी धर्मज्ञ युधिष्ठिर भीष्मका ऐसा वचन सुनके शोकरहित हुए और उन्होंने फिर यह वचन कहने लगे ॥ ७६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ ७६ ॥

: २ :

युधिष्ठिर उवाच—

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रुतं मे महदाख्यानमिदं मतिमतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ, सब शास्त्रोंके जाननेवाले महाप्राज्ञ पितामह ! मैंने यह महत् आख्यान ध्यानसे सुना है ॥ १ ॥

भूयस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मार्थसहितं नृप ।
कथ्यमानं त्वया किंचित्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

हे राजन् ! अब फिर आप धर्मार्थयुक्त जो इतिहास कहें, उसे मैं सुननेकी अभिलाष करता हूं, इसलिये आपको उसकी व्याख्या करनी उचित है ॥ २ ॥

केन मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ।
इत्येतत्सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेन मम पार्थिव ॥ ३ ॥

हे नरपाल ! किस गृहस्थने धर्मके सहारे मृत्युको पराजित किया है, इस वृत्तान्तको आप यथार्थ रूपसे मुझसे वर्णन करिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— गृहस्थ मनुष्यने जिस प्रकार धर्मके सहारे मृत्युको पराजित किया है, इस विषयमें प्राचीन लोग इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ ४ ॥

मनोः प्रजापते राजन्निक्ष्वाकुरभवत्सुतः ।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे नृपतेः सूर्यवर्चसः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! प्रजापति मनुके इक्ष्वाकु नामक एक पुत्र हुआ था; उस सूर्यके समान तेजस्वी राजाके सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ५ ॥

दशमस्तस्य पुत्रस्तु दशाश्वो नाम भारत ।
माहिष्मत्यामभूद्राजा धर्मात्मा सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥

हे भारत ! उसके दसवें पुत्रका नाम दशाश्व था, वह सत्यपराक्रमी धर्मात्मा माहिष्मती नगरीका राजा हुआ था ॥ ६ ॥

दशाश्वस्य सुतस्त्वासीद्राजा परमधार्मिकः ।
सत्ये तपसि दाने च यस्य नित्यं रतं मनः ॥ ७ ॥

दशाश्वका पुत्र परम धर्मात्मा राजा हुआ था । सत्य, तपस्या और दान विषयमें उसका चित्त सदा रत रहता था ॥ ७ ॥

मदिराश्व इति ख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।
धनुर्वेदे च वेदे च निरतो योऽभवत्सदा ॥ ८ ॥

वह राजा इस पृथ्वीपर मदिराश्व नामसे प्रसिद्ध हुआ था और वह धनुर्वेद तथा वेदमें भी सदा अनुरक्त रहता था ॥ ८ ॥

मदिराश्वस्य पुत्रस्तु द्युतिमान्नाम पार्थिवः ।
महाभागो महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ ९ ॥

मदिराश्वके पुत्रका नाम द्युतिमान् था, वह महाबलिष्ठ, महातेजस्वी, महाभाग्यशाली और महासत्त्वशाली था ॥ ९ ॥

पुत्रो द्युतिमतस्त्वासीत्सुवीरो नाम पार्थिवः ।
धर्मात्मा कोशवांश्चापि देवराज इवापरः ॥ १० ॥

द्युतिमानका पुत्र सुवीर नाम राजा हुआ; वह धर्मात्मा, अधिक धन-संपत्तिशाली और दूसरे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी था ॥ १० ॥

सुवीरस्य तु पुत्रोऽभूत्सर्वसंग्रामदुर्जयः ।
दुर्जयेत्यभिविख्यातः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ११ ॥

सुवीरका पुत्र सर्वसंग्रामोंमें दुर्जय और सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ दुर्जय नामसे विख्यात हुआ था ॥ ११ ॥

दुर्जयस्येन्द्रवपुषः पुत्रोऽग्निसदृशद्युतिः ।
दुर्योधनो नाम महान्राजासीद्राजसत्तम ॥ १२ ॥

हे राजसत्तम ! दुर्जयके इन्द्रके समान शरीरसे युक्त अग्निके सदृश तेजस्वी राजा दुर्योधन नामक पुत्र हुआ ॥ १२ ॥

तस्येन्द्रसमवीर्यस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
विषयश्च प्रभावश्च तुल्यमेवाभ्यवर्तत ॥ १३ ॥

उस इन्द्रके समान पराक्रमशाली, युद्धमें अपराङ्मुख राजाके राज्यमें लोग श्री-संपत्ति और पराक्रमसे समान-से थे ॥ १३ ॥

रत्नैर्धनैश्च पशुभिः सस्यैश्चापि पृथग्विधैः ।
नगरं विषयश्चास्य प्रतिपूर्णं तदाभवत् ॥ १४ ॥

अनेक प्रकारके धान्य, पशु, धन और अनेक प्रकारके रत्नोंसे उस समय उसका राज्य तथा नगर परिपूर्ण रहता था ॥ १४ ॥

न तस्य विषये चाभूत्कृपणो नापि दुर्बलः ।
व्याधितो वा कृशो वापि तस्मिन्नाभून्नरः क्वचित् ॥ १५ ॥

उसके राज्यमें कोई कृपण वा दरिद्र नहीं था, और उसके राज्य शासनके समयमें कोई मनुष्य रोगी अथवा दुर्बल नहीं दीखता था ॥ १५ ॥

सुदक्षिणो मधुरवागनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
धर्मात्मा चानृशंसश्च विक्रान्तोऽथाविकत्थनः ॥ १६ ॥

वह राजा अत्यंत उदार, मृदुभाषी, असूयारहित, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, दयालु, पराक्रमी और अनात्मश्लाघापरायण था ॥ १६ ॥

यज्वा वदान्यो मेधावी ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः ।
न चावमन्ता दाता च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १७ ॥

वह विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाला उदार–वाग्मी, मेधावी, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, किसीका अपमान न करनेवाला, दाता और वेदवेदान्तके जाननेवाला था ॥ १७ ॥

तं नर्मदा देवनदी पुण्या शीतजला शिवा ।
चकमे पुरुषश्रेष्ठं स्वेन भावेन भारत ॥ १८ ॥

भारत ! उस पुरुषप्रवर पृथ्वीपालकी शीतल जलसे युक्त, कल्याणदायिनी पुण्यतमा देवनदी नर्मदाने हृदयसे स्वाभाविक कामना की और उसकी पत्नी हो गयी ॥ १८ ॥

तस्य जज्ञे तदा नद्यां कन्या राजीवलोचना ।
नाम्ना सुदर्शना राजन्रूपेण च सुदर्शना ॥ १९ ॥

हे महाराज ! राजा दुर्योधनने उस नर्मदा नदीसे एक सुदर्शना नामकी कमललोचना कन्या उत्पन्न की; वह केवल नामसे ही नहीं, रूपसे भी सुदर्शना थी ॥ १९ ॥

तादृग्रूपा न नारीषु भूतपूर्वा युधिष्ठिर ।
दुर्योधनसुता यादृगभवद्वरवर्णिनी ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर ! दुर्योधनकी वह सुन्दर वर्णवाली कन्या जैसी रूपवती थी, स्त्रियोंके बीच वैसी सुन्दरी स्त्री पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई थी ॥ २० ॥

तामग्निश्चकमे साक्षाद्राजकन्यां सुदर्शनाम् ।
भूत्वा च ब्राह्मणः साक्षाद्वरयामास तं नृपम् ॥ २१ ॥

हे राजन ! साक्षात् अग्निने स्वयं ब्राह्मणका रूप धारण करके उस राजकन्या सुदर्शनाकी कामनासे राजाके निकट उसे पानेके लिये प्रार्थना की थी ॥ २१ ॥

दरिद्रश्चासवर्णश्च ममायमिति पार्थिवः ।
न दित्सति सुतां तस्मै तां विप्राय सुदर्शनाम् ॥ २२ ॥

यह ब्राह्मण मेरा असवर्ण और दरिद्र है, ऐसा समझके राजाने उस विप्रको सुदर्शना कन्या दान करनेकी अभिलाष नहीं की ॥ २२ ॥

ततोऽस्य वितते यज्ञे नष्टोऽभूद्धव्यवाहनः ।
ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमाहर्त्विजस्तदा ॥ २३ ॥

अनन्तर उस भूपतिके आरम्भ हुए यज्ञमेंसे हव्यवाहन अग्निदेव अन्तर्द्धान हो गये, राजा दुर्योधन उस समय ऋत्विजोंसे यह वचन बोला ॥ २३ ॥

दुष्कृतं मम किं नु स्याद्भवतां वा द्विजर्षभाः ।
येन नाशं जगामाग्निः कृतं कुपुरुषेष्विव ॥ २४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठगण ! मुझसे अथवा आप लोगोंसे ऐसा कौनसा पापकर्म हुआ है, जिससे कि कुपुरुषके उपकारकी भांति अग्निदेव अदृश्य हुए हैं ? ॥ २४ ॥

न ह्यल्पं दुष्कृतं नोऽस्ति येनाग्निर्नाशमागतः ।
भवतां वाथ वा मह्यं तत्त्वेनैतद्विमृश्यताम् ॥ २५ ॥

हम लोगोंका थोडासा अपराध नहीं है; क्योंकि अग्निदेव अदृश्य हो गये हैं; यह हमारा अथवा आपका पाप है, उसका यथार्थ रीतिसे विचार करें ॥ २५ ॥

एतद्राज्ञो वचः श्रुत्वा विप्रास्ते भरतर्षभ ।
नियता वाग्यताश्चैव पावकं शरणं ययुः ॥ २६ ॥

हे भरतप्रवर ! उस समय वे सब ब्राह्मण राजाका यह वचन सुनके नियमनिष्ठ और वाक्संयत होकर अग्निदेवके शरणागत हुए ॥ २६ ॥

तान्दर्शयामास तदा भगवान्हव्यवाहनः ।
स्वं रूपं दीप्तिमत्कृत्वा शरदर्कसमद्युतिः ॥ २७ ॥

शरतकालके सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् हव्यवाहनने उस समय निज रूपको प्रकाशित करके ब्राह्मणोंको दर्शन दिया ॥ २७ ॥

ततो महात्मा तानाह दहनो ब्राह्मणर्षभान् ।
वरयाम्यात्मनोऽर्थाय दुर्योधनसुतामिति ॥ २८ ॥

अनन्तर महानुभाव अग्नि उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे बोले— मैं अपने लिये दुर्योधनकी कन्याको चाहता हूं ॥ २८ ॥

ततस्ते काल्यमुत्थाय तस्मै राज्ञे न्यवेदयन् ।
ब्राह्मणा विस्मिताः सर्वे यदुक्तं चित्रभानुना ॥ २९ ॥
इस वचनको सुनके ब्राह्मण लोग विस्मित हुए और अग्निने जो कुछ कहा था, भोरके समय उठके वह सब वृत्तान्त राजाके समीप वर्णन किया ॥ २९ ॥

ततः स राजा तच्छ्रुत्वा वचनं ब्रह्मवादिनाम् ।
अवाप्य परमं हर्षं तथेति प्राह बुद्धिमान् ॥ ३० ॥
उस बुद्धिमान् राजाने ब्रह्मवादियोंके मुखसे ऐसा वचन सुनके परम हर्षित होके कहा, कि ऐसा ही होगा ॥ ३० ॥

प्रायाचत नृपः शुल्कं भगवन्तं विभावसुम् ।
नित्यं सांनिध्यमिह ते चित्रभानो भवेदिति ।
तमाह भगवानग्निरेवमस्त्विति पार्थिवम् ॥ ३१ ॥
और राजाने भगवान् अग्निके निकट शुल्कस्वरूप यह वर मांगा कि, हे चित्रभानो ! इस स्थानमें आप सदा निवास करिये । भगवान् अग्निदेव राजाका वचन सुनके बोले, कि " ऐसा ही होवे " ॥ ३१ ॥

ततः सांनिध्यमद्यापि माहिष्मत्यां विभावसोः ।
दृष्टं हि सहदेवेन दिशो विजयता तदा ॥ ३२ ॥
तभीसे माहिष्मती नगरीमें अग्निदेव सदा विद्यमान है । सहदेवने दक्षिण दिशा जीतनेके समय वहां अग्निदेवको प्रत्यक्ष देखा था ॥ ३२ ॥

ततस्तां समलंकृत्य कन्यामहतवाससम् ।
ददौ दुर्योधनो राजा पावकाय महात्मने ॥ ३३ ॥
अनन्तर राजा दुर्योधनने उस कन्याको नवीन वस्त्र पहराके सब आभूषणोंसे भूषित करके महात्मा अग्निको प्रदान किया ॥ ३३ ॥

प्रतिजग्राह चाग्निस्तां राजपुत्रीं सुदर्शनाम् ।
विधिना वेददृष्टेन वसोर्धारामिवाध्वरे ॥ ३४ ॥
अग्निने भी यज्ञमें वसुधाराकी भांति उस राजकन्या सुदर्शनाको वेदोक्त विधिसे ग्रहण किया ॥ ३४ ॥

तस्या रूपेण शीलेन कुलेन वपुषा श्रिया ।
अभवत्प्रीतिमानग्निर्गर्भं तस्यां समादधे ॥ ३५ ॥
उसके रूप, कुल, शील, शरीरकी सुघराई और श्री देखके अग्निदेव प्रसन्न हुए और उन्होंने उसमें गर्भाधान किया ॥ ३५ ॥

तस्यां त्वग्निरभवत्पुत्रो नाम्नाग्नेयः सुदर्शनः ।
शिशुरेवाध्यगात्सर्वं स च ब्रह्म सनातनम् ॥ ३६ ॥

अग्निके द्वारा उस राजकन्याके गर्भसे सुदर्शन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; उसने बालक अवस्थामें ही संपूर्ण सनातन वेद अध्ययन किया ॥ ३६ ॥

अथौघवान्नाम नृपो नृगस्यासीत्पितामहः ।
तस्याप्योघवती कन्या पुत्रश्चौघरथोऽभवत् ॥ ३७ ॥

उस समय नृग राजाके पितामह ओघवान् नामके राजा थे, उनके ओघवती नामकी कन्या और ओघरथ नामका पुत्र था ॥ ३७ ॥

तामोघवान्ददौ तस्मै स्वयमोघवतीं सुताम् ।
सुदर्शनाय विदुषे भार्यार्थे देवरूपिणीम् ॥ ३८ ॥

ओघवानने स्वयं विद्वान् सुदर्शनको अपनी देवरूपिणी ओघवती कन्याको पत्नी बनानेके लिये दिया ॥ ३८ ॥

स गृहस्थाश्रमरतस्तया सह सुदर्शनः ।
कुरुक्षेत्रेऽवसद्राजन्नोघवत्या समन्वितः ॥ ३९ ॥

हे महाराज ! सुदर्शनने उस ओघवतीके साथ गृहस्थाश्रममें रत होके कुरुक्षेत्रमें निवास किया था ॥ ३९ ॥

गृहस्थश्चावजेष्यामि मृत्युमित्येव स प्रभो ।
प्रतिज्ञामकरोद्धीमान्दीप्ततेजा विशां पते ॥ ४० ॥

हे नरनाथ ! महातेजस्वी, धीमान् सुदर्शनने गृहस्थ धर्मका पालन करते हुए मृत्युको जीत लूंगा ऐसी ही प्रतिज्ञा की ॥ ४० ॥

तामथौघवतीं राजन्स पावकसुतोऽब्रवीत् ।
अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४१ ॥

राजन् ! अग्निपुत्र सुदर्शन ओघवतीसे बोले– तुम्हें भी अतिथियोंके विषयमें किसी प्रकारसे प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथिः ।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥

अतिथि जिस जिस वस्तुसे तुम्हारे द्वारा प्रसन्न हो, वह तुम्हें नित्य उसे देनी चाहिये । यदि तुम्हें अपना शरीर भी प्रदान करके उस कार्यको सिद्ध करना पडे तो इस विषयमें कुछ भी विचार न करना ॥ ४२ ॥

×

एतद्व्रतं मम सदा हृदि संपरिवर्तते ।
गृहस्थानां हि सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम् ॥ ४३ ॥
हे सुश्रोणि ! मेरे हृदयमें सदा यह अतिथि सेवाका व्रत विद्यमान है, कि गृहस्थ मनुष्योंके निमित्त अतिथि सेवासे बढके और कुछ भी नहीं है ॥ ४३ ॥

प्रमाणं यदि वामोरु वचस्ते मम शोभने ।
इदं वचनमव्यग्रा हृदि त्वं धारयेः सदा ॥ ४४ ॥
हे शोभने ! हे वामोरु ! यदि तुम मेरे वचनको मानो तो सन्देहरहित होके सदा इस ही वचनको हृदयमें धारण करो ॥ ४४ ॥

निष्क्रान्ते मयि कल्याणि तथा संनिहितेऽनघे ।
नातिथिस्तेऽवमन्तव्यः प्रमाणं यद्यहं तव ॥ ४५ ॥
हे कल्याणि ! हे पापरहिते ! मैं चाहे घरसे बाहर रहूं, अथवा घरमें ही रहूं, मेरा वचन यदि तुम्हें प्रमाण हो, तुम अतिथिकी अवमानना कभी भी नहीं करना ॥ ४५ ॥

तमब्रवीदोघवती यता मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
न मे त्वद्वचनात्किंचिदकर्तव्यं कथंचन ॥ ४६ ॥
मर्यादशील ओघवती उस समय हाथ जोड मस्तकमें लगाकर पतिसे बोली, तुम्हारी आज्ञासे मैं कुछ न कर सकूं, ऐसा कोई भी कार्य नहीं है ॥ ४६ ॥

जिगीषमाणं तु गृहे तदा मृत्युः सुदर्शनम् ।
पृष्ठतोऽन्वगमद्राजन्रन्ध्रान्वेषी तदा सदा ॥ ४७ ॥
हे राजन् ! उस समय मृत्यु उन गृहस्थ सुदर्शनको जीतनेकी इच्छासे उनका छिद्र ढूंढती हुई सदा उनके पीछे पीछे घूमने लगी ॥ ४७ ॥

इध्मार्थं तु गते तस्मिन्नग्निपुत्रे सुदर्शने ।
अतिथिर्ब्राह्मणः श्रीमांस्तामाहौघवतीं तदा ॥ ४८ ॥
जब अग्निपुत्र सुदर्शनने समिधा लानेके निमित्त बाहर गमन किया, तब यम तेजस्वी ब्राह्मणका वेष धरके अतिथि होकर वहां आया और उस ओघवतीसे बोला ॥ ४८ ॥

आतिथ्यं दत्तमिच्छामि त्वयाद्य वरवर्णिनि ।
प्रमाणं यदि धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसंमतः ॥ ४९ ॥
हे वरवर्णिनि ! गृहस्थाश्रम–सम्मत धर्म यदि तुम्हें प्रमाण हो, तो मैं तुमसे किया गया आतिथ्य सत्कार स्वीकारना चाहता हूं ॥ ४९ ॥

इत्युक्ता तेन विप्रेण राजपुत्री यशस्विनी ।
विधिना प्रतिजग्राह वेदोक्तेन विशां पते ॥ ५० ॥

हे नरनाथ ! यशस्विनी राजपुत्री ओघवतीने उस ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके वेदविहित विधिके अनुसार उसका आदर सत्कार–पूजन किया ॥ ५० ॥

आसनं चैव पाद्यं च तस्मै दत्त्वा द्विजातये ।
प्रोवाचौघवती विप्रं केनार्थः किं ददामि ते ॥ ५१ ॥

तथा ब्राह्मणको आसन और पाद्य देकर ओघवती बोली, हे विप्रवर ! आपका कौनसा प्रयोजन है ? मैं आपको क्या दूं ? ॥ ५१ ॥

तामब्रवीत्ततो विप्रो राजपुत्रीं सुदर्शनाम् ।
त्वया ममार्थः कल्याणि निर्विशङ्के तदाचर ॥ ५२ ॥

तब ब्राह्मण उस सुन्दरी राजकन्यासे बोला, हे कल्याणि ! मैं तुम्हें ही चाहता हूं, तुम निःशङ्क होकर ऐसा ही आचरण करो ॥ ५२ ॥

यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसंमतः ।
प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम् ॥ ५३ ॥

हे राजकन्या ! गृहस्थाश्रम–सम्मत धर्म यदि तुम्हें प्रमाण हो, तो तुम शरीर प्रदान करके मेरा प्रियकार्य सिद्ध करो ॥ ५३ ॥

तथा संछन्द्यमानोऽन्यैरीप्सितैर्नृपकन्यया ।
नान्यमात्मप्रदानात्स तस्या वव्रे वरं द्विजः ॥ ५४ ॥

राजपुत्रीने अन्य अन्य अभिलषित वस्तु देनेका ब्राह्मणको लोभ दिखाया, तो भी उसने उसके शरीरप्रदानके अतिरिक्त दुसरी कोई अभीष्ट वस्तु न मांगी ॥ ५४ ॥

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः ।
तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम् ॥ ५५ ॥

तब राजकन्याने पहले कहे हुई पतिका वचन स्मरण करके लज्जापूर्वक उस ब्राह्मणश्रेष्ठसे कहा, कि "ऐसा ही होवे" ॥ ५५ ॥

ततो रहः स विप्रर्षिः सा चैवोपविवेश ह ।
संस्मृत्य भर्तुर्वचनं गृहस्थाश्रमकाङ्क्षिणः ॥ ५६ ॥

अनन्तर उस राजकन्याने गृहस्थाश्रमधर्मके पालनकी इच्छा करनेवाले पतिका वचन स्मरण करके उस ब्राह्मणऋषिके साथ निर्जन गृहमें प्रवेश किया ॥ ५६ ॥

अथेध्मान्समुपादाय स पावकिरुपागमत् ।
मृत्युना रौद्रभावेन नित्यं बन्धुरिवान्वितः ॥ ५७ ॥

अनन्तर अग्निपुत्र सुदर्शन समिधा लेकर घरपर आके उपस्थित हुए। रौद्रभावयुक्त मृत्यु कोई सुहृद बन्धु अपने प्रिय बन्धुके पीछे जा रहा हो इसी भांति अदृश्य भावसे सदा उनके निकटवर्ती थी ॥ ५७ ॥

ततस्त्वाश्रममागम्य स पावकसुतस्तदा ।
तामाजुहावौघवतीं क्वासि यातेति चासकृत् ॥ ५८ ॥

अनन्तर अग्निपुत्र उस समय अपने आश्रममें आके अपनी पत्नी ओघवतीको 'कहां चली गई' ऐसा कहके बार बार पुकारने लगे ॥ ५८ ॥

तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा ।
कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती ॥ ५९ ॥

पतिव्रता सती उस समय उस ब्राह्मणके दोनों हाथोंसे छु देनेसे अपने पतिको कुछ भी उत्तर न दे सकी ॥ ५९ ॥

उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च ।
तूष्णींभूताभवत्साध्वी न चोवाचाथ किंचन ॥ ६० ॥

मैं दूषित हो गई हूं ऐसा मानकर अपने पतिसे भी लज्जित होकर वह साध्वी चुप हो गयी, तथा कुछ भी न बोली ॥ ६० ॥

अथ तां पुनरेवेदं प्रोवाच स सुदर्शनः ।
क्व सा साध्वी क्व सा याता गरीयः किमतो मम ॥ ६१ ॥

अनन्तर सुदर्शनने फिर उसे पुकार कर कहा, 'वह साध्वी कहां है? वह कहां चली गई? मेरी सेवासे बढके और गुरुतर विषय दूसरा कौनसा होगा? ॥ ६१ ॥

पतिव्रता सत्यशीला नित्यं चैवार्जवे रता ।
कथं न प्रत्युदेत्यद्य स्मयमाना यथा पुरा ॥ ६२ ॥

पतिव्रता, सत्यशीला, सदा सरल स्वभाववाली वह प्रियतमा किस निमित्त मुसकराती हुई आज पहलेकी भांति मेरी अगवानी क्यों नहीं करती है? ॥ ६२ ॥

उटजस्थस्तु तं विप्रः प्रत्युवाच सुदर्शनम् ।
अतिथिं विद्धि संप्राप्तं पावके ब्राह्मणं च माम् ॥ ६३ ॥

ऐसा वचन सुनकर उस समय कुटीमें स्थित ब्राह्मणने सुदर्शनको उत्तर दिया, हे अग्निपुत्र! तुम्हें विदित हो, कि मैं ब्राह्मण हूं और अतिथिके रूपमें उपस्थित हुआ हूं ॥ ६३ ॥

अनया छन्द्यमानोऽहं भार्यया तव सत्तम ।
तैस्तैरतिथिसत्कारैरार्जवेऽस्या दृढं मनः ॥ ६४ ॥

हे सत्तम ! तुम्हारी इस भार्याने अपना दृढ मन करके अनेक प्रकारके अतिथि सत्कारोंसे मेरी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया है ॥ ६४ ॥

अनेन विधिना सेयं मामर्चति शुभानना ।
अनुरूपं यदत्राद्य तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ६५ ॥

इसी विधिसे यह वही शुभानना मेरा सम्मान करती है; इस विषयमें दूसरा जो कुछ कार्य तुम्हें उपयुक्त बोध हो, तो तुम वह कह सकते हो ॥ ६५ ॥

कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं वै समन्वयात् ।
हीनप्रतिज्ञमत्रैनं वधिष्यामीति चिन्तयन् ॥ ६६ ॥

' अतिथिव्रतका परित्याग करके यह अपनी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट होगा और मैं उसका यहीं वध करूंगा, ' ऐसा विचार कर मृत्यु देव लोहदण्ड धारण करके उस पुरुषके पीछे आकर खडे हो गये ॥ ६६ ॥

सुदर्शनस्तु मनसा कर्मणा चक्षुषा गिरा ।
त्यक्तेर्ष्यस्त्यक्तमन्युश्च स्मयमानोऽब्रवीदिदम् ॥ ६७ ॥

सुदर्शन ऐसा वचन सुनके मन, कर्म, नेत्र और वचनसे भी ईर्षा तथा क्रोधका परित्याग करनेके कारण हंसकर यह वचन बोले ॥ ६७ ॥

सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम ।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः संप्राप्तातिथिपूजनम् ॥ ६८ ॥

हे विप्रवर ! आपका सुरत हो, मुझे उससे परम प्रसन्नता होगी; कारण यह है कि घरपर आये अतिथिका सत्कार करना ही गृहस्थका परम धर्म है ॥ ६८ ॥

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति ।
नान्यस्तस्मात्परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः ॥ ६९ ॥

जिस गृहस्थके घरमें अतिथि आकर पूजित होके गमन करता है, उससे बढके दूसरा कोई भी श्रेष्ठ धर्म नहीं है, ऐसा पण्डित लोग कहा करते हैं ॥ ६९ ॥

प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद्विद्यते वसु ।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ ७० ॥

मेरा प्राण, पत्नी और दूसरा जो कुछ धन है, वह सब अतिथियोंको दान करूंगा, यही मेरा सङ्कल्पित व्रत है ॥ ७० ॥

निःसंदिग्धं मया वाक्यमेतत्ते समुदाहृतम् ।
तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे ॥ ७१ ॥

हे विप्र ! मैंने जो यह वचन कहा है, इसमें संदेह नहीं है । यह सत्य सिद्ध करनेके लिये मैं स्वयं अपने आपकी शपथ खाता हूं ॥ ७१ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
बुद्धिरात्मा मनः कालो दिशश्चैव गुणा दश ॥ ७२ ॥

हे धार्मिकप्रवर ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये पांच और बुद्धि, आत्मा, मन, काल तथा दिशा, ये दस गुण ॥ ७२ ॥

नित्यमेते हि पश्यन्ति देहिनां देहसंश्रिताः ।
सुकृतं दुष्कृतं चापि कर्म धर्मभृतां वर ॥ ७३ ॥

सदा देहधारियोंके शरीरमें स्थित रहके सुकृत और दुष्कृत कर्मोंको अवलोकन करते हैं ॥७३॥

यथैषा नानृता वाणी मयाद्य समुदाहृता ।
तेन सत्येन मां देवाः पालयन्तु दहन्तु वा ॥ ७४ ॥

आज मैंने जो यह वचन कहा है, यदि मिथ्या नहीं है, तो उस सत्यके सहारे देवता लोग मुझे पालन करें, अथवा असत्य होनेपर मुझे जलाकर भस्म करें ॥ ७४ ॥

ततो नादः समभवद्दिक्षु सर्वासु भारत ।
असकृत्सत्यमित्येव नैतन्मिथ्येति सर्वशः ॥ ७५ ॥

हे भारत ! अनन्तर " यही सत्य है, इसमें कुछ भी झूठ नहीं है " ऐसा ही शब्द सब ओरसे वार वार प्रकट हुआ ॥ ७५ ॥

उटजात्तु ततस्तस्मान्निश्चक्राम स वै द्विजः ।
वपुषा खं च भूमिं च व्याप्य वायुरिवोद्यतः ॥ ७६ ॥

अनन्तर वह ब्राह्मण उस कुटीसे बाहर निकला; वह उद्यमशील वायुकी भांति अपने शरीरसे पृथ्वी और आकाशको परिपूरित करके स्थित हुआ ॥ ७६ ॥

स्वरेण विप्रः शैक्षेण त्रींल्लोकाननुनादयन् ।
उवाच चैनं धर्मज्ञं पूर्वमामन्त्र्य नामतः ॥ ७७ ॥

फिर शिक्षाके अनुसार उदात्त आदि विशिष्ट स्वरसे तीनों लोकोंको अनुनादित करते हुए प्रथम उस धर्मज्ञ सुदर्शनका नाम लेके उन्हें संबोधित करके यह वचन बोला ॥ ७७ ॥

धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासार्थं तवानघ ।
प्राप्तः सत्यं च ते ज्ञात्वा प्रीतिर्मे परमा त्वयि ॥ ७८ ॥

हे पापरहित ! तुम्हारा मङ्गल हो, मैं धर्म हूं; मैं तुम्हारी परीक्षा करनेके लिये इस स्थानमें आया था । तुममें सत्य है यह जाननेसे अब तुम्हारे उपर मेरी अत्यन्त प्रीति हुई ॥७८॥

विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति ।
रन्ध्रान्वेषी तव सदा त्वया धृत्या वशीकृतः ॥ ७९ ॥

छिद्रान्वेषी यह मृत्यु जो कि सदा तुम्हारा पीछा कर रही है, तुमने उसे जीत लिया है और तुमने अपने धैर्य गुणसे वशीभूत किया है ॥ ७९ ॥

न चास्ति शक्तिस्त्रैलोक्ये कस्यचित्पुरुषोत्तम ।
पतिव्रतामिमां साध्वीं तवोद्वीक्षितुमप्युत ॥ ८० ॥

हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारे इस पतिव्रता साध्वीको स्पर्श करनेकी बात तो दूर है, इसकी ओर देखनेकी भी तीनों लोकोंके बीच किसीको सामर्थ्य नहीं है ॥ ८० ॥

रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा ।
अधृष्या यदियं ब्रूयात्तथा तन्नान्यथा भवेत् ॥ ८१ ॥

यह तुम्हारे गुणोंसे तथा अपने पतिव्रता गुणोंसे रक्षित हुई है । यह अधृष्या साध्वी जो कहेगी, वह सत्य ही होगा, वह मिथ्या नहीं होगा ॥ ८१ ॥

एषा हि तपसा स्वेन संयुक्ता ब्रह्मवादिनी ।
पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति ॥ ८२ ॥

यह ब्रह्मवादिनी निज तपस्यासे संयुक्त होकर जगत्को पवित्र करनेके लिये श्रेष्ठ नदी होगी ॥ ८२ ॥

अर्धेनौघवती नाम त्वामर्धेनानुयास्यति ।
शरीरेण महाभागा योगो ह्यस्या वशे स्थितः ॥ ८३ ॥

यह महाभागा आधे शरीरसे ओघवती नामकी नदी होगी और आधे शरीरसे तुम्हारी सेवामें रहेगी; योग नित्य इसके वशमें रहेगा ॥ ८३ ॥

अनया सह लोकांश्च गन्तासि तपसार्जितान् ।
यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान्सनातनान् ॥ ८४ ॥

तुमने तपोबलसे जिन लोकोंको प्राप्त किया है, इसके सहित उन्हीं लोकोंमें जाओगे; जहांपर जानेसे फिर मर्त्यलोकमें नहीं आना होता ॥ ८४ ॥

अनेन चैव देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे ।
निर्जितश्च त्वया मृत्युरैश्वर्यं च तवोत्तमम् ॥ ८५ ॥

तुम इस ही शरीरसे उन शाश्वत सनातन लोकोंमें गमन करोगे । मृत्यु तुमसे निर्जित हुई है, तुमने उत्तम ऐश्वर्य पाया है ॥ ८५ ॥

पञ्च भूतान्यतिक्रान्तः स्ववीर्याच्च मनोभवः ।
गृहस्थधर्मेणानेन कामक्रोधौ च ते जितौ ॥ ८६ ॥

तुमने निज वीर्यबलसे मनोमय होकर पञ्चभूतोंको अतिक्रम किया है। तुमने इस गृहस्थधर्मके सहारे काम और क्रोधको जीता है ॥ ८६ ॥

स्नेहो रागश्च तन्द्री च मोहो द्रोहश्च केवलः ।
तव शुश्रूषया राजन्राजपुत्र्या विनिर्जिताः ॥ ८७ ॥

हे राजन् ! इस राजपुत्रीने तुम्हारी सेवाके सहारे स्नेह, राग, आलस्य, मोह और द्रोहको विशेष रूपसे जीत लिया है ॥ ८७ ॥

भीष्म उवाच—

शुक्लानां तु सहस्रेण वाजिनां रथमुत्तमम् ।
युक्तं प्रगृह्य भगवान्व्यवसायो जगाम तम् ॥ ८८ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर भगवान् व्यवसाय सफेद रंगवाले एक हजार घोडोंसे युक्त उत्तम रथको लेकर उनके निकट उपस्थित हुए ॥ ८८ ॥

मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च ।
बुद्धिः कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च ॥ ८९ ॥

उस सुदर्शनने अतिथिके विषयमें भक्तिबलसे मृत्यु, आत्मा, सब लोक, पञ्चभूत, बुद्धि, काल, मन, आकाश, काम और क्रोधको भी जीत लिया था ॥ ८९ ॥

तस्माद्गृहाश्रमस्थस्य नान्यद्दैवतमस्ति वै ।
ऋतेऽतिथिं नरव्याघ्र मनसैतद्विचारय ॥ ९० ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! इसलिये गृहस्थाश्रमी पुरुषके लिये अतिथिके समान दूसरा कोई भी देवता नहीं है, इसे मनही मन निश्चित विचार कर लो ॥ ९० ॥

अतिथिः पूजितो यस्य ध्यायते मनसा शुभम् ।
न तत्क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ९१ ॥

अतिथि पूजित होनेसे मन ही मन जो शुभचिन्तन करता है, उसकी समानता सौ यज्ञके फल भी नहीं कर सकते; इसलिये पण्डित लोग कहा करते हैं कि अतिथि सत्कारका फल उससे भी अधिक हुआ करता है ॥ ९१ ॥

पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत् ।
स दत्त्वा सुकृतं तस्य क्षपयेत ह्यनर्चितः ॥ ९२ ॥

शीलवान् सत्पात्र अतिथिके उपस्थित होनेसे जो पुरुष उसका सत्कार नहीं करता, उसे वह अपूजित अतिथि पुण्यफलको देकर चल देता है ॥ ९२ ॥

एतत्ते कथितं पुत्र मयाख्यानमनुत्तमम् ।
यथा हि विजितो मृत्युर्गृहस्थेन पुराभवत् ॥ ९३ ॥

हे तात ! पहले समयमें गृहस्थ पुरुषने मृत्यु पर जिस प्रकार विजय पायी थी, यह वही उत्तम आख्यान मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया है ॥ ९३ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम् ।
बुभूषताभिमन्तव्यं सर्वदुश्चरितापहम् ॥ ९४ ॥

यह उत्तम आख्यान धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है । यह सब पापोंको नष्ट करनेवाला है । ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको इसे आदर भावसे मानना चाहिये ॥ ९४ ॥

य इदं कथयेद्विद्वानहन्यहनि भारत ।
सुदर्शनस्य चरितं पुण्याँल्लोकानवाप्नुयात् ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ १७१ ॥

हे भारत ! जो विद्वान् पुरुष नित्य इस सुदर्शनचरितको कहता है, वह पुण्यलोकोंको पाता है ॥ ९५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ १७१ ॥

: ३ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्रापं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप ।
कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे नरनाथ ! क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीनों वर्णोंको यदि ब्राह्मणत्व प्राप्त करना दुष्प्राप्य है, तो महानुभावने क्षत्रिय होके किस प्रकार प्राप्त किया था ? ॥ १ ॥

विश्वामित्रेण धर्मात्मन्ब्राह्मणत्वं नरर्षभ ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! धर्मात्मा विश्वामित्रने ब्राह्मणत्व कैसे प्राप्त किया, इसे मैं यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं । हे पितामह ! आप मेरे समीप इस विषयका वर्णन करिये ॥ २ ॥

तेन ह्यमितवीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः ।
हतं पुत्रशतं सद्यस्तपसा प्रपितामह ॥ ३ ॥

हे प्रपितामह ! उस अत्यन्त वीर्यशाली विश्वामित्रने तपस्याके प्रभावसे महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंका तुरंत ही नाश किया था ॥ ३ ॥

×

यातुधानाश्च बहवो राक्षसास्तिग्मतेजसः ।
मन्युनाविष्टदेहेन सृष्टाः कालान्तकोपमाः ॥ ४ ॥
उनके शरीरमें क्रोध उत्पन्न होनेपर उन्होंने काल और यमके समान भयंकर बहुतेरे महातेजस्वी यातुधान और राक्षसोंको उत्पन्न किया था ॥ ४ ॥

महान्कुशिकवंशश्च ब्रह्मर्षिशतसंकुलः ।
स्थापितो नरलोकेऽस्मिन्विद्वान्ब्राह्मणसंस्तुतः ॥ ५ ॥
सैकड़ों ब्रह्मर्षियोंसे युक्त और विद्यावान् ब्राह्मणोंके द्वारा प्रशंसित अत्यन्त महान् कुशिक वंश इस मनुष्यलोकमें उन्होंने स्थापित किया है ॥ ५ ॥

ऋचीकस्यात्मजश्चैव शुनःशेपो महातपाः ।
विमोक्षितो महासत्रात्पशुतामभ्युपागतः ॥ ६ ॥
ऋचीकका पुत्र महातपस्वी शुनःशेप यज्ञमें यज्ञपशु होकर आया था, परंतु उन्होंने उसे महायज्ञसे विमोक्षित किया ॥ ६ ॥

हरिश्चन्द्रक्रतौ देवांस्तोषयित्वात्मतेजसा ।
पुत्रतामनुसंप्राप्तो विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ७ ॥
हरिश्चन्द्रके यज्ञमें निज तेजके सहारे देवताओंको सन्तुष्ट करके उसको छुड़ाया था; इसलिये वह बुद्धिमान् विश्वामित्रके पुत्रभावको प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

नाभिवादयते ज्येष्ठं देवरातं नराधिप ।
पुत्राः पञ्चशताश्चापि शप्ताः श्वपचतां गताः ॥ ८ ॥
देवताओंके देनेसे शुनःशेप देवरात नामसे प्रख्यात होकर विश्वामित्रका ज्येष्ठ पुत्र हुआ; तो भी उनके अन्य पाँचसौ पुत्रोंने उसे प्रणाम नहीं किया, इसीसे उन्होंने उनको शाप दिया और वे सब चाण्डाल हो गये ॥ ८ ॥

त्रिशङ्कुर्बन्धुसंत्यक्त इक्ष्वाकुः प्रीतिपूर्वकम् ।
अवाक्शिरा दिवं नीतो दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ९ ॥
इक्ष्वाकु वंशी त्रिशंकुको उसके बान्धवोंने त्याग दिया था । अनन्तर वह स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दक्षिण दिशामें नीचे सिर होकर लटकता था, तब विश्वामित्रने उसे प्रेमपूर्वक स्वर्गमें भेजा था ॥ ९ ॥

विश्वामित्रस्य विपुला नदी राजर्षिसेविता ।
कौशिकीति शिवा पुण्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ॥ १० ॥
विश्वामित्रकी कौशिकी नामकी राजर्षियोंसे सेवित एक बड़ी नदी थी, उस कल्याणी पुण्यसलिलवाली श्रेष्ठ नदीको ब्रह्मर्षि लोग सेवा करते थे ॥ १० ॥

तपोविघ्नकरी चैव पञ्चचूडा सुसंमता ।
रम्भा नामाप्सराः शापाद्यस्य शैलत्वमागता ॥ ११ ॥

पञ्चवलयवती, उत्तम और प्रसिद्ध रम्भा नामकी अप्सरा उनकी तपस्यामें विघ्न करने गयी थी, जो उनके शापवशसे शिला होगई थी ॥ ११ ॥

तथैवास्य भयाद्बद्ध्वा वसिष्ठः सलिले पुरा ।
आत्मानं मज्जयामास विपाशः पुनरुत्थितः ॥ १२ ॥

इस ही ऋषिके भयसे पहले समयमें वसिष्ठ मुनि अपने शरीरको बांधकर नदीके जलमें डूबे थे और बन्धमुक्त होकर फिर जलसे ऊपर उठे थे ॥ १२ ॥

तदाप्रभृति पुण्या हि विपाशाभून्महानदी ।
विख्याता कर्मणा तेन वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

तभीसे वह पवित्र जलवाली महानदी महात्मा वसिष्ठके उस ही महान् कर्मसे विपाशा नामसे विख्यात हुई है ॥ १३ ॥

वाग्भिश्च भगवान्येन देवसेनाग्रगः प्रभुः ।
स्तुतः प्रीतमनाश्चासीच्छापाच्चैनममोचयत् ॥ १४ ॥

विश्वामित्रने वाणीसे प्रभु भगवान् इन्द्रकी स्तुति की, देवराज इन्द्रने प्रसन्न होकर उन्हें शापसे मुक्त कर दिया था ॥ १४ ॥

ध्रुवस्यौत्तानपादस्य ब्रह्मर्षीणां तथैव च ।
मध्ये ज्वलति यो नित्यमुदीचीमाश्रितो दिशम् ॥ १५ ॥

उत्तानपाद राजाके पुत्र ध्रुव और ब्रह्मर्षियोंके बीच जो उत्तर दिशाको अवलम्बन करके सदा नक्षत्र रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

तस्यैतानि च कर्माणि तथान्यानि च कौरव ।
क्षत्रियस्येत्यतो जातमिदं कौतूहलं मम ॥ १६ ॥

हे कौरव ! उन विश्वामित्रके ये सब तथा अन्यान्य आश्चर्यकारक कर्मोंको सुनके, कि क्षत्रियके द्वारा यह सब घटना हुई थी, इसमें मुझे अत्यन्त कौतूहल उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

किमेतदिति तत्त्वेन प्रब्रूहि भरतर्षभ ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ १७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यह घटना किस प्रकार हुई थी, आप उसे वर्णन करिये । विश्वामित्र बिना दूसरा शरीर धारण किये ही किस प्रकार ब्राह्मण हुए ? ॥ १७ ॥

एतत्तत्त्वेन मे राजन्सर्वमाख्यातुमर्हसि ।
मतंगस्य यथातत्त्वं तथैवैतद्ब्रवीहि मे ॥ १८ ॥

हे राजन् ! हमारे समीप इन समस्त वृत्तान्तोंको वर्णन करनेके योग्य आप ही हैं; जैसा मतङ्गका वृत्तान्त है, वैसे ही इसे भी आप मेरे निकट वर्णन करिये ॥ १८ ॥

स्थाने मतंगो ब्राह्मण्यं नालभद्भरतर्षभ ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ १९० ॥

हे भरतप्रवर ! मतङ्गने शूद्रके सहारे ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न होके कठिन तपस्या करनेपर भी ब्राह्मणत्व लाभ नहीं किया, वह युक्तिसङ्गत है; परन्तु विश्वामित्रने किस प्रकार ब्राह्मणत्व लाभ किया ? ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ १९० ॥

: ४ :

भीष्म उवाच—

श्रूयतां पार्थ तत्त्वेन विश्वामित्रो यथा पुरा ।
ब्राह्मणत्वं गतस्तात ब्रह्मर्षित्वं तथैव च ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे तात पृथापुत्र ! पहले समयमें विश्वामित्रने जिस प्रकार ब्राह्मणत्व और ब्रह्मर्षित्व प्राप्त किया था, उसे यथार्थ रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ १ ॥

भरतस्यान्वये चैवाजमीढो नाम पार्थिवः ।
बभूव भरतश्रेष्ठ यज्वा धर्मभृतां वरः ॥ २ ॥

हे भरतप्रवर ! भरतवंशमें अजमीढ नामक यज्ञ करनेवाला और धार्मिकोंमें श्रेष्ठ एक राजा था ॥ २ ॥

तस्य पुत्रो महानासीज्जह्नुर्नाम नरेश्वरः ।
दुहितृत्वमनुप्राप्ता गङ्गा यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

गङ्गा जिस महात्माकी पुत्री कहाती हैं, वही राजा जन्हु उसके मुख्य पुत्र थे ॥ ३ ॥

तस्यात्मजस्तुल्यगुणः सिन्धुद्वीपो महायशाः ।
सिन्धुद्वीपाच्च राजर्षिर्बलाकाश्वो महाबलः ॥ ४ ॥

उनके महायशस्वी सिन्धुद्वीप, गुणोंमें उन्हींके सदृश पुत्र हुआ, सिन्धुद्वीपसे महाबली राजर्षि बलाकाश्व उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

वल्लभस्तस्य तनयः साक्षाद्धर्म इवापरः ।
कुशिकस्तस्य तनयः सहस्राक्षसमद्युतिः ॥ ५ ॥

साक्षात् धर्मके समान उसके वल्लभ नाम पुत्र हुआ । इन्द्रके समान तेजस्वी उसका पुत्र कुशिक हुआ ॥ ५ ॥

कुशिकस्यात्मजः श्रीमान्गाधिर्नाम जनेश्वरः ।
अपुत्रः स महाबाहुर्वनवासमुदावसत् ॥ ६ ॥

कुशिकका पुत्र श्रीमान् गाधि नामक राजा था; वह महाबाहु राजा पुत्रहीन होनेसे वनमें रहने लगा ॥ ६ ॥

कन्या जज्ञे सुता तस्य वने निवसतः सतः ।
नाम्ना सत्यवती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ ७ ॥

जब वह वनमें निवास कर रहा था, तब उसके एक कन्या उत्पन्न हुई । उसका सत्यवती नाम था; पृथ्वीमण्डलमें वैसी रूपवती और कोई भी स्त्री नहीं थी ॥ ७ ॥

तां वव्रे भार्गवः श्रीमांश्च्यवनस्यात्मजः प्रभुः ।
ऋचीक इति विख्यातो विपुले तपसि स्थितः ॥ ८ ॥

च्यवन मुनिके पुत्र भृगुवंशी श्रीमान् ऋचीक विख्यात महातपस्वी थे और अत्यंत कठिन तपस्या करते थे । उन्होंने राजासे उस कन्याके निमित्त प्रार्थना की ॥ ८ ॥

स तां न प्रददौ तस्मै ऋचीकाय महात्मने ।
दरिद्र इति मत्वा वै गाधिः शत्रुनिबर्हणः ॥ ९ ॥

शत्रुनाशन गाधिराज पहले महानुभाव ऋचीकको दरिद्र समझके अपनी कन्या देनेमें सम्मत नहीं हुए ॥ ९ ॥

प्रत्याख्याय पुनर्यान्तमब्रवीद्राजसत्तमः ।
शुल्कं प्रदीयतां मह्यं ततो वेत्स्यसि मे सुताम् ॥ १० ॥

अनन्तर इनकार करनेपर जब ऋचीक मुनि वहांसे लौटकर चलने लगे, तब नृपसत्तम गाधि-राजने उनसे कहा— तुम मुझे शुल्क प्रदान करो, तो मेरी कन्याका पाणिग्रहण कर सकोगे ॥ १० ॥

ऋचीक उवाच—

किं प्रयच्छामि राजेन्द्र तुभ्यं शुल्कमहं नृप ।
दुहितुर्ब्रूह्यसंसक्तो मात्राभूत्ते विचारणा ॥ ११ ॥

ऋचीक मुनि बोले— हे राजेन्द्र ! मैं तुम्हारी कन्याका क्या शुल्क प्रदान करूं, उसे तुम निःसन्देह मुझसे कहो; इसमें आप कोई दूसरा विचार न कीजिये ॥ ११ ॥

गाधिरुवाच—

चन्द्ररश्मिप्रकाशानां हयानां वातरंहसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां सहस्रं देहि भार्गव ॥ १२ ॥

महाराज गाधि बोले— हे भार्गव ! चन्द्रमाके समान प्रकाशमान्, वायुके सदृश वेगशाली और जिनके एक-एक कान श्यामवर्ण हैं, वैसे एक हजार घोडे मुझे दो ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—

ततः स भृगुशार्दूलश्च्यवनस्यात्मजः प्रभुः ।
अब्रवीद्वरुणं देवमादित्यं पतिमम्भसाम् ॥ १३ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर उस भृगुश्रेष्ठ च्यवन मुनिके पुत्र प्रभु ऋचीकने अदितिपुत्र जलाधिपति वरुणदेवसे कहा ॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं वातवेगानां भिक्षे त्वां देवसत्तम ॥ १४ ॥

हे देवसत्तम ! एक ओरका कान श्यामवर्ण और चन्द्रके समान कान्तिमान्, वायुके समान वेगशाली एक हजार घोडे पानेके लिये मैं आपके समीप भिक्षा मांगता हूं ॥ १४ ॥

तथेति वरुणो देव आदित्यो भृगुसत्तमम् ।
उवाच यत्र ते च्छन्दस्तत्रोत्थास्यन्ति वाजिनः ॥ १५ ॥

आदितिपुत्र वरुणदेवने भृगुसत्तम ऋचीक मुनिसे कहा— बहुत अच्छा, तुम्हें जिस स्थानपर इन घोडोंके निमित्त अभिलाषा होगी, उस ही स्थानमें ऐसे लक्षणोंसे युक्त एक हजार घोडे प्रकट होजाएंगे ॥ १५ ॥

ध्यातमात्रे ऋचीकेन हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
गङ्गाजलात्समुत्तस्थौ सहस्रं विपुलौजसाम् ॥ १६ ॥

अनन्तर ऋचीक मुनिके ध्यान करते ही महातेजस्वी चन्द्रमाके समान कान्तिवाले एक हजार श्यामकर्ण घोडे गङ्गाजलसे प्रकट हुए ॥ १६ ॥

अदूरे कन्यकुब्जस्य गङ्गायास्तीरमुत्तमम् ।
अश्वतीर्थं तदद्यापि मानवाः परिचक्षते ॥ १७ ॥

कान्यकुब्ज देशके समीप जिस गंगाके उत्तम तटमें ये घोडे प्रकट हुए थे, आज भी मनुष्य उसे अश्वतीर्थ कहा करते हैं ॥ १७ ॥

ततस्तदा गाधये तात सहस्रं वाजिनां शुभम् ।
ऋचीकः प्रददौ प्रीतः शुल्कार्थं जपतां वरः ॥ १८ ॥

हे तात ! अनन्तर तपस्वीमुनियोंमें श्रेष्ठ ऋचीक मुनिने प्रसन्न होकर शुल्कके निमित्त महाराज गाधिको वेही एक हजार उत्तम श्यामकर्ण घोडे प्रदान किये ॥ १८ ॥

ततः स विस्मितो राजा गाधिः शापभयेन च ।
ददौ तां समलंकृत्य कन्यां भृगुसुताय वै ॥ १९ ॥

गाधिराज उसे देखकर विस्मित हुए और शापके भयसे डरके अपनी कन्याको सब आभूषणोंसे भूषित करके ऋचीक मुनिको प्रदान किया ॥ १९ ॥

जग्राह पाणिं विधिना तस्या ब्रह्मर्षिसत्तमः ।
सा च तं पतिमासाद्य परं हर्षमवाप ह ॥ २० ॥

ब्रह्मर्षिसत्तम ऋचीक मुनिने विधिपूर्वक उस कन्याका पाणिग्रहण किया; वह भी उन्हें पतिरूपसे पाके परम हर्षित हुई ॥ २० ॥

स तुतोष च विप्रर्षिस्तस्या वृत्तेन भारत ।
छन्दयामास चैवैनां वरेण वरवर्णिनीम् ॥ २१ ॥

हे भारत ! ब्रह्मर्षि ऋचीक उसके चरित्रसे हर्षित हुए और उन्होंने उस अत्यंत सुंदरी अपनी पत्नीको अभिलषित वर देना चाहा ॥ २१ ॥

मात्रे तत्सर्वमाचख्यौ सा कन्या राजसत्तम ।
अथ तामब्रवीन्माता सुतां किंचिदवाङ्मुखीम् ॥ २२ ॥

उस राजकन्याने वह सब वृत्तान्त अपनी मातासे और राजासे कह दिया; अनन्तर माताने उस अधोवदनवाली अपनी पुत्रीसे कहा ॥ २२ ॥

ममापि पुत्रि भर्ता ते प्रसादं कर्तुमर्हति ।
अपत्यस्य प्रदानेन समर्थः स महातपाः ॥ २३ ॥

हे पुत्री ! तुम्हारा पति मुझपर भी पुत्र प्रदान करनेके लिये कृपा कर सकता है, वह महातपस्वी और समर्थ हैं ॥ २३ ॥

ततः सा त्वरितं गत्वा तत्सर्वं प्रत्यवेदयत् ।
मातुश्चिकीर्षितं राजन्नृचीकस्तामथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! इतनी बात सुनके उसने शीघ्र ही पतिके निकट जाके माताका सब अभिप्राय कह सुनाया । तब ऋचीक मुनिने उससे कहा ॥ २४ ॥

गुणवन्तमपत्यं वै त्वं च सा जनयिष्यथः ।
जनन्यास्तव कल्याणि मा भूद्वै प्रणयोऽन्यथा ॥ २५ ॥

हे कल्याणी ! मेरे प्रसादसे तुम्हें और तुम्हारी माताके शीघ्रही गुणवान पुत्र जन्मेगा । तुम्हारी माताका प्रेमपूर्ण अनुरोध असफल नहीं होगा ॥ २५ ॥

तव चैव गुणश्लाघी पुत्र उत्पत्स्यते शुभे ।
अस्मद्वंशकरः श्रीमांस्तव भ्राता च वंशकृत् ॥ २६ ॥

हे शुभे ! तुम्हारे भी गुणवान और तेजस्वी हमारे वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा; तुम्हारा भाई भी वंशकी परम्परा चलानेवाला और तेजस्वी होगा ॥ २६ ॥

ऋतुस्नाता च साश्वत्थं त्वं च वृक्षमुदुम्बरम् ।
परिष्वजेथाः कल्याणि तत इष्टमवाप्स्यथः ॥ २७ ॥

हे कल्याणि ! तुम्हारी माता ऋतुमती होकर स्नान करने पर अश्वत्थ वृक्षका आलिंगन करे और तुम उदुम्बर वृक्षका; तब तुम दोनोंको अभीष्ट पुत्रका लाभ होगा ॥ २७ ॥

चरुद्वयमिदं चैव मन्त्रपूतं शुचिस्मिते ।
त्वं च सा चोपयुञ्जीथां ततः पुत्राववाप्स्यथः ॥ २८ ॥

हे शुचिस्मिते ! वह और तुम इन मन्त्रयुक्त दो चरुओंसे एक एक खा लो; तब तुम दोनोंको पुत्र प्राप्त होंगे ॥ २८ ॥

ततः सत्यवती हृष्टा मातरं प्रत्यभाषत ।
यदृचीकेन कथितं तच्चाचख्यौ चरुद्वयम् ॥ २९ ॥

अनन्तर सत्यवती अत्यन्त हर्षित होके माताके निकट गई, और ऋचीक मुनिने जो कुछ कहा था, वह सब वृत्तान्त तथा दोनोंके लिये तैयार किए हुए चरुओंके विषयको भी वर्णन किया ॥ २९ ॥

तामुवाच ततो माता सुतां सत्यवतीं तदा ।
पुत्रि मूर्ध्ना प्रपन्नायाः कुरुष्व वचनं मम ॥ ३० ॥

तब उसकी माता निज पुत्री सत्यवतीसे बोली, हे पुत्री ! मैं तुम्हारे पतिसे भी तुम्हारी माता होनेके कारण तुम्हारे समीप माननीय हूं, इसलिये तुम मेरा वचन प्रतिपालन करो ॥ ३० ॥

भर्त्रा य एष दत्तस्ते चरुर्मन्त्रपुरस्कृतः ।
एतं प्रयच्छ मह्यं त्वं मदीयं त्वं गृहाण च ॥ ३१ ॥

तुम्हारे पतिने तुम्हें जो मन्त्रयुक्त चरु दिया है, वह मुझे दो और जो चरु मुझे दिया है, उसे तुम लो ॥ ३१ ॥

व्यत्यासं वृक्षयोश्चापि करवाव शुचिस्मिते ।
यदि प्रमाणं वचनं मम मातुरनिन्दिते ॥ ३२ ॥

हे शुचिस्मिते ! हे अनिन्दिते ! मैं तुम्हारी माता हूं, यदि मेरा वचन तुम्हें प्रमाण हो, तो हम दोनों उन दो वृक्षोंको बदलके आलिङ्गन करें ॥ ३२ ॥

व्यक्तं भगवता चात्र कृतमेवं भविष्यति ।
ततो मे त्वच्चरौ भावः पादपे च सुमध्यमे ।
कथं विशिष्टो भ्राता ते भवेदित्येव चिन्त्यताम् ॥ ३३ ॥

भगवान् ऋचीकने भी अवश्य इस ही प्रकार किया होगा यह शेषमें मालूम हो जायगा । हे सुमध्यमे ! इस ही निमित्त तुम्हारे वृक्ष और चरुमें मेरी अभिरुचि हुई है । जिस प्रकार तुम्हारा भाई श्रेष्ठ हो, तुम वैसीही चिन्ता करो ॥ ३३ ॥

तथा च कृतवत्यौ ते माता सत्यवती च सा ।
अथ गर्भाबनुप्राप्ते उभे ते वै युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
हे युधिष्ठिर ! सत्यवती और उसकी माताने उन दोनों वस्तुओंका बदलकर उस ही प्रकार आचरण किया । अनन्तर वे दोनों गर्भवती हुई ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा गर्भमनुप्राप्तां भार्यां स च महानृषिः ।
उवाच तां सत्यवतीं दुर्मना भृगुसत्तमः ॥ ३५ ॥
भृगुसत्तम महर्षि ऋचीक मुनिने अपनी भार्या सत्यवतीको गर्भवती देखकर दुःखित होकर कहा ॥ ३५ ॥

व्यत्यासेनोपयुक्तस्ते चरुर्व्यक्तं भविष्यति ।
व्यत्यासः पादपे चापि सुव्यक्तं ते कृतः शुभे ॥ ३६ ॥
हे कल्याणि ! चरुका अदल बदल करके तुमने उपयोग किया है, ऐसा जान पडता है; और इसी तरह तुमने वृक्षोंके आलिङ्गनमें भी उलट फेर किया है, यह स्पष्ट ही मालूम होरहा है ॥ ३६ ॥

मया हि विश्वं यद्ब्रह्म त्वच्चरौ संनिवेशितम् ।
क्षत्रवीर्यं च सकलं चरौ तस्या निवेशितम् ॥ ३७ ॥
मैंने तुम्हारे चरुमें विश्वब्रह्मतेज परिपूरित किया था और तुम्हारी माताके चरुमें सम्पूर्ण क्षत्रिय तेज भरा हुआ था ॥ ३७ ॥

त्रिलोकविख्यातगुणं त्वं विप्रं जनयिष्यसि ।
सा च क्षत्रं विशिष्टं वै तत एतत्कृतं मया ॥ ३८ ॥
तुम तीनों लोकोंके बीच निज गुणोंसे विख्यात ब्राह्मण पुत्रको जन्म दोगी और तुम्हारी माता श्रेष्ठ क्षत्रिय पुत्रकी माता होगी, इस ही लिये मैंने ऐसा किया था ॥ ३८ ॥

व्यत्यासस्तु कृतो यस्मात्त्वया मात्रा तथैव च ।
तस्मात्सा ब्राह्मणश्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति ॥ ३९ ॥
हे शुभे ! तुम और तुम्हारी माताने जब उसमें हेर फेर किया है, तब तुम्हारी माताके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ३९ ॥

क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि ।
न हि ते तत्कृतं साधु मातृस्नेहेन भामिनि ॥ ४० ॥
और तुम्हारे प्रचण्ड कर्म करनेवाला एक क्षत्रिय पुत्र होगा । हे भद्रे ! हे भामिनि ! तुमने मातृस्नेहके वशमें होकर यह उत्तम कार्य नहीं किया ॥ ४० ॥

×

सा श्रुत्वा शोकसंतप्ता पपात वरवर्णिनी ।
भूमौ सत्यवती राजंश्छिन्नेव रुचिरा लता ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! वह वरवर्णिनि सत्यवती ऐसा वचन सुनके शोकित तथा दुःखित होकर टूटी हुई मनोहारिणी लताकी भाँति पृथ्वीपर गिर पडी ॥ ४१ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां शिरसा प्रणिपत्य च ।
उवाच भार्या भर्तारं गाधेयी ब्राह्मणर्षभम् ॥ ४२ ॥

कुछ समयके अनन्तर गाधिराजपुत्री सावधान होके हाथ जोडके सिर झुकाकर ब्राह्मण श्रेष्ठ पतिको प्रणाम करके कहने लगी ॥ ४२ ॥

प्रसादयन्त्यां भार्यायां मयि ब्रह्मविदां वर ।
प्रसादं कुरु विप्रर्षे न मे स्यात्क्षत्रियः सुतः ॥ ४३ ॥

हे वेदज्ञवर विप्रर्षि ! मैं तुम्हारी भार्या हूं, इससे प्रसन्न होके आप मुझपर कृपा करिये, जिससे कि मेरे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न न हो ॥ ४३ ॥

कामं ममोग्रकर्मा वै पौत्रो भवितुमर्हति ।
न तु मे स्यात्सुतो ब्रह्मन्नेष मे दीयतां वरः ॥ ४४ ॥

यदि आपकी इच्छा हो, तो मेरा पौत्र उग्र कर्म करनेवाला क्षत्रिय हो जाय, परन्तु जिसमें मेरा पुत्र क्षत्रिय न हो, वही करिये । हे ब्रह्मन् ! आप मुझे यही वर दीजिये ॥ ४४ ॥

एवमस्त्विति होवाच स्वां भार्यां सुमहातपाः ।
ततः सा जनयामास जमदग्निं सुतं शुभम् ॥ ४५ ॥

महातपस्वी ऋचीकमुनि अपनी भार्यासे बोले, ' ऐसा ही होगा । ' अनन्तर सत्यवतीके शुभलक्षणसे युक्त जमदग्नि नाम पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४५ ॥

विश्वामित्रं चाजनयद्गाधेर्भार्या यशस्विनी ।
ऋषेः प्रसादाद्राजेन्द्र ब्रह्मर्षिं ब्रह्मवादिनम् ॥ ४६ ॥

और राजेन्द्र ! यशस्विनी गाधिराजकी भार्याने ब्रह्मर्षिके प्रभावसे ब्रह्मवादी विश्वामित्रको उत्पन्न किया ॥ ४६ ॥

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपाः ।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ ४७ ॥

महातपस्वी विश्वामित्रने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्वका लाभ किया और ब्राह्मण वंशके कर्त्ता हुए ॥ ४७ ॥

तस्य पुत्रा महात्मानो ब्रह्मवंशविवर्धनाः ।
तपस्विनो ब्रह्मविदो गोत्रकर्तार एव च ॥ ४८ ॥
उन ब्रह्मवेत्ता तपस्वीके महानुभाव सब पुत्र ब्राह्मण वंशकी वृद्धि करनेवाले, और गोत्रकर्ता हुए थे ॥ ४८ ॥

मधुच्छन्दश्च भगवान्देवरातश्च वीर्यवान् ।
अक्षीणश्च शकुन्तश्च बभ्रुः कालपथस्तथा ॥ ४९ ॥
उनके ये नाम हैं– भगवान् मधुच्छन्द, वीर्यवान् देवरात, अक्षीण, शकुन्त, बभ्रु, कालपथ, ॥ ४९ ॥

याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः ।
उलूको यमदूतश्च तथर्षिः सैन्धवायनः ॥ ५० ॥
विख्यात याज्ञवल्क्य, महाव्रत स्थूण, उलूक, यमदूत, ऋषि सैन्धवायन ॥ ५० ॥

कर्णजङ्घश्च भगवान्गालवश्च महानृषिः ।
ऋषिर्वज्रस्तथाख्यातः शालङ्कायन एव च ॥ ५१ ॥
भगवान् कर्णजङ्घ, महर्षि गालव, ऋषि वज्र, विख्यात शालंकायन ॥ ५१ ॥

लालाट्यो नारदश्चैव तथा कूर्चमुखः स्मृतः ।
वादुलिर्मुसलश्चैव रक्षोग्रीवस्तथैव च ॥ ५२ ॥
लालाट्य, नारद, कूर्चमुख, वादुलि, मुसल, रक्षोग्रीव ॥ ५२ ॥

अङ्घ्रिको नैकभृच्चैव शिलायूपः सितः शुचिः ।
चक्रको मारुतन्तव्यो वातघ्नोऽथाश्वलायनः ॥ ५३ ॥
आंघ्रिक, नैकभृक्, शिलायूप, सित, शुचि, चक्रक, मारुतन्तव्य, वातघ्न, आश्वलायन ॥५३॥

श्यामायनोऽथ गार्ग्यश्च जाबालिः सुश्रुतस्तथा ।
कारीषिरथ संश्रुत्यः परपौरवतन्तवः ॥ ५४ ॥
श्यामायन, गार्ग्य, जाबालि, सुश्रुत, कारीषि, संश्रुत्य, पर, पौरव, तन्तु ॥ ५४ ॥

महानृषिश्च कपिलस्तथर्षिस्तारकायनः ।
तथैव चोपगहनस्तथर्षिश्चार्जुनायनः ॥ ५५ ॥
महर्षि कपिल, तारकायन ऋषि, उपगहन, आर्जुनायन ऋषि ॥ ५५ ॥

मार्गमित्रिर्हिरण्याक्षो जंघारिर्बभ्रुवाहनः ।
सूतिर्विभूतिः सूतश्च सुरङ्गश्च तथैव हि ॥ ५६ ॥
मार्गमित्रि, हिरण्याक्ष, जंघारि, बभ्रुवाहन, सूति, विभूति, सूत, सुरङ्ग ॥ ५६ ॥

आराद्धिर्नाभचश्चैव चाम्पेयोज्ज्वलौ तथा ।
नवतन्तुर्बकनखः शयोनरतिरेव च ॥ ५७ ॥
आराद्धि, नाभग, चाम्पेय, उज्ज्वल, नवतन्तु, बकनख, शयनरति ॥ ५७ ॥

शयोरुहश्चारुमत्स्यः शिरीषी चाथ गार्दभिः ।
उज्जयोनिरदापेक्षी नारदी च महानृषिः ।
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ ५८ ॥
शयोरुह, चारुमत्स्य, शिरीषी, गार्दभि, उज्जयोनि, उदापेक्षी और महर्षि नारदी, ये सब विश्वामित्रके पुत्र ब्रह्मवादी मुनि थे ॥ ५८ ॥

तत्रैव क्षत्रियो राजन्विश्वामित्रो महातपाः ।
ऋचीकेनाहितं ब्रह्म परमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५९ ॥
हे महाराज युधिष्ठिर ! महातपस्वी विश्वामित्रके क्षत्रिय होनेपर भी ऋचीक मुनिके द्वारा जो पहले ब्रह्मतेज प्रवेशित किया था, उस ही निमित्त उन्होंने क्षत्रियवीर्यसे उत्पन्न होके भी ब्राह्मणत्व लाभ किया था ॥ ५९ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
विश्वामित्रस्य वै जन्म सोमसूर्याग्नितेजसः ॥ ६० ॥
हे भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे समीप चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्निके समान तेजस्वी विश्वामित्रकी उत्पत्तिका वृत्तान्त यथार्थ रूपसे वर्णन किया है ॥ ६० ॥

यत्र यत्र च संदेहो भूयस्ते राजसत्तम ।
तत्र तत्र च मां ब्रूहि च्छेत्तास्मि तव संशयान् ॥ ६१ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ २५१ ॥

हे नृपसत्तम ! फिर जिन विषयोंमें तुम्हें सन्देह हो, वह मुझसे कहो; मैं तुम्हारा सब सन्देह मिटा दूंगा ॥ ६१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ २५१ ॥

: ५ :

युधिष्ठिर उवाच—
आनृशंस्यस्य धर्मस्य गुणान्भक्तजनस्य च ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले— हे धर्मज्ञ पितामह ! मैं दयालु और भक्त मनुष्योंके गुणको पूर्णतया सुननेकी इच्छा करता हूं, आप मेरे समीप इसे ही वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः ।

सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥ २ ॥

भीष्म बोले—काशिराजके राज्यमें कोई व्याध विषमें बुझाया हुआ बाण ग्रहण करके गाँवसे निकलकर हरिनकी खोजमें घूम रहा था ॥ २ ॥

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने ।

अविदूरे मृगं दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥ ३ ॥

मृगयाके समय महावनमें उस मांसलोभी व्याधने थोडी दूरपर एक हरिणको देखकर उसपर बाण चलाया ॥ ३ ॥

तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा ।

महान्वनतरुर्विद्धो मृगं तत्र जिघांसता ॥ ४ ॥

अमोघ बाण चलानेवाले व्याधने मृग मारनेके लिये बाण चलाया, परंतु उस बाणने निशाना चुक जाने पर वनमें स्थित एक विशाल वृक्षको विद्ध किया ॥ ४ ॥

स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात्कृतः ।

उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ॥ ५ ॥

वह वृक्ष विषमें बुझे हुए तीक्ष्ण बाणसे बलपूर्वक वेधित होनेसे उसके फल और पत्ते झड गये और वह सूखने लगा ॥ ५ ॥

तस्मिन्वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः ।

न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ॥ ६ ॥

उस वृक्षकी ऐसी अवस्था होनेपर भी उसके कोटरमें बहुत दिनोंसे निवास करनेवाला एक शुकपक्षी उस वृक्षके प्रति प्रेम होनेके कारण वहांका निवास छोडता नहीं था ॥ ६ ॥

निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि ।

कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा स व्यशुष्यत ॥ ७ ॥

धर्मात्मा कृतज्ञ शुक कहीं आता जाता नहीं था, वह कुछ खाता ही नहीं था, वह इतना दुबला हो गया था कि वह कुछ बोलभी नहीं सकता था; वह स्वयं वृक्षके सहित सूखने लगा ॥ ७ ॥

तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम् ।

समदुःखसुखं ज्ञात्वा विस्मितः पाकशासनः ॥ ८ ॥

इन्द्र उस अलौकिक बुद्धिवाले, उदार और सुखदुःखको समान माननेवाले महान् धैर्यवान् शुकको जानकर विस्मित हुए ॥ ८ ॥

ततश्चिन्तामुपगतः शक्रः कथमयं द्विजः।
तिर्यग्योनावसम्भाव्यमानृशंस्यं समास्थितः ॥ ९ ॥

इन्द्रने सोचा, कि इस पक्षीने किस प्रकार पक्षीकी योनिमें असम्भाव्य पराये दुःखसे दया भावका अवलम्बन किया है, ॥ ९ ॥

अथ वा नात्र चित्रं हीत्यभवद्वासवस्य तु।
प्राणिनामिह सर्वेषां सर्वं सर्वत्र दृश्यते ॥ १० ॥

अथवा इन्द्रको इस विषयमें कुछ आश्चर्य नहीं मालूम हुआ, क्योंकि सब प्राणियोंमें तथा सब जातियोंमें ही दया और निष्ठुरता प्रभृति दीख पडती हैं ॥ १० ॥

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह ॥ ११ ॥

अनन्तर इन्द्र ब्राह्मणके वेषमें मनुष्यका रूप धारण कर पृथ्वीपर उतरके उस शुक पक्षीसे बोले– ॥ ११ ॥

शुक भोः पक्षिणां श्रेष्ठ दाक्षेयी सुप्रजास्त्वया।
पृच्छे त्वा शुष्कमेतं वै कस्मान्न त्यजसि द्रुमम् ॥ १२ ॥

हे विहङ्गवर शुक! दक्षकी दौहित्री शुकी तुम्हारे द्वारा उत्तम प्रजायुक्त हुई है; मैं तुमसे पूछता हूं, कि तुम किस लिये इस वृक्षको परित्याग नहीं करते? ॥ १२ ॥

अथ पृष्टः शुकः प्राह मूर्ध्ना समभिवाद्य तम्।
स्वागतं देवराजाय विज्ञातस्तपसा मया ॥ १३ ॥

अनन्तर शुक उनके इस प्रकार पूछनेपर शिर झुकाके उन्हें प्रणाम करके बोला– देवराज! आपका स्वागत है; मैंने तपस्याके सहारे आपको पहचाना है ॥ १३ ॥

ततो दशशताक्षेण साधु साध्विति भाषितम्।
अहो विज्ञानमित्येवं तपसा पूजितस्ततः ॥ १४ ॥

अनन्तर सहस्रनेत्रवाले इन्द्रने 'साधु साधु' ऐसा वचन कहा और क्या ही आश्चर्ययुक्त विज्ञान है? ऐसा विचारके मनही मन उसके तपकी प्रशंसा करने लगे ॥ १४ ॥

तमेवं शुभकर्माणं शुकं परमधार्मिकम्।
विजानन्नपि तां प्राप्तिं पप्रच्छ बलसूदनः ॥ १५ ॥

बलसूदन इन्द्रने उस शुभ कर्म करनेवाले परम धार्मिक शुकको ऐसा जानके भी वृक्षके विषयमें उसकी सुहृदताका विषय पूछा ॥ १५ ॥

निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्रिणाम् ।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम् ॥ १६ ॥
यह वृक्ष पत्तारहित, फलहीन, सूखा और पक्षियोंके लिये रहनेयोग्य नहीं है; इसलिए इस महावनके बीच दूसरे, सजीव वृक्षोंके विद्यमान रहते किस निमित्त तुम इस सूखे वृक्षमें वास करते हो? ॥ १६ ॥

अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंछन्नकोटराः ।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन्महावने ॥ १७ ॥
इस महावनमें दूसरे बहुतेरे वृक्ष हैं, उनके कोटर पत्तोंसे परिपूर्ण हैं, देखनेमें सुन्दर हैं, उन वृक्षोंपर पक्षियोंके संचारके लिये यथेष्ट स्थान हैं ॥ १७ ॥

गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम् ।
विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं ह्यस्थिरं द्रुमम् ॥ १८ ॥
हे धीर! इसलिये तुम बुद्धिके सहारे विचार करके इस निर्जीव, सामर्थ्यरहित, सारहीन, श्रीरहित बूढे सूखे वृक्षको परित्याग करो ॥ १८ ॥

तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम् ।
सुदीर्घमभिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह ॥ १९ ॥
धर्मात्मा शुक इन्द्रका वचन सुनके लम्बी सांस छोडते हुए दीन, दुःखित होके कहने लगा ॥ १९ ॥

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते ।
यत्राभवस्तत्र भवस्तन्निबोध सुराधिप ॥ २० ॥
हे शचीपति सुरराज! दैवका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। जिस विषयमें आपने प्रश्न किया है, उसका उत्तर सुनिये ॥ २० ॥

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः ।
बालभावे च संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः ॥ २१ ॥
मैंने इस वृक्षपर जन्म लिया है, बाल्य अवस्थासे प्रतिपालित और सद्गुणयुक्त हुआ हूं, शत्रुओंसे कभी आक्रान्त नहीं हुआ ॥ २१ ॥

किमनुक्रोशवैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ ।
आनृशंस्येऽनुरक्तस्य भक्तस्यानुगतस्य च ॥ २२ ॥
हे पापरहित! मैं पराये दुःखसे दुःखित, दयायुक्त, भक्त और अनन्य गतिसे युक्त हूं, आप क्यों करुणा करके मुझमें वैफल्यका भाव उत्पन्न करते हैं? ॥ २२ ॥

अनुक्रोशो हि साधूनां सुमहद्धर्मलक्षणम् ।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥ २३ ॥

दया ही साधुओंके अत्यंत महान् धर्मका लक्षण है, वही उन्हें सदा प्रसन्न किया करती है ॥ २३ ॥

त्वमेव दैवतैः सर्वैः पृच्छयसे धर्मसंशयान् ।
अतस्त्वं देव देवानामाधिपत्ये प्रतिष्ठितः ॥ २४ ॥

सब देवता लोग धर्मके विषयमें सन्देहयुक्त होनेपर आपसे ही उस विषयमें पूछते हैं। हे देव ! इस ही निमित्त आप देवताओंके आधिपत्य पर प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ २४ ॥

नार्हसि त्वं सहस्राक्ष त्याजयित्वेह भक्तितः ।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥ २५ ॥

हे सहस्रलोचन ! मुझ जैसे भक्तके लिये इस वृक्षको छोडनेको कहना, आपको उचित नहीं है; जब यह वृक्ष समर्थ था, तब इसका आश्रय लेकर जीवन धारण किया, आज इस समय किस प्रकार इसे परित्याग करूं ? यह कैसे हो सकता है ? ॥ २५ ॥

तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः ।
शुकं प्रोवाच धर्मज्ञमानृशंस्येन तोषितः ॥ २६ ॥

इन्द्र शुकका प्रिय वचन सुनके हर्षित होगये; उस धर्मज्ञ शुककी दयालुतासे वे अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बोले ॥ २६ ॥

वरं वृणीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः ।
आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य संभवम् ॥ २७ ॥

तुम मुझे वर मांगो। तब सदा दयापरायण शुकने उस समय उस वृक्षके हरे भरे होनेके लिये वर मांगा ॥ २७ ॥

विदित्वा च दृढां शक्रस्तां शुके शीलसंपदम् ।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्र उस शुककी उस वृक्षपर दृढभक्ति और शील सम्पत्तिको मालूम करके प्रसन्न हुए और शीघ्र ही उन्होंने उस वृक्षको अमृतसे सींच दिया ॥ २८ ॥

ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोरमाः ।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्त्वं चाप स द्रुमः ॥ २९ ॥

अनन्तर वह वृक्ष शुकके दृढ भक्ति निबन्धनसे फल, पत्ते और मनोहर शाखाओंसे युक्त होकर श्रीसम्पन्न हुआ ॥ २९ ॥

शुकश्च कर्मणा तेन आनृशंस्यकृतेन ह ।
आयुषोऽन्ते महाराज प्राप शक्रसलोकताम् ॥ ३० ॥

हे महाराज ! शुकने भी उस दयापूर्ण कर्मके सहारे आयु समाप्त होनेपर इन्द्रके लोकको प्राप्त किया ॥ ३० ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र भक्तिमन्तं समाश्रितः ।
सर्वार्थसिद्धिं लभते शुकं प्राप्य यथा द्रुमः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ २८२ ॥

हे मनुजेन्द्र ! जैसे वृक्षने भक्तिमान् शुकको आश्रय देकर सिद्धि प्राप्त कर ली, वैसे ही जो लोग भक्तिमान पुरुषको आश्रय देते हैं, वे सब प्रयोजनोंमें सिद्धि लाभ करते हैं ॥ ३१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पांचवा अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ २८२ ॥

: ६ :

युधिष्ठिर उवाच—

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्वशास्त्रविशारद महाप्राज्ञ पितामह ! दैव (भाग्य) और पुरुषार्थ (उद्योग) इन दोनोंमेंसे कौन श्रेष्ठ कहा जायगा ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! प्राचीन लोग इस विषयमें ब्रह्मा और वसिष्ठ मुनिके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ २ ॥

दैवमानुषयोः किंस्वित्कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत ।
पुरा वसिष्ठो भगवान्पितामहमपृच्छत ॥ ३ ॥

पहले समयमें भगवान् वसिष्ठ मुनिने सोचा, कि दैव अर्थात् पूर्वकर्म और मानुष अर्थात् वर्त्तमान कर्म, इन दोनोंमेंसे श्रेष्ठ कौन है ? अनन्तर उन्होंने यह विषय पितामह ब्रह्मासे पूछा ॥ ३ ॥

ततः पद्मोद्भवो राजन्देवदेवः पितामहः ।
उवाच मधुरं वाक्यमर्थवद्धेतुभूषितम् ॥ ४ ॥

हे महाराज ! अनन्तर कमलसे उत्पन्न भये देवोंके देव पितामह ब्रह्मा अर्थ तथा युक्तियुक्त मधुर वचन कहने लगे ॥ ४ ॥

×

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम् ।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥ ५ ॥

बिना बीजके कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती और बिना बीजके फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती; बीजसे ही बीज उत्पन्न हुआ करता है; इसलिये यह निश्चित है, कि बीजसे ही फल होता है ॥ ५ ॥

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः ।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥ ६ ॥

कृषक खेतमें जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है; वैसे ही पुण्य वा पाप, जैसा कर्म किया जाता है उस ही भांति फल मिलता है ॥ ६ ॥

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ७ ॥

जैसे बीज खेतमें बोये बिना फल नहीं देता, वैसे ही पुरुषार्थके बिना भाग्यकी कदापि सिद्धि नहीं होती ॥ ७ ॥

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृध्यते ॥ ८ ॥

इसलिये पण्डित लोग पुरुषार्थको क्षेत्र और भाग्यको बीज रूपसे उदाहरण दिया करते हैं । क्षेत्र और बीजके सम्बन्ध निबन्धनसे अनाजकी वृद्धि हुआ करती है ॥ ८ ॥

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः ।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्याप्यकृतस्य च ॥ ९ ॥

लोकमें यह प्रत्यक्ष दीख पडता है कि कर्त्ता स्वयं अपने सुकृत वा दुष्कृत कर्मोंका फल भोगता है ॥ ९ ॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं सर्वत्र लभते नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १० ॥

पुण्यकर्मसे सुख और पापकर्मोंसे दुःख होता है । किये हुए कर्म सर्वत्र ही फलित होते हैं और अकृत कर्मोंका फल कहीं भी नहीं भोगा जाता ॥ १० ॥

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यविक्षतः ।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥ ११ ॥

पुरुषार्थी पुरुष ही सर्वत्र भाग्यके अनुसार प्रतिष्ठा पाता है और अकर्मण्य मनुष्य सम्मानसे भ्रष्ट होकर घावमें नमक सेचन करनेके समान दुःख भोगता है ॥ ११ ॥

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च ।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥ १२ ॥

मनुष्य तपस्यारूपी कर्मके सहारे रूप, सौभाग्य और विविध रत्नोंको पाता है; कर्मसे इस प्रकार सब प्राप्त होता है। अकृतात्मा पुरुष दैववशसे उसे नहीं पा सकता ॥ १२ ॥

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता ।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपपद्यते ॥ १३ ॥

इसके अतिरिक्त समस्त भोग, स्वर्ग और मनोकामना युक्त जो कुछ निष्ठा हैं, उन सबको विहित कर्म करनेवाला पुरुष प्रयत्नके सहारे पाता है ॥ १३ ॥

ज्योतींषि त्रिदशा नागा यक्षाश्चन्द्रार्कमारुताः ।
सर्वे पुरुषकारेण मानुष्याद्देवतां गताः ॥ १४ ॥

पुरुषार्थसे ही नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सबने मनुष्य लोकसे देवलोकको प्राप्त किया है ॥ १४ ॥

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥ १५ ॥

अर्थ, मित्रवर्ग और उत्तम कुल परम्परासे प्रचलित ऐश्वर्य तथा श्री सम्पत्ति पुरुषार्थ न करनेवाले मनुष्योंको उपभोग करनी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १५ ॥

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण च ।
वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण पवित्रतासे श्री लाभ करता है, क्षत्रिय पराक्रमसे सम्पत्तिवान् होता है, वैश्य पुरुषार्थके सहारे धनी होता और शूद्र सेवासे ही श्रीसम्पन्न हुआ करता है ॥ १६ ॥

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम् ।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥ १७ ॥

दान न देनेवाले कृपणको धन नहीं मिलता है, और नपुंसक, क्रियारहित, निषिद्ध कर्म करनेवाले, निर्बल और जो पुरुष तपस्या नहीं करता है, इनको भी धन नहीं मिलता है ॥१७॥

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः ।
स एव भगवान्विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः ॥ १८ ॥

जिसने तीनों लोकोंमें सृष्टि की है और देवता तथा दैत्य जिससे उत्पन्न हुए हैं, वह यही भगवान् विष्णु समुद्रगर्भमें तपस्या करता है ॥ १८ ॥

एवं चेत्कर्मफलं न स्यात्सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवं समालम्ब्य उदासीनो भवेन्न तु ॥ १९ ॥
यदि अपने किये हुए कर्मोंका फल न मिले, तो सब कर्म ही निष्फल हो जाय; लोगोंको भाग्यको लक्ष करके उदासीन नहीं होना चाहिये ॥ १९ ॥

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति संप्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥ २० ॥
बिना मनुष्यके योग्य पुरुषार्थ किये जो पुरुष भाग्यका अनुवर्तन करता है, वह पुरुष दैवका आश्रय लेकर वृथा परिश्रम किया करता है, जैसे कोई स्त्री नपुंसक पतिको पाकर कष्ट भोगती है ॥ २० ॥

न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे।
यथा त्रिदशलोके हि भयमल्पेन जायते ॥ २१ ॥
थोडेसे पापकर्मसे देवलोकमें जैसा भय उत्पन्न होता है, मनुष्य लोकमें शुभाशुभ कर्मोंसे वैसा भय नहीं होता ॥ २१ ॥

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किंचित्कस्यचिद्दातुमर्हति ॥ २२ ॥
उत्तम रीतिसे किया हुआ पुरुषार्थ ही भाग्यका अनुसरण करता है; बिना कर्म किये दैव किसीको भी कुछ देनेमें समर्थ नहीं होता ॥ २२ ॥

यदा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि।
कथं कर्म विना दैवं स्थास्यते स्थापयिष्यति ॥ २३ ॥
जब कि देव लोकमें इन्द्रादि स्थान भी अनित्य दीख पडते हैं, तब बिना पुण्य कर्मके दैव किस प्रकार स्थिर रहेगा और कैसे वह अन्य प्राणियोंको स्थिर रखेगा ? ॥ २३ ॥

न दैवतानि लोकेऽस्मिन्व्यापारं यान्ति कस्यचित्।
व्यासङ्गं जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥ २४ ॥
देवता लोग इस लोकमें किसी पुरुषके पुण्यकर्मका अनुमोदन नहीं करते; पुण्य कर्म करनेवालेमें अपनी पराजयकी शंकासे धर्ममें विघ्न करनेवाली विशेष आसक्ति उत्पन्न करते हैं ॥ २४ ॥

ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः।
कस्य वाचा ह्यदैवं स्याद्यतो दैवं प्रवर्तते ॥ २५ ॥
ऋषिवृन्द और देवताओंकी सदा ही शत्रुता रहती है, (अर्थात् ऋषियोंकी तपस्याके समय देवता लोग विघ्न आचरण करते हैं और यह प्रसिद्ध है, कि च्यवन आदि ऋषियोंने देवताओंको पराजित किया था।) इसलिये दैवके बिना केवल कहनेसे ही किसको सुख या दुःख मिल सकता है ? क्योंकि भाग्य ही पुरुषको कर्ममें प्रवृत्त कराया करता है ॥ २५ ॥

कथं चास्य समुत्पत्तिर्यथा दैवं प्रवर्तते ।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवश्छलाः ॥ २६ ॥

जब दैव ही कर्मका प्रवर्त्तक हुआ, तब भाग्यके बिना किस प्रकार कर्मकी उत्पत्ति हो सकती है ? स्वर्ग लोकमें भी दैववशही बहुतसे छल–कपट प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मैव चात्मनः साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥ २७ ॥

आत्मा ही आपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है; आत्मा ही अपने कृत और अकृत कर्मफलका साक्षी है ॥ २७ ॥

कृतं च विकृतं किंचित्कृते कर्मणि सिध्यति ।
सुकृते दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

कर्म करनेसे और विकृत कर्म करनेसे ही पुण्य और पाप प्रकाशित होते हैं; पुण्यकारक कर्म पापकर्मके कारण यथार्थरूपसे फलदायक नहीं होते; उसका कारण यह है, कि पुण्यके द्वारा पाप और पापसे पुण्य नष्ट होके दोनोंके फल स्वर्ग और नरकका भोग नहीं प्राप्त होता ॥ २८ ॥

देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते ।
पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ २९ ॥

पुण्य ही देवताओंका गृहस्वरूप है, पुण्यसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है; पुण्यवान् मनुष्यको पाकर दैव क्या कर सकता है ? ॥ २९ ॥

पुरा ययातिर्विभ्रष्टश्च्यावितः पतितः क्षितौ ।
पुनरारोपितः स्वर्गं दौहित्रैः पुण्यकर्मभिः ॥ ३० ॥

पहले समयमें राजा ययाति पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसे भ्रष्ट होके पृथ्वीपर गिरे और उनके पुण्य कर्म करनेवाले दौहित्रोंके द्वारा फिर स्वर्ग लोकमें चले गये ॥ ३० ॥

पुरूरवाश्च राजर्षिर्द्विजैरभिहितः पुरा ।
ऐल इत्यभिविख्यातः स्वर्गं प्राप्तो महीपतिः ॥ ३१ ॥

राजर्षि पुरूरवा जो इलाका पुत्र करके विख्यात है, वह राजा पहले समयमें ब्राह्मणोंके आशीर्वाद देनेपर स्वर्गमें गया ॥ ३१ ॥

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सत्कृतः कोसलाधिपः ।
महर्षिशापात्सौदासः पुरुषादत्वमागतः ॥ ३२ ॥

कोसल देशके राजा सौदास अश्वमेध आदि यज्ञोंके द्वारा सत्कृत होके भी महर्षि वसिष्ठके शापवशसे मनुष्यभक्षी राक्षस हुए थे ॥ ३२ ॥

अश्वत्थामा च रामश्च मुनिपुत्रौ धनुर्धरौ ।
न गच्छतः स्वर्गलोकं सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ३३ ॥

अश्वत्थामा और परशुराम— दोनों ही मुनिपुत्र और महाधनुर्द्धर होके भी, इस लोकमें अपने किये हुए पुण्य कर्मोंके द्वारा स्वर्ग लोकमें न जासके ॥ ३३ ॥

वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः ।
मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः ॥ ३४ ॥

दूसरे इन्द्रके समान राजा वसुने सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूरा करके भी एक ही बार मिथ्या वचन कहनेसे रसातलमें गमन किया है ॥ ३४ ॥

बलिर्वैरोचनिर्बद्धो धर्मपाशेन दैवतैः ।
विष्णोः पुरुषकारेण पातालशयनः कृतः ॥ ३५ ॥

विरोचनका पुत्र राजा बलि देवताओंके धर्मपाशमें बद्ध होकर भगवान् विष्णुके पुरुषार्थसे पातालमें निवास करता है ॥ ३५ ॥

शक्रस्योदस्य चरणं प्रस्थितो जनमेजयः ।
द्विजस्त्रीणां वधं कृत्वा किं दैवेन न वारितः ॥ ३६ ॥

राजा जनमेजय ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंका वध करके इन्द्रके चरणोंका आश्रय लेकर जब स्वर्गको प्रस्थित हुए, तब दैवने उसे क्यों नहीं रोका ? ॥ ३६ ॥

अज्ञानाद्ब्राह्मणं हत्वा स्पृष्टो बालवधेन च ।
वैशम्पायनविप्रर्षिः किं दैवेन निवारितः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मर्षि वैशम्पायन अज्ञानवशसे ब्रह्महत्या करके बालकके वधके पापसे भी लिप्त हो गये थे, तभी उन्हें दैवने क्यों रोका था ? ॥ ३७ ॥

गोप्रदानेन मिथ्या च ब्राह्मणेभ्यो महामखे ।
पुरा नृगश्च राजर्षिः कृकलासत्वमागतः ॥ ३८ ॥

पहले समयमें दानी राजर्षि नृग महायज्ञमें ब्राह्मणोंको गोदान करते समय भूल होनेके कारण गिरगिट योनिमें प्राप्त हुए थे ॥ ३८ ॥

धुन्धुमारश्च राजर्षिः सत्रेष्वेव जरां गतः ।
प्रीतिदायं परित्यज्य सुष्वाप स गिरिव्रजे ॥ ३९ ॥

धुन्धुमार राजर्षि यज्ञ करते करते ही जराग्रस्त हुए, वह देवताओंके प्रसन्नतापूर्वक दिये हुए वरको परित्याग करके गिरिव्रजमें निद्रित हुए थे; उन्होंने यज्ञका फल नहीं पाया ॥ ३९ ॥

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद्भुजसंश्रयात् ॥ ४० ॥

महाबली पराक्रमी दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंने पाण्डवोंका राज्य हर लिया था, परन्तु पाण्डवोंने अपने भुजबलसे उस हृत राज्यको फिर ले लिया; उसमें दैव कुछ भी कारण नहीं है ॥ ४० ॥

तपोनियमसंयुक्ता मुनयः संशितव्रताः ।
किं ते दैवबलाच्छापमुत्सृजन्ते न कर्मणा ॥ ४१ ॥

तप और नियमसे युक्त, कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि लोग क्या दैवबलसे ही शाप दिया करते हैं ? क्या कर्मवशसे वे लोग अभिशाप नहीं देते ? ॥ ४१ ॥

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥ ४२ ॥

लोकमें अत्यन्त दुर्लभ सुख–भोग पापी पुरुषको प्राप्त होके भी उसके पास टिकता नहीं, शीघ्रही उसे परित्याग करके चला जाता है; लोभ और मोहसे युक्त मनुष्यका दैव कभी परित्राण नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥

यथाग्निः पवनोद्धूतः सूक्ष्मोऽपि भवते महान् ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥ ४३ ॥

जैसे बहुत थोडीसी अग्नि वायुके द्वारा बढके महान् होती है, वैसेही पुरुषार्थ कर्मसे संयुक्त दैव उत्तम रीतिसे बर्द्धित हुआ करता है ॥ ४३ ॥

यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रम्लानिमुपगच्छति ।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रम्लानिमुपगच्छति ॥ ४४ ॥

जैसे तेलके समाप्त होनेसे दीपक निर्मीलित होता है, वैसे ही कर्मके क्षीण होनेसे भाग्य भी नष्ट होजाता है ॥ ४४ ॥

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान्स्त्रियो वा पुरुष इह न शक्तः कर्महीनोऽपि भोक्तुम् ।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते ॥ ४५ ॥

इस लोकमें कर्महीन मनुष्य धनका बहुतसा भण्डार, उपभोगविषय और स्त्रियोंको पाके भी उनका उपभोग करनेमें समर्थ नहीं होता; देवताओंसे रक्षित और पृथ्वीमें गुप्त रखे हुए धन, दान करनेसे निर्धन हुए साधु पुरुषके पास उसके सदाचारयुक्त कर्मके कारण आश्रय लेते हैं ॥ ४५ ॥

भवति मनुजलोकाद्देवलोको विशिष्टो बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि ।
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणां न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवम् ॥४६॥

और उसका घर मनुष्यलोकसे श्रेष्ठ देवलोक जैसा हो जाता है; और मनुष्यका गृह अनेक प्रकारकी समृद्धियोंसे परिपूरित होनेपर भी यदि उसमें यज्ञ-दान आदि कर्म न हों, तो देवता लोग उस स्थानको श्मशानके समान देखते हैं। जीवलोकमें कर्महीन मनुष्य दैवसे कभी सम्पन्न और सुखी नहीं होता ॥ ४६ ॥

व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वं गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवम् ।
अनुपहतमदीनं कामकारेण दैवं नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥ ४७ ॥

दैवमें कुमार्गसे मनुष्यको निवारित करनेकी शक्ति नहीं है; इसलिये दैवकी कुछ भी प्रभुता नहीं है। परन्तु जैसे शिष्य गुरुका अनुसरण करता है, वैसे ही कर्म- पुरुषार्थको आगे करके ही दैव उसके पीछे जाता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही अनाहत, अदीन दैवको अपनी इच्छानुसार जहां चाहे वहां ले जाता है ॥ ४७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तम ।
फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्य तत्त्वतः ॥ ४८ ॥

हे मुनिसत्तम ! मैंने यथार्थ रूपसे योगयुक्त दृष्टिके द्वारा अनुभव करके तुम्हारे समीप यह सब पुरुषार्थका फल वर्णन किया है ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा ।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ३३१ ॥

भाग्यके उदय होने तथा पूरीरीतिसे कर्म आरम्भ करने अर्थात् शास्त्रविहित कर्मसे लोकमें स्वर्गपथ प्राप्त हुआ करता है ॥ ४९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ ३३१ ॥

: ७ :

युधिष्ठिर उवाच—

कर्मणां मे समस्तानां शुभानां भरतर्षभ ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥ १ ॥

महाराज युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ पितामह ! मैं आपसे प्रश्न करता हूं— आप समस्त शुभ कर्मोंका फल मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

रहस्यं यदृषीणां तु तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे चिरेप्सिता ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! मरनेके अनन्तर दूसरा शरीर मिलनेपर जिस कर्मसे जो चिर इच्छित गति प्राप्त होती है, ऋषियोंके उस रहस्य विषयको, सुनो ॥ २ ॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ३ ॥

जो मनुष्य जिस जिस शरीरसे जो जो कर्म करता है, वह उस ही शरीरसे उन कर्मोंका फल भोग किया करता है ॥ ३ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥ ४ ॥

मनुष्य बालक, युवा अथवा आपद वा निरापद अवस्थामें जो शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म जन्म उस ही अवस्थामें उन कर्मोंका फल भोग किया करता है ॥ ४ ॥

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह ।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥ ५ ॥

इस जन्ममें पञ्च इन्द्रियोंके द्वारा नित्यके किये हुए कर्म भी नष्ट नहीं होते; वे पांचों इन्द्रियां और छठवां आत्मा सदा उस कर्म करनेवालेके साक्षी हुआ करते हैं ॥ ५ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६ ॥

अभ्यागत पुरुषके विषयमें कोमल— प्रसन्न दृष्टि करे, उसकी सेवामें मन लगावे, सत्य और प्रिय वचन कहे, वह जाने लगे तो थोडी दूरतक उसका अनुगमन करे और उसकी उपासना करनी चाहिये— यही पञ्च दक्षिणायुक्त यज्ञ है ॥ ६ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ७ ॥

जो अपरिचित तथा मार्गके थके हुए पथिकको प्रसन्न चित्तसे उत्तम अन्नदान करता है उसे अपरिमित पुण्यफल मिलता है ॥ ७ ॥

स्थण्डिले शयमानानां गृहाणि शयनानि च ।
चीरवल्कलसंवीते वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

वेदीपर शयन करनेवाले वानप्रस्थ व्रताचारी मनुष्योंको जन्मान्तरमें उत्तम गृह तथा शय्या आदिकी प्राप्ति होती है और चीरवल्कलधारीको उत्तम वस्त्र और आभूषण मिलते हैं ॥ ८ ॥

×

वाहनासनयानानि योगात्मनि तपोधने ।
अग्नीनुपशयानस्य राजपौरुषमुच्यते ॥ ९ ॥

योगयुक्त तपस्वियोंको वाहन, आसन, यान आदि फलस्वरूपसे प्राप्त हुआ करते हैं, अग्निकी उपासना करनेवाले लोगोंको राजाका पौरुष प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

रसानां प्रतिसंहारे सौभाग्यमनुगच्छति ।
आमिषप्रतिसंहारे पशून्पुत्रांश्च विन्दति ॥ १० ॥

रसोंका परित्याग करनेसे सौभाग्य प्राप्त हुआ करता है । मांसका त्याग करनेसे पशु और पुत्र प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

अवाक्शिरास्तु यो लम्बेदुदवासं च यो वसेत् ।
सततं चैकशायी यः स लभेतेप्सितां गतिम् ॥ ११ ॥

जो नीचे सिर करके लटकता रहता है और जो जलमें निवास करता है, तथा जो पुरुष सदा अकेले ही शयन करता अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत अवलम्बन किया करता है, वह अभिलषित गतिको पाता है ॥ ११ ॥

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ १२ ॥

जो अतिथिको पैर धोनेके लिये जल, बैठनेके लिये आसन, प्रकाशके लिये दीपक, खानेके लिये अन्न, रहनेके लिये घर देता है, वह अतिथिका सत्कार करके पञ्चदक्षिणा यज्ञका फल-भागी होता है ॥ १२ ॥

वीरासनं वीरशय्यां वीरस्थानमुपासतः ।
अक्षयास्तस्य वै लोकाः सर्वकामगमास्तथा ॥ १३ ॥

जो रणभूमिमें वीरासन और वीरशय्यापर शयन करके वीरस्थान–स्वर्गलोकमें जाता है, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है और वे सब कामनाओंकी प्राप्ति करते हैं ॥ १३ ॥

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशां पते ।
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥ १४ ॥

हे महाराज ! दान करनेसे धन लाभ होता है; मौन रहनेसे दूसरोंसे आज्ञा पालन करानेकी शक्ति प्राप्त हुआ करती है, तपस्यासे उपभोग और ब्रह्मचर्यके द्वारा दीर्घजीवनका लाभ होता है ॥ १४ ॥

रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिंसाफलमश्नुते ।
फलमूलाशिनां राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां तथा ॥ १५ ॥

अहिंसाका आचरण करनेसे रूप, ऐश्वर्य और आरोग्य फलकी प्राप्ति होती है; फलमूल भोजन करनेवालेको राज्य और पत्ता खानेवालेको स्वर्ग मिलता है ॥ १५ ॥

प्रायोपवेशनाद्राज्यं सर्वत्र सुखमुच्यते ।
स्वर्गं सत्येन लभते दीक्षया कुलमुत्तमम् ॥ १६ ॥

योगयुक्त होके आमरण करके बैठनेवालेके लिये राज्य और सर्वत्र सुख वर्णित किया गया है । सत्यके द्वारा स्वर्ग मिलता है, और यज्ञके सहारे उत्तम कुलमें जन्म हुआ करता है ॥ १६ ॥

गवाढ्यः शाकदीक्षायां स्वर्गगामी तृणाशनः ।
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत् ॥ १७ ॥

जो केवल शाक भोजन करके नियम अवलम्बन करता है, वह गोधन प्राप्त करता है । तृण खाकर रहनेवाला मनुष्य स्वर्गगामी हुआ करता है । स्त्रीसहवास परित्याग करके जो नियम-पूर्वक तीन बार स्नान करता तथा वायु पीके रहता है, वह यज्ञका फल लाभ करता है ॥ १७ ॥

सलिलाशी भवेद्यश्च सदाग्निः संस्कृतो द्विजः ।
मरुं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ १८ ॥

जो संस्कारयुक्त ब्राह्मण सदा जल पीकर रहता है, अग्निहोत्र करता है, और जो गायत्री आदि मन्त्रोंकी साधनामें रत रहता है, उसे राज्य मिलता है । अनशन व्रत अवलम्बन करनेसे स्वर्गलोकमें वास होता है ॥ १८ ॥

उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव ।
कृत्वा द्वादशवर्षाणि वीरस्थानाद्विशिष्यते ॥ १९ ॥

हे राजन् ! जो पुरुष बारह वर्षोंतकके लिये व्रतकी दीक्षा लेकर अन्नका त्याग करता है और तीर्थोंमें स्नान करता है, उसे वीर स्थान स्वर्गसे भी श्रेष्ठ लोककी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

अधीत्य सर्ववेदान्वै सद्यो दुःखात्प्रमुच्यते ।
मानसं हि चरन्धर्मं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ २० ॥

मनुष्य सब वेदोंका अध्ययन करनेसे सदाके लिये दुःखोंसे मुक्त होजाता है; मानसिक धर्मा-चरण करनेसे स्वर्ग लोक मिलता है ॥ २० ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ २१ ॥

नीचबुद्धि पुरुषोंसे जो दुस्त्याज्य है, मनुष्यके बूढे होनेपर भी जो जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणान्तक रोग स्वरूप है, उस तृष्णाको जो त्यागता है, वह सुखी हुआ करता है ॥ २१ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ २२ ॥

जैसे हजारों गौओंके बीचमें बछडा अपनी माताको खोज लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म कर्त्ताका अनुगमन किया करता है ॥ २२ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥ २३ ॥

जैसे फल और फूल किसीकी प्रेरणा न होनेपर भी अपने समयका अतिक्रम नहीं करते, समय पर ही फूलते-फलते हैं, पहलेका किया हुआ कर्म भी वैसे ही समय पर फल देता है ॥ २३ ॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तु न जीर्यते ॥ २४ ॥

बूढे मनुष्यके केश झड जाते हैं, दांत भी गिर जाते हैं, नेत्र और कान जीर्ण होजाते हैं, परन्तु एकमात्र तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ।
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद्ब्रह्म पूजितम् ॥ २५ ॥

जिस कर्मोंसे पिताको प्रसन्न किया जाता है, उसहीके द्वारा प्रजापति प्रसन्न होते हैं; और जिस व्यवहारके द्वारा माताको प्रसन्न किया जाता है, उसहीके सहारे पृथ्वी पूजित होती है । जिस कर्मसे गुरुको प्रीतियुक्त किया जाता है, उससे परब्रह्म पूजित होता है ॥ २५ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २६ ॥

पिता, माता और गुरु, ये तीनों ही जिससे आदरयुक्त होते हैं, उसके द्वारा सब धर्म ही आदृत होते हैं; और ये तीनों जिससे अनादृत होते हैं, उसकी समस्त यज्ञादिक क्रियाएं निष्फल होती हैं ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

भीष्मस्य तद्वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुंगवाः ।
आसन्प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥ २७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— भीष्मके ऐसे वचनको सुनके कुरुप्रवीर पुरुष विस्मित हुए और उस समय वे लोग प्रसन्नचित्त तथा प्रीतियुक्त हुए ॥ २७ ॥

यन्मन्त्रे भवति वृथा प्रयुज्यमाने यत्सोमे भवति वृथाभिपूयमाने ।
यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने तत्सर्वं भवति वृथाभिधीयमाने ॥ २८ ॥

जैसे वेद मन्त्रोंका व्यर्थ उच्चारण निष्फल होता है, जैसे विना दक्षिणाके सोमयाग निष्फल होजाता है, जैसे विना मन्त्रके होमसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता अर्थात् इन तीनोंसे जो पाप हुआ करता है, मिथ्या बोलनेवालेको वह सब पाप प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इत्येतदृषिणा प्रोक्तमुक्तवानस्मि यद्विभो ।
शुभाशुभफलप्राप्तौ किमतः श्रोतुमिच्छसि ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ ३६० ॥

हे महाराज ! शुभ और अशुभ फलकी प्राप्तिके निमित्त यह मैंने ऋषियोंके कहे हुए समस्त विषय वर्णन किया; अब कौनसा विषय सुननेकी इच्छा करते हो ? ॥ २९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ ३६० ॥

: ८ :

युधिष्ठिर उवाच—

के पूज्याः के नमस्कार्याः कान्नमस्यसि भारत ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व येषां स्पृहयसे नृप ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! पूज्य कौन है ? किसे नमस्कार करना चाहिये ? आप किनको नमस्कार करते हैं ? हे राजन् ! यह सब तथा आप जिन लोगोंकी स्पृहा करते हैं, वह सब वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

उत्तमापद्गतस्यापि यत्र ते वर्तते मनः ।
मनुष्यलोके सर्वस्मिन्यदमुत्रेह चाप्युत ॥ २ ॥

अत्यन्त आपदायुक्त होनेपर भी आपका मन जिसमें अनुरक्त रहता है, समस्त मनुष्य लोक तथा परलोकमें जो कुछ हितकर हो, उसे ही वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

स्पृहयामि द्विजातीनां येषां ब्रह्म परं धनम् ।
येषां स्वप्रत्ययः स्वर्गस्तपःस्वाध्यायसाधनः ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— जिन लोगोंका, आत्मज्ञान ही स्वर्ग, स्वाध्यायसाधन ही तपस्या और ब्रह्म ही परम धन हैं, मैं उन ब्राह्मणोंकी ही सदा स्पृहा किया करता हूं ॥ ३ ॥

येषां वृद्धाश्च बालाश्च पितृपैतामहीं धुरम् ।
उद्वहन्ति न सीदन्ति तेषां वै स्पृहयाम्यहम् ॥ ४ ॥

जिनके वंशमें बालक और बूढे पितर, पितामहोंके धार्मिक भारको उठाया करते हैं और उनके लिये दुःखित नहीं होते, मैं उन्हीं लोगोंकी स्पृहा किया करता हूं ॥ ४ ॥

विद्याद्यभिविनीतानां दान्तानां मृदुभाषिणाम् ।
श्रुतवृत्तोपपन्नानां सदाक्षरविदां सताम् ॥ ५ ॥

विद्याविनयसे सम्पन्न, इंद्रियसंयमी, कोमल वचन कहनेवाले, शास्त्र-ज्ञान और सच्चरित्रसे युक्त, ब्रह्मवित् सत्पुरुष ॥ ५ ॥

संसत्सु वदतां येषां हंसानामिव संघशः ।
मङ्गल्यरूपा रुचिरा दिव्यजीमूतनिःस्वनाः ॥ ६ ॥

पुरुषोंकी सभाओंके बीच हंस समूहोंकी भांति आत्मानात्म विचार करके वचन बोलते रहनेपर बादलके दिव्य शब्दसमान उनके मङ्गलमय मनोहर ॥ ६ ॥

सम्यगुच्चारिता वाचः श्रूयन्ते हि युधिष्ठिर ।
शुश्रूषमाणे नृपतौ प्रेत्य चेह सुखावहाः ॥ ७ ॥

अच्छे ढंगसे कहे हुए सब वचन सुनाई देते हैं, उन ब्राह्मणोंको मैं चाहता हूं । सेवायुक्त राजाके समीप कहे हुए वे सब वचन इस लोक और परलोकमें सुखदायक हुआ करते हैं ॥ ७ ॥

ये चापि तेषां श्रोतारः सदा सदसि संमताः ।
विज्ञानगुणसंपन्नास्तेषां च स्पृहयाम्यहम् ॥ ८ ॥

विज्ञानगुणसे युक्त सभाके बीच सम्मानभाजन जो सब मनुष्य सदा साधुओंके कहे हुए वचनोंको सुनते हैं, मैं उन लोगोंकी भी बडाई किया करता हूं ॥ ८ ॥

सुसंस्कृतानि प्रयताः शुचीनि गुणवन्ति च ।
ददत्यन्नानि तृप्त्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ।
ये चापि सततं राजंस्तेषां स्पृहयाम्यहम् ॥ ९ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो लोग श्रद्धापूर्वक उन ब्राह्मणोंको तृप्त करनेके निमित्त उत्तम, पवित्र और सुगन्धयुक्त अन्न दान करते हैं, मैं उन लोगोंकी सदा स्पृहा किया करता हूं ॥ ९ ॥

शक्यं ह्येवाहवे योद्धुं न दातुमनसूयितम् ।
शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर ।
तेषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते ॥ १० ॥

रणभूमिमें संग्राम करनेमें अनायास ही सामर्थ्य होता है, परन्तु असूयारहित भावसे दान करना सहज नहीं है । हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें सैकडों शूरवीर पुरुष हैं, उनकी गिनती करनेके समय जो दानशूर हो, वही सबसे श्रेष्ठ होता है ॥ १० ॥

धन्यः स्यां यद्यहं भूयः सौम्य ब्राह्मणकोऽपि वा ।
कुले जातो धर्मगतिज्ञस्तपोविद्यापरायणः ॥ ११ ॥

हे प्रियदर्शन ! तप और विद्यामें रत, धर्मकी गति जाननेवाला, सत्कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंका तो कहना ही क्या है, मैं जन्मान्तरमें कुत्सित ब्राह्मणकुलमें जन्म पानेसे भी धन्य हूंगा ॥ ११ ॥

न मे त्वत्तः प्रियतरो लोकेऽस्मिन्पाण्डुनन्दन ।
त्वत्तश्च मे प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र ! इस लोकमें तुमसे बढके मेरे दूसरा कोई भी प्रिय नहीं है, परन्तु ब्राह्मण लोग तुमसे भी मेरे अधिक प्रिय हैं ॥ १२ ॥

यथा मम प्रियतरास्त्वत्तो विप्राः कुरूद्वह ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान्यत्र स शंतनुः ॥ १३ ॥

हे कुरुसत्तम ! ब्राह्मण लोग तुमसे भी मेरे अधिक प्रिय हैं, इस ही सत्यके प्रभावसे मैं उन पुण्य लोकोंमें गमन करूंगा, जहांपर मेरे पिता शान्तनु विराजमान हैं ॥ १३ ॥

न मे पिता प्रियतरो ब्राह्मणेभ्यस्तथाभवत् ।
न मे पितुः पिता वापि ये चान्येऽपि सुहृज्जनाः ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंसे बढके मेरे पिता, पितामह और दूसरे सुहृद लोग भी मेरे अधिक प्रिय नहीं हैं ॥ १४ ॥

न हि मे वृजिनं किंचिद्विद्यते ब्राह्मणेष्विह ।
अणु वा यदि वा स्थूलं विदितं साधुकर्मभिः ॥ १५ ॥

इस लोकमें ब्राह्मणोंके प्रति मेरे द्वारा उत्तम कर्मोंसे कभी छोटा वा मोटा कुछ भी पाप नहीं हुआ है ॥ १५ ॥

कर्मणा मनसा वापि वाचा वापि परंतप ।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेषु तेनाद्य न तपाम्यहम् ॥ १६ ॥

हे परन्तप ! कर्म, मन और वचनसे मैंने ब्राह्मणोंकी जो कुछ आराधना की है, इस समय शरशय्यामें पडे रहनेपर भी मैं उस ही ब्राह्मणपूजाके प्रभावसे दुःखित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

ब्रह्मण्य इति मामाहुस्तया वाचास्मि तोषितः ।
एतदेव पवित्रेभ्यः सर्वेभ्यः परमं स्मृतम् ॥ १७ ॥

प्राचीन लोगोंने मुझे ब्राह्मण जातिका हित करनेमें तत्पर कहा है, मैं उसही वचनसे सन्तुष्ट हुआ हूं; ब्राह्मणोंकी सेवा ही समस्त पवित्र कर्मोंसे भी श्रेष्ठ परम पवित्र कार्य कहके वर्णित हुई है ॥ १७ ॥

पश्यामि लोकानमलाञ्छुचीन्ब्राह्मणयायिनः ।
तेषु मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ १८ ॥

हे तात ! मैं ब्राह्मणोंका दास हूं; उनकी सेवासे मिलनेवाले पवित्र और निर्मल लोकोंको मैं देखता हूं; इसलिये शीघ्र ही सदाके लिये उन पवित्र लोकोंमें गमन करूंगा ॥ १८ ॥

यथा पत्याश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके युधिष्ठिर ।
स देवः सा गतिर्नान्या क्षत्रियस्य तथा द्विजाः ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे इस लोकमें पतिकी सेवा ही स्त्रियोंके लिये धर्म है, वही उनका देवता और उनकी परम गति है, दूसरी कोई गति नहीं है; वैसे ही ब्राह्मणकी सेवा ही क्षत्रियोंके लिये धर्म है; ब्राह्मण ही क्षत्रियका देवता और परम गति है, इसके अतिरिक्त क्षत्रियोंके लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ १९ ॥

क्षत्रियः शतवर्षी च दशवर्षी च ब्राह्मणः ।
पितापुत्रौ च विज्ञेयौ तयोर्हि ब्राह्मणः पिता ॥ २० ॥

सौ वर्षकी अवस्था वाला क्षत्रिय और दस वर्षकी अवस्थावाला ब्राह्मण हो तो भी दोनोंको परस्पर पुत्र और पिताके समान मानना चाहिये; इन दोनोंके बीच ब्राह्मण ही पिता है और क्षत्रिय पुत्र है ॥ २० ॥

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम् ।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥ २१ ॥

जैसे स्त्री पतिके अभावमें देवरको पति बनाती है, वैसे ही पृथ्वी ब्राह्मणके अभावमें क्षत्रियको अपना स्वामी समझती है ॥ २१ ॥

पुत्रवच्च ततो रक्ष्या उपास्या गुरुवच्च ते ।
अग्निवच्चोपचर्या वै ब्राह्मणाः कुरुसत्तम ॥ २२ ॥

हे कुरुसत्तम ! इसलिये क्षत्रियोंको चाहिये कि पुत्रकी भांति ब्राह्मणोंकी रक्षा करें, ब्राह्मण गुरुसमान पूजनीय और अग्निकी भांति सेवाके योग्य हैं ॥ २२ ॥

ऋजून्सतः सत्यशीलान्सर्वभूतहिते रतान् ।
आशीविषानिव क्रुद्धान्द्विजानुपचरेत्सदा ॥ २३ ॥

इसलिये सरल, साधु, सत्यशील, सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले, क्रुद्ध विषीले सर्पके समान ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करनी योग्य है ॥ २३ ॥

तेजसस्तपसश्चैव नित्यं बिभ्येद्युधिष्ठिर ।
उभे चैते परित्याज्ये तेजश्चैव तपस्तथा ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके तेज और तपस्यासे सदा भय करना उचित है; उनके निकट अपने तप और तेजका त्याग करना योग्य है ॥ २४ ॥

व्यवसायस्तयोः शीघ्रमुभयोरेव विद्यते ।
हन्युः क्रुद्धा महाराज ब्राह्मणा ये तपस्विनः ॥ २५ ॥

महाराज ! क्षत्रियोंके तेज और ब्राह्मणोंकी तपस्या इन दोनोंके फल शीघ्र प्रकट होते हैं। परन्तु तेजस्वी क्षत्रियकी अपेक्षा तपस्वी ब्राह्मण क्रुद्ध होनेपर शीघ्रही मनुष्योंका नाश करते हैं ॥ २५ ॥

भूयः स्यादुभयं दत्तं ब्राह्मणाद्यदकोपनात् ।
कुर्यादुभयतःशेषं दत्तशेषं न शेषयेत् ॥ २६ ॥

अक्रोधी ब्राह्मणके निकट प्रयोग किया हुआ तेज और तप, ये दोनों ही अधिक होने पर भी खण्डित होते हैं, और दोनों ही यदि शेष करें, तो क्षमावानके द्वारा खण्डित तेजका जो कुछ अंश शेष रहेगा, वह निःशेष न करनेपर भी अवश्य ही निःशेष होगा ॥ २६ ॥

दण्डपाणिर्यथा गोषु पालो नित्यं स्थिरो भवेत् ।
ब्राह्मणान्ब्रह्म च तथा क्षत्रियः परिपालयेत् ॥ २७ ॥

जैसे गोपाल सदा हाथमें दण्ड लेकर गौवोंको पालन करता है, वैसेही क्षत्रिय राजा ब्राह्मण और वेदोंकी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ २७ ॥

पितेव पुत्रान्रक्षेथा ब्राह्मणान्ब्रह्मतेजसः ।
गृहे चैषामवेक्षेथाः कच्चिदस्तीह जीवनम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ३८८ ॥

जैसे पिता पुत्रोंकी रक्षा करता है, वैसे ही क्षत्रियराजा ब्रह्मतेजस्वी ब्राह्मणोंकी रक्षा करे और वह उन लोगोंके घरमें जीविका निर्वाहके योग्य कोई वस्तु है वा नहीं, उसे जान लिया करे ॥ २८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥ ३८८ ॥

॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मणानां तु ये लोके प्रतिश्रुत्य पितामह ।
न प्रयच्छन्ति मोहात्ते के भवन्ति महामते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाबुद्धिमान् पितामह ! जगतमें जो मनुष्य ब्राह्मणोंको दान देनेका सङ्कल्प करके फिर मोहके वशमें होकर नहीं देते हैं ॥ १ ॥

एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि धर्मं धर्मभृतां वर ।
प्रतिश्रुत्य दुरात्मानो न प्रयच्छन्ति ये नराः ॥ २ ॥

हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! जो दुरात्मा दान देनेकी प्रतिज्ञा करके भी दान नहीं देते हैं, भविष्यमें उनकी कैसी दशा होती है ? आप यथार्थ रीतिसे यह धर्मका विषय मेरे समीप वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

यो न दद्यात्प्रतिश्रुत्य स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
आशास्तस्य हताः सर्वाः क्लीबस्येव प्रजाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– जो पुरुष थोडी अथवा अधिक वस्तु दान करनेका सङ्कल्प करके फिर उसे दान नहीं करता, उसकी सब आशाएं इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे नपुंसक पुरुषके पुत्रकी लालसा नष्ट होती है ॥ ३ ॥

यां रात्रिं जायते पापो यां च रात्रिं विनश्यति ।
एतस्मिन्नन्तरे यद्यत्सुकृतं तस्य भारत ।
यच्च तस्य हुतं किंचित्सर्वं तस्योपहन्यते ॥ ४ ॥

हे भारत ! नीच मनुष्य जिस रातको जन्मता और जिस रातको नष्ट होता है, उस जन्म और मृत्युके मध्यकाल अर्थात् जीवनके समयमें उसका जो कुछ सुकृत होता है, तथा वह जो कुछ होम करता है, उस पुरुषके वह सब कर्म प्रतिज्ञा भंगके पापसे नष्ट होता है ॥ ४ ॥

अत्रैतद्वचनं प्राहुर्धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
निशाम्य भरतश्रेष्ठ बुद्ध्या परमयुक्तया ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! धर्मशास्त्र जाननेवाले मनुष्य परम युक्तिमती बुद्धिसे विचार करके यह युक्त वचन कहा करते हैं ॥ ५ ॥

अपि चोदाहरन्तीमं धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
आश्वानां श्यामकर्णानां सहस्रेण स मुच्यते ॥ ६ ॥

और धर्मशास्त्रके ज्ञाता लोग यह भी कहते हैं, कि एक हजार श्यामकर्ण घोडे दान करनेसे वह प्रतिज्ञाभंगका पाप करनेवाला मनुष्य उस पापसे मुक्त होता है ॥ ६ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सृगालस्य च संवादं वानरस्य च भारत ॥ ७ ॥

हे भरतनन्दन ! प्राज्ञ लोग इस विषयमें सियार और बन्दरके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ ७ ॥

तौ सखायौ पुरा ह्यास्तां मानुषत्वे परंतप ।
अन्यां योनिं समापन्नौ सार्गालीं वानरीं तथा ॥ ८ ॥
हे शत्रुपातन ! पहले मनुष्य जन्ममें वे दोनों परस्पर मित्र थे । इस समय दूसरे जन्ममें एक सियार योनि और दूसरा बन्दर योनिमें उत्पन्न हुआ था ॥ ८ ॥

ततः परासून्खादन्तं सृगालं वानरोऽब्रवीत् ।
श्मशानमध्ये संप्रेक्ष्य पूर्वजातिमनुस्मरन् ॥ ९ ॥
अनन्तर बन्दरने सियारको श्मशानके बीच मरे मनुष्योंका मांस भक्षण करते हुए देखकर पूर्व जन्मका स्मरण करके कहा ॥ ९ ॥

किं त्वया पापकं कर्म कृतं पूर्वं सुदारुणम् ।
यस्त्वं श्मशाने मृतकान्पूतिकानत्सि कुत्सितान् ॥ १० ॥
तुमने पहले जन्ममें ऐसा कौनसा दारुण पापकर्म किया था, जिसके फलसे इस श्मशानमें निन्दनीय दुर्गंधयुक्त मृतक शरीरको भक्षण करते हो ? ॥ १० ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच सृगालो वानरं तदा ।
ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य न मया तदुपाकृतम् ॥ ११ ॥
सियार उस समय ऐसा वचन सुनके बन्दरसे बोला, मैंने ब्राह्मणको देनेको कहके उसे दान नहीं किया था ॥ ११ ॥

तत्कृते पापिकां योनिमापन्नोऽस्मि प्लवंगम ।
तस्मादेवंविधं भक्ष्यं भक्षयामि बुभुक्षितः ॥ १२ ॥
हे शाखाविहारी ! इस ही निमित्त मैं पापयोनिको प्राप्त हुआ हूं और उसही कारणसे भूखा होकर इस प्रकार निन्दित भक्ष्य भक्षण करता हूं ॥ १२ ॥

इत्येतद्ब्रुवतो राजन्ब्राह्मणस्य मया श्रुतम् ।
कथां कथयतः पुण्यां धर्मज्ञस्य पुरातनीम् ॥ १३ ॥
हे महाराज ! पहले जब मेरे धर्मज्ञ ब्राह्मण गुरु प्राचीन कालकी पवित्र कथाएं कह रहे थे, तब उनके मुखसे मैंने इस कथाको सुना था ॥ १३ ॥

श्रुतं चापि मया भूयः कृष्णस्यापि विशां पते ।
कथां कथयतः पूर्वं ब्राह्मणं प्रति पाण्डव ॥ १४ ॥
हे नरनाथ पाण्डव ! जब भगवान् श्रीकृष्ण पहले किसी ब्राह्मणसे ऐसी कथा कह रहे थे, तब उनके मुखसे भी फिर मैंने यह कथा सुनी थी ॥ १४ ॥

एवमेव च मां नित्यं ब्राह्मणाः संदिशन्ति वै ।
प्रतिश्रुत्य भवेद्देयं नाशा कार्या हि ब्राह्मणैः ॥ १५ ॥

ब्राह्मण लोग भी मुझे सदा ऐसा ही उपदेश दिया करते थे, ब्राह्मणोंके समीप देनेका सङ्कल्प करके उन्हें दान देना ही उचित है, ब्राह्मणोंकी आशाको निष्फल करना योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

ब्राह्मणो ह्याशया पूर्वं कृतया पृथिवीपते ।
सुसमिद्धो यथा दीप्तः पावकस्तद्विधः स्मृतः ॥ १६ ॥

हे पृथ्वीपाल ! ब्राह्मण पहलेकी दी हुई आशासे समिधासे प्रज्वलित की हुई अग्निकी भांति उद्दीप्त हुआ करता है ॥ १६ ॥

यं निरीक्षेत संक्रुद्ध आशया पूर्वजातया ।
प्रदहेत हि तं राजन्कक्षमक्षय्यभुग्यथा ॥ १७ ॥

हे महाराज ! वह पहलेकी आशा भंग होनेपर अत्यंत क्रोधित होकर जिसकी ओर देखता है, उसे इस प्रकार भस्म किया करता है, जैसे अग्नि तृण काठ प्रभृतिको जला देती है ॥ १७ ॥

स एव हि यदा तुष्टो वचसा प्रतिनन्दति ।
भवत्यगदसंकाशो विषये तस्य भारत ॥ १८ ॥

और जब वही आशापूर्तिसे प्रसन्न होकर प्रशान्त वचनसे जिसे अभिनन्दित करता है, उसके राज्यके लिये वह चिकित्सकके समान होता है ॥ १८ ॥

पुत्रान्पौत्रान्पशूंश्चैव बान्धवान्सचिवांस्तथा ।
पुरं जनपदं चैव शान्तिरिष्टेव पुष्यति ॥ १९ ॥

उसके निकट कोई आपदा नहीं रहती; पुत्र, पौत्र, बन्धु, बान्धव, पशु, मन्त्री, पुर और प्रजाके लिये वह शान्ति देनेवाला होकर, कल्याण करता है और उन सबका उत्तम रीतिसे पालन करता है ॥ १९ ॥

एतद्धि परमं तेजो ब्राह्मणस्येह दृश्यते ।
सहस्रकिरणस्येव सवितुर्धरणीतले ॥ २० ॥

सहस्र किरणोंवाले सूर्यके तेज समान पृथ्वीपर ब्राह्मणोंका यह परम तेज दीख पडता है ॥ २० ॥

तस्माद्दातव्यमेवेह प्रतिश्रुत्य युधिष्ठिर ।
यदीच्छेच्छोभनां जातिं प्राप्तुं भरतसत्तम ॥ २१ ॥

हे भरतसत्तम युधिष्ठिर ! यदि कोई उत्तम जाति प्राप्त करनेकी इच्छा करे, तो उसे योग्य है, कि ब्राह्मणोंके निकट देनेका सङ्कल्प करके अवश्य दान करे ॥ २१ ॥

ब्राह्मणस्य हि दत्तेन ध्रुवं स्वर्गो ह्यनुत्तमः ।
शक्यं प्राप्तुं विशेषेण दानं हि महती क्रिया ॥ २२ ॥

ब्राह्मणोंको दान देनेसे अत्यन्त उत्तम अक्षय स्वर्ग लोक निश्चय ही विशेष रूपसे प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, इसलिये दानके समान महत् कार्य और कुछ भी नहीं है ॥ २२ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ।
तस्माद्दानानि देयानि ब्राह्मणेभ्यो विजानता ॥ २३ ॥

इस लोकमें ब्राह्मणको दान करनेसे देवता और पितर लोग जीवन धारण किया करते हैं, इसलिये ज्ञानवान् मनुष्य ब्राह्मणोंको देने योग्य वस्तु दान करे; क्योंकि ब्राह्मण ही दानका पात्र है ॥ २३ ॥

महद्धि भरतश्रेष्ठ ब्राह्मणस्तीर्थमुच्यते ।
वेलायां न तु कस्यांचिद्गच्छेद्विप्रो ह्यपूजितः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ४१२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मण ही महत् तीर्थरूपसे वर्णित होते हैं; इसलिये किसी भी समयमें ही ब्राह्मण अपूजित होकर गमन न करें ॥ २४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें नवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ ४१२ ॥

: 10 :

युधिष्ठिर उवाच—

मित्रसौहृद्भावेन उपदेशं करोति यः ।
जात्यावरस्य राजर्षे दोषस्तस्य भवेन्न वा ॥ १ ॥

महाराज युधिष्ठिर बोले— मित्रता वा सौहार्दके सम्बन्धके वशमें होकर यदि कोई पुरुष नीचजातिको उपदेश करे, तो उस राजर्षिको कुछ दोष होता है वा नहीं ? ॥ १ ॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन व्याख्यातुं वै पितामह ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य यत्र मुह्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥

हे पितामह ! जिससे मनुष्य लोग मोहित होते हैं, वह धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है; इसलिये इस विषयमें यथार्थ रूपसे मैं सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

अत्र ते वर्तयिष्यामि शृणु राजन्यथागमम् ।
ऋषीणां वदतां पूर्वं श्रुतमासीद्यथा मया ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे महाराज ! पहले ऋषियोंने इस विषयको वर्णन किया था, मैंने उनसे जिस प्रकार सुना है, उसको तुम्हारे समीप कहता हूं, सुनो ॥ ३ ॥

उपदेशो न कर्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित् ।
उपदेशे महान्दोष उपाध्यायस्य भाष्यते ॥ ४ ॥

किसी भी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा शास्त्रमें वर्णित है, कि वैसे मनुष्यको उपदेश करनेसे उपदेश करनेवालेको महान् दोष होता है ॥४॥

निदर्शनमिदं राजञ्शृणु मे भरतर्षभ ।
दुरुक्तवचने राजन्यथा पूर्वं युधिष्ठिर ।
ब्रह्माश्रमपदे वृत्तं पार्श्वे हिमवतः शुभे ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! पहले समयमें दुःखस्थ एक नीच जातिके पुरुषको उपदेश करनेके उक्त वचनका यह प्रमाण है, मैं कहता हूं, तुम सुनो । हिमालयके पवित्र पार्श्व भागके स्थानमें ब्रह्माश्रमके निकट यह घटना हुई थी ॥ ५ ॥

तत्राश्रमपदं पुण्यं नानावृक्षगणायुतम् ।
बहुगुल्मलताकीर्णं मृगद्विजनिषेवितम् ॥ ६ ॥

वहां एक पवित्र आश्रम है, वह अनेक प्रकारके वृक्ष, गुल्म और लतासे परिपूरित, हरिण और पक्षियोंसे सेवित ॥ ६ ॥

सिद्धचारणसंघुष्टं रम्यं पुष्पितकाननम् ।
व्रतिभिर्बहुभिः कीर्णं तापसैरुपशोभितम् । ॥ ७ ॥

सिद्ध और चारणोंसे युक्त और फूले हुए वनसे शोभित रहनेसे अत्यन्त रमणीय था; वह स्थान बहुतेरे ब्रह्मचारी और व्रतपरायण तपस्वी पुरुषोंसे शोभित था ॥ ७ ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैः सूर्यज्वलनसंनिभैः ।
नियमव्रतसंपन्नैः समाकीर्णं तपस्विभिः ।
दीक्षितैर्भरतश्रेष्ठ यताहारैः कृतात्मभिः ॥ ८ ॥

सूर्य तथा अग्निके समान तेजस्वी महाभाग ब्राह्मण लोग वहां सदा निवास करते हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! वह आश्रम नियमव्रतसे संपन्न, दीक्षित, मिताहारी, शुद्धचित्तवाले तपस्वियोंसे परिपूरित था ॥ ८ ॥

वेदाध्ययनघोषैश्च नादितं भरतर्षभ ।
वालखिल्यैश्च बहुभिर्यतिभिश्च निषेवितम् ॥ ९ ॥

हे भरतप्रवर ! वह वेदाध्ययनके शब्दसे सब ओरसे निनादित था तथा बहुतेरे वालखिल्य और संन्यासियोंसे निषेवित था ॥ ९ ॥

तत्र कश्चित्समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः ।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः ॥ १० ॥

पहले समयमें कोई दयालु शूद्र भलीभांति उत्साहपूर्वक उस आश्रममें उपस्थित हुआ । शूद्रको आश्रममें आया हुआ देखके वहां रहनेवाले तपस्वियोंने उसका बहुत आदर किया ॥ १० ॥

तांस्तु दृष्ट्वा मुनिगणान्देवकल्पान्महौजसः ।
वहतो विविधा दीक्षाः संप्रहृष्यत भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! वह उन मुनियोंको देवताओंके समान महातेजस्वी और अनेक प्रकारकी दीक्षासे युक्त देखके अत्यन्त हर्षित हुआ ॥ ११ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत्तपस्थे भरतर्षभ ।
ततोऽब्रवीत्कुलपतिं पादौ संगृह्य भारत ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर उसके मनमें " मैं भी तपस्या करूं " यह विचार उत्पन्न हुआ । हे भारत ! तब वह कुलपतिके चरणोंको पकडके बोला ॥ १२ ॥

भवत्प्रसादादिच्छामि धर्मं चर्तुं द्विजर्षभ ।
तन्मां त्वं भगवन्वक्तुं प्रव्राजयितुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे द्विजवर ! मैं आपकी कृपासे धर्मका आचरण करनेकी अभिलाष करता हूं; हे भगवन् ! इसलिये आप मुझे धर्म तत्त्व कहे और विधिवत् संन्यासीकी दीक्षा दीजिये ॥ १३ ॥

वर्णावरोऽहं भगवञ्शूद्रो जात्यास्मि सत्तम ।
शुश्रूषां कर्तुमिच्छामि प्रपन्नाय प्रसीद मे ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! सत्तम ! मैं नीचवर्ण शूद्र जातिका हूं, इससे आपकी सेवा करनेकी इच्छा करता हूं; आप मुझ दीनके ऊपर प्रसन्न होइये ॥ १४ ॥

कुलपतिरुवाच—

न शक्यमिह शूद्रेण लिङ्गमाश्रित्य वर्तितुम् ।
आस्यतां यदि ते बुद्धिः शुश्रूषानिरतो भव ॥ १५ ॥

कुलपति बोले— संन्यासी चिन्ह धारण करके शूद्र इस स्थानमें निवास करनेमें समर्थ नहीं होता, यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो इस आश्रममें वास करो और सेवा करनेमें तत्पर रहो ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्तस्तु मुनिना स शूद्रोऽचिन्तयन्नृप ।
कथमत्र मया कार्यं श्रद्धा धर्मे परा च मे ।
विज्ञातमेवं भवतु करिष्ये प्रियमात्मनः ॥ १६ ॥

भीष्म बोले– हे महाराज ! जब मुनिने उस शूद्रसे ऐसा कहा, तब उसने सोचा, कि " मैं इस स्थानमें क्या करूंगा ? मुझे धर्ममें अत्यंत श्रद्धा है । अब समझ गया शूद्रके लिये यही विधान होगा । मैं अपना प्रियकार्य करूंगा " ॥ १६ ॥

गत्वाश्रमपदाद्दूरमुटजं कृतवांस्तु सः ।
तत्र वेदिं च भूमिं च देवतायतनानि च ।
निवेश्य भरतश्रेष्ठ नियमस्थोऽभवत्सुखम् ॥ १७ ॥

अनन्तर उसने उस आश्रमसे दूर जाके एक कुटी बनाई और वहां पूजाके निमित्त वेदी, रहनेका स्थान तथा देवताओंका स्थान बनाया । हे भरतश्रेष्ठ ! उसने उस ही कुटीमें प्रवेश करके नियमनिष्ठ होकर सुख प्राप्त किया ॥ १७ ॥

अभिषेकांश्च नियमान्देवतायतनेषु च ।
बलिं च कृत्वा हुत्वा च देवतां चाप्यपूजयत् ॥ १८ ॥

वह शूद्र संन्यासी त्रिकाल स्नान करके देवस्थानोंमें नियमपूर्वक बलि और होम करके उनकी पूजा करता था ॥ १८ ॥

संकल्पनियमोपेतः फलाहारो जितेन्द्रियः ।
नित्यं संनिहिताभिश्च ओषधीभिः फलैस्तथा ॥ १९ ॥

वह संकल्पित, नियमनिष्ठ और जितेन्द्रिय होके फल भोजन करता तथा उसके यहां प्राप्त अन्न, औषधि और फलसे सदा ॥ १९ ॥

अतिथीन्पूजयामास यथावत्समुपागतान् ।
एवं हि सुमहान्कालो व्यत्यक्रामत्स तस्य वै ॥ २० ॥

आये हुए अतिथियोंकी यथावत् पूजा करता था । इस ही प्रकार रहते हुए उसका बहुत समय व्यतीत हुआ ॥ २० ॥

अथास्य मुनिरागच्छत्संगत्या वै तमाश्रमम् ।
संपूज्य स्वागतेनर्षिं विधिवत्पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥

अनन्तर कोई मुनि सत्संगकी इच्छासे उसके आश्रममें उपस्थित हुए । उसने उस ऋषिसे स्वागत प्रश्न करके भली भांति विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें सन्तुष्ट किया ॥ २१ ॥

अनुकूलाः कथाः कृत्वा यथावत्पर्यपृच्छत ।
ऋषिः परमतेजस्वी धर्मात्मा संयतेन्द्रियः ॥ २२ ॥

अनन्तर उसने अनुकूल वचन कहके उन परम तेजस्वी संयतेन्द्रिय धर्मात्मा ऋषिसे यथावत् समाचार पूछा । फिर ॥ २२ ॥

एवं स बहुशस्तस्य शूद्रस्य भरतर्षभ ।
सोऽगच्छदाश्रमसृषिः शूद्रं द्रष्टुं नरर्षभ ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ नरनाथ ! इस ही प्रकार ऋषि उस शूद्र संन्यासीको देखनेके लिये बार बार उसके आश्रम पर आते थे ॥ २३ ॥

अथ तं तापसं शूद्रः सोऽब्रवीद्भरतर्षभ ।
पितृकार्यं करिष्यामि तत्र मेऽनुग्रहं कुरु ॥ २४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर वह शूद्र उस तपस्वीसे बोला– मैं पितृकार्य करूंगा, आप उस विषयमें मेरे ऊपर कृपा करिये ॥ २४ ॥

बाढमित्येव तं विप्र उवाच भरतर्षभ ।
शुचिर्भूत्वा स शूद्रस्तु तस्यर्षेः पाद्यमानयत् ॥ २५ ॥

हे भारत ! ब्राह्मणने अच्छा कहकर उसका वचन स्वीकार किया; तब शूद्र स्नान करके शुद्ध होकर ऋषिके निमित्त पाद्य–जल ले आया ॥ २५ ॥

अथ दर्भांश्च वन्याश्च ओषधीर्भरतर्षभ ।
पवित्रमासनं चैव बृसीं च समुपानयत् ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर दर्भ और बनकी औषधि, अन्न पवित्र आसन तथा कुशकी चटाई ले आया ॥ २६ ॥

अथ दक्षिणमावृत्य बृसीं परमशीर्षिकाम् ।
कृतामन्यायतो दृष्ट्वा ततस्तमृषिरब्रवीत् ॥ २७ ॥

अनन्तर दक्षिण दिशाको आवरण करके व्रतीका आसन पश्चिमाग्र रूपसे रखा गया था; यह शास्त्रके विपरीत अनुचित आचरण देखकर ऋषिने उस शूद्रसे कहा ॥ २७ ॥

कुरुष्वैतां पूर्वशीर्षां भव चोदङ्मुखः शुचिः ।
स च तत्कृतवाञ्शूद्रः सर्वं यदृषिरब्रवीत् ॥ २८ ॥

“ इस आसनका अग्रभाग पूर्वशीर्ष करो और तुम शुद्ध होकर उत्तराभिमुख होकर बैठो । ” जब ऋषिने ऐसा कहा तब शूद्रने वैसाही किया ॥ २८ ॥

×

यथोपदिष्टं मेधावी दर्भादींस्तान्यथातथम् ।
हव्यकव्यविधिं कृत्स्नमुक्तं तेन तपस्विना ॥ २९ ॥

मेधावी शूद्रने दर्भ, अर्घ्य आदि और हव्यकव्य आदि विधिसे जिस प्रकार पितर कार्य करना योग्य था, वह सब उस तपस्वी ऋषिके वचनके अनुसार पूरा किया ॥ २९ ॥

ऋषिणा पितृकार्ये च स च धर्मपथे स्थितः ।
पितृकार्ये कृते चापि विसृष्टः स जगाम ह ॥ ३० ॥

जब ऋषिके द्वारा उसका पितृकार्य पूरा हुआ, तब ब्राह्मणने उसके समीपसे बिदा होकर प्रस्थान किया । वह शूद्र धर्ममार्गमें स्थित हुआ ॥ ३० ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य स तप्यञ्शूद्रतापसः ।
वने पञ्चत्वमगमत्सुकृतेन च तेन वै
अजायत महाराजराजवंशे महाद्युतिः । ॥ ३१ ॥

अनन्तर वह शूद्र तपस्वी बहुत समयतक तपस्याचरण करके वनमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ । हे तात ! महातेजस्वी शूद्र उस पूर्वजन्मके पुण्यसञ्चयसे राजवंशमें उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥

तथैव स ऋषिस्तात कालधर्ममवाप्य ह ।
पुरोहितकुले विप्र आजातो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

तात ! इसी प्रकार वे विप्रर्षि भी मृत्युको प्राप्त हुए, और पुरोहितके कुलमें उत्पन्न हुए ॥ ३२ ॥

एवं तौ तत्र संभूतावुभौ शूद्रमुनी तदा ।
क्रमेण वर्धितौ चापि विद्यासु कुशलावुभौ ॥ ३३ ॥

इस ही प्रकार वह शूद्र और वे मुनि उस स्थानमें उत्पन्न होके दोनों ही धीरे धीरे वर्द्धित होकर विद्याओंमें कुशल हो गये ॥ ३३ ॥

अथर्ववेदे वेदे च बभूवर्षिः सुनिश्चितः ।
कल्पप्रयोगे चोत्पन्ने ज्योतिषे च परं गतः ।
सांख्ये चापि परा प्रीतिस्तयोश्चापि व्यवर्धत ॥ ३४ ॥

ऋषि अथर्ववेद तथा ऋक्, यजु और साम, इन तीनों वेदोंमें विद्वान् हुए; तथा सूत्रोक्त यज्ञ प्रयोग और ज्योतिषशास्त्रके भी पारदर्शी हुए; सांख्य शास्त्रमें भी उनकी परम प्रीति विशेष रूपसे वृद्धिको प्राप्त हुई ॥ ३४ ॥

पितर्युपरते चापि कृतशौचः स भारत ।
अभिषिक्तः प्रकृतिभी राजपुत्रः स पार्थिवः ।
अभिषिक्तेन स ऋषिरभिषिक्तः पुरोहितः ॥ ३५ ॥

भारत ! इधर पिताके परलोकमें गमन करनेपर शुद्ध होनेके पश्चात् मंत्री और प्रजाने राजपुत्रको राजाके पदपर अभिषिक्त किया । राजाने अभिषिक्त होकर उस ऋषिको भी अपना पुरोहित बनाया ॥ ३५ ॥

स तं पुरोधाय सुखमवसद्भरतर्षभ ।
राज्यं शशास धर्मेण प्रजाश्च परिपालयन् ॥ ३६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजा उसे पुरोहित बनाके परम सुखसे वास करने लगा, वह धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए राज्यका शासन करता था ॥ ३६ ॥

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकार्येषु चासकृत् ।
उत्स्मयन्प्राहसच्चापि दृष्ट्वा राजा पुरोहितम् ।
एवं स बहुशो राजन्पुरोधसमुपाहसत् ॥ ३७ ॥

वह राजा सदा धर्मकर्ममें रत और पुण्याहवाचनके समय पुरोहितको देखकर कभी मुसकराता और कभी जोरसे हंसता था । राजन् ! इस प्रकार अनेक बार राजाने पुरोहितका उपहास किया ॥ ३७ ॥

लक्षयित्वा पुरोधास्तु बहुशस्तं नराधिपम् ।
उत्स्मयन्तं च सततं दृष्ट्वासौ मन्युमानभूत् ॥ ३८ ॥

पुरोहित बार बार और सतत उस राजाको उपहास करते हुए देखकर क्रुद्ध हुआ ॥ ३८ ॥

अथ शून्ये पुरोधास्तु सह राज्ञा समागतः ।
कथाभिरनुकूलाभी राजानमभिरामयत् ॥ ३९ ॥

अनन्तर पुरोहितने एक समय एकान्त स्थानमें राजाके सङ्ग मिलके अनुकूल कथाओंसे उसे प्रसन्न किया ॥ ३९ ॥

ततोऽब्रवीन्नरेन्द्रं स पुरोधा भरतर्षभ ।
वरमिच्छाम्यहं त्वेकं त्वया दत्तं महाद्युते ॥ ४० ॥

हे भरतर्षभ ! फिर उस पुरोहितने राजासे कहा, हे महातेजस्वी राजन् ! मेरी यह इच्छा है, कि, आप मुझे एक वरदान करिये ॥ ४० ॥

राजोवाच—

वराणां ते शतं दद्यां किमुतैकं द्विजोत्तम ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च नास्त्यदेयं हि मे तव ॥ ४१ ॥

राजा बोला— हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपको सौ वर प्रदान कर सकता हूं, एक ही वर क्यों ? प्रीति और बहुमान इनसे आपको देनेके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ४१ ॥

पुरोहित उवाच—

एकं वै वरमिच्छामि यदि तुष्टोऽसि पार्थिव ।

यद्ददासि महाराज सत्यं तद्वद मानृतम् ॥ ४२ ॥

पुरोहित बोला— हे महाराज ! यदि आप प्रसन्न हुए हों, तो मैं एक वर मांगता हूं । आप देना चाहते हैं तो सत्य वचन कहना, मिथ्या न बोलना ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच—

बाढमित्येव तं राजा प्रत्युवाच युधिष्ठिर ।

यदि ज्ञास्यामि वक्ष्यामि अजानन्न तु संवदे ॥ ४३ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! राजाने उससे कहा ' ऐसा ही होगा ' परन्तु यदि मुझे मालूम होगा, तो मैं कहूंगा और यदि न मालूम होगा, तो न कह सकूंगा ॥ ४३ ॥

पुरोहित उवाच—

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकृत्येषु चासकृत् ।

शान्तिहोमेषु च सदा किं त्वं हससि वीक्ष्य माम् ॥ ४४ ॥

पुरोहित बोला— प्रतिदिन धर्मकार्यके उपलक्षमें पुण्याहवचनके समय और शान्तिहोमके समयमें आप मेरी ओर देखके किस निमित्त हंसते हैं ? ॥ ४४ ॥

सव्रीडं वै भवति हि मनो मे हसता त्वया ।

कामया शापितो राजन्नान्यथा वक्तुमर्हसि ॥ ४५ ॥

आपके हंसनेसे मेरा मन अत्यन्त लज्जित होता है । हे महाराज ! मैं शपथपूर्वक पूछता हूं, आप इच्छानुसार सत्य बताइये, आप दूसरीही बात न कहें ॥ ४५ ॥

भाव्यं हि कारणेनात्र न ते हास्यमकारणम् ।

कौतूहलं मे सुभृशं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ४६ ॥

आपकी हंसी अकारण न होती होगी, इसमें अवश्य ही कुछ स्पष्ट कारण है; इसलिये इस विषयमें मुझे अत्यन्त ही कौतूहल हुआ है; आप यथार्थ रीतिसे इस विषयको मेरे समीप वर्णन करिये॥४६॥

राजोवाच—

एवमुक्ते त्वया विप्र यदवाच्यं भवेदपि ।

अवश्यमेव वक्तव्यं शृणुष्वैकमना द्विज ॥ ४७ ॥

राजा बोला— हे विप्र ! आपने जब इस प्रकार कहा है, तब मेरे पक्षमें यह विषय न कहने योग्य होनेपर भी मैं अवश्य कहूंगा, आप चित्त एकाग्र करके सुनिये ॥ ४७ ॥

पूर्वदेहे यथा वृत्तं तन्निबोध द्विजोत्तम ।

जातिं स्मराम्यहं ब्रह्मन्नवधानेन मे शृणु ॥ ४८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वजन्ममें जो घटना हुई थी, उसे कहता हूं, सुनो। हे ब्रह्मन् ! मुझे पूर्वजन्मका स्मरण है, आप ध्यान देकर मेरी बात सुनिये ॥ ४८ ॥

शूद्रोऽहमभवं पूर्वं तापसो भृशसंयुतः ।
ऋषिरुग्रतपास्त्वं च तदाभूर्द्विजसत्तम ॥ ४९ ॥

हे द्विजसत्तम ! पूर्वजन्ममें मैं शूद्र था, फिर श्रेष्ठ तपस्वी हो गया । उस समयमें आप भी उग्र तपस्यावाले ऋषि थे ॥ ४९ ॥

प्रीयता हि तदा ब्रह्मन्ममानुग्रहबुद्धिना ।
पितृकार्ये त्वया पूर्वमुपदेशः कृतोऽनघ ।
बृस्यां दर्भेषु हव्ये च कव्ये च मुनिसत्तम ॥ ५० ॥

हे पापरहित ब्रह्मन् ! उस समय आपने मुझसे प्रसन्न होकर और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये पितृकार्यके निमित्त मुझे उपदेश दिया था । हे मुनिसत्तम ! पहले मेरे उस पितृकार्यके विषयमें व्रतीके आसन, दर्भ और हव्य—कव्य आदि सब वस्तुओंका आपने जिस प्रकार मुझे उपदेश दिया था, मैंने उसहीके अनुसार सब कार्य किया था ॥ ५० ॥

एतेन कर्मदोषेण पुरोधास्त्वमजायथाः ।
अहं राजा च विप्रेन्द्र पश्य कालस्य पर्ययम् ।
मत्कृते ह्युपदेशेन त्वया प्राप्तमिदं फलम् ॥ ५१ ॥

इस ही कर्मदोषसे आप मेरे पुरोहित कुलमें उत्पन्न हुए हैं और मैं राजा हुआ हूं । हे विप्रवर ! इससे कालकी उलटी गति देखिये, मैं शूद्र होके भी जातिस्मर हुआ हूं और आप मुनि होनेपर भी पुरोहित हुए हैं; आपने जो मुझे उपदेश दिया था, उसका यही फल प्राप्त हुआ है ॥५१॥

एतस्मात्कारणाद्ब्रह्मन्प्रहसे त्वां द्विजोत्तम ।
न त्वां परिभवन्ब्रह्मन्प्रहसामि गुरुर्भवान् ॥ ५२ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! इस ही कारणसे मैं आपको देखकर हंसता हूं, आपका उपहास वा अनादर करनेके लिये मैं नहीं हंसता; क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ॥ ५२ ॥

विपर्ययेण मे मन्युस्तेन संतप्यते मनः ।
जातिं स्मराम्यहं तुभ्यमतस्त्वां प्रहसामि वै ॥ ५३ ॥

इस विपरीत गतिको देखकर मुझे जो दीनता हुई है, उसहीसे मेरा अन्तःकरण दुःखित होता है । मैं अपनी और आपकी पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करता हूं, इस ही लिये आपको देखकर हंसता हूं ॥ ५३ ॥

एवं तवोग्रं हि तप उपदेशेन नाशितम् ।
पुरोहितत्वमुत्सृज्य यतस्व त्वं पुनर्भवे ॥ ५४ ॥

इस ही प्रकार मुझे उपदेश करनेसे आपकी उग्र तपस्या नष्ट हुई है; इसलिये आप पुरोहितका कार्य परित्याग करके अगाडीके वास्ते प्रयत्न करिये ॥ ५४ ॥

इतस्त्वमधमामन्यां मा योनिं प्राप्स्यसे द्विज ।
गृह्यतां द्रविणं विप्र पूतात्मा भव सत्तम ॥ ५५ ॥

हे द्विज ! जिससे कि आप इससे भी बढके दूसरी कोई अधम योनि न पावें । हे सत्तम ! आप इस विपुल वित्तको ग्रहण करके पुण्यात्मा होनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ५५ ॥

भीष्म उवाच—

ततो विसृष्टो राज्ञा तु विप्रो दानान्यनेकशः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं भूमिं ग्रामांश्च सर्वशः ॥ ५६ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर राजाके समीपसे विदा मांगके उस विप्रने ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये । बहुतसा धन, भूमि और ग्राम भी दान किये ॥ ५६ ॥

कृच्छ्राणि चीर्त्वा च ततो यथोक्तानि द्विजोत्तमः ।
तीर्थानि चाभिगत्वा वै दानानि विविधानि च ॥ ५७ ॥

उस ब्राह्मणश्रेष्ठने कहे हुए कृच्छ्र व्रतोंका अनुष्ठान करके तीर्थोंमें गमन करके नाना प्रकारकी वस्तुएं दान कीं ॥ ५७ ॥

दत्त्वा गाश्चैव विप्राणां पूतात्मा सोऽभवद्द्विजः ।
तमेव चाश्रमं गत्वा चचार विपुलं तपः ॥ ५८ ॥

ब्राह्मणोंको गोदान तथा अनेक भांतिकी वस्तु दान देकर पवित्र चित्त होकर आत्मवान् हुआ और उस ही आश्रममें जाकर वृहत् तपस्याचरण करने लगा ॥ ५८ ॥

ततः सिद्धिं परां प्राप्तो ब्राह्मणो राजसत्तम ।
संमतश्चाभवत्तेषामाश्रमेऽऽश्रमवासिनाम् ॥ ५९ ॥

हे राजसत्तम ! अनन्तर परम सिद्धिको प्राप्त होकर वह ब्राह्मण उस आश्रममें रहनेवाले उन आश्रमवासी ऋषियोंसे सम्माननीय हो गया ॥ ५९ ॥

एवं प्राप्तो महत्कृच्छ्रमृषिः स नृपसत्तम ।
ब्राह्मणेन न वक्तव्यं तस्माद्वर्णावरे जने ॥ ६० ॥

हे नृपसत्तम ! इस प्रकार वह ऋषि परम कष्टको प्राप्त हुआ था, इसलिये ब्राह्मणको उचित है, कि वह किसी नीच वर्णके पुरुषको उपदेश न दे ॥ ६० ॥

वर्जयेदुपदेशं च सदैव ब्राह्मणो नृप ।
उपदेशं हि कुर्वाणो द्विजः कृच्छ्रमवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

राजन् ! ब्राह्मण कभी शूद्रको उपदेश न दे; कारण यह है कि उपदेश करनेवाला ब्राह्मणही संकटमें पडता है ॥ ६१ ॥

एषितव्यं सदा वाचा नृपेण द्विजसत्तमात्।
न प्रवक्तव्यमिह हि किंचिद्वर्णावरे जने ॥ ६२ ॥
राजा सदैव ब्राह्मण श्रेष्ठकी वाणी द्वारा उपदेश लेनेकी इच्छा करे; नीच वर्णके पुरुषको तो कभी भी ब्राह्मण कुछ उपदेश न दे ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
एतेषु कथयन्राजन्ब्राह्मणो न प्रदुष्यति ॥ ६३ ॥
हे महाराज! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विजाति है; इन्हें उपदेश करनेसे ब्राह्मण कदापि दूषित नहीं होता है ॥ ६३ ॥

तस्मात्सद्भिर्न वक्तव्यं कस्यचित्किंचिदग्रतः।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः ॥ ६४ ॥
इसलिये किसीके सामने कुछ भी उपदेश नहीं करना, साधुओंका मुख्य कर्त्तव्य कार्य है, क्योंकि धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है; इसहीसे वह अशुद्ध और असंयमी पुरुषोंको नहीं मालूम होती ॥ ६४ ॥

तस्मान्मौनानि मुनयो दीक्षां कुर्वन्ति चादृताः।
दुरुक्तस्य भयाद्राजन्नानुभाषन्ति किंचन ॥ ६५ ॥
इसही कारणसे मुनि लोग मौनव्रत अवलम्बन करके ही आदरयुक्त दीक्षा देते हैं; कुछ अनुचित बचन मुंहसे न कहा जाय, इस ही भयसे वे लोग कुछ भी नहीं कहते हैं ॥ ६५ ॥

धार्मिका गुणसंपन्नाः सत्यार्जवपरायणाः।
दुरुक्तवाचाभिहताः प्राप्नुवन्तीह दुष्कृतम् ॥ ६६ ॥
धार्मिक, गुणवान् तथा सत्य और सरलतादि गुणोंसे युक्त मनुष्य भी न कहने योग्य वचन कहनेसे यहां पापभागी होते हैं ॥ ६६ ॥

उपदेशो न कर्तव्यः कदाचिदपि कस्यचित्।
उपदेशाद्धि तत्पापं ब्राह्मणः समवाप्नुयात् ॥ ६७ ॥
इसलिये ब्राह्मण कदापि किसीको उपदेश न करे; क्योंकि ब्राह्मण जिसे उपदेश करता है, उसके पापका फलभागी होता है ॥ ६७ ॥

विमृश्य तस्मात्प्राज्ञेन वक्तव्यं धर्ममिच्छता।
सत्यानृतेन हि कृत उपदेशो हिनस्ति वै ॥ ६८ ॥
इसलिये धर्मकी इच्छा करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको उचित है, कि वह विचार करके वचन कहे। सत्य और असत्य युक्त किया गया उपदेश हानिकारक होता है ॥ ६८ ॥

वक्तव्यमिह पृष्टेन विनिश्चित्य विपर्ययम् ।
स चोपदेशः कर्तव्यो येन धर्ममवाप्नुयात् ॥ ६९ ॥

यहां पूछने पर अत्यंत विचार करके शास्त्रका जो अर्थ है, वही बताना चाहिये; जिससे धर्मकी प्राप्ति हो, वैसा ही उपदेश करना चाहिये ॥ ६९ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातमुपदेशो कृते सति ।
महान्क्लेशो हि भवति तस्मान्नोपदिशेत्कचित् ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ४८२ ॥

यह मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार उपदेशके विषयमें सब वृत्तान्त कहा है। अधम पुरुषको उपदेश देनेसे अत्यन्त क्लेश प्राप्त होता है, इसलिये इस लोकमें वैसे पुरुषोंको कुछ भी उपदेश करना उचित नहीं है ॥ ७० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ १० ॥ ४८२ ॥

: ११ :

युधिष्ठिर उवाच—

कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे तात ! भरतश्रेष्ठ पितामह ! कैसे पुरुष अथवा कैसी स्त्रियोंमें कमला लक्ष्मी सदा निवास करती है ? आप मुझसे यही कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसंनिधौ पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— इस विषयमें जैसी घटना मैंने देखी थी और मैंने जिस प्रकार सुना है, तथा देवकी नन्दन श्रीकृष्णके निकट रुक्मिणीने लक्ष्मीसे जो प्रश्न किया था, उसे तुम्हारे समीप कहता हूं, सुनो ॥ २ ॥

नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवक्त्राम्
कौतूहलाद्विस्मितचारुनेत्रा पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥

प्रद्युम्नकी माता रुक्मिणीने भगवान् नारायणके अङ्कवासिनी कमलके समान मुखवाली प्रकाशमान लक्ष्मीको आश्चर्ययुक्त सुंदर नेत्रसे देखकर कौतूहलवशसे प्रश्न किया ॥ ३ ॥

कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं संतिष्ठती कानि न सेवसे त्वम् ।
तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकन्ये ॥ ४ ॥

हे महर्षिकन्ये ! त्रिलोकेश्वर नारायण प्रिये ! इस लोकमें तुम किन प्राणियोंपर प्रसन्न होकर उनके यहां निवास करती हो और किनकी सेवा-पूजा नहीं करती हो ? इस विषयको मेरे समीप यथार्थ रीतिसे वर्णन करो ॥ ४ ॥

एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा देव्या समक्षं गरुडध्वजस्य ।
उवाच वाक्यं मधुराभिधानं मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥ ५ ॥

जब भगवान् गरुडध्वजके सम्मुखमें रुक्मिणी देवीने लक्ष्मीसे ऐसा प्रश्न किया, तब वह चन्द्रमुखी प्रसन्न होकर उत्तम और मधुरवचन कहने लगी ॥ ५ ॥

वसामि सत्ये सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवृत्ते न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ॥ ६ ॥

मैं सत्यवादी, सौभाग्य संपन्न, प्रतिभावान्, कुशल और कार्यरत, पुरुषके निकट सदा निवास किया करती हूं; और जो पुरुष कार्य करनेमें समर्थ नहीं है, जो नास्तिक, वर्णसंकर करनेवाला, कृतघ्न, दुराचारी, दुष्ट, चोर और गुरुजनोंकी असूया करनेवाला है; उसमें मैं कदापि निवास नहीं करती ॥ ६ ॥

ये चाल्पतेजोबलसत्त्वसारा हृष्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ।
न देवि तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ७ ॥

जो लोग अल्पपराक्रमी, अल्प बलवाले, अल्प बुद्धि तथा अल्प मानयुक्त हैं, जो जहां तहां किसी बातमें आनन्दित होते हैं और क्रोध करते हैं, वैसे गुप्त मनोरथी अर्थात् जो एक विषयकी चिन्ता करते हुए दूसरे विषयमें जा पडते हैं, देवि ! वैसे मनुष्योंके समीप मैं कभी स्थित नहीं होती ॥ ७ ॥

यश्चात्मनि प्रार्थयते न किंचिद्यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसंतोषरतेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि देवि ॥ ८ ॥

देवि ! इनके अतिरिक्त जो पुरुष अपनी किसी प्रकारकी उन्नतिकी इच्छा नहीं करता, जिसका अन्तःकरण स्वभावहीसे दूषित है, उस अल्प सन्तोषवाले मनुष्यके निकट मैं पूरीरीतिसे नित्य निवास नहीं करती ॥ ८ ॥

वसामि धर्मशीलेषु धर्मज्ञेषु महात्मसु ।
वृद्धसेविषु दान्तेषु सत्त्वज्ञेषु महात्मसु ॥ ९ ॥

धर्ममें निष्ठा रखनेवाले, धर्मज्ञ, महात्मा, वृद्धोंकी सेवामें रत रहनेवाले, जितेन्द्रिय और धैर्यशाली महात्माओंमें मैं निवास करती हूं ॥ ९ ॥

×

स्त्रीषु क्षान्तासु दान्तासु देवद्विजपरासु च ।
वसामि सत्यशीलासु स्वभावनिरतासु च ॥ १० ॥

जो स्त्रियां क्षमाशील, जितेन्द्रिय, देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाली हैं, सत्यशील और स्वभावसे ही ऋजु हैं, उनमें मैं निवास करती हूं ॥ १० ॥

प्रकीर्णभाण्डामनपेक्ष्यकारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां स्त्रीं परिवर्जयामि ॥ ११ ॥

जिसके गृहकी सामग्रियां इधर उधर बिखरी रहती हैं, जो स्त्री बिना विचारे कार्य करती है, सदा पतिके विषयमें प्रतिकूलवादिनी हुआ करती है, जो पराये गृहमें वास करनेमें अनुरक्त है और लज्जाहीन है, इसी प्रकारकी स्त्रीको मैं त्याग देती हूं ॥ ११ ॥

लोलामचोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ।
निद्राभिभूतां सततं शयानामेवंविधां स्त्रीं परिवर्जयामि ॥ १२ ॥

जो स्त्री चंचल, दयारहित, अपवित्र, लोभी, भीरु और कलहप्रिय तथा निद्रालु और सदा सोकर रहनेवाली होती है, मैं वैसी स्त्रीको परित्याग किया करती हूं ॥ १२ ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्याणशीलासु विभूषितासु ॥ १३ ॥

जो स्त्रियां सत्यवादिनी, प्रियदर्शना, सौभाग्यशालिनी, गुणमयी, पतिव्रता, कल्याणशीला और सदा वस्त्र तथा अलंकारोंसे विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियोंमें मैं सदा निवास करती हूं ॥ १३ ॥

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु ।
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु ॥ १४ ॥

सब प्रकारकी सवारियां, कन्यासमूह, विभूषण, यज्ञस्थान, वृष्टियुक्त मेघमण्डल, फूले हुए कमलदलों, शरत्कालके नक्षत्रों, ॥ १४ ॥

शैलेषु गोष्ठेषु तथा वनेषु सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु ।
नदीषु हंसस्वननादितासु क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ॥ १५ ॥

पर्वत, गोशालाएं, वन और प्रकाशमान उत्पल और कमलयुक्त तालावों, अधिक कहांतक कहूं, समस्त रमणीय वस्तुओंमें ही निवास किया करती हूं । हंस और क्रौञ्च आदिके शब्दसे निनादित तथा शोभित ॥ १५ ॥

विस्तीर्णकूलह्रदशोभितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ।
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ।
मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषे च नित्यम् ॥ १६ ॥

जिनके विस्तीर्ण तटोंपर सरोवर शोभित होते हैं, जिनके किनारे तपस्वी, सिद्ध और ब्राह्मणोंसे निषेवित हैं, जिनमें बहुतजल भरा रहता है, सिंह तथा हाथी जिनके जलमें अवगाहन करते हैं, ऐसी नदियोंमें मैं सदा निवास करती हूं। मतवाले हाथी, सांड, राज सिंहासन और सत्पुरुषोंमें मेरा नित्य निवास है ॥ १६ ॥

यस्मिन्गृहे हूयते हव्यवाहो गोब्राह्मणश्चार्च्यते देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते तस्मिन्गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥ १७ ॥

जिस घरमें मनुष्य अग्निमें होम करते हैं; गौ, ब्राह्मण तथा देवताओंकी पूजा करते हैं और समयपर जहां पुष्पोंसे उपहार अर्पण किये जाते हैं, उस घरमें मैं सदा निवास करती हूं ॥१७॥

स्वाध्यायनित्येषु द्विजेषु नित्यं क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥ १८ ॥

सदा वेदोंके स्वाध्यायमें रत रहनेवाले ब्राह्मणों, सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले क्षत्रियों, कृषिकार्यमें अनुरक्त वैश्यों और प्रतिदिन सेवाकार्यमें रत शूद्रोंके यहां मैं निवास किया करती हूं ॥१८॥

नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता ।
तस्मिन्हि धर्मः सुमहानभिविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम् ॥ १९ ॥

मैं भगवान् नारायणमें एकाग्रचित्त और मूर्तिमती होकर सम्पूर्ण भावसे आदरके सहित सदा निवास किया करती हूं; क्योंकि उन्हींमें उत्तम महान् धर्म, ब्रह्मण्यता और प्रियत्व सदा प्रतिष्ठित है ॥ १९ ॥

नाहं शरीरेण वसामि देवि नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
यस्मिंस्तु भावेन वसामि पुंसि स वर्धते धर्मयशोर्थकामैः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ५०२ ॥

हे देवि! मैं नारायणके अतिरिक्त दूसरे स्थानमें मूर्तिमयी होकर निवास नहीं करती हूं; इस समय मैं यह नहीं कह सकती, कि सर्वत्र इसी रूपमें रहती हूं। मैं जिस पुरुषमें आदरभावके सहित निवास करती हूं, वह धर्म, यश, अर्थ और कामसे वर्धित होता है ॥ २० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ ५०२ ॥

: १२ :

युधिष्ठिर उवाच—

स्त्रीपुंसयोः संप्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत् ।
एतन्मे संशयं राजन्यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे राजन् ! स्त्री और पुरुषके परस्पर संयोगमें वैषयिक सुख किसे अधिक होता है ? इस संशयके विषयको आप यथावत् कहनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भङ्गाश्वनेन शक्रस्य यथा वैरमभूत्पुरा ॥ २ ॥

भीष्म बोले– पहले समयमें भङ्गाश्वन राजाके सहित इन्द्रकी जो शत्रुता हुई थी, प्राचीन लोग इस विषयमें उस ही पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ २ ॥

पुरा भङ्गाश्वनो नाम राजर्षिरतिधार्मिकः ।
अपुत्रः स नरव्याघ्र पुत्रार्थं यज्ञमाहरत् ॥ ३ ॥

हे पुरुषप्रवर ! पहले समयमें भङ्गाश्वन नामक अत्यन्त धार्मिक एक राजर्षि था, वह पुत्ररहित था; इसलिये पुत्रके निमित्त उसने यज्ञ किया था ॥ ३ ॥

अग्निष्टुं नाम राजर्षिरिन्द्रद्विष्टं महाबलः ।
प्रायश्चित्तेषु मर्त्यानां पुत्रकामस्य चेष्यते ॥ ४ ॥

उस महाबलवान् राजर्षिने इन्द्रके द्वेषी अग्निष्टु नामक यज्ञ करना आरम्भ किया, अर्थात् इस यज्ञमें इन्द्रकी प्रधानता न रहनेसे उनका इस यज्ञसे द्वेष था । मनुष्योंके प्रायश्चित्त करनेके समय अथवा पुत्रकी कामनासे अग्निष्टु यज्ञ ही इष्ट हुआ करता है ॥ ४ ॥

इन्द्रो ज्ञात्वा तु तं यज्ञं महाभागः सुरेश्वरः ।
अन्तरं तस्य राजर्षेरन्विच्छन्नियतात्मनः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! महाभाग सुरेश्वर इन्द्र उस यज्ञको होता हुआ जानके, मनको वशमें रखनेवाले उस राजर्षिका छिद्र ढूंढनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य मृगयामटतो नृप
इदमन्तरमित्येव शक्रो नृपममोहयत् ॥ ६ ॥

हे नृप ! कुछ समयके अनन्तर राजा मृगया खेलने वनमें गया, तब इन्द्रने वही उत्तम समय समझके उसे मोहमें डाल दिया ॥ ६ ॥

एकाश्वेन च राजर्षिर्भ्रान्त इन्द्रेण मोहितः ।
न दिशोऽविन्दत नृपः क्षुत्पिपासार्दितस्तदा ॥ ७ ॥

राजा इन्द्रके द्वारा मोहित और भ्रान्त होकर अकेले ही घोडेके सहारे भ्रमण करते हुए भूख प्यासमें पीडित होकर दिशाओंको भी न जान सका ॥ ७ ॥

इतश्चेतश्च वै धावञ्श्रमतृष्णार्दितो नृपः ।
सरोऽपश्यत्सुरुचिरं पूर्णं परमवारिणा ।
सोऽवगाह्य सरस्तात पाययामास वाजिनम् ॥ ८ ॥

महाराजाने परिश्रम और प्याससे व्याकुल होकर इधर उधर भ्रमण करके, निर्मल जलसे पूरित एक मनोहर तालाब देखा । तात ! उसने घोडेको उस ही तालाबमें स्नान कराकर जल पिलाया ॥ ८ ॥

अथ पीतोदकं सोऽश्वं वृक्षे बद्ध्वा नृपोत्तमः ।
अवगाह्य ततः स्नातो राजा स्त्रीत्वमवाप ह ॥ ९ ॥

और पानी पिलाके घोडेको एक वृक्षमें बांधकर वह श्रेष्ठ राजा स्वयं जलमें उतरा; उसमें स्नान करते ही राजा स्त्रीत्वको प्राप्त हो गया ॥ ९ ॥

आत्मानं स्त्रीकृतं दृष्ट्वा व्रीडितो नृपसत्तमः ।
चिन्तानुगतसर्वात्मा व्याकुलेन्द्रियचेतनः ॥ १० ॥

राजा अपनेको स्त्रीरूपधारी देखके अत्यंत लज्जित हुआ; उसके अंतःकरणमें चिन्ता उत्पन्न हुई; राजाकी इन्द्रियां और चेतना उस समय अत्यन्त व्याकुल हुई ॥ १० ॥

आरोहिष्ये कथं त्वश्वं कथं यास्यामि वै पुरम् ।
अग्निष्टुं नाम इष्टं मे पुत्राणां शतमौरसम् ॥ ११ ॥

वह स्त्रीरूपमें चिन्ता करने लगा, " अब मैं किस प्रकार घोडेपर चढूं, कैसे नगरमें जाऊं, अग्निष्टुनामक यज्ञके सहारे मुझे सौ औरस पुत्र ॥ ११ ॥

जातं महाबलानां वै तान्प्रवक्ष्यामि किं त्वहम् ।
दारेषु चास्मदीयेषु पौरजानपदेषु च ॥ १२ ॥

जो महाबलवान् हैं, प्राप्त हुए हैं; मैं उनसे क्या कहूंगा और अपनी स्त्रियां, पुरवासी तथा जनपदवासियोंसे ही क्या कहूंगा ? " ॥ १२ ॥

मृदुत्वं च तनुत्वं च विक्लवत्वं तथैव च
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ।
व्यायामः कर्कशत्वं च वीर्यं च पुरुषे गुणाः ॥ १३ ॥

" धर्मतत्वार्थदर्शी ऋषि लोग कहते हैं, कि मृदुता, कृशता तथा व्याकुलता, ये स्त्रीके गुण हैं और व्यायाम, कठोरता और पराक्रम ये पुरुषके गुण हैं ॥ १३ ॥

पौरुषं विप्रनष्टं मे स्त्रीत्वं केनापि मेऽभवत् ।
स्त्रीभावात्कथमश्वं तु पुनरारोढुमुत्सहे ॥ १४ ॥

इस समय मेरा सब पौरुष विनष्ट हुआ, और किसी कारणसे मुझमें स्त्रीत्व उत्पन्न हुआ है । स्त्रीत्वके कारण अब फिर घोडेपर चढनेका मैं किस प्रकार उत्साह करूं ? " ॥ १४ ॥

संहृता त्वथ खेदेन आरुह्याश्वं नराधिपः ।
पुनरायात्पुरं तात स्त्रीभूतो नृपसत्तम ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! यह सब विचार करके राजा अत्यन्त दुःखित होकर घोडेपर चढके फिर स्त्रीरूपसे नगरमें आया ॥ १५ ॥

पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च पौरजानपदाश्च ते ।
किं न्विदं त्विति विज्ञाय विस्मयं परमं गताः ॥ १६ ॥

उसके पुत्र, स्त्रियां, सेवक, पुरवासी तथा जनपद वासियोंने यह क्या हुआ ? ऐसा ही सोचकर बहुत विस्मययुक्त हुए ॥ १६ ॥

अथोवाच स राजर्षिः स्त्रीभूतो वदतां वरः ।
मृगयामस्मि निर्यातो बलैः परिवृतो दृढम् ।
उद्भ्रान्तः प्राविशं घोरामटवीं दैवमोहितः ॥ १७ ॥

अनन्तर उस स्त्रीरूपी बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजर्षि ने कहा, मैं अपनी सेनासे घिरकर मृगयाके लिये गया था; दैववशसे भ्रान्त चित्त हो मार्ग भूलकर एक घोर वनमें प्रविष्ट हुआ, ॥ १७ ॥

अटव्यां च सुघोरायां तृष्णार्तो नष्टचेतनः ।
सरः सुरुचिरप्रख्यमपश्यं पक्षिभिर्वृतम् ॥ १८ ॥

उस भयङ्कर वनके बीच में प्याससे आर्त्त और अचेतसा हुआ था; अनन्तर वहांपर पक्षियोंसे परिपूरित एक मनोहर तालाब दीख पडा ॥ १८ ॥

तत्रावगाढः स्त्रीभूतो व्यक्तं दैवान्न संशयः ।
अतृप्त इव पुत्राणां दाराणां च धनस्य च ॥ १९ ॥

उस तालाबमें स्नान करके ही मैं स्त्रीरूपधारी हो गया; यह सब दैववशसे हुआ इसमें संशय नहीं है, वह राजा अपने पुत्र, स्त्रियां और धनसंपत्तिसे अतृप्तसा हुआ था ॥ १९ ॥

उवाच पुत्रांश्च ततः स्त्रीभूतः पार्थिवोत्तमः ।
संप्रीत्या भुज्यतां राज्यं वनं यास्यामि पुत्रकाः ।
अभिषिच्य स पुत्राणां शतं राजा वनं गतः ॥ २० ॥

अन्तमें स्त्रीरूपधारी श्रेष्ठ नरेश अपने बालकोंसे बोला– हे पुत्रगण ! तुम लोग परस्पर प्रीतिपूर्वक रहकर राज्यभोग करो; अब मैं वनको गमन करता हूं । वह राजा अपने सौ पुत्रोंको राज्याभिषेक करके वनमें चला गया ॥ २० ॥

तामाश्रमे स्त्रियं तात तापसोऽभ्यवपद्यत ।
तापसेनास्य पुत्राणामाश्रमेऽप्यभवच्छतम् ॥ २१ ॥

वनमें जाके वह स्त्री एक तपस्वीके आश्रममें पहुंचके उसके समीप निवास करने लगी । उस आश्रममें तपस्वीके द्वारा उसके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २१ ॥

अथ सा तान्सुतान्गृह्य पूर्वपुत्रानभाषत ।
पुरुषत्वे सुता यूयं स्त्रीत्वे चेमे शतं सुताः ॥ २२ ॥

अनन्तर वह अपने उन पुत्रोंको सङ्ग लेके पहलेके पुत्रोंके निकट आके कहने लगी— तुम लोग मेरी पुरुष अवस्थाके पुत्र हो और मेरे स्त्रीत्व प्राप्त होनेपर ये सौ पुत्र उत्पन्न हुए हैं ॥२२॥

एकत्र भुज्यतां राज्यं भ्रातृभावेन पुत्रकाः ।
सहिता भ्रातरस्तेऽथ राज्यं बुभुजिरे तदा ॥ २३ ॥

हे पुत्रगण !, इसलिये तुम लोग इनके सङ्ग मिलके भ्रातृभावसे इस राज्यका भोग करो । अनन्तर वे सब भाई मिलके उस समय राज्यका भोग करने लगे ॥ २३ ॥

तान्दृष्ट्वा भ्रातृभावेन भुञ्जानान्राज्यमुत्तमम् ।
चिन्तयामास देवेन्द्रो मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
उपकारोऽस्य राजर्षेः कृतो नापकृतं मया ॥ २४ ॥

देवराज इन्द्रने उन लोगोंको भ्रातृभावसे उत्तम प्रकार राज्यका भोग करते हुए देखकर क्रुद्ध होके मनमें सोचा, कि मैंने तो इस राजर्षिका उपकार ही किया है, इसका अपकार तो कुछ भी न हुआ ॥ २४ ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण देवराजः शतक्रतुः ।
भेदयामास तान्गत्वा नगरं वै नृपात्मजान् ॥ २५ ॥

अनन्तर शतक्रतु इन्द्रने ब्राह्मणका रूप धरके उस नगरमें जाकर उन राजपुत्रोंमें वैर निर्माण किया ॥ २५ ॥

भ्रातृणां नास्ति सौभ्रात्रं येऽप्येकस्य पितुः सुताः ।
राज्यहेतोर्विवदिताः कश्यपस्य सुरासुराः ॥ २६ ॥

उन्होंने कहा, जो लोग एक पिताके पुत्र हैं, वैसे भाइयोंमें भी उत्तम बन्धुप्रेम नहीं रहता; देवता और असुर दोनों कश्यपके पुत्र हैं, तो भी वे लोग राज्यके लिये परस्पर विवाद किया करते हैं ॥ २६ ॥

यूयं भङ्गाश्वनापत्यास्तापसस्येतरे सुताः ।
कश्यपस्य सुराश्चैव असुराश्च सुतास्तथा ।
युष्माकं पैतृकं राज्यं भुज्यते तापसात्मजैः ॥ २७ ॥

तुम लोग भङ्गाश्वन राजाके पुत्र हो, और ये लोग तपस्वीके पुत्र हैं; जब कि देवता और असुर दोनों कश्यपके ही पुत्र होनेपर भी उनमें प्रेम नहीं है, वे राज्यके निमित्त विवाद किया करते हैं; तब तपस्वीके पुत्र जो तुम्हारे पैतृक राज्यको भोग करते हैं, यह अत्यन्त ही आश्चर्य है ॥ २७ ॥

इन्द्रेण भेदितास्ते तु युद्धेऽन्योन्यमपातयन् ।
तच्छ्रुत्वा तापसी चापि संतप्ता प्ररुरोद ह ॥ २८ ॥

राजपुत्र लोग इन्द्रके द्वारा भेदित होनेपर युद्धमें परस्पर एक दूसरेका नाश करते हुए सब नष्ट होगये । तपस्विनी यह वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त दुःखित होके रोदन करने लगी ॥ २८ ॥

ब्राह्मणच्छद्मनाऽभ्येत्य तामिन्द्रोऽथान्वपृच्छत ।
केन दुःखेन संतप्ता रोदिषि त्वं वरानने ॥ २९ ॥

इन्द्र ब्राह्मणवेष धरके उस तापसीके निकट आकर बोले, हे वरानने ! तुम किस दुःखसे सन्तापित होकर रोदन कर रही हो ? ॥ २९ ॥

ब्राह्मणं तु ततो दृष्ट्वा सा स्त्री करुणमब्रवीत् ।
पुत्राणां द्वे शते ब्रह्मन्कालेन विनिपातिते ॥ ३० ॥

उस अबलाने उस समय ब्राह्मणको देखकर करुणायुक्त स्वरसे कहा, हे ब्रह्मन् ! मेरे दो सौ पुत्र कालवशसे नष्ट होगये हैं ॥ ३० ॥

अहं राजाभवं विप्र तत्र पुत्रशतं मया ।
समुत्पन्नं सुरूपाणां विक्रान्तानां द्विजोत्तम ॥ ३१ ॥

हे विप्रवर ! पहले मैं राजा था, उस समय मेरे रूपवान और पराक्रमी सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ३१ ॥

कदाचिन्मृगयां यात उद्भ्रान्तो गहने वने ।
अवगाढश्च सरसि स्त्रीभूतो ब्राह्मणोत्तम ।
पुत्रान्राज्ये प्रतिष्ठाप्य वनमस्मि ततो गतः ॥ ३२ ॥

अनन्तर किसी समय मैं मृगयाके निमित्त घने वनमें गया, और वहां भ्रमितमना होकर भटकने लगा । हे द्विजोत्तम ! उस वनके बीच एक सरोवरमें स्नान करते ही मैं स्त्री होगया । अनन्तर पुत्रोंको राज्यपर बिठकार वनमें चला गया ॥ ३२ ॥

स्त्रियाश्च मे पुत्रशतं तापसेन महात्मना ।
आश्रमे जनितं ब्रह्मन्नीतास्ते नगरं मया ॥ ३३ ॥

ब्रह्मन् ! स्त्रीरूपमें आनेपर इस आश्रममें महानुभाव तपस्वीके द्वारा मेरे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए, मैं उन्हें नगरमें लेगई थी ॥ ३३ ॥

तेषां च वैरमुत्पन्नं कालयोगेन वै द्विज ।
एतच्छोचामि विप्रेन्द्र दैवेनाभिपरिप्लुता ॥ ३४ ॥

हे द्विज ! कालकी प्रेरणासे मेरे उन सब पुत्रोंमें वैर उत्पन्न हुआ और वे परस्पर लड़कर नष्ट होगये । हे विप्रेन्द्र ! मैं दैवके द्वारा पराजित होकर इस समय शोक कर रही हूं ॥ ३४ ॥

इन्द्रस्तां दुःखितां दृष्ट्वा अब्रवीत्परुषं वचः ।
पुरा सुदुःसहं भद्रे मम दुःखं त्वया कृतम् ॥ ३५ ॥

इन्द्रने उसे दुःखित देखकर कठोर वचन कहा, हे भद्रे ! पहले जब तुम राजा थीं तब तुमने मेरे चित्तमें अत्यन्त दुःख उत्पन्न किया था ॥ ३५ ॥

इन्द्रद्विष्टेन यजता मामनाहूत्य दुर्मते ।
इन्द्रोऽहमस्मि दुर्बुद्धे वैरं ते यातितं मया ॥ ३६ ॥

मेरे अधिष्ठित रहनेपर भी मुझे आह्वान न करके इन्द्रद्विष्ट अग्निष्टोम यज्ञ तुमने किया । हे दुर्बुद्धे ! मैं वही इन्द्र हूं, मैंही तुम्हारे विषयमें वैरका बदला ले रहा हूं ॥ ३६ ॥

इन्द्रं तु दृष्ट्वा राजर्षिः पादयोः शिरसा गतः ।
प्रसीद त्रिदशश्रेष्ठ पुत्रकामेन स क्रतुः ।
इष्टस्त्रिदशशार्दूल तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

उस समय स्त्री रूपधारी राजर्षि इन्द्रको देख उनके दोनों चरणोंपर अपना सिर रखके बोले– हे देवश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये । मैंने पुत्रेकी इच्छासे वह यज्ञ किया था; देवेश्वर ! उस विषयमें आपको मुझपर क्षमा करनी उचित है ॥ ३७ ॥

प्रणिपातेन तस्येन्द्रः परितुष्टो वरं ददौ ।
पुत्रा वै कतमे राजञ्जीवन्तु तव शंस मे ।
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः पुरुषस्याथ येऽभवन् ॥ ३८ ॥

इन्द्र उसके इस प्रकार प्रणाम करनेपर सन्तुष्ट होके वरदान करनेके लिये उद्यत होके बोले– हे राजन् ! तुम्हारे स्त्रीशरीरसे जो सब पुत्र उत्पन्न हुए थे, अथवा पुरुषदेहसे जिन पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया था, उनके बीच कौनसे पुत्र जीवित होवें, वह तुम मुझसे कहो ॥ ३८ ॥

तापसी तु ततः शक्रमुवाच प्रयताञ्जलिः ।
स्त्रीभूतस्य हि ये जातास्ते मे जीवन्तु वासव ॥ ३९ ॥

अनन्तर तापसी हाथ जोडके इन्द्रसे बोली– हे इन्द्र ! मेरे स्त्री रूप होनेपर जो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वेही जीवित होवें ॥ ३९ ॥

इन्द्रस्तु विस्मितो हृष्टः स्त्रियं पप्रच्छ तां पुनः ।
पुरुषोत्पादिता ये ते कथं द्वेष्याः सुतास्तव ॥ ४० ॥

तब इन्द्रने विस्मित और प्रसन्न होके उस स्त्रीसे पूछा, पुरुष शरीरके उत्पन्न हुए पुत्र तुम्हें अप्रिय क्यों हुए ? ॥ ४० ॥

×

स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः स्नेहस्तेभ्योऽधिकः कथम् ।
कारणं श्रोतुमिच्छामि तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ ४१ ॥

और स्त्री होनेपर जो सब पुत्र जन्मे हैं, उनके ऊपर तुम्हारा अधिक स्नेह क्यों है ? मैं उसका कारण सुननेकी इच्छा करता हूं, इसलिये इस विषयको तुम्हें मेरे समीप वर्णन करना उचित है ॥ ४१ ॥

स्त्र्युवाच—

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै ।
तस्मात्ते शक्र जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै । ॥ ४२ ॥

स्त्री बोली– हे देवराज ! स्त्रीका अपने पुत्रोंपर अधिक स्नेह होता है, पुरुषका वैसा नहीं होता; इसही लिये मेरी स्त्री अवस्थामें जो सब पुत्र उत्पन्न हुए हैं वेही जीवित होवें ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्ते ततस्त्विन्द्रः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ।
सर्व एवेह जीवन्तु पुत्रास्ते सत्यवादिनि ॥ ४३ ॥

भीष्म बोले– इन्द्र उस तापसीका वचन सुनके प्रीतिपूर्वक बोले– हे सत्यवादिनी ! तुम्हारे सब पुत्र ही जीवित होवें ॥ ४३ ॥

वरं च वृणु राजेन्द्र यं त्वमिच्छसि सुव्रत ।
पुरुषत्वमथ स्त्रीत्वं मत्तो यदभिकाङ्क्षसि ॥ ४४ ॥

हे उत्तम व्रत करनेवाले राजेन्द्र ! तुम अपनी इच्छाके अनुसार मुझसे वर मांगो; पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व इन दोनोंमेंसे जो इच्छा हो वह वर मांग लो ॥ ४४ ॥

स्त्र्युवाच—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र प्रसन्ने त्वयि वासव । ॥ ४५ ॥

स्त्री बोली– हे इन्द्र ! मैं स्त्रीत्वकी ही अभिलाषा करती हूं, अब पुरुषत्वकी इच्छा नहीं करती । ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्तु देवेन्द्रस्तां स्त्रियं प्रत्युवाच ह ।
पुरुषत्वं कथं त्यक्त्वा स्त्रीत्वं रोचयसे विभो ॥ ४६ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच स्त्रीभूतो राजसत्तमः ।
स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा ।
एतस्मात्कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम् ॥ ४७ ॥

देवराजने ऐसा वचन सुनके फिर उससे कहा, हे महाराज ! तुमने पुरुषत्वको परित्याग करके किस लिये स्त्रीत्वकी इच्छा की ? स्त्रीरूपधारी राजाने देवराजका ऐसा वचन सुनके उत्तर दिया, हे देवेन्द्र ! पुरुषके संयोगसे स्त्रीको ही पुरुषकी अपेक्षा अधिक विषयसुख प्राप्त होता है, इसी कारणसे मैं स्त्रीत्वको पसंद करती हूं ॥ ४६–४७ ॥

रते चैवाधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम ।
स्त्रीभावेन हि तुष्टोऽस्मि गम्यतां त्रिदशाधिप ॥ ४८ ॥

हे देवराज ! यह सत्य है, कि स्त्रीशरीरमें ही रतिका अधिक सुख मिलता है, इस कारण ही मैं स्त्रीभावमें ही सन्तुष्ट हूं । आपकी जहां इच्छा हो, वहां जाइये ॥ ४८ ॥

एवमस्त्विति चोक्त्वा तामापृच्छ्य त्रिदिवं गतः ।
एवं स्त्रिया महाराज अधिका प्रीतिरुच्यते ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ ५५१ ॥

महाराज ! 'ऐसा ही हो' यह वचन कहके उस तापसीसे विदा ले करके इन्द्र देवलोकमें चले गये । इसी प्रकार स्त्रीको वैषयिक भोगमें पुरुषकी अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त होता है, ऐसा बताया है ॥ ४९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बारहवां अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ ५५१ ॥

: १३ :

युधिष्ठिर उवाच—

किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ॥ १ ॥

महाराज युधिष्ठिर बोले— लोकयात्राके हितार्थी अर्थात् ऐहिक शिष्ट व्यवहार और पारलौकिक कल्याणकी इच्छा करनेवाले हितैषी मनुष्यको इस विषयमें क्या करना चाहिये और कैसे स्वभावसे युक्त होके लोकमें जीवन निबाहे ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— शरीरसे तीन प्रकारके कर्म, वाणीसे चार प्रकारके कर्म और मनसे भी तीन प्रकारके कर्म— इन दस प्रकारके कर्मोंका परित्याग करे ॥ २ ॥

प्राणातिपातं स्तैन्यं च परदारमथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

प्राणियोंकी हिंसा, चोरी और परस्त्रीसे संसर्ग— ये तीनों शारीरिक पाप हैं, ये सब परित्यागके योग्य हैं ॥ ३ ॥

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥ ४ ॥

हे राजेन्द्र ! मुंहसे असत्य बातें करना, निष्ठुर वचन कहना, राजद्वारमें पराये दोष प्रकट करना और झूठ बोलना– ये चार वाणीसे होनेवाले पाप हैं। इन्हें कभी मुंहसे नहीं बोलना मनमें भी न सोचना चाहिये ॥ ४ ॥

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥ ५ ॥

दूसरेके धनकी चिन्ता न करनी, सब जीवोंमें सुहृद्भाव और कर्मफलका अस्तित्व स्वीकार करना– ये तीन मनसे आचरण करने योग्य कार्य हैं; ये सदा करने चाहिये ॥ ५ ॥

तस्माद्वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः ।
शुभाशुभान्याचरन्हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ५५७ ॥

इसलिये मनुष्य वचन, शरीर और मनके द्वारा अशुभ आचरण न करे, क्योंकि वह शुभ वा अशुभ जैसा कर्म करता है, उसका वैसाही फल भोगना पडता है ॥ ६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ ५५७ ॥

: १४ :

युधिष्ठिर उवाच—

पितामहेशाय विभो नामान्याचक्ष्व शंभवे ।
बभ्रवे विश्वमायाय महाभाग्यं च तत्त्वतः ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! आपने ब्रह्माके ईश्वर, कल्याणकारी महेश्वरके नामोंको सुना है, उस जगन्नियन्ता अन्तर्यामी स्वयम्भू भगवान् शंकरके महात्म्यका यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

सुरासुरगुरो देव विष्णो त्वं वक्तुमर्हसि ।
शिवाय विश्वरूपाय यन्मां पृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे सुरासुरगुरु ! विष्णु देव ! विश्वरूप शिवके उद्देश्यसे युधिष्ठिरने मुझसे जो प्रश्न किया है, तुम ही उस विषयको वर्णन करनेमें समर्थ हो ॥ २ ॥

नाम्नां सहस्रं देवस्य तण्डिना ब्रह्मयोनिना ।
निवेदितं ब्रह्मलोके ब्रह्मणो यत्पुराभवत् ॥ ३ ॥

शिवके एक हजार नाम जो कि पहले ब्रह्मलोकमें ब्रह्माके समक्ष ब्रह्मपुत्र तण्डीमुनिके द्वारा वर्णित हुए थे ॥ ३ ॥

द्वैपायनप्रभृतयस्तथैवेमे तपोधनाः ।
ऋषयः सुव्रता दान्ताः शृण्वन्तु गदतस्तव ॥ ४ ॥

द्वैपायन व्यास आदि उत्तम व्रत करनेवाले जितेन्द्रिय तपस्वी ऋषि लोग तुम्हारे मुखसे उन नामोंको सुनें ॥ ४ ॥

ध्रुवाय नन्दिने होत्रे गोप्त्रे विश्वसृजेऽग्नये ।
महाभाग्यं विभो ब्रूहि मुण्डिनेऽथ कपर्दिने ॥ ५ ॥

विभो ! कूटस्थ, आनन्दमय, कर्त्तृस्वरूप कर्मफल देनेवाले, रक्षा करनेवाले, विश्वस्रष्टा, गार्हपत्य अग्निस्वरूप, मुण्डी अर्थात् यथार्थमें निश्चूड और कपर्दी (जटाजूट धारी) उपाधिवशसे चूडाविशिष्ट विश्वेश्वरका ऐश्वर्य वर्णन करिये ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच—

न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र बोले— भगवान् शंकरके कर्मोंकी गतिको यथार्थ रूपसे जानना अशक्य है ॥ ६ ॥

हिरण्यगर्भप्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः ।
न विदुर्यस्य निधनमादिं वा सूक्ष्मदर्शिनः ।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भ ब्रह्मा आदि तथा इन्द्रके सहित समस्त देवता लोग, महर्षिवृन्द और सूक्ष्मदर्शी भी जिनके अन्त वा आदि नहीं जानते; जो सत्पुरुषोंके आश्रय उन ईश्वर शिवका स्वरूप मनुष्योंको किस प्रकार मालूम होगा ? ॥ ७ ॥

तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चिद्भगवतो गुणान् ।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥ ८ ॥

इसलिये मैं आपके निकट उस व्रतेश्वर असुरनाशक भगवान् शंकरके कुछ गुणोंको यथार्थ रीतिसे वर्णन करूंगा ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान्गुणांस्तस्य महात्मनः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा कथयामास धीमतः ॥ ९ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आचमन करके पवित्र होकर इस प्रकार उस धीमान् महात्मा शिवके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच—

शुश्रूषध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वं च तात युधिष्ठिर ।
त्वं चापगेय नामानि निशामय जगत्पतेः ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे द्विजेन्द्रगण ! सुनिये; हे तात धर्मराज ! हे गाङ्गेय ! आप भी इस समय जगत्पति महादेवके नामोंको सुनिये ॥ १० ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम् ।
यथा च भगवान्दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥ ११ ॥

पहले मैंने साम्बके निमित्त अत्यन्त दुष्कर तप करके जिन सब नामोंको प्राप्त किया था, और समाधिके द्वारा उस भगवान्‌का जिस प्रकार दर्शन किया था, उसे ही वर्णन करता हूं ॥ ११ ॥

शम्बरे निहते पूर्वं रौक्मिणेयेन धीमता ।
अतीते द्वादशे वर्षे जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम् ॥ १२ ॥

पहले बुद्धिमान् रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्नके हाथसे शम्बरासुरके मारे जाने पर बारह वर्षके अनन्तर जाम्बवतीने मुझसे कुछ कहनेकी इच्छा की ॥ १२ ॥

प्रद्युम्नचारुदेष्णादीन्रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान् ।
पुत्रार्थिनी मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! वह रुक्मिणीके प्रद्युम्न, चारुदेष्ण आदि पुत्रोंको देखकर पुत्रकी कामना करके मेरे निकट आके इस प्रकार बोली ॥ १३ ॥

शूरं बलवतां श्रेष्ठं कान्तरूपमकल्मषम् ।
आत्मतुल्यं मम सुतं प्रयच्छाच्युत माचिरम् ॥ १४ ॥

हे अच्युत ! तुम मुझे अपने समान शूर, बलवानोंमें श्रेष्ठ, मनोहर रूपसम्पन्न और निष्पाप पुत्र प्रदान करो, इसमें देर नहीं करना ॥ १४ ॥

न हि तेऽप्राप्यमस्तीह त्रिषु लोकेषु किंचन ।
लोकान्सृजेस्त्वमपरानिच्छन्यदुकुलोद्वह ॥ १५ ॥

हे यदुकुलधुरन्धर ! तीनों लोकोंके बीच तुम्हें कुछ भी अप्राप्य नहीं है; इच्छा करनेसे तुम दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हो ॥ १५ ॥

त्वया द्वादश वर्षाणि वायुभूतेन शुष्यता ।
आराध्य पशुभर्तारं रुक्मिण्या जनिताः सुताः ॥ १६ ॥

तुमने बारह वर्षोंतक व्रत करके शरीर सुखाकर भगवान् महादेवकी आराधना करके रुक्मिणीके अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥ १६ ॥

चारुदेष्णः सुचारुश्च चारुवेषो यशोधरः ।
चारुश्रवाश्चारुयशाः प्रद्युम्नः शंभुरेव च ॥ १७ ॥

चारुदेष्ण, सुचारु, चारुवेष, यशोधर, चारुश्रवा, चारुयशा, प्रद्युम्न और शम्भु ॥ १७ ॥

यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्याश्चारुविक्रमाः ।
तथा ममापि तनयं प्रयच्छ बलशालिनम् ॥ १८ ॥

ये सब सुन्दर तथा पराक्रमी पुत्र जैसे आपने रुक्मिणीके गर्भसे उत्पन्न किये हैं; उसी प्रकार मुझे भी एक बलशाली पुत्र प्रदान करो ॥ १८ ॥

इत्येवं चोदितो देव्या तामवोचं सुमध्यमाम् ।
अनुजानीहि मां राज्ञि करिष्ये वचनं तव ।
सा च मामब्रवीद्गच्छ विजयाय शिवाय च ॥ १९ ॥

देवि जाम्बवतीके इस प्रकार प्रेरणा देनेपर मैंने उस सुन्दरीसे कहा, हे रानी ! तुम मुझे जानेकी अनुमति दो, मैं तुम्हारे वचनका प्रतिपालन करूंगा। उसने मुझसे कहा, तुम विजय और मङ्गलके निमित्त प्रस्थान करो ॥ १९ ॥

ब्रह्मा शिवः काश्यपश्च नद्यो देवा मनोनुगाः ।
क्षेत्रौषध्यो यज्ञवाहाश्छन्दांस्यृषिगणा धरा ॥ २० ॥

हे यादव ! ब्रह्मा, शिव, काश्यप, नदियां, मनके अनुगामी सब देवता, क्षेत्र, ओषधियां, यज्ञवाह, छन्दःसमूह, ऋषिवृन्द, धरा ॥ २० ॥

समुद्रा दक्षिणा स्तोभा ऋक्षाणि पितरो ग्रहाः ।
देवपत्न्यो देवकन्या देवमातर एव च ॥ २१ ॥

समुद्र, दक्षिणा, सामपूरण स्तोमवाक्य, तारासमूह, पितर, ग्रह, देवपत्नियां, देवकन्याएं और देवमातृवृन्द ॥ २१ ॥

मन्वन्तराणि गावश्च चन्द्रमाः सविता हरिः ।
सावित्री ब्रह्मविद्या च ऋतवो वत्सराः क्षपाः ॥ २२ ॥

मन्वन्तर, गौ, चन्द्रमा, सूर्य, हरि, सावित्री, ब्रह्मविद्या, ऋतु, वर्ष, निशा, ॥ २२ ॥

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च निमेषा युगपर्ययाः ।
रक्षन्तु सर्वत्र गतं त्वां यादव सुखावहम् ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानमप्रमत्तो भवानघ ॥ २३ ॥

क्षण, लव, मुहूर्त, निमेष और युगपर्याय, ये सब जहां तुम जाओ, उस ही स्थानमें तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारी रक्षाके कारण होवें। हे पापरहित ! तुम सावधान रहकर निर्विघ्न मार्गमें गमन करो ॥ २३ ॥

एवं कृतस्वस्त्ययनस्तथाहं तामभ्यनुज्ञाय कपीन्द्रपुत्रीम् ।
पितुः समीपे नरसत्तमस्य मातुश्च राज्ञश्च तथाहुकस्य ॥ २४ ॥
जब उसने मेरा ऐसा स्वस्त्ययन किया तब मैंने उस ऋक्षराजपुत्रीकी अनुमति लेकर फिर पुरुषसत्तम पिता तथा माता और राजा आहुक– उग्रसेनके निकट गया ॥ २४ ॥

तमर्थमावेद्य यदब्रवीन्मां विद्याधरेन्द्रस्य सुता भृशार्ता ।
तानभ्यनुज्ञाय तदातिदुःखाद्गदं तथैवातिबलं च रामम् ॥ २५ ॥
विद्याधरराजपुत्री जाम्बवतीने अत्यन्त दुःखित होके मुझसे जो कुछ कहा था, उसे निवेदन करके अतिकष्टसे तपके लिये जानेकी उनकी आज्ञा ली; गद और महाबलवान् बलदेवसे अनुमति मांगी ॥ २५ ॥

प्राप्यानुज्ञां गुरुजनादहं तार्क्ष्यमचिन्तयम् ।
सोऽवहद्धिमवन्तं मां प्राप्य चैनं व्यसर्जयम् ॥ २६ ॥
अनन्तर मैंने गुरुजनोंकी आज्ञा पाके गरुडका स्मरण किया । उसने मुझे हिमालय पहाडपर पहुंचाया और वहां पहुंचके मैंने उसे विदा किया ॥ २६ ॥

तत्राहमद्भुतान्भावानपश्यं गिरिसत्तमे ।
क्षेत्रं च तपसां श्रेष्ठं पश्याम्याश्रममुत्तमम् ॥ २७ ॥
अनन्तर उस श्रेष्ठ पर्वतपर मैंने आश्चर्यमय विषयोंको देखा । मुझे वहां तपस्याके लिये श्रेष्ठ, उत्तम आश्रम दिखायी दिया ॥ २७ ॥

दिव्यं वैयाघ्रपद्यस्य उपमन्योर्महात्मनः ।
पूजितं देवगन्धर्वैर्ब्राह्म्या लक्ष्म्या समन्वितम् ॥ २८ ॥
वह वैयाघ्रपद्यगोत्र महानुभाव उपमन्युका दिव्य आश्रम था; जो देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित तथा ब्राह्मी लक्ष्मीसे समन्वित था ॥ २८ ॥

धवककुभकदम्बनारिकेलैः कुरबककेतकजम्बुपाटलाभिः ।
वटवरुणकवत्सनाभबिल्वैः सरलकपित्थप्रियालसालतालैः ॥ २९ ॥
धव, ककुभ, कदम्ब, नारियल, कुरबक, केतकी, जामुन, पाटल, वट, वरुणक, वत्सनाभ, बेल, सरल, कपित्थ, प्रियाल, साल, ताल, ॥ २९ ॥

बदरीकुन्दपुन्नागैरशोकाम्रातिमुक्तकैः ।
भल्लातकैर्मधूकैश्च चम्पकैः पनसैस्तथा ॥ ३० ॥
बदरी, कुन्द, पुन्नाग, अशोक, आम्र, अतिमुक्त, भल्लातक, मधूक, चम्पक, पनस ॥ ३० ॥

वन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतम् ।
पुष्पगुल्मलताकीर्णं कदलीषण्डशोभितम् ॥ ३१ ॥

और दूसरे अनेक प्रकारके फल और फूल देनेवाले विविध वन्य वृक्षोंसे घिरा हुआ था। वह आश्रम पुष्प, गुल्म और लताओंसे परिपूरित था और केलेके कुञ्ज उसकी शोभा बढाते थे ॥ ३१ ॥

नानाशकुनिसंभोज्यैः फलैर्वृक्षैरलंकृतम् ।
यथास्थानविनिक्षिप्तैर्भूषितं वनराजिभिः ॥ ३२ ॥

विविध पक्षियोंके भोज्य फल और वृक्ष उसके अलंकार थे; यथायोग्य स्थानमें रखी हुई वनराजियोंसे वह शोभित हुआ था ॥ ३२ ॥

रुरुवारणशार्दूलसिंहद्वीपिसमाकुलम् ।
कुरङ्गबर्हिणाकीर्णं मार्जारभुजगावृतम् ।
पूगैश्च मृगजातीनां महिषर्क्षनिषेवितम् ॥ ३३ ॥

रुरु, हाथी, शार्दूल, सिंह, चिते, हरिन, मयूर, मार्जार, सर्प, अनेक प्रकारके मृगसमूह, भैंस और रीछोंसे उस आश्रम भरा हुआ था ॥ ३३ ॥

नानापुष्परजोमिश्रो गजदानाधिवासितः ।
दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽत्र सुखो ववौ ॥ ३४ ॥

वहांपर विविध पुष्पोंके परागसे सुगन्धियुक्त, गजमदसे सुवासित, दिव्य स्त्रियोंके मधुर संगीत समान, सुखस्पर्शयुक्त वायु बह रही थी ॥ ३४ ॥

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम् ।
गीतैस्तथा किंनराणामुदारैः शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर ॥ ३५ ॥

हे वीर! वह स्थान जलधारानिनाद, पक्षियोंकी शुभ बोली, हाथियोंके चिंघाड, किन्नरोंके उदार गीत और सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंकी मंगल पवित्र ध्वनिसे अलंकृत था ॥ ३५ ॥

अचिन्त्यं मनसाप्यन्यैः सरोभिः समलंकृतम् ।
विशालैश्चाग्निशरणैर्भूषितं कुशसंवृतम् ॥ ३६ ॥

दूसरे पुरुषोंको मनसे भी अचिन्तनीय सरोवरोंसे अलंकृत तथा कुशोंसे आवृत विशाल अग्नि-गृहोंके द्वारा उत्तम शोभासे युक्त वह स्थान था ॥ ३६ ॥

विभूषितं पुण्यपवित्रतोयया सदा च जुष्टं नृप जह्नुकन्यया ।
महात्मभिर्धर्मभृतां वरिष्ठैर्महर्षिभिर्भूषितमग्निकल्पैः ॥ ३७ ॥

हे महाराज! वह आश्रम पवित्र जलवाहिनी जाह्नवीसे सदा सेवित और विभूषित तथा अग्निके समान तेजस्वी तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महात्माओं और महर्षियोंसे अलंकृत था ॥ ३७ ॥

×

वाय्वाहारैरम्बुपैर्जप्यनित्यैः सम्प्रक्षालैर्यतिभिर्ध्याननित्यैः ।
धूमाशनैरूष्मपैः क्षीरपैश्च विभूषितं ब्राह्मणेन्द्रैः समन्तात् ॥ ३८ ॥
वायु तथा जल पीनेवाले, निरंतर जपमें रत, मैत्री प्रभृति निश्चय करके शोधन करनेवाले, ध्याननिष्ठ योगी जन और धूमप्राश ऊष्मप और क्षीरप ब्राह्मणेन्द्रोंके द्वारा सब भाँतिसे सेवित था ॥ ३८ ॥

गोचारिणोऽथाश्मकुट्टा दन्तोलूखलिनस्तथा ।
मरीचिपाः फेनपाश्च तथैव मृगचारिणः ॥ ३९ ॥
गोचारी अर्थात् कुछ लोग गौओंके साथ रहते विचरते थे; कुछ लोग खाद्य वस्तुओंको पत्थरसे पीसकर खाते थे और कुछ लोग दाँतोंसे ओखली–मूसलका काम लेते थे; कुछ लोग मरीचिप अर्थात् चन्द्रकिरण पान करके जीवन धारण करनेवाले, फेनप, मृगचारी अर्थात् मृगोंके साथ रहते और विचरते थे ॥ ३९ ॥

सुदुःखान्नियमांस्तांस्तान्वहतः सुतपोन्वितान् ।
पश्यन्नुत्फुल्लनयनः प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥ ४० ॥
अत्यन्त कष्टसे जो लोग उन सब नियमोंमें तत्पर रहते हैं, वैसे अनेक प्रकारके तपस्वी मुनियोंका दर्शन करके मैंने उस स्थानमें प्रवेश करनेकी इच्छा की ॥ ४० ॥

सुपूजितं देवगणैर्महात्मभिः शिवादिभिर्भारत पुण्यकर्मभिः ।
रराज तच्चाश्रममण्डलं सदा दिवीव राजन्रविमण्डलं यथा ॥ ४१ ॥
हे भारत ! हे राजन् ! आकाशमें रविमण्डलकी भाँति वह आश्रममण्डल पुण्यकर्म करनेवाले महानुभाव शिव आदि देवताओंसे सदा उत्तम रीतिसे पूजित होकर शोभा पाता था ॥४१॥

क्रीडन्ति सर्पैर्नकुला मृगैर्व्याघ्राश्च मित्रवत् ।
प्रभावाद्दीप्ततपसः संनिकर्षगुणान्विताः ॥ ४२ ॥
महातपस्वी महात्माओंके प्रभाव और सद्गुण युक्त सांनिध्यसे वहांपर नेवले विषधर सांपोंके साथ और बाघ मृगयूथोंके सङ्ग मित्रकी भांति क्रीडा करते थे ॥ ४२ ॥

तत्राश्रमपदे श्रेष्ठे सर्वभूतमनोरमे ।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ४३ ॥
वेदवेदाङ्ग पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मण सेवित, सब प्राणियोंके लिये मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें ॥४३॥

नानानियमविख्यातैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः ।
प्रविशन्नेव चापश्यं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥ ४४ ॥
विविध नियमोंसे विख्यात हुए महात्मा महर्षियोंसे शोभित प्रवेश करते ही, मैंने जटाचीरधारी प्रभुको देखा ॥ ४४ ॥

तेजसा तपसा चैव दीप्यमानं यथानलम् ।
शिष्यमध्यगतं शान्तं युवानं ब्राह्मणर्षभम् ।
शिरसा वन्दमानं मामुपमन्युरभाषत ॥ ४५ ॥

तेज और तपस्याके द्वारा अग्निके समान प्रकाशमान, शान्त और यौवनसम्पन्न द्विजवर उपमन्यु अपने शिष्योंसे घिरकर उनके बीचमें बैठे थे। जब मैंने सिर झुकाकर उनकी वन्दना की, तब वे मुझसे बोले ॥ ४५ ॥

स्वागतं पुण्डरीकाक्ष सफलानि तपांसि नः ।
यत्पूज्यः पूजयसि नो द्रष्टव्यो द्रष्टुमिच्छसि ॥ ४६ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! तुम्हारा स्वागत है। तुम पूज्य होकर भी मेरी पूजा करते हो और हमारे दर्शनीय होनेपर भी हम लोगोंके दर्शनकी इच्छा करते हो, इसीसे हम लोगोंकी तपस्या सफल हुई है ॥ ४६ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मृगपक्षिष्वथाग्निषु ।
धर्मे च शिष्यवर्गे च समपृच्छमनामयम् ॥ ४७ ॥

मैंने हाथ जोडके उनसे मृग, पक्षी, अग्निहोत्र, धर्म और शिष्योंके विषयमें कुशल प्रश्न किया ॥ ४७ ॥

ततो मां भगवानाह साम्ना परमवल्गुना ।
लप्स्यसे तनयं कृष्ण आत्मतुल्यमसंशयम् ॥ ४८ ॥

अनन्तर भगवान् उपमन्यु मुझसे परम मनोहर शान्त वचनसे बोले, हे श्रीकृष्ण ! तुम अपने समान पुत्र निःसन्देह प्राप्त करोगे ॥ ४८ ॥

तपः सुमहदास्थाय तोषयेशानमीश्वरम् ।
इह देवः सपत्नीकः समाक्रीडत्यधोक्षज ॥ ४९ ॥

तुम उत्तम महत् तपस्याका अवलम्बन करके सर्वनियन्ता भगवान् महादेवको सन्तुष्ट करो । हे अधोक्षज ! यहां महादेव अपनी पत्नी भगवती उमाके साथ क्रीडा करते हैं ॥ ४९ ॥

इहैव देवताश्रेष्ठं देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ।
तोषयित्वा शुभान्कामान्प्राप्नुवंस्ते जनार्दन ॥ ५० ॥

हे जनार्दन ! पहिले समयमें ऋषियोंके सहित देवताओंने इस ही स्थानमें तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रियनिग्रहके द्वारा उस देवताओंमें श्रेष्ठ महादेवको सन्तुष्ट करके शुभ कामनाओंको प्राप्त किया था ॥ ५० ॥

तेजसां तपसां चैव निधिः स भगवानिह ।
शुभाशुभान्वितान्भावान्विसृजन्संक्षिपन्नपि ।
आस्ते देव्या सहाचिन्त्यो यं प्रार्थयसि शत्रुहन् ॥ ५१ ॥

हे शत्रुनाशन ! तुम जिनकी प्रार्थना करते हो, वे तपोनिधि और तेजके आधार अचिन्तनीय भगवान् शिव इस ही स्थानमें दम आदि शुभ भावोंकी उत्पत्ति और काम आदि अशुभ भावोंका संहार करते हुए देवी पार्वतीके सहित सदा विराजमान हैं ॥ ५१ ॥

हिरण्यकशिपुर्योऽभूद्दानवो मेरुकम्पनः ।
तेन सर्वामरैश्वर्यं शर्वात्प्राप्तं समार्बुदम् ॥ ५२ ॥

मेरु पर्वतको कंपानेवाला जो हिरण्यकशिपु नामक दानव हुआ था, उसने महादेवकी कृपासे अर्बुद वर्ष पर्यन्त सब देवताओंका ऐश्वर्य पाया था ॥ ५२ ॥

तस्यैव पुत्रप्रवरो मन्दरो नाम विश्रुतः ।
महादेववराच्छक्रं वर्षार्बुदमयोधयत् ॥ ५३ ॥

उसहीका श्रेष्ठ पुत्र मन्दर नामसे विख्यात हुआ, उसने महादेवके वरप्रभावसे अर्बुद वर्षतक इन्द्रके सङ्ग युद्ध किया था ॥ ५३ ॥

विष्णोश्चक्रं च तद्घोरं वज्रमाखण्डलस्य च ।
शीर्णं पुराभवत्तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ५४ ॥

हे तात ! केशव ! भगवान् विष्णुका वह घोर चक्र और इन्द्रका वज्र पहिले समयमें उस ग्रहके अङ्गोंमें लगनेसे विफल हुआ था ॥ ५४ ॥

अर्घमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा ।
शिवदत्तवराञ्जघ्नुरसुरेन्द्रान्सुरा भृशम् ॥ ५५ ॥

जब बलवान ग्रहने देवताओंको अत्यन्त पीडित किया, तब देवताओंने भी महादेवके दिये हुए वरके प्रभावसे गर्वित दानवोंके दलको नष्ट किया था, देवताओंके बुद्धिकौशलसे वे लोग आपसमें कलह करके विनष्ट हुए ॥ ५५ ॥

तुष्टो विद्युत्प्रभस्यापि त्रिलोकेश्वरतामदात् ।
शतं वर्षसहस्राणां सर्वलोकेश्वरोऽभवत् ।
ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत् ॥ ५६ ॥

महादेवने विद्युत्प्रभ दानवके ऊपर प्रसन्न होके उसे तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान किया था, वह एक लाख वर्षोंतक सब लोकोंका ईश्वर हुआ था । भगवानने उसे यह भी वर दिया था, कि तू सदा मेरा ही अनुचर होगा ॥ ५६ ॥

तथा पुत्रसहस्राणामयुतं च ददौ प्रभुः ।
कुशद्वीपं च स ददौ राज्येन भगवानजः ॥ ५७ ॥

और उसे सहस्र अयुत पुत्र प्रदान किये थे। अजन्मा भगवानने उसे राज्यके सहित कुशद्वीप दान किया था ॥ ५७ ॥

तथा शतमुखो नाम धात्रा सृष्टो महासुरः ।
येन वर्षशतं साग्रमात्ममांसैर्हुतोऽनलः ।
तं प्राह भगवांस्तुष्टः किं करोमीति शंकरः ॥ ५८ ॥

अनन्तर शतमुख नामक जो महासुर ब्रह्माके द्वारा उत्पन्न हुआ था और जिसने सौ वर्ष तक निज मांससे अग्निको तृप्त किया था; भगवान शङ्कर उसपर प्रसन्न होके बोले, मैं तुम्हारे लिये क्या करूं ? ॥ ५८ ॥

तं वै शतमुखः प्राह योगो भवतु मेऽद्भुतः ।
बलं च दैवतश्रेष्ठ शाश्वतं संप्रयच्छ मे ॥ ५९ ॥

शतमुखने उनसे कहा, हे देवोंके देव ! आपकी कृपासे मुझे अद्भुत योगशक्ति प्राप्त होवे और आप मुझे शाश्वत बल प्रदान करिये ॥ ५९ ॥

स्वायंभुवः क्रतुश्चापि पुत्रार्थमभवत्पुरा ।
आविश्य योगेनात्मानं त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥ ६० ॥

पहले स्वयम्भुके पुत्र क्रतुने भी पुत्रके निमित्त योगके सहारे तीन सौ वर्षोंतक अपने आपको भगवान् शंकरके चिंतनमें लगाया था ॥ ६० ॥

तस्य देवोऽददत्पुत्रान्सहस्रं क्रतुसंमितान् ।
योगेश्वरं देवगीतं वेत्थ कृष्ण न संशयः ॥ ६१ ॥

भगवानने क्रतुको उसके समान एक हजार पुत्र प्रदान किये। हे श्रीकृष्ण ! देवोंसे वर्णित योगेश्वर शंकरको तुम निःसन्देह जानते हो ॥ ६१ ॥

वालखिल्या मघवता अवज्ञाताः पुरा किल ।
तैः क्रुद्धैर्भगवान्रुद्रस्तपसा तोषितो ह्यभूत् ॥ ६२ ॥

पहले समयमें वालखिल्य मुनियोंका देवराज इन्द्रने अपमान किया था। उन ऋषियोंने क्रुद्ध होकर तपस्या की और उसके सहारे भगवान रुद्रको सन्तुष्ट किया ॥ ६२ ॥

तांश्चापि दैवतश्रेष्ठः प्राह प्रीतो जगत्पतिः ।
सुपर्णं सोमहर्तारं तपसोत्पादयिष्यथ ॥ ६३ ॥

देवताओंमें श्रेष्ठ जगत्पति महादेव प्रसन्न होके उनसे बोले, तुम लोग तपस्याके द्वारा सोम—अमृत हरनेवाले गरुडको उत्पन्न करोगे ॥ ६३ ॥

महादेवस्य रोषाच्च आपो नष्टाः पुराभवन् ।
ताश्च सप्तकपालेन देवैरन्याः प्रवर्तिताः ॥ ६४ ॥

पहले समयमें महादेवके क्रोधवशसे समस्त जल नष्ट हुआ था । तब देवताओंने सप्त कपाल यागके द्वारा– जिसके स्वामी रुद्र हैं– दूसरे जलको फिर प्राप्त किया ॥ ६४ ॥

अत्रेर्भार्यापि भर्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी ।
नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन ।
इत्युक्त्वा सा महादेवमगच्छच्छरणं किल ॥ ६५ ॥

अत्रिमुनिकी ब्रह्मवादिनी भार्या अनसूयाने भी पतिको परित्याग करके प्रतिज्ञा की, कि मैं अब फिर कभी किसी प्रकारसे भी उस मुनिकी वशवर्ती न हूंगी; ऐसा कहके वह महेश्वरकी शरणागत हुई थी ॥ ६५ ॥

निराहारा भयादत्रेस्त्रीणि वर्षशतान्यपि ।
अशेत मुसलेष्वेव प्रसादार्थं भवस्य सा ॥ ६६ ॥

उसने अत्रिके भयसे निराहारी रहकर तीन सौ वर्षोंतक महादेवकी कृपाके निमित्त तपस्या करती हुई मुसलोंपर ही शयन किया ॥ ६६ ॥

तामब्रवीद्धसन्देवो भविता वै सुतस्तव ।
वंशे तवैव नाम्ना तु ख्यातिं यास्यति चेप्सिताम् ॥ ६७ ॥

महेश्वरने हंसके उससे कहा, कि तुम्हारे निःसन्देह पुत्र होगा, और तुम्हारे वंशमें वह तुम्हारे ही नामसे इच्छानुसार प्रसिद्ध होगा ॥ ६७ ॥

शाकल्यः संशितात्मा वै नव वर्षशतान्यपि ।
आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव ॥ ६८ ॥

हे केशव ! संशितचित्त शाकल्यने नौ सौ वर्षोंतक मनोयज्ञसे महादेवकी आराधना की थी ॥ ६८ ॥

तं चाह भगवांस्तुष्टो ग्रन्थकारो भविष्यसि ।
वत्साक्षया च ते कीर्तिस्त्रैलोक्ये वै भविष्यति ।
अक्षयं च कुलं तेऽस्तु महर्षिभिरलंकृतम् ॥ ६९ ॥

भगवान् शंकर प्रसन्न होके उससे बोले– हे तात ! तुम ग्रंथकर्ता होओगे और तीनों लोकोंके बीच तुम्हारी अक्षय कीर्ति होगी, तुम्हारा कुल अक्षय और महर्षियोंसे अलंकृत होगा ॥ ६९ ॥

सावर्णिश्चापि विख्यात ऋषिरासीत्कृते युगे ।
इह तेन तपस्तप्तं षष्टिं वर्षशतान्यथ ॥ ७० ॥

सत्ययुगमें सावर्णि नामके एक विख्यात ऋषि थे, उन्होंने इस स्थानमें छः हजार वर्षोंतक तपस्या की थी ॥ ७० ॥

तमाह भगवान्रुद्रः साक्षात्तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजरामरः ॥ ७१ ॥

भगवान् रुद्रदेव साक्षात् दर्शन देकर उनसे बोले— हे अनघ ! मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम अजर और अमर होके लोकमें प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता होओगे ॥ ७१ ॥

मयापि च यथा दृष्टो देवदेवः पुरा विभुः ।
साक्षात्पशुपतिस्तात तच्चापि शृणु माधव ॥ ७२ ॥

हे तात ! हे माधव ! मैंने जिस प्रकार पहले समयमें देवोंके देव पशुपतिका साक्षात् दर्शन किया था, उसे भी तुम विस्तारके सहित सुनो ॥ ७२ ॥

यदर्थं च महादेवः प्रयतेन मया पुरा ।
आराधितो महातेजास्तच्चापि शृणु विस्तरम् ॥ ७३ ॥

पहले देवोंके देव महादेवकी मैंने प्रयत्नपूर्वक जिस उद्देश्यसे आराधना की थी, वह सब विस्तारपूर्वक सुनिये ॥ ७३ ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं देवदेवान्महेश्वरात् ।
तत्सर्वमखिलेनाद्य कथयिष्यामि तेऽनघ ॥ ७४ ॥

हे अनघ ! पूर्वकालमें मुझे देवोंके देव महेश्वरसे जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह सब आज पूरी रीतिसे मैं कहता हूं ॥ ७४ ॥

पुरा कृतयुगे तात ऋषिरासीन्महायशाः ।
व्याघ्रपाद इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।
तस्याहमभवं पुत्रो धौम्यश्चापि ममानुजः ॥ ७५ ॥

हे तात ! पहले सत्ययुगमें वेदवेदाङ्ग जाननेवाले महायशस्वी व्याघ्रपाद नामके विख्यात एक ऋषि थे; मैं उनका पुत्र हूं और धौम्य मेरा छोटा भाई है ॥ ७५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य धौम्येन सह माधव ।
आगच्छमाश्रमं क्रीडन्मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ७६ ॥

हे माधव ! किसी समय मैं धौम्यके सङ्ग खेलते हुए आत्मज्ञ मुनियोंके आश्रममें उपस्थित हुआ ॥ ७६ ॥

तत्रापि च मया दृष्टा दुह्यमाना पयस्विनी ।
लक्षितं च मया क्षीरं स्वादुतो ह्यमृतोपमम् ॥ ७७ ॥

वहांपर मैंने किसी दूध देनेवाली गायका दूध दूहना देखा; वहां मैंने दूध देखा जो अमृतके समान स्वादयुक्त होता है ॥ ७७ ॥

ततः पिष्टं समालोड्य तोयेन सह माधव ।
आवयोः क्षीरमित्येव पानार्थमुपनीयते ॥ ७८ ॥

माधव ! फिर वह जलमें आटा घोलके ले आयी और दूध कहकर दोनों भाईयोंको पीनेको दिया ॥ ७८ ॥

अथ गव्यं पयस्तात कदाचित्प्राशितं मया ।
ततः पिष्टरसं तात न मे प्रीतिमुदावहत् ॥ ७९ ॥

हे तात ! मैंने पहले एक बार गायका दूध पीया था, इसलिये वह पिष्टरस मुझे रुचिकर न हुआ ॥ ७९ ॥

ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तदा ।
क्षीरोदनसमायुक्तं भोजनं च प्रयच्छ मे ॥ ८० ॥

अनन्तर मैंने बाल-स्वभावके वशमें होकर उस समय अपनी मातासे कहा, हे माता ! मुझे खानेके लिये दूध-भात ही दो ॥ ८० ॥

ततो मामब्रवीन्माता दुःखशोकसमन्विता ।
पुत्रस्नेहात्परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय माधव ॥ ८१ ॥

माधव ! अनन्तर दुःख और शोकसे युक्त माताने पुत्रस्नेहवश मुझे हृदयमें लगाकर मेरा मस्तक सूंघकर मुझसे बोली- ॥ ८१ ॥

कुतः क्षीरोदनं वत्स मुनीनां भावितात्मनाम् ।
वने निवसतां नित्यं कन्दमूलफलाशिनाम् ॥ ८२ ॥

हे पुत्र ! सदा वनमें रहकर कन्दमूलफल भोजन कर निर्वाह करनेवाले आत्मज्ञ ऋषियोंके आश्रममें क्षीरोदन कहांसे मिलेगा ? ॥ ८२ ॥

अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम् ।
कुतः क्षीरोदनं वत्स सुखानि वसनानि च ॥ ८३ ॥

हे पुत्र ! वरद स्थाणु, अव्यय, भगवान् विरूपाक्षको बिना प्रसन्न किये क्षीरोदन और सुख-दायक वस्त्र आदि कहांसे प्राप्त होंगे ? ॥ ८३ ॥

तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शंकरम् ।
तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥ ८४ ॥

हे पुत्र ! इसलिये तुम्हें सब भांतिसे चित्त लगाके उस ही महादेवके शरणागत होना उचित है, उनकी कृपासे तुम सब वाञ्छनीय फल पाओगे ॥ ८४ ॥

जनन्यास्तद्वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन् ।
मम भक्तिर्महादेवे नैष्ठिकी समपद्यत ॥ ८५ ॥

हे शत्रुनाशन ! माताका ऐसा वचन सुनके उस ही समय महादेवके विषयमें मेरी नैष्ठिकी सुदृढ भक्ति उत्पन्न हुई ॥ ८५ ॥

ततोऽहं तप आस्थाय तोषयामास शंकरम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥ ८६ ॥

अनन्तर मैंने तपस्या करके भगवान् महादेवको सन्तुष्ट किया; पैरोंके अंगुठेके अग्र भागके सहारे स्थित होकर दिव्य हजार वर्ष विताये ॥ ८६ ॥

एकं वर्षशतं चैव फलाहारस्तदाभवम् ।
द्वितीयं शीर्णपर्णाशी तृतीयं चाम्बुभोजनः ।
शतानि सप्त चैवाहं वायुभक्षस्तदाभवम् ॥ ८७ ॥

पहले एक सौ वर्षोंतक केवल फल भोजन करके रहा; दूसरे सौ वर्षोंतक सूखे पत्तोंको खाके रहा, फिर तीसरे शतकमें जल पीके समय बिताया; अनन्तर शेष सात वर्षोंतक वायु पीके रहा ॥ ८७ ॥

ततः प्रीतो महादेवः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
शक्ररूपं स कृत्वा तु सर्वैर्देवगणैर्वृतः ।
सहस्राक्षस्तदा भूत्वा वज्रपाणिर्महायशाः ॥ ८८ ॥

अनन्तर सब लोकोंके ईश्वर प्रभु महादेव प्रसन्न हुए। उन्होंने सब देवताओंसे घिरे हुए महायशस्वी वज्रधारी सहस्राक्ष इन्द्रका रूप धारण करके पदार्पण किया ॥ ८८ ॥

सुधावदातं रक्ताक्षं स्तब्धकर्णं मदोत्कटम् ।
आवेष्टितकरं रौद्रं चतुर्दंष्ट्रं महागजम् ॥ ८९ ॥

वे सुधाके भांति सुंदर, लाल नेत्र, खडे कानवाले, मदोत्कट, मुडी हुई सूंडसे शोभित चार दांतवाले भयंकर महान् गजराज ऐरावत पर ॥ ८९ ॥

समास्थितश्च भगवान्दीप्यमानः स्वतेजसा ।
आजगाम किरीटी तु हारकेयूरभूषितः ॥ ९० ॥

चढके अपने तेजसे प्रकाशमान होकर वहां आये; उनके मस्तकपर किरीट, गलेमें हार और भुजाओंमें केयूर थे ॥ ९० ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
सेव्यमानोऽप्सरोभिश्च दिव्यगन्धर्वनादितः ॥ ९१ ॥

उनके सिरपर श्वेत छत्र शोभित था; वे दिव्य गन्धर्वोंकी सङ्गीतकी मधुर ध्वनिसे युक्त और अप्सराओं द्वारा सेव्यमान थे ॥ ९१ ॥

ततो मामाह देवेन्द्रः प्रीतस्तेऽहं द्विजोत्तम ।
वरं वृणीष्व मत्तस्त्वं यत्ते मनसि वर्तते ॥ ९२ ॥

अनन्तर देवराज इन्द्रने मुझसे कहा, हे द्विजोत्तम ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं; तुम्हारे मनमें जो कुछ अभिलाष हो, वह वर मुझसे मांगो ॥ ९२ ॥

×

शक्रस्य तु वचः श्रुत्वा नाहं प्रीतमनाभवम्।
अब्रुवं च तदा कृष्ण देवराजमिदं वचः ॥ ९३ ॥

इन्द्रका वचन सुनके मैं प्रसन्नचित्त नहीं हुआ। हे श्रीकृष्ण ! उस समय मैंने देवराजसे यह वचन कहा ॥ ९३ ॥

नाहं त्वत्तो वरं काङ्क्षे नान्यस्मादपि दैवतात्।
महादेवादृते सौम्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ९४ ॥

हे सौम्य ! मैं महादेवके अतिरिक्त तुमसे तथा दूसरे किसी देवतासे भी वरकी अभिलाष नहीं करता, यह मैं तुम्हारे समीप सत्य ही कहता हूं ॥ ९४ ॥

पशुपतिवचनाद्भवामि सद्यः कृमिरथ वा तरुरप्यनेकशाखः।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥ ९५ ॥

भगवान् पशुपतिके वचनके अनुसार मैं उस ही समय कृमि अथवा अनेक शाखायुक्त वृक्ष हूंगा और महादेवके अतिरिक्त मुझे दूसरेके वर वा कृपासे तीनों लोकोंके राज्य तथा ऐश्वर्य भी प्राप्त हो रहा हो, तो वह भी मुझे प्रिय नहीं है ॥ ९५ ॥

अपि कीटः पतंगो वा भवेयं शंकराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥ ९६ ॥

भगवान् शंकरकी आज्ञानुसार मैं कीट वा पतङ्ग भी हो जाऊंगा; हे देवराज ! परन्तु तुम्हारे दिये हुए तीनों लोकोंकी भी मैं कामना नहीं करता ॥ ९६ ॥

यावच्छशाङ्कशकलामलबद्धमौलिर्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान्ममेशः।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातैर्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥९७॥

जबतक जिनके मस्तकपर अर्धचन्द्र युक्त निर्मल मुकुट बंधा हुआ है, वे मेरे परमेश्वर भगवान् पशुपति प्रसन्न नहीं होते, तब तक जरा, मरण और सैकडों जन्मोंके अभिघातके देह विहित क्लेशोंको ढोता रहूंगा ॥ ९७ ॥

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं त्रिभुवनसारमपारमाद्यमेकम्।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥ ९८ ॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके द्वारा प्रकाशमान, त्रिभुवनसारभूत, अपार, उस एकमात्र आदि पुरुष, अजर, अमर रुद्रदेवको विना प्रसन्न किये इस जगत्में कौन पुरुष शान्ति लाभ करनेमें समर्थ होगा ? ॥ ९८ ॥

शक्र उवाच—

कः पुनस्तव हेतुर्वै ईशे कारणकारणे।
येन देवादृतेऽन्यस्मात्प्रसादं नाभिकाङ्क्षसि ॥ ९९ ॥

इन्द्र बोले— जब तुम महेश्वरके अतिरिक्त दूसरे किसी देवताके प्रसन्नताकी इच्छा नहीं करते हो, तब उस कारणके भी कारण ईश्वरकी सत्ता क्या हेतु-प्रमाण है ? ॥ ९९ ॥

उपमन्युरुवाच—

हेतुभिर्वा किमन्यैस्ते ईशः कारणकारणम् ।
न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्च्यते सुरैः ॥ १०० ॥

उपमन्यु बोले– अन्यान्य कारणोंका क्या प्रयोजन है ? भगवान् शंकर ही सब कारणोंका कारण हैं, देवताओंके द्वारा दूसरे किसीके लिङ्गका पूजित होना मैंने कभी नहीं सुना ॥ १०० ॥

कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम् ।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यास्ति ते श्रुतिः ॥ १०१ ॥

भगवान् महेश्वरको छोडके सब देवता लोग दूसरे किसी देवताके लिङ्गकी पूजा करते हैं वा पहले कभी उन्होंने पूजा की है ? उसे यदि तुमने सुना हो, तो वर्णन करो ॥ १०१ ॥

यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः ।
अर्चयध्वं सदा लिङ्गं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः ॥ १०२ ॥

ब्रह्मा, विष्णु और समस्त देवताओंके सहित तुम भी सदा जिसके लिंगकी पूजा करते हो, उससे बढके और श्रेष्ठ दूसरा कौन है ? इसलिये वही सब लोगोंका आत्यन्तिक इष्ट है ॥ १०२ ॥

तस्माद्वरमहं काङ्क्षे निधनं वापि कौशिक ।
गच्छ वा तिष्ठ वा शक्र यथेष्टं बलसूदन ॥ १०३ ॥

हे बलसूदन सुरराज ! मैं उस ही महेश्वरसे वर अथवा मृत्युकी कामना करता हूं । तुम इच्छानुसार गमन करो अथवा निवास करो ॥ १०३ ॥

काममेष वरो मेऽस्तु शापो वापि महेश्वरात् ।
न चान्यां देवतां काङ्क्षे सर्वकामफलान्यपि ॥ १०४ ॥

मेरी यह अभिलाषा है, कि महेश्वरके द्वारा मुझे वर मिले अथवा शाप ही प्राप्त होवे, परन्तु दूसरे देवताओंके सर्वकामफलप्रद होनेपर भी मैं उनकी आकांक्षा नहीं करता ॥ १०४ ॥

एवमुक्त्वा तु देवेन्द्रं दुःखादाकुलितेन्द्रियः ।
न प्रसीदति मे रुद्रः किमेतदिति चिन्तयन् ।
अथापश्यं क्षणेनैव तमेवैरावतं पुनः ॥ १०५ ॥

देवराजसे ऐसा कहके मैं दुःखपूर्वक व्याकुलेन्द्रिय हुआ; महादेव किस लिये मुझपर प्रसन्न नहीं होते हैं, ऐसी ही मैं चिन्ता करने लगा । अनन्तर क्षणभरके बीच फिर उस ही ऐरावतको मैंने देखा ॥ १०५ ॥

हंसकुन्देन्दुसदृशं मृणालकुमुदप्रभम् ।
वृषरूपधरं साक्षात्क्षीरोदमिव सागरम् ॥ १०६ ॥
हंस, कुन्द और चन्द्रमा सदृश श्वेत, मृणाल और कुमुदके समान प्रकाशमान, साक्षात् क्षीर-सागर ही वृषभ रूपधारण करके खडा है ॥ १०६ ॥

कृष्णपुच्छं महाकायं मधुपिङ्गललोचनम् ।
जाम्बूनदेन दाम्ना च सर्वतः समलंकृतम् ॥ १०७ ॥
उस महाकाय वृषभकी पूंछ कृष्णवर्ण थी, नेत्र मधुकी भांति पिंगलवर्ण थे; वह वृषभ सुवर्णकी बनी हुई लडियोंसे सब प्रकार अलंकृत था ॥ १०७ ॥

रक्ताक्षं सुमहानासं सुकर्णं सुकटीतटम् ।
सुपार्श्वं विपुलस्कन्धं सुरूपं चारुदर्शनम् ॥ १०८ ॥
उसके नेत्र लाल थे; नासिका बडी थी; कान, कटि, कोखे अत्यन्त सुन्दर थे; कन्धा विशाल था । उसका रूप सुन्दर था; वह देखनेमें मनोहर लगता था ॥ १०८ ॥

ककुदं तस्य चाभाति स्कन्धमापूर्य विष्ठितम् ।
तुषारगिरिकूटाभं सिताभ्रशिखरोपमम् ॥ १०९ ॥
उस वृषभका ककुद स्कन्धपूरण करके अधिष्ठित था । उस हिमालय पर्वतके शिखर वा श्वेत बादलोंके सदृश ॥ १०९ ॥

तमास्थितश्च भगवान्देवदेवः सहोमया ।
अशोभत महादेवः पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥ ११० ॥
वृषभपर देवोंके देव भगवान महादेव उमादेवीके सहित चढके पौर्णमासीकी रात्रिके चन्द्रमाकी भांति शोभित हुए थे ॥ ११० ॥

तस्य तेजोभवो वह्निः समेघः स्तनयित्नुमान् ।
सहस्रमिव सूर्याणां सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १११ ॥
उनके तेजसे प्रकट हुई अग्निकी तथा सहस्रों सूर्योंके समान दीप्ति, गर्जना करनेवाले मेघोंसहित सब दिशाओंमें व्याप्त होरही थी ॥ १११ ॥

ईश्वरः सुमहातेजाः संवर्तक इवानलः ।
युगान्ते सर्वभूतानि दिधक्षुरिव चोद्यतः ॥ ११२ ॥
उस समय महातेजस्वी शंकर प्रलय कालके संवर्तक अनलकी भांति मानो सब भूतोंको जलानेका इच्छुक होकर उदित हुआ है, ऐसे दिखायी देते थे ॥ ११२ ॥

तेजसा तु तदा व्याप्ते दुर्निरीक्ष्ये समन्ततः ।
पुनरुद्विग्नहृदयः किमेतदिति चिन्तयन् ॥ ११३ ॥

वे अपने तेजसे सब ओर व्याप्त हो रहे थे, उनकी ओर देखना कठिन था; मैं उद्विग्नचित्त होकर चिन्ता करने लगा, कि यह क्या है ? ॥ ११३ ॥

मुहूर्तमिव तत्तेजो व्याप्य सर्वा दिशो दश ।
प्रशान्तं च क्षणेनैव देवदेवस्य मायया ॥ ११४ ॥

इतने ही समयमें जो तेज दसों दिशाओंमें व्याप्त हुआ था, देवाधिदेव महादेवकी माया के प्रभावसे मुहूर्तकालके बीचमें सब दिशाओंमें प्रशान्त हुआ ॥ ११४ ॥

अथापश्यं स्थितं स्थाणुं भगवन्तं महेश्वरम् ।
सौरभेयगतं सौम्यं विधूममिव पावकम् ।
सहितं चारुसर्वाङ्ग्या पार्वत्या परमेश्वरम् ॥ ११५ ॥

अनन्तर मैंने धूमरहित अग्निकी भांति सौम्यदर्शन, मनोहर सर्वांगी पार्वतीके सहित भगवान् महेश्वरको स्थिर भावसे सौरमेय वृषभपर स्थित देखा ॥ ११५ ॥

नीलकण्ठं महात्मानमसक्तं तेजसां निधिम् ।
अष्टादशभुजं स्थाणुं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ११६ ॥

नीलकण्ठ, महानुभाव, असक्त, तेजके निधि, अठारह भुजावाले और सब आभूषणोंसे भूषित वे भगवान् स्थाणु थे ॥ ११६ ॥

शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम् ।
शुक्लध्वजमनाधृष्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥ ११७ ॥

सफेद वस्त्र और श्वेतमालाधारी, सफेद ध्वजावाले, अजेय और श्वेत रंगका यज्ञोपवीत धारण करनेवाले भगवान् स्थाणु महेश्वर परमेश्वरका मैंने दर्शन किया ॥ ११७ ॥

गायद्भिर्नृत्यमानैश्च उत्पतद्भिरितस्ततः ।
वृतं पारिषदैर्दिव्यैरात्मतुल्यपराक्रमैः ॥ ११८ ॥

वे आत्मतुल्यपराक्रमी दिव्य अनुचरोंके द्वारा सब भांतिसे परिवृत थे; उनके वे अनुचर–परिषद सब ओर गाते, नाचते और कूदते थे ॥ ११८ ॥

बालेन्दुमुकुटं पाण्डुं शरच्चन्द्रमिवोदितम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥ ११९ ॥

बालेन्दुमुकुटवाले, श्वेत वर्णवाले देव मानो शरच्चन्द्रकी भांति उदित हुए। तीन उदित सूर्योंकी भांति उनके तीनों नेत्र प्रकाशमान थे ॥ ११९ ॥

अशोभत च देवस्य माला गात्रे सितप्रभे ।
जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता ॥ १२० ॥
उस देवके उज्ज्वल प्रभाववाले गौर शरीरमें सुवर्णमय कमलोंसे ग्रथित रत्नभूषित माला शोभा पा रही थी ॥ १२० ॥

मूर्तिमन्ति तथास्त्राणि सर्वतेजोमयानि च ।
मया दृष्टानि गोविन्द भवस्यामिततेजसः ॥ १२१ ॥
हे गोविंद ! मैंने अमित तेजस्वी महेश्वरके सर्वतेजोमय मूर्तिमान अस्त्रोंको अवलोकन किया था ॥ १२१ ॥

इन्द्रायुधसहस्राभं धनुस्तस्य महात्मनः ।
पिनाकमिति विख्यातं स च वै पन्नगो महान् ॥ १२२ ॥
उस महात्माका इन्द्र धनुषके समान वर्णवाला धनुष जो पिनाक नामसे विख्यात है, वह महान् सर्पके रूपमें प्रकट हुआ था ॥ १२२ ॥

सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्बणः ।
ज्यावेष्टितमहाग्रीवः स्थितः पुरुषविग्रहः ॥ १२३ ॥
वह सात फेनवाला, महाकाय, तीक्ष्णदन्त और विषके कारण मत्त था; उसकी महान् ग्रीवा प्रत्यञ्चासे वेष्टित थी । वह पुरुष शरीर धारण करके स्थित था ॥ १२३ ॥

शरश्च सूर्यसंकाशः कालानलसमद्युतिः ।
यत्तदस्त्रं महाघोरं दिव्यं पाशुपतं महत् ॥ १२४ ॥
और प्रलयकालकी अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशमान भगवानका बाण था । यही अत्यंत भयंकर महान् दिव्य, पाशुपत अस्त्र था ॥ १२४ ॥

अद्वितीयमनिर्देश्यं सर्वभूतभयावहम् ।
सस्फुलिङ्गं महाकायं विसृजन्तमिवानलम् ॥ १२५ ॥
वह अद्वितीय, निरुपम, सर्वभूतोंको भय देनेवाला और महाकाय था, और मानो अपने मुखसे अङ्गारके सहित अग्निकी वर्षा कर रहा था ॥ १२५ ॥

एकपादं महादंष्ट्रं सहस्रशिरसोदरम् ।
सहस्रभुजजिह्वाक्षमुद्गिरन्तमिवानलम् ॥ १२६ ॥
वह एक चरणवाला, महादंष्ट्र, सहस्रशिर, सहस्रोदर, सहस्रभुज, सहस्रजिह्व और सहस्रनेत्र रूपसे आग उगल रहा था ॥ १२६ ॥

ब्राह्मान्नारायणादैन्द्राद्वाग्नेयादपि वारुणात् ।
यद्विशिष्टं महाबाहो सर्वशस्त्रविघातनम् ॥ १२७ ॥

हे महाबाहो ! वह पाशुपत अस्त्र ब्राह्म, नारायण, ऐन्द्र, आग्नेय और वारुण अस्त्रसे भी श्रेष्ठ और सर्वशस्त्रविघातक था ॥ १२७ ॥

येन तत्त्रिपुरं दग्ध्वा क्षणाद्भस्मीकृतं पुरा ।
शरेणैकेन गोविन्द महादेवेन लीलया ॥ १२८ ॥

हे गोविन्द ! महादेवने लीलापूर्वक उसीसे एक मात्र बाणके सहारे क्षणभरमें दैत्योंके तीनों पुरोंको जलाके भस्मीभूत किया था ॥ १२८ ॥

निर्ददाह जगत्कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
महेश्वरभुजोत्सृष्टं निमेषार्धान्न संशयः ॥ १२९ ॥

वही अस्त्र यदि महादेवकी भुजाओंसे छूटे तो अर्द्धनिमेषमें चराचर प्राणियों सहित, सब त्रिलोकीको निःसन्देह भस्म कर देगा ॥ १२९ ॥

नावध्यो यस्य लोकेऽस्मिन्ब्रह्मविष्णुसुरेष्वपि ।
तदहं दृष्टवांस्तात आश्चर्याद्भुतमुत्तमम् ॥ १३० ॥

इस लोकमें ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंके बीच जिससे कोई भी अवध्य नहीं है; हे तात ! मैंने उस उत्तम आश्चर्यमय और अद्भुत अस्त्रको देखा था ॥ १३० ॥

गुह्यमस्त्रं परं चापि तत्तुल्याधिकमेव वा ।
यत्तच्छूलमिति ख्यातं सर्वलोकेषु शूलिनः ॥ १३१ ॥

उसके समान अथवा उससे श्रेष्ठ, गुह्यतर और एक दूसरा परम अस्त्र मैंने देखा, जो कि सब लोकोंमें त्रिशूलधारी महादेवका त्रिशूल कहके विख्यात है ॥ १३१ ॥

दारयेद्यन्महीं कृत्स्नां शोषयेद्वा महोदधिम् ।
संहरेद्वा जगत्कृत्स्नं विसृष्टं शूलपाणिना ॥ १३२ ॥

वह शूलपाणि महादेवके हाथसे छूटनेपर समस्त पृथ्वीमण्डलको विदारण, समुद्रको शोषण और समस्त जगत्को नष्ट कर सकता है ॥ १३२ ॥

यौवनाश्वो हतो येन मांधाता सबलः पुरा ।
चक्रवर्ती महातेजास्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ १३३ ॥

पहले समयमें जिस शूलसे चक्रवर्ती महातेजस्वी, त्रिलोकविजयी राजा मान्धाता सेनाके सहित मारे गये थे ॥ १३३ ॥

महाबलो महावीर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः ।
करस्थेनैव गोविन्द लवणस्येह रक्षसः ॥ १३४ ॥

गोविन्द ! वह राजा महाबलवान्, महान् वीर्यशाली और इन्द्रके समान पराक्रमी था । वह अस्त्र लवण राक्षसके हाथसे छूटा ही नहीं था, कि राजाका नाश हो गया ॥ १३४ ॥

तच्छूलमतितीक्ष्णाग्रं सुभीमं लोमहर्षणम् ।
त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा तर्जमानमिव स्थितम् ॥ १३५ ॥

उसका अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण है; वह महाभयङ्कर और रोमांचकारी है; मानो वह अपनी भौंहें तीन जगह टेढी करके डांट रहा है ॥ १३५ ॥

विधूमं सार्चिषं कृष्णं कालसूर्यमिवोदितम् ।
सर्पहस्तमनिर्देश्यं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
दृष्टवानस्मि गोविन्द तदस्त्रं रुद्रसंनिधौ ॥ १३६ ॥

हे श्रीकृष्ण ! धूमरहित, ज्वालाओं सहित काला वह अस्त्र प्रलयकालके सूर्यकी भांति उदित हुआ था; वह हाथमें सर्पलिये अवर्णनीय शक्तिमान् पाशधारी यमके समान मालूम होता था; भगवान् रुद्रके निकट मैंने उसको देखा था ॥ १३६ ॥

परशुस्तीक्ष्णधारश्च दत्तो रामस्य यः पुरा ।
महादेवेन तुष्टेन क्षत्रियाणां क्षयंकरः ।
कार्तवीर्यो हतो येन चक्रवर्ती महामृधे ॥ १३७ ॥

हे गोविन्द ! पहले महादेवने प्रसन्न होके परशुरामको जो क्षत्रियोंका नाशक तीक्ष्ण धारावाला परशु प्रदान किया था, जिसके द्वारा महासंग्राममें चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य मारा गया था, उसे मैंने उनके निकट देखा था ॥ १३७ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता ।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १३८ ॥

हे गोविन्द ! अक्लिष्टकर्मा जमदग्नि पुत्र परशुरामने उसके सहारे इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया था ॥ १३८ ॥

दीप्तधारः सुरौद्रास्यः सर्पकण्ठाग्रवेष्टितः ।
अभवच्छूलिनोऽभ्याशे दीप्तवह्निशिखोपमः ॥ १३९ ॥

वह तीक्ष्ण धारसे चमकनेवाला, भयंकर मुखवाला और सर्पयुक्त कण्ठवाले महादेवके कण्ठके अग्रभागमें स्थित था । प्रज्वलित अग्नियोंके समान वह परशु शूलधारी भगवान् शंकरके समीप था ॥ १३९ ॥

असंख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः ।
प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥ १४० ॥

हे अनघ ! उस धीमान् भगवान्‌के निकट और भी अनगिनत दिव्य अस्त्र थे, तुमसे मैंने इन मुख्य अस्त्रोंका विषय वर्णन किया है ॥ १४० ॥

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजवम् ॥ १४१ ॥

उस देवके दाहिनी ओर लोकपितामह ब्रह्मा हंसयुक्त मनके समान वेगशाली दिव्य विमानमें स्थित थे ॥ १४१ ॥

वामपार्श्वगतश्चैव तथा नारायणः स्थितः ।
वैनतेयं समास्थाय शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४२ ॥

और बाईं ओर शंखचक्रगदाधारी भगवान् नारायण गरुडपर विराजमान थे ॥ १४२ ॥

स्कन्दो मयूरमास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः ।
शक्तिं कण्ठे समादाय द्वितीय इव पावकः ॥ १४३ ॥

पार्वती देवीके निकट द्वितीय अग्निकी भांति स्कन्द कण्ठमें शक्ति धारण करके मयूरपर निवास करते थे ॥ १४३ ॥

पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम् ।
शूलं विष्टभ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शंकरम् ॥ १४४ ॥

महादेवके सम्मुख द्वितीय शङ्करकी भांति शूल ग्रहण करके खडे हुए नन्दीको मैंने देखा ॥ १४४ ॥

स्वायंभुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा ।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्व एव समभ्ययुः ॥ १४५ ॥

स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषि और इन्द्र आदि सब देवता उस स्थानमें उपस्थित थे ॥ १४५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।
अस्तुवन्विविधैः स्तोत्रैर्महादेवं सुरास्तदा ॥ १४६ ॥

वे सब उस महात्मा महादेवको चारों ओरसे घेरके और प्रणाम करके स्थित थे। देवताओंने उस समय विविध स्तोत्रोंसे महादेवकी स्तुति की थी ॥ १४६ ॥

×

ब्रह्मा ऋचं तदा स्तुन्वन्नथन्तरमुदीरयन् ।
ज्येष्ठसाम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ।
गृणञ्छक्रः परं ब्रह्म शतरुद्रीयमुत्तमम् ॥ १४७ ॥

अनन्तर ब्रह्मा रथन्तर सामका उच्चारण करते हुए महेश्वरकी स्तुति करने लगे । नारायणने देवेश्वरको अत्यन्त प्रसन्न करनेके लिये ज्येष्ठ साम गान किया । देवराज उत्कृष्ट शतरुद्रियका सस्वर पाठ करते हुए परब्रह्मकी स्तुति करने लगे ॥ १४७ ॥

ब्रह्मा नारायणश्चैव देवराजश्च कौशिकः ।
अशोभन्त महात्मानस्त्रयस्त्रय इवाग्नयः ॥ १४८ ॥

ब्रह्मा, नारायण और देवराज इन्द्र—ये तीनों महानुभाव तीन अग्नियोंकी भाँति शोभित हुए ॥ १४८ ॥

तेषां मध्यगतो देवो रराज भगवाञ्शिवः ।
शारदाभ्रविनिर्मुक्तः परिविष्ट इवांशुमान् ।
ततोऽहमस्तुवं देवं स्तवेनानेन सुव्रतम् ॥ १४९ ॥

देवोंके देव भगवान् महेश्वर इनके बीचमें शरत्कालके बादलोंसे रहित परिवेष्टित सूर्यकी भाँति विराजमान थे । अनन्तर मैं सुव्रती प्रभु महादेवकी इस स्तोत्रसे स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ ॥ १४९ ॥

नमो देवाधिदेवाय महादेवाय वै नमः
शक्राय शक्ररूपाय शक्रवेषधराय च ॥ १५० ॥

तुम देवादिदेव हो, तुम्हें नमस्कार है; तुम महादेव हो, तुम्हें नमस्कार है; तुम शक्र, शक्ररूप, शक्रवेषधारी महादेव हो, इससे तुम्हें प्रणाम है ॥ १५० ॥

नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलायारुणाय च ।
पिनाकपाणये नित्यं खड्गशूलधराय च ॥ १५१ ॥

तुम वज्रहस्त, पिंगल, अरुण, पिनाकपाणि, सदा खड्ग और शूलधर हो, तुम्हें नमस्कार है ॥ १५१ ॥

नमस्ते कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे ।
कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च ॥ १५२ ॥

तुम काले वस्त्र और मस्तकपर काले घुंघराले केश धारण करनेवाले हो; तुम कृष्णाजिन-वस्त्रधारी, श्रीकृष्णाष्टमीव्रतमें रत हो, इससे तुम्हें नमस्कार है ॥ १५२ ॥

शुक्लवर्णाय शुक्लाय शुक्लाम्बरधराय च ।
शुक्लभस्मावलिप्ताय शुक्लकर्मरताय च ॥ १५३ ॥

तुम शुक्लवर्ण, शुक्ल, शुक्लाम्बरधर, श्वेतभस्मधारी और विशुद्ध कर्ममें रत हो, इससे तुम्हें प्रणाम है ॥ १५३ ॥

त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ।
आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यसे ॥ १५४ ॥

तुम सब देवताओंके बीच ब्रह्मा, रुद्रगणोंके बीच नीललोहित, सर्व प्राणियोंकी आत्मा और सांख्ययोगमें पुरुष रूपसे वर्णित हुआ करते हो ॥ १५४ ॥

ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः ।
आश्रमाणां गृहस्थस्त्वमीश्वराणां महेश्वरः ।
कुबेरः सर्वयक्षाणां क्रतूनां विष्णुरुच्यसे ॥ १५५ ॥

तुम पवित्र लोगोंके बीच ऋषभ, योगियोंमें निष्कल शिव, आश्रमी पुरुषोंमें गृहस्थ और ईश्वरोंमें महेश्वर हो; तुम सम्पूर्ण यक्षोंके बीच कुबेर हो, यज्ञोंमें विष्णु कहके वर्णित होते हो ॥ १५५ ॥

पर्वतानां महामेरुर्नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ।
वसिष्ठस्त्वमृषीणां च ग्रहाणां सूर्य उच्यसे ॥ १५६ ॥

तुम पर्वतोंमें महामेरु और नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमा हो, ऋषियोंमें वसिष्ठ और ग्रहोंके बीच सूर्य कहके अभिहित हुआ करते हो ॥ १५६ ॥

आरण्यानां पशूनां च सिंहस्त्वं परमेश्वरः ।
ग्राम्याणां गोवृषश्चासि भगवाँल्लोकपूजितः ॥ १५७ ॥

तुम जङ्गली पशुओंमें सिंह हो; तुम परमेश्वर हो; और ग्रामवासी पशुओंके बीच लोकपूजित भगवान् गौ–वृषभस्वरूप हो ॥ १५७ ॥

आदित्यानां भवान्विष्णुर्वसूनां चैव पावकः ।
पक्षिणां वैनतेयश्च अनन्तो भुजगेषु च ॥ १५८ ॥

तुम आदित्योंके बीच विष्णु, वसुओंमें अग्नि, पक्षियोंमें गरुड और सर्पोंके बीच अनन्त हो ॥ १५८ ॥

सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम् ।
सनत्कुमारो योगीनां सांख्यानां कपिलो ह्यसि ॥ १५९ ॥

वेदोंमें सामवेद, यजुर्वेदके बीच शतरुद्रिय, योगियोंमें सनत्कुमार और सांख्योंके बीच कपिलस्वरूप हो ॥ १५९ ॥

शक्रोऽसि मरुतां देव पितॄणां धर्मराडसि ।
ब्रह्मलोकश्च लोकानां गतीनां मोक्ष उच्यसे ॥ १६० ॥

हे देव ! तुम मरुद्गणोंमें इन्द्र तथा पितरोंमें यम हो, तुम लोकोंके बीच ब्रह्मलोक और गतियोंके बीच मोक्षरूपसे वर्णित हुआ करते हो ॥ १६० ॥

क्षीरोदः सागराणां च शैलानां हिमवान्गिरिः ।
वर्णानां ब्राह्मणश्चासि विप्राणां दीक्षितो द्विजः ।
आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च ॥ १६१ ॥

तुम समुद्रोंमें क्षीरसागर, पर्वतोंके बीच हिमालय, वर्णोंमें ब्राह्मण, विप्रोंके बीच दीक्षित ब्राह्मण हो; तुम सब लोकोंके आदिकर्ता और कालक्रमसे संहर्ता काल हो ॥ १६१ ॥

यच्चान्यदपि लोकेषु सत्त्वं तेजोधिकं स्मृतम् ।
तत्सर्वं भगवानेव इति मे निश्चिता मतिः ॥ १६२ ॥

लोकमें जो कुछ अधिक तेजसे युक्त सत्व है, वह सब ही भगवानका स्वरूप है, ऐसा ही मेरी बुद्धिमें निश्चय हुआ है ॥ १६२ ॥

नमस्ते भगवन्देव नमस्ते भक्तवत्सल ।
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसंभव ॥ १६३ ॥

हे भगवन् ! हे देव ! तुम्हें नमस्कार है; हे भक्तवत्सल ! तुम्हें प्रणाम है; हे योगेश्वर ! तुम्हें नमस्कार है । हे जगत्की सृष्टि करनेवाले ! तुम्हें प्रणाम करता हूं ॥ १६३ ॥

प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च ।
अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन ॥ १६४ ॥

मैं दीन कृपण तुम्हारा भक्त हूं, आप मुझपर प्रसन्न होइये । हे सनातन ! इस ऐश्वर्यरहित भक्तके गति होइये ॥ १६४ ॥

यं चापराधं कृतवानज्ञानात्परमेश्वर ।
मद्भक्त इति देवेश तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १६५ ॥

हे परमेश्वर ! हे देवेश ! मैंने अज्ञानके वशमें होकर जो कुछ अपराध किया हो, आपको मुझे अपना भक्त समझकर उस सबोंकी क्षमा करना उचित है ॥ १६५ ॥

मोहितश्चास्मि देवेश तुभ्यं रूपविपर्ययात् ।
तेन नार्घ्यं मया दत्तं पाद्यं चापि सुरेश्वर ॥ १६६ ॥

हे देवेश्वर ! मैं तुम्हारे रूप बदलनेके कारण मोहित हुआ था, सुरेश्वर ! इसही निमित्त मैं तुम्हें अर्घ्य पाद्य, प्रदान नहीं कर सका ॥ १६६ ॥

एवं स्तुत्वाहमीशानं पाद्यमर्घ्यं च भक्तितः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयम् ॥ १६७ ॥

इस ही प्रकार मैंने भगवान् महादेवकी स्तुति करके भक्तिभावसे पाद्य अर्घ्य आदि प्रदान किया; फिर दोनों हाथ जोड़कर उन्हें सब समर्पित किया ॥ १६७ ॥

ततः शीताम्बुसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विता ।
पुष्पवृष्टिः शुभा तात पपात मम मूर्धनि ॥ १६८ ॥

हे तात ! अनन्तर मेरे सिरपर शीतल जलसे पूरित दिव्य गन्धयुक्त शुभ पुष्पवृष्टि होने लगी ॥ १६८ ॥

दुन्दुभिश्च ततो दिव्यस्ताडितो देवकिंकरैः ।
ववौ च मारुतः पुण्यः शुचिगन्धः सुखावहः ॥ १६९ ॥

अनन्तर देवताओंके सेवक दिव्य दुन्दुभी बजाने लगे। पवित्र गन्धवाली सुखदायक पुण्यजनक वायु बहने लगी ॥ १६९ ॥

ततः प्रीतो महादेवः सपत्नीको वृषध्वजः ।
अब्रवीत्त्रिदशांस्तत्र हर्षयन्निव मां तदा ॥ १७० ॥

उसके अनन्तर सपत्नीक वृषभध्वज महादेव प्रसन्न होकर उस समय मानो मुझे हर्षित करते हुए समस्त देवताओंसे बोले ॥ १७० ॥

पश्यध्वं त्रिदशाः सर्वे उपमन्योर्महात्मनः ।
मयि भक्तिं परां दिव्यामेकभावादवस्थिताम् ॥ १७१ ॥

हे देववृन्द ! मेरे विषयमें महात्मा उपमन्युकी एकाग्र भावसे स्थित दिव्य परम भक्ति अवलोकन करो ॥ १७१ ॥

एवमुक्तास्ततः कृष्ण सुरास्ते शूलपाणिना ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥ १७२ ॥

हे श्रीकृष्ण ! जब शूलपाणिने देवताओंसे ऐसा कहा, तब वे सब हाथ जोडके वृषभध्वजको नमस्कार करके बोले ॥ १७२ ॥

भगवन्देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते ।
लभतां सर्वकामेभ्यः फलं त्वत्तो द्विजोत्तमः ॥ १७३ ॥

हे भगवन् ! हे देवदेवेश ! लोकनाथ ! जगतपति ! यह द्विजवर आपके निकटसे सब काम्य-मान फल लाभ करें ॥ १७३ ॥

एवमुक्तस्ततः शर्वः सुरैर्ब्रह्मादिभिस्तथा ।
आह मां भगवानीशः प्रहसन्निव शंकरः ॥ १७४ ॥

भगवान् शङ्कर महादेव ब्रह्मा प्रभृति देवताओंका ऐसा वचन सुनके हंसकर मुझसे कहने लगे ॥ १७४ ॥

वत्सोपमन्यो प्रीतोऽस्मि पश्य मां मुनिपुंगव ।
दृढभक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥ १७५ ॥

हे पुत्र मुनिपुंगव उपमन्यु ! मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम मेरा दर्शन करो । हे विप्रर्षि ! तुम मेरे दृढ भक्त हो; मैंने तुम्हारी परीक्षा कर ली है ॥ १७५ ॥

अनया चैव भक्त्या ते अत्यर्थं प्रीतिमानहम् ।
तस्मात्सर्वान्प्रदास्यामि कामांस्तव यथेप्सितान् ॥ १७६ ॥

तुम्हारी भक्तिके वशमें होकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं, इसलिये इस समय तुम्हारी जो कुछ अभिलाषा होगी, उन सब काम्य विषयोंको प्रदान करूंगा ॥ १७६ ॥

एवमुक्तस्य चैवाथ महादेवेन मे विभो ।
हर्षादश्रूण्यवर्तन्त लोमहर्षश्च जायते ॥ १७७ ॥

विभो ! श्रीमान् महादेवका ऐसा वचन सुनके हर्षपूर्वक मेरे नेत्रोंसे आंसू गिरने लगे और रोएं खडे होगये ॥ १७७ ॥

अब्रुवं च तदा देवं हर्षगद्गदया गिरा ।
जानुभ्यामवनिं गत्वा प्रणम्य च पुनः पुनः ॥ १७८ ॥

उस समय मैं दोनों जानु पृथ्वीपर स्थापित कर उस देवको बार बार प्रणाम करके हर्षित होकर गद्गद वचनसे कहने लगा ॥ १७८ ॥

अद्य जातो ह्यहं देव अद्य मे सफलं तपः ।
यन्मे साक्षान्महादेवः प्रसन्नस्तिष्ठतेऽग्रतः ॥ १७९ ॥

जब साक्षात् महादेव मेरे सामने प्रसन्न होकर खडे हैं, तब आजही मैंने जन्म ग्रहण किया है, आज मेरा तप सफल हो गया ॥ १७९ ॥

यं न पश्यन्ति चाराध्य देवा ह्यमितविक्रमम् ।
तमहं दृष्टवान्देवं कोऽन्यो धन्यतरो मया ॥ १८० ॥

देवता लोग आराधना करके भी जिस अमित पराक्रमी देवेश्वरका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होते, मैंने उसका प्रत्यक्ष दर्शन किया; इसलिये मुझसे बढकर और कौन धन्य पुरुष है ? ॥ १८० ॥

एवं ध्यायन्ति विद्वांसः परं तत्त्वं सनातनम् ।
षड्विंशकमिति ख्यातं यत्परात्परमक्षरम् ॥ १८१ ॥

विद्वान् लोग इस ही सम्मुखवर्ती मूर्त्तिरूप सनातन परम तत्त्वका ध्यान किया करते हैं। यह मूर्त्तिही देवान्तरकी अपेक्षा विशिष्ट मूर्ति होके भी परात्पर, अक्षर, षड्विंशक स्वरूपसे विख्यात है ॥ १८१ ॥

स एष भगवान्देवः सर्वतत्त्वादिरव्ययः ।
सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १८२ ॥

समस्त तत्त्वोंका आदिकारण, अव्यय, सर्वतत्त्वोंके विधानका ज्ञाता और प्रधान परम पुरुष है, यह वही भगवान् महादेव है ॥ १८२ ॥

योऽसृजद्दक्षिणादङ्गाद्ब्रह्माणं लोकसंभवम् ।
वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ।
युगान्ते चैव संप्राप्ते रुद्रमङ्गात्सृजत्प्रभुः ॥ १८३ ॥

इन्होंनेही अपने दाहिने अङ्गसे लोक-विधाता पितामह ब्रह्माको और बायें अंगसे लोकरक्षाके निमित्त विष्णुको उत्पन्न किया है और प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भगवान् शिव रुद्रको अपने अंगोंसे उत्पन्न करते है ॥ १८३ ॥

स रुद्रः संहरन्कृत्स्नं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
कालो भूत्वा महातेजाः संवर्तक इवानलः ॥ १८४ ॥

वही स्थावर-जंगममय समस्त जगत्का संवर्त्तक अग्निकी भांति महातेजस्वी कालस्वरूपसे संहार करता है ॥ १८४ ॥

एष देवो महादेवो जगत्सृष्ट्वा चराचरम् ।
कल्पान्ते चैव सर्वेषां स्मृतिमाक्षिप्य तिष्ठति ॥ १८५ ॥

यह महादेव चराचर जगत्की सृष्टि करता और कल्पान्तमें सबकी स्मृतिका लोप करके निवास करता है ॥ १८५ ॥

सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः ।
आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्यः सर्वदैवतैः ॥ १८६ ॥

यही सर्वत्र गमन करनेवाले, सर्वभूतात्मा, सर्वभूतोंके जन्म और वृद्धि करनेवाले, सदा सर्व-व्यापी होके भी सब देवताओंसे अदृश्य रहते हैं ॥ १८६ ॥

यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टश्च मे प्रभुः ।
भक्तिर्भवतु मे नित्यं शाश्वती त्वयि शंकर ॥ १८७ ॥

हे शंकर ! यदि तुम मुझपर प्रसन्न हुए हो, और मुझे वरदान करना उचित समझते हो, तो मैं यही वर मांगता हूं, कि तुम्हारे ऊपर मेरी सदा शाश्वत भक्ति बनी रहे ॥ १८७ ॥

अतीतानागतं चैव वर्तमानं च यद्विभो ।
जानीयामिति मे बुद्धिस्त्वत्प्रसादात्सुरोत्तम ॥ १८८ ॥

हे विभु ! हे सुरश्रेष्ठ ! भूत, वर्त्तमान और जो कुछ भविष्य हैं, उसे मैं तुम्हारी कृपासे जान सकूं, यही मेरी प्रार्थना है ॥ १८८ ॥

क्षीरोदनं च भुञ्जीयामक्षयं सह बान्धवैः ।
आश्रमे च सदा मह्यं सांनिध्यं परमस्तु ते ॥ १८९ ॥

और मैं अपने बान्धवोंके सहित अक्षय क्षीरोदनका भोजन करूं तथा मेरे आश्रममें सदा आपका निकट निवास रहे ॥ १८९ ॥

एवमुक्तः स मां प्राह भगवाँल्लोकपूजितः ।
महेश्वरो महातेजाश्चराचरगुरुः प्रभुः ॥ १९० ॥

लोकपूजित चराचरगुरु महातेजस्वी स्वामी भगवान् महेश्वर मेरी ऐसी प्रार्थना सुनके मुझसे बोले ॥ १९० ॥

अजरश्चामरश्चैव भव दुःखविवर्जितः ।
शीलवान्गुणसंपन्नः सर्वज्ञः प्रियदर्शनः ॥ १९१ ॥

हे द्विजवर ! तुम मेरी कृपासे दुःखसे रहित, अजर-अमर हो जाओ । तुम शीलवान, गुणवान्, सर्वज्ञ और प्रियदर्शन होगे ॥ १९१ ॥

अक्षयं यौवनं तेऽस्तु तेजश्चैवानलोपमम् ।
क्षीरोदः सागरश्चैव यत्र यत्रेच्छसे मुने ॥ १९२ ॥

तुम्हारा अग्निके समान तेज और यौवन अक्षय होवे । मुने ! तुम जहां जहां इच्छा करोगे, क्षीरसागर सुलभ होगा ॥ १९२ ॥

तत्र ते भविता कामं सांनिध्यं पयसो निधेः ।
क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम् ॥ १९३ ॥

वहां वहां तुम्हारी कामना सफल होगी और तुम्हें क्षीरसागरका सांनिध्य प्राप्त होगा । तुम अमृत सहित दूध-भातका भोजन पाते रहो ॥ १९३ ॥

बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि ।
सांनिध्यमाश्रमे नित्यं करिष्यामि द्विजोत्तम ॥ १९४ ॥

तुम बान्धवोंके सहित क्षीरोदनका एक कल्पतक भोजन करो। अनन्तर तुम मेरे निकट गमन करोगे । हे द्विजोत्तम ! मैं सदा तुम्हारे आश्रमके निकट रहूंगा ॥ १९४ ॥

तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।
स्मृतः स्मृतश्च ते विप्र सदा दास्यामि दर्शनम् ॥ १९५ ॥

हे पुत्र ! तुम इच्छानुसार निवास करो, कभी किसी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । विप्र ! तुम्हारे स्मरण करनेसे भी मैं तुम्हें दर्शन दूंगा ॥ १९५ ॥

एवमुक्त्वा स भगवान्सूर्यकोटिसमप्रभः ।
ममेशानो वरं दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ १९५ ॥

कोटिसूर्योंके समान तेजसे युक्त मेरे भगवान् शंकर ऐसा कहके वरदान देकर उस ही स्थानमें अन्तर्धान हो गये ॥ १९६ ॥

एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना ।
तदवाप्तं च मे सर्वं यदुक्तं तेन धीमता ॥ १९७ ॥

हे श्रीकृष्ण ! इस ही प्रकार समाधिके द्वारा मैंने देवोंके देव भगवान् महादेवका दर्शन प्राप्त किया । उन बुद्धिमानने जो कुछ कहा था, मुझे वह सब प्राप्त हुआ है ॥ १९७ ॥

प्रत्यक्षं चैव ते कृष्ण पश्य सिद्धान्व्यवस्थितान् ।
ऋषीन्विद्याधरान्यक्षान्गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ १९८ ॥

हे श्रीकृष्ण ! तुम यह सब प्रत्यक्ष देख लीजिये; यहां सिद्ध, ऋषि, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व और अप्सरावृन्द स्थित हैं ॥ १९८ ॥

पश्य वृक्षान्मनोरम्यान्सदा पुष्पफलान्वितान् ।
सर्वर्तुकुसुमैर्युक्तान्स्निग्धपत्रान्सुशाखिनः ।
सर्वमेतन्महाबाहो दिव्यभावसमन्वितम् ॥ १९९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ ७५६ ॥

देखिये, यहांके वृक्ष सदा मनोहर और फूल तथा फलोंसे भरे हुए हैं; ये सब ऋतुओंमें ही पुष्पोंसे युक्त, स्निग्ध पल्लवोंसे सम्पन्न और उत्तम शाखाओंसे युक्त हैं; हे महाबाहो ! भगवान् शंकरकी कृपासे यहां सब दिव्य भावसे सम्पन्न है ॥ १९९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ ७५६ ॥

: १५ :

उपमन्युरुवाच—

एतान्सहस्रशश्चान्यान्समनुध्यातवान्हरः ।
कस्मात्प्रसादं भगवान्न कुर्यात्तव माधव ॥ १ ॥

उपमन्यु बोले– हे माधव ! भगवान् भवानीपतिने यहां रहनेवाले इन सब तथा दूसरे सहस्रों पुरुषोंको कृपा करके अनुग्रहीत किया है, फिर तुम पर वे कृपा क्यों न करेंगे ? ॥१॥

त्वादृशेन हि देवानां श्लाघनीयः समागमः ।
ब्रह्मण्येनानृशंसेन श्रद्दधानेन चाप्युत ।
जप्यं च प्रदास्यामि येन द्रक्ष्यसि शंकरम् ॥ २ ॥

विशेष करके तुम्हारे समान श्रद्धावान्, ब्राह्मणभक्त और कोमल स्वभाववाले पुरुषके सङ्ग समागम होना देवताओंके लिये भी श्लाघनीय है । मैं तुम्हें जप करनेका मन्त्र प्रदान करता हूं, उसहीके द्वारा तुम महादेवका दर्शन करनेमें समर्थ होगे ॥ २ ॥

×

कृष्ण उवाच—

अब्रुवं तमहं ब्रह्मंस्त्वत्प्रसादान्महामुने ।
द्रक्ष्ये दितिजसंघानां मर्दनं त्रिदशेश्वरम् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण बोले— मैंने उनसे कहा, हे महामुनि ! मैं आपकी कृपासे दैत्यदलोंका मर्दन करनेवाले त्रिदशेश्वर महादेवका दर्शन करूंगा ॥ ३ ॥

दिनेऽष्टमे च विप्रेण दीक्षितोऽहं यथाविधि ।
दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखली तथा ॥ ४ ॥

आठवें दिन उस विप्रने मुझे विधिपूर्वक दीक्षा दी । दण्डधारी, मुण्डित सिर, कुशचीरधारी और घृताक्त होकर मेखला धारण किया ॥ ४ ॥

मासमेकं फलाहारो द्वितीयं सलिलाशनः ।
तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं चानिलाशनः ॥ ५ ॥

मैं एक महीनेतक फलाहार करके रहा, दूसरे महीनेमें जल पीके और तीसरे, चौथे तथा पांचवें महीनेतक वायु पीके निवास किया ॥ ५ ॥

एकपादेन तिष्ठंश्च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रितः ।
तेजः सूर्यसहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! मैं ऊर्ध्वबाहु और अतन्द्रित होकर एक पैरसे स्थित था; अनन्तर मैंने आकाशमण्डलमें सहस्र सूर्योंका तेज अवलोकन किया ॥ ६ ॥

तस्य मध्यगतं चापि तेजसः पाण्डुनन्दन ।
इन्द्रायुधपिनद्धाङ्गं विद्युन्मालागवाक्षकम् ।
नीलशैलचयप्रख्यं बलाकाभूषितं घनम् ॥ ७ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! उस तेजके बीचमें एक और तेजोमण्डल— जिसका अंग इंद्रधनुषसे परिवेष्टित था, विद्युन्माला उसमें झरोखेके समान थी,— दिखायी दिया। वह तेज नील पर्वत मण्डलकी भांति प्रकाशित होता था; और मेघ समुदाय बक पंक्तियोंसे विभूषितसा मालूम पडता था ॥ ७ ॥

तमास्थितश्च भगवान्देव्या सह महाद्युतिः ।
तपसा तेजसा कान्त्या दीप्तया सह भार्यया ॥ ८ ॥

महातेजस्वी भगवान् महेश्वर उसही तेजमण्डलमें तप, तेज, कान्ति और दीप्यमान पत्नी उमाके सहित विराजमान थे ॥ ८ ॥

रराज भगवांस्तत्र देव्या सह महेश्वरः ।
सोमेन सहितः सूर्यो यथा मेघस्थितस्तथा ॥ ९ ॥

उस नील तेजमें भगवान् महेश्वर पार्वतीके साथ स्थित होकर ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो चन्द्रमासे युक्त सूर्य मेघमण्डलमें विराजते हैं ॥ ९ ॥

संहृष्टरोमा कौन्तेय विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अपश्यं देवसंघानां गतिमार्तिहरं हरम् ॥ १० ॥

हे कुन्तीनन्दन ! मैंने रोमाञ्चित शरीर और विस्मयोत्फुल्ल नेत्रसे समस्त देवताओंकी गति तथा सबका दुःख हरण करनेवाले महादेवका दर्शन किया ॥ १० ॥

किरीटिनं गदिनं शूलपाणिं व्याघ्राजिनं जटिलं दण्डपाणिम् ।
पिनाकिनं वज्रिणं तीक्ष्णदंष्ट्रं शुभाङ्गदं व्यालयज्ञोपवीतम् ॥ ११ ॥

मैंने देखा, कि ये ही किरीट मण्डित, गदा हाथमें लिये हुए, शूलपाणि, व्याघ्राम्बरधारी, सिर पर जटावाले, दण्डपाणि, पिनाकी, वज्री, तीक्ष्णदन्त, शुभाङ्गद, सर्पमय यज्ञोपवीत धारण करनेवाले ॥ १२ ॥

दिव्यां मालामुरसानेकवर्णां समुद्वहन्तं गुल्फदेशावलम्बाम् ।
चन्द्रं यथा परिविष्टं ससंध्यं वर्षात्यये तद्वदपश्यमेनम् ॥ १२ ॥

वे वक्षःस्थलपर गुल्फ (घुटनों) पर्यन्त अनेक वर्णकी दिव्यमाला धारण किये हुए थे; जैसे शरद् ऋतुमें संध्याके समय घेरेसे घिरे हुए चन्द्रमा दीखता है, उसी प्रकार मैंने उन भगवान्का दर्शन किया ॥ १२ ॥

प्रमथानां गणैश्चैव समन्तात्परिवारितम् ।
शरदीव सुदुष्प्रेक्ष्यं परिविष्टं दिवाकरम् ॥ १३ ॥

परिधिसे घिरे हुए शरत्कालके दुष्प्रेक्ष्य, प्रकाशमान सूर्यकी भांति भूतगणोंसे सब ओरसे घिरे महादेव अत्यंत कठिनाईसे देखे जाते थे ॥ १३ ॥

एकादश तथा चैनं रुद्राणां वृषवाहनम् ।
अस्तुवन्नियतात्मानः कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार मनको वशमें रखनेवाले ग्यारह रुद्रगण कर्मसे सदा शुभ कर्मशील उस वृषभवाहन महेश्वरकी स्तुति करते थे ॥ १४ ॥

आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ ।
विश्वाभिः स्तुतिभिर्देवं विश्वदेवं समस्तुवन् ॥ १५ ॥

आदित्य गण, वसु, साध्य, विश्वेदेव और दोनों अश्विनीकुमार विश्वस्तुतिके सहारे उस विश्वेश्वरकी आराधना करते थे ॥ १५ ॥

शतक्रतुश्च भगवान्विष्णुश्चादितिनन्दनौ ।
ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिके ॥ १६ ॥

अदिति–नन्दन इन्द्र, भगवान् विष्णु और ब्रह्मा महादेवके निकट रथन्तर सामगान करते थे ॥ १६ ॥

योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम् ।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै ॥ १७ ॥

बहुतेरे योगेश्वरवृन्द, पुत्रोंके सहित ब्रह्मर्षि और देवर्षि भी योगदाता, पिता एवं गुरु महादेवकी स्तुति करते थे ॥ १७ ॥

पृथिवी चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
मासार्धमासा ऋतवो रात्र्यः संवत्सराः क्षणाः ॥ १८ ॥

राजन् ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, नक्षत्र, ग्रह, मास, पक्ष, सब ऋतु, रात्रि, संवत्सर, क्षण ॥ १८ ॥

मुहूर्ताश्च निमेषाश्च तथैव युगपर्ययाः ।
दिव्या राजन्नमस्यन्ति विद्याः सर्वा दिशस्तथा ॥ १९ ॥

मुहूर्त्त, निमेष, युगपर्यय, दिव्य विद्याएं और सब दिशाएं ये सब शंकरको नमस्कार करते थे ॥ १९ ॥

सनत्कुमारो वेदाश्च इतिहासास्तथैव च ।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर ! सनत्कुमार, समस्त वेद, इतिहास, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु ॥ २० ॥

मनवः सप्तसोमश्च अथर्वा सबृहस्पतिः ।
भृगुर्दक्षः कश्यपश्च वसिष्ठः काश्य एव च ॥ २१ ॥

मनु, सप्त सोम, अथर्वा, बृहस्पति, भृगु, दक्ष, कश्यप, वसिष्ठ, काश्य, ॥ २१ ॥

छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः ।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्तिमन्ति युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

समस्त छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, अग्नि, हवि, यज्ञके मूर्त्तिमत् उपकरण तथा सब सामग्री ॥ २२ ॥

प्रजानां पतयः सर्वे सरितः पन्नगा नगाः ।
देवानां मातरः सर्वा देवपत्न्यः सकन्यकाः ॥ २३ ॥

समस्त प्रजाओंके स्वामी, नदियां, पन्नग और नगगण, देवगणोंकी माताएं, देवपत्नियां, देवकन्याएं ॥ २३ ॥

सहस्राणि मुनीनां च अयुतान्यर्बुदानि च ।
नमस्यन्ति प्रभुं शान्तं पर्वताः सागरा दिशः ॥ २४ ॥

सहस्रों, लाखों और अरबों मुनिवृन्द, पर्वत, समुद्र और सब दिशाएं– ये सब शान्त भगवान् शंकरको नमस्कार करते थे ॥ २४ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव गीतवादित्रकोविदाः ।
दिव्यतानेन गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतम् ।
विद्याधरा दानवाश्च गुह्यका राक्षसास्तथा ॥ २५ ॥

गीतवाद्यके जाननेवाले गन्धर्व तथा अप्सरागण दिव्य स्वरसे गान करती हुई अद्भुत विभु भवकी स्तुति कर रही थीं । विद्याधर, दानव, गुह्यक, राक्षस ॥ २५ ॥

सर्वाणि चैव भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
नमस्यन्ति महाराज वाङ्मनःकर्मभिर्विभुम् ।
पुरस्ताद्धिष्ठितः शर्वो ममासीत्त्रिदशेश्वरः ॥ २६ ॥

महाराज ! और स्थावर जङ्गम समस्त प्राणी वचन, मन और कर्मसे उस भगवान् महेश्वरको प्रणाम करते थे; देवेश्वर महादेव मेरे अगाडी स्थित थे ॥ २६ ॥

पुरस्ताद्धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानं च भारत ।
सप्रजापतिशक्रान्तं जगन्मामभ्युदैक्षत ॥ २७ ॥

हे भारत ! मेरे अगाडी महादेवको खडे हुए देखके ब्रह्मा प्रजापतिसे लेकर इन्द्र पर्यन्त सब जगत् मुझे देखने लगा ॥ २७ ॥

ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत्तदा ।
ततो मामब्रवीद्देवः पश्य कृष्ण वदस्व च ॥ २८ ॥

उस समय महादेवकी ओर देखनेका मेरा सामर्थ्य नहीं हुआ । अनन्तर भगवान् महेश्वर मुझसे बोले– हे श्रीकृष्ण ! तुम मेरा दर्शन करो और जो कुछ अभिलाष हो, वह मुझसे कहो ॥ २८ ॥

शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता उमाभवत् ।
ततोऽहमस्तुवं स्थाणुं स्तुतं ब्रह्मादिभिः सुरैः ॥ २९ ॥

मैंने जब सिर नीचा करके महादेवकी वन्दना की, तब उमादेवी प्रसन्न हुईं । अनन्तर मैंने ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा स्तवनीय महादेवकी स्तुति की ॥ २९ ॥

नमोऽस्तु ते शाश्वत सर्वयोने ब्रह्माधिपं त्वामृषयो वदन्ति ।
तपश्च सत्त्वं च रजस्तमश्च त्वामेव सत्यं च वदन्ति सन्तः ॥ ३० ॥

हे सबके कारण सनातन देव ! तुम्हें प्रणाम है; ऋषि लोग तुम्हें ब्रह्माके अधिपति कहते हैं; साधु लोग तुम्हें ही तप, सत्त्व, रज, तम और सत्यस्वरूप कहा करते हैं ॥ ३० ॥

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः ।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥ ३१ ॥

तुम ही ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, भव, धाता (ईश्वर), त्वष्टा (रूपनिर्माता), विधाता (धर्माधर्मरूपी कर्मफल देनेवाले) और तुम सर्वतोमुख प्रभु हो ॥ ३१ ॥

त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वमादिः सर्वभूतानां संहारश्च त्वमेव हि ॥ ३२ ॥

स्थावर जङ्गम समस्त प्राणी तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं; तुम ही सर्व भूतोंके आदि और तुम ही संहारक हो ॥ ३२ ॥

ये चेन्द्रियार्थाश्च मनश्च कृत्स्नं ये वायवः सप्त तथैव चाग्निः ।
ये वा दिविस्था देवताश्चापि पुंसां तस्मात्परं त्वामृषयो वदन्ति ॥ ३३ ॥

यहाँ जो सब इन्द्रियां, सम्पूर्ण मन और प्राण आदि सब वायु हैं, और गार्हपत्य, दक्षिण, आवहनीय, सभ्य, आवसथ्य, ये पांचों श्रौत, छठवीं स्मार्त्त, सातवीं लौकिक, ये सात प्रकारकी अग्नियां तथा आकाशमें स्थित जो स्तुतिके योग्य देवता और पुरुष हैं, उन सबसे परे आप हैं, ऐसा ऋषि लोग आपके विषयमें कहा करते हैं ॥ ३३ ॥

वेदा यज्ञाश्च सोमश्च दक्षिणा पावको हविः ।
यज्ञोपगं च यत्किंचिद्भगवांस्तदसंशयम् ॥ ३४ ॥

सब वेद, यज्ञ, सोम, दक्षिणा, अग्नि, हवि तथा जो कुछ यज्ञकी सामग्री हैं, भगवान् ही निःसंदेह उन सबके स्वरूप हैं ॥ ३४ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च व्रतानि नियमाश्च ये ।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव त्वदर्पणा ॥ ३५ ॥

यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत, नियम, लज्जा, कीर्ति, श्री, द्युति, तुष्टि और सिद्धि ये सभी तुम्हारे स्वरूप प्राप्तिके कारण हैं ॥ ३५ ॥

कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः ।
आधयो व्याधयश्चैव भगवंस्तनयास्तव ॥ ३६ ॥

हे भगवन् ! काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, स्तब्धता, मत्सरता, आधि और व्याधि, ये सब तुम्हारे अंश हैं ॥ ३६ ॥

कृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवोऽव्ययः ।
मनसः परमा योनिः स्वाभावश्चापि शाश्वतः ।
अव्यक्तः पावन विभो सहस्रांशो हिरण्मयः ॥ ३७ ॥

हे पावन ! विभो ! क्रिया, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव, अव्यय, मनका परम कारण, शाश्वत स्वभाव, अव्यक्त और हिरण्मय सूर्य आपही हैं ॥ ३७ ॥

आदिर्गुणानां सर्वेषां भवान्वै जीवनाश्रयः ।
महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विश्वः शंभुः स्वयंभुवः　　　　॥ ३८ ॥

आपही समस्त गुणोंके आदि और प्राणियोंके आश्रय हैं; महान्, आत्मा, मति, ब्रह्मा, विश्व, शम्भु, स्वयम्भू , ॥ ३८ ॥

बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित्ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ।
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यसे　　　　॥ ३९ ॥

बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, संवित्, ख्याति, धृति, स्मृति, आदि पर्यायवाचक शब्दोंके द्वारा वेदार्थ जाननेवाले पुरुषोंसे तुम ही वेदमें महान् आत्मा कहके वर्णित हुआ करते हो ॥३९॥

त्वां बुद्ध्वा ब्राह्मणो विद्वान्न प्रमोहं निगच्छति ।
हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिष्टुतः　　　　॥ ४० ॥

विद्वान् ब्राह्मण तुम्हें जानके मोहको सर्वथा नष्ट करता है । ऋषियोंके द्वारा प्रशंसित तुम ही सब प्राणियोंके हृदयमें वास करनेवाले क्षेत्रज्ञ हो ॥ ४० ॥

सर्वतःपाणिपादस्त्वं सर्वतोक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि　　　　॥ ४१ ॥

तुम्हारे हाथ और पैर सर्वत्र विद्यमान हैं । तुम्हारे नेत्र, सिर और मुख सब ओर विराजमान हैं; तुम सर्वत्र श्रुतिमान होकर सारे जगत्को व्याप्त करके स्थित रहे हो ॥ ४१ ॥

फलं त्वमसि तिग्मांशो निमेषादिषु कर्मसु ।
त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संस्थितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः　　　　॥ ४२ ॥

हे तिग्मांशो ! निमेष आदि जितने कर्म हैं, उनके फल तुम हो; तुमही सूर्यकी प्रभा और अग्निकी ज्वाला हो, तुम सबके हृदयस्थ पुरुष हो । तुम अणिमा (दुर्लक्ष्यतन्मात्र) हो, तुम लघिमा (त्रिविध परिच्छेदसे रहित) हो, तुम प्राप्तिस्वरूप ईशान और अव्यय ज्योति हो ॥ ४२ ॥

त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसंधा जितेन्द्रियाः　　　　॥ ४३ ॥

तुममें बुद्धि, मति और समस्त लोक स्थित होरहे हैं । जो लोग ध्याननिष्ठ, नित्य योगमें रत, सत्यसन्ध और जितेन्द्रिय हैं, वे तुममें ही संश्रित होरहे हैं ॥ ४३ ॥

यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं पुरुषं च विश्वरूपम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान्बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥ ४४ ॥

जो तुम्हें अपनी हृदय-गुहामें स्थित आत्मा, प्रभु, पुराण पुरुष, विशिष्टानुभव स्वरूप निष्कल ज्ञप्तिमात्र, हिरण्मय और बुद्धिमान पुरुषोंकी परम गतिके स्वरूपमें निश्चित भावसे जानता है, वही महाबुद्धिमान पुरुष बुद्धिको अतिक्रम करके परमात्मभावमें निवास किया करता है ॥ ४४ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं त्वां च मूर्तितः ।
प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥ ४५ ॥

विद्वान् पुरुष सातों सूक्ष्म विषयों अर्थात् महत्, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र और षडङ्ग अर्थात् सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति और अत्यन्त शक्तियुक्त तुम्हें मूर्त्तिमान रूपसे जानके और चित्तसत्त्वके आत्मभिन्नत्व रूपसे ज्ञापनरूपी विधिके अनुसार योगयुक्त होकर तुममें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४५ ॥

एवमुक्ते मया पार्थ भवे चार्तिविनाशने ।
चराचरं जगत्सर्वं सिंहनादमथाकरोत् ॥ ४६ ॥

हे पार्थ ! सब दुःखोंको दूर करनेवाले महादेवसे जब मैंने ऐसा कहा, उस समय चराचरोंसे युक्त समस्त जगत् सिंहनाद करने लगा ॥ ४६ ॥

सविप्रसंघाश्च सुरासुराश्च नागाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे महर्षयश्चैव तथा प्रणेमुः ॥ ४७ ॥

उस समय ब्राह्मणोंके समुदाय, देवता, असुर, नाग, पिशाच, पितर, पक्षीवृन्द, राक्षसगण, समस्त भूतगण तथा महर्षियोंने उन्हें प्रणाम किया ॥ ४७ ॥

मम मूर्ध्नि च दिव्यानां कुसुमानां सुगन्धिनाम् ।
राशयो निपतन्ति स्म वायुश्च सुसुखो ववौ ॥ ४८ ॥

मेरे सिरपर दिव्य सुगन्धियुक्त फूलोंकी वर्षा हुई और अत्यंत सुखदायक वायु बहने लगी ॥ ४८ ॥

निरीक्ष्य भगवान्देवीमुमां मां च जगद्धितः ।
शतक्रतुं चाभिवीक्ष्य स्वयं मामाह शंकरः ॥ ४९ ॥

अखिल जगत्का हित करनेवाले भगवान् शङ्करने उमादेवीकी ओर देखकर मुझे भी देखा; और इन्द्रको देखके स्वयं मुझसे कहने लगे ॥ ४९ ॥

विद्मः कृष्ण परां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीतिर्हि परमा त्वयि ॥ ५० ॥

हे शत्रुनिषूदन श्रीकृष्ण ! यह मैं जानता हूं कि मुझपर तुम्हारी परम भक्ति है; तुम अपना कल्याण साधन करो, तुमपर मेरी परम प्रीति उत्पन्न हुई है ॥ ५० ॥

वृणीष्वाष्टौ वरान्कृष्ण दातास्मि तव सत्तम ।
ब्रूहि यादवशार्दूल यानिच्छसि सुदुर्लभान् ॥ ५१ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ८०७ ॥

हे सत्तम श्रीकृष्ण ! तुम वर मांगो मैं तुम्हें आठ वर दूंगा । हे यादवश्रेष्ठ ! तुम जिन सब दुर्लभ वरोंके निमित्त इच्छा करते हो उन्हें मांगो ॥ ५१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पंद्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ८०७ ॥

: १६ :

कृष्ण उवाच—
मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजःसंनिचये ततः ।
परमं हर्षमागम्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले– अनन्तर मैंने मनको संयत करके परम हर्षसे सिर झुकाके उन्हें प्रणाम किया और तेजःपुञ्जमें स्थित भगवान्‌से कहा ॥ १ ॥

धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च ।
योगप्रियत्वं तव संनिकर्षं वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥ २ ॥

हे भगवन् ! मैं धर्ममें दृढबन्धन, युद्धमें शत्रुहनन, श्रेष्ठ यश, उत्तम बल, योगके सहित प्रियत्व, आपका सांनिध्य और दस हजार पुत्र– येही वर मांगता हूं ॥ २ ॥

एवमस्त्विति तद्वाक्यं मयोक्तः प्राह शंकरः ॥ ३ ॥

महादेव मेरी ऐसी प्रार्थना सुनके बोले– "ऐसा ही होवे ।" ॥ ३ ॥

ततो मां जगतो माता धरणी सर्वपावनी ।
उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः ॥ ४ ॥

अनन्तर जगन्माता, धरणी, सर्वपावनी, तपस्याकी निधि, भवानी उमादेवीने एकाग्र चित्त होकर मुझसे कहा ॥ ४ ॥

दत्तो भगवता पुत्रः साम्बो नाम तवानघ ।
मत्तोऽप्यष्टौ वरानिष्टान्गृहाण त्वं ददामि ते ।
प्रणम्य शिरसा सा च मयोक्ता पाण्डुनन्दन ॥ ५ ॥

हे पापरहित श्रीकृष्ण ! भगवानने तुम्हें सांब नामक पुत्र प्रदान किया । अब तुम निज अभिलषित आठ वर मुझसे भी मांगो, मैं तुम्हें वे वर देती हूं । हे पाण्डुनन्दन ! मैंने उस समय सिर झुकाके देवीको प्रणाम करके कहा ॥ ५ ॥

×

द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं शतं सुतानामुपभोगं परं च ।
कुले प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं शमप्राप्तिं प्रवृणे चापि दाक्ष्यम् ॥ ६ ॥

हे माता ! ब्राह्मणोंके विषयमें अक्रोध, पिताकी प्रसन्नता, शतपुत्र, परम भोग, कुलमें प्रीति, माताकी कृपा, शमप्राप्ति और कार्यमें दक्षताकी मैं प्रार्थना करता हूं ॥ ६ ॥

देव्युवाच—

एवं भविष्यत्यमरप्रभाव नाहं मृषा जातु वदे कदाचित् ।
भार्यासहस्राणि च षोडशैव तासु प्रियत्वं च तथाक्षयत्वम् ॥ ७ ॥

देवी उमा बोली– हे अमरोंके समान प्रभावशाली श्रीकृष्ण ! तुमने जो वर मांगा वह तुम्हें प्राप्त होगा; इसके अतिरिक्त मैं और भी आठ वर देती हूं; मैं कदापि मिथ्या नहीं कहती, इसलिये तुम भी महाप्रभावयुक्त होगे और मिथ्या न कहोगे; तुम्हारे सोलह हजार भार्या होंगी, उनका तुम्हारे प्रति प्रेम रहेगा और धनधान्य आदिका अक्षयत्व रहेगा ॥ ७ ॥

प्रीतिं चाग्र्यां बान्धवानां सकाशाद्ददामि ते वपुषः काम्यतां च ।
भोक्ष्यन्ते वै सप्ततिर्वै शतानि गृहे तुभ्यमतिथीनां च नित्यम् ॥ ८ ॥

तुम बन्धुबान्धवोंके निकट परम प्रीति प्राप्त करोगे; तुम्हारे शरीरकी कमनीयता होगी और तुम्हारे गृहमें प्रतिदिन सात हजार अतिथि भोजन करेंगे, मैंने तुम्हें यह आठ वर और प्रदान किया ॥ ८ ॥

वासुदेव उवाच—

एवं दत्त्वा वरान्देवो मम देवी च भारत ।
अन्तर्हितः क्षणे तस्मिन्सगणो भीमपूर्वज ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे भीमाग्रज भारत ! महादेव और देवी पार्वती इस ही प्रकार चौबीस वर देके उस ही समय निजगणोंके सहित अन्तर्द्धान हुए ॥ ९ ॥

एतदत्यद्भुतं सर्वं ब्राह्मणायातितेजसे ।
उपमन्यवे मया कृत्स्नमाख्यातं कौरवोत्तम । ॥ १० ॥

हे कौरवश्रेष्ठ ! यह अत्यन्त अद्भुत् समस्त विषय पहले मैंने महातेजस्वी ब्राह्मणश्रेष्ठ उपमन्युके समीप वर्णन किया था ॥ १० ॥

नमस्कृत्वा तु स प्राह देवदेवाय सुव्रत ।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ।
नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः ॥ ११ ॥

हे सुव्रत ! उन्होंने देवाधिदेव महादेवको नमस्कार करके कहा । दानके विषयमें महादेवके समान कोई नहीं है और न कोई पुरुष संग्राममें ही भगवान् महादेवके समान है । महादेवके समान कोई देवता नहीं है, महादेवके समान कोई गति नहीं है ॥ ११ ॥

ऋषिरासीत्कृते तात तण्डिरित्येव विश्रुतः ।
दश वर्षसहस्राणि तेन देवः समाधिना ।
आराधितोऽभूद्भक्तेन तस्योदर्कं निशामय ॥ १२ ॥

हे तात ! सत्ययुगमें तण्डिनामसे विख्यात एक ऋषि थे, उस भक्तने दस हजार वर्षोंतक ध्यान योगके सहारे एकाग्र होकर महादेवकी आराधना की थी, तपस्या पूर्ण होनेपर उन्हें जो फल प्राप्त हुआ उसे सुनो ॥ १२ ॥

स दृष्टवान्महादेवमस्तौषीच्च स्तवैर्विभुम् ।
पवित्राणां पवित्रस्त्वं गतिर्गतिमतां वर ।
अत्युग्रं तेजसां तेजस्तपसां परमं तपः ॥ १३ ॥

उन्होंने विभु महादेवका दर्शन किया और स्तुतियुक्त वचनसे उनका स्तव किया था। हे सर्वश्रेष्ठ प्रभु ! तुम पवित्रोंमें भी पवित्र और गतिशीलोंकी श्रेष्ठ गति हो; तेजस्वी पदार्थोंमें अत्यंत उग्र तेज अर्थात् प्रकाशक और समस्त तपस्याओंमें भी परम तप हो ॥ १३ ॥

विश्वावसुहिरण्याक्षपुरुहूतनमस्कृत ।
भूरिकल्याणद विभो पुरुसत्य नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

तुम गन्धर्वराज विश्वावसु, दैत्यराज हिरण्याक्ष और देवराज इन्द्रके नमस्कृत हो; हे मोक्षदाता विभु ! परम सत्य ! तुम्हें प्रणाम है ॥ १४ ॥

जातीमरणभीरूणां यतीनां यततां विभो ।
निर्वाणद सहस्रांशो नमस्तेऽस्तु सुखाश्रय ॥ १५ ॥

हे विभु ! तुम जन्म मरण–भीरु संसार बंधनसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करनेवाले यतियोंके निर्वाणदाता हो । हे सहस्रांशु ! हे सुखाश्रय ! तुम्हें प्रणाम है ॥ १५ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वां तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम् ॥ १६ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव और महर्षि लोग तुम्हें यथार्थ रूपसे नहीं जानते, तब मैं तुम्हें किस प्रकार जान सकूंगा ? ॥ १६ ॥

त्वत्तः प्रवर्तते कालस्त्वयि कालश्च लीयते ।
कालाख्यः पुरुषाख्यश्च ब्रह्माख्यश्च त्वमेव हि ॥ १७ ॥

तुमसे ही काल उत्पन्न होता है और उत्पन्न होके तुमहीमें लीन होता है । तुम ही काल, तुम ही पुरुष और तुम ही ब्रह्म–इन तीन नामोंसे निरूपित होते हैं ॥ १७ ॥

तानवस्ते स्मृतास्तिस्रः पुराणज्ञैः सुरर्षिभिः ।
अधिपौरुषमध्यात्ममधिभूताधिदैवतम् ।
अधिलोक्याधिविज्ञानमधियज्ञस्त्वमेव हि ॥ १८ ॥

पुराण जाननेवाले देवर्षि लोग तुम्हारा कालाख्य, पुरुषाख्य और ब्रह्माख्य अथवा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्राख्य– इन तीनों रूपोंको स्मरण किया करते हैं। शिरश्चरणादिमान् देहपर अधिकार करके जो विज्ञान प्रवृत्त होता है, तुम ही वह अधिपौरुष विज्ञान स्वरूप हो; देहमें अधर और हनुरूप वाक्सन्धिको अधिकार करके विवेक उत्पन्न होता है, तुम ही वह अध्यात्म स्वरूप हो। देहारम्भक भूतगण और प्राण तथा नेत्र आदि इन्द्रियोंको अवलम्बन करके जो विज्ञान होता है, तुम ही वह अधिभूत और अधिदैवत हो; तुम ही अधिलोकमें अधिविज्ञान और अधियज्ञ स्वरूप हो ॥ १८ ॥

त्वां विदित्वात्मदेहस्थं दुर्विदं दैवतैरपि ।
विद्वांसो यान्ति निर्मुक्ताः परं भावमनामयम् ॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुष तुम्हें देवताओंसे भी दुर्विज्ञेय, शरीरमें स्थित अन्तर्यामी आत्माके रूपमें जानके निर्मुक्त होके अनामय परम भावको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अनिच्छतस्तव विभो जन्ममृत्युरनेकतः ।
द्वारं त्वं स्वर्गमोक्षाणामाक्षेप्ता त्वं ददासि च ॥ २० ॥

हे विभु ! यदि तुम कृपा करके जीवका उद्धार करनेकी इच्छा नहीं करते तो तुम उसको आकर्षण करके बार बार जन्म और मृत्युके मुखमें प्रेरणा दिया करते हो। तुम ही स्वर्ग और मोक्षके द्वार हो; तुम ही उनकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाले हो और तुम ही ये दोनों प्रदान करते हो ॥ २० ॥

त्वमेव मोक्षः स्वर्गश्च कामः क्रोधस्त्वमेव हि ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव अधश्चोर्ध्वं त्वमेव हि ॥ २१ ॥

तुम ही स्वर्ग और मोक्ष हो; तुम ही काम और क्रोधस्वरूप हो; तुम ही सत्त्व, रज और तमोगुणस्वरूप हो, तुम ही अधो लोक और ऊर्ध्व लोक हो ॥ २१ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्देन्द्रौ सविता यमः ।
वरुणेन्दू मनुर्धाता विधाता त्वं धनेश्वरः ॥ २२ ॥

तुम ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, स्कन्द, इंद्र, सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, मनु, धाता, विधाता और कुबेर हो ॥ २२ ॥

भूर्वायुर्ज्योतिरापश्च वाग्बुद्धिस्त्वं मतिर्मनः ।
कर्म सत्यानृते चोभे त्वमेवास्ति च नास्ति च ॥ २३ ॥
तुम ही पृथ्वी, वायु, ज्योति, जल, वाणी, बुद्धि, मति और मन हो; तुम ही कर्म, सत्य, असत्य और आस्ति–नास्ति भी हो ॥ २३ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ।
विश्वाविश्वपरो भावश्चिन्त्याचिन्त्यस्त्वमेव हि ॥ २४ ॥
तुम ही इन्द्रियां, इन्द्रियोंके विषय, प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ और निश्चल हो । तुम कार्यकारणके भिन्नभाव सत्तामात्र स्वरूप हो; तुम सोपाधिक रूपसे चिन्तनीय और निरूपाधिभावसे अचिन्त्य हो ॥ २४ ॥

यच्चैतत्परमं ब्रह्म यच्च तत्परमं पदम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां स भवानात्र संशयः ॥ २५ ॥
जिसे परब्रह्म तथा जिसे परम पद कहते हैं और जो सांख्य योगियोंकी परम गति है, वह तुम ही हो; इसमें सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥

नूनमद्य कृतार्थाः स्म नूनं प्राप्ताः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्राप्नुवन्तीह ज्ञाननिर्मलबुद्धयः ॥ २६ ॥
ज्ञानके सहारे जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है, वे जिस गतिकी प्राप्ति करते हैं, हम वही साधुओंकी गतिको प्राप्त हुए है, अब हम निश्चय ही कृतार्थ होगये ॥ २६ ॥

अहो मूढाः स्म सुचिरमिमं कालमचेतसः ।
यन्न विद्मः परं देवं शाश्वतं यं विदुर्बुधाः ॥ २७ ॥
पण्डित लोग जिसे शाश्वत कहते हैं, हमने जो इतने समयतक उस परम देवको नहीं जाना, इससे हम अवश्य ही दीर्घकालतक अचेतन और मूढ थे ॥ २७ ॥

सोऽयमासादितः साक्षाद्बहुभिर्जन्मभिर्मया ।
भक्तानुग्रहकृद्देवो यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २८ ॥
भक्तोंपर कृपा करनेवाले, जिस देवके जाननेसे लोग अमृतत्वका लाभ करते हैं, मैंने अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे यह आपको साक्षात् प्राप्त किया है ॥ २८ ॥

देवासुरमनुष्याणां यच्च गुह्यं सनातनम् ।
गुहायां निहितं ब्रह्म दुर्विज्ञेयं सुरैरपि ॥ २९ ॥
देवता, असुर और मनुष्योंके लिये भी जो सनातन ब्रह्म गुह्य है, जो हृदय गुहामें स्थित रहकर देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है, वह वही भगवान है ॥ २९ ॥

स एष भगवान्देवः सर्वकृत्सर्वतोमुखः ।
सर्वात्मा सर्वदर्शी च सर्वगः सर्ववेदिता ॥ ३० ॥

यह देव सर्वकृत्, सर्वतोमुख, सर्वात्मा, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ भगवान् है ॥ ३० ॥

प्राणकृत्प्राणभृत्प्राणी प्राणदः प्राणिनां गतिः ।
देहकृद्देहभृद्देही देहभुग्देहिनां गतिः ॥ ३१ ॥

तुमही प्राणकृत्, प्राणभृत्, प्राणी, प्राणदाता और प्राणियोंकी गति है। देहकृत्, देहभृत्, देही, देहभुक् और देहधारियोंकी गति है ॥ ३१ ॥

अध्यात्मगतिनिष्ठानां ध्यानिनामात्मवेदिनाम् ।
अपुनर्मारकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥ ३२ ॥

अभिलषित विषयोंकी अध्यातम गति और ध्याननिष्ठ आत्मज्ञ तथा फिर मारकी इच्छा न करनेवाले मनुष्योंकी जो गति है, यह वही ईश्वर है ॥ ३२ ॥

अयं च सर्वभूतानां शुभाशुभगतिप्रदः ।
अयं च जन्ममरणे विदध्यात्सर्वजन्तुषु ॥ ३३ ॥

यही सब प्राणियोंको शुभ और अशुभ गतिदाता है और यही सब जीवोंके जन्म और मृत्युका विधान करता है ॥ ३३ ॥

अयं च सिद्धिकामानामृषीणां सिद्धिदः प्रभुः ।
अयं च मोक्षकामानां द्विजानां मोक्षदः प्रभुः ॥ ३४ ॥

यहां सिद्धि मुक्तिकी इच्छा करनेवाले ऋषियोंको सिद्धि देनेवाला प्रभु है; यही मोक्षकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणोंको मोक्ष प्रदान करनेवाला प्रभु है ॥ ३४ ॥

भूराद्यान्सर्वभुवनानुत्पाद्य सदिवौकसः ।
बिभर्ति देवस्तनुभिरष्टाभिश्च ददाति च ॥ ३५ ॥

यह देव देवताओंके सहित पृथ्वी आदि सब लोकोंको उत्पन्न करके आठ मूर्तियोंके द्वारा उसका पालन और प्रदान करता है ॥ ३५ ॥

अतः प्रवर्तते सर्वमस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
अस्मिंश्च प्रलयं याति अयमेकः सनातनः ॥ ३६ ॥

इसहीसे सब जगत् उत्पन्न होके इसहीमें प्रतिष्ठित है और इसहीमें प्रलयके समय लीन होता है; केवल यह ईश्वर ही सनातन है ॥ ३६ ॥

अयं स सत्यकामानां सत्यलोकः परः सताम् ।
अपवर्गश्च मुक्तानां कैवल्यं चात्मवादिनाम् ॥ ३७ ॥

सत्यकी इच्छा करनेवाले साधुओंके येही केवल उत्तम सत्य लोक हैं और येही योगियोंके अपवर्ग (मोक्ष) और आत्मवित् पुरुषोंके कैवल्य स्वरूप हैं ॥ ३७ ॥

अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धैर्गुहायां गोपितः प्रभुः ।
देवासुरमनुष्याणां न प्रकाशो भवेदिति ॥ ३८ ॥

इस प्रभुका देवता, असुर और मनुष्योंको पता न लगे, इस ही लिये ब्रह्मा आदि मन्त्र-व्याख्याता सिद्धोंके द्वारा शास्त्रस्वरूप गुहामें छिपा रखा है ॥ ३८ ॥

तं त्वां देवासुरनरास्तत्त्वेन न विदुर्भवम् ।
मोहिताः खल्वनेनैव हृच्छयेन प्रवेशिताः ॥ ३९ ॥

देवता, असुर और मनुष्य लोग यथार्थरूपसे आप महादेवको जाननेमें समर्थ नहीं हैं। हृदयस्थ ही रहनेवाले इस ईश्वरके द्वारा सभी मोहित और प्रवेशित हो रहे हैं ॥ ३९ ॥

ये चैनं संप्रपद्यन्ते भक्तियोगेन भारत ।
तेषामेवात्मनात्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥ ४० ॥

हे भारत ! जो लोग भक्तिभावसे ध्यान करके इसकी शरण लेते हैं, यह हृदयरूपी गुफामें शयन करनेवाला भगवान् उन्हें स्वयं ही दर्शन देता है ॥ ४० ॥

यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणं चापि विद्यते ।
यं विदित्वा परं वेद्यं वेदितव्यं न विद्यते ॥ ४१ ॥

जिसे जाननेसे फिर जन्म और मृत्यु नहीं होती, जिस परम वेद्य परमेश्वरके जाननेसे फिर कुछ भी जाननेके लिये शेष नहीं रहता, ॥ ४१ ॥

यं लब्ध्वा परमं लाभं मन्यते नाधिकं पुनः ।
प्राणसूक्ष्मां परां प्राप्तिमागच्छत्यक्षयावहाम् ॥ ४२ ॥

जिसे पाके विद्वान् पुरुष फिर बडे लाभको अधिक नहीं समझता, परम सूक्ष्म प्राणकी प्राप्ति करके विद्वान् पुरुष अक्षय पदको प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः ।
सूक्ष्मज्ञानरताः पूर्वं ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥ ४३ ॥

सांख्य शास्त्र जाननेवाले गुणतत्त्वज्ञ सांख्यमतवाले पण्डित लोग सूक्ष्म तत्त्वको जाननेकी इच्छासे उसको जानके सब बन्धनोंसे छूट जाते हैं ॥ ४३ ॥

यं च वेदविदो वेद्यं वेदान्तेषु प्रतिष्ठितम् ।
प्राणायामपरा नित्यं यं विशन्ति जपन्ति च ॥ ४४ ॥

वेद जाननेवाले विद्वान् लोग जिसे वेद्य कहके जानते हैं, जो वेदान्त शास्त्रके बीच प्रतिष्ठित हो रहा है; सदा प्राणायाममें रत रहनेवाले मनुष्य जिसमें प्रवेश करते तथा जिसका जप करते हैं, वे महेश्वर हैं ॥ ४४ ॥

अयं स देवयानानामादित्यो द्वारमुच्यते ।
अयं च पितृयानानां चन्द्रमा द्वारमुच्यते ॥ ४५ ॥

यह वही देवयान पथका द्वार आदित्यरूपसे कहा गया है; यही पितृयानका द्वार चन्द्रमारूपसे अभिहित हुआ करता है ॥ ४५ ॥

एष कालगतिश्चित्रा संवत्सरयुगादिषु ।
भावाभावौ तदात्वे च अयने दक्षिणोत्तरे ॥ ४६ ॥

येही कालगति, नक्षत्र, संवत्सर और युगादि हैं, येही भावाभाव, तदात्व तथा दक्षिणायन और उत्तरायन स्वरूप हैं ॥ ४६ ॥

एवं प्रजापतिः पूर्वमाराध्य बहुभिः स्तवैः ।
वरयामास पुत्रत्वे नीललोहितसंज्ञितम् ॥ ४७ ॥

पहले प्रजापतिने अनेक स्तोत्रोंसे इसी नीललोहित नामवाले भगवानकी अनेक भांतिसे आराधना करके पुत्रोंके निमित्त वर मांगा था ॥ ४७ ॥

ऋग्भिर्यमनुशंसन्ति तन्त्रे कर्मणि बह्वृचः ।
यजुर्भिर्यं त्रिधा वेद्यं जुह्वत्यध्वर्यवोऽध्वरे ॥ ४८ ॥

ऋग्वेदके विद्वान् लोग तान्त्रिक कर्ममें ऋड्मन्त्रोंसे जिसका वर्णन प्रशंसित करते हैं; यजुर्वेद जाननेवाले अध्वर्युगण यज्ञमें श्रौत, स्मार्त्त और ध्यान, इन त्रिविध रूपोंसे वेद्य, जिसके निमित्त यजुर्मन्त्रोंके द्वारा होम किया करते हैं ॥ ४८ ॥

सामभिर्यं च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ।
यज्ञस्य परमा योनिः पतिश्चायं परः स्मृतः ॥ ४९ ॥

शुद्धबुद्धि सामवेदी ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंसे जिसका यश गाते हैं, जो यज्ञके परम कारण हैं, वे ये ही प्रभु यज्ञोंके परम पति माने जाते हैं ॥ ४९ ॥

रात्र्यहःश्रोत्रनयनः पक्षमासशिरोभुजः ।
ऋतुवीर्यस्तपोधैर्यो ह्यब्दगुह्योरुपादवान् ॥ ५० ॥

रात्रि तथा दिन इनके कर्ण और नेत्र हैं, पक्ष तथा महीना उनके शिर और भुजा हैं; ऋतु इनका वीर्य, तपस्या धैर्य और वर्ष इनके गुह्य, ऊरु और चरण हैं ॥ ५० ॥

मृत्युर्यमो हुताशश्च कालः संहारवेगवान् ।
कालस्य परमा योनिः कालश्चायं सनातनः ॥ ५१ ॥

मृत्यु, यम, अग्नि, संहारके लिये वेगवान् काल, कालकी परम योनि और सनातन काल—ये महादेव ही हैं ॥ ५१ ॥

चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ सग्रहौ सह वायुना ।
ध्रुवः सप्तर्षयश्चैव भुवनाः सप्त एव च ॥ ५२ ॥
येही चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, वायुके सहित समस्त ग्रह, ध्रुव, सप्तर्षि और सातों भुवन स्वरूप हैं ॥ ५२ ॥

प्रधानं महदव्यक्तं विशेषान्तं सवैकृतम् ।
ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तं भूतादि सदसच्च यत् ॥ ५३ ॥
येही प्रधान, महत्, अव्यक्त, विकारों सहित विशेषान्त, ब्रह्मादि, स्तम्ब पर्यन्त, सद्रूप भूमि, जल, अग्नि और असद्रूप वायु तथा आकाश स्वरूप हैं ॥ ५३ ॥

अष्टौ प्रकृतयश्चैव प्रकृतिभ्यश्च यत्परम् ।
अस्य देवस्य यद्भागं कृत्स्नं संपरिवर्तते ॥ ५४ ॥
येही भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन अष्ट प्रकृति स्वरूप और प्रकृतिसे भी मायावी तथा मायावीके अंश समस्त प्रपञ्च स्वरूप हैं ॥ ५४ ॥

एतत्परममानन्दं यत्तच्छाश्वतमेव च ।
एषा गतिर्विरक्तानामेष भावः परः सताम् ॥ ५५ ॥
येही आनन्दमय ईश्वरसे भी परम शुद्ध आनन्द स्वरूप और समस्त नित्य वस्तुओंसे भी नित्य हैं; येही विरक्तोंकी गति और साधुओंके परमभाव हैं ॥ ५५ ॥

एतत्पदमनुद्विग्नमेतद्ब्रह्म सनातनम् ।
शास्त्रवेदाङ्गविदुषामेतद्ध्यानं परं पदम् ॥ ५६ ॥
येही उद्वेगरहित परमपद स्वरूप तथा येही सनातन ब्रह्म हैं । शास्त्र और वेदाङ्ग जाननेवाले पुरुषोंके येही परमपदप्रापक ध्यानस्वरूप हैं ॥ ५६ ॥

इयं सा परमा काष्ठा इयं सा परमा कला ।
इयं सा परमा सिद्धिरियं सा परमा गतिः ॥ ५७ ॥
येही वह श्रुतिप्रसिद्ध परम काष्ठा हैं, येही वह परम कला हैं, येही वह परम सिद्धि और येही वह परम गति हैं ॥ ५७ ॥

इयं सा परमा शान्तिरियं सा निर्वृतिः परा ।
यं प्राप्य कृतकृत्याः स्म इत्यमन्यन्त वेधसः ॥ ५८ ॥
येही वह परम शान्ति तथा वह परम आनन्द हैं; योगी लोग जिसे पाके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ ५८ ॥

इयं तुष्टिरियं सिद्धिरियं श्रुतिरियं स्मृतिः ।
अध्यात्मगतिनिष्ठानां विदुषां प्राप्तिरव्यया ॥ ५९ ॥

ये वही तुष्टि, सिद्धि, श्रुति, अर्थात् श्रोत्रादि जनित अनुभूति और स्मृतिस्वरूप हैं । येही योगियोंकी अध्यात्मगति अर्थात् प्रत्येक प्रवलरूपवाली गतिस्वरूप हैं । येही विद्वान पुरुषोंकी अपुनरावर्त्तिनी प्राप्तिस्वरूप हैं ॥ ५९ ॥

यजतां यज्ञकामानां यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ।
या गतिर्दैवतैर्दिव्या सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६० ॥

बहुतसी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञके सहारे यजनशील कामनावान् मनुष्योंका जो देवताओंसे भी दिव्य गम्यस्थान है, हे सनातन ! तुम वह गति हो ॥ ६० ॥

जप्यहोमव्रतैः कृच्छ्रैर्नियमैर्देहपातनैः ।
तप्यतां या गतिर्देव वैराजे सा गतिर्भवान् ॥ ६१ ॥

हे देव ! जप, होम, व्रत, दुःखकर नियम और देहका पतन करते हुए तपस्या करनेवाले मनुष्योंको जो दिव्य गति प्राप्त होती है, तुम ही वह परम गति हो ॥ ६१ ॥

कर्मन्यासकृतानां च विरक्तानां ततस्ततः ।
या गतिर्ब्रह्मभवने सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६२ ॥

हे सनातन ! कर्मसंन्यासकारी तथा विरक्त पुरुषोंको ब्रह्मलोकमें जो गति प्राप्त होती है, तुम ही वह गम्यस्थान हो ॥ ६२ ॥

अपुनर्भारकामानां वैराग्ये वर्ततां परे ।
विकृतीनां लयानां च सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६३ ॥

जो लोग पुनः जन्मकी कामना नहीं करते और सदा वैराग्यके मार्गका अवलम्बन किया करते हैं, और जो विकृतिमें लयको प्राप्त होते हैं, उन्हें जो गति प्राप्त होती है, हे सनातन ! तुम ही वह गतिस्वरूप हो ॥ ६३ ॥

ज्ञानविज्ञाननिष्ठानां निरुपाख्या निरञ्जना ।
कैवल्या या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६४ ॥

हे देव ! ज्ञानविज्ञानमें निष्ठावाले पुरुषोंकी निरुपाख्य, निरञ्जन और कैवल्यरूपी जो गति हुआ करती है, तुम ही वह परम गतिस्वरूप हो ॥ ६४ ॥

वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः ।
त्वत्प्रसादाद्धि लभ्यन्ते न लभ्यन्तेऽन्यथा विभो ॥ ६५ ॥

विभो ! वेद, शास्त्र और पुराणोंमें ये पांच प्रकारकी गतियां कही जाती हैं, तुम्हारी कृपासे ही वे सब गतियां प्राप्त होती हैं, अन्यथा प्राप्त नहीं होतीं ॥ ६५ ॥

इति तण्डिस्तपोयोगात्तुष्टावेशानमव्ययम् ।
जगौ च परमं ब्रह्म यत्पुरा लोककृज्जगौ ॥ ६६ ॥

तपस्या और योगबलसे तण्डिमुनिने स्वयं इस ही प्रकार अव्यय ईशानदेवकी स्तुति की थी। पहिले समयमें प्रजापतिने जिस प्रकार परब्रह्मका यश गाया था, इन्होंने भी उसे ही अवलम्बन करके उस ही प्रकार यश गान किया ॥ ६६ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, विश्वेदेव और महर्षि लोग भी तुम्हें नहीं जानते, इस ही वचनसे भगवान् महादेव प्रसन्न होकर तण्डिसे कहने लगे ॥ ६७ ॥

अक्षयश्चाव्ययश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥ ६८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम अक्षय, अव्यय, दुःखरहित यशस्वी, तेज और दिव्यज्ञानसे युक्त होगे ।६८॥

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव ।
मत्प्रसादाद्द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः ॥ ६९ ॥

और मेरे प्रसादसे तुम्हारा पुत्र, जिसके पास ऋषि भी शिक्षा लेनेके लिये जायंगे ऐसा तथा सूत्रकर्ता होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ६९ ॥

कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद्वत्स काङ्क्षसे ।
प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥ ७० ॥

हे तात ! कहो, तुम्हें कौनसी अभिलाषा है? मैं इस समय तुम्हें वरदान करूंगा। तण्डिमुनि हाथ जोडके उस समय यह वचन बोले- हे देव ! तुममें मेरी दृढ भक्ति रहे ॥ ७० ॥

एवं दत्त्वा वरं देवो वन्द्यमानः सुरर्षिभिः ।
स्तूयमानश्च विबुधैस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७१ ॥

देवर्षियोंसे वन्दनीय और देवताओंसे स्तूयमान महादेव तण्डि मुनिको यह वरदान करके उस ही स्थानमें अन्तर्धान होगये ॥ ७१ ॥

अन्तर्हिते भगवति सानुगे यादवेश्वर ।
ऋषिराश्रममागम्य ममैतत्प्रोक्तवानिह ॥ ७२ ॥

हे यादवेश्वर ! जब भगवान सेवकोंके सहित अन्तर्हित हुए तब महर्षि तण्डिने इस आश्रममें आके मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा था ॥ ७२ ॥

यानि च प्रथितान्यादौ तण्डिराख्यातवान्मम ।
नामानि मानवश्रेष्ठ तानि त्वं शृणु सिद्धये ॥ ७३ ॥

आदिकालसे जो कुछ विदित हुआ था, तण्डि मुनिने वह सब मुझसे कहा । हे मनुजश्रेष्ठ ! उन्होंने भगवानके जिन नामोंका वर्णन किया था, तुम सिद्धिलाभके निमित्त वह सब सुनो ॥ ७३ ॥

दश नामसहस्राणि वेदेष्वाह पितामहः ।
शर्वस्य शास्त्रेषु तथा दश नामशतानि वै ॥ ७४ ॥

पितामह ब्रह्माने वेदोंमें भगवानके दस हजार नामोंका वर्णन किया था, और शास्त्रोंमें भी महादेवके सहस्र नाम विख्यात हैं ॥ ७४ ॥

गुह्यानीमानि नामानि तण्डिर्भगवतोऽच्युत ।
देवप्रसादाद्देवेश पुरा प्राह महात्मने ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ८८२ ॥

हे अच्युत ! हे देवेश ! पहले समयमें ब्रह्माने महादेवकी कृपासे महात्मा तण्डि मुनिके निकट जिन गुप्त नामोंका वर्णन किया था, उन्हीं सब नामोंको तण्डि मुनिने मुझसे बताया था ॥७५॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ८८२ ॥

: १७ :

वासुदेव उवाच—

ततः स प्रयतो भूत्वा मम तात युधिष्ठिर ।
प्राञ्जलिः प्राह विप्रर्षिर्नामसंहारमादितः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे तात युधिष्ठिर ! अनन्तर वह विप्रर्षि एकाग्र होकर हाथ जोडके मेरे समीप आदिसे नामसंग्रह कहने लगे ॥ १ ॥

उपमन्युरुवाच—

ब्रह्मप्रोक्तैर्ऋषिप्रोक्तैर्वेदवेदाङ्गसंभवैः ।
सर्वलोकेषु विख्यातैः स्थाणुं स्तोष्यामि नामभिः ॥ २ ॥

उपमन्यु बोले– मैं ब्रह्मा और ऋषियोंके द्वारा कहे हुए वेदवेदाङ्गोंसे प्रकट हुए नामोंसे सब लोकोंमें विख्यात स्तुतियोग्य महेश्वरकी स्तुति करूंगा ॥ २ ॥

महद्भिर्विहितैः सत्यैः सिद्धैः सर्वार्थसाधकैः ।
ऋषिणा तण्डिना भक्त्या कृतैर्देवकृतात्मना ॥ ३ ॥

इन सब सत्य, सिद्ध और सब इच्छाओंके साधक नामोंका विधान महात्मा लोगोंने किया और देवमें सम्पूर्ण श्रद्धा निष्ठा रखनेवाले महर्षि तण्डिने भक्तिपूर्वक इनको ग्रथित किया है ॥ ३ ॥

यथोक्तैर्लोकविख्यातैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
प्रवरं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम् ।
श्रुतैः सर्वत्र जगति ब्रह्मलोकावतारितैः ॥ ४ ॥

तत्त्वदर्शी लोकोंमें विख्यात मुनियोंके द्वारा जो यथावत् वर्णित हुआ है, सर्वत्र प्रसिद्ध ब्रह्म-लोकसे अवतारित इन अन्वर्थ नामोंसे सबसे श्रेष्ठ, प्रथम, स्वर्ग्य, सब भूतोंके हितैषी शुभ स्वरूप शंकरकी स्तुति करूंगा ॥ ४ ॥

यत्तद्रहस्यं परमं ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ।
वक्ष्ये यदुकुलश्रेष्ठ शृणुष्वावहितो मम ॥ ५ ॥

हे यदुकुलश्रेष्ठ ! ब्रह्माने कहा हुआ जो यह सनातन परम रहस्य है, उसे मैं वर्णन करता हूं, तुम एकाग्रचित्त होकर मुझसे सुनो ॥ ५ ॥

परत्वेन भवं देवं भक्तस्त्वं परमेश्वरम् ।
तेन ते श्रावयिष्यामि यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ॥ ६ ॥

पहलेसे तुम परमेश्वर भवानीपति महादेवके भक्त हैं, इसहीसे मैं तुम्हें उस सनातन परब्रह्मका नाम सुनाऊंगा ॥ ६ ॥

न शक्यं विस्तरात्कृत्स्नं वक्तुं शर्वस्य केनचित् ।
युक्तेनापि विभूतीनामपि वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

कोई भी महादेवकी समस्त महिमा विस्तारपूर्वक वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है । कोई व्यक्ति योगयुक्त होकर भी इन विभूतियोंका सैकडों वर्षोंमें वर्णन नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यस्यादिर्मध्यमन्तश्च सुरैरपि न गम्यते ।
कस्तस्य शक्नुयाद्वक्तुं गुणान्कार्त्स्न्येन माधव ॥ ८ ॥

हे माधव ! देवता लोग जिसके आदि, मध्य और अन्त जाननेमें असमर्थ हैं, उसके सब गुणोंको पूर्णतया वर्णन करनेमें कौन समर्थ होगा ? ॥ ८ ॥

किं तु देवस्य महतः संक्षिप्तार्थपदाक्षरम् ।
शक्तितश्चरितं वक्ष्ये प्रसादात्तस्य चैव हि ॥ ९ ॥

परन्तु उस महादेवकी कृपासे ही मैं निज शक्तिके अनुसार संक्षिप्त अर्थ, पद और अक्षरयुक्त चरित वर्णन करूंगा ॥ ९ ॥

अप्राप्येह ततोऽनुज्ञां न शक्यः स्तोतुमीश्वरः ।
यदा तेनाभ्यनुज्ञातः स्तुतत्येव सदा भवम् ॥ १० ॥

विना उन महेश्वरकी आज्ञासे कोई उनकी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं होता । जब कोई उनसे अनुज्ञात होता है, तभी सदा शंकरकी स्तुति करता है ॥ १० ॥

अनादिनिधनस्याहं सर्वयोनेर्महात्मनः ।
नाम्नां कंचित्समुद्देशं वक्ष्ये ह्यव्यक्तयोनिनः ॥ ११ ॥

आदि-अन्तसे रहित, शिव सब विश्वके कारणभूत, महानुभाव, अव्यक्तयोनिके नामोंका किञ्चित् संकलन मैं कहूंगा ॥ ११ ॥

वरदस्य वरेण्यस्य विश्वरूपस्य धीमतः ।
शृणु नामसमुद्देशं यदुक्तं पद्मयोनिना ॥ १२ ॥

वरदाता, वरणीय, विश्वरूपी, धीमान् शङ्करके जो रहस्य नाम पद्मयोनि ब्रह्माके द्वारा वर्णित हुए हैं, उसे सुनो ॥ १२ ॥

दश नामसहस्राणि यान्याह प्रपितामहः ।
तानि निर्मथ्य मनसा दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥ १३ ॥

पितामह ब्रह्माने जो दस हजार नाम कहे थे, वह सब मनहीमन मथके उसके बीचसे यह सार रूपसे इस प्रकार निकाला गया है, जैसे दहींसे घृत ॥ १३ ॥

गिरेः सारं यथा हेम पुष्पात्सारं यथा मधु ।
घृतात्सारं यथा मण्डस्तथैतत्सारमुद्धृतम् ॥ १४ ॥

जैसे पहाडका सार सुवर्ण, फूलसे मधु और दूधसे मक्खन निकाला जाता है, उसी प्रकार यह सार उद्धृत किया है ॥ १४ ॥

सर्वपापापहमिदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।
प्रयत्नेनाधिगन्तव्यं धार्यं च प्रयतात्मना ।
शान्तिकं पौष्टिकं चैव रक्षोघ्नं पावनं महत् ॥ १५ ॥

यह सब पापोंको दूर करनेवाला, चारों वेदोंके समन्वयसे युक्त नामोंको सावधानचित्त होकर प्रयत्नपूर्वक जानना तथा मनमें धारण करना उचित है। यह शान्तिजनक, पुष्टिकर, राक्षसोंका विनाशक और अत्यंत पावन है ॥ १५ ॥

इदं भक्ताय दातव्यं श्रद्दधानास्तिकाय च ।
नाश्रद्दधानरूपाय नास्तिकायाजितात्मने ॥ १६ ॥

श्रद्धावान् और आस्तिक भक्तको इसका उपदेश करें; अश्रद्धावान्, नास्तिक और अजितेन्द्रिय पुरुषोंको कदापि इसका उपदेश करना उचित नहीं है ॥ १६ ॥

यश्चाभ्यसूयते देवं भूतात्मानं पिनाकिनम् ।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहानुगैः ॥ १७ ॥

हे श्रीकृष्ण ! सर्वभूतात्मा पिनाकी ईश्वरके विषयमें जो असूया करता है, वह पूर्वजों तथा बन्धुओंके सहित नरकमें पडता है ॥ १७ ॥

इदं ध्यानमिदं योगमिदं ध्येयमनुत्तमम् ।
इदं जप्यमिदं ज्ञानं रहस्यमिदमुत्तमम् ।
इदं ज्ञात्वान्तकालेऽपि गच्छेद्धि परमां गतिम् ॥ १८ ॥

इन नामोंका जप कर सकनेसे ही ध्यान आदिके फल प्राप्त होते हैं, यह योग और सर्वोत्तम ध्येय है, यही जपनीय मन्त्र, यही ज्ञान तथा यही श्रेष्ठ रहस्य है। अन्तकालमें जिसके जाननेसे मनुष्यको परम गति प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

पवित्रं मङ्गलं पुण्यं कल्याणमिदमुत्तमम्
निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ॥ १९ ॥

यह परम पवित्र, मंगलप्रद, पुण्यकारक, कल्याणमय और उत्तम है। हे महाबाहो ! सब स्तोत्रोंमें उत्तम इस स्तोत्रका मैं वर्णन करूंगा ॥ १९ ॥

इदं ब्रह्मा पुरा कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सर्वस्तवानां दिव्यानां राजत्वे समकल्पयत् ॥ २० ॥

पहले समयमें सर्वलोकपितामह ब्रह्माने इस स्तोत्रका आविष्कार करके इसे समस्त दिव्य स्तोत्रोंके राजाके पद पर अभिषिक्त किया ॥ २० ॥

तदाप्रभृति चैवायमीश्वरस्य महात्मनः ।
स्तवराजेति विख्यातो जगत्यमरपूजितः ।
ब्रह्मलोकादयं चैव स्तवराजोऽवतारितः ॥ २१ ॥

उस ही समयसे देवताओंसे पूजित यह महात्मा ईश्वर शिवका स्तोत्र जगत्में स्तवराजके नामसे विख्यात हुआ है। यह स्तवराज ब्रह्मलोकसे ही उतारा गया ॥ २१ ॥

यस्मात्तण्डिः पुरा प्राह तेन तण्डिकृतोऽभवत् ।
स्वर्गाच्चैवात्र भूलोकं तण्डिना ह्यवतारितः ॥ २२ ॥

और पहले इसे तण्डि मुनिने कहा, इस ही निमित्त यह तण्डिकृत कहके प्रसिद्ध हुआ है। तण्डिके द्वारा यह स्वर्गसे इस भूलोकमें उतारा है ॥ २२ ॥

सर्वमङ्गलमङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! यह समस्त मङ्गलोंका मङ्गलकारी और सर्व पापोंका नाश करनेवाला है; सब स्तोत्रोंके बीच उत्तम इस स्तोत्रका मैं वर्णन करूंगा ॥ २३ ॥

ब्रह्मणामपि यद्ब्रह्म पराणामपि यत्परम् ।
तेजसामपि यत्तेजस्तपसामपि यत्तपः ॥ २४ ॥

जो वेदोंका भी वेद अर्थात् वाक्यका भी वाक्य स्वरूप है, सब श्रेष्ठ वस्तुओं अर्थात् इन्द्रियार्थ मन, बुद्धि, महत्, अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ पुरुष है, तेजस्वी पदार्थों अर्थात् नेत्र आदिका तेज स्वरूप है, तपस्या गङ्गा आदि पुण्य तीर्थोंका भी पुण्यस्वरूप है ॥ २४ ॥

शान्तीनामपि या शान्तिर्द्युतीनामपि या द्युतिः ।
दान्तानामपि यो दान्तो धीमतामपि या च धीः ॥ २५ ॥

उपरतचित्तोंकी भी आत्यन्तिक उपरति है, द्युतिमण्डलीका भी तेजस्वरूप है, जो दान्त पुरुषोंमें अत्यन्त जितेन्द्रिय, ज्ञानियोंके बीच आत्मानुभवरूपी ज्ञानस्वरूप है ॥ २५ ॥

देवानामपि यो देवो मुनीनामपि यो मुनिः
यज्ञानामपि यो यज्ञः शिवानामपि यः शिवः ॥ २६ ॥

जो देवताओंका देवता, ऋषियोंका भी ऋषिस्वरूप है, जो यज्ञोंका यज्ञ और कल्याणोंका कल्याणस्वरूप है ॥ २६ ॥

रुद्राणामपि यो रुद्रः प्रभुः प्रभवतामपि ।
योगिनामपि यो योगी कारणानां च कारणम् ॥ २७ ॥

जो रुद्रगणोंका रुद्र और प्रभायुक्त ईश्वरोंकी प्रभा है; जो योगियोंका योगी और सब कारणोंका कारण है ॥ २७ ॥

यतो लोकाः संभवन्ति न भवन्ति यतः पुनः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य हरस्यामिततेजसः ॥ २८ ॥

जिससे सब लोक उत्पन्न होते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं, जो सब भूतोंके आत्मभूत, अमिततेजस्वी, सर्वव्यापी भगवान् हरके ॥ २८ ॥

अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां शर्वस्य मे शृणु ।
यच्छ्रुत्वा मनुजश्रेष्ठ सर्वान्कामानवाप्स्यसि ॥ २९ ॥

शिवके एक हजार आठ नाम मेरे समीप सुनो। हे मनुजश्रेष्ठ! उसे सुनने मात्रसे आप समस्त कामनाओंको प्राप्त करेंगे ॥ २९ ॥

× × ×

स्थिरः स्थाणुः प्रभुर्भानुः प्रवरो वरदो वरः ।
सर्वात्मा सर्वविख्यातः सर्वः सर्वकरो भवः ॥ ३० ॥

वह चञ्चलता रहित, कूटस्थ, नित्य तथा जगत्के आधारस्तम्भ, अन्तर्यामी समर्थ ईश्वर, प्रकाश, तेज–सूर्य, सर्वश्रेष्ठ, अभिलषितको देनेवाले, वरणीय, सर्वात्मा, सर्वविख्यात, प्रत्येक रूपसे सबमें व्याप्त, विश्वकर्ता, सबकी उत्पत्तिका कारण, ॥ ३० ॥

जटी चर्मी शिखण्डी च सर्वाङ्गः सर्वभावनः ।
हरिश्च हरिणाक्षश्च सर्वभूतहरः प्रभुः ॥ ३१ ॥

जटाधारी, व्याघ्र चर्म पहरनेवाले, शिखाधारी, समस्त अंगोंसे सम्पन्न, विश्वकर्त्ता, हरि, मृगके भांति विशाल नेत्रवाले, सब भूतोंका संहार करनेवाले, सर्वभोक्ता, ॥ ३१ ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः ।
श्मशानचारी भगवान्खचरो गोचरोऽर्दनः ॥ ३२ ॥

प्रकृष्टरूप कुर्वद्भावसे वर्तमान, निरुद्यमभावसे निवास करनेवाले, नियमपरायण, नित्य, अचल, श्मशानभूमिमें निवास करनेवाले, समस्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और धर्मसे युक्त, आकाशचारी, पृथ्वीपर विचरनेवाले, पापियोंको पीडित करनेवाले, ॥ ३२ ॥

अभिवाद्यो महाकर्मा तपस्वी भूतभावनः ।
उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः सर्वलोकप्रजापतिः ॥ ३३ ॥

सबके नमस्कार योग्य और स्तवनीय, महान् कर्म करनेवाले, तपरूप निजधनसे युक्त, आकाश आदि भूतोंको सङ्कल्प मात्रसे उत्पन्न करनेवाले, दिगम्बर रूपसे दुर्ज्ञेय होनेसे उन्मत्त वेशमें प्रच्छन्न रहनेवाले, समस्त भुवन तथा समस्त प्रजाका स्वामी, ॥ ३३ ॥

महारूपो महाकायः सर्वरूपो महायशाः ।
महात्मा सर्वभूतश्च विरूपो वामनो मनुः ॥ ३४ ॥

महान् रूपवाले, विराट्रूप, सर्वरूप, महत् यशस्वरूप, महामना, सर्वभूत, विरूप, वामन, मनु ॥ ३४ ॥

लोकपालोऽन्तर्हितात्मा प्रसादो हयगर्दभिः ।
पवित्रश्च महांश्चैव नियमो नियमाश्रयः ॥ ३५ ॥

लोकरक्षक, अविद्याकल्पित अहंकारादिसे तिरोहितात्मा, अखण्ड, एकरसस्वभाववाले, आनन्द स्वरूप, खच्चर जुते रथपर चलनेवाले, शुद्ध, पूज्य, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि नियमके सहारे प्राप्त होनेवाले, नियमोंके आश्रयभूत है ॥ ३५ ॥

सर्वकर्मा स्वयंभूश्च आदिरादिकरो निधिः ।
सहस्राक्षो विरूपाक्षः सोमो नक्षत्रसाधकः ॥ ३६ ॥

समस्त शिल्पाचार्य विश्वकर्मा, स्वयंभू, सबसे प्रथम, आदि पुरुष, हिरण्यगर्भस्रष्टा, पद्म, शंख प्रभृति अक्षय ऐश्वर्यके भण्डार, सहस्रों नेत्रवाले, विरूपाक्ष, चन्द्र स्वरूप, आकाशमें प्रकाशमान शरीरसे नक्षत्रोंके कारण ॥ ३६ ॥

×

चन्द्रसूर्यगतिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः ।
अद्रिरद्र्यालयः कर्ता मृगबाणार्पणोऽनघः ॥ ३७ ॥

चन्द्र, सूर्य, शनि, केतु, राहु, ग्रहपति (क्रूरत्वनिबन्धन) मङ्गल, वर (वरणीय, पूज्य), पर्वत, पर्वतोंके स्थानका कर्ता, मृगरूपधारी यज्ञपर बाण चलानेवाले, निष्पाप ॥ ३७ ॥

महातपा घोरतपा अदीनो दीनसाधकः ।
संवत्सरकरो मन्त्रः प्रमाणं परमं तपः ॥ ३८ ॥

महान् तपस्वी, घोर तपस्या करनेवाले, उदार, शरणागतोंका इष्टसाधक, कालचक्रके प्रवर्तक ध्रुव आदि ज्योतिर्गणस्वरूप, मननहेतु, त्राणकारी प्रणवादिरूप, वेदशास्त्रादि प्रमाणरूप, योगके द्वारा आत्मदर्शनस्वरूप, उत्तम तपःस्वरूप ॥ ३८ ॥

योगी योज्यो महाबीजो महारेता महातपाः ।
सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो वृषवाहनः ॥ ३९ ॥

योगनिष्ठ, योगके सहारे ब्रह्ममें प्रविलापनीय, महान् कारणका कारण, महावीर्यशाली, श्रेष्ठ तपसे सम्पन्न, हिरण्मय ब्रह्माण्डका स्रष्टा, मायावृत्तिसे सबको ही जाननेवाले, उत्तम बीजरूप, जिसका वाहन बैल है वह ॥ ३९ ॥

दशबाहुस्त्वनिमिषो नीलकण्ठ उमापतिः ।
विश्वरूपः स्वयंश्रेष्ठो बलवीरो बलो गणः ॥ ४० ॥

दस भुजाओंसे युक्त, अनिमिष, नीलकण्ठ, उमापति, विश्वरूप, स्वयं श्रेष्ठ, सामर्थ्यके सहारे विक्रान्त होनेवाले, बलके समुदायरूप ॥ ४० ॥

गणकर्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम्य एव च ।
पवित्रं परमं मन्त्रः सर्वभावकरो हरः ॥ ४१ ॥

गणोंका संघटन करनेवाले, गणोंके स्वामी, दिगम्बर अथवा अनन्त दिशाओंके आच्छादक, कमनीय, परम पवित्र, आत्मतत्त्वानुशोचनरूप विचार स्वरूप होनेसे मन्त्र, अखिल पदार्थोंकी उत्पत्ति करनेवाले, दुःख हरण करनेवाले ॥ ४१ ॥

कमण्डलुधरो धन्वी बाणहस्तः कपालवान् ।
अशनी शतघ्नी खड्गी पट्टिशी चायुधी महान् ॥ ४२ ॥

कमण्डलु धारण करनेवाले, धनुष धारण करनेवाले, हाथमें बाण लिये, कपालधारी, वज्र धारण करनेवाले, शतघ्नी रखनेवाले, खड्गधारी, पट्टिश धारण करनेवाले, त्रिशूल आयुध लेनेवाले, महान् ॥ ४२ ॥

स्रुवहस्तः सुरूपश्च तेजस्तेजस्करो निधिः ।
उष्णीषी च सुवक्त्रश्च उदग्रो विनतस्तथा ॥ ४३ ॥
स्रुवा यज्ञपात्र धारण करनेवाले, शोभायमानरूपसे युक्त, तेजस्वी, भक्तोंके तेजकी वृद्धि करनेवाले निधिरूप, शिरपर साफा धारण करनेवाले, सुंदर मुखवाले, ओजस्वी, विनयशील ॥ ४३ ॥

दीर्घश्च हरिकेशश्च सुतीर्थः कृष्ण एव च ।
सृगालरूपः सर्वार्थो मुण्डः कुण्डी कमण्डलुः ॥ ४४ ॥
ऊंचे कदवाले, उत्तम बालोंवाले, उत्तम तीर्थ स्वरूप, भूवाचक कृषि शब्द और निर्वृति वाचक ण शब्द है, इन दोनोंके ऐक्यसे परब्रह्म अर्थ होता है अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप, सियारका रूप धारण करनेवाले, सर्वार्थ, मूंड मुडाये हुए, कमण्डलु धारण करनेवाले ॥ ४४ ॥

अजश्च मृगरूपश्च गन्धधारी कपर्द्यपि ।
ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभस्तलः ॥ ४५ ॥
अजन्मा, मृगरूप धारी, कुसुम, कस्तुरी प्रभृति सुगंधित वस्तु धारण करनेवाले, जटाजूटधारी, अखण्डित ब्रह्मचर्यवाले, ऊर्ध्वलिङ्ग, आकाशमें शयन करनेवाले, आकाश जिनका निवास स्थल है वे ॥ ४५ ॥

त्रिजटश्चीरवासाश्च रुद्रः सेनापतिर्विभुः ।
अहश्चरोऽथ नक्तं च तिग्ममन्युः सुवर्चसः ॥ ४६ ॥
तीन जटावाले, वल्कल पहननेवाले, दुःखका हरण करनेवाले, सेनापति, सर्वव्यापी, दिनमें विचरनेवाले, रात्रिमें विचरनेवाले, तीक्ष्ण क्रोधवाले, मनोहर तेजवाले ॥ ४६ ॥

गजहा दैत्यहा लोको लोकधाता गुणाकरः ।
सिंहशार्दूलरूपश्च आर्द्रचर्माम्बरावृतः ॥ ४७ ॥
गजरूपधारी असुरको मारनेवाले इससे गजहा, दैत्योंका वध करनेवाले, लोक, सब लोकोंका धारण–पोषण करनेवाला, दीनदयालुता और ज्ञानैश्वर्य प्रभृतिकी गुणोंकी खान, सिंह–व्याघ्र आदि समस्त हिंसक पशु स्वरूप, गीले चर्मका वस्त्र पहरनेवाले ॥ ४७ ॥

कालयोगी महानादः सर्ववासश्चतुष्पथः ।
निशाचरः प्रेतचारी भूतचारी महेश्वरः ॥ ४८ ॥
कालको योगबलसे जीतनेवाले, अनाहत ध्वनि स्वरूप, सर्वत्र निवास करनेवाले, जिसकी उपासनाके लिये विश्व, तैजस, प्राज्ञ और शिव ध्यानरूपी चार उपाय हैं वे, वेतालादि स्वरूप, प्रेतोंके सङ्ग विचरनेवाले, भूतोंके साथ विचरनेवाले, इन्द्र आदि ईश्वरोंसे भी महान् ॥ ४८ ॥

बहुभूतो बहुधनः सर्वाधारोऽमितो गतिः ।
नृत्यप्रियो नित्यनर्तो नर्तकः सर्वलालसः ॥ ४९ ॥

सदसत् रूपसे अनन्त होनेवाले, बहुत धनसंपन्न, सर्वाधार, परिमाण नहीं है ऐसे अनन्त, मुक्त पुरुषोंके प्राप्य, नृत्यप्रिय, सदा नृत्यमें रत रहनेवाले, नर्तक, सर्वश्रेष्ठ नर्तक ॥ ४९ ॥

घोरो महातपाः पाशो नित्यो गिरिचरो नभः ।
सहस्रहस्तो विजयो व्यवसायो ह्यनिन्दितः ॥ ५० ॥

भयंकर रूपधारी, महान् तप करनेवाले, अपनी मायासे सबको बाँधनेवाले, नाशरहित, पर्वतपर विचरनेवाले, आकाशकी भाँति असंग और असंग, हजार हाथोंवाले, विजेता, दृढनिश्चयी, अनिन्दित ॥ ५० ॥

अमर्षणो मर्षणात्मा यज्ञहा कामनाशनः ।
दक्षयज्ञापहारी च सुसहो मध्यमस्तथा ॥ ५१ ॥

क्रोधी, क्षमाशील, दक्षके यज्ञका विध्वंस करनेवाले, कामदेवका नाश करनेवाले, दक्षके यज्ञका अपहरण करनेवाले, अत्यंत सहनशील, सुदृप्रिय दर्शनवाले— मध्यस्थ ॥ ५१ ॥

तेजोपहारी बलहा मुदितोऽर्थो जितो वरः ।
गम्भीरघोषो गम्भीरो गम्भीरबलवाहनः ॥ ५२ ॥

दूसरोंके तेजका अपहरण करनेवाले, बलनामक असुरका वध करनेवाले, कारण रूपसे नित्य आनन्दयुक्त, धनरूपसे अर्थनीय, सदा विजयी, श्रेष्ठ, गम्भीर घोष करनेवाले, गम्भीर, अत्यंत बलशाली वृषभपर सवारी करनेवाले ॥ ५२ ॥

न्यग्रोधरूपो न्यग्रोधो वृक्षकर्णस्थितिर्विभुः ।
तीक्ष्णतापश्च हर्यश्वः सहायः कर्मकालवित् ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वमूल नीची साखावाला अश्वत्थ रूपसे संसार वृक्ष स्वरूप, वट निकटवासी दक्षिण मूर्त्ति अथवा मार्कण्डेयदृष्ट, समुद्रमें वट पत्रपर शयन करनेवाले बालक रूपधारी महाविष्णु स्वरूप, वृक्षके कर्णकी भाँति पत्रपर प्रलय कालमें स्थित, हरि, हर, दुर्गा, गणेश आदि विविध रूपोंसे भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके निमित्त प्रकट होनेवाले, दुःसह तापरूप, हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त, जीवका सखा, दस आदिकर्मोंका समयज्ञ ॥ ५३ ॥

विष्णुप्रसादितो यज्ञः समुद्रो वडवामुखः ।
हुताशनसहायश्च प्रशान्तात्मा हुताशनः ॥ ५४ ॥

भगवान् विष्णुने जिन्हें आराधना करके प्रसन्न किया था वे शिव, विष्णुरूपी, सागर स्वरूप, जो अग्नि समुद्रके जलको प्रतिदिन भस्म कर रही है तत्स्वरूप, अग्निके सखा वायु स्वरूप निस्तरङ्ग सागरके सदृश शान्तचित्त, अग्निरूप ॥ ५४ ॥

उग्रतेजा महातेजा जयो विजयकालवित्।
ज्योतिषामयनं सिद्धिः संधिर्विग्रह एव च ॥ ५५ ॥

दुःसह तेजवाले, महान् तेजसे युक्त, विजयी, विजयके समयको जाननेवाले, जिस शास्त्रमें ग्रह–नक्षत्रोंका गमन वर्णित है, उसका नाम ज्योतिष है, उस शास्त्रके आश्रय, सिद्धि स्वरूप, युद्ध करनेवाले, संघटन करनेवाले ॥ ५५ ॥

शिखी दण्डी जटी ज्वाली मूर्तिजो मूर्धगो बली।
वैणवी पणवी ताली कालः कालकटंकटः ॥ ५६ ॥

शिखावान गृहस्थ, दण्डधारी संन्यासी, जटावान् वानप्रस्थ, अग्निकी ज्वालामें आहुति देनेवाले ब्रह्मचारी, शरीररूपसे प्रकट होनेवाले, सहस्रार चक्रमें गमन करनेवाले, बलवान्, बांसुरी, ढोल, तानाख्य वाद्यविशेष विशिष्ट, पणववाद्य बजानेवाले, ताल देनेवाले, काल, यमकी मायाको आवरण करनेवाले ॥ ५६ ॥

नक्षत्रविग्रहविधिर्गुणवृद्धिर्लयोऽगमः।
प्रजापतिर्दिशाबाहुर्विभागः सर्वतोमुखः ॥ ५७ ॥

ग्रह तारा प्रभृतिकी विधिको जाननेवाले, गुणोंकी वृद्धि करनेवाले, लयके स्थान, अचञ्चल कूटस्थ चिन्मात्र है, जाननेमें न आनेवाला, प्रजाके स्वामी, सब दिशाओंमें बाहुवाले, विभाग स्वरूप–व्यष्टिकार्य रूप, सर्वव्यापी, भोगसाधनरहित अभोक्ता ॥ ५७ ॥

विमोचनः सुरगणो हिरण्यकवचोद्भवः।
मेढ्रजो बलचारी च महाचारी स्तुतस्तथा ॥ ५८ ॥

संसारमोचक, देवताओंका अधिपति, हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिका स्थान, मेढ् अर्थात् लिङ्गमें उसकी उत्पत्ति होती है, बलका संचार करनेवाला, सब ओर विचरनेवाले, सर्वत्र स्तुत्य ॥ ५८ ॥

सर्वतूर्यनिनादी च सर्ववाद्यपरिग्रहः।
व्यालरूपो बिलावासी हेममाली तरंगवित् ॥ ५९ ॥

सब प्रकारके बाजे बजानेवाले, समस्त वाद्योंका संग्रह करनेवाले, शेषनाग रूप, योगीरूपसे गुफामें रहनेवाले, सुवर्णमालाधारी, विषयसुखोंको तरङ्गसमान जाननेवाले ॥ ५९ ॥

त्रिदशस्त्रिकालधृक्कर्म सर्वबन्धविमोचनः।
बन्धनस्त्वसुरेन्द्राणां युधि शत्रुविनाशनः ॥ ६० ॥

प्राणियोंकी जन्म, स्थिति और नाश, ये तीन दशाओंके हेतुभूत, भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंको धारण करनेवाले, कार्य करनेवाला, सब बन्धनोंको मुक्त करनेवाला, असुरेंद्र-गणोंके बन्धन, युद्धमें शत्रुविनाशन ॥ ६० ॥

सांख्यप्रसादो दुर्वासाः सर्वसाधुनिषेवितः ।
प्रस्कन्दनो विभागज्ञ अतुल्यो यज्ञभागवित् ॥ ६१ ॥

आत्मा और अनात्मविवेकसे बहुत प्रसन्न होनेवाले, रुद्रांशरूपसे उत्पन्न दुर्वासा, सब साधु-पुरुषोंसे सेवित, ब्रह्मादि देवताओंको भी स्थानभ्रष्ट करनेवाले, प्राणियोंके कर्मफलोंको यथोचित विभक्त करनेवाले, तुलनारहित, यज्ञिय हवि प्रभृतिके विभागोंके ज्ञाता ॥ ६१ ॥

सर्वावासः सर्वचारी दुर्वासा वासवोऽमरः ।
हैमो हेमकरो यज्ञः सर्वधारी धरोत्तमः ॥ ६२ ॥

सर्वत्र वास करनेवाले, सर्वत्र विचरनेवाले, अनन्त तथा अपार होनेसे जिनको वस्त्रसे आच्छादित करना कठिन है, इन्द्रस्वरूप, अविनाशी, हिमालयरूप, सुवर्णके उत्पादक, यज्ञ, समस्त कर्मफलोंको धारण करनेवाला, दिग्गज कूर्म और शेष प्रभृतिको धारण करनेवाला है तथा स्वयं अनन्याधार है, इसलिये धारण करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ ॥ ६२ ॥

लोहिताक्षो महाक्षश्च विजयाक्षो विशारदः ।
संग्रहो निग्रहः कर्ता सर्पचीरनिवासनः ॥ ६३ ॥

लाल नेत्रवाले, बड़े नेत्रवाले, विजयशील रथवाले, पण्डित, संग्रह करनेवाले, उद्धतोंको दण्ड देनेवाले, कर्ता, सर्पमय चीर धारण करनेवाले ॥ ६३ ॥

मुख्योऽमुख्यश्च देहश्च देहर्द्धिः सर्वकामदः ।
सर्वकालप्रसादश्च सुबलो बलरूपधृक् ॥ ६४ ॥

देवताओंके बीच अष्टम अग्नि और नवम विष्णु रूपसे सर्वदेवमय सर्वश्रेष्ठ, जिससे बढ़कर मुख्य दूसरा कोई न हो वह, देहस्वरूप, देहधारियोंका निधि, सब इच्छाओंके दाता, सदा कृपा करनेवाले, उत्तम बलसे युक्त, बल और रूपके आधार ॥ ६४ ॥

आकाशनिधिरूपश्च निपाती उरगः खगः ।
रौद्ररूपोंऽशुरादित्यो वररश्मिः सुवर्चसी ॥ ६५ ॥

आकाशवत् रूपोंके निधि, पापियोंको नरकमें गिरानेवाले, नागस्वरूप, हार्दाकाशमें शुद्ध चैतन्य-रूपसे स्थित रहनेवाले, रौद्ररूपधारी, किरणस्वरूप, अदितिपुत्र, सुवर्णके समान किरणोंवाले, सूर्य रूप, उत्तम तेजशाली ॥ ६५ ॥

वसुवेगो महावेगो मनोवेगो निशाचरः ।
सर्वावासी श्रियावासी उपदेशकरो हरः ॥ ६६ ॥

वायुकी भाँति वेगवान्, अत्यंत वेगशाली, मनके समान वेगवाले, रात्रिमें विचरनेवाले, सर्वशरीरमें वास करनेवाले, लक्ष्मीके साथ निवास करनेवाले विष्णुरूप, उपदेश करनेवाले, हर—शिव ॥ ६६ ॥

मुनिरात्मपतिर्लोके संभोज्यश्च सहस्रदः ।
पक्षी च पक्षिरूपी च अतिदीप्तो विशां पतिः ॥ ६७ ॥

मननशील, आत्माओंका स्वामी, जगत्‌का शासन करनेवाला, अनन्त धनदाता, गरुडस्वरूप, विहङ्गम रूपधारी, शुक्र तेज अभिभवके कारण कोटि सूर्य सदृश तेजस्वी, प्रजासमूहोंका पति ॥ ६७ ॥

उन्मादो मदनाकारो अर्थार्थकररोमशः ।
वामदेवश्च वामश्च प्राग्दक्षिणश्च वामनः ॥ ६८ ॥

प्रेममें उन्मत्त, मदन सदृश, काम्यमान, बहुत धनप्रद तथा कीर्तिदाता, वामदेव स्वरूप, दुष्टोंके प्रतिकूल, सबका आदि, कुशल, बलिको बांधनेवाले वामनरूपधारी ॥ ६८ ॥

सिद्धयोगापहारी च सिद्धः सर्वार्थसाधकः ।
भिक्षुश्च भिक्षुरूपश्च विषाणी मृदुरव्ययः ॥ ६९ ॥

सनत्कुमार आदि रूपसे सिद्धयोगियोंके कष्ट दूर करनेवाला, सिद्ध, सर्वार्थसाधक, संन्यासी, परमहंस भिक्षुरूप धारण करनेवाले, सींग धारण करनेवाले, सब प्राणियोंका अभयदाता–कोमल स्वभाववाले, निर्विकार– अविनाशी ॥ ६९ ॥

महासेनो विशाखश्च षष्टिभागो गवां पतिः ।
वज्रहस्तश्च विष्कम्भी चमूस्तम्भन एव च ॥ ७० ॥

देव सेनापति कार्तिकेय स्वरूप, कार्तिकेयके सहायक, षष्टितत्त्व उसके भोज्य हैं– संवत्सररूप, इन्द्रियोंका चालक, हाथमें वज्रधारण करनेवाले इन्द्रस्वरूप, विस्तारवान्, दैत्यसेनाको स्तब्ध करनेवाले ॥ ७० ॥

ऋतुर्ऋतुकरः कालो मधुर्मधुकरोऽचलः ।
वानस्पत्यो वाजसेनो नित्यमाश्रमपूजितः ॥ ७१ ॥

ऋतु, ऋतुओंका कर्ता, काल, वसन्त ऋतु रूप, भ्रमररूप, अचल, वनस्पति संबंधी ज्ञान रखनेवाला, शाखा विशेषका प्रवर्त्तक अध्वर्युकर्म कर्ता, नित्य आश्रम पूजित ॥ ७१ ॥

ब्रह्मचारी लोकचारी सर्वचारी सुचारवित् ।
ईशान ईश्वरः कालो निशाचारी पिनाकधृक् ॥ ७२ ॥

ब्रह्मचारी, लोकोंमें विचरनेवाले, सर्वत्र जानेवाले, शुद्ध ज्ञानसे संपन्न, अन्तर्यामी रूपसे नियन्ता, सबके शासक, लोगोंके पुण्यपापके फल देनेके लिये गिनती करनेवाले काल स्वरूप, ब्राह्मी निशा महाप्रलयकालमें प्रत्यगानन्द अनुभव करनेवाले, रक्षाकारी पिनाक धनुर्द्धारी ॥७२॥

नन्दीश्वरश्च नन्दी च नन्दनो नन्दिवर्धनः ।
भगहारी निहन्ता च कालो ब्रह्मविदां वरः ॥ ७३ ॥

निजवाहन नन्दीका स्वामी इसलिये नन्दीश्वर, नन्दी नामक गण रूप, आनंददाता, सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले, इन्द्रादिकोंका भी ऐश्वर्य हरण करनेवाला, मृत्युरूप, चौंसठ कलाओंके आश्रय स्थान, आत्मज्ञोंमें श्रेष्ठ, ॥ ७३ ॥

चतुर्मुखो महालिङ्गश्चारुलिङ्गस्तथैव च ।
लिङ्गाध्यक्षः सुराध्यक्षो लोकाध्यक्षो युगावहः ॥ ७४ ॥

विधातृरूप चतुर्मुख, महालिङ्ग स्वरूप, रमणीय वेषधारी, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका अध्यक्ष अर्थात् प्रवृत्तिनिवृत्तिका नियामक, देवताओंके अधिपति, लोकोंके अध्यक्ष, पुण्य-पापके तारतम्य विशिष्ट सत्य, त्रेता द्वापर और कलियुग- इन चारों युगोंके प्रवर्त्तक- निर्वाहक ॥७४॥

बीजाध्यक्षो बीजकर्ता अध्यात्मानुगतो बलः ।
इतिहासकरः कल्पो गौतमोऽथ जलेश्वरः ॥ ७५ ॥

धर्माधर्मका फलदाता, कारणोंके उत्पादक, आत्माको अधिकार करके प्रवृत्त शास्त्रोंका अनुसरण करनेवाले साधक, धृति प्रभृति सब बलोंसे युक्त, महाभारतादिरूप इतिहास करनेवाले, यज्ञ-कल्प प्रयोगविधिके सहित सम्बन्धविशिष्ट, तर्कशास्त्रके प्रणेता, जलोंके स्वामी ॥ ७५ ॥

दम्भो ह्यदम्भो वैदम्भो वश्यो वश्यकरः कविः ।
लोककर्ता पशुपतिर्महाकर्ता महौषधिः ॥ ७६ ॥

शत्रुओंको दमन करनेवाले, दम्भरहित, धर्मध्वजित्वसे रहित, भक्ताधीन, दूसरेको वशीभूत करनेमें समर्थ, विद्वान्, चौदहों भुवनोंकी सृष्टि करनेवाला, ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त जीव और पशुओंका पालक, पञ्चभूतोंका स्रष्टा, महान् ओषधि ॥ ७६ ॥

अक्षरं परमं ब्रह्म बलवाञ्छक्र एव च ।
नीतिर्ह्यनीतिः शुद्धात्मा शुद्धो मान्यो मनोगतिः ॥ ७७ ॥

अविनाशी ब्रह्म, अनादि और ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ आनन्दमय, बलके अभिमानी देवतारूप, शतक्रतु रूप, न्यायस्वरूप, अन्यायरहित, शुद्ध स्वरूप, परम शुद्ध, पूज्य, मनकी गति ॥ ७७ ॥

बहुप्रसादः स्वपनो दर्पणोऽथ त्वमित्रजित् ।
वेदकारः सूत्रकारो विद्वान्समरमर्दनः ॥ ७८ ॥

अधिक कृपा करनेवाले, उत्तम निद्रवाले, दर्पणके समान निर्मल, शत्रुओंको जीतनेवाले, वेदोंका कर्ता, सूत्रोंको प्रकट करनेवाले, सर्वज्ञ, समरमें शत्रुओंका विनाश करनेवाले ।.७८।

महामेघनिवासी च महाघोरो वशीकरः ।
अग्निज्वालो महाज्वालो अतिधूम्रो हुतो हविः ॥ ७९ ॥

प्रलयकालके महामेघमण्डलमें अधिष्ठाता रूपसे वास करनेवाले, प्रलय करनेवाले, सबको वशमें करनेवाले, अग्निकी ज्वालाके भांति तेजस्वी, महान् तेजवाले, कालाग्निरूपसे सबको जलानेके समय अत्यन्त धूम्रमय, होमसे प्रसन्न होनेवाले, पय प्रभृति हवनीय पदार्थ स्वरूप ॥ ७९ ॥

वृषणः शंकरो नित्यो वर्चस्वी धूमकेतनः ।
नीलस्तथाङ्गलुब्धश्च शोभनो निरवग्रहः ॥ ८० ॥

कर्मफल बरसानेवाला धर्म, सुखदाता, नित्य, तेजस्वी वह्निरूप, मरकत वर्णवाले, अपने देहपर स्वयं ही प्रसन्न, शोभाशाली है इसलिये शोभन, प्रतिबन्धरहित मनोरथोंकी पुष्टि करनेवाला ॥ ८० ॥

स्वस्तिदः स्वस्तिभावश्च भागी भागकरो लघुः ।
उत्सङ्गश्च महाङ्गश्च महागर्भः परो युवा ॥ ८१ ॥

कल्याण करनेवाला, कल्याणप्रद स्वभाव, यज्ञमें भाग लेनेवाले, यज्ञके हविष्यका विभाजन करनेवाले, शीघ्रतासे काम करनेवाले, असंगरूप, महान् अंगवाले, महागर्भ—हिरण्यगर्भ, केवल ब्रह्म, युवक ॥ ८१ ॥

कृष्णवर्णः सुवर्णश्च इन्द्रियः सर्वदेहिनाम् ।
महापादो महाहस्तो महाकायो महायशाः ॥ ८२ ॥

श्यामवर्ण विष्णुरूप, सांख्यरूप होनेसे श्वेतवर्ण और उत्तम वर्णवाले, समस्त प्राणियोंके इन्द्रियरूप, लंबे पैरोंवाले, लंबे हाथवाले, विश्वरूप, महान् यशवाले ॥ ८२ ॥

महामूर्धा महामात्रो महानेत्रो दिगालयः ।
महादन्तो महाकर्णो महामेढ्रो महाहनुः ॥ ८३ ॥

महान् मस्तकवाले, महान् प्रमाणवाले, विशाल नेत्रोंवाले, दिशाओंका आधारस्थान, महान् दांतवाले, बडे कानवाले, महान् लिंगवाले, बडी ठोडीवाले ॥ ८३ ॥

महानासो महाकम्बुर्महाग्रीवः श्मशानधृक् ।
महावक्षा महोरस्को अन्तरात्मा मृगालयः ॥ ८४ ॥

महान् नासिकावाले, बडे कण्ठवाले, महान् ग्रीवावाले, श्मशान भूमिमें रहनेवाले, महान् वक्षःस्थलवाले, चौडी छातीवाले, सबके अन्तरात्मा, अङ्काधिरोपित मृगचन्द्र रूप ॥ ८४ ॥

लम्बनो लम्बितोष्ठश्च महामायः पयोनिधिः ।
महादन्तो महादंष्ट्रो महाजिह्वो महामुखः ॥ ८५ ॥

ब्रह्माडोंके आधार, प्रलयकालमें विश्वग्रास करनेके निमित्त फैलाये ओठोंवाले, महामायावी, क्षीरोदसमुद्ररूप, महान् दांतवाले, बडी दाढवाले, विशालजिह्वावाले, महान् मुखवाले ॥ ८५ ॥

×

महानखो महारोमा महाकेशो महाजटः ।
असपत्नः प्रसादश्च प्रत्ययो गिरिसाधनः ॥ ८६ ॥
बड़े नखवाले नृसिंहरूप, महान रोमवाले वराहरूप, महाकेश, महान् जटावाले, प्रतिस्पर्धि-रहित, प्रसन्न, ज्ञानस्वरूप, युद्धमें पर्वतको ही जयके कारण बनानेवाले ॥ ८६ ॥

स्नेहनोऽस्नेहनश्चैव अजितश्च महामुनिः ।
वृक्षाकारो वृक्षकेतुरनलो वायुवाहनः ॥ ८७ ॥
पिताकी भांति प्रजासमूहके ऊपर स्नेह करनेवाले, मोहरहित, पराजित न होनेवाले, महामुनि, संसार वृक्ष स्वरूप, वृक्षके समान ऊंची ध्वजावाले, अग्निस्वरूप, वायुको वाहन बनानेवाले ॥ ८७ ॥

मण्डली मेरुधामा च देवदानवदर्पहा ।
अथर्वशीर्षः सामास्य ऋक्सहस्रामितेक्षणः ॥ ८८ ॥
समुदायमें रहनेवाले, मेरु पर्वत निवासी, देव और दानवोंके अहंकारको नष्ट करनेवाले, अथर्ववेद जिनका मस्तक है वह, सामवेद जिनका मुख है वह, ऋग्वेदकी सहस्रों ऋचाओं जिनके नेत्र हैं वह ॥ ८८ ॥

यजुःपादभुजो गुह्यः प्रकाशो जङ्गमस्तथा ।
अमोघार्थः प्रसादश्च अभिगम्यः सुदर्शनः ॥ ८९ ॥
यजुर्वेद जिनके हाथ पैर हैं वह, रहस्य स्वरूप, कर्मकाण्ड रूप, मनुष्य पशु आदि रूप, उसके निकट प्रार्थना करनेपर उसे सफल बनानेवाले, दयालु, सुगमतासे प्राप्य, सुदर्शन ॥ ८९ ॥

उपहारप्रियः शर्वः कनकः काञ्चनः स्थिरः ।
नाभिर्नन्दिकरो भाव्यः पुष्करस्थपतिः स्थिरः ॥ ९० ॥
उपकार करके सुखदायी रूप, शिव, स्वर्गादि प्रियवस्तु रूप, सुवर्ण स्वरूप, काञ्चनके समान तेजस्वी, स्थिर, जगत्का मध्यस्थल रूप, यज्ञ फलकी वृद्धि करके आनन्द देनेवाले, साध्य रूप, ब्रह्माण्डकी रचना करनेवाले, पर्वतादि स्थावररूप ॥ ९० ॥

द्वादशस्त्रासनश्चाद्यो यज्ञो यज्ञसमाहितः ।
नक्तं कलिश्च कालश्च मकरः कालपूजितः ॥ ९१ ॥
मनुष्योंके गर्भवासादि दस प्रकारकी अवस्थाके बीच मृत्यु दशम है, स्वर्ग एकादश और मोक्ष द्वादश है, तत्स्वरूप; ग्यारह रुद्रोंसे श्रेष्ठ बारहवें रुद्र, भयजनक, आदि कारण, जीव ब्रह्मकी संगति करणरूपी योग— यज्ञपुरुष, योगके द्वारा प्राप्त; यज्ञमें उपस्थित रहनेवाला, अप्रकाश; रात्रि स्वरूप, कलिके कार्य काम क्रोधादि रूप, जन्ममरण प्रवाहको सञ्चालन करनेवाले, मकराकार शिशुमारचक्र कालके ज्ञापक और तत्स्वरूप, मृत्युके द्वारा पूजित ॥ ९१ ॥

सगणो गणकारश्च भूतभावनसारथिः ।
भस्मशायी भस्मगोप्ता भस्मभूतस्तरुर्गणः ॥ ९२ ॥
प्रमथादि गणोंसे युक्त, बाणादि भक्तोंको अपने गणमें लेनेवाले, भूतगणोंके उपादानकारण ब्रह्माको सारथि बनानेवाले, भस्मपर शयन करनेवाले, भस्मसे जगत्‌की रक्षा करनेवाले, भस्म स्वरूप, कल्पवृक्ष स्वरूप, भृंगिरिटि नन्दिकेश्वर प्रभृति गण स्वरूप ॥ ९२ ॥

अगणश्चैव लोपश्च महात्मा सर्वपूजितः ।
शङ्कुस्त्रिशङ्कुः संपन्नः शुचिर्भूतनिषेवितः ॥ ९३ ॥
अनगिनत, क्षय, पूर्ण, महात्मा, सबके द्वारा पूजित, शंकु, त्रिशंकुरूप, कैवल्य संपदासे युक्त, पवित्र, सब प्राणियोंसे सेवित ॥ ९३ ॥

आश्रमस्थः कपोतस्थो विश्वकर्मा पतिर्वरः ।
शाखो विशाखस्ताम्रोष्ठो ह्यम्बुजालः सुनिश्चयः ॥ ९४ ॥
चारों आश्रमोंमें धर्मरूपसे स्थित, पारावात रूप स्थित, विश्वकर्मा, विश्वका अधिपति, लक्ष्मी स्वरूपसे प्रार्थनीय, सर्वश्रेष्ठ; कार्तिकेय रूप; शिव, लाल ओठवाले, जलस्वरूप, सुनिश्चयी ॥ ९४ ॥

कपिलोऽकपिलः शूर आयुश्चैव परोऽपरः ।
गन्धर्वो ह्यदितिस्तार्क्ष्यः सुविज्ञेयः सुसारथिः ॥ ९५ ॥
लोहितवर्ण, अकपिल, शूर, जीवन कालस्वरूप, प्राचीनरूप, अर्वाचीन रूप, चित्ररथ आदि गन्धर्व रूप, देवमाता वा पृथिवी रूप, गरुडरूप, सुविज्ञेय, उत्तम सारथ्य करनेवाले ॥ ९५ ॥

परश्वधायुधो देव अर्थकारी सुबान्धवः ।
तुम्बवीणी महाकोप ऊर्ध्वरेता जलेशयः ॥ ९६ ॥
परशु आयुध धारण करनेवाले, महादेव, इच्छाकी पूर्ति करनेवाले, उत्तम बान्धव रूप, तुम्बीकी वीणा बजानेवाले, महान् क्रोधी, अस्खलित वीर्य, जलमें शयन करनेवाले ॥ ९६ ॥

उग्रो वंशकरो वंशो वंशनादो ह्यनिन्दितः ।
सर्वाङ्गरूपो मायावी सुहृदो ह्यनिलोऽनलः ॥ ९७ ॥
उग्र, वंशकर, वंश, वंशी जाननेवाले, निन्दारहित, सर्वाङ्ग पूर्ण रूपवाले, मायावी, सुहृद, वायुस्वरूप, अग्निस्वरूप ॥ ९७ ॥

बन्धनो बन्धकर्ता च सुबन्धनविमोचनः ।
स यज्ञारिः स कामारिर्महादंष्ट्रो महायुधः ॥ ९८ ॥
स्नेह बंधनमें बांधनेवाले, बन्धनरूप संसारके निर्माता, मायाके सुदृढ बंधनसे मुक्त करनेवाले, यज्ञशत्रु दैत्योंके साथी, कामविजयी योगियोंके साथी, बडी दाढवाले, महान् आयुध धारण करनेवाले ॥ ९८ ॥

बाहुस्त्वनिन्दितः शर्वः शंकरः शंकरोऽधनः ।
अमरेशो महादेवो विश्वदेवः सुरारिहा ॥ ९९ ॥

सुन्दर भुजाओंवाले, अनिन्दित, मुनियोंको मोहित करनेवाले, कल्याण करनेवाले, आनन्द देनेवाले, सांसारिक धनसे रहित, देवताओंके ईश्वर, महादेव, विश्वदेव, देवशत्रुओंका नाश करनेवाला ॥ ९९ ॥

अहिर्बुध्न्यो निर्ऋतिश्च चेकितानो हरिस्तथा ।
अजैकपाच्च कापाली त्रिशङ्कुरजितः शिवः ॥ १०० ॥

पातालमें शेषनागरूप, मृत्युरूप, अत्यंत ज्ञानवान्, भोक्ताकी भोग्यवस्तुस्वरूप, ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक, ब्रह्माण्डके अधीश्वर, सर्व जीवस्वरूप, त्रिशंकुरूप, अजित, शिव ॥ १०० ॥

धन्वन्तरिर्धूमकेतुः स्कन्दो वैश्रवणस्तथा ।
धाता शक्रश्च विष्णुश्च मित्रस्त्वष्टा ध्रुवो धरः ॥ १०१ ॥

धन्वन्तरिरूप, अग्निरूप, कार्तिकेयरूप, कुबेरस्वरूप, धनको धारण करनेवाले, इन्द्रस्वरूप, विष्णु, बारह आदित्योंमेंसे एक, प्रजापति विश्वकर्मा, ध्रुवरूप, आठ वसुओंमेंसे एक ॥१०१॥

प्रभावः सर्वगो वायुरर्यमा सविता रविः ।
उदग्रश्च विधाता च मान्धाता भूतभावनः ॥ १०२ ॥

प्रभाव, सर्वव्यापी वायु, अर्यमारूप, जगत्की उत्पत्ति करनेवाले, सूर्य, तीव्र किरणोंवाले सूर्यरूप, विधाता, जीवको तृप्ति देनेवाले, भूतभावन ॥ १०२ ॥

रतितीर्थश्च वाग्मी च सर्वकामगुणावहः ।
पद्मगर्भो महागर्भश्चन्द्रवक्त्रो मनोरमः ॥ १०३ ॥

अनुरागके क्षेत्ररूप, वाकपटु, सब कामना और गुणोंकी प्राप्ति करानेवाले, कमलसे प्रकट होनेवाले, महागर्भ, चन्द्रमा जैसे मनोहर मुखवाले, सुंदर ॥ १०३ ॥

बलवांश्चोपशान्तश्च पुराणः पुण्यचञ्चुरी ।
कुरुकर्ता कालरूपी कुरुभूतो महेश्वरः ॥ १०४ ॥

बलवान्, शान्तस्वरूप, पुराणपुरुष, पुण्यके द्वारा जानने योग्य, कुरुक्षेत्रके निर्माता, कालरूप, कुरुक्षेत्ररूप, महान् ईश्वर ॥ १०४ ॥

सर्वाशयो दर्भशायी सर्वेषां प्राणिनां पतिः ।
देवदेवमुखोऽसक्तः सदसत्सर्वरत्नवित् ॥ १०५ ॥

सबका आश्रय स्थान, कुशोंपर शयन करनेवाले, समस्त प्राणियोंके स्वामी, देवताओंके मुख, असक्त, सत्स्वरूप, असत्स्वरूप, सब रत्नोंके ज्ञाता ॥ १०५ ॥

कैलासशिखरावासी हिमवद्गिरिसंश्रयः ।
कूलहारी कूलकर्ता बहुविद्यो बहुप्रदः ॥ १०६ ॥
कैलासशिखरवासी, हिमालय पर्वतके निवासी, महाप्रवाह रूपसे तटोंका हरण करनेवाले, पुष्कर आदि महासरोवरोंका निर्माता, अनेक विद्याओंके ज्ञाता, बहुत देनेवाले, ॥ १०६ ॥

वणिजो वर्धनो वृक्षो नकुलश्चन्दनश्छदः
सारग्रीवो महाजत्रुरलोलश्च महौषधः ॥ १०७ ॥
वैश्यरूप, संवर्धन करनेवाले, संसारवृक्षरूप, नकुलरूप, चन्दनवृक्षरूप, तमालवृक्षस्वरूप, सारग्रीव (दृढ गलावाले), महान् हंसलीवाले, चंचल महान् औषधरूप ॥ १०७ ॥

सिद्धार्थकारी सिद्धार्थश्छन्दोव्याकरणोत्तरः ।
सिंहनादः सिंहदंष्ट्रः सिंहगः सिंहवाहनः ॥ १०८ ॥
मनोरथ पूर्ण करनेवाले, वेद व्याख्यान-सिद्धार्थ, सिंहके समान गर्जना करनेवाले, सिंहके समान दाढवाले, सिंहपर आरूढ होकर गमन करनेवाले, सिंहवाहन ॥ १०८ ॥

प्रभावात्मा जगत्कालस्थालो लोकहितस्तरुः ।
सारङ्गो नवचक्राङ्गः केतुमाली सभावनः ॥ १०९ ॥
प्रभावात्मा, जगद्ग्रासकर्ता कालके स्थान, लोकहितैषी, तारण कर्ता, चातक स्वरूप, नवीन हंस रूप, ध्वजाओंकी मालाओंसे भूषित, स्थानकी रक्षा करनेवाले ॥ १०९ ॥

भूतालयो भूतपतिरहोरात्रमनिन्दितः ।
वाहिता सर्वभूतानां निलयश्च विभुर्भवः ॥ ११० ॥
भूतोंके धारण करनेवाले, सब भूतोंके स्वामी, अहोरात्र स्वरूप, अनिन्दित, समस्त भूतोंके वहन करनेवाले, सब प्राणियोंके आश्रय स्थान, विभु, सत्तारूप ॥ ११० ॥

अमोघः संयतो ह्यश्वो भोजनः प्राणधारणः ।
धृतिमान्मतिमान्दक्षः सत्कृतश्च युगाधिपः ॥ १११ ॥
नैष्फल्यरहित, धारणा ध्यान समाधिमान्, उच्चैःश्रवादि स्वरूप, अन्नदाता, सबके प्राणोंकी धारणा करनेवाले, धृतिमान्, बुद्धिमान्, उत्साही, आदरयुक्त, युगके स्वामी ॥ १११ ॥

गोपालिर्गोपतिर्ग्रामो गोचर्मवसनो हरः ।
हिरण्यबाहुश्च तथा गुहापालः प्रवेशिनाम् ॥ ११२ ॥
इन्द्रियोंका पालयिता, गौओंके स्वामी, समूहरूप, गोचर्ममय वस्त्र पहननेवाले, भक्तोंके दुःख हरनेवाले, सुनहरी सुंदर भुजावाले, योगियोंके शरीरकी रक्षा करनेवाले, ॥ ११२ ॥

प्रतिष्ठायी महाहर्षो जितकामो जितेन्द्रियः ।
गन्धारश्च सुरालश्च तपःकर्मरतिर्धनुः ॥ ११३ ॥

आधाररूप, परमानन्दरूप, कामपर विजय पानेवाले, जितेन्द्रिय, गन्धार स्वरविशेष, देवोंके आश्रय स्थान, तपस्यामें आनन्दमग्न, धनुषरूप ॥ ११३ ॥

महागीतो महानृत्तो ह्यप्सरोगणसेवितः ।
महाकेतुर्धनुर्धातुर्नैकसानुचरश्चलः ॥ ११४ ॥

जिनके महात्म्यका गान किया जाता है, ऐसे श्रेष्ठ देव, महान् नृत्य करनेवाले, अप्सराओंके समुदायसे सेवित, महान् ध्वजावाले, शरासनरूप, धातुस्वरूप, अनेक शिखर प्रचारी, दुर्ग्रह ॥ ११४ ॥

आवेदनीय आवेशः सर्वगन्धसुखावहः ।
तोरणस्तारणो वायुः परिधावति चैकतः ॥ ११५ ॥

वचनके अगोचर होनेसे भी गुरुओंके द्वारा उपदेशके योग्य, साक्षात् प्रभाव स्वरूप, सब गन्धोंके सुखकी प्राप्ति करानेवाले, मुक्ति–पुरद्वार आदि रूप, तारनेवाले, वायुरूप, भक्तोंके साथ मिलजुलके जानेवाले ॥ ११५ ॥

संयोगो वर्धनो वृद्धो महावृद्धो गणाधिपः ।
नित्य आत्मसहायश्च देवासुरपतिः पतिः ॥ ११६ ॥

पति तथा खेचर गरुड आदि रूप, वृद्धिके स्त्रीपुरुषोंका सम्बन्ध, गुणोंमें श्रेष्ठ, सबसे पुरातन, गणोंके अधिपति, नित्य आत्माकी सहायता करनेवाले, देव और सुरक्षाके पति, स्वामी ॥ ११६ ॥

युक्तश्च युक्तबाहुश्च द्विविधश्च सुपर्वणः ।
आषाढश्च सुषाढश्च ध्रुवो हरिहणो हरः ॥ ११७ ॥

भक्तोंके उद्धारके लिये तत्पर, शत्रुमर्दन बाहु विशिष्ट, द्विविध, सुपर्वण, सब कुछ सहन करनेका, सामर्थ्य देनेवाले, उत्तम सहनशील, अचञ्चल, शुद्ध स्वरूप, संहार कर्ता ॥११७॥

वपुरावर्तमानेभ्यो वसुश्रेष्ठो महापथः ।
शिरोहारी विमर्षश्च सर्वलक्षणभूषितः ॥ ११८ ॥

स्वर्गसे लौटनेवालेको वपुःप्रदाता, धनसे भी अधिक प्रिय मुक्तिस्वरूप, श्रेष्ठ मार्ग स्वरूप, विचारपूर्वक दुष्टोंका सिर हरण करनेवाले, सर्व शुभलक्षणोंसे युक्त भूषित ॥ ११८ ॥

अक्षश्च रथयोगी च सर्वयोगी महाबलः ।
समाम्नायोऽसमाम्नायस्तीर्थदेवो महारथः ॥ ११९ ॥

रथ सन्धान दारु अक्ष स्वरूप, सर्वयोगी, महाबलवान्, वेद स्वरूप, स्मृति इतिहास पुराण और आगम आदि रूप, तीर्थोंके देव, महारथी ॥ ११९ ॥

निर्जीवो जीवनो मन्त्रः शुभाक्षो बहुकर्कशः ।
रत्नप्रभूतो रक्ताङ्गो महार्णवनिपानवित् ॥ १२० ॥

अचेतन प्रपञ्च रूप, देहादिके जीवन– चैतन्यप्रदाता, प्रणवादि मन्त्ररूप, शान्त– मंगल दृष्टिवाले, संहर्ता रूप, प्रचुर रत्न समन्वित, रक्ताङ्ग, महासागररूपी निपानोंको जाननेवाले ॥१२०॥

मूलो विशालो ह्यमृतो व्यक्ताव्यक्तस्तपोनिधिः ।
आरोहणो निरोहश्च शैलहारी महातपाः ॥ १२१ ॥

संसार वृक्षका मूल, अत्यन्त शोभायमान, अमृत स्वरूप, कार्य कारण रूप, तपोनिधि, परम पदमें आरोहण करनेके द्वाररूप, योगयुक्त, शैलहारी, महान् तपस्वी ॥ १२१ ॥

सेनाकल्पो महाकल्पो युगायुगकरो हरिः ।
युगरूपो महारूपः पवनो गहनो नगः ॥ १२२ ॥

समस्त सेनाका अलङ्कार स्वरूप, दिव्यभूषण युक्त, सब युगायुगके कर्ता, पदाभिमानी देवता, युगरूप, महान् रूपवाले, पवन स्वरूप, अगम्य, स्थिर ॥ १२२ ॥

न्यायनिर्वापणः पादः पण्डितो ह्यचलोपमः ।
बहुमालो महामालः सुमालो बहुलोचनः ॥ १२३ ॥

न्याययुक्त दाता, त्रिविक्रम, शरण लेने योग्य, परोक्षज्ञानी, निश्चल, अनेक मालाएं धारण करनेवाला, महान् माला धारण करनेवाला, सुंदर– मनोहर माला युक्त, बहुलोचन ॥१२३॥

विस्तारो लवणः कूपः कुसुमः सफलोदयः ।
वृषभो वृषभाङ्काङ्गो मणिबिल्वो जटाधरः ॥ १२४ ॥

विस्तीर्ण लवण समुद्र रूप, कुसुम, अवताररूपमें सफल, श्रेष्ठ वृषभके समान जिसके पार्श्वभाग है वह, मणि बिल्व, जटाधारी ॥ १२४ ॥

इन्दुर्विसर्गः सुमुखः सुरः सर्वायुधः सहः ।
निवेदनः सुधाजातः सुगन्धारो महाधनुः ॥ १२५ ॥

चन्द्रमा स्वरूप, विसर्जनीय स्वरूप, सुंदर मुखवाला, देवतास्वरूप, सब आयुधोंसे युक्त, सहनशील, विजयशील, सुधाजात, उत्तम गन्धसे युक्त, महाधनु ॥ १२५ ॥

गन्धमाली च भगवानुत्थानः सर्वकर्मणाम् ।
मन्थानो बहुलो बाहुः सकलः सर्वलोचनः ॥ १२६ ॥

गन्धमाली भगवान्, समस्त कर्मोंके उत्थान स्थान, जगत्को आलोडित करनेमें समर्थ महान् बाहुवाले, पूर्ण, सबके द्रष्टा, ॥ १२६ ॥

तरस्ताली करस्ताली ऊर्ध्वसंहननो वटः ।
छत्रं सुच्छत्रो विख्यातः सर्वलोकाश्रयो महान् ॥ १२७ ॥

तरस्ताली, करस्ताली, दृढ शरीरवाले, चिन्ता दूर करनेवाले, छत्र, सुछत्र, विख्यात, सब लोकोंके आधार, श्रेष्ठतम ॥ १२७ ॥

मुण्डो विरूपो विकृतो दण्डिमुण्डो विकुर्वणः ।
हर्यक्षः ककुभो वज्री दीप्तजिह्वः सहस्रपात् ॥ १२८ ॥

मुण्डित मस्तक, विकटरूपवाले, विकृतोंको धारण करनेवाले, दण्डधारी मुण्डित, कर्मके द्वारा अप्राप्य, सिंहरूप, सर्वदिक् रूप, वज्री, प्रदीप्त जिह्वावाले, सहस्रों पैरवाले ॥ १२८ ॥

सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ।
सहस्रबाहुः सर्वाङ्गः शरण्यः सर्वलोककृत् ॥ १२९ ॥

सहस्रों मस्तकवाले, देवेन्द्र, सर्वदेवमय, गुरु, सहस्रों बाहुओंवाले, सब अंगोंसे युक्त, शरण्य, सर्वलोककृत् ॥ १२९ ॥

पवित्रं त्रिमधुर्मन्त्रः कनिष्ठः कृष्णपिङ्गलः ।
ब्रह्मदण्डविनिर्माता शतघ्नी शतपाशधृक् ॥ १३० ॥

पवित्र, तीन मधुमंत्रोंके ज्ञाता, अदितिके कनिष्ठ पुत्र वामनरूपी विष्णु स्वरूप, हरिहर मूर्त्ति रूपसे कृष्ण पिंगल, ब्रह्मदण्डके निर्माता, शतघ्नी, सैकड़ों पाश धारण करनेवाले ॥ १३० ॥

पद्मगर्भो महागर्भो ब्रह्मगर्भो जलोद्भवः ।
गभस्तिर्ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्मविद्ब्राह्मणो गतिः ॥ १३१ ॥

ब्रह्मारूप, जगत् रूप गर्भको धारण करनेवाले, वेदको उदरमें धारण करनेवाले, समुद्रसे प्रकट हुए, रश्मि स्वरूप, वेदकर्त्ता, वेदाध्यायी, वेदार्थवित्, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठोंका परम अयन ॥ १३१ ॥

अनन्तरूपो नैकात्मा तिग्मतेजाः स्वयंभुवः ।
ऊर्ध्वगात्मा पशुपतिर्वातरंहा मनोजवः ॥ १३२ ॥

अनन्तरूप, अनेक शरीरधारी, ब्रह्माके विषयमें दृष्टि रखनेवाले हैं; देशकालवस्तुकृत उपाधिसे अतीत स्वरूप, पशुपति, वायुके समान वेगवाला, मनोजव ॥ १३२ ॥

चन्दनी पद्मनालाग्रः सुरभ्युत्तरणो नरः ।
कर्णिकारमहास्रग्वी नीलमौलिः पिनाकधृक् ॥ १३३ ॥

शरीरमें चन्दन लगानेवाले, पद्मनालके मूल स्वरूप, सुरभिको नीचे उतारनेवाले, पुरुषरूप, कनेरकी बड़ी माला धारण करनेवाले, नीलमणिमय किरीट शोभित मस्तकवाले, पिनाक धनुष धारण करनेवाले ॥ १३३ ॥

उमापतिरुमाकान्तो जाह्नवीधृगुमाधवः ।
वरो वराहो वरदो वरेण्यः सुमहास्वनः ॥ १३४ ॥

उमानामी ब्रह्मविद्याके यथेष्ट विनियोगके हेतु स्वामी, पार्वतीके प्रियतम, जान्हवी– गंगाको मस्तकपर धारण करनेवाले, पार्वतीका पति, श्रेष्ठ वराहरूपधारी भगवान्, वरदाता, जगत्पालक, हयग्रीव रूपसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले ॥ १३४ ॥

महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिङ्गलः ।
प्रीतात्मा प्रयतात्मा च संयतात्मा प्रधानधृक् ॥ १३५ ॥

महान् अनुग्रह करनेवाले, दुष्टोंका दमन करनेवाले, शत्रुनाशक, अर्द्धनारी नटेश्वर रूपसे दक्षिणार्द्धमें कर्पूरगौर और वामार्द्धमें कनकपिंगल, प्रीतात्मा, निर्मल शुद्धचित्त, इंद्रियोंको वशमें रखनेवाले, त्रिगुणात्मक जगत्कारण प्रधानाख्य अज्ञानका अधिष्ठान ॥ १३५ ॥

सर्वपार्श्वसुतस्तार्क्ष्यो धर्मसाधारणो वरः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा सुवृषो गोवृषेश्वरः ॥ १३६ ॥

सब दिशाओंके पुत्र स्वरूप, गरुड स्वरूप, पुण्यानुरूप प्रसाद स्वरूप, चराचरोंके आत्मा, सूक्ष्मात्मा, सुवृष, धर्मका ईश्वर ॥ १३६ ॥

साध्यर्षिर्वसुरादित्यो विवस्वान्सविता मृडः ।
व्यासः सर्वस्य संक्षेपो विस्तरः पर्ययो नयः ॥ १३७ ॥

देवोंका देवता और साध्योंका ऋषि, अदितिके पुत्र वसु स्वरूप, किरणोंसे सुशोभित सूर्य, कल्याणमय, पुराण इतिहासोंके कर्त्ता वेद व्यास स्वरूप, सुसंक्षिप्त और विस्तृत सृष्टि स्वरूप, समष्टिरूप, आचार स्वरूप ॥ १३७ ॥

ऋतुः संवत्सरो मासः पक्षः संख्यासमापनः ।
कला काष्ठा लवो मात्रा मुहूर्तोऽहः क्षपाः क्षणाः ॥ १३८ ॥

ऋतुरूप, संवत्सर रूप, मासरूप, पक्षरूप, ऋतुओंकी संख्या समाप्त करनेवाली संक्रान्ति दर्शपौर्णमासादि रूप, कला, काष्ठा, लव, मात्रा इत्यादि कालावयवस्वरूप, मुहूर्त, दिन और रात्रिरूप, क्षणरूप ॥ १३८ ॥

विश्वक्षेत्रं प्रजाबीजं लिङ्गमाद्यस्त्वनिन्दितः ।
सदसद्व्यक्तमव्यक्तं पिता माता पितामहः ॥ १३९ ॥

ब्रह्माण्डरूपी वृक्षके आधार, प्रजाओंके कारणरूप, महत् तत्त्वस्वरूप, अंकुर रूपी सबसे पहले प्रकट होनेवाले, अनिन्दित, सत्, असत्, साकाररूप, निराकाररूप, पिता, माता, पितामह ॥ १३९ ॥

×

स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ।
निर्वाणं ह्लादनं चैव ब्रह्मलोकः परा गतिः ॥ १४० ॥

स्वर्गके साधन, प्रजाके कारण, मोक्षके साधन, स्वर्गके साधन, मोक्षरूप, आनंदजनक, ब्रह्मलोकस्वरूप, सत्य लोक स्वरूप, ॥ १४० ॥

देवासुरविनिर्माता देवासुरपरायणः ।
देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ॥ १४१ ॥

देवता और असुरोंके निर्माता, देव और असुरोंके परम आश्रय, देवासुरगुरु, देव, देव और असुरोंसे वन्दित ॥ १४१ ॥

देवासुरमहामात्रो देवासुरगणाश्रयः ।
देवासुरगणाध्यक्षो देवासुरगणाग्रणीः ॥ १४२ ॥

देव और असुरोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ, देव और असुरगणोंके आश्रय, देव और असुरगणोंके अध्यक्ष, देव और असुरगणोंके अग्रणी, ॥ १४२ ॥

देवातिदेवो देवर्षिर्देवासुरवरप्रदः
देवासुरेश्वरो देवो देवासुरमहेश्वरः ॥ १४३ ॥

इन्द्रादिको अतिक्रम करके स्वयं प्रकाशमान, देवर्षि, देव और असुरोंको वर प्रदान करनेवाले, है । अन्तर्यामी रूपसे देव और असुरोंके ईश्वर, देव, अंतर्यामी ईश्वरका अधिष्ठान, देव और असुरोंके महान् ईश्वर ॥ १४३ ॥

सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो देवतात्मात्मसंभवः ।
उद्भिदस्त्रिक्रमो वैद्यो विरजो विरजोऽम्बरः ॥ १४४ ॥

सर्वदेवमय, अचिन्त्य, देवतात्मा, स्वतःसिद्ध, वृक्षादि स्वरूप, त्रिक्रम, वैद्यस्वरूप, रजोगुणसे रहित, निर्मल, विरजोम्बर ॥ १४४ ॥

ईड्यो हस्ती सुरव्याघ्रो देवसिंहो नरर्षभः ।
विबुधाग्रवरः श्रेष्ठः सर्वदेवोत्तमोत्तमः ॥ १४५ ॥

स्तवनीय, हस्ती, देवताओंमें श्रेष्ठ, देवताओंके बीच पराक्रमी, मनुष्योंके बीच श्रेष्ठ, प्राज्ञ, सबसे अगाडी यज्ञ भाग वरण करनेवाले, श्रेष्ठ, सब देवताओंमें श्रेष्ठसे श्रेष्ठ ॥ १४५ ॥

प्रयुक्तः शोभनो वज्र ईशानः प्रभुरव्ययः ।
गुरुः कान्तो निजः सर्गः पवित्रः सर्ववाहनः ॥ १४६ ॥

सदा ध्यानमग्न, सुविभूषित, वज्रधारी, तेजस्वरूप, प्रभु, अव्यय, गुरु, आनंदकी पराकाष्ठा स्वरूप, सृष्टिसे– अपनेसे अभिन्न, मृत्युके क्लेशसे परित्राण करनेवाले, सर्ववाहन ॥ १४६ ॥

शृङ्गी शृङ्गप्रियो बभ्रू राजराजो निरामयः ।
अभिरामः सुरगणो विरामः सर्वसाधनः ॥ १४७ ॥
वृषादि रूप, पर्वत शिखरोंको प्रिय माननेवाले, विष्णु स्वरूप, राजाओंके राजा, कुबेरस्वरूप, निर्दोष, आनन्द देनेवाले, देव समुदायरूप, सर्वोपरम रूप, सर्वसाधन ॥ १४७ ॥

ललाटाक्षो विश्वदेहो हरिणो ब्रह्मवर्चसः ।
स्थावराणां पतिश्चैव नियमेन्द्रियवर्धनः ॥ १४८ ॥
ललाटमें नेत्र धारण करनेवाले, विश्वदेह, मृगरूप, दिव्य तपसे युक्त तेजस्वी, हिमाचल आदि रूपसे पर्वतोंके स्वामी, नियमोंसे इंद्रियोंका दमन करनेवाले ॥ १४८ ॥

सिद्धार्थः सर्वभूतार्थोऽचिन्त्यः सत्यव्रतः शुचिः ।
व्रताधिपः परं ब्रह्म मुक्तानां परमा गतिः ॥ १४९ ॥
सिद्धार्थ, जिसके सब प्रयोजन सिद्ध हैं, साधारण उपास्यसे पृथक्, ब्रह्मनिष्ठ, निर्मलचित्त, समस्त व्रतोंका फलदाता, विश्वतैजस प्राज्ञ नाम अपर ब्रह्मसे श्रेष्ठ तुरीय शिवाख्य श्रुति-प्रसिद्ध, देशकाल और वस्तुओंसे परिच्छेदरहित, अखण्ड एक रस तन्मात्र रूपसे ब्रह्म, भक्तोंकी परमगति ॥ १४९ ॥

विमुक्तो मुक्ततेजाश्च श्रीमाञ्श्रीवर्धनो जगत् ।
यथाप्रधानं भगवानिति भक्त्या स्तुतो मया ॥ १५० ॥
नित्य मुक्त, मुक्ततेजा, श्रीमान्, श्रीवर्द्धन, जगत् स्वरूप, इस ही प्रकार मैंने प्रधान नामोंसे भक्तिपूर्वक भगवान् शंकरकी स्तुति की थी ॥ १५० ॥

यं न ब्रह्मादयो देवा विदुर्यं न महर्षयः ।
तं स्तव्यमर्च्यं वन्द्यं च कः स्तोष्यति जगत्पतिम् ॥ १५१ ॥
ब्रह्मादि देवता और महर्षि लोग जिसे यथार्थ रूपसे नहीं जानते, उस स्तवनीय, पूजनीय और वन्दनीय जगदीश्वरकी दूसरा कौन स्तुति कर सकेगा? ॥ १५१ ॥

भक्तिमेव पुरस्कृत्य मया यज्ञपतिर्वसुः ।
ततोऽभ्यनुज्ञां प्राप्यैव स्तुतो मतिमतां वरः ॥ १५२ ॥
मैंने भक्तिपूर्वक पुरस्कार करके यज्ञपति मतिमतांवर वसुकी उनसे सब भांतिसे अनुज्ञात होके ही स्तुति की थी ॥ १५२ ॥

शिवमेभिः स्तुवन्देवं नामभिः पुष्टिवर्धनैः ।
नित्ययुक्तः शुचिर्भूत्वा प्राप्नोत्यात्मानमात्मना ॥ १५३ ॥
नित्य योगयुक्त शुद्धचित्तवाला भक्त यदि इन पुष्टिवर्द्धक नामोंसे भगवान् महादेव शिवकी स्तुति करें, तो वह स्वयं ही परमात्मा शिवको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ १५३ ॥

एतद्धि परमं ब्रह्म स्वयं गीतं स्वयंभुवा ।
ऋषयश्चैव देवाश्च स्तुवन्त्येतेन तत्परम् ॥ १५४ ॥

यही उत्तम वेदतुल्य स्तोत्र साक्षात् स्वयंभु शिवने गाया था; इस ही लिये ऋषि तथा देव-वृन्द इन नामोंसे महादेवकी स्तुति किया करते हैं ॥ १५४ ॥

स्तूयमानो महादेवः प्रीयते चात्मनात्मभिः ।
भक्तानुकम्पी भगवानात्मसंस्थान्करोति तान् ॥ १५५ ॥

भक्तोंपर कृपा करनेवाले भगवान् शिव महादेव भक्तोंके द्वारा स्वयंके इन नामोंके स्तोत्रसे स्तुतियुक्त होके प्रसन्न होते हैं और भगवान् उनको आत्मनिष्ठ करते हैं ॥ १५५ ॥

तथैव च मनुष्येषु ये मनुष्याः प्रधानतः ।
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च बहुभिर्जन्मभिः स्तवैः ॥ १५६ ॥

इसी प्रकार मनुष्योंके बीच जो लोग प्रधानतः आस्तिक तथा श्रद्धावान् हैं, और अनेक जन्ममें की हुई स्तुतिके द्वारा अनन्य साधारण सनातन परम देवको ॥ १५६ ॥

जाग्रतश्च स्वपन्तश्च व्रजन्तः पथि संस्थिताः ।
स्तुवन्ति स्तूयमानाश्च तुष्यन्ति च रमन्ति च ।
जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसारयोनिषु ॥ १५७ ॥

जागते, सोते, चलते, बैठते, रास्तेमेंसे जाते समय महेश्वरका बार बार ध्यान करते हैं, वे स्वयं भी स्तूयमान होकर सदा सन्तुष्ट और सुखी होते हैं । सहस्र कोटि जन्म तक अनेक संसार-योनिमें भ्रमण करनेसे ॥ १५७ ॥

जन्तोर्विशुद्धपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ।
उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः ॥ १५८ ॥

जब जीवके पाप नष्ट होकर वह शुद्ध निर्मल होता है, तब महादेवमें उसकी भक्ति उत्पन्न होती है । सब प्रकार महेश्वरमें सम्पूर्ण भावसे पूर्णतया उसकी अनन्यभक्ति अर्थात् भवसे आत्माको अभिन्न जानके उनमें जो भक्ति हुआ करती है, वही उत्पन्न होती है ॥ १५८ ॥

कारणं भावितं तस्य सर्वमुक्तस्य सर्वतः ।
एतद्देवेषु दुष्प्रापं मनुष्येषु न लभ्यते ॥ १५९ ॥

जगत्के कारण भगवान् शिवमें सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर उसको संपूर्णतया अनन्य भक्ति प्राप्त होती है । यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, वह मनुष्य मण्डलमें नहीं प्राप्त होती ॥ १५९ ॥

निर्विघ्ना निश्चला रुद्रे भक्तिरव्यभिचारिणी ।
तस्यैव च प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।
यया यान्ति परां सिद्धिं तद्भावगतचेतसः ॥ १६० ॥

रुद्रमें अव्यभिचारी, निर्विघ्न और निर्मल भक्ति उनकी कृपासे ही मनुष्योंमें अनन्य भक्ति उत्पन्न होती है, जिसके सहारे उनके ध्यानमें तत्पर रहकर वे परम सिद्धिको पाते हैं ॥ १६० ॥

ये सर्वभावोपगताः परत्वेनाभवन्नराः ।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात्तान्समुद्धरेत् ॥ १६१ ॥

जो लोग पहलेसे ही सब प्रकारके भावसे अनुगत होकर महेश्वरके शरणापन्न होते हैं, भक्त-वत्सल महादेव उन्हें संसारसे पार करते हैं ॥ १६१ ॥

एवमन्ये न कुर्वन्ति देवाः संसारमोचनम्
मनुष्याणां महादेवादन्यत्रापि तपोबलात् ॥ १६२ ॥

महादेव शंकरके अतिरिक्त अन्य देवताएं भी इस प्रकार तपोबलसे मनुष्योंको संसार बन्धनसे मुक्त नहीं कर सकते हैं ॥ १६२ ॥

इति तेनेन्द्रकल्पेन भगवान्सदसत्पतिः ।
कृत्तिवासाः स्तुतः कृष्ण तण्डिना शुद्धबुद्धिना ॥ १६३ ॥

हे श्रीकृष्ण ! इस ही प्रकारसे उन इन्द्रके समान तेजस्वी शुद्धबुद्धि तण्डि मुनिने गजचर्मधारी तथा कार्यकारणके स्वामी भगवान् शङ्करकी स्तुति की थी ॥ १६३ ॥

स्तवमेतं भगवतो ब्रह्मा स्वयमधारयत् ।
ब्रह्मा प्रोवाच शक्राय शक्रः प्रोवाच मृत्यवे ॥ १६४ ॥

भगवान् शंकरके इस परम रहस्यमय स्तोत्रको ब्रह्माने स्वयं अपने हृदयमें धारण किया था, अनन्तर ब्रह्माने इसे इन्द्रसे कहा, इन्द्रने मृत्युसे कहा ॥ १६४ ॥

मृत्युः प्रोवाच रुद्राणां रुद्रेभ्यस्तण्डिमागमत् ।
महता तपसा प्राप्तस्तण्डिना ब्रह्मसद्मनि ॥ १६५ ॥

और मृत्युने रुद्रगणोंके निकट इसका वर्णन किया, रुद्रगणोंके द्वारा यह स्तोत्र तण्डिमुनिको मालूम हुआ। तण्डिने ब्रह्मलोकमें महत् तपस्याके सहारे इसे पाया ॥ १६५ ॥

तण्डिः प्रोवाच शुक्राय गौतमाय च भार्गवः ।
वैवस्वताय मनवे गौतमः प्राह माधव ॥ १६६ ॥

हे माधव ! तण्डिने शुक्रसे कहा, शुक्रने गौतमसे और गौतमने वैवस्वत मनुके निकट इसे वर्णन किया ॥ १६६ ॥

नारायणाय साध्याय मनुरिष्टाय धीमते ।
यमाय प्राह भगवान्साध्यो नारायणोऽच्युतः ॥ १६७ ॥
वैवस्वत मनुने नारायण नामक बुद्धिमान् पूज्य साध्यको इस स्तोत्रका उपदेश किया, अच्युत पूजित साध्य नारायणने यमसे कहा ॥ १६७ ॥

नाचिकेताय भगवानाह वैवस्वतो यमः ।
मार्कण्डेयाय वार्ष्णेय नाचिकेतोऽभ्यभाषत ॥ १६८ ॥
सूर्यपुत्र भगवान् यमने नाचिकेतासे कहा । हे वृष्णिवंशप्रसूत ! नाचिकेताने मार्कण्डेय मुनिके समीप इसका वर्णन किया ॥ १६८ ॥

मार्कण्डेयान्मया प्राप्तं नियमेन जनार्दन ।
तवाप्यहममित्रघ्न स्तवं दद्म्यद्य विश्रुतम् ।
स्वर्ग्यमारोग्यमायुष्यं धन्यं बल्यं तथैव च ॥ १६९ ॥
हे जनार्दन ! यह स्तोत्र नियमपूर्वक मुझे मार्कण्डेय ऋषिके समीप प्राप्त हुआ है । हे शत्रु-नाशन ! मैं तुम्हें यह अभिश्रुत स्तोत्र आज प्रदान करूंगा । यह स्तोत्र स्वर्ग और आरोग्य जनक, आयुष्कर, धनप्रद तथा बल प्रदान करनेवाला है ॥ १६९ ॥

न तस्य विघ्नं कुर्वन्ति दानवा यक्षराक्षसाः ।
पिशाचा यातुधानाश्च गुह्यका भुजगा अपि ॥ १७० ॥
यक्ष, राक्षस, दानव, पिशाच, यातुधान, गुह्यक वा सर्पादि इसमें विघ्न नहीं कर सकते हैं ॥ १७० ॥

यः पठेत शुचिर्भूत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अभग्नयोगो वर्षं तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ १०५२ ॥

जो मनुष्य पवित्र शुद्ध होकर ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय और अखण्डित योगसे युक्त होकर एक वर्षतक सदा इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १७१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ १०५२ ॥

: १८ :

वैशम्पायन उवाच—
महायोगी ततः प्राह कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
पठस्व पुत्र भद्रं ते प्रीयतां ते महेश्वरः ॥ १ ॥
श्रीवैशम्पायन मुनि बोले—अनन्तर महायोगी श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि व्यास कहने लगे, हे तात ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम इस स्तोत्रका पाठ करो, और महादेव तुमपर प्रसन्न होंगे ॥ १ ॥

पुरा पुत्र मया मेरौ तप्यता परमं तपः।
पुत्रहेतोर्महाराज स्तव एषोऽनुकीर्तितः ॥ २॥

हे तात महाराज! पहले जब मैंने पुत्रके निमित्त सुमेरु पर्वतपर परम तपस्या की थी, उस समयमें इस ही स्तोत्रका पाठ किया था ॥ २ ॥

लब्धवानस्मि तान्कामानहं वै पाण्डुनन्दन।
तथा त्वमपि शर्वाद्धि सर्वान्कामानवाप्स्यसि ॥ ३॥

हे पाण्डुनन्दन! मैंने इस ही स्तोत्रका पाठ करके अभिलषित वस्तुओंको पाया था, वैसे ही तुम भी सब कामनाएं महादेवसे प्राप्त करोगे ॥ ३ ॥

चतुःशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा।
आलम्बायन इत्येव विश्रुतः करुणात्मकः ॥ ४॥

अनन्तर इन्द्रके प्रियमित्र आलंबायन गोत्रीय करुणामय विख्यात चतुःशीर्ष इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

मया गोकर्णमासाद्य तपस्तप्त्वा शतं समाः।
अयोनिजानां दान्तानां धर्मज्ञानां सुवर्चसाम् ॥ ५॥

हे पाण्डुनृपनन्दन! पहले समयमें मैंने गोकर्ण तीर्थमें जाके सौ वर्षोंतक तपस्या करके अयोनिज, दान्त, धर्मज्ञ, अत्यन्त तेजस्वी, ॥ ५ ॥

अजराणामदुःखानां शतवर्षसहस्रिणाम्।
लब्धं पुत्रशतं शर्वात्पुरा पाण्डुनृपात्मज ॥ ६॥

अजर, दुःखरहित और एक लाख वर्षकी परमायु विशिष्ट सौ पुत्र भगवान् शंकरसे प्राप्त किये ॥ ६ ॥

वाल्मीकिश्चापि भगवान्युधिष्ठिरमभाषत।
विवादे साम्नि मुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति।
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत ॥ ७॥

भगवान् वाल्मीकि मुनि भी राजा युधिष्ठिरसे बोले, सामवेदके विषयमें मुनियोंके साथ विवाद हो रहा था, तब उन्होंने मुझे " तुम ब्रह्म हत्यारे होगे " ऐसा शाप दिया था। हे भारत! इतना कहते ही क्षणभरमें मैं उस अधर्मसे आविष्ट हुआ था ॥ ७ ॥

सोऽहमीशानमनघमस्तौषं शरणं गतः ।
मुक्तश्चास्म्यघशः पापात्ततो दुःखविनाशनः ।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति ॥ ८ ॥

उस समय मैं अनघ तेजस्वी भगवान् शंकरकी शरणमें जाकर उनकी स्तुति की; इससे मैं पापसे मुक्त हो गया; फिर दुःखनाशन त्रिपुरहन्ता महादेवने मुझसे कहा, तुम्हें श्रेष्ठ यश प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

जामदग्न्यश्च कौन्तेयमाह धर्मभृतां वरः ।
ऋषिमध्ये स्थितस्तात तपन्निव विभावसुः ॥ ९ ॥

तात ! धर्मात्माओंमें प्रवर जमदग्नि पुत्र परशुराम ऋषियोंके बीचमें खडे होकर सूर्यके समान प्रकाशमान होते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे बोले ॥ ९ ॥

पितृविप्रवधेनाहमार्तो वै पाण्डवाग्रज ।
शुचिर्भूत्वा महादेवं गतवाञ्शरणं नृप ॥ १० ॥

हे पाण्डवाग्रज ! मैं पितृतुल्य बडे भाइयोंको मारकर पितृवध और ब्राह्मण वधका पाप करनेसे अत्यन्त आर्त हुआ था। हे राजन् ! अनन्तर पवित्र होकर महादेवकी शरणमें गया ॥१०॥

नामभिश्चास्तुवं देवं ततस्तुष्टोऽभवद्भवः ।
परशुं च ददौ देवो दिव्यान्यस्त्राणि चैव मे ॥ ११ ॥

और इन्हीं नामोंसे महादेवकी स्तुति की। इससे भगवान् महादेव मुझपर प्रसन्न हुए और मुझे श्रेष्ठ परशु और दिव्य अस्त्र प्रदान किये; फिर बोले ॥ ११ ॥

पापं न भविता तेऽद्य अजेयश्च भविष्यसि ।
न ते प्रभविता मृत्युर्यशस्वी च भविष्यसि ॥ १२ ॥

तुम्हें आज पाप नहीं लगेगा; तुम सबसे अजेय होगे; मृत्यु तुम्हें ले नहीं सकेगी और तुम यशस्वी होगे ॥ १२ ॥

आह मां भगवानेवं शिखण्डी शिवविग्रहः ।
यदवाप्तं च मे सर्वं प्रसादात्तस्य धीमतः ॥ १३ ॥

इसप्रकार कल्याणमय विग्रहवाले जटाधारी भगवान शंकरने जो मुझसे कहा था, उस धीमान्‌की कृपासे मैंने यह सब पाया है ॥ १३ ॥

असितो देवलश्चैव प्राह पाण्डुसुतं नृपम् ।
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय चितो धर्मोऽनशन्मम ।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददद्भवः ॥ १४ ॥

असित देवल मुनि पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरसे बोले– हे कौन्तेय ! आपके प्रभावसे मेरा धर्म नष्ट हो गया था; अनन्तर भगवान् महादेवने मुझे वह धर्म, उत्तम यश और परमायु प्रदान की ॥ १४ ॥

ऋषिर्गृत्समदो नाम शक्रस्य दयितः सखा ।
प्राहाजमीढं भगवान्बृहस्पतिसमद्युतिः ॥ १५ ॥

बृहस्पतिके समान तेजस्वी, इन्द्रके प्रियमित्र भगवान् गृत्समद अजमीढवंशीय राजा युधिष्ठिरसे बोले– ॥ १५ ॥

वसिष्ठो नाम भगवांश्चाक्षुषस्य मनोः सुतः ।
शतक्रतोरचिन्त्यस्य सत्रे वर्षसहस्रिके ।
वर्तमानेऽब्रवीद्वाक्यं साम्नि ह्युच्चारिते मया ॥ १६ ॥

चाक्षुष मनुके पुत्र भगवान् वरिष्ठ अचिन्तनीय शतक्रतुके सहस्रवार्षिक यज्ञके वर्तमान कालमें मैंने विपरीत रीतिसे सामका उच्चारण किया, तब वह मुझसे बोले ॥ १६ ॥

रथन्तरं द्विजश्रेष्ठ न सम्यगिति वर्तते ।
समीक्षस्व पुनर्बुद्ध्या हर्षं त्यक्त्वा द्विजोत्तम ।
अयज्ञवाहिनं पापमकार्षीस्त्वं सुदुर्मते ॥ १७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! तुमसे यह रथन्तर सामका पाठ ठीक रीतिसे उच्चारित नहीं हुआ है । हे द्विजोत्तम ! तुम मिथ्याभिनिवेश रूप हर्षका परित्याग करके फिर बुद्धिके सहारे विचार करो । रे अत्यन्त नीच बुद्धिवाले ! तुमने अयज्ञवाही पाप अर्थात् अन्यथा रीतिसे सामपाठ रूपी अपराध किया है ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा महाक्रोधात्प्राह रुष्टः पुनर्वचः ।
प्रज्ञया रहितो दुःखी नित्यं भीतो वनेचरः ।
दश वर्षसहस्राणि दशाष्टौ च शतानि च ॥ १८ ॥

वह ऐसा कहके महाक्रोधसे रुष्ट होकर फिर बोले– ' तुम बुद्धिहीन, दुःखयुक्त, सदा भयभीत, वनचारी, ग्यारह हजार आठ सौ वर्षोंतक ॥ १८ ॥

नष्टपानीययवसे मृगैरन्यैश्च वर्जिते ।
अयज्ञीयद्रुमे देशे रुरुसिंहनिषेविते ।
भविता त्वं मृगः क्रूरो महादुःखसमन्वितः ॥ १९ ॥

क्रूर मृग होकर, जल और वायुसे रहित, अन्य पशुओंसे वर्जित, अयज्ञीय वृक्षोंसे युक्त, रुरु तथा सिंहोंसे निषेवित वनके बीच महादुःखसे संयुक्त क्रूर स्वभाववाले पशु होकर वास करोगे ॥ १९ ॥

×

तस्य वाक्यस्य निधने पार्थ जातो ह्यहं मृगः ।
ततो मां शरणं प्राप्तं प्राह योगी महेश्वरः ॥ २० ॥

हे पार्थ ! उनका वचन पूरा होते ही मैं मृग हुआ। अनन्तर जब मैं शिवका शरणागत हुआ तब महायोगी महेश्वर मुझसे बोले– ॥ २० ॥

अजरश्चामरश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
साक्ष्यं समस्तु ते सौख्यं युवयोर्वर्धतां क्रतुः ॥ २१ ॥

तुम अजर, अमर और दुःखरहित होगे । इन्द्रके सङ्ग तुम्हारा ऐकमत्य होगा और तुम मेरे समान होगे; तथा तुम्हें सुखसमृद्धि प्राप्त होगी; और तुम दोनोंका यज्ञ भी वर्द्धित होता रहे ॥ २१ ॥

अनुग्रहानेवमेष करोति भगवान्विभुः ।
परं धाता विधाता च सुखदुःखे च सर्वदा ॥ २२ ॥

भगवान् महेश्वर इस ही प्रकार सबके ऊपर अनुग्रह किया करते हैं । येही सबका धारण पोषण करते हैं और सदा सबके सुखदुःखके विधाता हैं ॥ २२ ॥

अचिन्त्य एष भगवान्कर्मणा मनसा गिरा ।
न मे तात युधि श्रेष्ठ विद्यया पण्डितः समः ॥ २३ ॥

ये अचिन्त्य भगवान् शिव मन, वाणी और कर्मसे आराधना करने योग्य हैं । हे तात ! युद्धमें श्रेष्ठ वीर ! उनकी कृपासे विद्या विषयमें मेरे समान पण्डित कोई भी नहीं है ॥ २३ ॥

जैगीषव्य उवाच—

ममाष्टगुणमैश्वर्यं दत्तं भगवता पुरा ।
यत्नेनाल्पेन बलिना वाराणस्यां युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

जैगीषव्य बोले– हे युधिष्ठिर ! पहले समयमें काशीपुरीमें बलशालियोंमें श्रेष्ठ भगवानने मेरे अल्प प्रयत्नसे संतुष्ट हो मुझे अष्टगुणोंसे युक्त ऐश्वर्य दान किया था ॥ २४ ॥

गार्ग्य उवाच—

चतुःषष्ट्यङ्गमददात्कालज्ञानं ममाद्भुतम् ।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव ॥ २५ ॥

गार्ग्य बोले– हे पाण्डव ! भगवान शिवने सरस्वती नदीके तट पर मेरे मानस यज्ञके द्वारा सन्तुष्ट होकर मुझे चौंसठ अंग विशिष्ट अद्भुत कालज्ञान प्रदान किया ॥ २५ ॥

तुल्यं मम सहस्रं तु सुतानां ब्रह्मवादिनाम् ।
आयुश्चैव सपुत्रस्य संवत्सरशतायुतम् ॥ २६ ॥

और मेरे समान ब्रह्मवादी एक हजार पुत्र तथा पुत्रोंके सहित मेरी दस लाख वर्षकी परमायु प्रदान की है ॥ २६ ॥

पराशर उवाच—

प्रसाद्याहं पुरा शर्वं मनसाचिन्तयं नृप ।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः ।
वेदव्यासः श्रियावासो ब्रह्मणः करुणात्मकः ॥ २७ ॥

पराशर बोले— हे महाराज ! पहले मैंने महेश्वरको प्रसन्न करके मन ही मन उनका ध्यान किया था; इसका कारण यह था कि महातपस्वी, महातेजस्वी, महायोगी, महायशस्वी, श्रीसंपन्न, ब्रह्मनिष्ठ और दयालु वेदव्यास ॥ २७ ॥

अपि नामेप्सितः पुत्रो मम स्याद्वै महेश्वरात् ।
इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः ॥ २८ ॥

नामक अभीप्सित पुत्र महादेवकी कृपासे मुझे प्राप्त हो । अनन्तर सुरसत्तम महादेव मेरे हृदयका अभिप्राय जानके बोले ॥ २८ ॥

मयि संभवतस्तस्य फलात्कृष्णो भविष्यति ।
सावर्णस्य मनोः सर्गे सप्तर्षिश्च भविष्यति ॥ २९ ॥

मुझमें जो तुम भक्तिभाव रखते हो, उसके फलसे तुम्हारे कृष्ण नामक पुत्र होगा; वह सावर्णिक मन्वन्तरके समय सप्तर्षिके पदपर प्रतिष्ठित होगा ॥ २९ ॥

वेदानां च स वै व्यस्ता कुरुवंशकरस्तथा ।
इतिहासस्य कर्ता च पुत्रस्ते जगतो हितः ॥ ३० ॥

तुम्हारा वह पुत्र वेदोंका ज्ञानी और कुरुवंशका प्रवर्तक होगा; जगत्का हितैषी और इतिहास-कर्ता होगा ॥ ३० ॥

भविष्यति महेन्द्रस्य दयितः स महामुनिः ।
अजरश्चामरश्चैव पराशर सुतस्तव ॥ ३१ ॥

और इन्द्रका परमप्रिय महामुनि होगा । हे पराशर ! तुम्हारा पुत्र सदा अजर तथा अमर होगा ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
युधिष्ठिर महायोगी वीर्यवानक्षयोऽव्ययः ॥ ३२ ॥

हे युधिष्ठिर ! वह महायोगी, वीर्यवान्, अक्षय और अव्यय भगवान् इस ही प्रकार कहके उसी स्थानमें अन्तर्द्धान होगये ॥ ३२ ॥

माण्डव्य उवाच—

अचौरश्चौरशङ्कायां शूले भिन्नो ह्यहं यदा ।
तत्रस्थेन स्तुतो देवः प्राह मां वै महेश्वरः ॥ ३३ ॥

माण्डव्य बोले— मैं चोर न होनेपर भी चोरी संदेहमें मुझे शूलीपर चढाया गया था; उस समय वहींसे मैंने महेश्वरकी स्तुति की, तब वे महेश्वर मुझसे बोले ॥ ३३ ॥

मोक्षं प्राप्स्यसि शूलाच्च जीविष्यसि समार्बुदम् ।
रुजा शूलकृता चैव न ते विप्र भविष्यति ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव वर्जितस्त्वं भविष्यसि ॥ ३४ ॥

हे विप्र ! तुम शूलीसे छूट जाओगे और अर्बुद वर्षतक जीवित रहोगे, तथा तुम्हें इस शूलीसे कुछ भी पीडा न होगी, तुम आधि-व्याधिसे रहित होगे ॥ ३४ ॥

पादाच्चतुर्थात्संभूत आत्मा यस्मान्मुने तव ।
त्वं भविष्यस्यनुपमो जन्म वै सफलं कुरु ॥ ३५ ॥

हे मुनि ! तुम्हारा यह शरीर जब धर्मके चौथे चरण सत्यसे उत्पन्न हुआ है, तब तुम अवश्यही अनुपम सत्यवादी होगे, इसलिये अपना जन्म सफल करो ॥ ३५ ॥

तीर्थाभिषेकं सफलं त्वमविघ्नेन चाप्स्यसि ।
स्वर्गं चैवाक्षयं विप्र विदधामि तवोर्जितम् ॥ ३६ ॥

तुम बिना विघ्नके सब तीर्थोंमें स्नान जनित फल पाओगे । हे विप्र ! तुम्हारे निमित्त मैं उज्ज्वल और अक्षय स्वर्गका विधान करता हूं ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा तु भगवान्वरेण्यो वृषवाहनः ।
महेश्वरो महाराज कृत्तिवासा महाद्युतिः ।
सगणो दैवतश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३७ ॥

हे महाराज ! कृत्तिवासा, महातेजस्वी, देवश्रेष्ठ वृषवाहन वरणीय भगवान् महेश्वर ऐसा कहके उस ही स्थानमें अपने गणोंके सहित अन्तर्द्धान हुए ॥ ३७ ॥

गालव उवाच—

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातो ह्यहं पितरमागतः ।
अब्रवीन्मां ततो माता दुःखिता रुदती भृशम् ॥ ३८ ॥

गालव मुनि बोले— मैंने विश्वामित्र मुनिकी आज्ञा पाके पिताके समीप गमन किया; उस समय मेरी माता अत्यंत दुःखित होके रोदन करती हुई मुझसे बोली ॥ ३८ ॥

कौशिकेनाभ्यनुज्ञातं पुत्रं वेदविभूषितम् ।
न तात तरुणं दान्तं पिता त्वां पश्यतेऽनघ ॥ ३९ ॥

हे निष्पाप पुत्र ! विश्वामित्र मुनिकी आज्ञा पाके घर आये हुए वेद विद्या विभूषित तुझ तरुण और जितेन्द्रिय पुत्रको तुम्हारे पिता नहीं देखते हैं ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा जनन्या वचनं निराशो गुरुदर्शने ।
नियतात्मा महादेवमपश्यं सोऽब्रवीच्च माम् ॥ ४० ॥

मैंने माताका वचन सुनके पितृदर्शनसे निराश होकर संयतचित्तसे महादेवका दर्शन किया; वह मुझसे बोले ॥ ४० ॥

पिता माता च ते त्वं च पुत्र मृत्युविवर्जिताः ।
भविष्यथ विश क्षिप्रं द्रष्टासि पितरं क्षये ॥ ४१ ॥

हे पुत्र ! तुम पितामाताके सहित मृत्युरहित होगे, इसलिये शीघ्र गृहमें प्रवेश करो। वहां तुम्हें पिताका दर्शन होगा ॥ ४१ ॥

अनुज्ञातो भगवता गृहं गत्वा युधिष्ठिर ।
अपश्यं पितरं तात इष्टिं कृत्वा विनिःसृतम् ॥ ४२ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! मैंने भगवान्की आज्ञानुसार फिर गृहमें जाके यज्ञ करके यज्ञशालासे निकले हुए पिताको देखा ॥ ४२ ॥

उपस्पृश्य गृहीत्वेध्मं कुशांश्च शरणाद्गुरून् ।
तान्विसृज्य च मां प्राह पिता सास्राविलेक्षणः ॥ ४३ ॥

पिता कुशकाठ तथा वृक्षके स्वयं गिरे हुए फलोंको लेकर गृहमें आ रहे हैं। उन्होंने हाथमें स्थित कुशकाष्ठ आदिका परित्याग करके आखोंमें आंसू भरके वे बोले ॥ ४३ ॥

प्रणमन्तं परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय पाण्डव ।
दिष्ट्या दृष्टोऽसि मे पुत्र कृतविद्य इहागतः ॥ ४४ ॥

उन्हें देखतेही मैंने प्रणाम किया, पिताने मुझे आलिंगन किया और मेरा मस्तक सूंघा; हे पुत्र ! भाग्यसे ही मैंने तुम्हें कृतविद्य होकर घरमें आया हुआ देखा ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतान्यत्यद्भुतान्येव कर्माण्यथ महात्मनः ।
प्रोक्तानि मुनिभिः श्रुत्वा विस्मयामास पाण्डवः ॥ ४५ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुनियोंके कहे हुए महानुभाव महादेवके यह सब अत्यन्त अद्भुत कर्म सुनके विस्मित हुए ॥ ४४ ॥

ततः कृष्णोऽब्रवीद्वाक्यं पुनर्मतिमतां वरः ।
युधिष्ठिरं धर्मनित्यं पुरुहूतमिवेश्वरः ॥ ४६ ॥

अनन्तर सर्वनियन्ता बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र धर्ममें सदा रत युधिष्ठिरसे जैसे भगवान् विष्णु देवराज इन्द्रसे कहते हैं वैसे ही फिर कहने लगे ॥ ४६ ॥

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे ।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च रुद्राः ससाध्या वरुणो वित्तगोपः ॥ ४७ ॥

हे महाराज ! सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, वसुगण, विश्वगण, धाता, अर्यमा, शुक्र, बृहस्पति, रुद्रगण, साध्यगण, वरुण, कुबेर, ॥ ४७ ॥

ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः ।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च रक्षा दीक्षा नियमा ये च केचित् ॥ ४८ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, वायुदेव, ब्रह्म, सत्य, वेद, यज्ञ, दक्षिणा, वेद पढ़नेवाले, सोम, यजमान, हव्य या हवि, रक्षा, दीक्षा तथा जो कोई नियम हैं ॥ ४८ ॥

स्वाहा वषड्ब्राह्मणाः सौरभेया धर्मं चक्रं कालचक्रं चरं च ।
यशो दमो बुद्धिमती स्थितिश्च शुभाशुभं मुनयश्चैव सप्त ॥ ४९ ॥

स्वाहा, वषट्, ब्राह्मणवृन्द, गौ, धर्म, चक्र, कालचक्र, चर, यश, दम, बुद्धिमती स्थिति, शुभाशुभ, सप्तर्षि ॥ ४९ ॥

अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च स्पर्शे सिद्धिः कर्मणां या च सिद्धिः ।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च लेखाः सुयामास्तुषिता ब्रह्मकायाः ॥५०॥

उत्तम बुद्धि, मन, दर्शन, स्पर्श सिद्धि, कार्यसिद्धि, देवगण, ऊष्मप, सोमप, लेखा, उत्तम याम तुषितगण, ब्रह्मकायगण ॥ ५० ॥

आभास्वरा गन्धपा दृष्टिपाश्च वाचा विरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः ।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥ ५१ ॥

आभासुरगण, गन्धपगण, दृष्टिपगण वाणी, मनके विरुद्ध और सविरुद्ध भाव, शुद्ध, निर्माणरत देवगण, स्पर्शसे भोजन करनेवाले, दर्शनसे पेय पीनेवाले और घी पीनेवाले ॥ ५१ ॥

चिन्तागता ये च देवेषु मुख्या ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा यक्षास्तथा पन्नगाश्चारणाश्च ॥ ५२ ॥

हे आजमीढवंशीय महाराज! इनके अतिरिक्त जो सब सङ्कल्पमात्रमें जिनके सम्मुख सब वस्तु प्रकाशित होती हैं, देवताओंके बीच जो ऐसे मुख्य देवता है जो दूसरे देवता हैं, और गरुड, गन्धर्व, पिशाच, दानव, यक्ष, पन्नगगण, चारण ॥ ५२ ॥

सूक्ष्मं स्थूलं मृदु यच्चाप्यसूक्ष्मं सुखं दुःखं सुखदुःखान्तरं च ।
सांख्यं योगं यत्पराणां परं च शर्वाज्जातं विद्धि यत्कीर्तितं मे ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म, स्थूल, मृदु, असूक्ष्म, सुख, दुःख, अन्तर सुख दुःख तथा श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ सांख्य योग इत्यादि जो कुछ वर्णित हुए हैं, वे सभी महेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, यह समझो ॥५३॥

तत्संभूता भूतकृतो वरेण्याः सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः ।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥ ५४ ॥

जो इस पृथ्वीमें आविष्ट होकर उस देवके इस पुरातनी सृष्टिकी रक्षा करते हैं, जो इस जगत्के रक्षक प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले और श्रेष्ठ हैं, वे सब देवता महेश्वरसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ५४ ॥

विचिन्वन्तं मनसा तोष्टुवीमि किंचित्तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टानभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥ ५५ ॥

मानसिक आराधनाके सहारे जिनकी आलोचना की जाती है, उस अनिर्वचनीय परम सूक्ष्म स्वरूप महादेवको मैं स्तुतिसे संतोषित करता हूं और जीवन रक्षाके लिये नमस्कार करता हूं। वह सर्वशक्तिमान् अविनाशी महेश्वर मेरी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर हमें सदा अभिलषित वर यहां प्रदान करें ॥ ५५ ॥

इमं स्तवं संनियम्येन्द्रियाणि शुचिर्भूत्वा यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतोऽब्दमेकं स प्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य संयतेन्द्रिय, योगयुक्त और पवित्र होकर इस स्तोत्रका पाठ करेगा, और नियमपूर्वक एक वर्षतक अखण्डरूपसे इस पाठको चलायेगा, वह अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करेगा ॥ ५६ ॥

वेदान्कृत्स्नान्ब्राह्मणः प्राप्नुयाच्च जयेद्राजा पृथिवीं चापि कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण इस स्तोत्रका पाठ करनेसे समस्त वेदपाठका फल पाता है; क्षत्रिय अखण्ड भूमण्डल पर जय प्राप्त कर लेता है, वैश्य निपुणता और लाभ प्राप्त करता है और शूद्र इस लोकमें सुख और परलोकमें सद्गति पानेमें समर्थ होता है ॥ ५७ ॥

स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः ।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनम् ॥ ५८ ॥

जो इस सर्वदोषनाशक, पुण्ययुक्त पवित्र और यशस्वी स्तवराजका पाठ करके भगवान् रुद्रके विषयमें मन स्थिर करता है ॥ ५८ ॥

यावन्त्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ११११२ ॥

हे भारत! इस शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, इस स्तवराजको पाठ करनेसे वह मनुष्य उतनेही सहस्र वर्षके परिमाणसे स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ ५९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ११११२ ॥

: १९ :

युधिष्ठिर उवाच—

यदिदं सहधर्मेति प्रोच्यते भरतर्षभ ।
पाणिग्रहणकाले तु स्त्रीणामेतत्कथं स्मृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! स्त्रियोंके लिये पाणिग्रहणके समय जो यह सहधर्मके विषयमें कहा जाता है, वह किस प्रकार बताया जाता है ? ॥ १ ॥

आर्ष एष भवेद्धर्मः प्राजापत्योऽथ वासुरः ।
यदेतत्सहधर्मेति पूर्वमुक्तं महर्षिभिः ॥ २ ॥

पहले महर्षियोंने जो यह स्त्री–पुरुषोंके सहधर्मकी बात कही है, यह आर्ष धर्म है या प्राजापत्य धर्म है वा आसुरधर्म है ? ॥ २ ॥

संदेहः सुमहानेष विरुद्ध इति मे मतिः ।
इह यः सहधर्मो वै प्रेत्यायं विहितः क नु ॥ ३ ॥

पहले महर्षियोंने जिसे सहधर्म कहा है, वह मेरे विचारमें विरुद्ध मालूम होनेसे उसमें मुझे बहुत ही सन्देह हुआ है । इस लोकमें जो सहधर्म शब्दसे वर्णित होता है, परलोकमें वह किस प्रकार विहित हुआ करता है ? ॥ ३ ॥

स्वर्गे मृतानां भवति सहधर्मः पितामह ।
पूर्वमेकस्तु म्रियते क चैकस्तिष्ठते वद ॥ ४ ॥

हे पितामह ! सहधर्माचरणके द्वारा मृतलोगोंको स्वर्ग मिलता है; पति और पत्नीमें पहले एक व्यक्तिके मरनेसे शेष व्यक्तिमें सहधर्म कहां रहता है ? कहिये ॥ ४ ॥

नानाकर्मफलोपेता नानाकर्मनिवासिनः ।
नानानिरयनिष्ठान्ता मानुषा बहवो यदा ॥ ५ ॥

जब कि बहुतसे मनुष्य अनेक कर्मके फलोंसे युक्त रहते हैं, तथा अनेक भांतिके कर्मोंके कारण विभिन्न स्थानोंमें रहते हैं, और अन्तमें कर्मोंके अनुसार अनेक निरयनिष्ठ होते हैं; उस समय सहधर्मका पालन किस प्रकार होता है ? ॥ ५ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति ।
यदानृताः स्त्रियस्तात सहधर्मः कुतः स्मृतः ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रकारोंने स्त्रियोंको असत्यपरायण कहके वर्णन किया है, इसलिये जब स्त्रियां मिथ्या बोलनेवाली हुई, तब सहधर्म किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अनृता: स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते ।
धर्मोऽयं पौर्विकी संज्ञा उपचार: क्रियाविधि: ॥ ७ ॥

और वेदमें भी स्त्रियां अनृतरूपसे वर्णित हुई हैं; धर्म प्रथम संज्ञा मात्र है, पाणिग्रहण आदि विधि वेदविहित होने पर भी पुरुषकी इच्छाके अनुरोधसे ही हुआ करती है, यथार्थमें वह धर्म नहीं, केवल उपचारमात्र है ॥ ७ ॥

गह्वरं प्रतिभात्येतन्मम चिन्तयतोऽनिशम् ।
नि:संदेहमिदं सर्वं पितामह यथा श्रुति: ॥ ८ ॥

हे पितामह! सदा इस विषयकी चिन्ता करनेसे यह मुझे अत्यन्त गहन बोध होता है, इसलिये आप इस विषयमें जो श्रुतिका कहना हो, उससे समझाइये, तो मेरा संदेह दूर होगा ॥ ८ ॥

यदेतद्यादृशं चैतद्यथा चैतत्प्रवर्तितम् ।
निखिलेन महाप्राज्ञ भवानेतद्ब्रवीतु मे ॥ ९ ॥

हे महाप्राज्ञ! नि:सन्दिग्ध रूपसे वह सब वृत्तान्त तथा यह विषय जबसे प्रचलित हुआ, जिस प्रकार सामने आया और जिस प्रकार प्रवर्तित हुआ है, वह मेरे निकट वर्णन करिये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अष्टावक्रस्य संवादं दिशाया सह भारत ॥ १० ॥

भीष्म बोले– हे भारत! प्राचीन लोग इस विषयमें अष्टावक्र और दिगभिमानी देवीके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ १० ॥

निवेष्टुकामस्तु पुरा अष्टावक्रो महातपा: ।
ऋषेरथ वदान्यस्य कन्यां वव्रे महात्मन: ॥ ११ ॥

पहले समयमें महातपस्वी अष्टावक्रने विवाह करनेकी अभिलाष करके महानुभाव वदान्य नामक ऋषिसे उनकी कन्या मांगी ॥ ११ ॥

सुप्रभां नाम वै नाम्ना रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
गुणप्रबर्हां शीलेन साध्वीं चारित्रशोभनाम् ॥ १२ ॥

वह सुप्रभा नामकी कन्या पृथ्वीमण्डलमें रूपमें अप्रातिम थी; और गुण, प्रभाव, शील तथा चरित्रके द्वारा संपन्न परम श्रेष्ठ सुन्दरी साध्वी थी ॥ १२ ॥

सा तस्य दृष्ट्वैव मनो जहार शुभलोचना ।
वनराजी यथा चित्रा वसन्ते कुसुमाचिता ॥ १३ ॥

वसन्तकालमें पुष्पयुक्त वनशोभा मनुष्यके मनको जैसे लुभा लेती है, उसी प्रकार उत्तम नेत्रवाली मुनि कन्याने अष्टावक्रकी ओर दृष्टि करते ही उनके मनको हरण किया था ॥ १३ ॥

×

ऋषिस्तमाह देया मे सुता तुभ्यं शृणुष्व मे ।
गच्छ तावद्दिशं पुण्यामुत्तरां द्रक्ष्यसे ततः ॥ १४ ॥

वदान्य ऋषि उनसे बोले, मैं जिस प्रकार तुम्हें अवश्य कन्या प्रदान करूंगा, उसे सुनो । इस समय तुम पवित्र उत्तर दिशामें गमन करो, तब तुम वहां उसे देखोगे ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच—

किं द्रष्टव्यं मया तत्र वक्तुमर्हति मे भवान् ।
तथेदानीं मया कार्यं यथा वक्ष्यति मां भवान् ॥ १५ ॥

अष्टावक्र बोले— वहां जाकर मुझे किसका दर्शन करना होगा ? आप मुझसे वह विषय वर्णन करिये; इस समय आप मुझे जो कहेंगे, मुझे वही करना योग्य है ॥ १५ ॥

वदान्य उवाच—

धनदं समतिक्रम्य हिमवन्तं तथैव च ।
रुद्रस्यायतनं दृष्ट्वा सिद्धचारणसेवितम् ॥ १६ ॥

वदान्य ऋषि बोले— कुबेरकी अलकापुरको अतिक्रम करके हिमालय पर्वतको भी तुम जब लांघ जाओगे, तब तुम सिद्ध और चारणोंसे सेवित रुद्रका स्थान देखोगे ॥ १६ ॥

प्रहृष्टैः पार्षदैर्जुष्टं नृत्यद्भिर्विविधाननैः ।
दिव्याङ्गरागैः पैशाचैर्वन्यैर्नानाविधैस्तथा ॥ १७ ॥

वह स्थान हर्षयुक्त, नाचनेवाले, अनेक मुखवाले पार्षदों और दिव्याङ्ग रागसे संयुक्त पिशाच तथा दूसरे अनेक प्रकारके वन्य प्रमथगणोंसे परिसेवित है ॥ १७ ॥

पाणितालसतालैश्च शम्यातालैः समैस्तथा ।
संप्रहृष्टैः प्रनृत्यद्भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥ १८ ॥

पाणिताल, सुताल अर्थात् कांस्यमय भाण्ड, शम्याताल अर्थात् विद्युतकी भांति अत्यन्त चपल भ्रमणादिघटित नृत्यक्रियामान विशेष और भ्रमणादिरहित समतालके द्वारा प्रसन्नचित्त नृत्य करनेवालोंसे भगवान् महादेव वहांपर सेवित होते हैं ॥ १८ ॥

इष्टं किल गिरौ स्थानं तद्दिव्यमनुशुश्रुम ।
नित्यं संनिहितो देवस्तथा पारिषदाः शुभाः ॥ १९ ॥

उस पहाडपर निवास करना ईश्वरको अभिलषित है, इसीसे वह दिव्य लोक कहाता है, हमने ऐसा ही सुना है । महादेव सदा वहांपर उपस्थित रहते हैं और उनके शुभ पारिषद लोग सदा उस स्थानमें निवास करते हैं ॥ १९ ॥

तत्र देव्या तपस्तप्तं शंकरार्थं सुदुश्चरम् ।
अतस्तदिष्टं देवस्य तथोमाया इति श्रुतिः ॥ २० ॥

पार्वती देवीने वहां भगवान् महादेवकी प्राप्तिके निमित्त अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी, उस ही लिये वह भगवान् महादेव और उमादेवीका इष्टस्थान है, ऐसा सुना जाता है ॥ २० ॥

तत्र कूपो महान्पार्श्वे देवस्योत्तरतस्तथा ।
ऋतवः कालरात्रिश्च ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ २१ ॥

वहांपर महादेवके सान्निध्यमेंही उत्तर भागमें एक महान् कूप है; ऋतु, कालरात्रि और दिव्य मनुष्य इत्यादि ॥ २१ ॥

सर्वे देवमुपासन्ते रूपिणः किल तत्र ह ।
तदतिक्रम्य भवनं त्वया यातव्यमेव हि ॥ २२ ॥

सब मूर्तिमान् होकर महादेवकी उपासना करते हैं, तुम उस स्थानको अतिक्रम करके आगे ही गमन करो ॥ २२ ॥

ततो नीलं वनोद्देशं द्रक्ष्यसे मेघसंनिभम् ।
रमणीयं मनोग्राहि तत्र द्रक्ष्यसि वै स्त्रियम् ॥ २३ ॥

अनन्तर तुम मेघोंके समान नील वर्णवाला, मनोहर और रमणीय वन देखोगे। वहां एक स्त्रीका दर्शन करोगे ॥ २३ ॥

तपस्विनीं महाभागां वृद्धां दीक्षामनुष्ठिताम् ।
द्रष्टव्या सा त्वया तत्र संपूज्या चैव यत्नतः ॥ २४ ॥

वह तपस्विनी, महाभागा वृद्धा और दीक्षापरायण है; वह तुम्हारी यत्नपूर्वक दर्शनीय और पूजनीय है ॥ २४ ॥

तां दृष्ट्वा विनिवृत्तस्त्वं ततः पाणिं ग्रहीष्यसि ।
यद्येष समयः सत्यः साध्यतां तत्र गम्यताम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ११३७ ॥

जब उसे देखके तुम लौटेंगे तब मेरी कन्याका पाणिग्रहण कर सकोगे; तुम यदि ऐसा सत्यतापूर्वक मेरी शर्तें मान्य करके करना चाहते हो, तो वहां जाके सब विषयोंको साधन करो ॥ २५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ११३७ ॥

: २० :

अष्टावक्र उवाच—

तथास्तु साधयिष्यामि तत्र यास्याम्यसंशयम् ।
यत्र त्वं वदसे साधो भवान्भवतु सत्यवाक् ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले— हे साधु ! ऐसा ही होगा; आपने जिस प्रकार कहा है, मैं अवश्य ही वहां जाके सब विषयोंको साधन करूंगा, आपका वचन सत्य होवे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

ततोऽगच्छत्स भगवानुत्तरामुत्तमां दिशम् ।
हिमवन्तं गिरिश्रेष्ठं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर भगवान अष्टावक्रने उत्कर्षशाली उत्तर दिशामें सिद्ध और चारणोंसे सेवित गिरिश्रेष्ठ हिमालय पर्वत पर गमन किया ॥ २ ॥

स गत्वा द्विजशार्दूलो हिमवन्तं महागिरिम् ।
अभ्यगच्छन्नदीं पुण्यां बाहुदां धर्मदायिनीम् ॥ ३ ॥

उस द्विजश्रेष्ठने महागिरि हिमालय पर जाके धर्मदायिनी पवित्र बाहुदानामी नदीके तटपर प्रवेश किया ॥ ३ ॥

अशोके विमले तीर्थे स्नात्वा तर्प्य च देवताः ।
तत्र वासाय शयने कौश्ये सुखमुवास ह ॥ ४ ॥

अनन्तर विमल अशोक तीर्थमें स्नान करके देवताओंका तर्पण करके, वहांपर सुखपूर्वक कुशशय्यापर निवास करने लगे ॥ ४ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय स द्विजः ।
स्नात्वा प्रादुश्चकाराग्निं हुत्वा चैव विधानतः ॥ ५ ॥

अनन्तर रात्रि बीतनेपर उस द्विजवरने प्रातःकालमें उठके स्नान किया और वेदमन्त्रोंसे स्तुति करके अग्नि प्रकट की और विधिपूर्वक हवन किया ॥ ५ ॥

रुद्राणीकूपमासाद्य ह्रदे तत्र समाश्वसत् ।
विश्रान्तश्च समुत्थाय कैलासमभितो ययौ ॥ ६ ॥

फिर रुद्राणी कूपपर जाकर उस ही ह्रदपर विश्राम करने लगे । विश्राम करनेके अनन्तर उठके कैलास पर्वतकी ओर गमन किया ॥ ६ ॥

सोऽपश्यत्काञ्चनद्वारं दीप्यमानमिव श्रिया ।
मन्दाकिनीं च नलिनीं धनदस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

वहां जाके उन्होंने परम शोभासे दीप्यमान एक सुवर्णमय द्वार देखा और महानुभाव कुबेरकी कमलपुष्पोंसे सुशोभित मन्दाकिनीका दर्शन किया ॥ ७ ॥

अथ ते राक्षसाः सर्वे येऽभिरक्षन्ति पद्मिनीम् ।
प्रत्युत्थिता भगवन्तं मणिभद्रपुरोगमाः ॥ ८ ॥

अनन्तर मणिभद्र आदि राक्षस जो कि उस कमलपुष्पोंसे युक्त पुष्करिणीकी सदा रक्षा करते थे, वे लोग भगवान् अष्टावक्रको देखके स्वागतके लिये उठ खडे हुए ॥ ८ ॥

स तान्प्रत्यर्चयामास राक्षसान्भीमविक्रमान् ।
निवेदयत मां क्षिप्रं धनदायेति चाब्रवीत् ॥ ९ ॥

उन्होंने भी उन भीमविक्रमी राक्षसोंको प्रत्याभिनन्दित करके कहा कि, धनपति कुबेरके पास जाके शीघ्र मेरे आनेका समाचार दो ॥ ९ ॥

ते राक्षसास्तदा राजन्भगवन्तमथाब्रुवन् ।
असौ वैश्रवणो राजा स्वयमायाति तेऽन्तिकम् ॥ १० ॥

हे राजन् ! उन राक्षसोंने वैसा करके फिर भगवान् अष्टावक्रसे कहा, ये राजाओंके राजा, धनके स्वामी कुबेर स्वयं ही आपके समीप आ रहे हैं ॥ १० ॥

विदितो भगवानस्य कार्यमागमने च यत् ।
पश्यैनं त्वं महाभागं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ११ ॥

भगवान् कुबेरको आपका आगमन और आगमनका कारण मालूम है । आप इस तेजस्विताके द्वारा प्रज्वलित महाभागको अवलोकन करिये ॥ ११ ॥

ततो वैश्रवणोऽभ्येत्य अष्टावक्रमनिन्दितम् ।
विधिवत्कुशलं पृष्ट्वा ततो ब्रह्मर्षिमब्रवीत् ॥ १२ ॥

अनन्तर विश्रवाके पुत्र कुबेर अनिन्दित ब्रह्मर्षि अष्टावक्रके निकट आके विधिपूर्वक कुशलप्रश्न करके बोले– ॥ १२ ॥

सुखं प्राप्तो भवान्कच्चित्किं वा मत्तश्चिकीर्षसि ।
ब्रूहि सर्वं करिष्यामि यन्मां त्वं वक्ष्यसि द्विज ॥ १३ ॥

हे द्विजवर ! आपने सुखसे आगमन किया है न ? मेरे समीप आप क्या अभिलाष करते हैं ? आप जो कहेंगे, मैं उसे पूर्ण करूंगा ॥ १३ ॥

भवनं प्रविश त्वं मे यथाकामं द्विजोत्तम ।
सत्कृतः कृतकार्यश्च भवान्यास्यत्यविघ्नतः ॥ १४ ॥

हे द्विजोत्तम ! आप इच्छापूर्वक मेरे गृहमें प्रवेश करिये । वहांपर सत्कृत और कृतकार्य होकर निर्विघ्नताके सहित आप गमन करना ॥ १४ ॥

प्राविशद्भवनं स्वं वै गृहीत्वा तं द्विजोत्तमम् ।
आसनं स्वं ददौ चैव पाद्यमर्घ्यं तथैव च ॥ १५ ॥

कुबेरने उस द्विजवरको सङ्ग लेकर निज गृहमें प्रवेश किया और वहां जाके उन्हें आसन, पाद्य और अर्घ्य प्रदान किया ॥ १५ ॥

अथोपविष्टयोस्तत्र मणिभद्रपुरोगमाः ।
निषेदुस्तत्र कौबेरा यक्षगन्धर्वराक्षसाः ॥ १६ ॥

उन दोनोंके बैठनेके अनन्तर मणिभद्र प्रभृति यक्ष, गन्धर्व और राक्षस आदि कुबेरके सब सेवक गण बैठ गये ॥ १६ ॥

ततस्तेषां निषण्णानां धनदो वाक्यमब्रवीत् ।
भवच्छन्दं समाज्ञाय नृत्येरन्नप्सरोगणाः ॥ १७ ॥

अनन्तर सबके बैठनेपर कुबेरने कहा, यदि आपकी इच्छा हो, तो अप्सरागण नृत्य करनेमें प्रवृत्त हों ॥ १७ ॥

आतिथ्यं परमं कार्यं शुश्रूषा भवतस्तथा ।
संवर्त्ततामित्युवाच मुनिर्मधुरया गिरा ॥ १८ ॥

आपकी सेवा तथा आतिथ्य करना मेरा परम कर्त्तव्य कार्य है। तब मुनिने मृदु वचनसे कहा, "ऐसा ही हो, नृत्य आरम्भ होवे" ॥ १८ ॥

अथोर्वरा मिश्रकेशी रम्भा चैवोर्वशी तथा ।
अलम्बुसा घृताची च चित्रा चित्राङ्गदा रुचिः ॥ १९ ॥

अनन्तर उर्वरा, मिश्रकेशी, रम्भा, उर्वशी, अलम्बुसा घृताची, चित्रा, चित्रांगदा, रुचि ॥ १९ ॥

मनोहरा सुकेशी च सुमुखी हासिनी प्रभा ।
विद्युता प्रशमा दान्ता विद्योता रतिरेव च ॥ २० ॥

मनोहरा, सुकेशी, सुमुखी, हासिनी, प्रभा, विद्युता, प्रशमा, दान्ता, विद्योता, रति ॥२०॥

एताश्चान्याश्च वै बह्वयः प्रनृत्ताप्सरसः शुभाः ।
अवादयंश्च गन्धर्वा वाद्यानि विविधानि च ॥ २१ ॥

– ये और दूसरी अनेक उत्तम अप्सराएं नृत्य करनेमें प्रवृत्त हुई । गन्धर्वगण विविध बाजे बजाने लगे ॥ २१ ॥

अथ प्रवृत्ते गान्धर्वे दिव्ये ऋषिरुपावसत् ।
दिव्यं संवत्सरं तत्र रमन्वै सुमहातपाः ॥ २२ ॥

दिव्य गीतावाद्य आरम्भ हुआ, महात्मा महातपस्वी अष्टावक्र ऋषि देवपरिमाणके एक वर्षतक वहां बैठे रहे और अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ २२ ॥

ततो वैश्रवणो राजा भगवन्तमुवाच ह ।
साग्रः संवत्सरो यातस्तव विप्रेह पश्यतः ॥ २३ ॥

अनन्तर राजा वैश्रवण भगवान अष्टावक्रसे बोले, हे विप्र ! देखते देखते इस स्थानमें ही आपका एक वर्षसे कुछ अधिक समय बीत गया है ॥ २३ ॥

हार्योऽयं विषयो ब्रह्मन्गान्धर्वो नाम नामतः ।
छन्दतो वर्ततां विप्र यथा वदसि वा भवान् ॥ २४ ॥

हे ब्रह्मन ! यह नृत्य-गीतादिका विषय जिसे गान्धर्व नाम है, अत्यंत मनोहारी है; इस समय आपकी इच्छा हो तो और इसी तरह यह चलता रहे, अथवा आप जैसा कहें, वैसा ही होवे ॥ २४ ॥

अतिथिः पूजनीयस्त्वमिदं च भवतो गृहम् ।
सर्वमाज्ञाप्यतामाशु परवन्तो वयं त्वयि ॥ २५ ॥

आप पूजनीय अतिथि हैं, और यह गृह भी आपका है; इसलिये आपकी जैसी आज्ञा हो, वैसा ही किया जाय, हम सब कोई आपके अधीन हैं ॥ २५ ॥

अथ वैश्रवणं प्रीतो भगवान्प्रत्यभाषत ।
अर्चितोऽस्मि यथान्यायं गमिष्यामि धनेश्वर ॥ २६ ॥

अनन्तर भगवान् अष्टावक्र प्रसन्न होके कुबेरसे बोले, हे धनेश्वर ! मैं यथायोग्य रूपसे पूजित हुआ हूं; अब यहांसे गमन करूंगा ॥ २६ ॥

प्रीतोऽस्मि सदृशं चैव तव सर्वं धनाधिप ।
तव प्रसादाद्भगवन्महर्षेश्च महात्मनः ।
नियोगादद्य यास्यामि वृद्धिमानृद्धिमान्भव ॥ २७ ॥

हे धनाधिप ! मैं तुमसे प्रसन्न हुआ हूं; तुमने जो सब किया है, यह तुम्हारे ही योग्य है; तुम्हारी कृपा और महानुभाव भगवान् वदान्य ऋषिके आज्ञानुसार अब मैं जाता हूं । तुम बुद्धिमान् और समृद्धिमान् बने रहो ॥ २७ ॥

अथ निष्क्रम्य भगवान्प्रययावुत्तरामुखः ।
कैलासं मन्दरं हैमं सर्वाननुचचार ह ॥ २८ ॥

अनन्तर भगवान अष्टावक्र कुबेरके स्थानसे बाहर होके उत्तर दिशा की ओर चले; और पहूंचे कैलास, मन्दर और हिमालय पर्वतपर विचरने लगे ॥ २८ ॥

तानतीत्य महाशैलान्कैरातं स्थानमुत्तमम् ।
प्रदक्षिणं ततश्चक्रे प्रयतः शिरसा नमन् ।
धरणीमवतीर्याथ पूतात्मासौ तदाभवत् ॥ २९ ॥

उन सब महापर्वतोंको लांघ कर अत्यन्त उत्कृष्ट किरातस्थलमें पहुंचे । उन्होंने स्थिर चित्त होके उस स्थानकी प्रदक्षिणा की और शिर झुकाकर प्रणाम किया । अनन्तर पृथ्वीपर उतरके वे उस स्थानके महात्म्यसे पवित्रात्मा हो गये ॥ २९ ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा त्रिः शैलं चोत्तरामुखः ।
समेन भूमिभागेन ययौ प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥

उस पर्वतकी तीन बार प्रदक्षिणा करके प्रसन्न चित्तसे उत्तरकी ओर समतल भूमिपर चलने लगे ॥ ३० ॥

ततोऽपरं वनोद्देशं रमणीयमपश्यत ।
सर्वर्तुभिर्मूलफलैः पक्षिभिश्च समन्वितम् ।
रमणीयैर्वनोद्देशैस्तत्र तत्र विभूषितम् ॥ ३१ ॥

अनन्तर उन्होंने और एक रमणीय वनस्थल देखा । वह वन सब ऋतुओंके फूल, फल, मूल और पक्षियोंसे युक्त था और जगह जगह रमणीय वन प्रान्तोंसे शोभासे विभूषित था ॥ ३१ ॥

तत्राश्रमपदं दिव्यं ददर्श भगवानथ ।
शैलांश्च विविधाकारान्काञ्चनान्रत्नभूषितान् ।
मणिभूमौ निविष्टाश्च पुष्करिण्यस्तथैव च ॥ ३२ ॥

भगवान् अष्टावक्रने उस स्थानमें एक दिव्य आश्रम देखा । वहांपर विविध रत्नोंसे भूषित सुवर्णमय पर्वत शोभा पा रहे थे और मणिमय भूमिपर मनोहर तालाव विद्यमान थे ॥ ३२ ॥

अन्यान्यपि सुरम्याणि ददर्श सुबहून्यथ ।
भृशं तस्य मनो रेमे महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ३३ ॥

तथा दूसरे भी बहुतेरे सुरम्य दृश्योंको देखकर उन शुद्धचित्त महर्षिका मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ ३३ ॥

स तत्र काञ्चनं दिव्यं सर्वरत्नमयं गृहम् ।
ददर्शाद्भुतसंकाशं धनदस्य गृहाद्वरम् ॥ ३४ ॥

उन्होंने उस स्थानमें कुबेरके गृहसे भी श्रेष्ठ, अद्भुत और सुंदर सर्व प्रकारके रत्नोंसे युक्त एक दिव्य सुवर्णसे बना हुआ भवन देखा ॥ ३४ ॥

महान्तो यत्र विविधाः प्रासादाः पर्वतोपमाः ।
विमानानि च रम्याणि रत्नानि विविधानि च ॥ ३५ ॥

उस स्थानमें उत्तम महत् विविध प्रासाद पर्वतोंके समान शोभा पाते थे; अनेक प्रकारके रत्न और बहुविध रमणीय विमान विद्यमान थे ॥ ३५ ॥

मन्दारपुष्पैः संकीर्णा तथा मन्दाकिनी नदी ।
स्वयंप्रभाश्च मणयो वज्रैर्भूमिश्च भूषिता ॥ ३६ ॥

मन्दार पुष्पोंसे परिपूरित मन्दाकिनी नदी वहां बहती थी; स्वयं प्रभायुक्त मणियों और हीरोंसे सब भूमि भूषित थी ॥ ३६ ॥

नानाविधैश्च भवनैर्विचित्रमणितोरणैः ।
मुक्ताजालपरिक्षिप्तैर्मणिरत्नविभूषितैः ।
मनोदृष्टिहरै रम्यैः सर्वतः संवृतं शुभैः ॥ ३७ ॥

अनेक प्रकारके मोतीकी झालरोंसे भूषित, मणिरत्नोंसे विभूषित और विचित्र मणिमय तोरणोंसे सुशोभित और मनोहर, दर्शनीय, रमणीय, पवित्र वस्तुओंसे युक्त वह मनोहर आश्रम आवृत था ॥ ३७ ॥

ऋषिः समन्ततोऽपश्यत्तत्र तत्र मनोरमम् ।
ततोऽभवत्तस्य चिन्ता क्व मे वासो भवेदिति ॥ ३८ ॥

ऋषिने चारों ओर सर्वत्र इधर उधर सुंदर रम्य दृश्य देखा; अनन्तर अष्टावक्रके अन्तःकरणमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि अब कहां निवास करूं ? ॥ ३८ ॥

अथ द्वारं समभितो गत्वा स्थित्वा ततोऽब्रवीत् ।
अतिथिं मामनुप्राप्तमनुजानन्तु येऽत्र वै ॥ ३९ ॥

अन्तमें वे उस गृहके द्वारपर जाके खडे होकर बोले– इस स्थानमें जो हो, उन्हें मालूम होवे, कि " मैं अतिथि यहांपर आया हूं " ॥ ३९ ॥

अथ कन्यापरिवृता गृहात्तस्माद्विनिःसृताः ।
नानारूपाः सप्त विभो कन्याः सर्वा मनोहराः ॥ ४० ॥

हे विभु ! अनन्तर उनके इस प्रकार कहते ही अनेक रूपधारिणी, मनको हरनेवाली सात कन्याएं एक साथ उस घरसे बाहर निकलीं ॥ ४० ॥

यां यामपश्यत्कन्यां स सा सा तस्य मनोऽहरत् ।
नाशक्नुवद्धारयितुं मनोऽथास्यावसीदति ॥ ४१ ॥

उन्होंने जिस जिस कन्याको देखा, उसीने उनके मनको हरण किया । वे अपने मनको रोकनेमें असमर्थ होनेसे, उनका मन दुःखित हुआ ॥ ४१ ॥

ततो धृतिः समुत्पन्ना तस्य विप्रस्य धीमतः ।
अथ तं प्रमदाः प्राहुर्भगवान्प्रविशत्विति ॥ ४२ ॥

अनन्तर उन धीमान् विप्रके मनमें धैर्य उत्पन्न हुआ, तब प्रमदागणोंने उनसे कहा, ' हे भगवान् ! आप घरके भीतर चलिये ' ॥ ४२ ॥

स च तासां सुरूपाणां तस्यैव भवनस्य च ।
कौतूहलसमाविष्टः प्रविवेश गृहं द्विजः ॥ ४३ ॥

उन्होंने उन सुन्दरियों तथा भवनको देखके कौतूहलयुक्त होकर गृहके भीतर प्रवेश किया ॥ ४३ ॥

×

तत्रापश्यज्जरायुक्तामरजोऽम्बरधारिणीम् ।
वृद्धां पर्यङ्कमासीनां सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ४४ ॥

भीतर जाके उन्होंने जरायुक्त निर्मल वस्त्र धारिणी और आभूषणोंसे भूषित एक वृद्धा स्त्रीको पलङ्गपर बैठी हुई देखा ॥ ४४ ॥

स्वस्तीति चाथ तेनोक्ता सा स्त्री प्रत्यवदत्तदा ।
प्रत्युत्थाय च तं विप्रमास्यतामित्युवाच ह ॥ ४५ ॥

देखते ही उन्होंने उससे कहा, " स्वस्ति है " उस स्त्रीने भी उस समय वैसा ही प्रत्युत्तर दिया और उठके उस विप्रवरको बैठनेको कहा ॥ ४५ ॥

अष्टावक्र उवाच—

सर्वाः स्वानालयान्यान्तु एका मामुपतिष्ठतु ।
सुप्रज्ञाता सुप्रशान्ता शेषा गच्छन्तु च्छन्दतः ॥ ४६ ॥

अष्टावक्र बोले— सब स्त्रियां अपने घरको चली जायं, जो अत्यन्त ज्ञानवती और प्रशान्त चित्तवाली हो, वही अकेली मेरे निकट उपस्थित रहे, शेष सब अपने अभिप्राय और इच्छानुसार स्थानान्तरमें गमन करें ॥ ४६ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य कन्यास्तास्तमृषिं तदा ।
निराक्रामन्गृहात्तस्मात्सा वृद्धाथ व्यतिष्ठत ॥ ४७ ॥

अनन्तर वे सब कन्याएं उस समय ऋषिकी प्रदक्षिणा करके घरसे निकल गईं, केवल वह वृद्धा वहांपर निवास करने लगी ॥ ४७ ॥

अथ तां संविशन्प्राह शयने भास्वरे तदा ।
त्वयापि सुप्यतां भद्रे रजनी ह्यतिवर्तते ॥ ४८ ॥

ऋषि प्रकाशमान् शय्यापर शयन करके वृद्धासे बोले— हे भद्रे ! रात्रि बीत जाती है, इसलिये तुम भी शयन करो ॥ ४८ ॥

संलापात्तेन विप्रेण तथा सा तत्र भाषिता ।
द्वितीये शयने दिव्ये संविवेश महाप्रभे ॥ ४९ ॥

परस्पर बातचीतके प्रसंगमें जब ब्राह्मणने ऐसा कहा, तब प्रकाशमान् दूसरी शय्यापर उसने भी शयन किया ॥ ४९ ॥

अथ सा वेपमानाङ्गी निमित्तं शीतजं तदा ।
व्यपदिश्य महर्षेर्वै शयनं चाध्यरोहत ॥ ५० ॥

अन्तमें वह सरदी लगनेका बहाना करके कांपती हुई आयी और महर्षिकी शय्यापर जा चढी ॥ ५० ॥

स्वागतं स्वागतेनास्तु भगवांस्तामभाषत ।
सोपागूहद्भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ ॥ ५१ ॥

हे राजन् ! भगवानने उस आगत अबलाके प्रति 'आइये स्वागत है' ऐसा कहकर उनके प्रति सत्कार प्रदर्शित किया, उसने प्रीतिपूर्वक दोनों भुजाओंसे ऋषिको आलिंगन किया ॥५१॥

निर्विकारमृषिं चापि काष्ठकुड्योपमं तदा ।
दुःखिता प्रेक्ष्य संजल्पमकार्षीदृषिणा सह ॥ ५२ ॥

ऋषिको काष्ठ और दीवारकी भांति निर्विकार देखके, दुःखित होकर उस वृद्धाने उनके संग उस समय वार्तालाप आरम्भ किया । वह बोली ॥ ५२ ॥

ब्रह्मन्न कामकारोऽस्ति स्त्रीणां पुरुषतो धृतिः ।
कामेन मोहिता चाहं त्वां भजन्तीं भजस्व माम् ॥ ५३ ॥

हे विप्रवर ! पुरुषको पाके स्त्रियोंको स्वभावसे ही कामविषयमें धैर्य रहता है, इसलिये कामसे मोहित होकर मैं तुम्हारी सेवामें आयी हूं, तुम मेरा मनोरथ सफल करो ॥ ५३ ॥

प्रहृष्टो भव विप्रर्षे समागच्छ मया सह ।
उपगूह च मां विप्र कामार्ताहं भृशं त्वयि ॥ ५४ ॥

हे विप्रर्षि ! तुम प्रसन्न होके मेरे संग समागम करो; मुझे आलिङ्गन करो, मैं तुम्हें देखके अत्यंत ही कामार्त्त हुई हूं ॥ ५४ ॥

एतद्धि तव धर्मात्मंस्तपसः पूज्यते फलम् ।
प्रार्थितं दर्शनादेव भजमानां भजस्व माम् ॥ ५५ ॥

हे धर्मात्मन् ! यह तुम्हारी तपस्याका प्रार्थित फल प्रशंसनीय है, कि देखते ही मैं तुम्हारी सेवामें तत्पर हुई हूं, इसलिये मुझे अङ्गीकार करो ॥ ५५ ॥

सद्म चेदं धनं चेदं यच्चान्यदपि पश्यसि ।
प्रभुत्वं तव सर्वत्र मयि चैव न संशयः ॥ ५६ ॥

मेरा यह सदन, सब धन तथा दूसरी वस्तु जो देख रहे हो, तुम उन सबके स्वामी तथा मेरे भी निःसंदेह स्वामी हो ॥ ५६ ॥

सर्वान्कामान्विधास्यामि रमस्व सहितो मया ।
रमणीये वने विप्र सर्वकामफलप्रदे ॥ ५७ ॥

तुम मेरे संग संगम करो, मैं तुम्हारी सब कामनाएं पूरी करूंगी । हे विप्र ! सर्वकामफलप्रद इस रमणीय वनमें ॥ ५७ ॥

त्वद्वशाहं भविष्यामि रंस्यसे च मया सह ।
सर्वान्कामानुपाश्नानो ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ५८ ॥

तुम मेरे सङ्ग क्रीडा करोगे, मैं तुम्हारे वशमें होकर रहूंगी और हम यहां दिव्य, मानुष काम विषयोंको उपभोग करेंगे ॥ ५८ ॥

नातः परं हि नारीणां कार्यं किंचन विद्यते ।
यथा पुरुषसंसर्गः परमेतद्धि नः फलम् ॥ ५९ ॥

पुरुषके संसर्गसे हमें जैसा परम फल है, स्त्रियोंको इससे बढके कदाचित् और कुछ भी सुख नहीं है ॥ ५९ ॥

आत्मच्छन्देन वर्तन्ते नार्यो मन्मथचोदिताः ।
न च दह्यन्ति गच्छन्त्यः सुतप्तैरपि पांसुभिः ॥ ६० ॥

कामप्रेरित स्त्रियां सदा अपनी इच्छाके अनुसार बर्ताव करती हैं, वे कामसे सन्तप्त होनेपर तपी हुई धूलमें भी गमन करनेपर भी उनके पैर नहीं जलते ॥ ६० ॥

अष्टावक्र उवाच—

परदारानहं भद्रे न गच्छेयं कथंचन ।
दूषितं धर्मशास्त्रेषु परदाराभिमर्शनम् ॥ ६१ ॥

अष्टावक्र बोले— हे भद्रे ! मैं कदापि परस्त्रीगमन नहीं कर सकता; धर्मशास्त्रोंमें परदाराभिगमन अत्यन्त दूषित कहके वर्णित हुआ है ॥ ६१ ॥

भद्रे निवेष्टुकामं मां विद्धि सत्येन वै शपे ।
विषयेष्वनभिज्ञोऽहं धर्मार्थं किल संततिः ॥ ६२ ॥

हे कल्याणि ! मैं सत्यके द्वारा शपथ करता हूं, कि इस संसार—आश्रममें प्रवेश करनेकी मैंने इच्छा की है । मैं विषयोंसे अनभिज्ञ हूं, केवल धर्मार्थ सन्ततिकी अभिलाष की है ॥ ६२ ॥

एवं लोकान्गमिष्यामि पुत्रैरिति न संशयः ।
भद्रे धर्मं विजानीष्व ज्ञात्वा चोपरमस्व ह ॥ ६३ ॥

इससे मैं पुत्रोंद्वारा निःसंदेह श्रेष्ठ लोकोंमें गमन करूंगा । हे भद्रे ! तुम धर्मको जानो तथा जानके इस दुराचारसे दूर रहो ॥ ६३ ॥

स्त्र्युवाच—

नानिलोऽग्निर्न वरुणो न चान्ये त्रिदशा द्विज ।
प्रियाः स्त्रीणां यथा कामो रतिशीला हि योषितः ॥ ६४ ॥

स्त्री बोली— हे द्विज ! वायु, अग्नि, वरुण अथवा दूसरे कोई देवता स्त्रियोंको वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसे रतिशील नारियोंको एकमात्र रतिपति प्रियतम है ॥ ६४ ॥

सहस्रैका यता नारी प्राप्नोतीह कदाचन ।
तथा शतसहस्रेषु यदि काचित्पतिव्रता ॥ ६५ ॥

हजार स्त्रियोंके बीच कदाचित् कोई एक स्त्री नियत इंद्रियोंवाली पाई जाती है और लाखों स्त्रियोंके बीच शायदही कोई एक पतिव्रता है ॥ ६५ ॥

नैता जानन्ति पितरं न कुलं न च मातरम् ।
न भ्रातॄन्न च भर्तारं न पुत्रान्न च देवरान् ॥ ६६ ॥

ये स्त्रियां पिताको नहीं जानतीं, कुलको नहीं मानतीं, माताको भी मान्य नहीं करतीं, भाइयोंके शासनमें भी नहीं रहतीं, भर्तापर भक्ति, पुत्रोंमें स्नेह और देवरोंका समादर नहीं करतीं ॥ ६६ ॥

लीलायन्त्यः कुलं घ्नन्ति कूलानीव सरिद्वराः ।
दोषांश्च मन्दान्मन्दासु प्रजापतिरभाषत ॥ ६७ ॥

जैसे नदियां तटोंको निर्मूल करतीं हैं, वैसे ही ये भी रतिकी इच्छा करके कुलको नष्ट किया करती हैं; प्रजापतिने इन मूढ स्त्रियोंके सब दोषोंको जानके यह वार्त्ता कही थी ॥६७॥

भीष्म उवाच—

ततः स ऋषिरेकाग्रस्तां स्त्रियं प्रत्यभाषत ।
आस्यतां रुचिरं छन्दः किं वा कार्यं ब्रवीहि मे ॥ ६८ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर अष्टावक्रऋषि एकाग्रचित्त होकर उस स्त्रीसे बोले, तुम इच्छानुसार बैठो, भोगकी अभिलाषा होनेसे स्वेच्छाचार होता है; अब मुझे क्या करना योग्य है वह कहो ।।६८॥

सा स्त्री प्रोवाच भगवन्द्रक्ष्यसे देशकालतः ।
वस तावन्महाप्राज्ञ कृतकृत्यो गमिष्यसि ॥ ६९ ॥

वह स्त्री बोली, हे भगवन् ! देशकालके अनुसार सब तुम अनुभव करके देखोगे । हे महाप्राज्ञ ! तुम यहां रहो, कृतकृत्य होकर जायेंगे ॥ ६९ ॥

ब्रह्मर्षिस्तामथोवाच स तथेति युधिष्ठिर ।
वत्स्येऽहं यावदुत्साहो भवत्या नात्र संशयः ॥ ७० ॥

हे युधिष्ठिर ! अनन्तर ब्रह्मर्षिने उससे कहा, "ऐसा ही होगा" मेरा जबतक यहां रहनेका उत्साह रहेगा, तब तक मैं तुम्हारे समीप निःसन्देह निवास करूंगा ॥ ७० ॥

अथर्षिरभिसंप्रेक्ष्य स्त्रियं तां जरयान्विताम् ।
चिन्तां परमिकां भेजे संतप्त इव चाभवत् ॥ ७१ ॥

अन्तमें ऋषि उस स्त्रीको जराजीर्ण देखकर अत्यन्त चिन्ता करके मानो सन्तापित हुए ॥७१॥

यद्यदङ्गं हि सोऽपश्यत्तस्या विप्रर्षभस्तदा ।
नारमत्तत्र तत्रास्य दृष्टी रूपपराजिता ॥ ७२ ॥

उस विप्रवरने उस अंगनाके जिस जिस अंगको अवलोकन किया, वहां वहां उनकी दृष्टि रमती नहीं थी, परंतु उसके रूपसे पराजित होती थी, विन्मुख होती थी ॥ ७२ ॥

देवतेयं गृहस्यास्य शापान्नूनं विरूपिता ।
अस्याश्च कारणं वेत्तुं न युक्तं सहसा मया ॥ ७३ ॥

उन्होंने सोचा, यह इस गृहकी अधिष्ठात्री देवी है, जो किसीके शापसे निश्चय ही कुरूपा हुई है। इसकी कुरूपताका कारण जाननेके लिये सहसा प्रश्न करना मेरे लिये उचित नहीं है ॥ ७३ ॥

इति चिन्ताविषक्तस्य तमर्थं ज्ञातुमिच्छतः ।
व्यगमत्तदहःशेषं मनसा व्याकुलेन तु ॥ ७४ ॥

इस विषयको जाननेके निमित्त इस ही भाँति चिन्ता करते हुए व्याकुल चित्तसे ऋषिका वह दिन शेष हुआ ॥ ७४ ॥

अथ सा स्त्री तदोवाच भगवन्पश्य वै रवेः ।
रूपं संध्याभ्रसंयुक्तं किमुपस्थापयामि ते ॥ ७५ ॥

अनन्तर वह स्त्री बोली— हे भगवन्! सूर्यका सन्ध्याभ्रसञ्जितरूप अवलोकन करिये, इस समय आपके निकट क्या लाऊं? ॥ ७५ ॥

स उवाच तदा तां स्त्रीं स्नानोदकमिहानय ।
उपासिष्ये ततः संध्यां वाग्यतो नियतेन्द्रियः ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥ १२१२ ॥

अनन्तर वह उस स्त्रीसे बोले— इस समय यहां मेरे स्नान करनेके लिये जल लाओ। इसके अनन्तर मैं एकाग्र और संयतेन्द्रिय होकर सन्ध्या उपासना करूंगा ॥ ७६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ १२१२ ॥

: २१ :

भीष्म उवाच—

अथ सा स्त्री तमुक्त्वा तु विप्रमेवं भवत्विति ।
तैलं दिव्यमुपादाय स्नानशाटीमुपानयत् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर उस स्त्रीने ऋषिसे कहा, बहुत अच्छा, 'ऐसा ही होगा' यह कहके वह दिव्य तेल और स्नानका वस्त्र ले आई ॥ १ ॥

अनुज्ञाता च मुनिना सा स्त्री तेन महात्मना ।
अथास्य तैलेनाङ्गानि सर्वाण्येवाभ्यमृक्षयत् ॥ २ ॥

उस समय उन महानुभाव मुनिकी आज्ञानुसार उस स्त्रीने उनके शरीरमें तेल लगाया ॥ २ ॥

शनैश्चोत्सादितस्तत्र स्नानशालामुपागमत् ।
भद्रासनं ततश्चित्रं ऋषिरन्वाविशन्नवम् ॥ ३ ॥

और उसके उठानेपर धीरे धीरे वे स्नानागारमें गये; अनन्तर ऋषिवर अभिनव उत्तम विचित्र आसनपर वहां बैठे ॥ ३ ॥

अथोपविष्टश्च यदा तस्मिन्भद्रासने तदा ।
स्नापयामास शनकैस्तमृषिं सुखहस्तवत् ।
दिव्यं च विधिवच्चक्रे सोपचारं मुनेस्तदा ॥ ४ ॥

जब वह उत्तम आसन पर बैठे, तब उस स्त्रीने धीरे धीरे सुखस्पर्श हाथके द्वारा ऋषिको स्नान करा दिया और उनके संमुख विधिपूर्वक दिव्य उपचारोंको लाके उपस्थित किया ॥४॥

स तेन सुसुखोष्णेन तस्या हस्तसुखेन च ।
व्यतीतां रजनीं कृत्स्नां नाजानात्स महाव्रतः ॥ ५ ॥

महाव्रती मुनि उस स्त्रीके दिये हुए अत्यंत सुखजनक उष्ण जलसे नहाकर तथा हाथके सुखद-स्पर्शसे सेवित होकर यह न जान सके, कि सारी रात बीत गई ॥ ५ ॥

तत उत्थाय स मुनिस्तदा परमविस्मितः ।
पूर्वस्यां दिशि सूर्यं च सोऽपश्यदुदितं दिवि ॥ ६ ॥

अनन्तर मुनि अत्यंत विस्मित होकर उठे और उन्होंने पूर्व दिशाके आकाशमण्डलमें सूर्यको उदित हुआ देखा ॥ ६ ॥

तस्य बुद्धिरियं किं नु मोहस्तत्त्वमिदं भवेत् ।
अथोपास्य सहस्रांशुं किं करोमीत्युवाच ताम् ॥ ७ ॥

उस समय वे विचार करने लगे, कि 'क्या यह मेरा मोह है, अथवा यथार्थमें सूर्योदय हो गया है।' अन्तमें वह सूर्यकी उपासना करके उस स्त्रीसे बोले–इस समय मैं क्या करूं? ॥७॥

सा चामृतरसप्रख्यमृषेरन्नमुपाहरत् ।
तस्य स्वादुतयान्नस्य न प्रभूतं चकार सः ।
व्यगमच्चाप्यहःशेषं ततः संध्यागमत्पुनः ॥ ८ ॥

तब वह स्त्री उनके लिये अमृत रसके सदृश अन्न ले आई। ऋषि उस अन्नकी अति स्वादुतासे अधिक आकृष्ट होकर उसे पर्याप्त न मान सके और अब पूरा हो गया– यह कह नहीं सके। उस दिनके बीतने पर फिर सन्ध्या उपस्थित हुई ॥ ८ ॥

अथ स्त्री भगवन्तं सा सुप्यतामित्यचोदयत् ।
तत्र वै शयने दिव्ये तस्य तस्याश्च कल्पिते ॥ ९ ॥

अनन्तर उस स्त्रीने भगवान् अष्टावक्रको शयन करनेके लिये कहा; उन दोनोंकी अलग अलग दिव्य शय्याएं बिछायी गयीं ॥ ९ ॥

अष्टावक्र उवाच—

न भद्रे परदारेषु मनो मे संप्रसज्जति ।
उत्तिष्ठ भद्रे भद्रं ते स्वप वै विरमस्व च ॥ १० ॥

अष्टावक्र बोले— हे भद्रे ! मेरा अन्तःकरण परस्त्रीमें आसक्त नहीं होता है । हे कल्याणि ! तुम्हारा मंगल होगा । तुम उठो और स्वयं इस पापसे विरत रहो ॥ १० ॥

भीष्म उवाच—

सा तदा तेन विप्रेण तथा धृत्या निवर्तिता ।
स्वतन्त्रास्मीत्युवाचैनं न धर्मच्छलमस्ति ते ॥ ११ ॥

भीष्म बोले— उस समय वह स्त्री उन ब्रह्मर्षिके लौटानेपर धीरजके सहारे बोली, मैं स्वतन्त्र हूं, इसलिये मेरे साथ समागम करनेसे आपके धर्मकी छलना नहीं होगी ॥ ११ ॥

अष्टावक्र उवाच—

नास्ति स्वतन्त्रता स्त्रीणामस्वतन्त्रा हि योषितः ।
प्रजापतिमतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १२ ॥

अष्टावक्र बोले— स्त्रियोंकी स्वाधीनता नहीं है, स्त्रियां निश्चय ही पराधीन हैं; प्रजापतिका ऐसा मत है, कि स्त्रियां कभी स्वाधीनताके योग्य नहीं हैं ॥ १२ ॥

स्त्र्युवाच—

बाधते मैथुनं विप्र मम भक्तिं च पश्य वै ।
अधर्मं प्राप्स्यसे विप्र यन्मां त्वं नाभिनन्दसि ॥ १३ ॥

स्त्री बोली— हे विप्र ! काम पीडा मुझे व्याकुल कर रही है, तुम तुम्हारे प्रति जो मेरी भक्ति है वह तो देखो । यदि तुम मुझे संतुष्ट नहीं करोगे, तो तुम्हें पाप लगेगा ॥ १३ ॥

अष्टावक्र उवाच—

हरन्ति दोषजातानि नरं जातं यथेच्छकम् ।
प्रभवामि सदा धृत्या भद्रे स्वं शयनं व्रज ॥ १४ ॥

अष्टावक्र बोले— यथेच्छाचारी मनुष्यको सब पापदोष अपनी ओर आकर्षित करते हैं । हे कल्याणि ! मैं सदा धीरजसे मनको काबूमें रखनेमें समर्थ हूं, इसलिये अपनी शय्या पर जाओ ॥ १४ ॥

स्त्र्युवाच—

शिरसा प्रणमे विप्र प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
भूमौ निपतमानायाः शरणं भव मेऽनघ ॥ १५ ॥

स्त्री बोली– हे विप्र ! मैं सिर झुकाके तुम्हें प्रणाम करती हूं, मुझ पर तुम्हें कृपा करनी उचित है। हे निष्पाप ! तुम पृथ्वीमें पड़ी हुई मुझ शरणागताकी रक्षा करो ॥ १५ ॥

यदि वा दोषजातं त्वं परदारेषु पश्यसि ।
आत्मानं स्पर्शयाम्यद्य पाणिं गृह्णीष्व मे द्विज ॥ १६ ॥

यदि तुम परस्त्रीगमनमें दोष देखते हो, तो मैं तुम्हें आत्मसमर्पण करती हूं, हे द्विज ! तुम मेरा पाणिग्रहण करो ॥ १६ ॥

न दोषो भविता चैव सत्येनैतद्ब्रवीम्यहम् ।
स्वतन्त्रां मां विजानीहि योऽधर्मः सोऽस्तु वै मयि ॥ १७ ॥

मैं सत्य कहती हूं, कि तुम्हें कुछ भी दोष नहीं लगेगा; मुझे तुम आत्म-प्रदान करनेमें स्वतंत्र समझो; इसमें जो अधर्म होगा, वह मुझे ही होगा ॥ १७ ॥

अष्टावक्र उवाच—

स्वतन्त्रा त्वं कथं भद्रे ब्रूहि कारणमत्र वै ।
नास्ति लोके हि काचित्स्त्री या वै स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १८ ॥

अष्टावक्र बोले– हे भद्रे ! तुम किस प्रकार स्वतंत्र हो सकती हो ? इसका क्या कारण है, वह कहो। जगत्में कोई भी ऐसी स्त्री नहीं है, जो स्वतन्त्र रहने योग्य है ॥ १८ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थविरीभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १९ ॥

कौमार अवस्थामें पिता इसकी रक्षा करता है, युवा अवस्थामें पति रक्षा किया करता है, वृद्धावस्थामें पुत्र उसकी रक्षा करते हैं, इसलिये स्त्रियोंकी कभी स्वतन्त्रता नहीं रहती है ॥ १९ ॥

स्त्र्युवाच—

कौमारं ब्रह्मचर्यं मे कन्यैवास्मि न संशयः ।
कुरु मा विमतिं विप्र श्रद्धां विजहि मा मम ॥ २० ॥

स्त्री बोली– मैं कौमार अवस्थामें ब्रह्मचर्य अवलम्बन करनेके हेतु निःसन्देह कन्या ही हूं। हे विप्र ! इसलिये तुम दुर्बुद्धिका वर्तन न करो, मेरी श्रद्धा निष्फल मत करो ॥ २० ॥

×

अष्टावक्र उवाच—

यथा मम तथा तुभ्यं यथा तव तथा मम ।
जिज्ञासेयमृषेस्तस्य विघ्नः सत्यं नु किं भवेत् ॥ २१ ॥

अष्टावक्र बोले— जैसी मेरी दशा है वैसी तुम्हारी है, और जैसी तुम्हारी दशा है वैसी मेरी है; वदान्य ऋषि मुझे जाननेके लिये जो परीक्षा करते हैं, क्यों सत्य ही उसमें विघ्न होगा ? ॥ २१ ॥

आश्चर्यं परमं हीदं किं नु श्रेयो हि मे भवेत् ।
दिव्याभरणवस्त्रा हि कन्येयं मामुपस्थिता ॥ २२ ॥

इस स्त्रीको पहले अत्यन्त वृद्धावस्थामें देखा था, अब इसे दिव्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कन्या रूपमें देखता हूं और यह मेरी सेवामें उपस्थित है; यह परम आश्चर्यका विषय है ! क्या यह मेरे लिये कल्याणप्रद होगा ? ॥ २२ ॥

किं त्वस्याः परमं रूपं जीर्णमासीत्कथं पुनः ।
कन्यारूपमिहाद्यैव किमिहात्रोत्तरं भवेत् ॥ २३ ॥

इसका यह परम सुन्दर रूप पहले किस प्रकार जीर्ण हुआ था ? इस समय तो इसे कन्या रूपसे देखता हूं, इसके अनन्तर न जाने क्या होगा ?॥ २३ ॥

यथा परं शक्तिधृतेर्न व्युत्थास्ये कथंचन ।
न रोचये हि व्युत्थानं धृत्यैवं साधयाम्यहम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥ १२३७ ॥

मुझे जो काम दमन करनेका सामर्थ्य है उस धीरजसे मैं किसी प्रकार बिचलित न होकर पहले प्राप्त हुई कन्याको परित्याग न करूंगा, पूर्वप्राप्तको परित्याग करनेमें मेरी रुचि नहीं होती; इसलिये मैं धैर्य धर्मके सहारे दारपरिग्रह करूंगा ॥ २४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ १२३७ ॥

: २२ :

युधिष्ठिर उवाच—

न बिभेति कथं सा स्त्री शापस्य परमद्युतेः ।
कथं निवृत्तो भगवांस्तद्भवान्प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! वह स्त्री परमतेजस्वी अष्टावक्र ऋषिके शापसे क्यों न डरी और भगवान् अष्टावक्र किस प्रकार वहांसे लौटे थे ? यह वृत्तान्त आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अष्टावक्रोऽन्वपृच्छत्तां रूपं विकुरुषे कथम्।
न चानृतं ते वक्तव्यं ब्रूहि ब्राह्मणकाम्यया ॥ २ ॥

भीष्म बोले– अष्टावक्रने उस स्त्रीसे पूछा, कि तुम किस प्रकार अपना रूप पलटती हो ? मिथ्या न कहना, ब्राह्मणसे मान पानेकी इच्छाके लिये सत्य कहो ॥ २ ॥

स्त्र्युवाच—

द्यवापृथिवीमात्रैषा काम्या ब्राह्मणसत्तम।
शृणुष्वावहितः सर्वं यदिदं सत्यविक्रम ॥ ३ ॥

स्त्री बोली– हे ब्राह्मणसत्तम ! द्युलोक अथवा भूलोकके जिस किसी स्थानमें निवास करे, उस ही स्थानमें स्त्री–पुरुषोंका परस्पर ऐसा ही अभिप्राय है। हे सत्यविक्रम ! सावधान होकर यह समस्त विषय सुनो ॥ ३ ॥

उत्तरां मां दिशं विद्धि दृष्टं स्त्रीचापलं च ते।
अभ्युत्थानेन ते लोका जिताः सत्यपराक्रम ॥ ४ ॥

हे निष्पाप ! तुम मुझे उत्तर दिशा जानो; स्त्रियोंमें कितनी चपलता होती है यह तुमने देखा है; हे सत्यपराक्रम ! तुमने धर्मसे विचलित न होकर सब लोकोंको जीत लिया है ॥ ४ ॥

जिज्ञासेयं प्रयुक्ता मे स्थिरीकर्तुं तवानघ।
स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुनज्वरः ॥ ५ ॥

तुम्हें दृढ करनेके लिये मैं इस प्रकार तुम्हारी परीक्षा करती थी; मैथुनके लिये होनेवाला कामज्वर वृद्धा स्त्रियोंको भी पीडित करता है ॥ ५ ॥

तुष्टः पितामहस्तेऽद्य तथा देवाः सवासवाः।
स त्वं येन च कार्येण संप्राप्तो भगवानिह ॥ ६ ॥

इस समय प्रजापति तुमपर प्रसन्न हुए तथा इन्द्रके सहित सब देवता तुम पर प्रसन्न हैं। हे द्विजवर ! तुम जिस कार्यके लिये इस स्थानमें आये हैं वह सफल हुआ ॥ ६ ॥

प्रेषितस्तेन विप्रेण कन्यापित्रा द्विजर्षभ।
तवोपदेशं कर्तुं वै तच्च सर्वं कृतं मया ॥ ७ ॥

तथा उस कन्याके पिता वदान्य विप्रके द्वारा जिस निमित्त मेरे समीप आये हो, तुम्हें उपदेश करनेके लिये मैंने उन्हीं कार्योंका अनुष्ठान किया ॥ ७ ॥

क्षेमी गमिष्यसि गृहाञ्श्रमश्च न भविष्यति।
कन्यां प्राप्स्यसि तां विप्र पुत्रिणी च भविष्यति ॥ ८ ॥

तुम उत्तम रीतिसे कुशलमङ्गलपूर्वक घर जाओ, तुम्हें मार्गमें कुछ भी श्रम नहीं होगा, हे विप्र ! तुम उस कन्याको पाओगे और वह पुत्रवती होगी ॥ ८ ॥

काङ्क्षया पृष्टवांस्त्वं मां ततो व्याहृतमुत्तरम् ।
अनतिक्रमणीयैषा कृत्स्नैर्लोकैस्त्रिभिः सदा ॥ ९ ॥
तुमने जाननेकी इच्छाके निमित्त मुझसे प्रश्न किया, इस ही लिये मैंने उत्तम रीतिसे इसका उत्तर दिया है; ब्राह्मणकी आज्ञा तीनों लोकोंमें सब लोगोंको ही सदा अनुलंघनीय होती है ॥ ९ ॥

गच्छस्व सुकृतं कृत्वा किं वान्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
यावद्ब्रवीमि विप्रर्षे अष्टावक्र यथातथम् ॥ १० ॥
हे विप्रर्षि अष्टावक्र! इस समय तुम पुण्यका वह सञ्चय करके गमन करो और क्या सुननेकी अभिलाष है? मैं वह भी सब यथार्थ रीतिसे कहूंगी ॥ १० ॥

ऋषिणा प्रसादिता चास्मि तव हेतोर्द्विजर्षभ ।
तस्य संमाननार्थं मे त्वयि वाक्यं प्रभाषितम् ॥ ११ ॥
हे द्विजवर मैं तुम्हारे निमित्त ऋषिके द्वारा प्रसादित हुई हूं, उनके सम्मानके लिये मैंने तुमसे यह कथा कही है ॥ ११ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्याः स विप्रः प्राञ्जलिः स्थितः ।
अनुज्ञातस्तया चापि स्वगृहं पुनराव्रजत् ॥ १२ ॥
वह विप्रवर उसका वचन सुनके हाथ जोडके खडे हुए और उसकी आज्ञा पाके फिर अपने स्थानमें लौट आये ॥ १२ ॥

गृहमागम्य विश्रान्तः स्वजनं प्रतिपूज्य च ।
अभ्यगच्छत तं विप्रं न्यायतः कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
हे कुरुनन्दन! उन्होंने घरमें आके विश्राम कर, स्वजनोंसे कुशल प्रश्न करके न्यायपूर्वक उस ब्राह्मण वदान्यके समीप गमन किया ॥ १३ ॥

पृष्टश्च तेन विप्रेण दृष्टं त्वेतन्निदर्शनम् ।
प्राह विप्रं तदा विप्रः सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ १४ ॥
उस समय वदान्य ब्राह्मणने विप्रको देखकर उनकी यात्राके विषयमें पूछा, तब वे प्रसन्नचित्तसे समस्त वृत्तान्त कहने लगे ॥ १४ ॥

भवताहमनुज्ञातः प्रस्थितो गन्धमादनम् ।
तस्य चोत्तरतो देशे दृष्टं तद्दैवतं महत् ॥ १५ ॥
उन्होंने कहा— मैंने आपकी आज्ञानुसार गन्धमादन पर्वत पर जाके, उसकी उत्तर ओर एक उत्तम महती देवीका दर्शन किया ॥ १५ ॥

तया चाहमनुज्ञातो भवांश्चापि प्रकीर्तितः ।
आवितश्चापि तद्वाक्यं गृहमभ्यागतः प्रभो ॥ १६ ॥

उसने मेरी परीक्षा ली और आपका भी नाम सुनाया । हे प्रभु ! फिर उसका वचन सुनके उसकी आज्ञा लेकर मैं निज स्थानपर लौट आया ॥ १६ ॥

तमुवाच ततो विप्रः प्रतिगृह्णीष्व मे सुताम् ।
नक्षत्रतिथिसंयोगे पात्रं हि परमं भवान् ॥ १७ ॥

तब विप्रवर वदान्य उनसे बोले, तुम उत्तम पात्र हो, इसलिये नक्षत्र, तिथि और वेदविधिके अनुसार मेरी कन्याका पाणिग्रहण करो ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच—

अष्टावक्रस्तथेत्युक्त्वा प्रतिगृह्य च तां प्रभो ।
कन्यां परमधर्मात्मा प्रीतिमांश्चाभवत्तदा ॥ १८ ॥

भीष्म बोले— हे महाराज ! परम धर्मात्मा अष्टावक्र उस समय "ऐसा ही होवे" यह कहके उस कन्याका पाणिग्रहण करके अत्यन्त प्रीतियुक्त हुए ॥ १८ ॥

कन्यां तां प्रतिगृह्यैव भार्यां परमशोभनाम् ।
उवास मुदितस्तत्र आश्रमे स्वे गतज्वरः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥ १२५६ ॥

वह द्विजवर उस परम सुन्दरी कन्याको भार्यारूपसे प्रतिग्रह करके शोकरहित और प्रसन्न होके अपने आश्रममें सुखपूर्वक वास करने लगे ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ १२५६ ॥

: २३ :

युधिष्ठिर उवाच—

किमाहुर्भरतश्रेष्ठ पात्रं विप्राः सनातनम् ।
ब्राह्मणं लिङ्गिनं चैव ब्राह्मणं वाप्यलिङ्गिनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मण लोग किसको दानका श्रेष्ठ सनातन पात्र बताते हैं ? दण्ड कमण्डलु चिन्ह धारण करनेवाले, ब्रह्मचारी ब्रह्मवित् ब्राह्मणको अथवा चिन्हरहित गृहस्थ ब्राह्मणको ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

स्ववृत्तिमभिपन्नाय लिङ्गिने वेतराय वा ।
देयमाहुर्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे महाराज ! प्राचीन लोग जीविकानिर्वाहके लिये निज वृत्ति अवलम्बन करनेवाले दण्डादि चिन्हधारी वा अचिन्हित स्वधर्मजीवी ब्राह्मण इन दोनोंको ही दानके पात्र कहते हैं, क्योंकि ये दोनों ही तपस्वी हैं ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

श्रद्धया परया पूतो यः प्रयच्छेद्‌द्विजातये ।
हव्यं कव्यं तथा दानं को दोषः स्यात्पितामह ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! जो परम श्रद्धासे पवित्र होकर ब्राह्मणको हव्यकव्य तथा अन्य वस्तुका दान करता है, उस दानमें क्या दोष होता है, उसे आप वर्णन करिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

श्रद्धापूतो नरस्तात दुर्दान्तोऽपि न संशयः ।
पूतो भवति सर्वत्र किं पुनस्त्वं महीपते ॥ ४ ॥

भीष्म बोले– हे तात ! नीच मनुष्य भी यदि श्रद्धाके द्वारा पवित्र हो, तब वह अवश्य ही सब ठौर पवित्र है, इसमें सन्देह नहीं है; हे महीपते ! श्रद्धापूर्ण मनुष्य सर्वत्र पवित्र होता है, फिर तुम जैसे की क्या बात ? ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवेषु सततं नरः ।
कव्यप्रदाने तु बुधाः परीक्ष्यं ब्राह्मणं विदुः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले– मनुष्य सदा देवकर्ममें ब्राह्मणकी परीक्षा न करे, हव्यप्रदानके समय अर्थात् पितृकर्ममें ब्राह्मणकी परीक्षा करनी चाहिये; पण्डित लोग ऐसा ही कहा करते हैं, इसका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

न ब्राह्मणः साधयते हव्यं दैवात्प्रसिद्ध्यति ।
देवप्रसादादिज्यन्ते यजमाना न संशयः ॥ ६ ॥

भीष्म बोले– ब्राह्मण कभी यज्ञ--होम देवकार्य सिद्ध नहीं करते; वह देवताओंकी कृपासे ही सिद्ध होता है; देवताओंके प्रसादसे यजमान यज्ञ किया करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥६॥

ब्राह्मणा भरतश्रेष्ठ सततं ब्रह्मवादिनः ।
मार्कण्डेयः पुरा प्राह इह लोकेषु बुद्धिमान् ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! धी–शक्तिसम्पन्न मार्कण्डेयने पहले समयमें सदा वेदवित् ब्राह्मणोंको ही श्राद्धमें निमंत्रित करना चाहिये, ऐसा कहा है ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अपूर्वोऽप्यथ वा विद्वान्संबन्धी वाथ यो भवेत् ।
तपस्वी यज्ञशीलो वा कथं पात्रं भवेत्तु सः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले— अपरिचित, विद्वान्, सम्बन्धी, तपस्वी अथवा यज्ञशील— इनमेंसे कौन किस प्रकार दानका पात्र होगा ? ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच—

कुलीनः कर्मकृद्वैद्यस्तथा चाप्यानृशंस्यवान् ।
ह्रीमानृजुः सत्यवादी पात्रं पूर्वे च ते त्रयः ॥ ९ ॥

भीष्म बोले— पहले जो तुमने तीन अपरिचित विद्वान्, सम्बन्धी और तपस्वी, ये यदि कुलीन, कर्मठ, वेदवित् दयालु, लज्जाशील, सरल और सत्यवादी ब्राह्मण हों, तभी दानके पात्र हुआ करते हैं ॥ ९ ॥

तत्रेदं शृणु मे पार्थ चतुर्णां तेजसां मतम् ।
पृथिव्याः काश्यपस्याग्नेर्मार्कण्डेयस्य चैव हि ॥ १० ॥

हे पार्थ ! इस विषयमें पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय इन तेजस्वी अर्थात् सर्वज्ञ-चतुष्टयका मत सुनो ॥ १० ॥

पृथिव्युवाच—

यथा महार्णवे क्षिप्तः क्षिप्रं लोष्टो विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं त्रय्यावृत्त्या विनश्यति ॥ ११ ॥

पृथ्वी कहती है— जैसे समुद्रमें फेंकनेसे ढेला शीघ्र ही विनष्ट होता है, वैसे ही जो याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह, इन तीनों वृत्तियोंके द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, उनके समीप सब दुश्चरित निमग्न हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

काश्यप उवाच—

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म ।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति शीलव्यपेतस्य नरस्य राजन् ॥ १२ ॥

काश्यपने कहा है— हे महाराज ! षडङ्गोंके सहित सब वेद, सांख्य, पुराण और सत्कुलमें जन्म— ये सब शील रहित मनुष्योंको उत्तम गति नहीं प्रदान कर सकते ॥ १२ ॥

अग्निरुवाच—

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
ब्रह्मन्स तेनाचरते न ब्रह्महत्यां लोकास्तस्य ह्यन्तवन्तो भवन्ति ॥ १३ ॥

अग्नि कहते हैं— जो पुरुष अध्ययन करके अपनेको पण्डित समझता है और जो विद्याके सहारे दूसरोंके यशको नष्ट करता है, वह पुरुष ब्रह्महत्याका पापी होता है, इसहीसे भ्रष्ट होता है और उसे नाशवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
नाभिजानामि यद्यस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय कहते हैं— सहस्र अश्वमेध यज्ञ और एकमात्र सत्य यदि तुलादण्डपर तौले जांय, तो सहस्र अश्वमेध यज्ञ सत्यके आधे फलके समान होगा, वा नहीं इसे मैं कह नहीं सकता; इसलिये इन गुणोंके एकत्वके प्रभावसे पात्रत्व नहीं होता ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्त्वा ते जग्मुराशु चत्वारोऽमिततेजसः।
पृथिवी काश्यपोऽग्निश्च प्रकृष्टायुश्च भार्गवः ॥ १५ ॥

भीष्म बोले—अत्यन्त तेजस्वी पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और चिरायु भृगुनन्दन मार्कण्डेय, इन चारोंने इस प्रकार कहकर शीघ्रही गमन किया ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यदिदं ब्राह्मणा लोके व्रतिनो भुञ्जते हविः।
भुक्तं ब्राह्मणकामाय कथं तत्सुकृतं भवेत् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले— ब्रह्मचर्य व्रतमें रत रहनेवाले ब्राह्मण लोग श्राद्धमें यह हविका जो भोजन करते हैं, तो ब्राह्मणकी कामनासे भुक्त किया हुआ दान किस प्रकार सुकृत होता है ? ॥१६॥

भीष्म उवाच—

आदिष्टिनो ये राजेन्द्र ब्राह्मणा वेदपारगाः।
भुञ्जते ब्रह्मकामाय व्रतलुप्ता भवन्ति ते ॥ १७ ॥

भीष्म बोले— हे राजेन्द्र ! बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्य व्रत करनेवाले, वेदपारग विप्र यदि यजमानकी ब्राह्मणको दान देनेकी इच्छापूर्तिके लिये श्राद्धका अन्न भोजन करें, तो उसकाही व्रत नष्ट होता है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
किं निश्चितं भवेत्तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! पण्डित लोग धर्मको अनेकान्त अर्थात् अनेक फलाकार और साधनवाला कहा करते हैं, इसलिये इस विषयमें किस प्रकार उसकी निष्ठा—पात्रता निश्चित की जा सकती है ? आप मुझसे यही कहिये ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच—

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ १९ ॥

भीष्म बोले— हे राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, दम और आर्जव, ये धर्मके लक्षण कहके निश्चित हुए हैं ॥ १९ ॥

ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
अनाचरन्तस्तद्धर्मं संकरे निरताः प्रभो ॥ २० ॥

हे प्रभु ! जो लोग धर्मकी प्रशंसा करते हुए इस पृथ्वीपर विचरते हैं, यदि वे लोग उस धर्मका आचरण नहीं करते तो वे धर्म सङ्करकार्यमें आसिरत कहके वर्णित हुआ करते हैं ॥ २० ॥

तेभ्यो रत्नं हिरण्यं वा गामश्वान्वा ददाति यः ।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमाश्रितः ॥ २१ ॥

जो ऐसे लोगोंको सुवर्ण, रत्न, गौ अथवा अश्व आदि वस्तुओंका दान करता है, वह नरकमें पडकर दस वर्षोंतक विष्ठा भक्षण किया करता है ॥ २१ ॥

मेदानां पुल्कसानां च तथैवान्तवसायिनाम् ।
कृतं कर्माकृतं चापि रागमोहेन जल्पताम् ॥ २२ ॥

जो उच्चवर्णके लोग होके भी राग और मोहके वशमें होकर अपने किये या बिना किये हुए कर्मको लोगोंमें प्रकाशित करते हैं, वे मेद, पुल्कश तथा अन्त्यजोंकी भांति गिने जाते हैं ॥ २२ ॥

वैश्वदेवं च ये मूढा विप्राय ब्रह्मचारिणे ।
ददतीह न राजेन्द्र ते लोकान्भुञ्जतेऽशुभान् ॥ २३ ॥

हे राजेन्द्र ! जो मूढ पुरुष ब्रह्मचारी विप्रको वैश्वदेव बलि प्रदान नहीं करते, वे अशुभ लोकोंको भोग किया करते हैं ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

किं परं ब्रह्मचर्यस्य किं परं धर्मलक्षणम् ।
किं च श्रेष्ठतमं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! ब्रह्मचर्यमें श्रेष्ठता क्या है ? धर्मका उत्तम लक्षण कौनसा है ? और श्रेष्ठ पवित्रता किसे कहते हैं ? इसे ही आप मेरे निकट वर्णन करिये ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच—

ब्रह्मचर्यं परं तात मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमः शौचस्य लक्षणम् ॥ २५ ॥

भीष्म बोले— हे तात ! मदिरा और मांसका त्याग करना ही ब्रह्मचर्यमें श्रेष्ठ है, विषयोंसे इन्द्रियोंको निवृत्त रखना ही सबसे श्रेष्ठ पवित्रता है, और वेदोक्त मर्यादामें रहना सबसे श्रेष्ठ धर्मका लक्षण है ॥ २५ ॥

×

युधिष्ठिर उवाच—

कस्मिन्काले चरेद्धर्मं कस्मिन्कालेऽर्थमाचरेत् ।
कस्मिन्काले सुखी च स्यात्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! किस समय धर्माचरण करे ? किस समय अर्थ व्यवहार करे और किस समय सुख भोगमें प्रवृत्त होवे ? आप मुझसे येही विषय कहिये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच—

कल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम् ।
पश्चात्कामं निषेवेत न च गच्छेत्प्रसाङ्गिनाम् ॥ २७ ॥

भीष्म बोले– प्रातःकालमें धनका उपार्जन करे, फिर धर्माचरण करे, उसके अनन्तर कामका सेवन करके सुखी हो, परन्तु काममें आसक्त न होवे ॥ २७ ॥

ब्राह्मणांश्चाभिमन्येत गुरूंश्चाप्यभिपूजयेत् ।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥ २८ ॥

ब्राह्मणोंका सम्मान करे, गुरुओंकी सेवा–पूजा करे, सब प्राणियोंके अनुकूल रहके नम्रता युक्त वर्तन करे और प्रियवादी होवे ॥ २८ ॥

अधिकारे यदनृतं राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीककरणं समं तद्ब्रह्महत्यया ॥ २९ ॥

न्यायाधिकारके बीच मिथ्या व्यवहार, राजकुलमें चुगली और गुरुजनोंके निकट कपटपूर्ण व्यवहार करना ये ब्रह्महत्याके समान पाप हैं ॥ २९ ॥

प्रहरेन्न नरेन्द्रेषु न गां हन्यात्तथैव च ।
भ्रूणहत्यासमं चैतदुभयं यो निषेवते ॥ ३० ॥

राजाओंके ऊपर प्रहार न करे, गायको न मारे; जो मनुष्य ऊपर कहे हुए दोनों दुष्कर्मोंको करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप होता है ॥ ३० ॥

नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान्परित्यजेत् ।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत्समं तद्ब्रह्महत्यया ॥ ३१ ॥

अग्निहोत्रको कभी परित्याग न करे, वेदोंका स्वाध्याय कभी न छोडे । ब्राह्मणोंके विषयमें द्वेष न करे, कारण यह है कि ये तीनों दोष ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम् ।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! कैसे ब्राह्मण सज्जन कहाते हैं ? किन लोगोंको दान देनेसे महान फल देनेवाला होता है और किस प्रकारके ब्राह्मणोंको भोजन कराना उचित है ? आप मुझे इस ही विषयका उपदेश करिये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच—

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः ।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३३ ॥

भीष्म बोले— जो लोग क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यमें रत और इन्द्रियोंको दमन करनेमें तत्पर हैं, वेही उत्तम ब्राह्मण हैं, वैसे ही ब्राह्मणोंको दान करनेसे महत् फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

अमानिनः सर्वसहा दृष्टार्था विजितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३४ ॥

जो लोग अभिमानी नहीं हैं, सब कुछ सहते हैं, दृष्ट हैं, जितेन्द्रिय और सब प्राणियोंके हितमें रत रहते तथा सबकी शुभ-कामना किया करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल मिलता है ॥ ३४ ॥

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३५ ॥

जो लोग लोभरहित, पवित्र, वेदज्ञ, लज्जाशील और सत्यवादी तथा निज कर्ममें रत रहते हैं, उन्हें ही दान करनेसे महान् फलप्रद हुआ करता है ॥ ३५ ॥

साङ्गांश्च चतुरो वेदान्योऽधीयीत द्विजर्षभः ।
षड्भ्यो निवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ३६ ॥

जो ब्राह्मण अङ्गोंसहित चारों वेदोंका अध्ययन करता है और अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिगृह षट्कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है; ऋषि लोग उसे ही दानका पात्र कहा करते हैं ॥ ३६ ॥

ये त्वेवंगुणजातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥ ३७ ॥

जो ब्राह्मण ऊपर कहे हुए गुणोंसे युक्त हों, उन्हें दान करनेसे महान् फल प्राप्त होता है । गुणी पात्रको दान करनेसे दाताको सहस्र गुना फल प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत कुलं कृत्स्नमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥ ३८ ॥

बुद्धि, शास्त्र, ज्ञान, सच्चरित्र और शीलसम्पन्न एक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी दान स्वीकार कर ले तो वह समस्त कुलका उद्धार करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥

ग्रामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् ।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावे न शोचति ॥ ३९ ॥

वैसे ब्राह्मणको गाय, घोडा, धन, अन्न तथा दूसरी समस्त वस्तु दान करना चाहिये; ऐसा करनेसे दाताको मरनेके बाद शोक नहीं करना पडता ॥ ३९ ॥

तारयेत कुलं कृत्स्नमेकोऽपीह द्विजोत्तमः ।
किमङ्ग पुनरेकं वै तस्मात्पात्रं समाचरेत् ॥ ४० ॥

इस लोकमें जब एक ही उत्तम ब्राह्मण समस्त कुलका उद्धार करता है, तब अनेक ब्राह्मण उद्धार करेंगे, उसमें सन्देह ही क्या है ? इसलिये पात्रका विचार करके दान करना उचित है ॥ ४० ॥

निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसंमतम् ।
दूरादानाययेत्कृत्ये सर्वतश्चाभिपूजयेत् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ १२९७ ॥

साधुसंमत, गुणयुक्त, ब्राह्मणका नाम सुननेसे ही उसे दूर देशसे लाके सत्कार करके सब प्रकार उसकी पूजा करे ॥ ४१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ १२९७ ॥

: २४ :

युधिष्ठिर उवाच—

श्राद्धकाले च दैवे च धर्मे चापि पितामह ।
इच्छामीह त्वयाख्यातं विहितं यत्सुरर्षिभिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! श्राद्धके समय देवकार्य और धर्मकार्यमें देवता और ऋषियोंने जिस कर्मका विधान किया है, उसे आप वर्णन करिये; मैं इसे ही सुननेकी अभिलाष करता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

दैवं पूर्वाह्णिके कुर्यादपराह्णे तु पैतृकम् ।
मङ्गलाचारसंपन्नः कृतशौचः प्रयत्नवान् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— मङ्गलाचारसम्पन्न, पवित्रतायुक्त, यत्नवान् मनुष्य पूर्वाह्णमें देव संबंधी कार्य और अपराह्णमें पितृकार्य करे ॥ २ ॥

मनुष्याणां तु मध्याह्ने प्रदद्यादुपपत्तितः ।
कालहीनं तु यद्दानं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ३ ॥
और मध्यान्ह कालमें आदरयुक्त होके मनुष्योंको दान करे। जो दान असमयमें दिया जाता है, उसे पण्डित लोग राक्षसोंका भाग समझते हैं ॥ ३ ॥

लङ्घितं चावलीढं च कलिपूर्वं च यत्कृतम् ।
रजस्वलाभिर्दृष्टं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ४ ॥
जो भोज्य पदार्थ पांवसे लंघित है, जीभसे चाटा जाता है, कलहसे बनता है और जिसे रजस्वला स्त्री देखती है, धीर लोग उसे राक्षसोंका अंश समझते हैं ॥ ४ ॥

अवघुष्टं च यद्भुक्तमव्रतेन च भारत ।
परामृष्टं शुना चैव तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ५ ॥
हे भारत! घोषणा (ढिंढोरा) के द्वारा जो अन्न दान किया जाता है, जिसे व्रतहीन पुरुष भोजन किया करते हैं, और जिस अन्नको कुत्तेने स्पर्श किया हो, पण्डित लोग उस अन्नको राक्षसोंका भाग समझते हैं ॥ ५ ॥

केशकीटावपतितं क्षुतं श्वभिरवेक्षितम् ।
रुदितं चावधूतं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ६ ॥
जो अन्न केश, कीट आदिसे युक्त, छींकसे दूषित, जिसपर कुत्तोंकी दृष्टि पड गयी हो तथा जो रोकर और तिरस्कार पूर्वक दिया गया हो, धीर पुरुष उसे राक्षसोंका भाग समझते हैं ॥ ६ ॥

निरोंकारेण यद्भुक्तं सशस्त्रेण च भारत ।
दुरात्मना च यद्भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ७ ॥
हे भारत! जो अन्न अननुज्ञात अथवा शूद्र, शस्त्रजीवी और दुष्टात्मा मनुष्योंके द्वारा उपभुक्त हुआ करता है, धीर पुरुषोंने उसे राक्षसोंका भाग कहा है ॥ ७ ॥

परोच्छिष्टं च यद्भुक्तं परिभुक्तं च यद्भवेत् ।
दैवे पित्र्ये च सततं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ८ ॥
जो दूसरोंने जूठा कर दिया हो, जिसमेंसे किसीने भोजन कर लिया हो, और जो देवता, पितर, अतिथि तथा बालकोंको न देकर स्वयं भोजन किया जाता है, दैव और पितृकर्ममें वह अन्न सदा राक्षसोंका भाग कहके विदित हुआ करता है ॥ ८ ॥

गर्हितं निन्दितं चैव परिविष्टं समन्युना ।
दैवं वाप्यथ वा पैत्र्यं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ९ ॥
जो दूषित, निन्दित है और क्रोधयुक्त होकर जो अन्न देवकर्म तथा पितृकर्ममें परोसा जाता है, उसे रक्षासोंका ही भाग माना गया है ॥ ९ ॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यच्छ्राद्धं परिविष्यते ।
त्रिभिर्वर्णैर्नरश्रेष्ठ तं भागं रक्षसां विदुः ॥ १० ॥

हे नरश्रेष्ठ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंके द्वारा वैदिकमन्त्र और विधि–विधानसे रहित जो श्राद्धका अन्न परोसा जाता है, पण्डित लोग उसे राक्षसोंका भाग समझते हैं ॥ १० ॥

आज्याहुतिं विना चैव यत्किञ्चित्परिविष्यते ।
दुराचारैश्च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ११ ॥

घृतकी आहुतिके बिना ही जो कुछ वस्तु परिवेषित होती है और जिसे दुराचारी मनुष्य भोजन किया करते हैं, उसे धीर पुरुषोंने राक्षसोंका भाग कहा है ॥ ११ ॥

ये भागा रक्षसां प्रोक्तास्त उक्ता भरतर्षभ ।
अत ऊर्ध्वं विसर्गस्य परीक्षां ब्राह्मणे शृणु ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! राक्षसोंके अन्नके जो भाग माने गये हैं वह सब कहे गये। अब पात्रभूत ब्राह्मणोंके विषयमें दानकी परीक्षा सुनिये ॥ १२ ॥

यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तास्तथैव च ।
दैवे वाप्यथ वा पित्र्ये राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १३ ॥

हे महाराज! जो सब ब्राह्मण पतित अर्थात् महापातक करनेसे जातिसे बाहर किये गये हैं, तथा जो जड वा उन्मत्त हैं, वे दैव अथवा पितृकार्यमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ १३ ॥

श्वित्री कुष्ठी च क्लीबश्च तथा यक्ष्महतश्च यः ।
अपस्मारी च यश्चान्धो राजन्नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥ १४ ॥

हे महाराज! श्वेतकुष्ठी, मण्डलकुष्ठी, क्लीब और जो पुरुष राजयक्ष्मारोगसे आक्रान्त, अपस्मार रोगसे ग्रस्त तथा अन्धे हैं, वे निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ १४ ॥

चिकित्सका देवलका वृथानियमधारिणः ।
सोमविक्रयिणश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ १५ ॥

जो सब ब्राह्मण चिकित्सक– वैद्य, देवल अर्थात् देवार्चन वृत्तिजीवी, वेदविरुद्ध आचरण करनेवाले और सोमविक्रयी हैं, वे भी श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ १५ ॥

गायना नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।
कथका योधकाश्चैव राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १६ ॥

राजन्! गाने बजानेवाले, नाचनेवाले, खेल कूदनेवाले, बजानेवाले, व्यर्थ बातें करनेवाले और पहलवानी करनेवाले जो हैं, वे भी निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ १६ ॥

होतारो वृषलानां च वृषलाध्यापकास्तथा ।
तथा वृषलशिष्याश्च राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १७ ॥

हे महाराज ! जो ब्राह्मण शूद्रोंके याजक, अध्यापक तथा उनके शिष्य वा सेवक हैं, वे भी निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ १७ ॥

अनुयोक्ता च यो विप्रो अनुयुक्तश्च भारत ।
नार्हतस्तावपि श्राद्धं ब्रह्मविक्रयिणौ हि तौ ॥ १८ ॥

हे भारत ! जो ब्राह्मण वेतन लेकर पढाता और वेतन देकर पढता है, वे दोनों ही वेद बेचनेवाले हैं, इसलिये वे श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ १८ ॥

अग्रणीर्यः कृतः पूर्वं वर्णावरपरिग्रहः ।
ब्राह्मणः सर्वविद्योऽपि राजन्नार्हति केतनम् ॥ १९ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण पहले सबमें अग्रणी रहा हो और पीछे हीन वर्णवाली शूद्रा स्त्रीसे विवाह कर लिया हो, वह सर्वविद्या सम्पन्न होनेपर भी श्राद्धकालमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

अनग्नयश्च ये विप्रा मृतनिर्यातकाश्च ये ।
स्तेनाश्च पतिताश्चैव राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ २० ॥

हे महाराज ! जो सब ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करते, जो मृतकोंका दान लेते, चोरी करते और निज कर्मसे भ्रष्ट तथा पतित हैं, वे लोग भी निमन्त्रणके योग्य नहीं है ॥ २० ॥

अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपूर्वाश्च भारत ।
पुत्रिकापूर्वपुत्राश्च श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २१ ॥

हे भारत ! जो मनुष्य पहलेसे अपरिज्ञात, जो गांवके अगुआ हों और पुत्रिकापुत्र अर्थात् "इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मेरा कहावेगा," ऐसा नियम करके जो कन्या दान की जाती है, उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह पितृगोत्रसे भ्रष्ट होकर मातृगोत्रोपजीवी होनेसे निन्दनीय होता है, इसलिये ऐसे पुरुष भी श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥

ऋणकर्ता च यो राजन्यश्च वार्धुषिको द्विजः ।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! जो ब्राह्मण ऋणकर्ता, पैसा बढानेके लिये लोगोंको व्याजपर ऋण देता है और प्राणियोंको बेचकर जीवनका समय बिताता है, वे श्राद्धमें निमन्त्रित करने योग्य नहीं हैं ॥ २२ ॥

स्त्रीपूर्वाः काण्डपृष्ठाश्च यावन्तो भरतर्षभ ।
अजपा ब्राह्मणाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग स्त्रीजित तथा स्त्रीपण्योपजीवी, वेश्यापति और गायत्री जप तथा सन्ध्यावन्दनसे रहित हैं, वे ब्राह्मण श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं ॥ २३ ॥

श्राद्धे दैवे च निर्दिष्टा ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
दातुः प्रतिग्रहीतुश्च शृणुष्वानुग्रहं पुनः ॥ २४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! देव यज्ञ और पितृश्राद्धके समय जो ब्राह्मण वर्जित होते हैं उनका निर्देश किया गया । अब दान देनेवाले और दान लेनेवाले लोगोंका वर्णन करूंगा; जो श्राद्धमें वर्जित माने जानेपर भी उनके विशेष गुणके कारण अनुग्रहपूर्वक स्वीकारार्ह माने गये हैं; इस समय उसे सुनो ॥ २४ ॥

चीर्णव्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्येऽपि कर्षकाः ।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते राजन्केतनक्षमाः ॥ २५ ॥

हे महाराज ! जो व्रताचरण किया करते, गुणयुक्त गायत्री मंत्रके ज्ञाता और क्रियावान हैं, वे खेती करनेवाले होनेपर भी श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य हैं ॥ २५ ॥

क्षात्रधर्मिणमप्याजौ केतयेत्कुलजं द्विजम् ।
न त्वेव वणिजं तात श्राद्धेषु परिकल्पयेत् ॥ २६ ॥

युद्धमें क्षात्रधर्म युक्त होनेपर भी कुलीन ब्राह्मणको निमन्त्रण करे । हे तात ! परन्तु वणिक्वृत्ति-वाले ब्राह्मणको श्राद्धमें निमन्त्रण न करे ॥ २६ ॥

अग्निहोत्री च यो विप्रो ग्रामवासी च यो भवेत् ।
अस्तेनश्चातिथिज्ञश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २७ ॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्री तथा अपने ही ग्रामका निवासी हो और जो अस्तेय अर्थात् कभी दूसरोंकी वस्तु हरण नहीं करता तथा जो अतिथिके सत्कारमें कुशल हो, वही श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य है ॥ २७ ॥

सावित्रीं जपते यस्तु त्रिकालं भरतर्षभ ।
भिक्षावृत्तिः क्रियावांश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २८ ॥

हे भरत श्रेष्ठ ! जो ब्राह्मण त्रिकाल गायत्रीका जप करता है और भिक्षावृत्ति अवलंबन करके भी क्रियावान् है, वह निमन्त्रणके योग्य है ॥ २८ ॥

उदितास्तमितो यश्च तथैवास्तमितोदितः ।
अहिंस्रश्चाल्पदोषश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २९ ॥

हे राजन् ! जो ब्राह्मण उन्नत होकर शीघ्रही अवनत होता है और दरिद्र रहके फिर समृद्धिमान हो जाता है, जो अहिंसक है और थोडा दोषी हो तो भी वह श्राद्धमें निमंत्रणके योग्य है ॥ २९ ॥

अकल्कको ह्यतर्कश्च ब्राह्मणो भरतर्षभ ।
ससंज्ञो भैक्ष्यवृत्तिश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ ३० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो अदांभिक, अतर्की और ज्ञानी है, तथा भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके जीवनका समय व्यतीत करता है, वह श्राद्धके समय निमन्त्रणके योग्य है ॥ ३० ॥

अव्रती कितवः स्तेनः प्राणिविक्रयथो वणिक् ।
पश्चाच पीतवान्सोमं स राजन्केतनक्षमः ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! जो ब्राह्मण व्रतहीन, धूर्त, चोर, प्राणिविक्रयी और वणिक्वृत्तिसे युक्त होके भी देवताओंको दान करके पश्चात् सोमपान करता है, वह भी श्राद्धकालमें निमन्त्रणके योग्य है ॥ ३१ ॥

अर्जयित्वा धनं पूर्वं दारुणैः कृषिकर्मभिः ।
भवेत्सर्वातिथिः पश्चात्स राजन्केतनक्षमः ॥ ३२ ॥

हे राजन् ? जो पहले दारुण कृषि कर्मोंसे धनोपार्जन करके पीछे सब प्रकारसे अतिथियोंका आदर–सत्कार करता है, वह श्राद्धकालमें निमन्त्रणके योग्य है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मविक्रयनिर्दिष्टं स्त्रिया यच्चार्जितं धनम् ।
अदेयं पितृदेवेभ्यो यच्च क्लैब्यादुपार्जितम् ॥ ३३ ॥

वेद बेचके जो धन प्राप्त होता है, जो धन स्त्रियोंके द्वारा उपार्जित हुआ करता है और दीन बचन तथा मिथ्या शपथ आदिके सहारे जो धन संग्रह किया जाता है, वह पितरों और देवताओंको अदेय है ॥ ३३ ॥

क्रियमाणेऽपवर्गे तु यो द्विजो भरतर्षभ ।
न व्याहरति यद्युक्तं तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ३४ ॥

हे भरतर्षभ ! श्राद्धकी समाप्ति होनेपर जो ब्राह्मण " अस्तु स्वधा " इत्यादि वचन नहीं कहता, उसे गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ३४ ॥

श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा ।
सोमक्षयश्च मांसं च यदारण्यं युधिष्ठिर ॥ ३५ ॥

हे युधिष्ठिर ! सुयोग्य ब्राह्मण, दही, घृत, अमावास्या और जङ्गली फल, मूल तथा मांस जब प्राप्त हो, वही श्राद्धका उत्तम समय है ॥ ३५ ॥

×

श्राद्धापवर्गे विप्रस्य स्वधा वै स्वदिता भवेत् ।
क्षत्रियस्याप्यथो ब्रूयात्प्रीयन्तां पितरस्त्विति ॥ ३६ ॥

श्राद्धकी समाप्तिके समय प्रदाताके " स्वधोच्यताम् " वचन कहने पर ब्राह्मण यदि " अस्तु स्वधा " कहे, तो वह वचन पितरोंको प्रीतिकर होता है । क्षत्रियके यहां श्राद्ध समाप्त होनेके समय " पितृगण प्रसन्न होइये " ऐसा वचन कहना होगा ॥ ३६ ॥

अपवर्गे तु वैश्यस्य श्राद्धकर्मणि भारत ।
अक्षय्यमभिधातव्यं स्वस्ति शूद्रस्य भारत ॥ ३७ ॥

हे भारत ! वैश्यका श्राद्धकर्म समाप्त होनेके समय " अक्षय्यमस्तु " उच्चारण और शूद्रके श्राद्ध समाप्त होनेके समय " स्वस्ति " शब्दका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३७ ॥

पुण्याहवाचनं दैवे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
एतदेव निरोंकारं क्षत्रियस्य विधीयते ।
वैश्यस्य चैव वक्तव्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके देवकार्यमें ओंकारयुक्त पुण्याह-वाचन विहित है; क्षत्रियके यहां ओंकाररहित पुण्याहवाचन करना चाहिये और वैश्यके दैव कर्ममें केवल " देवतावृन्द प्रसन्न होवें " इतनाही कहना योग्य है । अब तीनों वर्णोंके कर्मोंके क्रमशः विधिपूर्वक जो कार्य करना होता है, उसे सुनो ॥ ३८ ॥

कर्मणामानुपूर्वीं च विधिपूर्वकृतं शृणु ।
जातकर्मादिकान्सर्वांस्त्रिषु वर्णेषु भारत ।
ब्रह्मक्षत्रे हि मन्त्रोक्ता वैश्यस्य च युधिष्ठिर ॥ ३९ ॥

हे भारत ! तीनों वर्णोंमें जातकर्म आदि सब संस्कार हैं; हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके संस्कार वेद मन्त्रोक्त कहके निर्दिष्ट हैं ॥ ३९ ॥

विप्रस्य रशना मौञ्जी मौर्वी राजन्यगामिनी ।
बाल्वजीत्येव वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मणकी मेखला मुञ्जमयी, क्षत्रियकी मेखला प्रत्यञ्चाकी और वैश्यकी मेखला बल्बज तृणमयी कही जाती है, यही धर्म है ॥ ४० ॥

दातुः प्रतिग्रहीतुश्च धर्माधर्माविमौ शृणु ।
ब्राह्मणस्यानृतेऽधर्मः प्रोक्तः पातकसञ्ज्ञितः ।
चतुर्गुणः क्षत्रियस्य वैश्यस्याष्टगुणः स्मृतः ॥ ४१ ॥

अब दाता और प्रतिग्रहीताके धर्माधर्म सुनो । मिथ्यावादी ब्राह्मणको जितने परिमाणसे पातक या अधर्म होता है, क्षत्रियको उसमें चौगुना और वैश्यको आठगुना हुआ करता है ॥ ४१ ॥

नान्यत्र ब्राह्मणोऽश्नीयात्पूर्वं विप्रेण केतितः ।
यवीयान्पशुहिंसायां तुल्यधर्मो भवेत्स हि ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणको उचित है, कि विप्रके द्वारा पहले निमन्त्रित होकर दूसरेके यहां भोजन न करे, यदि करे तो पहले निमन्त्रण देनेवालेके निकट वह निकृष्ट होता है, और पशुहिंसासे जो पाप हुआ करता है, उसे भी वही पाप लगता है ॥ ४२ ॥

अथ राजन्यवैश्याभ्यां यद्यश्नीयात्तु केतितः ।
यवीयान्पशुहिंसायां भागार्धं समवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

क्षत्रिय या वैश्यसे यदि निमन्त्रित होके दूसरेके यहां भोजन करे, तो उसके समीप निन्दित होके पशुहिंसाके पापका अर्द्ध—भाग पाता है ॥ ४३ ॥

दैवं वाप्यथ वा पित्र्यं योऽश्नीयाद्ब्राह्मणादिषु ।
अस्नातो ब्राह्मणो राजंस्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके दैव अथवा पितृकार्यमें जो ब्राह्मण बिना स्नान किये भोजन करता है, उसे गौकी झूठी शपथ खानेके समान पाप लगता है ॥ ४४ ॥

आशौचो ब्राह्मणो राजन्योऽश्नीयाद्ब्राह्मणादिषु ।
ज्ञानपूर्वमथो लोभात्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४५ ॥

हे महाराज ! जो ब्राह्मण जन्म मृत्यु आदिके अशौचसे युक्त होकर दूसरे ब्राह्मण आदिके दैव और पितृकार्यमें जानके अथवा लोभवशसे भोजन करता है, उसे गोवध और मिथ्याभाषण जनित अधर्म हुआ करता है ॥ ४५ ॥

अन्नेनान्नं च यो लिप्सेत्कर्मार्थं चैव भारत ।
आमन्त्रयति राजेन्द्र तस्याधर्मोऽनृतं स्मृतम् ॥ ४६ ॥

हे भारत ! जो पुरुष तीर्थयात्रा आदिके मिषसे जीविकार्थी होकर अर्थलाभ तथा अन्नकी इच्छा करता अथवा कार्यके लिये दाताके निकट धन मांगता है, हे राजेन्द्र ! उसे भी गोहत्या और मिथ्या भाषण जनित अधर्म होता है ॥ ४६ ॥

अवेदव्रतचारिभ्यस्त्रिभिर्वर्णैर्युधिष्ठिर ।
मन्त्रवत्परिविष्यन्ते तेष्वधर्मो गवानृतम् ॥ ४७ ॥

जो पुरुष वेदाध्ययन, व्रताचरण और चरित्रसंशोधन नहीं करता, उसे यदि ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण मन्त्रोच्चारणपूर्वक अन्न परोसते हैं, तो उन्हें भी गोवध और मिथ्यावचनजनित अधर्म हुआ करता है ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पित्र्यं वाप्यथ वा दैवं दीयते हि पितामह।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं दत्तं येषु महाफलम् ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! पित्र्य और देवकार्यमें जो कुछ दान दिया जाता है, वह कैसे पुरुषोंको दान करनेसे महत् फलकी प्राप्ति करानेवाला हुआ करता है ? मैं इसे ही जाननेकी अभिलाष करता हूं ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच—

येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षकाः।
उच्छेषपरिशेषं हि तान्भोजय युधिष्ठिर ॥ ४९ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! जैसे कृषक लोग उत्तम वृष्टिकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही जिन लोगोंकी स्त्रियां भोजनपात्रके शेष बचे हुए अन्नके सहित थालीमें स्थित परिशिष्ट अन्नकी प्रतीक्षा किया करती हैं, उन लोगोंको भोजन करावे ॥ ४९ ॥

चारित्रनियता राजन्ये कृशाः कृशवृत्तयः।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५० ॥

हे महाराज ! जो लोग चारित्र्य सम्पन्न हों, जिनका जीविकाका साधन नष्ट हो जानेसे जो अत्यंत कृश हो गये हों, ऐसे लोग यदि याचक होकर दाताके पास आयेंगे तो उन्हें दान करनेसे महत् फल प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

तद्भक्तास्तद्गृहा राजंस्तद्धनास्तदपाश्रयाः।
अर्थिनश्च भवन्त्यर्थे तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५१ ॥

हे राजन् ! सदाचार ही जिनका उपजीव्य है, सदाचार ही जिनका स्त्रीपुत्र आदि परिवार-वर्ग है, सदाचार ही जिनका बल और आश्रय है, जो लोग आवश्यकता होनेपर ही याचक बनते हैं, केवल अर्थसंग्रहके लिये नहीं जांचते, उन्हें दान करनेसे महत् फल प्राप्त हुआ करता है ॥ ५१ ॥

तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५२ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो चोर अथवा शत्रुसे भयार्त्त होके याचक बनते अथवा भोजन करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें दान करनेसे महाफल प्राप्त हुआ करता है ॥ ५२ ॥

अकल्ककस्य विप्रस्य भैक्षोत्करकृतात्मनः।
बटवो यस्य भिक्षन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५३ ॥

निष्पाप ब्राह्मण दरिद्रताके कारण हाथमें अन्न आते ही उसके भूखे बच्चे उससे मांगते हैं, ऐसे दरिद्र ब्राह्मण और उसके बच्चोंके दान करनेसे महान् फलदायक होता है ॥ ५३ ॥

हृतस्वा हृतदाराश्च ये विप्रा देशसंप्लवे ।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५४ ॥

जो ब्राह्मण देशमें विप्लवके समय धन, स्त्री आदि सर्वस्व हर जानेपर धनकी याचनाके लिये सम्मुख आवें, तो उन्हें दान करनेसे महत् फल प्राप्त हुआ करता है ॥ ५४ ॥

व्रतिनो नियमस्थाश्च ये विप्राः श्रुतसंमताः ।
तत्समाप्त्यर्थमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५५ ॥

जो ब्राह्मण व्रतनिष्ठ, नियमस्थ और श्रुतिसम्मत होकर चलते हैं और अपने व्रतादिसमाप्तिके निमित्त धनकी इच्छा करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

अव्युत्क्रान्ताश्च धर्मेषु पाषण्डसमयेषु च ।
कृशप्राणाः कृशधनास्तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५६ ॥

जो लोग पाषण्डमर्यादासे युक्त धर्मसे बहुत दूर निवास किया करते हैं, जो दुर्बल और धनहीन हैं, उन्हें दान करनेसे महाफल प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

कृतसर्वस्वहरणा निर्दोषाः प्रभविष्णुभिः ।
स्पृहयन्ति च भुक्तान्नं तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५७ ॥

प्रभावशाली डाकुओंने जिनका सर्वस्व हरण किया है, जो लोग निर्दोष हैं तथा जो किसी प्रकारसे पेट भरनेके लिये भोजनकी अभिलाष करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

तपस्विनस्तपोनिष्ठास्तेषां भैक्षचराश्च ये ।
अर्थिनः किंचिदिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५८ ॥

जो लोग तपस्वी और तपमें निष्ठावान् हैं, जो पुरुष उनके निमित्त ही भीख माँगते हैं तथा जो याचक होके किञ्चित् कुछ माँगते हैं, तो उन्हें दान देनेसे महाफल प्राप्त होता है ॥५८॥

महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ ।
निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु ॥ ५९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! दान विषयमें यह महाफलकी विधि तुमने सुनी, अब जिस कर्मके द्वारा लोग नरक या स्वर्गमें गमन करते हैं, उसे सुनो ॥ ५९ ॥

गुर्वर्थं वाभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिर ।
येऽनृतं कथयन्ति स्म ते वै निरयगामिनः ॥ ६० ॥

हे युधिष्ठिर ! गुरुके लिये अथवा अभयदानके निमित्त, इन दो प्रकारके प्रयोजनोंके अतिरिक्त जो लोग मिथ्या कहते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६० ॥

परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः ।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ६१ ॥

जो परायी स्त्री हरते हैं, अथवा परस्त्रीका पातिव्रत्य नष्ट करते हैं, या परनारी हरनेमें सहायता या प्रस्ताव करते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६१ ॥

ये परस्वापहर्तारः परस्वानां च नाशकाः ।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ६२ ॥

जो दूसरोंके धनका अपहार करनेवाले हैं और नष्ट करनेवाले हैं, और दूसरेके दोषोंकी सूचना करते हैं, वे निश्चय ही नरकमें पडते हैं ॥ ६२ ॥

प्रपाणां च सभानां च संक्रमाणां च भारत ।
अगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥ ६३ ॥

हे भारत ! जो मनुष्य पानीयशाला, सभा, सेतु-पूल और घरोंको नष्ट करते हैं; वे निश्चय ही नरकमें पडते हैं ॥ ६३ ॥

अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम् ।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ६४ ॥

जो मनुष्य अनाथ, तरुणी, बाला, वूढी, डरी हुई और तपस्विनी स्त्रीको ठगते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी हुआ करते हैं ॥ ६४ ॥

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत ।
मित्रच्छेदं तथाशायास्ते वै निरयगामिनः ॥ ६५ ॥

हे भारत ! जो लोग दूसरोंकी जीविका नष्ट करते, घर उजाडते, पति-पत्नीका वियोग करते, मित्रोंमें विरोध निर्माण करते और किसीकी आशा तोडते हैं, वे भी निश्चय ही नरकमें गमन किया करते हैं ॥ ६५ ॥

सूचकाः संधिभेत्तारः परवृत्त्युपजीवकाः ।
अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः ॥ ६६ ॥

जो चुगली करते हैं, आपसका मेल तोडते हैं, दूसरोंकी जीविका पर गुजारा करते और मित्रोंके निकट अकृतज्ञ हुआ करते हैं; वे निश्चय ही नरकमें जाते हैं ॥ ६६ ॥

पाषण्डा दूषकाश्चैव समयानां च दूषकाः ।
ये प्रत्यवसिताश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६७ ॥

जो लोग वेदविरोधी और पाखण्डी हैं, और जो साधुओंकी निन्दा करते तथा धर्मसङ्केतकी भी निन्दा किया करते हैं, जो सन्मार्गसे पतित हैं, वे सभी नरकमें गमन किया करते हैं ॥ ६७ ॥

कृताशं कृतनिर्देशं कृतभक्तं कृतश्रमम् ।
भेदैर्यैं व्यपकर्षन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ६८ ॥

जो लोग आशावान, कृतनिर्देश, वेतनयुक्त और परिश्रम किये हुए पुरुषोंको भेदित करके स्वामीके समीपसे दूर कर देते हैं, वे भी नरकगामी हुआ करते हैं ॥ ६८ ॥

पर्यश्नन्ति च ये दारानग्निभृत्यातिथींस्तथा ।
उत्सन्नपितृदेवेज्यास्ते वै निरयगामिनः ॥ ६९ ॥

जो पत्नी, अग्नि, सेवक और अतिथियोंको परित्याग करते हैं, तथा जिन लोगोंमें पितृपूजा और देवार्चन नष्ट हुई है, और जो अग्निमें आहुति दिये विना ही भोजन करते हैं, वे भी नरकमें जाते हैं ॥ ६९ ॥

वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः ।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७० ॥

जो वेदोंको बेचते हैं, वेदोंके दोष वर्णन करते हैं और जो विक्रयके लिये ही वेदोंके मन्त्र लिखते हैं, वे भी निश्चयही नरकगामी होते हैं ॥ ७० ॥

चातुराश्रम्यबाह्याश्च श्रुतिबाह्याश्च ये नराः ।
विकर्मभिश्च जीवन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७१ ॥

जो मनुष्य चारों आश्रमोंसे बाहर होके वेदविरुद्ध अकर्मके सहारे जीवन बिताते हैं, वे भी नरकमें गमन किया करते हैं ॥ ७१ ॥

केशविक्रयिका राजन्विषविक्रयिकाश्च ये ।
क्षीरविक्रयिकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७२ ॥

हे राजन् ! जो लोग केश, विष और दूध बेचते हैं, वे भी नरकमें गमन करते हैं ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव कन्यानां च युधिष्ठिर ।
येऽन्तरं यान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ७३ ॥

हे युधिष्ठिर ब्राह्मण, गौ और कन्यागणके कार्य विषयमें जो विघ्नकारी होते हैं, वे नरकमें गमन करते हैं ॥ ७३ ॥

शस्त्रविक्रयकाश्चैव कर्तारश्च युधिष्ठिर ।
शल्यानां धनुषां चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७४ ॥

हे धर्मराज ! जो लोग शस्त्र बेचते और बनाते हैं, तथा शल्य— बाण और धनुष आदि शस्त्रोंको बनाते तथा बेचते हैं, वे भी नरकगामी होते हैं ॥ ७४ ॥

शल्यैर्वा शङ्कुभिर्वापि श्वभ्रैर्वा भरतर्षभ ।
ये मार्गमनुरुन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो बाण, काँटे अथवा गढेके सहारे मार्ग रोकते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ७५ ॥

उपाध्यायांश्च भृत्यांश्च भक्तांश्च भरतर्षभ ।
ये त्यजन्त्यसमर्थांस्तांस्ते वै निरयगामिनः ॥ ७६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो उपाध्याय, सेवक, भक्त और निर्बलोंका परित्याग करते हैं, वे नरकगामी हुआ करते हैं ॥ ७६ ॥

अप्राप्तदमकाश्चैव नासानां वेधकास्तथा ।
बन्धकाश्च पशूनां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ७७ ॥

जो कावूमें न आनेवाले पशुओंका दमन करते, नाथते अथवा कूटघरेमें बंद करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ७७ ॥

अगोप्तारश्छलद्रव्या बलिषड्भागतत्पराः ।
समर्थाश्चाप्यदातारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ७८ ॥

जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करते, कपटबुद्धिसे द्रव्य हरण करते और छठे भागको करके रूपमें लूटते रहते हैं, और समर्थ होके भी दान नहीं करते, वे भी निश्चयसे नरकगामी हुआ करते हैं ॥ ७८ ॥

क्षान्तान्दान्तांस्तथा प्राज्ञान्दीर्घकालं सहोषितान् ।
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ ७९ ॥

जो क्षमाशील, दान्त, बुद्धिमान् और बहुत समयके सहवासी विद्वानोंको अपना काम होनेपर परित्याग करते हैं, वे भी नरकमें पड़ते हैं ॥ ७९ ॥

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः ।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥ ८० ॥

जो बालक, बूढ़े और सेवकोंको अन्न न देकर स्वयं ही पहले भोजन करते हैं, वे निश्चयही नरकगामी होते हैं ॥ ८० ॥

एते पूर्वर्षिभिर्दिष्टाः प्रोक्ता निरयगामिनः ।
भागिनः स्वर्गलोकस्य वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ८१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग नरकमें जाते हैं, उनके विषयमें पहले जो ऋषियोंने कहा था, उसका वर्णन किया गया; अब जो मनुष्य स्वर्गलोकमें गमन करते हैं, उनका विषय कहता हूं ॥ ८१ ॥

सर्वेष्वेव तु कार्येषु दैवपूर्वेषु भारत।
हन्ति पुत्रान्पशून्कृत्स्नान्ब्राह्मणातिक्रमः कृतः ॥ ८२ ॥

हे भारत! जिनमें पहले देवताओंकी पूजा की जाती है, उन दैव आदि समस्त कार्योंमें ब्राह्मणका अपमान करनेसे, वह अपमान करनेवालेके पुत्र, पशु प्रभृति विनष्ट कर देता है ॥८२॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८३ ॥

हे युधिष्ठिर! जो मनुष्य दान, तपस्या और सत्यके सहारे धर्मपूर्वक कार्य करते हैं, वे स्वर्गगामी हुआ करते हैं ॥ ८३ ॥

शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च श्रुतमादाय भारत।
ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८४ ॥

भारत! जो मनुष्य गुरुसेवा और तपस्यासे वेद विद्या उपार्जन करके प्रतिग्रहसे निवृत्त रहते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८४ ॥

भयात्पापात्तथाबाधाद्दारिद्र्याद्व्याधिधर्षणात्।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८५ ॥

जिनके द्वारा लोग भय, पाप, असीप दरिद्रता और व्याधि जनित दुःखसे मुक्त होते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८५ ॥

क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः।
मङ्गलाचारयुक्ताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८६ ॥

क्षमावान्, धीर, सब धर्म कार्योंमें उद्यत रहनेवाले और मङ्गलाचारयुक्त पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८६ ॥

निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८७ ॥

जो पुरुष मधु, मांस और परस्त्रीगमनसे निवृत्त रहते तथा मद्यपान करनेमें प्रवृत्त नहीं होते, वे मनुष्य स्वर्गमें गमन करते हैं ॥ ८७ ॥

आश्रमाणां च कर्तारः कुलानां चैव भारत।
देशानां नगराणां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८८ ॥

हे भारत! जो सब आश्रमोंको पालन करनेवाले, कुल, देश तथा नगरोंके निर्माता और रक्षाकर्ता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८८ ॥

×

वस्त्राभरणदातारो भक्ष्यपानान्नदास्तथा ।
कुटुम्बानां च दातारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८९ ॥

जो लोग वस्त्र और आभूषण दान करते, अन्न, जल वितरण करते और दूसरोंके कुटुम्बका प्रतिपालन करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८९ ॥

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९० ॥

जो मनुष्य सर्व प्रकारकी हिंसासे निवृत्त होकर सब कुछ सहते हैं और सबको आश्रय देते हैं, वे भी स्वर्गमें गमन करते हैं ॥ ९० ॥

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः ।
भ्रातॄणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९१ ॥

जो सब मनुष्य जितेन्द्रिय होकर माता-पिताकी सेवा करते हैं और भाइयोंके विषयमें स्नेहवान रहते हैं, वे भी स्वर्गमें गमन करते हैं ॥ ९१ ॥

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत ।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९२ ॥

हे भारत ! जो मनुष्य धनवान्, बलवान और यौवनसम्पन्न होकर भी जितेन्द्रिय होते हैं, वे धीर पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ ९२ ॥

अपराद्धेषु सस्नेहा मृदवो मित्रवत्सलाः ।
आराधनसुखाश्चापि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९३ ॥

जो अपराधी पुरुषके ऊपर भी स्नेहयुक्त, कोमल स्वभाव और मित्रवत्सल होते हैं, तथा आराधना सेवासे दूसरोंको सुखी करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९३ ॥

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः ।
त्रातारश्च सहस्राणां पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९४ ॥

जो मनुष्य सहस्रों पुरुषोंको भोजन देते, सहस्रोंको दान देते तथा सहस्रोंकी रक्षा करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९४ ॥

सुवर्णस्य च दातारो गवां च भरतर्षभ ।
यानानां वाहनानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग सुवर्ण, गौ, यान और वाहन प्रदान किया करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९५ ॥

वैवाहिकानां कन्यानां प्रेष्याणां च युधिष्ठिर ।
दातारो वाससां चैव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९६ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो लोग वैवाहिक कन्याएं, दास–दासी तथा वस्त्र आभरण आदि दान करते हैं, वे भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९६ ॥

विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रदाः ।
दप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः　　　　　　॥ ९७ ॥

जो लोग विहार स्थान, आश्रम, बगीचा, कूप, आरामगृह, धर्मशाला, पानीयशाला और क्षेत्र आदि निर्माण करते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९७ ॥

निवेशनानां क्षेत्राणां वसतीनां च भारत ।
दातारः प्रार्थितानां च ते नराः स्वर्गगामिनः　　　　　　॥ ९८ ॥

हे भारत ! जो मनुष्य निवेशगृहक्षेत्र और वासगृह दान तथा प्रार्थित विषय प्रदान करते हैं, वे भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९८ ॥

रसानामथ बीजानां धान्यानां च युधिष्ठिर ।
स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः　　　　　　॥ ९९ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष रस, बीज और धान्य आदि स्वयं उत्पन्न करके दान करते हैं, वे भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९९ ॥

यस्मिन्कस्मिन्कुले जाता बहुपुत्राः शतायुषः ।
सानुक्रोशा जितक्रोधाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः　　　　　　॥ १०० ॥

जो पुरुष किसी भी कुलमें उत्पन्न होकर बहुतसे पुत्रोंसे युक्त और शतायु होकर, दयावान् तथा क्रोधजयी होते हैं, वे स्वर्गमें गमन करते हैं ॥ १०० ॥

एतदुक्तममुत्रार्थं दैवं पित्र्यं च भारत ।
धर्माधर्मौ च दानस्य यथा पूर्वर्षिभिः कृतौ　　　　　　॥ १०१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥ १३९८ ॥

हे भारत ! परलोकमें कल्याण करनेवाले देव और पितृकार्यका वर्णन मैंने किया तथा पहले ऋषियोंके द्वारा जो दानके विषयमें धर्म–अधर्म वर्णित हुआ था, उसे ही मैंने कहा है॥१०१॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ १३९८ ॥

: २५ :

युधिष्ठिर उवाच—

इदं मे तत्त्वतो राजन्वक्तुमर्हसि भारत ।
अहिंसयित्वा केनेह ब्रह्महत्या विधीयते　　　　　　॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भारत ! हिंसा न करनेपर भी किस प्रकारसे ब्रह्महत्या विहित हुई है ? इसे आप मेरे निकट यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

व्यासमामन्त्र्य राजेन्द्र पुरा यत्पृष्टवानहम् ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे राजेन्द्र पहले समयमें व्यासदेवको आमन्त्रण करके मैंने जो पूछा था, इस समय वह विषय तुमसे कहता हूं, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

चतुर्थस्त्वं वसिष्ठस्य तत्त्वमाख्याहि मे मुने ।
अहिंसयित्वा केनेह ब्रह्महत्या विधीयते ॥ ३ ॥

मैंने व्यासदेवसे पूछा, हे मुनि ! आप वसिष्ठके वंशजोंमें चौथी पिढीके पुरुष हैं, इसलिये यथार्थ विषय वर्णन करिये, कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी किस प्रकारसे ब्रह्महत्या विहित होती है ? ॥ ३ ॥

इति पृष्टो महाराज पराशरशरीरजः ।
अब्रवीन्निपुणो धर्मे निःसंशयमनुत्तमम् ॥ ४ ॥

हे महाराज ! पराशरपुत्र धर्म विषयमें निपुण व्यासदेव मेरा प्रश्न सुनके निःसंशय रूपसे उत्तम वचन कहने लगे ॥ ४ ॥

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ५ ॥

जो मनुष्य जिसकी जीविका वृत्ति नष्ट हो गयी है ऐसे गुणशाली ब्राह्मणको भिक्षा देनेके लिये स्वयं बुला कर फिर " नहीं " कहके लौटा देता है, उसे ब्रह्मघाती जानो ॥ ५ ॥

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ६ ॥

हे भारत ! जो दुर्बुद्धिवाला पुरुष अङ्गसहित वेद पढनेवाले, तटस्थ रहनेवाले ब्राह्मणकी जीविका हरता है, उसे ब्रह्मघाती जानना चाहिये ॥ ६ ॥

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ७ ॥

हे पृथ्वीपति ! तृषार्त, जलकी इच्छा करनेवाले गोसमूहको जल पीनेमें जो विघ्न करता है, उसे ब्रह्मघ्न जानना चाहिये ॥ ७ ॥

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक्शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ८ ॥

जो मनुष्य उत्तम कर्मका विधान करनेवाली श्रुति अथवा मुनियोंके द्वारा पूर्ण रीतिसे बने हुए शास्त्रोंको विना समझे दूषित करता है, उसे भी ब्रह्मघाती जानना होगा ॥ ८ ॥

आत्मजां रूपसंपन्नां महतीं सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ९ ॥

जो पुरुष अपनी रूपवान बडी कन्या, योग्य वरको नहीं दान करता, उसे ब्रह्मघाती जानना चाहिये ॥ ९ ॥

अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ १० ॥

जो अधर्ममें रत रहनेवाला मूढ मनुष्य द्विजातियोंको निरर्थक मर्मान्तिक शोक प्रदान करता है, उस ब्रह्मघाती जानो ॥ १० ॥

चक्षुषा विप्रहीनस्य पङ्गुलस्य जडस्य वा ।
हरेत यो वै सर्वस्वं तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ११ ॥

जो पुरुष नेत्रहीन, गूंगे और पंगुओंका सर्वस्व धन हरण करता है, उसे भी ब्रह्मघाती जानो ॥ ११ ॥

आश्रमे वा वने वा यो ग्रामे वा यदि वा पुरे ।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥ १४१० ॥

आश्रम, वन, ग्राम वा पुरमें जो मोहवश मनुष्य आग लगा देता है, उसे ब्रह्मघाती समझो ॥ १२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ १४१० ॥

: २६ :

युधिष्ठिर उवाच—

तीर्थानां दर्शनं श्रेयः स्नानं च भरतर्षभ ।
श्रवणं च महाप्राज्ञ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाप्राज्ञ भरतश्रेष्ठ ! तीर्थदर्शन, तीर्थस्नान और तीर्थमाहात्म्य सुनना अत्यन्त कल्याणकारी है, इसलिये मैं उसे यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि भरतर्षभ ।
वक्तुमर्हसि मे तानि श्रोतास्मि नियतः प्रभो ॥ २ ॥

हे प्रभु भरतर्षभ ! पृथिवीपर जो सब पवित्र तीर्थ हों, वह आप मेरे समीप वर्णन करिये, मैं सदा नियमपूर्वक उसके सुननेका अभिलाषी हूं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

इममङ्गिरसा प्रोक्तं तीर्थवंशं महाद्युते ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे महातेजस्वी ! इस तीर्थ समुदायको अङ्गिरा मुनिने कहा है, उसे सुननेसे तुम्हारा कल्याण होगा तथा तुम्हें उत्तम धर्म प्राप्त होगा ॥ ३ ॥

तपोवनगतं विप्रमभिगम्य महामुनिम् ।
पप्रच्छाङ्गिरसं वीर गौतमः संशितव्रतः ॥ ४ ॥

हे वीर ! कठिन व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गौतमने तपोवनमें स्थित, धीर विप्र महामुनि अङ्गिराके निकट आके प्रश्न किया ॥ ४ ॥

अस्ति मे भगवन्कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंस महामुने ॥ ५ ॥

हे भगवान् महामुनि ! मुझे तीर्थविषयक धर्ममें कुछ सन्देह है, इसलिये उसे सुननेकी इच्छा करता हूं, आप इस विषयको मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ५ ॥

उपस्पृश्य फलं किं स्यात्तेषु तीर्थेषु वै मुने ।
प्रेत्यभावे महाप्राज्ञ तद्यथास्ति तथा वद ॥ ६ ॥

हे महाप्राज्ञ मुनिश्रेष्ठ ! उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मृत्युके बाद क्या फल मिलता है ? आप मुझसे जैसी वस्तु स्थिति है, वही कहिये ॥ ६ ॥

अङ्गिरा उवाच—

सप्ताहं चन्द्रभागां वै वितस्तामूर्मिमालिनीम् ।
विगाह्य वै निराहारो निर्ममो मुनिवद्भवेत् ॥ ७ ॥

अङ्गिरा बोले— निराहार रहके चन्द्रभागा और तरङ्गमालायुक्त वितस्ता नदीमें सात दिनतक स्नान करनेसे मनुष्य मुनियोंकी भांति विरक्त होता है ॥ ७ ॥

काश्मीरमण्डले नद्यो याः पतन्ति महानदम् ।
ता नदीः सिन्धुमासाद्य शीलवान्स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ८ ॥

काश्मीर राज्यमें जो नदियां महानद सिन्धुमें गिरती हैं उनमें जाके स्नान करनेसे शीलवान् मनुष्यको स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

पुष्करं च प्रभासं च नैमिषं सागरोदकम् ।
देविकामिन्द्रमार्गं च स्वर्णबिन्दुं विगाह्य च ।
विबोध्यते विमानस्थः सोऽप्सरोभिरभिष्टुतः ॥ ९ ॥

पुष्कर, प्रभास, नैमिष, सागरोदक, देविका, इन्द्रमार्ग और स्वर्णबिन्दुमें स्नान करनेसे पुरुष विमानपर बैठकर स्वर्गमें जाता है और अप्सराओंसे स्तुत और विबोधित होता है ॥९॥

हिरण्यबिन्दुं विक्षोभ्य प्रयतश्चाभिवाद्य तम् ।
कुशेशयं च देवत्वं पूयते तस्य किल्बिषम् ॥ १० ॥

जो इन्द्रियोंको संयममें रखकर हिरण्यबिन्दुमें स्नान करके वहांके प्रमुख देवता कुशेशयको प्रणाम करता है, उसके सब पाप नष्ट होजाते हैं ॥ १० ॥

इन्द्रतोयां समासाद्य गन्धमादनसंनिधौ ।
करतोयां कुरङ्गेषु त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति विगाह्य नियतः शुचिः ॥ ११ ॥

गन्धमादन पर्वतके निकट इन्द्रतोया और कुरङ्ग देशकी करतोया नदीमें तीन रात उपवास करके संयतचित्त और पवित्र होकर स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ११ ॥

गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
तथा कनखले स्नात्वा धूतपाप्मा दिवं व्रजेत् ॥ १२ ॥

गङ्गाद्वार, कुशावर्त, बिल्वक तीर्थ, नीलपर्वत और कनखलमें स्नान करनेसे मनुष्य पापरहित होकर सुरलोकमें गमन करता है ॥ १२ ॥

अपां ह्रद उपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यसंधस्त्वहिंसकः ॥ १३ ॥

ब्रह्मचारी, जितक्रोध, सत्यप्रतिज्ञ और अहिंसक मनुष्य जलह्रदमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ १३ ॥

यत्र भागीरथी गङ्गा भजते दिशमुत्तराम् ।
महेश्वरस्य निष्ठाने यो नरस्त्वभिषिच्यते ।
एकमासं निराहारः स्वयं पश्यति देवताः ॥ १४ ॥

जिस स्थानमें भागीरथी गङ्गा उत्तर दिशामें गिरकर विभाजित होती हैं, वह भगवान् महेश्वरका निष्ठान तीर्थ है । जो मनुष्य एक महीनेतक निराहार रहके उसमें स्नान करता है, वह स्वयं देवताओंका दर्शन करता है ॥ १४ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च इन्द्रमार्गे च तर्पयन् ।
सुधां वै लभते भोक्तुं यो नरो जायते पुनः ॥ १५ ॥

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और इन्द्रमार्गमें तर्पण करके जो मनुष्य फिर जन्म ग्रहण करता है, वह अमृत भोजन करनेमें समर्थ होता है ॥ १५ ॥

महाश्रम उपस्पृश्य योऽग्निहोत्रपरः शुचिः ।
एकमासं निराहारः सिद्धिं मासेन स व्रजेत् ॥ १६ ॥

जो अग्निहोत्रपरायण, पवित्र भाववाला और एक महीनेतक निराहारी होके महाश्रम तीर्थमें प्रतिदिन स्नान करता है, वह एक महीनेके बीच सिद्धि लाभ कर सकता है ॥ १६ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य भृगुतुङ्गे त्वलोलुपः ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १७ ॥

जो पुरुष लोभका त्याग करके त्रिरात्र उपवास करके भृगुतुङ्गके महाह्रद नामक तीर्थमें स्नान करता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाता है ॥ १७ ॥

कन्याकूप उपस्पृश्य बलाकायां कृतोदकः ।
देवेषु कीर्तिं लभते यशसा च विराजते ॥ १८ ॥

कन्याकूपमें स्नान करनेसे और बलाकामें तर्पण करनेसे देवताओंके बीच कीर्तिमान होकर मनुष्य यशोराशिसे विभूषित होता है ॥ १८ ॥

देशकाल उपस्पृश्य तथा सुन्दरिकाह्रदे ।
अश्विभ्यां रूपवर्चस्यं प्रेत्य वै लभते नरः ॥ १९ ॥

देविकामें स्नान करके सुन्दरिका ह्रद और अश्विनी तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य मृत्युके अनंतर दूसरे जन्ममें रूप और तेजोयुक्त हुआ करता है ॥ १९ ॥

महागङ्गामुपस्पृश्य कृत्तिकाङ्गारके तथा ।
पक्षमेकं निराहारः स्वर्गमाप्नोति निर्मलः ॥ २० ॥

महागङ्गा और कृत्तिकाङ्गारकमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य पवित्र होकर स्वर्गमें जाता है ॥ २० ॥

वैमानिक उपस्पृश्य किङ्किणीकाश्रमे तथा ।
निवासेऽप्सरसां दिव्ये कामचारी महीयते ॥ २१ ॥

वैमानिक तथा किङ्किणीकाश्रममें स्नान करनेसे मनुष्य अप्सराओंके दिव्य निवासमें कामचारी होकर वास करता है ॥ २१ ॥

कालिकाश्रममासाद्य विपाशायां कृतोदकः ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रान्मुच्यते भवात् ॥ २२ ॥

जो कालिकाश्रममें स्नान करके विपाशा नदीमें पितरोंका तर्पण करता है और ब्रह्मचारी और जितक्रोध होकर वहां निवास करता है, वह मनुष्य संसारसे विमुक्त होता है ॥ २२ ॥

आश्रमे कृत्तिकानां तु स्नात्वा यस्तर्पयेत्पितॄन् ।
तोषयित्वा महादेवं निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २३ ॥

जो पुरुष कृत्तिकाश्रममें स्नान करके पितृतर्पण करता है, वह महादेवको सन्तुष्ट करके निर्मल होकर स्वर्गमें गमन किया करता है ॥ २३ ॥

महापुर उपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
त्रसानां स्थावराणां च द्विपदानां भयं त्यजेत् ॥ २४ ॥

महापुरमें स्नान करके पवित्र होकर तीन रात उपवास करनेसे मनुष्य स्थावर, जंगम प्राणियों और मनुष्योंके भयसे छूटता है ॥ २४ ॥

देवदारुवने स्नात्वा धूतपाप्मा कृतोदकः ।
देवलोकमवाप्नोति सप्तरात्रोषितः शुचिः ॥ २५ ॥

देवदारुवनमें स्नान करके जो तर्पण करता है, वह मनुष्य पापरहित होता है; और जो वहां सात राततक निवास करता है, वह पवित्र होकर देवलोक पाता है ॥ २५ ॥

कौशन्ते च कुशस्तम्बे द्रोणशर्मपदे तथा ।
आपःप्रपतने स्नातः सेव्यते सोऽप्सरोगणैः ॥ २६ ॥

कौशन्त, कुशस्तम्ब और द्रोणशर्म पदके झरनोंमें जो मनुष्य स्नान करता है वह अप्सराओंसे सेवित होता है ॥ २६ ॥

चित्रकूटे जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले ।
विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्मीं निगच्छति ॥ २७ ॥

चित्रकूट, जनस्थान और मन्दाकिनीके जलमें स्नान करके जो उपवास करता है, वह मनुष्य राजलक्ष्मीके द्वारा सेवित होता है ॥ २७ ॥

श्यामायास्त्वाश्रमं गत्वा उष्य चैवाभिषिच्य च ।
त्रींस्त्रिरात्रान्स संधाय गन्धर्वनगरे वसेत् ॥ २८ ॥

श्यामाके आश्रममें आगमन करके वहां निवास करके जो पुरुष स्नान करता है और तीन तीन राततक एक चित्त होकर ध्यान करता है वह गन्धर्वादि लोकोंको भोगता है ॥ २८ ॥

रमण्यां च उपस्पृश्य तथा वै गन्धतारिके ।
एकमासं निराहारस्त्वन्तर्धानफलं लभेत् ॥ २९ ॥

रमण्य और गन्धतारिकमें स्नान करके जो एकमास तक निराहार रहता है, वह अन्तर्धानके फलको प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

कौशिकीद्वारमासाद्य वायुभक्षस्त्वलोलुपः ।
एकविंशतिरात्रेण स्वर्गमारोहते नरः ॥ ३० ॥

कौशिकी द्वार नदीमें स्नान करके अलोलुप होकर इक्कीस रातोंतक केवल वायु भक्षी होकर जो रहता है, वह स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३० ॥

×

मतङ्गवाप्यां यः स्नायादेकरात्रेण सिध्यति ।
विगाहति ह्यनालम्बमन्धकं वै सनातनम् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष मतङ्गवापीमें स्नान करता है, उसे एक रात्रिमें सिद्धि प्राप्त होती है। जो अनालम्ब, अन्धक और सनातन तीर्थमें स्नान करता है ॥ ३१ ॥

नैमिषे स्वर्गतीर्थे च उपस्पृश्य जितेन्द्रियः ।
फलं पुरुषमेधस्य लभेन्मासं कृतोदकः ॥ ३२ ॥

और नैमिषके स्वर्गतीर्थमें स्नान करके जितेन्द्रिय होकर एक मास तक पितरोंको जलाञ्जलि देता है, वह पुरुषमेधका फल पानेमें समर्थ होता है ॥ ३२ ॥

गंगाह्रद उपस्पृश्य तथा चैवोत्पलावने ।
अश्वमेधमवाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३३ ॥

जो गङ्गाह्रद और उत्पलावनमें स्नान करके एक मास तक वहां पितरोंका तर्पण करता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ३३ ॥

गंगायमुनयोस्तीर्थे तथा कालंजरे गिरौ ।
षष्टिह्रद उपस्पृश्य दानं नान्यद्विशिष्यते ॥ ३४ ॥

गंगा यमुनाके संगम तीर्थमें और कालञ्जरमें यज्ञों तथा षष्टिह्रदमें स्नान करनेसे अन्नदानसे भी अधिक फल प्राप्त होता है; इससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ३४ ॥

दश तीर्थसहस्राणि तिस्रः कोटयस्तथापराः ।
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ ॥ ३५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! माघके महीनेमें प्रयागमें तीन करोड दश हजार अन्य तीर्थ इकट्ठे होते हैं ॥ ३५ ॥

माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ।
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! माघमासमें प्रयागमें सदा नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करके स्नान करनेसे मनुष्य निष्पाप होकर स्वर्गलोक पाता है ॥ ३६ ॥

मरुद्गण उपस्पृश्य पितॄणामाश्रमे शुचिः ।
वैवस्वतस्य तीर्थे च तीर्थभूतो भवेन्नरः ॥ ३७ ॥

मरुद्गण और पितृगणके आश्रम तथा वैवस्वत तीर्थमें पवित्र भावसे युक्त होकर स्नान करनेसे मनुष्य स्वयं तीर्थ स्वरूप होता है ॥ ३७ ॥

तथा ब्रह्मशिरो गत्वा भागीरथ्यां कृतोदकः ।
एकमासं निराहारः सोमलोकमवाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

ब्रह्मसरोवर तथा भागीरथीमें स्नान करके जो पितरोंका तर्पण करता है और वहां एक महीनेतक निराहारी रहता है, उसे चन्द्रलोक प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

कपोतके नरः स्नात्वा अष्टावक्रे कृतोदकः ।
द्वादशाहं निराहारो नरमेधफलं लभेत् ॥ ३९ ॥
कपोतकमें स्नान और अष्टावक्र तीर्थमें तर्पण करके बारह दिनोंतक निराहार रहनेसे मनुष्यको नरमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ३९ ॥

मुञ्जपृष्ठं गयां चैव निर्ऋतिं देवपर्वतम् ।
तृतीयां क्रौञ्चपादीं च ब्रह्महत्या विशुध्यति ॥ ४० ॥
गयाके अन्तर्गत मुञ्जपृष्ठमें स्नान करनेसे पहली ब्रह्महत्या, देव पर्वत पर दूसरी ब्रह्महत्याके पापसे और क्रौञ्चपादीमें स्नान करनेसे मनुष्य तीसरी ब्रह्महत्यासे भी छूटकर सर्वथा शुद्ध हो जाता है ॥ ४० ॥

कलश्यां वाप्युपस्पृश्य वेद्यां च बहुशोजलाम् ।
अग्नेः पुरे नरः स्नात्वा विशालायां कृतोदकः ।
देवह्रद उपस्पृश्य ब्रह्मभूतो विराजते ॥ ४१ ॥
कलशमें स्नान करनेसे अनेक तीर्थोंमें स्नान करनेका फल मिलता है। अग्निपुरमें स्नान करके विशालामें तर्पण करके, देवह्रदमें स्नान करनेसे मनुष्य ब्रह्म होके विराजता है ॥ ४१ ॥

पुरापवर्तनं नन्दां महानन्दां च सेव्य वै ।
नन्दने सेव्यते दान्तस्त्वप्सरोभिरहिंसकः ॥ ४२ ॥
फिर अहिंसक वृत्ति और जितेन्द्रिय भावसे नंदा और महानंदा तीर्थका सेवन करनेसे मनुष्य नन्दनवनमें अप्सराओंसे सेवित होता है ॥ ४२ ॥

उर्वशीकृत्तिकायोगे गत्वा यः सुसमाहितः ।
लौहित्ये विधिवत्स्नात्वा पुण्डरीकफल लभेत् ॥ ४३ ॥
कार्त्तिकी पूर्णमासीको एकाग्रचित्त होकर उर्वशीतीर्थमें जाके लौहित्य तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य पुण्डरीक यज्ञका फल पा सकता है ॥ ४३ ॥

रामह्रद उपस्पृश्य विशालायां कृतोदकः
द्वादशाहं निराहारः कल्मषाद्विप्रमुच्यते ॥ ४४ ॥
रामह्रदमें स्नान और विशाला नदीमें तर्पण करके बारह दिन निराहार रहनेसे मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४४ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य शुद्धेन मनसा नरः ।
एकमासं निराहारो जमदग्निगतिं लभेत् ॥ ४५ ॥
महाह्रदमें स्नान करके मनुष्य शुद्धचित्तसे वहीं एक महीनेतक निराहारी रहे तो उसे जमदग्निके समान गति मिलती है ॥ ४५ ॥

विन्ध्ये संताप्य चात्मानं सत्यसंधस्त्वहिंसकः ।
षण्मासं पदमास्थाय मासेनैकेन शुध्यति ॥ ४६ ॥
सत्यसंध, अहिंसक मनुष्य विन्ध्य-तीर्थमें अपने शरीरको कष्ट देते हुए वहां छः मासतक निवास करे तो उसे एक महीनेमें पवित्रता प्राप्त हो जाती है ॥ ४६ ॥

नर्मदायामुपस्पृश्य तथा सूर्पारकोदके ।
एकपक्षं निराहारो राजपुत्रो विधीयते ॥ ४७ ॥
नर्मदा और सूर्पारक क्षेत्रके जलमें स्नान करके एक पक्षतक निराहारी रहके मनुष्य राजपुत्र होता है ॥ ४७ ॥

जम्बूमार्गे त्रिभिर्मासैः संयतः सुसमाहितः ।
अहोरात्रेण चैकेन सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४८ ॥
जम्बूमार्गमें तीन महीनेतक स्नान करनेसे तथा संयत और उत्तम रीतिसे एकाग्रचित्त होकर वहां एक ही दिन करनेसे मनुष्य सिद्धि लाभ करता है ॥ ४८ ॥

कोकामुखे विगाह्यापो गत्वा चण्डालिकाश्रमम् ।
शाकभक्षश्चीरवासाः कुमारीर्विन्दते दश ॥ ४९ ॥
जो मनुष्य कोकामुखमें स्नान करके चाण्डालिकाश्रममें जाकर सागका भोजन करके चीरवस्त्र धारण करके वहां निवास करता है, उसे दस बार कुमारी तीर्थके सेवनका फल मिलता है ॥४९॥

वैवस्वतस्य सदनं न स गच्छेत्कदाचन ।
यस्य कन्याह्रदे वासो देवलोकं स गच्छति ॥ ५० ॥
वह पुरुष कदापि यमपुरीमें नहीं जाता । जो कन्याह्रदमें वास करता है, वह देवलोकमें जाता है ॥ ५० ॥

प्रभासे त्वेकरात्रेण अमावास्यां समाहितः ।
सिध्यतेऽत्र महाबाहो यो नरो जायते पुनः ॥ ५१ ॥
हे महाबाहो ! जो समाहित चित्तसे अमावास्या तिथिकी एक रात्रिमें प्रभासतीर्थमें निवास करता है, वह पुनर्जन्ममें यहां सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

उज्जानक उपस्पृश्य आर्ष्टिषेणस्य चाश्रमे ।
पिङ्गायाश्चाश्रमे स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५२ ॥
उज्जानकमें स्नान करके आर्ष्टिषणके आश्रम और पिङ्गाके आश्रममें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होता है ॥ ५२ ॥

कुल्यायां समुपस्पृश्य जप्त्वा चैवाघमर्षणम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितः शुचिः ॥ ५३ ॥
कुल्या तीर्थमें स्नान कर अघमर्षण मन्त्रका जप करता है और तीन राततक वहाँ शुद्ध मनसे उपवास करके रहता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ५३ ॥

पिण्डारक उपस्पृश्य एकरात्रोषितो नरः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति प्रभातां शर्वरीं शुचिः ॥ ५४ ॥
जो मनुष्य पिण्डारकमें स्नान करके वहाँ एक रात्र निवास करता है, वह मनुष्य प्रातःकाल होते ही पवित्र होकर अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ ५४ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति प्रभातां शर्वरीं शुचिः ॥ ५५ ॥
धर्मारण्यमें शोभित ब्रह्मसरोवरमें जाके स्नान करनेसे मनुष्य प्रातःकाल होते ही पवित्र होके पुण्डरीकफल पाता है ॥ ५५ ॥

मैनाके पर्वते स्नात्वा तथा संध्यामुपास्य च ।
कामं जित्वा च वै मासं सर्वमेधफलं लभेत् ॥ ५६ ॥
मैनाक पर्वतपर एक महिनेतक स्नान करके सन्ध्याकी उपासना करनेसे मनुष्य कामको जीतकर सर्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ५६ ॥

विख्यातो हिमवान्पुण्यः शंकरश्वशुरो गिरिः ।
आकरः सर्वरत्नानां सिद्धचारणसेवितः ॥ ५७ ॥
भगवान् महादेव शंकरका श्वशुर हिमवान् पर्वत परम पवित्र और विख्यात है; वह सब रत्नोंकी खान तथा सिद्धचारणोंसे निषेवित है ॥ ५७ ॥

शरीरमुत्सृजेत्तत्र विधिपूर्वमनाशके ।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विजः ॥ ५८ ॥
उस स्थानमें विधिपूर्वक अनशन व्रत अवलम्बन करके जो वेदान्तपारदर्शी ब्राह्मण जीवनको अनित्य समझकर वहाँ रहता है और ॥ ५८ ॥

अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनींस्तथा ।
ततः सिद्धो दिवं गच्छेद्ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ५९ ॥
विधिपूर्वक देवताओं और मुनियोंकी पूजा तथा उन्हें नमस्कार करके शरीर छोडता है, वह सिद्ध होकर स्वर्गमें गमन करता है और अन्तमें सनातन ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ५९ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमावसेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तीर्थाभिगमनाद्भवेत् ॥ ६० ॥

जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको जीतके तीर्थमें वास करता है, स्नान करता है, तीर्थगमन निबन्धनसे उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता ॥ ६० ॥

यान्यगम्यानि तीर्थानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
मनसा तानि गम्यानि सर्वतीर्थसमासतः ॥ ६१ ॥

जो सब तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा करता है, परंतु वे जब अगम्य, दुर्गम और विषम हैं, तब सर्वतीर्थोंकी समीक्षाके हेतु मनके सहारे उन तीर्थोंमें गमन करे ॥ ६१ ॥

इदं मेध्यमिदं धन्यमिदं स्वर्ग्यमिदं सुखम् ।
इदं रहस्यं देवानामाप्लाव्यानां च पावनम् ॥ ६२ ॥

यही तीर्थ–सेवनका कार्य परम पवित्र, श्रेष्ठ और यही उत्तम स्वर्गजनक सुखद है; यह देवताओंका गुप्त रहस्य है, इसलिये प्रत्येक तीर्थ स्नानके योग्य तथा अत्यन्त पावन है ॥ ६२॥

इदं दद्याद्द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य वा ।
सुहृदां च जपेत्कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य वा ॥ ६३ ॥

तीर्थोंका यह महात्म्य द्विजातियोंको दान करे; आत्महितकर साधु, सुहृद और अनुयायी शिष्योंके कानमें इसको डालना चाहिये ॥ ६३ ॥

दत्तवान्गौतमस्येदमङ्गिरा वै महातपाः ।
गुरुभिः समनुज्ञातः काश्यपेन च धीमता ॥ ६४ ॥

महातपस्वी अङ्गिरा मुनिने इसे गौतमको दान किया था; अङ्गिरा धीमान् काश्यपके द्वारा पूर्णरीतिसे गुरुओंसे अनुज्ञात हुए थे ॥ ६४ ॥

महर्षीणामिदं जप्यं पावनानां तथोत्तमम् ।
जपंश्चाभ्युत्थितः शश्वन्निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

यह कथा महर्षियोंके पढने योग्य है, समस्त पवित्र वस्तुओंके बीच उत्तम है; मनुष्य उठकर सावधान चित्त होकर नित्य इसे जपनेसे पापरहित होके स्वर्गलोक पाता है ॥ ६५ ॥

इदं यश्चापि शृणुयाद्रहस्यं त्वङ्गिरोमतम् ।
उत्तमे च कुले जन्म लभेज्जातिं च संस्मरेत् ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ १४७६ ॥

जो अंगिरमुनि सम्मत इस रहस्यको सुनता है, वह उत्तम कुलमें जन्म लेता है और पूर्व-जन्मकी बातोंको स्मरण करता है ॥ ६६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ १४७६ ॥

: २७ :

वैशंपायन उवाच—

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया ब्रह्मणः समम् ।
पराक्रमे शक्रसममादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें ब्रह्मा, पराक्रममें इन्द्र और तेजमें सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी ॥ १ ॥

गाङ्गेयमर्जुनेनाजौ निहतं भूरिवर्चसम् ।
भ्रातृभिः सहितोऽन्यैश्च पर्युपास्ते युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

महापराक्रमी गंगापुत्र भीष्म जब युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके द्वारा घायल होकर शरशय्यापर शयन करते थे, जिस समय युधिष्ठिर भाइयों तथा अन्य पुरुषोंके सहित उनके पास बैठे रहे थे ॥२॥

शयानं वीरशयने कालाकाङ्क्षिणमच्युतम् ।
आजग्मुर्भरतश्रेष्ठं द्रष्टुकामा महर्षयः ॥ ३ ॥

उस समयमें उस कालकी राह जोनेवाले अच्युत भरतश्रेष्ठको देखनेके लिये बहुतसे महर्षि आये ॥ ३ ॥

अत्रिर्वसिष्ठोऽथ भृगुः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यः सुमतिः स्वायुरात्मवान् ॥ ४ ॥

महर्षि अत्रि, वसिष्ठ, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, गौतम, अगस्त्य, संयतजीवन सुमति ॥ ४ ॥

विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः प्रमतिर्दमः ।
उशना बृहस्पतिर्व्यासश्च्यवनः काश्यपो ध्रुवः ॥ ५ ॥

विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त्त, प्रमति, दम, उशना, बृहस्पति, व्यास, च्यवन, काश्यप, ध्रुव ॥ ५ ॥

दुर्वासा जमदग्निश्च मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजश्च रैभ्यश्च यवक्रीतस्त्रितस्तथा ॥ ६ ॥

दुर्वासा, जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, त्रित ॥ ६ ॥

स्थूलाक्षः शकलाक्षश्च कण्वो मेधातिथिः कृशः ।
नारदः पर्वतश्चैव सुधन्वाथैकतो द्वितः ॥ ७ ॥

स्थूलाक्ष, शकलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कृश, नारद, पर्वत, सुधन्वा, एकत, द्वित ॥ ७ ॥

नितम्भूर्भुवनो धौम्यः शतानन्दोऽकृतव्रणः।
जामदग्न्यस्तथा रामः काम्यश्चेत्येवमादयः।
समागता महात्मानो भीष्मं द्रष्टुं महर्षयः ॥ ८ ॥

नितम्भू, भुवन, धौम्य, शतानन्द, अकृतव्रण जामदग्न्य राम और काम्य आदि महात्मा महर्षि लोग भीष्मको देखनेके लिये वहांपर उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

तेषां महात्मनां पूजामागतानां युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितश्चक्रे यथावदनुपूर्वशः ॥ ९ ॥

भाइयोंके सहित युधिष्ठिरने उन आये हुए महानुभाव महर्षियोंकी क्रमशः विधिपूर्वक पूजा की ॥ ९ ॥

ते पूजिताः सुखासीनाः कथाश्चक्रुर्महर्षयः।
भीष्माश्रिताः सुमधुराः सर्वेन्द्रियमनोहराः ॥ १० ॥

महर्षि लोग पूजित होकर सुखसे बैठके भीष्मसे संबंधित उत्तम, मधुर, संपूर्ण इन्द्रियों और मनको आनन्दित करनेवाली कथाएं कहने लगे ॥ १० ॥

भीष्मस्तेषां कथाः श्रुत्वा ऋषीणां भावितात्मनाम्।
मेने दिविस्थमात्मानं तुष्ट्या परमया युतः ॥ ११ ॥

भीष्मने उन शुद्ध अंतःकरणवाले ऋषियोंका वचन सुनकर परम सन्तुष्ट होकर अपनेको स्वर्गमें ही पहुंचा हुआ समझा ॥ ११ ॥

ततस्ते भीष्ममामन्त्र्य पाण्डवांश्च महर्षयः।
अन्तर्धानं गताः सर्वे सर्वेषामेव पश्यताम् ॥ १२ ॥

अनन्तर वे महर्षिवृन्द भीष्म और पाण्डवोंकी अनुमति लेकर सबके देखते ही अन्तर्धान होगये ॥ १२ ॥

तानृषीन्सुमहाभागानन्तर्धानगतानपि।
पाण्डवास्तुष्टुवुः सर्वे प्रणेमुश्च मुहुर्मुहुः ॥ १३ ॥

उन महाभाग महर्षियोंके अन्तर्हित होनेपर भी पाण्डवगण बारंबार उनकी स्तुति तथा प्रणाम करते रहे ॥ १३ ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः।
उपतस्थुर्यथोद्यन्तमादित्यं मन्त्रकोविदाः ॥ १४ ॥

अनन्तर वे सब कुरुसत्तम पाण्डव प्रसन्न होकर गंगानन्दन भीष्मके निकट प्रणाम करते हुए इस प्रकार उपस्थित हुए, जैसे वेदमन्त्रकोविद ब्राह्मण उदयशील सूर्यके सम्मुख उपस्थित होते हैं ॥ १४ ॥

प्रभावात्तपसस्तेषामृषीणां वीक्ष्य पाण्डवाः ।
प्रकाशन्तो दिशः सर्वा विस्मयं परमं ययुः ॥ १५ ॥

पाण्डव लोग ऋषियोंकी तपस्याके प्रभावसे सब दिशाओंको प्रकाशमान देखके परम विस्मित हुए ॥ १५ ॥

महाभाग्यं परं तेषामृषीणामनुचिन्त्य ते ।
पाण्डवाः सह भीष्मेण कथाश्चक्रुस्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥

उन लोगोंने ऋषियोंके योग ऐश्वर्य अर्थात् आकाशगमन और अन्तर्द्धान आदि महामहिमाके विषयका चिन्तन करके भीष्मके संग उनके अवलम्बनकी कथाका प्रस्ताव किया ॥ १६ ॥

कथान्ते शिरसा पादौ स्पृष्ट्वा भीष्मस्य पाण्डवः ।
धर्म्यं धर्मसुतः प्रश्नं पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

कथा समाप्त होनेपर धर्मनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मके दोनों चरणोंको मस्तकसे स्पर्श करके धर्मयुक्त प्रश्न किया ॥ १७ ॥

के देशाः के जनपदा आश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यः पितामह ॥ १८ ॥

हे पितामह ! कौनसे देश, कौनसे जनपद, कौन आश्रम, कौनसे पर्वत और कौनसी नदियां पुण्यप्रभावमें सर्वश्रेष्ठ तथा जानने योग्य हैं ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शिलोञ्छवृत्तेः संवादं सिद्धस्य च युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन लोग शिलोञ्छवृत्ति और सिद्धके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १९ ॥

इमां कश्चित्परिक्रम्य पृथिवीं शैलभूषिताम् ।
असकृद्द्विपदां श्रेष्ठः श्रेष्ठस्य गृहमेधिनः ॥ २० ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कोई पुरुष इस शैलभूषित पृथिवीकी वारवार परिक्रमा करके एक उत्तम शिलवृत्ति गृहस्थके गृहमें उपस्थित हुआ ॥ २० ॥

शिलवृत्तेर्गृहं प्राप्तः स तेन विधिनार्चितः ।
कृतकृत्य उपातिष्ठत्सिद्धं तमतिथिं तदा ॥ २१ ॥

उस गृहस्थने उस की विधिपूर्वक पूजा की । नित्यकर्म पूर्ण करके वह उस सिद्ध अतिथिके निकट सेवाके लिये उपस्थित हुआ ॥ २१ ॥

×

तौ समेत्य महात्मानौ सुखासीनौ कथाः शुभाः ।
चक्रतुर्वेदसंबद्धास्तच्छेषकृतलक्षणाः ॥ २२ ॥

वे दोनों महात्मा मिलकर सुखसे एकत्र बैठके वेद उपनिषद् सम्बन्धीय कथा कहने लगे ॥ २२ ॥

शिलवृत्तिः कथान्ते तु सिद्धमामन्त्र्य यत्नतः ।
प्रश्नं पप्रच्छ मेधावी यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २३ ॥

कथा शेष होनेपर बुद्धिमान शिलवृत्तिने यत्नपूर्वक सिद्धको संबोधित करके वही विषय पूछा जो कि तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥ २३ ॥

शिलवृत्तिरुवाच—

के देशाः के जनपदाः केऽऽश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम् ॥ २४ ॥

शिलवृत्ति बोला— कौनसे देश, जनपद, आश्रम, पर्वत और नदियां पुण्यप्रभावमें उत्कृष्ट हैं, तथा किन्हें विशेष रूपसे जानना होता है? उसे ही आप वर्णन करिये ॥ २४ ॥

सिद्ध उवाच—

ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते च पर्वताः ।
येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा ॥ २५ ॥

सिद्ध बोला— वेही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत उत्तम हैं, जिनके बीचसे नदियोंमें श्रेष्ठ भागीरथी गंगा गमन करती है ॥ २५ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः ।
गतिं तां न लभेज्जन्तुर्गङ्गां संसेव्य यां लभेत् ॥ २६ ॥

गंगाका सेवन करनेसे जीव जिस उत्तम गतिको पानेमें समर्थ होता है उसे वह तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ और त्यागसे नहीं पा सकता ॥ २६ ॥

स्पृष्टानि येषां गाङ्गेयैस्तोयैर्गात्राणि देहिनाम् ।
न्यस्तानि न पुनस्तेषां त्यागः स्वर्गाद्विधीयते ॥ २७ ॥

जिन देहधारियोंके शरीर गंगाजलसे भीगते हैं अथवा मरनेपर गंगामें डाले जाते हैं, वे फिर स्वर्गसे नीचे नहीं गिरते ॥ २७ ॥

सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कृत्यानि देहिनाम् ।
गां त्यक्त्वा मानवा विप्र दिवि तिष्ठन्ति तेऽचलाः ॥ २८ ॥

हे विप्र ! जिन लोगोंके सब कर्म गंगाजलसे सम्पन्न होते हैं, वे मनुष्य पृथिवीको त्यागके स्वर्गमें दृढतासे निवास करते हैं ॥ २८ ॥

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः ।
पश्चाद्गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ॥ २९ ॥

जो मनुष्य पहली अवस्थामें पापकार्य करके पीछे गङ्गाका सेवन करते हैं, वे भी उत्तम गति पा सकते हैं ॥ २८ ॥

स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम् ।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ ३० ॥

गंगाके पवित्र जलमें स्नान करके जो लोग शुद्धचित्त हुए हैं, उन मनुष्योंका जितना पुण्य बढ़ता है, सैकड़ों यज्ञोंसे भी वैसा पुण्य लाभ नहीं होता ॥ ३० ॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गं प्राप्य महीयते ॥ ३१ ॥

मनुष्यकी हड्डी जितने समयतक गङ्गाजलमें स्थित रहती है, उतने सहस्र वर्षोंतक वह स्वर्ग-लोक प्राप्त करके वास किया करता है ॥ ३१ ॥

अपहृत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः ।
तथापहृत्य पाप्मानं भाति गङ्गाजलोक्षितः ॥ ३२ ॥

जैसे सूर्य उदय होनेके समय घोर अन्धकारका नाश करके प्रकाशित होता है, गङ्गाजलमें स्नान करनेवाला मनुष्य भी उस ही प्रकार पापोंको नष्ट करके शोभित होता है ॥ ३२ ॥

विसोमा इव शर्वर्यो विपुष्पास्तरवो यथा ।
तद्वद्देशा दिशश्चैव हीना गङ्गाजलैः शुभैः ॥ ३३ ॥

चन्द्रमासे रहित रात्रि और पुष्पहीन वृक्षोंकी भांति कल्याणकारी गङ्गाजलसे रहित दिशाएं और देश शोभाहीन हुआ करते हैं ॥ ३३ ॥

वर्णाश्रमा यथा सर्वे स्वधर्मज्ञानवर्जिताः
क्रतवश्च यथासोमास्तथा गङ्गां विना जगत् ॥ ३४ ॥

स्वधर्म और ज्ञानसे रहित सब वर्ण और आश्रम, तथा सोमरसरहित यज्ञकी भांति गङ्गाके बिना जगत् शोभा नहीं पाता ॥ ३४ ॥

यथा हीनं नभोऽर्केण भूः शैलैः खं च वायुना ।
तथा देशा दिशश्चैव गङ्गाहीना न संशयः ॥ ३५ ॥

सूर्यरहित आकाशमण्डल, पहाड़रहित पृथ्वी तथा वायुहीन आकाशकी भांति सब देश और सब दिशाएं निःसंदेह प्रभाहीन होती हैं ॥ ३५ ॥

त्रिषु लोकेषु ये केचित्प्राणिनः सर्व एव ते ।
तर्प्यमाणाः परां तृप्तिं यान्ति गङ्गाजलैः शुभैः ॥ ३६ ॥

तीनों लोकोंके बीच जो सब प्राणी हैं, वे पवित्र गङ्गाजलसे तर्पित होकर परम तृप्ति लाभ करते हैं ॥ ३६ ॥

यस्तु सूर्येण निष्टप्तं गाङ्गेयं पिबते जलम् ।
गवां निर्हारनिर्मुक्तायावकात्तद्विशिष्यते ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य सूर्यकी किरणोंसे तपा हुआ गङ्गाजल पीता है, उसे गायके गोबरसे निकले हुए यवकी लपसी भक्षण करने तथा यावकव्रताचरणसे भी अधिक फल प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इन्दुव्रतसहस्रं तु चरेद्यः कायशोधनम् ।
पिबेद्यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां न वा समौ ॥ ३८ ॥

जो शरीर शुद्ध करनेके लिये सहस्र चान्द्रायण व्रत करता है और जो केवल गङ्गाजल पीता है; नहीं कह सकते, कि वे दोनों समान होते हैं या नहीं ॥ ३८ ॥

तिष्ठेद्युगसहस्रं तु पादेनैकेन यः पुमान् ।
मासमेकं तु गङ्गायां समौ स्यातां न वा समौ ॥ ३९ ॥

जो पुरुष सहस्र युग पर्यन्त एक पैरसे खड़ा होकर तपस्या करता है और एक महीनेतक गंगाके तीरपर वास करता है, तो वे दोनों समान हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते ॥ ३९ ॥

लम्बेतावाक्शिरा यस्तु युगानामयुतं पुमान् ।
तिष्ठेद्यथेष्टं यश्चापि गङ्गायां स विशिष्यते ॥ ४० ॥

जो पुरुष दस हजार युगतक नीचे सिर होकर लटकता रहता है और जो पुरुष इच्छानुसार गंगाके तटपर वास करता है, उन दोनोंमें गंगापर निवास करनेवाला ही श्रेष्ठ होता है ॥ ४० ॥

अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम ।
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वं पापं प्रधूयते ॥ ४१ ॥

हे द्विजोत्तम ! जैसे अग्निमें पड़ी हुई रुई भस्म हो जाती है, वैसे ही जो पुरुष गंगामें स्नान करता है, उसके सब पाप नष्ट होते हैं ॥ ४१ ॥

भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम् ।
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः ॥ ४२ ॥

इस लोकमें दुःखयुक्त चित्त होकर आश्रयकी खोज करनेवाले प्राणियोंके लिये गंगाके समान और कोई भी दूसरा आधार नहीं है ॥ ४२ ॥

भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात् ।
गङ्गाया दर्शनात्तद्वत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४३ ॥

जैसे सर्प गरुडके दर्शन निबन्धनसे विषरहित होते हैं, वैसेही मनुष्य भी गंगाका दर्शन करते ही सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

अप्रतिष्ठाश्च ये केचिदधर्मशरणाश्च ये ।
तेषां प्रतिष्ठा गङ्गेह शरणं शर्म वर्म च ॥ ४४ ॥

जो लोग आधाररहित होके अधर्मको अवलम्बन किया करते हैं, इस लोकमें गंगा ही उन लोगोंके लिये सहारा है, शरण देनेवाली है; गंगाही सुख और संरक्षण धर्मस्वरूप है ॥ ४४ ॥

प्रकृष्टैरशुभैर्ग्रस्तानेकैः पुरुषाधमान् ।
पततो नरके गङ्गा संश्रितान्प्रेत्य तारयेत् ॥ ४५ ॥

अनेक प्रकारके बडे अशुभ पाप कर्मोंसे ग्रस्त, अधम पुरुष नरकमें पडते पडते भी, यदि गंगाका आश्रय करें, तो गंगा परलोकमें भी उनका उद्धार करती है ॥ ४५ ॥

ते संविभक्ता मुनिभिर्नूनं देवैः सवासवैः ।
येऽभिगच्छन्ति सततं गङ्गामभिगतां सुरैः ॥ ४६ ॥

जो लोग सदा देवताओंसे पूज्य गंगाकी यात्रा करते हैं, इन्द्रके सहित देवताओं और मुनियोंके द्वारा निश्चय ही वे पृथक् पृथक् कृपाके पात्र हुआ करते हैं ॥ ४६ ॥

विनयाचारहीनाश्च अशिवाश्च नराधमाः ।
ते भवन्ति शिवा विप्र ये वै गङ्गां समाश्रिताः ॥ ४७ ॥

हे विप्र ! विनय और सदाचार हीन और कल्याणरहित अधम पुरुष भी गंगाकी शरणमें जानेपर शिवस्वरूप होते हैं ॥ ४७ ॥

यथा सुराणाममृतं पितॄणां च यथा स्वधा ।
सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम् ॥ ४८ ॥

जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंके लिये सुधा है, मनुष्योंके लिये गंगाजल भी वैसे ही है ॥ ४८ ॥

उपासते यथा बाला मातरं क्षुधयार्दिताः ।
श्रेयस्कामास्तथा गङ्गामुपासन्तीह देहिनः ॥ ४९ ॥

जैसे भूखसे पीडित बालक माताके पास जाते हैं; इस लोकमें कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुष भी उस ही भांति गंगाकी आराधना किया करते हैं ॥ ४९ ॥

स्वायंभुवं यथा स्थानं सर्वेषां श्रेष्ठमुच्यते ।
स्नातानां सरितां श्रेष्ठा गङ्गा तद्वदिहोच्यते ॥ ५० ॥

जैसे ब्रह्मलोक सबसे श्रेष्ठ कहा गया है, वैसे ही इस लोकमें स्नान करनेवाले लोगोंके लिये नदियोंमें श्रेष्ठ गंगा ही सबसे उत्तम कहके वर्णित हुआ करती है ॥ ५० ॥

यथोपजीविनां धेनुर्देवादीनां धरा स्मृता ।
तथोपजीविनां गङ्गा सर्वप्राणभृतामिह ॥ ५१ ॥

जैसे उपजीवी लोगोंके लिये गौ और देवताओंके लिये पृथ्वी है, वैसे ही इस जगतमें सब उपजीवी प्राणियोंके लिये गंगा है ॥ ५१ ॥

देवाः सोमार्कसंस्थानि यथा सत्रादिभिर्मखैः ।
अमृतान्युपजीवन्ति तथा गङ्गाजलं नराः ॥ ५२ ॥

जैसे देववृन्द सत्रादि यज्ञोंसे चन्द्रमा और सूर्यमें स्थित अमृतका उपभोग किया करते हैं, वैसे ही मनुष्य गंगाजलको उपजीव्य करके जीवन बिताते हैं ॥ ५२ ॥

जाह्नवीपुलिनोत्थाभिः सिकताभिः समुक्षितः ।
मन्यते पुरुषोऽऽत्मानं दिविष्ठमिव शोभितम् ॥ ५३ ॥

गंगाके तटसे उडे हुए वालूकणसे पूरित अपने शरीरको मनुष्य स्वर्गस्थके समान शोभित समझता है ॥ ५३ ॥

जाह्नवीतीरसंभूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः ।
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशात्सुनिर्मलम् ॥ ५४ ॥

जो गंगाके तीरकी मृत्तिका अपने सिर पर चढता है, वह अज्ञान—अन्धकारनाशके निमित्त सूर्यकी भांति अत्यंत निर्मल रूप लाभ करता है ॥ ५४ ॥

गङ्गोर्मिभिरथो दिग्धः पुरुषं पवनो यदा ।
स्पृशते सोऽपि पाप्मानं सद्य एवापमार्जति ॥ ५५ ॥

गंगाकी तरंगोंसे युक्त होकर बहनेवाली वायु मनुष्यको स्पर्श करते ही उसके सब पाप वह हरण किया करती है ॥ ५५ ॥

व्यसनैरभितप्तस्य नरस्य विनशिष्यतः ।
गङ्गादर्शनजा प्रीतिर्व्यसनान्यपकर्षति ॥ ५६ ॥

दुर्व्यसन जनित विपदमें पडके जो मनुष्य विनष्ट होनेवाला है, यदि गंगाका वह दर्शन करे तो उसकी गंगादर्शन जनित प्रीति उसकी सारी पीडा नष्ट करती है ॥ ५६ ॥

हंसारावैः कोकरवै रवैरन्यैश्च पक्षिणाम् ।
पस्पर्ध गङ्गा गन्धर्वान्पुलिनैश्च शिलोच्चयान् ॥ ५७ ॥
हंस, चक्रवाक और अन्य पक्षियोंके कलरवोंके सहारे गंगाने गन्धर्वों और अपने ऊंचे तटोंके द्वारा पर्वत स्पर्धा की है ॥ ५७ ॥

हंसादिभिः सुबहुभिर्विविधैः पक्षिभिर्वृताम् ।
गङ्गां गोकुलसंबाधां दृष्ट्वा स्वर्गोऽपि विस्मृतः ॥ ५८ ॥
हंस प्रभृति अनेक भांतिके पक्षीव्यूहसे परिपूरित और गोकुल सम्बाधशालिनी गंगाका दर्शन करनेसे मनुष्य स्वर्ग लोकको भी भूल जाता है ॥ ५८ ॥

न सा प्रीतिर्दिविष्ठस्य सर्वकामानुपाश्नतः ।
अभवद्या परा प्रीतिर्गङ्गायाः पुलिने नृणाम् ॥ ५९ ॥
गङ्गाके तीरपर निवास करनेसे मनुष्योंको जैसी प्रीति उत्पन्न होती है, सर्वकामफल भोगनेवाले स्वर्गमें रहनेवाले पुरुषोंकी भी वैसी प्रीति नहीं होती ॥ ५९ ॥

वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह ।
वीक्ष्य गङ्गां भवेत्पूतस्तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ६० ॥
वाणी, मन और कर्मोंसे होनेवाले पापोंसे ग्रस्त मनुष्य इस लोकमें गंगाका दर्शन करनेसे ही पवित्र होता है, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ६० ॥

सप्तावरान्सप्त परान्पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे ।
पुमांस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वावगाह्य च ॥ ६१ ॥
जो मनुष्य गंगाका दर्शन करता, गङ्गाजलका स्पर्श करता तथा उसमें स्नान करता है, वह पहलेके सात पिढी पूर्वजोंका और आगे होनेवाली सात पिढी संतानोंका तथा इनके अतिरिक्त जो सब पितर और संतान हैं, उनका भी उद्धार करता है ॥ ६१ ॥

श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता ।
गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥ ६२ ॥
गङ्गामहात्म्य सुनना, गङ्गातीरमें जानेकी अभिलाष, गंगाजल देखने, स्पर्श करने, पीने तथा उसमें स्नान करनेसे मनुष्यके पितृकुल और मातृकुल, दोनोंकाही गंगा विशेषरूपसे उद्धार करती है ॥ ६२ ॥

दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गङ्गेति कीर्तनात् ।
पुनात्यपुण्यान्पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६३ ॥
देखने, स्पर्श करने, पीने और गङ्गाका नाम लेनेसे भी गंगा सैंकडों और हजारों पापियोंका उद्धार करती है ॥ ६३ ॥

य इच्छेत्सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च ।
स पितॄंस्तर्पयेद्गङ्गामभिगम्य सुरांस्तथा ॥ ६४ ॥

जो अपने जन्म, जीवन और शास्त्रपाठको सफल करनेकी इच्छा करता है, वह गंगामें जाकर उसके जलसे पितरों और देवताओंका तर्पण करे ॥ ६४ ॥

न सुतैर्न च वित्तेन कर्मणा न च तत्फलम् ।
प्राप्नुयात्पुरुषोऽत्यन्तं गङ्गां प्राप्य यदाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

गंगामें स्नान करनेसे मनुष्य जो शाश्वत फल पाता है; उसे पुत्र, वित्त और कर्मसे वह फल नहीं मिलता ॥ ६५ ॥

जात्यन्धैरिह तुल्यास्ते मृतैः पङ्गुभिरेव च ।
समर्था ये न पश्यन्ति गङ्गां पुण्यजलां शिवाम् ॥ ६६ ॥

जो समर्थ होके भी पुण्यजलवाली कल्याणदायिनी गंगाका दर्शन नहीं करते, वे जन्मान्ध मृतक और पंगुके समान हैं ॥ ६६ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञैर्महर्षिभिरुपस्थिताम् ।
देवैः सेन्द्रैश्च को गङ्गां नोपसेवेत मानवः ॥ ६७ ॥

भूत– वर्तमान्– भविष्यको– जाननेवाले महर्षियों और इन्द्र आदि देवताओंसे पूजित गंगाकी कौन मनुष्य सेवा नहीं करेगा ? ॥ ६७ ॥

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः ।
विद्यावद्भिः श्रितां गङ्गां पुमान्को नाम नाश्रयेत् ॥ ६८ ॥

वानप्रस्थ, गृहस्थ, यति, ब्रह्मचारी और विद्यावान् पुरुषोंसे सेवित गंगाका कौन मनुष्य आश्रय नहीं करेगा ? ॥ ६८ ॥

उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणैः प्रयतः शिष्टसंमतः ।
चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत् ॥ ६९ ॥

जो मनुष्य एकाग्र और सज्जनोंसे सम्मानित होकर प्राण निकलनेके समय मन ही मन गंगाका ध्यान करता है, उसे परम गति प्राप्त होती है ॥ ६९ ॥

न भयेभ्यो भयं तस्य न पापेभ्यो न राजतः ।
आ देहपतनाद्गङ्गामुपास्ते यः पुमानिह ॥ ७० ॥

इस लोकमें जो मनुष्य शरीर छूटनेतक गंगाकी उपासना करता है, उसे भयदायक वस्तु, पाप तथा राजासे भी भय नहीं होता ॥ ७० ॥

गगनाद्यां महापुण्यां पतन्तीं वै महेश्वरः ।
दधार शिरसा देवीं तामेव दिवि सेवते ॥ ७१ ॥
आकाशसे गिरती हुई जिस महापवित्र गंगादेवीको महेश्वरने सिर पर धारण किया था, स्वर्गमें सब कोई उस देवीकी ही सेवा किया करते हैं ॥ ७१ ॥

अलंकृतास्त्रयो लोकाः पथिभिर्विमलैस्त्रिभिः ।
यस्तु तस्या जलं सेवेत्कृतकृत्यः पुमान्भवेत् ॥ ७२ ॥
जिसके तीनों पवित्र मार्गोंसे आकाश, पाताल और भूतल– ये तीन लोक अलंकृत हो रहे हैं, जो पुरुष उस गंगाजलको सेवन करता है, वह कृतकृत्य होता है ॥ ७२ ॥

दिवि ज्योतिर्यथादित्यः पितॄणां चैव चन्द्रमाः ।
देवेशश्च यथा नृणां गङ्गेह सरितां तथा ॥ ७३ ॥
जैसे देवताओंमें सूर्यका तेज, पितरोंमें चन्द्रमा और मनुष्योंमें राजा श्रेष्ठ है, यहां नदियोंके बीच गंगा भी वैसी ही उत्तम है ॥ ७३ ॥

मात्रा पित्रा सुतैर्दारैर्वियुक्तस्य धनेन वा ।
न भवेद्धि तथा दुःखं यथा गङ्गावियोगजम् ॥ ७४ ॥
गंगाके वियोगसे जैसा दुःख होता है, माता, पिता, पुत्र, पत्नी और धनके विरहमें वैसा दुःख नहीं होता ॥ ७४ ॥

नारण्यैर्नेष्टविषयैर्न सुतैर्न धनागमैः ।
तथा प्रसादो भवति गङ्गां वीक्ष्य यथा नृणाम् ॥ ७५ ॥
गंगाके दर्शनसे मनुष्योंको जैसी प्रसन्नता होती है, अरण्य, अभिलषित विषय, पुत्र और धन प्राप्तिसे वैसी प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती ॥ ७५ ॥

पूर्णमिन्दुं यथा दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ।
गङ्गां त्रिपथगां दृष्ट्वा तथा दृष्टिः प्रसीदति ॥ ७६ ॥
जैसे पूर्ण चन्द्रमाके दर्शनसे मनुष्योंके नेत्र प्रसन्न होते हैं, वैसे ही त्रिपथगा गंगाका दर्शन करनेसे मनुष्योंके नेत्र आनन्दित हुआ करते हैं ॥ ७६ ॥

तद्भावस्तद्गतमनास्तन्निष्ठस्तत्परायणः ।
गङ्गां योऽनुगतो भक्त्या स तस्याः प्रियतां व्रजेत् ॥ ७७ ॥
जो गंगाहीमें श्रद्धा रखता, उसहीमें चित्त लगाता, उसीके पास रहता तथा उसीका आश्रय लेकर भक्तिपूर्वक गंगाका अनुगत होता है, वह उसे प्रिय हुआ करता है ॥ ७७ ॥

×

भूःस्थैः खस्थैर्दिविष्ठैश्च भूतैरुच्चावचैरपि ।
गङ्गा विगाह्या सततमेतत्कार्यतमं सताम् ॥ ७८ ॥

भूमिचर, आकाशचर और स्वर्गवासी अनेक प्रकारके छोटे-बडे प्राणियोंको गंगामें सदा स्नान करना चाहिये; यह साधुओंका अवश्य कर्त्तव्य कार्य है ॥ ७८ ॥

त्रिषु लोकेषु पुण्यत्वाद्गङ्गायाः प्रथितं यशः ।
यत्पुत्रान्सगरस्यैषा भस्माख्याननयद्दिवम् ॥ ७९ ॥

तीनों लोकोंमें पुण्यशीला होनेके कारण गंगाका यश विख्यात है, क्योंकि उन्होंने सगरके भस्मीभूत पुत्रोंको इस लोकसे स्वर्गमें भेजा था ॥ ७९ ॥

वाय्वीरिताभिः सुमहास्वनाभिर्द्रुताभिरत्यर्थसमुच्छ्रिताभिः ।
गङ्गोर्मिभिर्भानुमतीभिरिद्धः सहस्ररश्मिप्रतिमो विभाति ॥ ८० ॥

वायुके बहनेसे उत्तम महान् स्वरसे निनादित अत्यन्त वेगसे उठती हुई गंगाकी सुंदर तरंगोंसे नहाकर प्रकाशमान मनुष्य सूर्यके समान तेजस्वी होकर शोभित होता है ॥ ८० ॥

पयस्विनीं घृतिनीमत्युदारां समृद्धिनीं वेगिनीं दुर्विगाह्याम् ।
गङ्गां गत्वा यैः शरीरं विसृष्टं गता धीरास्ते विबुधैः समत्वम् ॥ ८१ ॥

पयस्विनी, घृतशालिनी, अत्यन्त उदार, समृद्धशालिनी, वेगवती और अगाध गंगामें जाकर जो लोग शरीर परित्याग करते हैं, वे धीर पुरुष देवताओंकी समता लाभ करते हैं ॥८१॥

अन्धाञ्जडान्द्रव्यहीनांश्च गङ्गा यशस्विनी बृहती विश्वरूपा ।
देवैः सेन्द्रैर्मुनिभिर्मानवैश्च निषेविता सर्वकामैर्युनक्ति ॥ ८२ ॥

इन्द्रके सहित देवताओं, मुनियों और मनुष्योंसे सेवित यशस्विनी, विशाला, विश्वरूपा गंगा अपनी शरणमें आये हुए अन्धे, जड और धनहीन पुरुषोंकी सब कामनाएं पूरी करती है ॥ ८२ ॥

ऊर्जावतीं मधुमतीं महापुण्यां त्रिवर्त्मगाम् ।
त्रिलोकगोप्त्रीं ये गङ्गां संश्रितास्ते दिवं गताः ॥ ८३ ॥

जो लोग अन्न पश्वादिशालिनी, तेजस्विनी, मधुमती अर्थात् कर्म फलवती, महापुण्यमयी, त्रिपथ-गामिनी, त्रिलोकपावनी गंगाका आसरा करते हैं, वे स्वर्गमें गमन किया करते हैं ॥८३॥

यो वत्स्यति द्रक्ष्यति वापि मर्त्यस्तस्मै प्रयच्छन्ति सुखानि देवाः ।
तद्भाविताः स्पर्शने दर्शने यस्तस्मै देवा गतिमिष्टां दिशन्ति ॥ ८४ ॥

जो मनुष्य श्रीगंगाके तटपर निवास करता और गङ्गाका दर्शन करता है, उसे देवता सुख देते हैं; गंगाके दर्शन और उसके जलको स्पर्श करनेसे पवित्र हुए लोगोंको, गंगासे ही महत्त्वको प्राप्त हुए देवतावृन्द अभिलषित गति प्रदान किया करते हैं ॥ ८४ ॥

दक्षां पृथ्वीं बृहतीं विप्रकृष्टां शिवामृतां सुरसां सुप्रसन्नाम् ।
विभावरीं सर्वभूतप्रतिष्ठां गङ्गां गता ये त्रिदिवं गतास्ते ॥ ८५ ॥

तारनेमें समर्थ, विशाला, वाक्यरूपसे बृहती, सर्वश्रेष्ठा, कल्याणदायिनी, पूज्या, मधुरजलवाली, अत्यन्त प्रसन्न, प्रकाशात्मिका और सब प्राणियोंकी आश्रयभूता गंगाकी शरणमें जो जाते हैं, वे स्वर्ग लोक पाते हैं ॥ ८५ ॥

ख्यातिर्यस्याः खं दिवं गां च नित्यं पुरा दिशो विदिशश्चावतस्थे ।
तस्या जलं सेव्य सरिद्वराया मर्त्याः सर्वे कृतकृत्या भवन्ति ॥ ८६ ॥

जिसकी ख्याति अर्थात् पवित्र कीर्त्ति आकाशमण्डल, द्युलोक, पृथ्वी और दिशा–विदिशाओंमें सर्वत्र फैली हुई है, सरिताओंमें श्रेष्ठ उस गंगाके जलका सेवन करके मनुष्य कृतकृत्य हुआ करते हैं ॥ ८६ ॥

इयं गङ्गेति नियतं प्रतिष्ठा गुहस्य रुक्मस्य च गर्भयोषा ।
प्रातस्त्रिमार्गा घृतवहा विपाप्मा गङ्गावतीर्णा वियतो विश्वतोया ॥ ८७ ॥

गंगाका दर्शन करके जो पुरुष दूसरेको " यह गंगा है " इस वचनसे गंगाको दिखा देता है, उसके लिये गंगा ही मुक्तिका हेतु हुआ करती है । वह कार्त्तिकेय और सुवर्णकी गर्भ-धारिणी है, भोरके समय उसमें स्नान करनेसे त्रिवर्ग लाभ होता है; वह घृतस्वरूप पवित्र जलसे युक्त होकर बहती है, वह पाप दूर करनेवाली है; वह जगत्‌के प्राणियोंके लिये प्रियजलवाली गंगा स्वर्गसे पृथ्वीपर उतरी है ॥ ८७ ॥

सुतावनीध्रस्य हरस्य भार्या दिवो भुवश्चापि कक्ष्यानुरूपा ।
भव्या पृथिव्या भाविनी भाति राजन्गङ्गा लोकानां पुण्यदा वै त्रयाणाम् ॥८८॥

हे महाराज ! गंगा हिमालय पर्वतकी पुत्री, भगवान् महादेवकी पत्नी और स्वर्ग और पृथ्वीमण्डलकी रचना रूपी है; पृथिवीमें कल्याणदायिनी, ऐश्वर्यशालिनी वह भागीरथी तीनों लोकोंकी पवित्रताका विधान करती हुई शोभित होती है ॥ ८८ ॥

मधुप्रवाहा घृतरागोद्धृताभिर्महोर्मिभिः शोभिता ब्राह्मणैश्च ।
दिवश्च्युता शिरसात्ता भवेन गङ्गावनीध्रास्त्रिदिवस्य माला ॥ ८९ ॥

धर्मद्रवमयी रूपसे मधु झरनेवाली, सुखमय प्रवाहयुक्त घृतकी भाँति जलमयी, महातरङ्गमाला और जलमें स्नान–सन्ध्या करनेवाले ब्राह्मणोंसे शोभित, गंगा स्वर्गसे भगवान् महादेवके सिरपर भ्रमित होके हिमालय पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर त्रिदिवनिवासी देवताओंकी माला हुई ॥ ८९ ॥

योनिर्वरिष्ठा विरजा वितन्वी शुष्मा इरा वारिवहा यशोदा।

विश्वावती चाकृतिरिष्टिरिद्धा गङ्गोक्षितानां भुवनस्य पन्थाः ॥ ९० ॥

परमकारणस्वरूपिणी, सबसे श्रेष्ठ, निर्मल, सूक्ष्म रूपवाली, बलशालिनी, इरा–सरस्वती, पवित्र जल बहानेवाली, यश देनेवाली, विश्वपालन–कर्त्री, सत्स्वरूपिणी, अभीष्ट देनेवाली, और तेजस्विनी गंगा, उसमें स्नान करनेवाले मनुष्योंके लिये स्वर्गमें गमन करनेका पथ-स्वरूप है ॥ ९० ॥

क्षान्त्या मह्या गोपने धारणे च दीप्त्या कृशानोस्तपनस्य चैव।

तुल्या गङ्गा संमता ब्राह्मणानां गुहस्य ब्रह्मण्यतया च नित्यम् ॥ ९१ ॥

क्षमा, रक्षा और धारणा करनेमें पृथ्वीके समान, तेजमें अग्नि और सूर्यसदृश गंगा ब्राह्मण जातिपर कृपा करनेसे सुब्रह्मण्य कार्तिकेय तथा ब्राह्मणोंमें अत्यन्त प्रिय और सम्मत हुई है ॥ ९१ ॥

ऋषिष्टुतां विष्णुपदीं पुराणीं सुपुण्यतोयां मनसापि लोके।

सर्वात्मना जाह्नवीं ये प्रपन्नास्ते ब्रह्मणः सदनं संप्रयाताः ॥ ९२ ॥

ऋषियोंसे स्तुतिसे युक्त, भगवान् विष्णुके चरणसे उत्पन्न, प्राचीन, परम पवित्र जलमयी जन्हुपुत्री गंगाका इस लोकमें प्रत्यक्ष दर्शन तो दूर रहे, शुद्धचित्तसे यदि मनुष्य मनमें भी गंगाका आसरा करें, तो वे ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं ॥ ९२ ॥

लोकानिमान्नयति या जननीव पुत्रान्सर्वात्मना सर्वगुणोपपन्ना।

स्वस्थानमिष्टमिह ब्राह्ममभीप्समानैर्गङ्गा सदैवात्मवशैरुपास्या ॥ ९३ ॥

जैसे माता अपने सन्तानोंको प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखती है, वैसे ही सर्वात्मभावा, सब गुणोंसे युक्त गंगा इन लोकोंको सब प्रकारसे कृपादृष्टिसे देखकर उनकी रक्षा करती है; इसीसे अपने इष्ट ब्रह्मपदकी अभिलाष करनेवाले चित्तजयी मनुष्योंको सदा उनकी उपासना करनी चाहिये ॥ ९३ ॥

उस्रां जुष्टां मिषतीं विश्वतोयामिरां वज्रीं रेवतीं भूधराणाम्।

शिष्टाश्रयाममृतां ब्रह्मकान्तां गङ्गां श्रयेदात्मवान्सिद्धिकामः ॥ ९४ ॥

सिद्धिकाम आत्मवान् मनुष्योंको अमृतदुघा, आनन्द देनेवाली, सर्वज्ञा, जलवती, पूज्या, वज्री, रेवती, शैलजननी, श्रेष्ठ पुरुषोंकी आश्रय, अमृतस्वरूप, अपरिमित ब्रह्माके मनको हरनेवाली गंगाका आसरा लेना चाहिये ॥ ९४ ॥

प्रसाद्य देवान्सविभून्समस्तान्भगीरथस्तपसोग्रेण गङ्गाम्।

गामानयत्तामभिगम्य शश्वन्पुमानन्भयं नेह नामुत्र विद्यात् ॥ ९५ ॥

राजा भगीरथ उग्र तपस्यासे भगवान् शंकर सहित समस्त देवताओंको प्रसन्न करके गंगाको इस पृथ्वीपर ले लाये हैं; उनकी शरणमें जानेसे मनुष्योंको इहलोक और परलोकमें कुछ भय नहीं है ॥ ९५ ॥

उदाहृतः सर्वथा ते गुणानां मयैकदेशः प्रसमीक्ष्य बुद्ध्या।
शक्तिर्न मे काचिदिहास्ति वक्तुं गुणान्सर्वान्परिमातुं तथैव ॥ ९६ ॥
मैंने बुद्धिसे सब प्रकार आलोचना करके यहां गंगाके गुणोंका एक ही भाग वर्णन किया है; गंगाके सब गुणोंका वर्णन और परिमाण करनेमें मुझे कुछ भी सामर्थ्य नहीं है ॥९६॥

मेरोः समुद्रस्य च सर्वरत्नैः संख्योपलानामुदकस्य वापि।
वक्तुं शक्यं नेह गङ्गाजलानां गुणाख्यानं परिमातुं तथैव ॥ ९७ ॥
कदाचित् सुमेरुके पत्थरों और समुद्रके जलकी यत्नपूर्वक सब प्रकारके रत्नोंसे गणना की जा सकती है, परन्तु यहां गंगाजलके गुणोंको वर्णन और परिमाण करनेकी शक्ति नहीं होती ॥ ९७ ॥

तस्मादिमान्परया श्रद्धयोक्तान्गुणान्सर्वाञ्जाह्नवीजांस्तथैव।
भजेद्वाचा मनसा कर्मणा च भक्त्या युक्तः परया श्रद्धधानः ॥ ९८ ॥
इसलिये मैंने परम श्रद्धाके सहित यह जो जान्हवीके गुणोंका वर्णन किया है, उसे सदा सुनके वाणी, मन, क्रिया और भक्तिके द्वारा अभियुक्त तथा परम श्रद्धावान् होकर उनकी आराधना करनी चाहिये ॥ ९८ ॥

लोकानिमांस्त्रीन्यशसा वितत्य सिद्धिं प्राप्य महतीं तां दुरापाम्।
गङ्गाकृतानचिरेणैव लोकान्यथेष्टमिष्टान्विचरिष्यसि त्वम् ॥ ९९ ॥
इन तीनों लोकोंमें अपने यशको फैलाकर दुष्प्राप्य महती सिद्धि पाके तुम थोडे ही समयके बीच गंगाकी सेवा करनेसे प्राप्त हुए अभीष्ट लोकोंमें इच्छानुसार विचरोगे ॥ ९९ ॥

तव मम च गुणैर्महानुभावा जुषतु मतिं सततं स्वधर्मयुक्तैः।
अभिगतजनवत्सला हि गङ्गा भजति युनक्ति सुखैश्च भक्तिमन्तम् ॥१००॥
महानुभावा गंगा स्वधर्मयुक्त गुणोंसे तुम्हारी और मेरी बुद्धिको सदा संयुक्त करे, क्योंकि वह भक्तजनवत्सला भक्तिमान् पुरुषोंको सुखयुक्त किया करती है ॥ १०० ॥

भीष्म उवाच—
इति परममतिर्गुणाननेकाञ्शिलरतये त्रिपथानुयोगरूपान्।
बहुविधमनुशास्य तथ्यरूपान्गगनतलं द्युतिमान्विवेश सिद्धः ॥ १०१ ॥
भीष्म बोले– द्युतिमान्, परम बुद्धिमान् वह सिद्ध शिलवृत्तिको इस ही प्रकार गंगानुगत अनेक यथार्थ गुणोंको विस्तारपूर्वक वर्णन करके आकाशमें प्रविष्ट हुआ ॥ १०१ ॥

शिलवृत्तिस्तु सिद्धस्य वाक्यैः संबोधितस्तदा।
गङ्गामुपास्य विधिवत्सिद्धिं प्राप्तः सुदुर्लभाम् ॥ १०२ ॥
शिलवृत्ति ब्राह्मणने उस समय सिद्धका वचन सुनकर विधिपूर्वक गंगा की उपासना करके परम दुर्लभ सिद्धि प्राप्त की ॥ १०२ ॥

तस्मात्त्वमपि कौन्तेय भक्त्या परमया युतः ।
गङ्गामभ्येहि सततं प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १०३ ॥

हे कौन्तेय ! तुम उस ही भाँति परम भक्तियुक्त होकर नित्य गंगाकी उपासना करके परम सिद्धि प्राप्त करोगे ॥ १०३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वेतिहासं भीष्मोक्तं गङ्गायाः स्तवसंयुतम् ।
युधिष्ठिरः परां प्रीतिमगच्छद्‌भ्रातृभिः सह ॥ १०४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– राजा युधिष्ठिर भाइयोंके सहित भीष्मके कहे हुए भागीरथीका स्तवसंयुक्त इतिहास सुनके परम प्रसन्न हुए ॥ १०४ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं शृणुयाद्यः पठेत वा ।
गङ्गायाः स्तवसंयुक्तं स मुच्येत्सर्वकिल्बिषैः ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥ १५८१ ॥

जो मनुष्य गंगाके स्तवयुक्त इस पवित्र इतिहासको सुनता अथवा पाठ करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १०५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ १५८१ ॥

: २८ :

युधिष्ठिर उवाच—

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च यथा भवान् ।
गुणैः समुदितः सर्वैर्वयसा च समन्वितः ।
तस्माद्भवन्तं पृच्छामि धर्मं धर्मभृतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे धार्मिकप्रवर ! आप प्रज्ञा, शास्त्रज्ञान, चरित्र, सद्‌वृत्त, विविध गुणोंसे युक्त हैं और अवस्थाक्रमसे सबसे बडे हैं, इसलिये मैं आपसे धर्मविषयमें पूछता हूं ॥ १ ॥

क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयात्केन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

हे राजसत्तम ! यदि क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहे, तो कैसे प्राप्त कर सकता है ? आप मेरे निकट उसकी ही व्याख्या करिये ॥ २ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

अत्यन्त महत् तपस्या, कर्म अथवा शास्त्रज्ञानसे यदि ब्राह्मणत्वकी इच्छा की जाय, तो वह किस प्रकार प्राप्त हो ? हे पितामह ! आप मुझसे यही कहिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः ।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

भीष्म बोले– हे तात युधिष्ठिर ! क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति करना अत्यन्त कठिन है, कारण यह है कि यह सब प्राणियोंके लिये सर्वश्रेष्ठ स्थान है ॥ ४ ॥

बह्वीस्तु संसरन्योनीर्जायमानः पुनः पुनः ।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणो नाम जायते ॥ ५ ॥

हे तात ! जीव अनेक योनियोंमें भ्रमण करते हुए बार बार जन्म लेकर उसके अनन्तर किसी जन्ममें ब्राह्मण होकर जन्मता है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मतङ्गस्य च संवादं गर्दभ्याश्च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् लोग मतङ्ग और गर्दभीके संवादयुक्त पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ६ ॥

द्विजातेः कस्यचित्तात तुल्यवर्णः सुतः प्रभुः ।
मतङ्गो नाम नाम्नाभूत्सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ७ ॥

तात ! किसी ब्राह्मणके मतंग नामक उत्तम विख्यात सब गुणोंसे युक्त और अन्य वर्णज होके भी जातकर्मादि संस्कार निबन्धनसे तुल्यवर्ण एक पुत्र था ॥ ७ ॥

स यज्ञकारः कौन्तेय पित्रा सृष्टः परंतप ।
प्रायाद्गर्दभयुक्तेन रथेनेहाशुगामिना ॥ ८ ॥

हे शत्रुतापन युधिष्ठिर ! पिताकी आज्ञासे यह किसीका यज्ञ करानेके लिये शीघ्रगामी गर्दभ-युक्त रथपर चढके चला ॥ ८ ॥

स बालं गर्दभं राजन्वहन्तं मातुरन्तिके ।
निरविध्यत्प्रतोदेन नासिकायां पुनः पुनः ॥ ९ ॥

हे महाराज ! उसने रथ खींचनेवाले एक छोटी अवस्थावाले गधेको उसकी माताके निकट ही बार बार चाबुकसे मारकर उसकी नाकमें घाव किया ॥ ९ ॥

तं तु तीव्रव्रणं दृष्ट्वा गर्दभी पुत्रगृद्धिनी ।
उवाच मा शुचः पुत्र चण्डालस्त्वाधितिष्ठति ॥ १० ॥

पुत्रवत्सला गर्दभी पुत्रकी नाकमें तीव्र घाव हुआ देखकर उससे बोली, हे पुत्र ! तुम शोक मत करो, तुम्हारे ऊपर चाण्डाल सवार हुआ है ॥ १० ॥

ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति ॥ ११ ॥

ब्राह्मणमें इतनी दुष्टता नहीं होती; ब्राह्मण सब प्राणियोंके मित्र हैं, ऐसा कहते हैं; सब भूतोंके शास्ता आचार्य क्या कभी किसीपर प्रहार किया करेंगे ? ॥ ११ ॥

अयं तु पापप्रकृतिर्बाले न कुरुते दयाम् ।
स्वयोनिं मानयत्येष भावो भावं निगच्छति ॥ १२ ॥

यह स्वभावसे ही पाप करनेवाला बालकपर दया नहीं करता है; यह अपनी योनिका समादर करता है, जातिस्वभाव ही बुद्धिपर नियंत्रण किया करता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा मतङ्गस्तु दारुणं रासभीवचः ।
अवतीर्य रथात्तूर्णं रासभीं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥

मतंग गधीका ऐसा दारुण वचन सुनके शीघ्र ही रथसे उतरकर उस गधीसे बोला ॥१३॥

ब्रूहि रासभि कल्याणि माता मे येन दूषिता ।
कथं मां वेत्सि चण्डालं क्षिप्रं रासभि शंस मे ॥ १४ ॥

हे कल्याणि गर्दभी ! मेरी माता किसके द्वारा दूषित हुई है ? तथा तुमने मुझे चाण्डाल किस प्रकार समझा ? यह मुझसे शीघ्र कहो ॥ १४ ॥

केन जातोऽस्मि चण्डालो ब्राह्मण्यं येन मेऽनशत् ।
तत्त्वेनैतन्महाप्राज्ञे ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ १५ ॥

मैंने किसके द्वारा चाण्डाल योनिमें जन्म लिया ? लोकदृष्ट मेरा ब्राह्मणत्व किस कारण नष्ट हुआ है ? तुम्हें यह विषय किस प्रकार मालूम हुआ ? हे महाबुद्धिमति ! तुम यह विषय विशेष रूपसे यथार्थ कहो ॥ १५ ॥

गर्दभ्युवाच—

ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वं मत्तायां नापितेन ह ।
जातस्त्वमसि चण्डालो ब्राह्मण्यं तेन तेऽनशत् ॥ १६ ॥

गर्दभी बोली— तुम यौवनके कारण मतवाली हुई ब्राह्मणीके गर्भसे चाण्डाल नाईके द्वारा उत्पन्न हुए हो, इसलिए तुम चाण्डाल हो इस ही कारण तुम्हारा ब्राह्मणत्व विनष्ट हुआ है ॥ १६ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु प्रत्युपायाद्गृहं प्रति ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य पिता वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १७ ॥

मतंग गर्दभीका ऐसा वचन सुनके घरको लौट आया; पिताने उसे लौटा हुआ देखके इस प्रकार कहा ॥ १७ ॥

मया त्वं यज्ञसंसिद्धौ नियुक्तो गुरुकर्मणि ।
कस्मात्प्रतिनिवृत्तोऽसि कच्चिन्न कुशलं तव ॥ १८ ॥

मैंने यज्ञसिद्धिके निमित्त तुम्हें बडे कार्यमें नियुक्त किया था, फिर तुम किस कारणसे लौट आये ? क्या तुम्हारा कुशल नहीं है ? ॥ १८ ॥

मतङ्ग उवाच—

अयोनिरग्र्ययोनिर्वा यः स्यात्स कुशली भवेत् ।
कुशलं तु कुतस्तस्य यस्येयं जननी पितः ॥ १९ ॥

मतंग बोला— जो पुरुष चाण्डाल योनि अथवा उससे भी अत्यन्त हीन योनिका होता है, वह किस प्रकार सकुशल रह सकता है ? हे पिता ! यह जिसकी माता है, उसे कुशल कहां ? ॥ १९ ॥

ब्राह्मण्यां वृषलाज्जातं पितर्वेदयतीह माम् ।
अमानुषी गर्दभीयं तस्मात्तप्स्ये तपो महत् ॥ २० ॥

हे पिता ! यह मानवेतर योनिमें उत्पन्न गर्दभी मुझे ब्राह्मणीमें चाण्डालसे उत्पन्न हुआ कहती है; इसलिये मैं अत्यन्त महान् तपस्या करूंगा ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा स पितरं प्रतस्थे कृतनिश्चयः ।
ततो गत्वा महारण्यमतप्यत महत्तपः ॥ २१ ॥

उसने पितासे ऐसा कहकर तपस्याके लिये दृढ निश्चय करके प्रस्थान किया। अनन्तर महान् अरण्यमें जाके अत्यन्त महत् तपस्या करने लगा ॥ २१ ॥

ततः संतापयामास विबुधांस्तपसान्वितः ।
मतङ्गः सुसुखं प्रेप्सुः स्थानं सुचरितादपि ॥ २२ ॥

कालक्रमसे मतंगने उत्तम रीतिसे आचरित तपोबलसे अनायासही ब्राह्मणत्व लाभके निमित्त घोर तपस्यासे युक्त होकर देवताओंको सन्तापित किया ॥ २२ ॥

तं तथा तपसा युक्तमुवाच हरिवाहनः ।
मतङ्ग तप्यसे किं त्वं भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ २३ ॥

देवराज इन्द्र उसे इस प्रकार तपयुक्त देखके बोले— हे मतंग ! तुम मनुष्यभोग परित्याग करके किस निमित्त तपस्या करते हो ? ॥ २३ ॥

वरं ददानि ते हन्त वृणीष्व त्वं यदिच्छसि ।
यच्चाप्यवाप्यमन्यत्ते सर्वं प्रब्रूहि माचिरम् ॥ २४ ॥

अच्छा, मैं तुम्हें वरदान करता हूं, तुम्हारी जो इच्छा हो, वह मांगो; तुम्हारे अन्तःकरणमें जो पानेकी इच्छा हो, वह सब कहो, विलम्ब मत करो ॥ २४ ॥

×

मतङ्ग उवाच—

ब्राह्मण्यं कामयानोऽहमिदमारब्धवांस्तपः ।
गच्छेयं तदवाप्येह वर एष वृतो मया ॥ २५ ॥

मतंग बोला— मैंने ब्राह्मणत्वकी कामना करके यह तपस्या आरम्भ की है; वह प्राप्त होनेसे ही इस स्थानसे गमन करूंगा, मैं यही वर मांगता हूं ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तमुवाच पुरंदरः ।
ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः ॥ २६ ॥

इन्द्रने उसका यह वचन सुनके कहा, जिनका शुद्ध अन्तःकरण नहीं है, उनके लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति अशक्य है ॥ २६ ॥

श्रेष्ठं यत्सर्वभूतेषु तपो यन्नातिवर्तते ।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद्विनशिष्यसि ॥ २७ ॥

सब प्राणियोंमें श्रेष्ठताही ब्राह्मणत्व है; यह तप उस इच्छाको सिद्ध नहीं कर सकता; इसलिये उस श्रेष्ठत्वकी इच्छा करनेवाले तुम शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २७ ॥

देवतासुरमर्त्येषु यत्पवित्रं परं स्मृतम् ।
चण्डालयोनौ जातेन न तत्प्राप्यं कथंचन ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ १६०९ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंके बीच जो परम पवित्र कहके वर्णित हुआ है, चण्डालयोनिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य उसे किसी प्रकार नहीं पा सकता ॥ २८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ १६०९ ॥

: २९ :

भीष्म उवाच—

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः ।
अतिष्ठदेकपादेन वर्षाणां शतमच्युत ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे अच्युत ! दृढनिश्चयी, उत्तमव्रती, मतंग इन्द्रका ऐसा वचन सुनके सौ वर्षोंतक एक पांवसे खडा होकर निवास करने लगा ॥ १ ॥

तमुवाच ततः शक्रः पुनरेव महायशाः ।
मतङ्ग परमं स्थानं प्रार्थयन्नतिदुर्लभम् ॥ २ ॥

अनन्तर महायशस्वी पाकशासन इन्द्र फिर उससे बोले— हे मतंग ! तुम अत्यंत दुर्लभ परम स्थानकी प्रार्थना करते हो ॥ २ ॥

मा कृथाः साहसं पुत्र नैष धर्मपथस्तव ।
अप्राप्यं प्रार्थयानो हि नचिराद्विनशिष्यसि ॥ ३ ॥

हे पुत्र ! तुम साहस मत करो, यह तुम्हारे धर्मका मार्ग नहीं है। अप्राप्य विषयकी प्रार्थना करनेसे थोडे ही समयमें नष्ट होगा ॥ ३ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं वार्यमाणो मया सकृत् ।
चिकीर्षस्येव तपसा सर्वथा न भविष्यसि ॥ ४ ॥

हे मतङ्ग ! तू बार बार मेरे निवारण करने पर भी सब प्रकारसे तपस्याके सहारे परम पद पानेकी इच्छा करता है, परन्तु उस विषयमें कृतकार्य न हो सकेगा ॥ ४ ॥

तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति ।
स जायते पुल्कसो वा चण्डालो वा कदाचन ॥ ५ ॥

पशुपक्षीकी योनिके समस्त जीव यदि मनुष्यत्व प्राप्त करें, तो वे पहले पुल्कस अथवा चाण्डाल होके जन्म ग्रहण करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

पुंश्चलः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते ।
स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग परिवर्तते ॥ ६ ॥

हे मतङ्ग ! इस लोकमें व्यभिचारी अथवा पापयोनिमें जो कोई जीव यहां दिखायी देता है, वह उस ही योनिमें बहुत समय तक बार बार भ्रमण किया करता है ॥ ६ ॥

ततो दशगुणे काले लभते शूद्रतामपि ।
शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते ॥ ७ ॥

फिर सहस्र वर्षके अनन्तर वह शूद्र योनिका लाभ करता है। शूद्रयोनिमें भी वह अनेक बार परिभ्रमण करता है ॥ ७ ॥

ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि ।
वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ८ ॥

फिर तीस गुना समय बीतने पर वैश्य योनिको प्राप्त होता है, वैश्ययोनिमें भी चिरकाल तक उसे बार बार जन्म लेना पडता है ॥ ८ ॥

ततः षष्टिगुणे काले राजन्यो नाम जायते ।
राजन्यत्वे चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ९ ॥

अनन्तर साठगुना समय बीतनेपर क्षत्रिय होकर जन्म लेता है; क्षत्रिययोनिमें भी चिरकाल तक उसे परिभ्रमण करना होता है ॥ ९ ॥

ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम् ।
ब्रह्मबन्धुश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १० ॥

अनन्तर साठगुना समय बीतनेपर वह गिरे हुए ब्राह्मणके घरमें जन्म लेता है; ब्राह्मणाधम होनेपर भी उस ही योनिमें बहुत समय तक घूमना पडता है ॥ १० ॥

ततस्तु द्विशते काले लभते काण्डपृष्ठताम् ।
काण्डपृष्ठश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ११ ॥

अनन्तर उससे दोसौगुना समय बीतनेपर अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणके यहां जन्म लेता है; अस्त्र-शस्त्रजीवी होके भी उसही योनिमें बहुत समय तक परिभ्रमण करता है ॥ ११ ॥

ततस्तु त्रिशते काले लभते द्विजतामपि ।
तां च प्राप्य चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १२ ॥

अनन्तर उससे तीन सौ वर्षका समय बीतनेपर गायत्रीमात्र जप करनेवाले ब्राह्मणके वंशमें जन्म लेता है, वैसा जन्म पाने पर भी उसे बहुत समयतक उस ही कुलमें बार बार उत्पन्न होना पडता है ॥ १२ ॥

ततश्चतुःशते काले श्रोत्रियो नाम जायते ।
श्रोत्रियत्वे चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १३ ॥

अनन्तर चार सौ वर्ष बीतनेपर श्रोत्रियकुलमें जन्म होता है, श्रोत्रिय अर्थात् वेदाध्ययनशील होकर बहुत समयतक उस ही योनिमें परिभ्रमण करता है ॥ १३ ॥

तदैव क्रोधहर्षौ च कामद्वेषौ च पुत्रक ।
अतिमानातिवादौ तमाविशन्ति द्विजाधमम् ॥ १४ ॥

हे पुत्र ! इस ही प्रकार काम-द्वेष, क्रोध-हर्ष, अतिमान और अतिवाद आदि दोष उस द्विजाधममें प्रविष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

तांश्चेज्जयति शत्रून्स तदा प्राप्नोति सद्गतिम् ।
अथ ते वै जयन्त्येनं तालाग्रादिव पात्यते ॥ १५ ॥

यदि वह उन शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ हो, तो सद्गति लाभ कर सकता है; और यदि काम, द्वेष प्रभृति शत्रुगण उसे जीत लेते हैं, तो तालवृक्षकी चोटीसे गिरनेवाले फलकी भांति वह नीचे गिरा दिया जाता है ॥ १५ ॥

मतङ्ग संप्रधार्यैतद्यदहं त्वामचूचुदम् ।
वृणीष्व काममन्यं त्वं ब्राह्मण्यं हि सुदुर्लभम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ १६२५ ॥

हे मतंग ! मैंने तुमसे जो कहा है, तुम उसकी भली भांति आलोचना करके दूसरे अभीष्ट विषयकी प्रार्थना करो । क्योंकि ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ १६२५ ॥

: ३० :

भीष्म उवाच—

एवमुक्तो मतङ्गस्तु भृशं शोकपरायणः ।
अतिष्ठत गयां गत्वा सोऽङ्गुष्ठेन शतं समाः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— जब देवराजने ऐसा कहा, तब मतंग अत्यंत शोकयुक्त होकर गया तीर्थमें जाके सौ वर्षोंपर्यन्त अंगूठेके सहारे निवास करने लगा ॥ १ ॥

सुदुष्करं वहन्योगं कृशो धमनिसंततः ।
त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम् । ॥ २ ॥

हमने सुना है, कि वह धर्मात्मा दुष्कर योगका अवलम्बन करके अत्यंत दुर्बल शरीर होगया; नस–नाडियां उघड आयीं, और अस्थिचर्म–सार होकर गिर पडा ॥ २ ॥

तं पतन्तमभिद्रुत्य परिजग्राह वासवः ।
वराणामीश्वरो दाता सर्वभूतहिते रतः ॥ ३ ॥

सर्वभूतोंके हितमें रत रहनेवाले वर देनेमें समर्थ भगवान् इन्द्र उसे गिरा हुआ देखके दौडे और वहांपर जाके उसे धारण किया ॥ ३ ॥

शक्र उवाच

मतङ्ग ब्राह्मणत्वं ते संवृतं परिपन्थिभिः ।
पूजयन्सुखमाप्नोति दुःखमाप्नोत्यपूजयन् ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले— हे मतंग ! इस समय तुम्हारे पक्षमें ब्राह्मणत्व कामादि शत्रुओंसे घिरा हुआ है । ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे सुखभोग प्राप्त होता है, पूजा न करनेसे दुःख हुआ करता है ॥४॥

ब्राह्मणे सर्वभूतानां योगक्षेमः समाहितः ।
ब्राह्मणेभ्योऽनुतृप्यन्ति पितरो देवतास्तथा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणत्वमें ही सर्वभूतोंका योगक्षेम स्थापित किया हुआ है । पितर और देववृन्द ब्राह्मणोंसे ही परितृप्त होते हैं ॥ ५ ॥

ब्राह्मणः सर्वभूतानां मतङ्ग पर उच्यते ।
ब्राह्मणः कुरुते तद्धि यथा यद्यच्च वाञ्छति ॥ ६ ॥

हे मतंग ! ब्राह्मण सब भूतोंमें श्रेष्ठ कहके वर्णित हुआ है; क्योंकि जैसी इच्छा की जाती है, ब्राह्मण ही वह वाञ्छित सिद्धि करता है ॥ ६ ॥

बह्वीस्तु संसरन्योनीर्जायमानः पुनः पुनः ।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद्ब्राह्मण्यमिह विन्दति ॥ ७ ॥

हे तात ! जीव अनेक योनियें प्रवेश करते हुए बार बार जन्म ग्रहण करके इस लोकमें किसी समयमें ब्राह्मणत्व लाभ करता है ॥ ७ ॥

मतङ्ग उवाच

किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च माम् ।
त्वं तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषते ॥ ८ ॥

मतंग बोला– मैं दुःखसे आर्त्त हुआ हूं, मुझे क्यों दुःखित करते हो ? मुझ मरे हुएको मारते हो ? जो पुरुष ब्राह्मणत्व लाभ करके भी मेरे समान तपस्वी पुरुषके विषयमें करुणा नहीं करता, उसने ब्राह्मणत्व पाके भी नहीं पाया है, इसलिये मैं शोक करता हूं ॥ ८ ॥

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्रापं त्रिभिर्वर्णैः शतक्रतो ।
सुदुर्लभं तदावाप्य नानुतिष्ठन्ति मानवाः ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! यदि क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व दुर्लभ है, तथापि मनुष्य उस अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाके भी सदा उसका अनुष्ठान नहीं करते अर्थात् ब्राह्मणके योग्य शम, दम, तप, पवित्रता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य यह सब धर्माचरण नहीं करते ॥ ९ ॥

यः पापेभ्यः पापतमस्तेषामधम एव सः ।
ब्राह्मण्यं योऽवजानीते धनं लब्ध्वेव दुर्लभम् ॥ १० ॥

धनसदृश दुर्लभ ब्राह्मणत्वका लाभ करके जो पुरुष उसका अनुष्ठान करना नहीं जानता, वह पापियोंसे भी पापी तथा उससे भी अधम है ॥ १० ॥

दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम् ।
दुरवापमवाप्यैतन्नानुतिष्ठन्ति मानवाः ॥ ११ ॥

पहले तो ब्राह्मणत्वका प्राप्त होना ही अत्यन्त कठिन है; प्राप्त होनेपर भी उसका पालन करना अत्यन्त कठिन है । इस दुर्लभ विषयको पाके भी मनुष्य इसका अनुष्ठान नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
अहिंसादमदानस्थः कथं नार्हामि विप्रताम् ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! मैं एकान्तवास प्रिय, निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह, अहिंसा, इन्द्रियदमन और दानका अवलम्बन करके भी किस निमित्त ब्राह्मणत्व पानेके योग्य नहीं हूं ॥ १२ ॥

यथाकामविहारी स्यां कामरूपी विहङ्गमः ।
ब्रह्मक्षत्राविरोधेन पूजां च प्राप्नुयामहम् ।
यथा ममाक्षया कीर्तिस्तथैवचापि पुरन्दर ॥ १३ ॥

हे पुरन्दर ! मैं स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाला और अपनी इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला आकाशमें संचार करनेवाला होऊं; मुझे ब्राह्मण–क्षत्रियोंके विरोधसे रहित पूजा प्राप्त होवे; तथा मेरी अक्षय कीर्ति हो, आप वैसा ही करिये ॥ १३ ॥

इन्द्र उवाच

छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि ॥ १४ ॥

इन्द्र बोले– तुम छन्दोदेव नामसे विख्यात होकर स्त्रियोंके पूजनीय होगे ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच—

एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोऽन्तरधीयत ।

प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि प्राप तत्स्थानमुत्तमम् ॥ १५ ॥

भीष्म बोले– इन्द्र उसे ऐसा वर दान करके वहीं अन्तर्द्धान हुए। मतङ्गने भी प्राण त्यागके उस परम पदको पाया ॥ १५ ॥

एवमेतत्परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत ।

तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ १६४१ ॥

हे भारत ! इस तरह यह ब्राह्मणत्व अत्यन्त श्रेष्ठ पद है; महेन्द्रके वचनानुसार इस जगत्में दूसरे वर्णोंके लिये दुष्प्राप्य जानना चाहिये ॥ १६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ १६४१ ॥

: ३१ :

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुतं मे महदाख्यानमेतत्कुरुकुलोद्वह ।

सुदुष्प्रापं ब्रवीषि त्वं ब्राह्मण्यं वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे कुरुकुलधुरन्धर वक्तृवर ! आपने ब्राह्मणत्वको अत्यन्त दुष्प्राप्य कहा और यह महत् आख्यान मैंने आपके समीप सुना ॥ १ ॥

विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमित्युत ।

श्रूयते वदसे तच्च दुष्प्रापमिति सत्तम ॥ २ ॥

हे सत्तम ! आप ब्राह्मणत्वको दुष्प्राप्य कहते हैं, परन्तु ऐसा सुननेमें आता है, कि पहले समयमें विश्वामित्रने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ॥ २ ॥

वीतहव्यश्च राजर्षिः श्रुतो मे विप्रतां गतः ।

तदेव तावद्गाङ्गेय श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ॥ ३ ॥

और मैंने सुना है, कि राजर्षि वीतहव्यने भी ब्राह्मणत्वका लाभ किया है। हे प्रभु गंगानन्दन ! इसलिये मैं इस विषयको सुननेकी अभिलाष करता हूं ॥ ३ ॥

स केन कर्मणा प्राप्तो ब्राह्मण्यं राजसत्तम ।
वरेण तपसा वापि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे राजसत्तम ! वे किस कर्मसे किस वर अथवा तपस्यासे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए ? उसे आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

शृणु राजन्यथा राजा वीतहव्यो महायशाः ।
क्षत्रियः सन्पुनः प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम् ॥ ५ ॥

भीष्म बोले– राजन् ! महायशस्वी राजा वीतहव्यने क्षत्रिय होते हुए भी फिर किस प्रकार लोकसत्कृत दुर्लभ ब्राह्मणत्व पाया था, उसे सुनो ॥ ५ ॥

मनोर्महात्मनस्तात प्रजाधर्मेण शासतः ।
बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुतः ॥ ६ ॥

हे तात ! धर्मपूर्वक प्रजापालक महात्मा मनुके शर्याति नामक पुत्र था ॥ ६ ॥

तस्यान्ववाये द्वौ राजन्राजानौ संबभूवतुः ।
हेहयस्तालजङ्घश्च वत्सेषु जयतां वर ॥ ७ ॥

हे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाराज ! उस ही शर्यातिके वंशमें हेहय और तालजङ्घ नामक दो राजा हुए थे ये दोनों वत्सके पुत्र थे ॥ ७ ॥

हेहयस्य तु पुत्राणां दशसु स्त्रीषु भारत ।
शतं बभूव प्रख्यातं शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

हे भरतवंशावतंस राजेन्द्र ! हेहयकी दस पत्नियोंसे प्रख्यात सौ पुत्र हुए; वे सभी शूर और युद्धमें अपराजित थे ॥ ८ ॥

तुल्यरूपप्रभावाणां विदुषां युद्धशालिनाम् ।
धनुर्वेदे च वेदे च सर्वत्रैव कृतश्रमाः ॥ ९ ॥

वे सब तुल्यरूप, तुल्यप्रभाव, विद्वान् और युद्धशाली थे; उन्होंने धनुर्वेद और वेदके सभी विषयोंमें परिश्रम किये थे ॥ ९ ॥

काशिष्वपि नृपो राजन्दिवोदासपितामहः ।
हर्यश्व इति विख्यातो बभूव जयतां वरः ॥ १० ॥

हे महाराज काशी–राज्यमें भी दिवोदासके पितामह विजयी वीरोंमें प्रवर हर्यश्व नामक एक विख्यात राजा था ॥ १० ॥

स वीतहव्यदायादैरागत्य पुरुषर्षभ ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये संग्रामे विनिपातितः ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! वीतहव्यके पुत्रोंने हर्यश्वके राज्यपर चढाई करके गंगायमुनाके बीच युद्धमें उसे मार डाला ॥ ११ ॥

तं तु हत्वा नरवरं हैहयास्ते महारथाः ।
प्रतिजग्मुः पुरीं रम्यां वत्सानामकुतोभयाः ॥ १२ ॥

वे महारथी हैहयपुत्र उस राजश्रेष्ठ हर्यश्वको मारके भयसे रहित हो वत्सराजकी रमणीय पुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ १२ ॥

हर्यश्वस्य तु दायादः काशिराजोऽभ्यषिच्यत ।
सुदेवो देवसंकाशः साक्षाद्धर्म इवापरः ॥ १३ ॥

हर्यश्वके उत्तराधिकारी पुत्र साक्षात् धर्मसदृश, देवताके तुल्य सुदेव उस काशि राज्यपर अभिषिक्त हुआ ॥ १३ ॥

स पालयन्नेव महीं धर्मात्मा काशिनन्दनः ।
तैर्वीतहव्यैरागत्य युधि सर्वैर्विनिर्जितः ॥ १४ ॥

वह धर्मात्मा काशिराजका पुत्र पृथ्वीका पालन करने लगा । वीतहव्यके सभी पुत्रोंने आक्रमण करके उसे भी युद्धमें पराजित किया ॥ १४ ॥

तमप्याजौ विनिर्जित्य प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
सौदेविस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत ॥ १५ ॥

वे हैहयपुत्र उसे भी युद्धमें धराशायी करके निज स्थानपर जैसे आये थे, वैसे लौट गये । अनन्तर सुदेवका पुत्र दिवोदास उस काशिराजके पद पर अभिषिक्त हुआ ॥ १५ ॥

दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां महात्मनाम् ।
वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ॥ १६ ॥

महातेजस्वी दिवोदासने महात्मा हैहयवंशियोंके बलको जानके इन्द्रकी आज्ञानुसार वाराणसी पुरी बसाई ॥ १६ ॥

विप्रक्षत्रियसंबाधां वैश्यशूद्रसमाकुलाम् ।
नैकद्रव्योच्चयवतीं समृद्धविपणापणाम् ॥ १७ ॥

वह पुरी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदिसे परिपूर्ण थी; अनेक प्रकारके द्रव्योंसे संपन्न और उसके बाजार तथा दुकानें वैभवसे भरी हुई थीं ॥ १७ ॥

×

गङ्गाया उत्तरे कूले वप्रान्ते राजसत्तम ।
गोमत्या दक्षिणे चैव शक्रस्येवामरावतीम् ॥ १८ ॥

हे राजसत्तम! वह नगरी गंगाके उत्तर तटके निकट तथा गोमतीके दक्षिण तटपर दिवोदासके द्वारा इन्द्रकी अमरावतीकी भांति निर्मित हुई ॥ १८ ॥

तत्र तं राजशार्दूलं निवसन्तं महीपतिम् ।
आगत्य हैहया भूयः पर्यधावन्त भारत ॥ १९ ॥

हे भारत! पृथ्वीपति राजश्रेष्ठ दिवोदास जब वाराणसीमें वास करने लगे, तब हैहयगणने फिर आके उन्हें आक्रमण किया ॥ १९ ॥

स निष्पत्य ददौ युद्धं तेभ्यो राजा महाबलः ।
देवासुरसमं घोरं दिवोदासो महाद्युतिः ॥ २० ॥

महाबलवान् महातेजस्वी राजा दिवोदास पुरीसे बाहर निकलके उन हैहयगणके सङ्ग देवासुर सदृश घोर संग्राम करने लगे ॥ २० ॥

स तु युद्धे महाराज दिनानां दशतीर्दश ।
हतवाहनभूयिष्ठस्ततो दैन्यमुपागमत् ॥ २१ ॥

हे महाराज! उन्होंने उस युद्धमें एक हजार दिनतक संग्राम किया; इस युद्धमें दिवोदासके बहुत वाहन आदि मारे गये; उनकी अत्यंत दयनीय दशा हो गयी ॥ २१ ॥

हतयोधस्ततो राजन्क्षीणकोशश्च भूमिपः ।
दिवोदासः पुरीं हित्वा पलायनपरोऽभवत् ॥ २२ ॥

हे महाराज! वह पृथ्वीपति दिवोदास सेना और कोष नष्ट होनेपर अपनी राजधानी परि-त्याग करके भाग गये ॥ २२ ॥

स त्वाश्रममुपागम्य भरद्वाजस्य धीमतः ।
जगाम शरणं राजा कृताञ्जलिररिंदम ॥ २३ ॥

हे शत्रुदमन! उस समय वह राजा बुद्धिमान् भरद्वाजके आश्रममें जाकर हाथ जोडके उनके शरणागत हुआ ॥ २३ ॥

राजोवाच—

भगवन्वैतहव्यैर्मे युद्धे वंशः प्रणाशितः ।
अहमेकः परिद्यूनो भवन्तं शरणं गतः ॥ २४ ॥

राजा बोला— हे भगवन्! वीतहव्यवंशीय पुत्रोंने युद्धमें मेरा कुल नष्ट कर दिया है, अकेला मैं अत्यन्त दुःखित होकर आपकी शरणमें आया हूं ॥ २४ ॥

शिष्यस्नेहेन भगवन्स्त्वं मां रक्षितुमर्हसि ।
निःशेषो हि कृतो वंशो मम तैः पापकर्मभिः ॥ २५ ॥
हे भगवन् ! आप शिष्यस्नेहवशसे मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। उन पापकर्मियोंने मेरे वंशको निःशेष किया है ॥ २५ ॥

तमुवाच महाभागो भरद्वाजः प्रतापवान् ।
न भेतव्यं न भेतव्यं सौदेव व्येतु ते भयम् ॥ २६ ॥
प्रतापवान् महाभाग भरद्वाज ऋषि उससे बोले, "भय नहीं है ! भय नहीं है।" हे सुदेवपुत्र ! तुम्हारा भय दूर होवे ॥ २६ ॥

अहमिष्टिं करोम्यद्य पुत्रार्थं ते विशां पते ।
वैतहव्यसहस्राणि यथा त्वं प्रसहिष्यसि ॥ २७ ॥
हे नरनाथ ! मैं तुम्हारे पुत्रके निमित्त आज यज्ञ करूंगा, उसके द्वारा तुम सहस्रों वीतहव्योंको पराजित करोगे ॥ २७ ॥

तत इष्टिं चकारर्षिस्तस्य वै पुत्रकामिकीम् ।
अथास्य तनयो जज्ञे प्रतर्दन इति श्रुतः ॥ २८ ॥
अनन्तर भरद्वाज ऋषिने उसके लिये पुत्रकामनासे यज्ञ किया। उस यज्ञके प्रभावसे दिवोदासके प्रतर्दन नामसे प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २८ ॥

स जातमात्रो ववृधे समाः सद्यस्त्रयोदश ।
वेदं चाधिजगे कृत्स्नं धनुर्वेदं च भारत ॥ २९ ॥
वह पुत्र उत्पन्न होते ही तेरह वर्षीय पुरुषकी भांति वर्द्धित हुआ। हे भारत ! उसी समय उसने सब वेद और धनुर्वेदका ज्ञान किया ॥ २९ ॥

योगेन च समाविष्टो भरद्वाजेन धीमता ।
तेजो लौक्यं स संगृह्य तस्मिन्देशे समाविशत् ॥ ३० ॥
बुद्धिमान् भरद्वाज योगबलसे उसके शरीरमें प्रविष्ट हुए, उन्होंने सार्वलौकिक तेजसंग्रह करके प्रतर्दनके शरीरमें प्रवेश किया ॥ ३० ॥

ततः स कवची धन्वी बाणी दीप्त इवानलः ।
प्रययौ स धनुर्धुन्वन्विवर्षुरिव तोयदः ॥ ३१ ॥
अनन्तर प्रतर्दन कवच, धनुष्य और बाण धारण करके अग्निकी भांति दीप्तिमान् हुए। शरासन धारण करके धनुष्य कंपाते हुए वह मेघके समान बाणोंकी वर्षा करते हुए जाने लगे ॥ ३१ ॥

तं दृष्ट्वा परमं हर्षं सुदेवतनयो ययौ ।
मेने च मनसा दग्धान्वैतहव्यान्स पार्थिवः ॥ ३२ ॥

सुदेवपुत्र राजा दिवोदास पुत्रको देखके परम हर्षित हुए और उन्होंने मनहीमन वीतहव्यके पुत्रोंको जले हुए जाना ॥ ३२ ॥

ततस्तं यौवराज्येन स्थापयित्वा प्रतर्दनम् ।
कृतकृत्यं तदात्मानं स राजा अभ्यनन्दत ॥ ३३ ॥

अनन्तर राजा दिवोदासने प्रतर्दनको युवराजपदपर स्थापित करके अपनेको कृतकृत्य समझके आनन्दित हुए ॥ ३३ ॥

ततस्तु वैतहव्यानां वधाय स महीपतिः ।
पुत्रं प्रस्थापयामास प्रतर्दनमरिंदमम् ॥ ३४ ॥

फिर वीतहव्योंका वध करनेके लिये निज पुत्र शत्रुदमन प्रतर्दनको राजाने भेजा ॥ ३४ ॥

सरथः स तु संतीर्य गङ्गामाशु पराक्रमी ।
प्रययौ वीतहव्यानां पुरीं परपुरंजयः ॥ ३५ ॥

वह पराक्रमी शत्रुनगरी पर विजय पानेवाला प्रतर्दन रथके सहित शीघ्र ही गङ्गासे पार होके वीतहव्योंकी पुरीमें जा पहुंचे ॥ ३५ ॥

वैतहव्यास्तु संश्रुत्य रथघोषं समुद्धतम् ।
निर्ययुर्नगराकारै रथैः पररथारुजैः ॥ ३६ ॥

वीतहव्यके पुत्रोंने रथकी भयंकर घरघराहट सुनके शत्रुओंके रथको पीडित करनेमें समर्थ नगराकार रथोंके द्वारा वे पुरीसे बाहर निकले ॥ ३६ ॥

निष्क्रम्य ते नरव्याघ्रा दंशिताश्चित्रयोधिनः ।
प्रतर्दनं समाजघ्नुः शरवर्षैरुदायुधाः ॥ ३७ ॥

वे विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले, कवचधारी नरपुङ्गवगण नगरसे निकलकर धनुष उठाये बाणोंकी वर्षा करते हुए प्रतर्दनकी ओर गमन करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ३७ ॥

अस्त्रैश्च विविधाकारै रथौघैश्च युधिष्ठिर ।
अभ्यवर्षन्त राजानं हिमवन्तमिवाम्बुदाः ॥ ३८ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे बादल हिमवान पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, वैसे ही वे लोग रथ समूहों द्वारा आकर राजा प्रतर्दनके ऊपर अनेक प्रकारके अस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३८ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां राजा प्रतर्दनः ।
जघान तान्महातेजा वज्रानलसमैः शरैः ॥ ३९ ॥

महातेजस्वी राजा प्रतर्दनने निज अस्त्रोंसे उनके सब अस्त्रोंको निवारण करके अग्निके सदृश तेजस्वी बाणोंसे उन सबको मार डाला ॥ ३९ ॥

कृत्तोत्तमाङ्गास्ते राजन्भल्लैः शतसहस्रशः ।
अपतन्रुधिरार्द्राङ्गा निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ ४० ॥

हे महाराज ! भल्लास्त्रके द्वारा उनके मस्तकोंके सैकडों–हजारों टुकडे हो गये थे; तथा उनके सारे अंग रुधिरसे भींगके कटे हुए फूले पलाशवृक्षकी भांति पृथ्वीपर गिर गये ॥ ४० ॥

हतेषु तेषु सर्वेषु वीतहव्यः सुतेष्वथ ।
प्राद्रवन्नगरं हित्वा भृगोराश्रममप्युत ॥ ४१ ॥

उन समस्त पुत्रोंके मारे जानेपर राजा वीतहव्य नगर छोडके भागकर भृगुके आश्रममें जा छिपे ॥ ४१ ॥

ययौ भृगुं च शरणं वीतहव्यो नराधिपः ।
अभयं च ददौ तस्मै राज्ञे राजन्भृगुस्तथा ।
ततो ददावासनं च तस्मै शिष्यो भृगोस्तदा ॥ ४२ ॥

वह राजा वीतहव्य भृगुऋषिको शरण गया । हे महाराज ! भृगु मुनिने भी उस राजाको अभय दान किया । भृगुमुनिने उस शिष्यको फिर आश्रय दिया ॥ ४२ ॥

अथानुपदमेवाशु तत्रागच्छत्प्रतर्दनः ।
स प्राप्य चाश्रमपदं दिवोदासात्मजोऽब्रवीत् ॥ ४३ ॥

अनन्तर उनके पीछे लगे हुए दिवोदास पुत्र प्रतर्दनभी इस आश्रममें शीघ्र ही आके उपस्थित हुए । प्रतर्दन उस आश्रमपर पहुंचके बोले ॥ ४३ ॥

भो भोः केऽत्राश्रमे सन्ति भृगोः शिष्या महात्मनः ।
द्रष्टुमिच्छे मुनिमहं तदाचक्षत मामिति ॥ ४४ ॥

महानुभाव भृगुके शिष्योंमेंसे कौन कौन इस आश्रममें हैं ? मैं उस मुनिके दर्शनकी अभिलाष करता हूं । उनके समीप मेरी प्रार्थना निवेदन करो ॥ ४४ ॥

स तं विदित्वा तु भृगुर्निश्चक्रामाश्रमात्तदा ।
पूजयामास च ततो विधिना परमेण ह ॥ ४५ ॥

भृगु मुनिने प्रतर्दनका आना सुनके उस ही समय आश्रमसे निकलकर, उस राजसत्तमका परम विधिपूर्वक सत्कार किया ॥ ४५ ॥

उवाच चैनं राजेन्द्र किं कार्यमिति पार्थिवम् ।
स चोवाच नृपस्तस्मै यदागमनकारणम् ॥ ४६ ॥

हे राजेन्द्र ! भृगुने उन राजासे कहा, महाराज ! किस प्रयोजनके निमित्त तुम इस स्थानमें आये हो ? तब राजा अपने आनेका कारण उनसे कहने लगे ॥ ४६ ॥

अयं त्वयाश्रितो राजा वीतहव्यो विसर्ज्यताम् ।
अस्य पुत्रैर्हि मे ब्रह्मन्कृत्स्नो वंशः प्रणाशितः ।
उत्सादितश्च विषयः काशीनां रत्नसंचयः ॥ ४७ ॥

हे ब्रह्मन् ! राजा वीतहव्यको इस स्थानसे आप बाहर निकाल दीजिये; हे ब्रह्मन् ! इनके पुत्रोंके द्वारा मेरा समस्त कुल नष्ट कर दिया गया है, और काशीपुरीका सब राज्य तथा रत्नसंचय नष्ट हुआ है ॥ ४७ ॥

एतस्य वीर्यदृप्तस्य हतं पुत्रशतं मया ।
अस्येदानीं वधाद्ब्रह्मन्भविष्याम्यनृणः पितुः ॥ ४८ ॥

ब्रह्मन् ! इस बलके घमंडमें भरे हुए राजाके सौ पुत्र मेरे हाथसे मारे गये हैं, अब इसका वध करके मैं पिताके ऋणसे उऋण होऊंगा ॥ ४८ ॥

तमुवाच कृपाविष्टो भृगुर्धर्मभृतां वरः ।
नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित्सर्वे हीमे द्विजातयः ॥ ४९ ॥

धार्मिकश्रेष्ठ भृगु मुनि कृपायुक्त होकर उनसे बोले, यहांपर कोई क्षत्रिय नहीं है, क्योंकि ये सभी ब्राह्मण हैं ॥ ४७ ॥

एवं तु वचनं श्रुत्वा भृगोस्तथ्यं प्रतर्दनः ।
पादावुपस्पृश्य शनैः प्रहसन्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥

प्रतर्दन भृगु मुनिका यह सत्य वचन सुनके धीरेसे मुनिके दोनों चरण छूके हंसकर इस प्रकार बोले ॥ ५० ॥

एवमप्यस्मि भगवन्कृतकृत्यो न संशयः ।
यदेष राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया ॥ ५१ ॥

हे भगवन् ! ऐसा होनेपर भी मैं निःसन्देह कृतकृत्य हुआ । क्योंकि इस राजाको मैंने अपने पराक्रमके द्वारा स्वजातिसे च्युत कर दिया ॥ ५१ ॥

अनुजानीहि मां ब्रह्मन्ध्यायस्व च शिवेन माम् ।
त्याजितो हि मया जातिमेष राजा भृगूद्वह ॥ ५२ ॥

हे ब्रह्मन् ! अब मुझे जानेकी आज्ञा करिये और मेरे कल्याणका चिन्तन कीजिये । हे भृगु-वंशधुरन्धर ! इस राजाको मैंने जातित्याग कराई है ॥ ५२ ॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः ।
यथागतं महाराज मुक्त्वा विषमिवोरगः ॥ ५३ ॥

हे महाराज ! अनन्तर राजा प्रतर्दन भृगुमुनिकी आज्ञा पाके, जैसे सांप विष उगलके चल देता है, उसी प्रकार क्रोध छोडकर जैसे आये थे वैसे चले गये ॥ ५३ ॥

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! वीतहव्यने भी भृगुके वचन मात्रसे ही ब्रह्मर्षित्व और ब्रह्मवादित्व लाभ किया ॥ ५४ ॥

तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः ।
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीतः किलाभवत् ॥ ५५ ॥

रूपमें दूसरे इन्द्रके समान गृत्समद नाम उनका पुत्र था, जो कि दैत्योंके द्वारा तुम इन्द्र हो ऐसा कहते हुए पकड लिया गया था ॥ ५५ ॥

ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिरत्र विशां पते ।
यत्र गृत्समदो ब्रह्मन्ब्राह्मणैः स महीयते ॥ ५६ ॥

हे पृथ्वीपति ! ऋग्वेदमें यहां गृत्समदकी श्रेष्ठ श्रुति विद्यमान है। यहां गृत्समद ब्राह्मणोंसे पूजित होते है ॥ ५६ ॥

स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान्गृत्समदोऽभवत् ।
पुत्रो गृत्समदस्यापि सुचेता अभवद्द्विजः ॥ ५७ ॥

ब्रह्मर्षि गृत्समद अत्यंत तेजस्वी और ब्रह्मचारी थे। गृत्समदका पुत्र सुचेता भी ब्राह्मण हुआ था ॥ ५७ ॥

वर्चाः सुतेजसः पुत्रो विहव्यस्तस्य चात्मजः ।
विहव्यस्य तु पुत्रस्तु वितत्यस्तस्य चात्मजः ॥ ५८ ॥

सुतेजाका पुत्र वर्चा, वर्चाका पुत्र विहव्य और विहव्यका पुत्र वितत्य नामका था ॥ ५८ ॥

वितत्यस्य सुतः सत्यः सन्तः सत्यस्य चात्मजः ।
श्रवास्तस्य सुतश्चर्षिः श्रवसश्चाभवत्तमः ॥ ५९ ॥

वितत्यका पुत्र सत्य, सत्यका पुत्र सन्त, सन्तका पुत्र श्रवा ऋषि और श्रवाका पुत्र तम था ॥ ५९ ॥

तमसश्च प्रकाशोऽभूत्तनयो द्विजसत्तमः ।
प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतां वरः ॥ ६० ॥

तमका पुत्र द्विजसत्तम प्रकाश हुआ; प्रकाशका पुत्र विजयशीलोंमें श्रेष्ठ वागिन्द्र था ॥ ६० ॥

तस्यात्मजश्च प्रमतिर्वेदवेदाङ्गपारगः ।
घृताच्यां तस्य पुत्रस्तु रुरुर्नामोदपद्यत ॥ ६१ ॥

वागिन्द्रका पुत्र प्रमति जो कि वेदवेदाङ्ग पारंगत थे। घृताची अप्सराके गर्भमें प्रमतिसे रुरु नामक विप्रर्षि पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ ६१ ॥

प्रमद्वरायां तु रुरोः पुत्रः समुदपद्यत ।
शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः ॥ ६२ ॥

प्रमद्वरासे रुरुके शुनक नाम विप्रर्षि पुत्र हुआ, जिसका पुत्र शौनक नामसे विख्यात है ॥ ६२ ॥

एवं विप्रत्वमगमद्वीतहव्यो नराधिपः ।
भृगोः प्रसादाद्राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ ॥ ६३ ॥

हे राजेन्द्र ! क्षत्रियश्रेष्ठ ! नरनाथ वीतहव्य इस ही प्रकार क्षत्रिय होकर भी भृगुकी कृपासे ब्राह्मण हो गये ॥ ६३ ॥

तथैव कथितो वंशो मया गार्त्समदस्तव ।
विस्तरेण महाराज किमन्यदनुपृच्छसि ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ १७०५ ॥

हे महाराज ! यह तुम्हारे समीप मैंने गृत्समदके वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । अब और क्या पूछनेकी इच्छा है ? ॥ ६४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ १७०५ ॥

: ३२ :

युधिष्ठिर उवाच—

के पूज्याः के नमस्कार्या मानवैर्भरतर्षभ ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंसे कौन कौन पूज्य और नमस्कार करने योग्य हैं ? आप मेरे समीप इसे ही विस्तारपूर्वक वर्णन करिये । आपके वचन सुनके मुझे किसी प्रकार तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्म बोले– विद्वान् लोग नारद ऋषि और भगवान् श्रीकृष्णके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहासका उदाहरण कहा करते हैं ॥ २ ॥

नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान् ।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन्कान्नमस्यसि ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजाके हेतु नारदको हाथ जोडे हुए देखकर भगवान् श्रीकृष्णने पूछा– हे भगवन् ! आप किनको नमस्कार करते हैं ? ॥ ३ ॥

बहुमानः परः केषु भवतो यान्नमस्यसि ।
वाक्यं चेच्छ्रोतुमिच्छामि ब्रूह्येतद्धर्मवित्तम ॥ ४ ॥

हे भगवन्! आप ब्राह्मणोंका बहुमान करते हुए किन लोगोंको नमस्कार करते हैं? हे धर्म-वित्तम! यदि यह विषय मेरे सुननेके योग्य हो, तो मैं सुननेकी इच्छा करता हूं, आप वर्णन करिये ॥ ४ ॥

नारद उवाच—

शृणु गोविन्द यानेतान्पूजयाम्यरिमर्दन ।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति ॥ ५ ॥

नारद मुनि बोले— हे अरिदमन गोविन्द! मैं जिनकी पूजा करता हूं, वह कहता हूं, सुनो। इस लोकमें तुम्हारे अतिरिक्त और कौन पुरुष यह विषय सुननेके योग्य होगा? ॥ ५ ॥

वरुणं वायुमादित्यं पर्जन्यं जातवेदसम् ।
स्थाणुं स्कन्दं तथा लक्ष्मीं विष्णुं ब्रह्माणमेव च ॥ ६ ॥

जो लोग वरुण, वायु, आदित्य, पर्जन्य, अग्नि, स्थाणु (रुद्र), स्कन्द (स्वामी कार्तिकेय), लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा ॥ ६ ॥

वाचस्पतिं चन्द्रमसमपः पृथ्वीं सरस्वतीम् ।
सततं ये नमस्यन्ति तान्नमस्याम्यहं विभो ॥ ७ ॥

बृहस्पति, चन्द्रमा, जल, पृथिवी और सरस्वतीको सदा नमस्कार करते हैं, हे विभु! मैं उन्हीं लोगोंको नमस्कार किया करता हूं ॥ ७ ॥

तपोधनान्वेदविदो नित्यं वेदपरायणान् ।
महार्हान्वृष्णिशार्दूल सदा संपूजयाम्यहम् ॥ ८ ॥

हे वृष्णिशार्दूल! तपोधन, वेद जाननेवाले और सदा वेद पढनेवाले श्रेष्ठ लोगोंकी मैं सदा पूजा करता हूं ॥ ८ ॥

अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः ।
संतुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान्नमस्याम्यहं विभो ॥ ९ ॥

हे प्रभु! जो मनुष्य अभुक्त रहके पहले देवकार्य करते, अपनी बडाई नहीं करते तथा जो सन्तुष्ट और क्षमायुक्त हैं, मैं उन्हींको नमस्कार किया करता हूं ॥ ९ ॥

सम्यग्ददाति ये चेष्टान्क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सत्यं धनं क्षितिं गाश्च तान्नमस्यामि यादव ॥ १० ॥

हे यादव! जो लोग विधिपूर्वक यज्ञोंमें आहुति देते हैं, जो क्षमाशील, दान्त और जितेन्द्रिय हैं, तथा ब्राह्मणोंको धान्य, धन, भूमि और गौओंका दान करते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

×

ये ते तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः ।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान्नमस्यामि यादव ॥ ११ ॥

जो लोग वनके बीच फल मूलका भोजन करके तपस्या करते और सञ्चय न करके कर्म किया करते हैं, हे यादव ! मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं ॥ ११ ॥

ये भृत्यभरणे सक्ताः सततं चातिथिप्रियाः ।
भुञ्जते देवशेषाणि तान्नमस्यामि यादव ॥ १२ ॥

जो सेवकोंको भरण-पोषण करनेमें रत हैं, जिनको सदा अतिथियोंका सत्कार-पूजा करना प्रिय है और जो देवताओंसे शेष बचा हुआ अन्न आदि भोजन करते हैं, मैं उन्हींको नमस्कार किया करता हूं ॥ १२ ॥

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मवादिनः ।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान्पूजयाम्यहम् ॥ १३ ॥

जो सब वेदज्ञान प्राप्त करके दुर्धर्ष, बोलनेमें कुशल और वेदान्ती हो गये हैं, और जो लोग सदा याजन और अध्यापन कार्यमें नियुक्त रहते हैं, मैं उन्हींकी सदा पूजा करता हूं ॥१३॥

प्रसन्नहृदयाश्चैव सर्वसत्त्वेषु नित्यशः ।
आ पृष्ठतापात्स्वाध्याये युक्तास्तान्पूजयाम्यहम् ॥ १४ ॥

जो सब जीवोंके विषयमें सदा प्रसन्नचित्त रहते और मध्यान्ह पर्यन्त स्वाध्याय पाठ तथा मन्त्रजप करनेमें नियुक्त रहते हैं, मैं उन लोगोंकी पूजा करता हूं ॥ १४ ॥

गुरुप्रसादे स्वाध्याये यतन्ते ये स्थिरव्रताः ।
शुश्रूषवोऽनसूयन्तस्तान्नमस्यामि यादव ॥ १५ ॥

हे यादव ! जो सब मनुष्य गुरुको प्रसन्न रखने और स्वाध्यायपाठमें यत्नवान् रहते, जिनका व्रत कभी भंग नहीं होता, जो गुरुकी सेवा करते और किसीकी निन्दा नहीं करते, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं ॥ १५ ॥

सुव्रता मुनयो ये च ब्रह्मण्याः सत्यसंगराः ।
वोढारो हव्यकव्यानां तान्नमस्यामि यादव ॥ १६ ॥

हे यादव ! जो सब उत्तम व्रतवाले मुनि पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मण हव्यकव्य वहन किया करते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः ।
निःसुखा निर्धना ये च तान्नमस्यामि यादव ॥ १७ ॥

हे यादव ! जो लोग भिक्षासे जीवन-निर्वाह करनेमें तत्पर रहते, कृश, गुरुकुलमें रहते, सुखरहित और निर्द्धन हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं ॥ १७ ॥

निर्ममा निष्प्रतिद्वंद्वा निर्ह्रीका निष्प्रयोजनाः ।
अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः ।
दान्ताः शमपराश्चैव तान्नमस्यामि केशव ॥ १८ ॥

जो सब मनुष्य ममतारहित, प्रतिद्वन्द्वियोंसे रहित, लज्जा रहित, कोई भी हेतु न रखनेवाले, अहिंसारत, सत्यव्रत, इंद्रिय संयमी और शमपरायण हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं ॥ १८ ॥

देवतातिथिपूजायां प्रसक्ता गृहमेधिनः ।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान्नमस्यामि यादव ॥ १९ ॥

जो सब गृहस्थ पुरुष देवता तथा अतिथि पूजामें आसक्त रहते और सदा कपोतवृत्ति अर्थात् कणग्रहणपूर्वक सञ्चय न करके जीवन व्यतीत करते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं ॥ १९ ॥

येषां त्रिवर्गः कृत्येषु वर्तते नोपहीयते ।
शिष्टाचारप्रवृत्ताश्च तान्नमस्याम्यहं सदा ॥ २० ॥

जो लोग धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्ग कार्योंमें वर्त्तमान रहते हैं, कदापि परित्यक्त नहीं होते तथा जो शिष्टाचारमें प्रवृत्त रहते हैं, मैं उन्हें ही सदा नमस्कार किया करता हूं ॥२०॥

ब्राह्मणास्त्रिषु लोकेषु ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः ।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान्नमस्यामि केशव ॥ २१ ॥

हे केशव ! जो ब्राह्मण तीनों लोकोंमें धर्म, अर्थ और कामका अनुष्ठान करते हैं, जो अलोलुप और पुण्यशील हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च सुधाभक्षाश्च ये सदा ।
व्रतैश्च विविधैर्युक्तास्तान्नमस्यामि माधव ॥ २२ ॥

जो लोग जल तथा वायु पीके निवास करते और जो सुधा अर्थात् वैश्वदेवसे अवशिष्ट अन्न भक्षण किया करते हैं, सदा विविध व्रतोंसे युक्त रहते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं ॥२२॥

अयोनीनग्नियोनींश्च ब्रह्मयोनींस्तथैव च ।
सर्वभूतात्मयोनींश्च तान्नमस्याम्यहं द्विजान् ॥ २३ ॥

जो लोग स्त्री नहीं रखते अर्थात् ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, और जो अग्निहोत्रसे युक्त हैं, जो वेदोंका आश्रय लेते हैं तथा सब प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्माको ही सबका कारण मानते हैं, मैं उन ब्राह्मणोंको ही नमस्कार किया करता हूं ॥ २३ ॥

नित्यमेतान्नमस्यामि कृष्ण लोककरानृषीन् ।
लोकज्येष्ठाञ्ज्ञाननिष्ठांस्तमोघ्नाँल्लोकभास्करान् ॥ २४ ॥

हे श्रीकृष्ण ! जो लोकोंकी सृष्टि करनेवाले, जगत्में सर्वश्रेष्ठ, ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले; अज्ञानका अन्धकार नष्ट करनेवाले और लोकसत्तम हैं, मैं उन्हीं लोकप्रकाशक ऋषियोंको नमस्कार किया करता हूं ॥ २४ ॥

तस्मात्त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान्पूजय नित्यदा ।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ॥ २५ ॥

हे वार्ष्णेय ! इसलिये तुम भी सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करो । हे अनघ ! वे पूजनीय ब्राह्मण पूजित होनेसे सुख सम्पत्ति प्रदान किया करते हैं ॥ २५ ॥

अस्मिँल्लोके सदा ह्येते परत्र च सुखप्रदाः ।
त एते मान्यमाना वै प्रदास्यन्ति सुखं तव ॥ २६ ॥

इस लोक और परलोकमें ये ब्राह्मण सुखप्रद होकर सदा विचरते रहते हैं; ये सन्मानयुक्त होनेसे तुम्हें उत्तम सुख प्रदान करेंगे ॥ २६ ॥

ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च ।
नित्यं सत्ये च निरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २७ ॥

जो लोग सदा सब लोगोंका आतिथ्य सत्कार किया करते हैं, गौ–ब्राह्मण और सत्यवचन कहनेमें रत रहते हैं, वे सब क्लेशोंसे पार हो सकते हैं ॥ २७ ॥

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः ।
नित्यं स्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २८ ॥

जो लोग सदा शमपरायण, दूसरेके दोष नहीं देखते और नित्य स्वाध्यायशील हैं, वे बडे संकटोंसे उत्तीर्ण हो सकते हैं ॥ २८ ॥

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति ये च चैकं देवमाश्रिताः ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो सब देवोंकी पूजा करते हैं, एक ही देवका आसरा करते, श्रद्धा रखते, इंद्रियनिग्रह करते हैं, वे दुस्तर संकटोंसे पार होते हैं ॥ २९ ॥

तथैव विप्रप्रवरान्नमस्कृत्य यतव्रतान् ।
भवन्ति ये दानरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३० ॥

तथा व्रताचरण करनेवाले, विप्रश्रेष्ठोंको नमस्कार करके, दानमें रत होते हैं, वे सब क्लेशोंसे पार हो सकते हैं ॥ ३० ॥

अग्नीनाधाय विधिवत्प्रणता धारयन्ति ये ।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३१ ॥

जो विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करके प्रणत होके उसकी उपासना करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं और सोमकी आहुति देते हैं, वे क्लेशोंसे उत्तीर्ण हो सकते हैं ॥ ३१ ॥

मातापित्रोर्गुरुषु च सम्यग्वर्तन्ति ये सदा ।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥ ३२ ॥

हे वृष्णिशार्दूल ! जो लोग तुम्हारी भांति माता, पिता और गुरुके निकट सदा पूर्णरूपसे न्याययुक्त बर्ताव करते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं– इतनी कथा कहके ही नारद मुनि चुप हो गये ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन् ।
सम्यक्पूजय येन त्वं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ १७३८ ॥

हे कौन्तेय ! इसलिये तुम भी पितरों, देवताओं, ब्राह्मणों और अतिथियोंकी सदा पूरी रीतिसे पूजा करते रहोगे, तो अभिलषित गति पाओगे ॥ ३३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ १७३८ ॥

: ३३ :

युधिष्ठिर उवाच–

किं राज्ञः सर्वकृत्यानां गरीयः स्यात्पितामह ।
किं कुर्वन्कर्म नृपतिरुभौ लोकौ समश्नुते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! राजाके सब प्राणियोंके विषयके कृत्योंमें किसका महत्त्व सबसे श्रेष्ठ है ? और कैसा कार्य करनेसे राजा इस लोकमें तथा परलोकमें सुख भोग करता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच–

एतद्राज्ञः कृत्यतममभिषिक्तस्य भारत ।
ब्राह्मणानामनुष्ठानमत्यन्तं सुखमिच्छता ।
श्रोत्रियान्ब्राह्मणान्वृद्धान्नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! अत्यन्त सुखकी इच्छा करनेवाले अभिषिक्त हुए राजाके लिये ब्राह्मणोंकी आराधना सेवा–पूजा ही मुख्य कार्य है । राजा वेदपारंगत ब्राह्मणोंकी तथा बडे–बूढोंकी सदाही पूजा करे ॥ २ ॥

पौरजानपदांश्चापि ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान् ।
सान्त्वेन भोगदानेन नमस्कारैरथार्चयेत् ॥ ३ ॥

पुरवासी और जनपदवासी बहुविद्याविशिष्ट ब्राह्मणोंकी मधुर वचन, भोगदान तथा नमस्कारके सहारे अर्चना करे ॥ ३ ॥

एतत्कृत्यतमं राज्ञो नित्यमेवेति लक्षयेत् ।
यथात्मानं यथा पुत्रांस्तथैतान्परिपालयेत् ॥ ४ ॥

राजाका यह अवश्य कर्त्तव्य है, इसका सदा विचार करना चाहिये; राजा जिस प्रकार अपनी और अपने पुत्रोंकी रक्षा करता है, वैसे ही ब्राह्मणोंका प्रतिपालन करे ॥ ४ ॥

ये चाप्येषां पूज्यतमास्तान्दृढं प्रतिपूजयेत् ।
तेषु शान्तेषु तद्राष्ट्रं सर्वमेव विराजते ॥ ५ ॥

उन लोगोंके बीच जो पूजनीय हो, उनकी दृढ चित्तसे पूजा करनी योग्य है; वे लोग जिस राज्यमें शान्त रहते हैं, वही राज्य सब भांतिसे स्थिर और सुखी रहता है ॥ ५ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्यास्ते रक्ष्याः पितरो यथा ।
तेष्वेव यात्रा लोकस्य भूतानामिव वासवे ॥ ६ ॥

ये लोग पितरोंकी भांति पूजनीय, वन्दनीय और रक्षाके योग्य हैं । जैसे वर्षा करनेवाले इन्द्रपर प्राणियोंकी जीवनयात्रा निभती है, वैसे ही ब्राह्मणोंसे समस्त लोकयात्रा हुआ करती है ॥ ६ ॥

अभिचारैरुपायैश्च दहेयुरपि तेजसा ।
निःशेषं कुपिताः कुर्युरुग्राः सत्यपराक्रमाः ॥ ७ ॥

सत्यपराक्रमी ब्राह्मण लोग कुपित तथा उग्रता अवलम्बन करके तेजसे ही लौकिक शास्त्रसिद्ध श्येनादि अभिचार उपायके सहारे सबको जलाते तथा सभीको निःशेष कर सकते हैं ॥ ७ ॥

नान्तमेषां प्रपश्यामि न दिशश्चाप्यपावृताः ।
कुपिताः समुदीक्षन्ते दावेष्वग्निशिखा इव ॥ ८ ॥

इनका अन्तःकरण जाना नहीं जाता, सब दिशा इनके निमित्त अनावृत हैं, ये क्रुद्ध होनेपर दावानलके मध्यमें स्थित अग्निशिखाकी भांति देखने लगते हैं ॥ ८ ॥

विद्यन्तेषां साहसिका गुणास्तेषामतीव हि ।
कूपा इव तृणच्छन्ना विशुद्धा द्यौरिवापरे ॥ ९ ॥

इनमें साहसिक गुण अधिक होते हैं; इनके बीच कोई तृणसे छिपे हुए कूएंके सदृश और कोई निर्मल.आकाशवत् विशुद्ध हैं ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षकारिणः केचित्कार्पासमृदवोऽपरे ।
सन्ति चैषामतिशठास्तथान्येऽतितपस्विनः ॥ १० ॥

कोई कोई असह्य पीडा देनेवाले और कोई रूईकी तरह मृदुता अवलम्बन करनेवाले हैं, इनके बीच बहुतेरे अत्यन्त शठ और बहुतेरे तपस्वी भी हुआ करते हैं ॥ १० ॥

कृषिगोरक्ष्यमप्यन्ये भैक्ष्यमन्येऽप्यनुष्ठिताः ।
चोराश्चान्येऽनृताश्चान्ये तथान्ये नटनर्तकाः ॥ ११ ॥

कितने ही कृषिकार्य और गोपालन करते हैं, कोई कोई भिक्षावृत्ति अवलम्बन किया करते हैं। कोई कोई चौर्यवृत्तिमें रत रहते और कितने ही मिथ्या कलहप्रिय और दूसरे कितने ही नट नर्तक हैं ॥ ११ ॥

सर्वकर्मसु दृश्यन्ते प्रशान्तेष्वितरेषु च ।
विविधाचारयुक्ताश्च ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! दूसरे अनेक प्रकारके ब्राह्मणवृन्द अन्य लोगोंके समीप समस्त कार्य नम्र भावसे कर सकते हैं; अनेक ब्राह्मण नाना प्रकारके वर्तन करते हैं ॥ १२ ॥

नानाकर्मसु युक्तानां बहुकर्मोपजीविनाम् ।
धर्मज्ञानां सतां तेषां नित्यमेवानुकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अनेक प्रकारके कर्मोंमें युक्त तथा अनेक प्रकारके कर्मोंसे जीविका चलानेवाले उन धर्मज्ञ और साधु ब्राह्मणोंका सदा ही गुण गाना उचित है ॥ १३ ॥

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।
पुरोहिता महाभागा ब्राह्मणा वै नराधिप ॥ १४ ॥

हे जननाथ ! पहलेसे ही ये महाभाग ब्राह्मण लोग पितर, देवता, मनुष्य, उरग और राक्षसोंके भी पुरोहित हैं ॥ १४ ॥

नैते देवैर्न पितृभिर्न गन्धर्वैर्न राक्षसैः ।
नासुरैर्न पिशाचैश्च शक्या जेतुं द्विजातयः ॥ १५ ॥

देवगण, पितर, गन्धर्व, और राक्षस, असुर और पिशाचोंसे ये द्विजातीवृन्द कदापि जीते जा नहीं सकते ॥ १५ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
यमिच्छेयुः स राजा स्याद्यं द्विष्युः स पराभवेत् ॥ १६ ॥

ये लोग जो देवता नहीं है, उसे देवता बना दें, और जो देवता हैं उसे देवत्वसे गिरा सकते हैं; ये जिसके निमित्त इच्छा करें, वह राजा हो जावे, जो इनका शत्रु है वह पराभूत होता है ॥ १६ ॥

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः ।
निन्दाप्रशंसाकुशलाः कीर्त्यकीर्तिपरावराः ।
परिकुप्यन्ति ते राजन्सततं द्विषतां द्विजाः ॥ १७ ॥

हे महाराज ! जो अज्ञानी मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, जो लोग निन्दा और प्रशंसा करनेमें निपुण तथा कीर्ति–अकीर्तिपरायण श्रेष्ठ हैं, वे द्विज अपने प्रति द्वेष करनेवाले पुरुषोंके ऊपर सदा कोपित हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति पुरुषः स प्रवर्धते ।
ब्राह्मणैर्यः पराक्रुष्टः पराभूयात्क्षणाद्धि सः ॥ १८ ॥

ब्राह्मण लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस पुरुषका अभ्युदय होता है और जिसको ब्राह्मण लोग निकृष्ट समझते हैं, वह क्षणभरमें पतित होता है ॥ १८ ॥

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १९ ॥

शक, यवन और काम्बोज आदि क्षत्रिय जातियां थीं; परंतु ब्राह्मणोंके अननुग्रह निबन्धनसे चाण्डालत्वको प्राप्त हुई हैं ॥ १९ ॥

द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।
कौलाः सर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥ २० ॥

द्रविड, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कौल, सर्प और माहिषक प्रभृति क्षत्रिय जातियां ॥२०॥

वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ।
श्रेयान्पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥ २१ ॥

ब्राह्मणोंकी कृपाके अभावसे शूद्रत्वको प्राप्त हुई हैं । हे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ ! उनके निकट पराजय होना उत्तम है, जय कल्याणकारी नहीं है ॥ २१ ॥

यस्तु सर्वमिदं हन्याद्ब्राह्मणं च न तत्समम् ।
ब्रह्मवध्या महान्दोष इत्याहुः परमर्षयः ॥ २२ ॥

इस समस्त जगत्को मारना एक ब्राह्मणका वध करनेके तुल्य नहीं है। महर्षियोंने कहा है, कि ब्रह्महत्या महान् दोष है ॥ २२ ॥

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन ।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेत वा ॥ २३ ॥

द्विजातियोंकी निन्दा किसी तरह नहीं सुननी चाहिये; जहां उनकी निन्दा होती हो, वहां मुंह नीचे करके मौनावलम्बन करके बैठे रहना अथवा वहांसे उठके दूसरे स्थानमें चला जावे ॥ २३ ॥

न स जातो जनिष्यो वा पृथिव्यामिह कश्चन ।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ २४ ॥

जो ब्राह्मणोंके संग विरोध करके सुखपूर्वक जीनेका उत्साह करे, इस भूमण्डलपर ऐसा कोई पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ और आगे भी न होगा ॥ २४ ॥

दुर्ग्रहो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ १७६३ ॥

हे महाराज ! जैसे वायु मुट्ठीमें ग्रहण नहीं की जाती, जैसे चन्द्रमाको हाथसे स्पर्श करना सम्भव नहीं है और जैसे पृथिवीको मस्तकपर धारण नहीं किया जा सकता, वैसे ही इस पृथ्वीमण्डलपर ब्राह्मणोंको भी कोई जीतनेमें समर्थ नहीं होता ॥ २५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तेतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ १७६३ ॥

: ३४ :

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणानेव सततं भृशं संप्रतिपूजयेत् ।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— ब्राह्मणोंकी सदा पूरी रीतिसे पूजा करे, येही सुखदुःखके नियन्ता हैं और चन्द्रमा ही इनके राजा हैं ॥ १ ॥

एते भोगैरलंकारैरन्यैश्चैव किमिच्छकैः ।
सदा पूज्या नमस्कार्या रक्ष्याश्च पितृवन्नृपैः ।
अतो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात् ॥ २ ॥

हे महाराज ! ये लोग राजाओंसे भोग, आभूषण तथा दूसरे अभिलषित विषय देकर नमस्कार आदिके द्वारा सदा पूजनीय हैं और पितृवत् रक्षणीय हैं । जैसे इन्द्रसे वृष्टि होने पर सब प्राणियोंको सुख–शान्ति मिलती है, वैसे ही ब्राह्मणोंके द्वारा राज्यमें शान्ति हुआ करती है ॥ २ ॥

जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः ।
महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः ॥ ३ ॥

राज्यमें ब्रह्मवर्चस्वी पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हो और क्षत्रिय महारथी तथा शत्रुतापन होवें, ऐसी इच्छा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

×

ब्राह्मणं जातिसंपन्नं धर्मज्ञं संशितव्रतम् ।
वासयेत गृहे राजन् तस्मात्परमस्ति वै ॥ ४ ॥

हे महाराज ! सबके ऐश्वर्यके निमित्त गृहके बीच विशुद्ध जातियुक्त, धर्म जाननेवाले, अत्यंत उग्र व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंका वास करावे, उससे श्रेष्ठ और कुछ भी पुण्य कर्म नहीं है ॥ ४ ॥

ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्तं प्रतिगृह्णन्ति देवताः ।
पितरः सर्वभूतानां नैतेभ्यो विद्यते परम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंको जो हवि दिया जाता है, देवता और पितर उसे ही ग्रहण करते हैं; सब प्राणियोंके बीच ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, ऐसा जानो ॥ ५ ॥

आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्भूमिरापोऽम्बरं दिशः ।
सर्वे ब्राह्मणमाविश्य सदान्नमुपभुञ्जते ॥ ६ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथ्वी जल, आकाश और सब दिशा–ब्राह्मणके शरीरमें आविष्ट होकर सदा अन्न उपभोग करते हैं ॥ ६ ॥

न तस्याश्नन्ति पितरो यस्य विप्रा न भुञ्जते ।
देवाश्चाप्यस्य नाश्नन्ति पापस्य ब्राह्मणद्विषः ॥ ७ ॥

जिसके घरमें कोई ब्राह्मण भोजन नहीं करते, उसके अन्नको पितर भी नहीं स्वीकार करते; और देवतावृन्द भी उस पापाचारी ब्राह्मणद्वेषीका अन्न ग्रहण नहीं करते ॥ ७ ॥

ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रीयन्ते पितरः सदा ।
तथैव देवता राजन्नात्र कार्या विचारणा ॥ ८ ॥

ब्राह्मणोंके सन्तुष्ट रहनेसे पितर लोग सदा प्रसन्न रहते हैं और देवता लोग भी उसी भांति प्रसन्न होते हैं, हे महाराज ! इस विषयमें विचार करना उचित नहीं है ॥ ८ ॥

तथैव तेऽपि प्रीयन्ते येषां भवति तद्धविः ।
न च प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ ९ ॥

जिनकी दी हुई हवि ब्राह्मण ग्रहण करते हैं, वे लोग भी प्रसन्न हुआ करते हैं, वेही परलोकमें जाके विनष्ट नहीं होते, बल्कि परम गति पाते हैं ॥ ९ ॥

येन येनैव हविषा ब्राह्मणांस्तर्पयेन्नरः ।
तेन तेनैव प्रीयन्ते पितरो देवतास्तथा ॥ १० ॥

मनुष्य जिन जिन हविष्य–वस्तुओंसे ब्राह्मणोंको तृप्त करता है, देवता और पितृगण उन्हीं वस्तुओंसे तृप्तिलाभ किया करते हैं ॥ १० ॥

ब्राह्मणादेव तद्भूतं प्रभवन्ति यतः प्रजाः ।
यतश्चायं प्रभवति प्रेत्य यत्र च गच्छति ॥ ११ ॥

जिससे प्रजासमूहकी उत्पत्ति होती है, ब्राह्मणोंसे ही वे यज्ञादि कर्म सम्पन्न होते हैं। यह जीव जिससे उत्पन्न होता है और परलोकमें जिस स्थानमें जाता है ॥ ११ ॥

वेदैष मार्गं स्वर्गस्य तथैव नरकस्य च ।
आगतानागते चोभे ब्राह्मणो द्विपदां वरः ।
ब्राह्मणो भरतश्रेष्ठ स्वधर्मं वेद मेधया ॥ १२ ॥

उस तत्त्वको, स्वर्ग और नरकके मार्गको ब्राह्मण जानता है; हे भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंके बीच ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, जो आगत और अनागत विषयोंको जाननेमें समर्थ है तथा जो अपना धर्म बुद्धिसे जानता है, वही ब्राह्मण है ॥ १२ ॥

ये चैनमनुवर्तन्ते ते न यान्ति पराभवम् ।
न ते प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति न पराभवम् ॥ १३ ॥

जो लोग ब्राह्मणोंका अनुसरण करते हैं, वे पराजित नहीं होते, परलोकमें जाकर विनष्ट नहीं होते और न उनकी पराभव होती है ॥ १३ ॥

ये ब्राह्मणमुखात्प्राप्तं प्रतिगृह्णन्ति वै वचः ।
कृतात्मानो महात्मानस्ते न यान्ति पराभवम् ॥ १४ ॥

जो सब चित्तविजयी महात्मा लोग ब्राह्मणके मुखसे बाहिर हुए वचनको प्रतिग्रह करते हैं, उनका पराभव नहीं होता ॥ १४ ॥

क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च ।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च बलानि च ॥ १५ ॥

अपने तेज और बलसे दूसरोंको तपानेवाले क्षत्रियोंके बल और तेज ब्राह्मणके समीपही पराजित होते हैं ॥ १५ ॥

भृगवोऽजयंस्तालजङ्घान्नीपानङ्गिरसोऽजयन् ।
भरद्वाजो वैतहव्यानैलांश्च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! भृगुवंशीय ब्राह्मणोंने तालजङ्घोंको जीता था। अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने नीप-वंशीय क्षत्रियोंको जय किया और भरद्वाजने वैतहव्य और ऐल राजाओंको जीता था ॥ १६ ॥

चित्रायुधांश्चाप्यजयन्नेते कृष्णाजिनध्वजाः ।
प्रक्षिप्याथ च कुम्भान्वै पारगामिनमारभेत् ॥ १७ ॥

कृष्णमृगचर्म धारण करनेवाले इन ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके विचित्र आयुध रखनेवाले क्षत्रियोंको हराया था। ब्राह्मणोंको जलसे भरे हुए कलश दान करके पारलौकिक कर्मका आरम्भ करे ॥ १७ ॥

यत्किञ्चित्कथ्यते लोके श्रूयते पठ्यतेऽपि वा ।
सर्वं तद्ब्राह्मणेष्वेव गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ १८ ॥

इस लोकमें जो कुछ कहा, सुना या पढा जाता है, वह सब लकडीके बीच छिपी हुई अग्निकी भांति ब्राह्मणोंमें विद्यमान है ॥ १८ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य पृथ्व्याश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें श्रीकृष्ण और पृथ्वीके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया जाता है ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच—

मातरं सर्वभूतानां पृच्छे त्वा संशयं शुभे ।
केनस्वित्कर्मणा पापं व्यपोहति नरो गृही ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे शुभे ! तुम सब प्राणियोंकी जननी हो, इसलिये तुमसे मैं यह सन्देहका विषय पूछता हूं, कि गृहस्थ मनुष्य किस कर्मके सहारे पापसे छूटता है ? ॥ २० ॥

पृथिव्युवाच—

ब्राह्मणानेव सेवेत पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ।
ब्राह्मणान्सेवमानस्य रजः सर्वं प्रणश्यति ॥ २१ ॥

पृथ्वी बोली— इसके लिये मनुष्य ब्राह्मणोंकी ही सेवा करे, यही उत्तम और पवित्र कर्म है; जो ब्राह्मणोंकी सेवा करता है, उसका सब रजोगुण नष्ट होता है ॥ २१ ॥॥

अतो भूतिरतः कीर्तिरतो बुद्धिः प्रजायते ।
अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चैव ये परे ॥ २२ ॥

ब्राह्मणकी सेवा करनेसे ऐश्वर्य, कीर्ति और आत्मज्ञान प्राप्त होता है । श्रेष्ठ और निकृष्टके बीच जो लोग श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ हैं, उनसे भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ २२ ॥

ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति पुरुषः स प्रवर्धते ।
अथ यो ब्राह्मणाक्रुष्टः पराभवति सोऽचिरात् ॥ २३ ॥

वे ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, वह पुरुष वर्द्धित होता है और जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, वह शीघ्रही पराभवको प्राप्त हुआ करता है ॥ २३ ॥

यथा महार्णवे क्षिप्त आमलोष्टो विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं कर्म पराभावाय कल्पते ॥ २४ ॥

जैसे महासागरमें फेंकनेसे कच्ची मिट्टीका ढेला विनष्ट होता है, वैसे ही ब्राह्मणोंके निकट दुष्कर्म नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

पश्य चन्द्रे कृतं लक्ष्म समुद्रे लवणोदकम् ।
तथा भगसहस्रेण महेन्द्रं परिचिह्नितम् ॥ २५ ॥

देखिये, चन्द्रमा कलङ्कसे और समुद्र खारे पानीसे युक्त है और महेन्द्रको सहस्र भगचिन्ह-सम्पन्न हो गये ॥ २५ ॥

तेषामेव प्रभावेन सहस्रनयनो ह्यसौ ।
शतक्रतुः समभवत्पश्य माधव यादृशम् ॥ २६ ॥

फिर उन्हीं ब्राह्मणोंके प्रभावसे वे भग सहस्रनेत्रके रूपमें बदल गये । जिस कारण देवराज शतक्रतु इन्द्र सहस्राक्ष हुए हैं । हे माधव ! द्विजगणका यह प्रभाव अवलोकन करो ॥२६॥

इच्छन्भूतिं च कीर्तिं च लोकांश्च मधुसूदन ।
ब्राह्मणानुमते तिष्ठेत्पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ २७ ॥

हे मधुसूदन ! जो पुरुष ऐश्वर्य, कीर्त्ति और शुभ लोकोंकी कामना करता है, वह पवित्र तथा शुद्धचित्त होकर ब्राह्मणोंके अनुज्ञावर्त्ती होवे ॥ २७ ॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा मेदिन्या मधुसूदनः ।
साधु साध्वित्यथेत्युक्त्वा मेदिनीं प्रत्यपूजयत् ॥ २८ ॥

भगवान् मधुसूदनने पृथ्वीका यह सब वचन सुनके साधु साधु कहके उसकी बहुत प्रशंसा की ॥ २८ ॥

एतां श्रुत्वोपमां पार्थ प्रयतो ब्राह्मणर्षभान् ।
सततं पूजयेथास्त्वं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ १७९२ ॥

हे कुरुनन्दन ! तुम इस ही उदाहरणको सुनके सावधान होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करो, तो तुम्हारा कल्याण होगा ॥ २९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ १७९२ ॥

: ३५ :

भीष्म उवाच—

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते ।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— ब्राह्मण जन्मतः ही महाभाग्यशाली, सब प्राणियोंके वंदनीय और अतिथि होकर, भली भांति पके हुए अन्न आदिके प्रथम भोक्ता है ॥ १ ॥

सर्वान्नः सुहृदस्तात ब्राह्मणाः सुमनोमुखाः ।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरनुध्यायन्ति पूजिताः ॥ २ ॥

हे तात ! देवताओंके मुखस्वरूप ब्राह्मण लोग हम उनके ही मित्र हैं और उनके प्रभावसे ही धर्मादि अर्थ सिद्ध होते हैं; वे पूजित होनेपर मंगलयुक्त वाणीसे आशीर्वाद देकर कल्याणकी कामना करते हैं ॥ २ ॥

सर्वान्नो द्विषतस्तात ब्राह्मणा जातमन्यवः ।
गीर्भिर्दारुणयुक्ताभिरभिहन्युरपूजिताः ॥ ३ ॥

हे तात ! ब्राह्मण हम लोगोंके शत्रुओंके द्वारा असम्मानित होनेपर क्रुद्ध होकर कठोर वाणीसे उन्हें अभिशाप देकर नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
सृष्ट्वा द्विजातीन्धाता हि यथापूर्वं समादधत् ॥ ४ ॥

पुराण जाननेवाले, पण्डित लोग इस विषयमें जिस प्रकार पहले विधाताने द्विजातियोंको उत्पन्न करके नियमित किया था, उस ही ब्रह्माकी कही हुई अपूर्व गाथाको गाया करते हैं ॥ ४ ॥

न वोऽन्यदिह कर्तव्यं किंचिदूर्ध्वं यथाविधि ।
गुप्ता गोपायत ब्रह्म श्रेयो वस्तेन शोभनम् ॥ ५ ॥

इस लोकमें तुम लोगोंके लिये विधिपूर्वक निर्दिष्ट कर्म और ब्राह्मणोंकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी कर्तव्य नहीं है । ब्राह्मणकी रक्षा करें, तो वह स्वयं अपने रक्षककी रक्षा करेगा; उससे तुम्हारा उत्तम कल्याण होगा ॥ ५ ॥

स्वमेव कुर्वतां कर्म श्रीर्वो ब्राह्मी भविष्यति ।
प्रमाणं सर्वभूतानां प्रग्रहं च गमिष्यथ ॥ ६ ॥

अपना कर्म करनेसे तुम लोगोंको ब्राह्मी श्री प्राप्त होगी, तुम लोग सब भूतोंके कर्तव्यके निश्चय करनेवाले और नियंता होगे ॥ ६ ॥

न शौद्रं कर्म कर्तव्यं ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
शौद्रं हि कुर्वतः कर्म धर्मः समुपरुध्यते ॥ ७ ॥

विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रका कर्म करना उचित नहीं है । ब्राह्मण यदि शूद्रका कर्म करे, तो उसका धर्म नष्ट हुआ करता है ॥ ७ ॥

श्रीश्च बुद्धिश्च तेजश्च विभूतिश्च प्रतापिनी ।
स्वाध्यायेनैव माहात्म्यं विमलं प्रतिपत्स्यथ ॥ ८ ॥

स्वधर्मका पालन करनेसे श्री, बुद्धि, तेज, प्रतापशाली ऐश्वर्य मिलता है; और निज शाखोक्त वेद पाठसे विपुल माहात्म्य प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

हुत्वा चाहवनीयस्थं महाभाग्ये प्रतिष्ठिताः ।
अग्रभोज्याः प्रसूतीनां श्रिया ब्राह्म्यानुकल्पिताः ॥ ९ ॥

आहवनीय अग्निमें स्थित देवताओंको आहुति देकर ब्राह्मण महान् ऐश्वर्यकी प्रतिष्ठा लाभ करते हैं; वे ब्राह्मी विद्यासे श्रेष्ठ बनकर बालकोंसे भी पहले भोजन करनेके अधिकारी होते हैं ॥ ९ ॥

अद्रुहा परया युक्ता सन्निरोधेन लब्धया ।
दमस्वाध्यायनिरताः सर्वान्कामानवाप्स्यथ ॥ १० ॥

किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करनेके कारण प्राप्त परम श्रद्धायुक्त हो इंद्रिय संयम तथा स्वाध्यायमें रत होकर रहोगे तो समस्त काम्यवस्तु पाओगे ॥ १० ॥

यच्चैव मानुषे लोके यच्च देवेषु किंचन ।
सर्वं तत्तपसा साध्यं ज्ञानेन विनयेन च ॥ ११ ॥

मनुष्यलोक और देवतालोकमें जो कुछ है, वह सब ज्ञान, विनय और तपस्याके सहारे प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

इत्येता ब्रह्मगीतास्ते समाख्याता मयानघ ।
विप्रानुकम्पार्थमिदं तेन प्रोक्तं हि धीमता ॥ १२ ॥

हे पापरहित ! यह मैंने ब्रह्माकी गायी हुई गाथा समस्त तुम्हें कही है; ब्राह्मणोंके विषयमें अनुग्रहके लिये बुद्धिसे युक्त प्रजापतिने यह गाथा कही थी ॥ १२ ॥

भूयस्तेषां बलं मन्ये यथा राजंस्तपस्विनः ।
दुरासदाश्च चण्डाश्च रभसाः क्षिप्रकारिणः ॥ १३ ॥

जैसा राजाका बल है, तपस्वियोंका भी वैसा ही बल मैं मानता हूं । ब्राह्मण लोग दुर्जय, प्रचण्ड, वेगशाली और शीघ्रकारी होनेपर भी पूजनीय हैं ॥ १३ ॥

सन्त्येषां सिंहसत्त्वाश्च व्याघ्रसत्त्वास्तथापरे ।
वराहमृगसत्त्वाश्च गजसत्त्वास्तथापरे ॥ १४ ॥

इनके बीच कोई कोई सिंहके समान बलशाली हैं, कोई कोई शार्दूलके सदृश पराक्रमी हैं, कोई वराहके समान तेजस्वी, कोई मृगसदृश बलसे युक्त हैं, कितने ही जल– जन्तुओंके सदृश बलसे सम्पन्न हैं ॥ १४ ॥

कर्पासमृदवः केचित्तथान्ये मकरस्पृशः ।
विभाष्यघातिनः केचित्तथा चक्षुर्हणोऽपरे ॥ १५ ॥

कोई कोई कपासके पौधेके सदृश कोमल हैं, कोई मकरके समान स्पर्शमात्रसे ग्रहण करनेवाले, कोई वाक्यके सहारे नष्ट करते और कोई नेत्रसे ही जलाया करते हैं ॥ १५ ॥

सन्ति चाशीविषनिभाः सन्ति मन्दास्तथापरे ।
विविधानीह वृत्तानि ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ॥ १६ ॥

कोई कोई विषधर सर्पके समान भयंकर हैं और कोई कोई मन्द स्वभाववाले भी हैं । हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें ब्राह्मणोंका स्वभाव अनेक प्रकारका है ॥ १६ ॥

मेकला द्रमिडाः लाटाः पौण्ड्राः कोल्लगिरास्तथा ।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः ॥ १७ ॥

मेकल, द्रविड, लाट, पौण्ड्र, कोल्लगिरा, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्बर ॥१७॥

किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १८ ॥

किरात और यवन प्रभृति सब क्षत्रिय थे परंतु ब्राह्मणोंका संग, दर्शन न होनेके कारण नीच होगये हैं ॥ १८ ॥

ब्राह्मणानां परिभवादसुराः सलिलेशयाः ।
ब्राह्मणानां प्रसादाच्च देवाः स्वर्गनिवासिनः ॥ १९ ॥

ब्राह्मणोंके सङ्ग द्वेष करनेसे असुरवृन्द पातालमें निवास करते हैं और देवगण ब्राह्मणोंकी कृपासे स्वर्गनिवासी हुए हैं ॥ १९ ॥

अशक्यं स्प्रष्टुमाकाशमचाल्यो हिमवान्गिरिः ।
अवार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २० ॥

आकाशको स्पर्श नहीं किया जा सकता, हिमालय पहाडको हटानेमें किसीका सामर्थ्य नहीं है, पुलसे गंगाको धारण नहीं किया जाता और इस भूमण्डलमें ब्राह्मणोंको जय नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

न ब्राह्मणविरोधेन शक्या शास्तुं वसुंधरा ।
ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः ॥ २१ ॥

ब्राह्मणोंके सङ्ग विरोध करके इस पृथ्वीको शासन करनेमें किसीका भी सामर्थ्य नहीं है । महानुभाव ब्राह्मणगण देवताओंके भी देवता हैं ॥ २१ ॥

तान्पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया ।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम् ॥ २२ ॥

इसलिये यदि इस समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको भोग करनेकी इच्छा करते हो, तो दान और सेवासे सदा उन ब्राह्मण लोगोंकी पूजा किया करो ॥ २२ ॥

प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणां शाम्यतेऽनघ ।
प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेऽपि रक्ष्यास्त्वयानघ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ १८१५ ॥

हे पापरहित ! दान लेनेसे ब्राह्मणोंका तेज शान्त होता है । हे महाराज ! इसलिये जो दान लेनेकी इच्छा नहीं करते उनकी भी तुम रक्षा करना ॥ २३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ १८१५ ॥

: ३६ :

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शक्रशम्बरसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन लोग इन्द्र और शम्बरके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं, तुम सुनो ॥ १ ॥

शक्रो ह्यज्ञातरूपेण जटी भूत्वा रजोरुणः ।
विरूपं रूपमास्थाय प्रश्नं पप्रच्छ शम्बरम् ॥ २ ॥

देवराज इन्द्रने वेष बदलके तथा रजोगुणयुक्त जटाधारी तपस्वी होकर अत्यंत विरूप बनकर शम्बरसे प्रश्न किया था ॥ २ ॥

केन शम्बर वृत्तेन स्वजात्यानधितिष्ठसि ।
श्रेष्ठं त्वां केन मन्यन्ते तन्मे प्रब्रूहि पृच्छतः ॥ ३ ॥

हे शम्बर ! तुम कैसे व्यवहारसे अपनी जातिके बीच श्रेष्ठ रूपसे निवास करते हो ? किस लिये तुम्हें सब कोई श्रेष्ठ समझते हैं ? इस विषयको मुझे यथार्थ रीतिसे वर्णन करो ॥ ३ ॥

शम्बर उवाच—

नासूयामि सदा विप्रान्ब्रह्माणं च पितामहम् ।
शास्त्राणि वदतो विप्रान्संमन्यामि यथासुखम् ॥ ४ ॥

शम्बर बोला— मैं कभी भी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता, पितामह ब्रह्माका सत्कार करता हूं; जो सब ब्राह्मण शास्त्रीय कथा कहते हैं, मैं सुखपूर्वक उनका संमान किया करता हूं ॥ ४ ॥

श्रुत्वा च नावजानामि नापराध्यामि कर्हिचित् ।
अभ्यर्च्यानुपृच्छामि पादौ गृह्णामि धीमताम् ॥ ५ ॥

शास्त्र सुनके मैं उनके वचनोंकी अवज्ञा नहीं करता, कभी किसीके समीप अपराधी नहीं होता, बुद्धिमान् द्विजातियोंकी पूजा करता, उनके चरण ग्रहण करता, तथा उन लोगोंके समीप कुशल प्रश्न किया करता हूं ॥ ५ ॥

ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा ।
प्रमत्तेष्वप्रमत्तोऽस्मि सदा सुप्तेषु जागृमि ॥ ६ ॥

वे लोग भी विश्वासी होकर मेरे साथ बात करते और मुझसे सदा कुशल प्रश्न किया करते हैं; उनके असावधान रहनेपर भी मैं अप्रमत्त तथा उनके शयन करनेपर भी मैं सदा जाग्रत रहता हूं ॥ ६ ॥

ते मा शास्त्रपथे युक्तं ब्रह्मण्यमनसूयकम् ।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः ॥ ७ ॥

जैसे मधुमक्खियां अपने छत्ते में मधु इकट्ठा करती हैं, वैसे ही वे नियन्ता ब्राह्मण शास्त्रपथमें सदा नियुक्त रहनेवाले मुझ ब्रह्मनिष्ठ, अनसूयक पूर्ण रीतिसे अमृतसमान विद्यासेचन किया करते हैं ॥ ७ ॥

यच्च भाषन्ति ते तुष्टास्तद् गृह्णामि मेधया ।
समाधिमात्मनो नित्यमनुलोममचिन्तयन् ॥ ८ ॥

वे लोग सन्तुष्ट होकर जो कुछ कहते हैं, मैं बुद्धिके सहारे उसे ग्रहण करता हूं; सदा उनके अनुकूल भावसे ब्राह्मणोंमें अपनी निष्ठा बनाये रखता हूं ॥ ८ ॥

सोऽहं वाग्ग्रसृष्टानां रसानामवलेहकः ।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ९ ॥

जैसे चन्द्रमा नक्षत्रमण्डलीका स्वामी है, वैसे ही जिन लोगोंके वाग्यन्त्रके अग्रभाग जिह्वामें विद्यारूपी अमृत है, उस ही विद्यारूपी रसका पान करते हुए निज जातिके बीच श्रेष्ठरूपसे निवास करता हूं ॥ ९ ॥

एतत्पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद्ब्राह्मणमुखाच्छास्त्रमिह श्रुत्वा प्रवर्तते ॥ १० ॥

ब्राह्मणोंके मुखसे शास्त्र सुनके इस जीवनमें उसके अनुसार जैसा अनुष्ठान किया जाता है, इस लोकमें वही अमृत है और वही उत्तम नेत्रस्वरूप है ॥ १० ॥

एतत्कारणमाज्ञाय दृष्ट्वा देवासुरं पुरा ।
युद्धं पिता मे हृष्टात्मा विस्मितः प्रत्यपद्यत ॥ ११ ॥

पहले समयमें मेरे पिता इस कारणको जानके तथा देवासुर युद्धको उपस्थित हुआ देखकर प्रसन्नचित्त और विस्मित हुए थे ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च ब्राह्मणानां तु महिमानं महात्मनाम् ।
पर्यपृच्छत्कथमिमे सिद्धा इति निशाकरम् ॥ १२ ॥

उन्होंने महानुभाव ब्राह्मणोंकी महिमा देखकर चन्द्रमासे पूछा था, कि ये लोग किस प्रकार सिद्ध हुए हैं ॥ १२ ॥

सोम उवाच—

ब्राह्मणास्तपसा सर्वे सिध्यन्ते वाग्बलाः सदा ।
भुजवीर्या हि राजानो वागस्त्राश्च द्विजातयः ॥ १३ ॥

चन्द्रमा बोले— सब ब्राह्मण तपस्याके सहारे सिद्ध होते हैं, इनका बल सदा इनकी वाणीमें है । राजा लोग बाहुबलशाली और ब्राह्मण लोग वाक्यरूपी बलसे सम्पन्न हैं ॥ १३ ॥

प्रवसन्नप्यधीयीत बह्वीर्दुर्वसतीर्वसन् ।
निर्मन्युरपि निर्मानो यतिः स्यात्समदर्शनः ॥ १४ ॥

ब्राह्मण लोग गुरुके गृहमें निवास करके अत्यंत क्लेश सहते हुए वेदाध्ययन करें । फिर क्रोधका त्याग करके अहंकारको छोडे; संन्यासी हो तो सर्वत्र समान दृष्टि रखे ॥ १४ ॥

अपि चेज्जातिसंपन्नः सर्वान्वेदान्पितुर्गृहे ।
श्लाघमान इवाधीयेद्ग्राम्य इत्येव तं विदुः ॥ १५ ॥

जो कुल सम्पन्न ब्राह्मण पितृगृहमें समस्त वेद पढता है, वह प्रशंसनीय होनेपर भी ग्राम्य कहके समझा जाता है ॥ १५ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १६ ॥

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले जीवोंको ग्रास करता है, वैसे ही भूमिका तेज युद्ध न करनेवाले राजा और विद्याके लिये प्रवास न करनेवाले ब्राह्मणको यह पृथ्वी ग्रास किया करती है ॥ १६ ॥

अतिमानः श्रियं हन्ति पुरुषस्याल्पमेधसः ।
गर्भेण दुष्यते कन्या गृहवासेन च द्विजः ॥ १७ ॥

अल्पबुद्धि पुरुषके भीतर जो अत्यंत अभिमान होता है, वह उसकी लक्ष्मीका नाश करता है; गर्भ धारणके कारण कन्या दूषित होती है और गृहवास निबन्धनसे ब्राह्मण दूषित होता है ॥ १७ ॥

इत्येतन्मे पिता श्रुत्वा सोमादद्भुतदर्शनात् ।
ब्राह्मणान्पूजयामास तथैवाहं महाव्रतान् ॥ १८ ॥

अद्भुतदर्शनवाले चन्द्रमाके निकट यह वृत्तान्त सुनकर मेरे पिताने महाव्रती ब्राह्मणोंका पूजन किया; मैं भी उस ही भांति उन लोगोंकी पूजा किया करता हूं ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच—

श्रुत्वैतद्वचनं शक्रो दानवेन्द्रमुखाच्च्युतम् ।
द्विजान्संपूजयामास महेन्द्रत्वमवाप च ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ १८३४ ॥

भीष्म बोले— देवराजने दानवेन्द्र शम्बरके मुखसे निकले हुए सब वचन सुनकर पूर्णरीतिसे ब्राह्मणोंकी पूजा की, इसहीसे उन्हें महेन्द्रत्वकी प्राप्ति हुई ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ १८३४ ॥

: ३७ :

युधिष्ठिर उवाच—

अपूर्वं वा भवेत्पात्रमथ वापि चिरोषितम् ।
दूरादभ्यागतं वापि किं पात्रं स्यात्पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! पहलेका अपरिचित पुरुष या बहुत दिनोंसे अपने साथ रहकर परिचित हुआ पुरुष अथवा दूरदेशका अभ्यागत, इनके बीच कौन दानका उत्तम पात्र है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम् ।
यो यो याचेत यत्किंचित्सर्वं दद्याम इत्युत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— कोई कोई याचक यज्ञ या गुरुदक्षिणाके निमित्त, कोई परिवारका पालन करनेके लिये अभिलाषा करते हैं; कोई मौनव्रत या संन्यास धर्मका अवलम्बन करके जीवन निर्वाह करना चाहते हैं; उनके बीच जो जिस वस्तुके निमित्त प्रार्थना करें, उन सबके लिये ' हम देंगे ' यही कहना चाहिये ॥ २ ॥

अपीडयन्भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम ।
पीडयन्भृत्यवर्गं हि ह्यात्मानमपकर्षति ॥ ३ ॥

मैंने ऐसा सुना है, कि सेवकवर्गको पीडित न करके, उनको कष्ट दिये बिना ही दाता दान करे; जो सेवकोंको पीडित करके दान करता है, वह अपनी ही बुराई करता है ॥ ३ ॥

अपूर्वं वापि यत्पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम् ।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

यज्ञादि कर्म और मौनव्रत आदिके तारतम्यके अनुसार पात्रमें भी तारतम्य हुआ करता है। इसलिये पहलेसे अपरिचित, या जो चिरकालसे साथ रहा है, अथवा जो दूरदेशसे आया है इनको पण्डित लोग दानके पात्र मानते हैं ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अपीडया च भृत्यानां धर्मस्या हिंसया तथा ।
पात्रं विद्याम तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले— जीवोंको पीडा न देकर और धर्ममें विघ्न न लाते हुए दान देना योग्य है, परंतु वैसा यथार्थ पात्र कौन है, यह कैसे समझें ? जिससे दिया दान पीछेसे दुःखका कारण नहीं होवे ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्याः संबन्धिबान्धवाः ।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवृत्तोपसंहिताः ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, शास्त्रज्ञ और वेदज्ञ पुरुष— ये सब ही पूज्य और माननीय हैं ॥ ६ ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम् ।
तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान्प्रणिधाय वै ॥ ७ ॥

और जो लोग इनके विपरीत हैं, वे सत्कारके योग्य नहीं हैं; इसलिये सदा एकाग्र चित्त-पूर्वक सुपात्र पुरुषोंकी परीक्षा करनी उचित है ॥ ७ ॥

अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम् ।
अद्रोहो नातिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा तपः शमः ॥ ८ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत ।
भावतो विनिविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥ ९ ॥

हे भारत! जिस पुरुषके अक्रोध, सत्यवचन, अहिंसा, इन्द्रिय संयम, सरलता, द्रोहहीनता, अभिमान रहितता, लज्जा, सहनशीलता, तपस्या और मनोनिग्रह ये गुण दीखते हैं और स्वभावसे ही समस्त कार्य धर्म विरुद्ध नहीं होते, वेही दानके पात्र और सम्मानके अधिकारी हैं ॥ ८–९ ॥

तथा चिरोषितं चापि संप्रत्यागतमेव च ।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥ १० ॥

जो बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हो, जो तत्काल आया हो, वह पूर्वपरिचित और अपरिचित हो, वह दानका पात्र और सम्मानका भाजन है ॥ १० ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चातिलङ्घनम् ।
सर्वत्र चानवस्थानमेतन्नाशनमात्मनः ॥ ११ ॥

वेदोंको अप्रमाणित मानना, शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना और सर्वत्र अव्यवस्था करना —ये सब स्वयंका ही नाश करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

भवेत्पण्डितमानी यो ब्राह्मणो वेदनिन्दकः ।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ १२ ॥

जो ब्राह्मण वेदनिन्दक और पण्डित्याभिमानी होकर, निरर्थक श्रुतिविरोधी मोक्षकी अनुप-योगी आन्वीक्षिकी तर्कविद्यामें अनुरक्त रहता है ॥ १२ ॥

हेतुवादान्ब्रुवन्सत्सु विजेताहेतुवादिकः ।
आक्रोष्टा चातिवक्ता च ब्राह्मणानां सदैव हि ॥ १३ ॥

और साधुओंके बीच कुतर्क प्रकट करते हुए शास्त्रसम्मत युक्तियोंका प्रतिपादन न करके भी विजेता बनता है, जोरसे निन्दात्मक कोलाहल करता है, सदा ब्राह्मणोंके प्रति अमर्यादित वचन किया करता है ॥ १३ ॥

सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि ।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरश्वानं हि तं विदुः ॥ १४ ॥

तथा जो पुरुष सब पर संदेह करता है, मूढ और बालस्वभाववाला है और कटुभाषी है, उसे श्वानसम जानना योग्य है, हे तात ! क्योंकि वैसे पुरुषको बुद्धिमान लोग कुत्तेके समान समझते हैं ॥ १४ ॥

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसृज्यते ।
एवं संभाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ।
अल्पश्रुताः कुतर्काश्च दृष्टाः स्पृष्टाः कुपण्डिताः ॥ १५ ॥

जैसे कुत्ता भूंकने और काटनेके लिये सदा उद्यत रहता है, उस ही भांति सम्भाषण और सर्व शास्त्रोंका खंडन करनेके लिये अल्पज्ञानी कुतर्की तथा कुपण्डित प्रवृत्त हुए दिखाई देते हैं ॥ १५ ॥

श्रुतिस्मृतीतिहासादिपुराणारण्यवेदिनः ।
अनुरुन्ध्याद्बहुज्ञांश्च सारज्ञांश्चैव पण्डितान् ॥ १६ ॥

श्रुति–स्मृति–इतिहास आदि– पुराण–आरण्यक ग्रंथोंके जाननेवार, महाविद्वान् और यथार्थ ज्ञानी पण्डितोंका अनुसरण करे ॥ १६ ॥

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च ।
एवं नरो वर्तमानः शाश्वतीरेधते समाः ॥ १७ ॥

लोकयात्रा निबाहनेके लिये शिष्टाचार आदि व्यवहार, श्रुति स्मृतिके द्वारा नियमित धर्म और आत्महितकर शम, दम आदिके विषयमें पुरुषको दृष्टि रखनी उचित है । जो पुरुष इस ही प्रकार जीवन व्यतीत करता है, वह सदा वर्द्धित होता है ॥ १७ ॥

ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च ।
पितॄणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चमम् ॥ १८ ॥

यज्ञके सहारे देवऋण, वेदपाठसे ऋषिऋण, पुत्र उत्पन्न करनेसे पितृऋण, दान और मानके द्वारा विप्रऋण और वैश्वदेवके अन्तमें उपस्थित पुरुषोंका सत्कार करनेसे अतिथिऋण, इन पांचों ऋणोंसे अऋण होकर ॥ १८ ॥

पर्यायेण विशुद्धेन सुनिर्णिक्तेन कर्मणा ।
एवं गृहस्थः कर्माणि कुर्वन्धर्मान्न हीयते ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ १८५३ ॥

यथारीतिसे पवित्र और उत्तम विनीत कर्मके सहारे गृहस्थके कार्योंको निबाहनेसे पुरुष कभी धर्महीन नहीं होता ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ १८५३ ॥

: ३८ :

युधिष्ठिर उवाच—

स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि श्रोतुं भरतसत्तम ।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ताः पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतसत्तम ! पितामह ! मैं स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुननेकी इच्छा करता हूं, क्योंकि स्त्रियां सब दोषोंकी मूल हैं, वे ओछी बुद्धिवाली कहके वर्णित हुआ करती हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं पुंश्चल्या पञ्चचूडया ॥ २ ॥

भीष्म बोले– प्राचीन लोग इस विषयमें अप्सरा पञ्चचूडाके सङ्ग नारद मुनिके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

लोकाननुचरन्धीमान्देवर्षिर्नारदः पुरा ।
ददर्शाप्सरसं ब्राह्मीं पञ्चचूडामनिन्दिताम् ॥ ३ ॥

पहिले समयमें धीमान् देवर्षि नारदने सब लोकोंमें विचरते हुए ब्रह्मलोकवासिनी अनिन्द्य पञ्चचूडा अप्सराको देखा ॥ ३ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं पप्रच्छाप्सरसं मुनिः ।
संशयो हृदि मे कश्चित्तन्मे ब्रूहि सुमध्यमे ॥ ४ ॥

उस सर्वाङ्गसुन्दरी अप्सराको देखकर मुनिने पूछा, — हे सुमध्यमे ! मेरे अन्तःकरणमें कुछ संशय है, उसे तुम दूर करो ॥ ४ ॥

एवमुक्ता तु सा विप्रं प्रत्युवाचाथ नारदम् ।
विषये सति वक्ष्यामि समर्थां मन्यसे च माम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षि नारदके ऐसा कहनेपर उसने उन्हें उत्तर दिया आप मुझे उत्तर देनेके समर्थ समझते हैं, परन्तु यदि मुझमें कहनेकी योग्यता रहेगी तो अवश्य कहूंगी ॥ ५ ॥

नारद उवाच—

न त्वामविषये भद्रे नियोक्ष्यामि कथंचन।
स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि त्वत्तः श्रोतु वरानने ॥ ६ ॥

नारद मुनि बोले— हे भद्रे ! जो तुम्हारा विषय न हो, मैं कदापि तुम्हें इस विषयमें कहनेके लिये नहीं उद्युक्त करूगा। हे वरानने ! मैं तुम्हारे समीप स्त्रियोंके स्वभावका विषय सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य देवर्षेरप्सरोत्तमा।
प्रत्युवाच न शक्ष्यामि स्त्री सती निन्दितुं स्त्रियः ॥ ७ ॥

भीष्म बोले— अप्सराओंमें मुख्य पञ्चचूडाने देवर्षिका वचन सुनके उत्तर दिया, मैं स्त्री होकर स्त्रियोंकी निन्दा नहीं कर सकूंगी ॥ ७ ॥

विदितास्ते स्त्रियो याश्च यादृशाश्च स्वभावतः।
न मामर्हसि देवर्षे नियोक्तुं प्रश्न ईदृशे ॥ ८ ॥

हे देवर्षि ! स्त्रियां जैसी हैं और जैसा उनका स्वभाव है, वह आपको विदित है; इसलिये मुझे ऐसे प्रश्नमें नियुक्त करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ८ ॥

तामुवाच स देवर्षिः सत्यं वद सुमध्यमे।
मृषावादे भवेद्दोषः सत्ये दोषो न विद्यते ॥ ९ ॥

देवर्षि नारदमुनिने उससे फिर कहा, हे सुमध्यमे ! तुम सत्य बात कहो, मिथ्या बोलनेमें ही दोष हुआ करता है, सत्य कहनेमें दोष नहीं है ॥ ९ ॥

इत्युक्ता सा कृतमतिरभवच्चारुहासिनी।
स्त्रीदोषाञ्छाश्वतान्सत्यान्भाषितुं संप्रचक्रमे ॥ १० ॥

चारुहासिनी पञ्चचूडाने देवर्षिका ऐसा वचन सुनकर निश्चय करके स्त्रियोंके शाश्वत सत्य दोषोंको कहना आरंभ किया ॥ १० ॥

पञ्चचूडोवाच—

कुलीना रूपवत्यश्च नाथवत्यश्च योषितः।
मर्यादासु न तिष्ठन्ति स दोषः स्त्रीषु नारद ॥ ११ ॥

पञ्चचूडा बोली— हे नारद ! सत्कुलमें उत्पन्न हुई रूपवती और नाथवती स्त्रियां भी मर्यादामें नहीं रहती हैं, वही स्त्रियोंका दोष है ॥ ११ ॥

न स्त्रीभ्यः किंचिदन्यद्वै पापीयस्तरमस्ति वै।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां तथा त्वमपि वेत्थ ह ॥ १२ ॥

स्त्रियोंसे बढकर पापी और दूसरा कोई भी नहीं है; यह तुम भी जानते हैं, कि स्त्रियां ही सब दोषोंकी मूल हैं ॥ १२ ॥

समाज्ञातानृद्धिमतः प्रतिरूपान्वशे स्थितान्
पतीनन्तरमासाद्य नालं नार्यः प्रतीक्षितुम् ॥ १३ ॥

स्त्रियाँ आज्ञाकारी, समृद्धिशाली, रूपवान और वशीभूत पतिको भी अवकाश पानेपर प्रतीक्षा करनेमें समर्थ नहीं होती ॥ १३ ॥

असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो ।
पापीयसो नरान्यद्वै लज्जां त्यक्त्वा भजामहे ॥ १४ ॥

हे प्रभु ! हम स्त्री जाति हैं, इसलिये हमारा यह धर्म उत्तम नहीं है । हम जो लज्जा छोडके पापी पुरुषोंकी सेवा करती हैं, यह अत्यन्त ही असद्धर्म है ॥ १४ ॥

स्त्रियं हि यः प्रार्थयते संनिकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५ ॥

जो पुरुष स्त्रियोंकी प्रार्थना करता है और स्त्रियोंके निकट जाता है वा अधिक सेवा करता है, स्त्रियाँ उस पुरुषकी ही अभिलाष किया करती हैं ॥ १५ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १६ ॥

चाहनेवाले पुरुषोंके अभावके कारण और परिजनोंके भयनिबन्धनसे मर्यादारहित स्त्रियाँ पतिके निकट मर्यादाकी रक्षा करती हैं ॥ १६ ॥

नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां वयसि संस्थितिः ।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १७ ॥

स्त्रियोंके लिये कोई भी पुरुष अगम्य नहीं है, इन्हें किसी अवस्था पर निश्चय नहीं है; कुरूप हो अथवा रूपवान् ही होवे, पुरुषको पानेसे ही भोग किया करती हैं ॥ १७ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थहेतोः कथंचन ।
न ज्ञातिकुलसंबन्धात्स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १८ ॥

स्त्रियाँ भय, दया, धनके लोभसे अथवा ज्ञाति और कुलके सम्बन्धसे ही पतियोंके निकट अनुगत नहीं रहती ॥ १८ ॥

यौवने वर्तमानानां मृष्टाभरणवाससाम् ।
नारीणां स्वैरवृत्तानां स्पृहयन्ति कुलस्त्रियः ॥ १९ ॥

यौवनवती, उत्तम वस्त्र-आभूषणोंसे भूषित, स्वैरचारिणी स्त्रियोंकी कुलवती स्त्रियाँ भी स्पृहा किया करती हैं ॥ १९ ॥

×

याश्च शश्वद्बहुमता रक्ष्यन्ते दयिताः स्त्रियः ।
अपि ताः संप्रसज्जन्ते कुब्जान्धजडवामनैः ॥ २० ॥

जो अत्यंत सम्मानित और पतिकी प्रिय स्त्रियां सदा अच्छी तरह रक्षिता होती हैं, वे भी कुबडे, अन्धे, गूंगे और वामनोंके संग पूरीरीतिसे आसक्त हुआ करती हैं ॥ २० ॥

पङ्गुष्वपि च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिता नराः ।
स्त्रीणामगम्यो लोकेऽस्मिन्नास्ति कश्चिन्महामुने ॥ २१ ॥

हे देवर्षि ! हे महामुनि ! जो पंगु हैं वा जो अत्यन्त घृणित मनुष्य हैं और दूसरे जो लोग चाहे कैसे ही बुरे क्यों न हों, इस लोकमें स्त्रियोंके लिये उनके बीच कोई भी अगम्य नहीं है ॥ २१ ॥

यदि पुंसां गतिर्ब्रह्म कथंचिन्नोपपद्यते ।
अप्यन्योन्यं प्रवर्तन्ते न हि तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ २२ ॥

हे ब्रह्मन् ! यदि स्त्रियां किसी प्रकार पुरुषको नहीं पातीं, तो परस्पर ही स्त्री पुरुष रूपसे प्रसक्त हुआ करती हैं, तथापि पतिके बहुत दूर रहनेपर उसकी उपेक्षा करके धीरज नहीं धरतीं ॥ २२ ॥

अलाभात्पुरुषाणां हि भयात्परिजनस्य च ।
वधबन्धभयाच्चापि स्वयं गुप्ता भवन्ति ताः ॥ २३ ॥

पुरुषको न पानेपर, परिजनोंके डर, वध और बन्धनके भयसे ही स्त्रियां स्वयं रक्षित हुआ करती हैं ॥ २३ ॥

चलस्वभावा दुःसेव्या दुर्ग्राह्या भावतस्तथा ।
प्राज्ञस्य पुरुषस्येह यथा वाचस्तथा स्त्रियः ॥ २४ ॥

इस लोकमें बुद्धिमान् पुरुषोंको दुर्बोध वचनकी भांति स्त्रियां चञ्चल स्वभावकी, दुःसेव्य और स्वाभाविक दुर्ग्राह्य हैं अर्थात् उनका अभिप्राय सहज जाना नहीं जाता ॥ २४ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥ २५ ॥

काठसे अग्नि, नदियोंसे समुद्र, समस्त भूतोंसे मृत्यु और पुरुषोंसे सुंदर नेत्रवाली स्त्रियां तृप्त नहीं होतीं ॥ २५ ॥

इदमन्यच्च देवर्षे रहस्यं सर्वयोषिताम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियः ॥ २६ ॥

हे देवर्षि ! सारी स्त्रियोंका यह भी एक दूसरा रहस्यविषय है, कि किसी मनोहर पुरुषको देखतेही उनकी योनि गीली होती है ॥ २६ ॥

कामानामपि दातारं कर्तारं मानसान्त्वयोः ।
रक्षितारं न मृष्यन्ति भर्तारं परमं स्त्रियः ॥ २७ ॥

स्त्रियां कामदाता, मनको प्रसन्न करनेवाले अपने पतिके रक्षित होनेपर भी अपने श्रेष्ठ पतिके शासनको नहीं सह सकतीं ॥ २७ ॥

न कामभोगान्बहुलान्नालंकारार्थसंचयान् ।
तथैव बहु मन्यन्ते यथा रत्यामनुग्रहम् ॥ २८ ॥

जैसे स्त्रियां रतिविषयमें पतिके अनुग्रहकी अभिलाष करती हैं, वैसा कामभोगकी विपुल सामग्रीको और उत्तम आभूषणोंके लिये किये हुए धन संग्रहको अधिक महत्व नहीं देती हैं ॥ २८ ॥

अन्तकः शमनो मृत्युः पातालं वडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥ २९ ॥

यम, नाश, मृत्यु, पाताल, वडवानल, क्षुरेकी धार, विष, सर्प और ये सब विनाशके हेतु एक ओर और अकेली स्त्रियां एक तरफ बराबर हैं ॥ २९ ॥

यतश्च भूतानि महान्ति पञ्च यतश्च लोका विहिता विधात्रा ।
यतः पुमांसः प्रमदाश्च निर्मितास्तदैव दोषाः प्रमदासु नारद ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ १८८३ ॥

हे नारद ! जिससे पञ्चमहाभूत विहित हुए हैं, जिससे विधाताने लोकरचना की है, जिससे पुरुष और स्त्रियां उत्पन्न हुई हैं; उसही स्वभावके द्वारा स्त्रियोंमें ये सब दोष विहित हुए हैं ॥ ३० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ १८८३ ॥

: ३९ :

युधिष्ठिर उवाच—

इमे वै मानवा लोके स्त्रीषु सज्जन्त्यभीक्ष्णशः ।
मोहेन परमाविष्टा दैवादिष्टेन पार्थिव ।
स्त्रियश्च पुरुषेष्वेव प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे राजन् ! जगत्के बीच ये सब मनुष्य देवसृष्ट मोहसे अत्यन्त आविष्ट होकर स्त्रियोंमें बहुत ही आसक्त होते हैं और स्त्रियां भी पुरुषोंमें अत्यन्त अनुरक्त हुआ करती हैं, यह लोकसाक्षिक और प्रत्यक्ष है ॥ १ ॥

अत्र मे संशयस्तीव्रो हृदि संपरिवर्तते ।
कथमासां नराः सङ्गं कुर्वते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो वा तेषु रज्यन्ते विरज्यन्तेऽथ वा पुनः ॥ २ ॥

इसलिये इस विषयमें मेरे हृदयमें तीव्र संशय विद्यमान है । हे कुरुनन्दन ! पुरुष किस कारणसे इनका सङ्ग करते हैं और स्त्रियां पुरुषोंमें किस निमित्तसे अनुरक्त रहती हैं तथा फिर क्यों विरक्त होती हैं ? ॥ २ ॥

इति ताः पुरुषव्याघ्र कथं शक्याः स्म रक्षितुम् ।
प्रमदाः पुरुषेणेह तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! किस प्रकारसे पुरुष यौवन सम्पन्न स्त्रियोंकी रक्षा कर सकता है ? मुझसे यह विषय वर्णन करना आपको उचित है ॥ ३ ॥

एता हि मयमायाभिर्वञ्चयन्तीह मानवान् ।
न चासां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः ।
गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवान्नवान् । ॥ ४ ॥

ये यहां स्वयं मयमायाओंसे पुरुषोंको फंसाती हैं । इनके हाथमें पडा हुआ कोई भी पुरुष इनके हाथसे नहीं छूटता । जैसे गौवें नये नये तृणको ग्रहण करती हैं, ये भी वैसे ही नवीन नवीन पुरुषोंको अपनाती रहती हैं ॥ ४ ॥

शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि ।
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ॥ ५ ॥

शम्बरासुर, नमुचि, बलि और कुम्भीनसी की जो मायाएं हैं, वे स्त्रियां उन सबको जानती हैं ॥ ५ ॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्ति च ।
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णते कालयोगतः ॥ ६ ॥

हंसनेवाले पुरुषको देखके ये हसती हैं, उसे रोते देख स्वयं रोने लगती हैं; और अवसर आनेपर अप्रिय पुरुषको भी मीठे वाक्योंसे वश करती हैं ॥ ६ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येते ताः स्म रक्ष्याः कथं नरैः ॥ ७ ॥

शुक्राचार्य और बृहस्पति जिस नीतिशास्त्रको जानते हैं, स्त्रियोंकी बुद्धिसे वह श्रेष्ठ नहीं है, इसलिये मनुष्य ऐसी स्त्रियोंकी किस प्रकार रक्षा करेगा ? ॥ ७ ॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम् ।
इति यास्ताः कथं वीर संरक्ष्याः पुरुषैरिह ॥ ८ ॥

हे वीर ! जो मिथ्याको सत्य कहती और सत्यको मिथ्या कहती हैं, उनकी पुरुष यहां किस प्रकार रक्षा करेंगे ? ॥ ८ ॥

स्त्रीणां बुद्ध्युपनिष्कर्षादर्थशास्त्राणि शत्रुहन् ।
बृहस्पतिप्रभृतिभिर्मन्ये सद्भिः कृतानि वै ॥ ९ ॥

हे शत्रुनाशन ! मुझे बोध होता है, कि बृहस्पति आदि साधु पुरुषोंने स्त्रियोंकी ही बुद्धिके अर्थनिष्कर्षसे अर्थ नीति शास्त्रोंकी रचना की है ॥ ९ ॥

संपूज्यमानाः पुरुषैर्विकुर्वन्ति मनो नृषु ।
अपास्ताश्च तथा राजन्विकुर्वन्ति मनः स्त्रियः ॥ १० ॥

हे राजन् ! स्त्रियां पुरुषोंसे पूरी रीतिसे सत्कृत वा समादृत होनेपर भी उनका मन विकृत करती हैं और पुरुष जब स्त्रीको परित्याग करता है, तब उसके लिये भी चित्त विकृत किया करती हैं ॥ १० ॥

कस्ताः शक्तो रक्षितुं स्यादिति मे संशयो महान् ।
तन्मे ब्रूहि महाबाहो कुरूणां वंशवर्धन ॥ ११ ॥

हे कुरुवंशवर्धन महाबाहो ! कौन उनकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है ? इसमें मुझे अत्यंत संशय है, इसलिये आप इसही विषयको वर्णन करिये ॥ ११ ॥

यदि शक्या कुरुश्रेष्ठ रक्षा तासां कथंचन ।
कर्तुं वा कृतपूर्वा वा तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ १८९५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! कदाचित् यदि उनकी रक्षा की जा सके, अथवा पहले यदि किसीने रक्षा की हो, तो आप मेरे समीप उसकी व्याख्या करिये ॥ १२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उन्तालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ १८९५ ॥

: ४० :

भीष्म उवाच—

एवमेतन्महाबाहो नात्र मिथ्यास्ति किंचन ।
यथा ब्रवीषि कौरव्य नारीं प्रति जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे महाबाहु कुरुनन्दन ! प्रजानाथ ! तुमने स्त्रीके विषयमें जो कहा, वह सब यथार्थ है, इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन महात्मना ॥ २ ॥
पहले समयमें महात्मा विपुलने जिस प्रकार स्त्रीकी रक्षा की थी, इस विषयमें तुम्हारे समीप वही पुराना इतिहास वर्णन करूंगा ॥ २ ॥

प्रमदाश्च यथा सृष्टा ब्रह्मणा भरतर्षभ ।
यदर्थं तच्च ते तात प्रवक्ष्ये वसुधाधिप ॥ ३ ॥
हे भरतश्रेष्ठ ! तात ! पृथ्वीनाथ ! प्रजापतिने जिस प्रकार और जिस लिये युवतियोंको उत्पन्न किया है, तुमसे वह भी कहता हूं ॥ ३ ॥

न हि स्त्रीभ्यः परं पुत्र पापीयः किंचिदस्ति वै ।
अग्निर्हि प्रमदा दीप्तो मायाश्च मयजा विभो ।
क्षुरधारा विषं सर्पो मृत्युरित्येकतः स्त्रियः ॥ ४ ॥
हे तात ! स्त्रियोंसे बढकर पापी और दूसरा कोई भी नहीं है। हे विभु ! यौवनसंपन्न स्त्रियां जलती हुई अग्नि और मयकी मायाके समान हैं; एक ओर स्त्रियां ही और छुरेकी धार, विष, सर्प और मृत्यु दूसरी ओर समान हैं ॥ ४ ॥

इमाः प्रजा महाबाहो धार्मिका इति नः श्रुतम् ।
स्वयं गच्छन्ति देवत्वं ततो देवानियाद्भयम् ॥ ५ ॥
हे महाबाहो ! हमने सुना है, कि स्त्रीरूपी प्रजावृन्द पहले धार्मिक थीं; वे स्वयं देवत्व लाभ करतीं थीं, उस समय देवतावृन्द भयभीत हुए ॥ ५ ॥

अथाभ्यगच्छन्देवास्ते पितामहमरिंदम ।
निवेद्य मानसं चापि तूष्णीमासन्नवाङ्मुखाः ॥ ६ ॥
हे शत्रुदमन ! अनन्तर वे देववृन्द पितामह ब्रह्माके निकट गये और अपना अभिप्राय सुनाकर मुंह नीचे करके चुपचाप बैठ गये ॥ ६ ॥

तेषामन्तर्गतं ज्ञात्वा देवानां स पितामहः ।
मानवानां प्रमोहार्थं कृत्या नार्योऽसृजत्प्रभुः ॥ ७ ॥
सर्वशक्तिमान् प्रजापतिने देवताओंके अन्तर्गत अभिप्राय जानके मनुष्योंको मोहमें डालनेके लिये कृत्यारूपी नारियोंको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

पूर्वसर्गे तु कौन्तेय साध्व्यो नार्य इहाभवन् ।
असाध्व्यस्तु समुत्पन्ना कृत्या सर्गात्प्रजापतेः ॥ ८ ॥
हे कुन्तीनन्दन ! पहले सृष्टिके प्रारंभमें यहां स्त्रियां साध्वी थीं; फिर प्रजापतिकी कृत्यासृष्टिके अनन्तर असाध्वी रूपसे उत्पन्न हुईं ॥ ८ ॥

ताभ्यः कामान्यथाकामं प्रादाद्धि स पितामहः ।
ताः कामलुब्धाः प्रमदाः प्रामथ्नन्त नरांस्तदा ॥ ९ ॥

पितामहने उनकी इच्छानुसार सब कामभाव प्रदान किया; वे कामलुब्ध स्त्रियाँ सदा पुरुषोंको हत्या करने लगीं ॥ ९ ॥

क्रोधं कामस्य देवेशः सहायं चासृजत्प्रभुः ।
असज्जन्त प्रजाः सर्वाः कामक्रोधवशं गताः ॥ १० ॥

सर्वशक्तिमान् देवेशने कामकी सहायताके लिये क्रोधको उत्पन्न किया है। काम और क्रोधके वशमें होकर स्त्री-पुरुषरूप सारी प्रजा परस्पर आसक्त होती है ॥ १० ॥

न च स्त्रीणां क्रिया काचिदिति धर्मो व्यवस्थितः ।
निरिन्द्रिया अमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः ॥ ११ ॥

स्त्रियोंके लिये कोई वैदिक कर्म- क्रिया नहीं है, ऐसा ही धर्म व्यवस्थित हुआ। ऐसी जन-श्रुति है, कि स्त्रियाँ इन्द्रियशून्य- अर्थात् अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेमें असमर्थ हैं; मन्त्र शास्त्रवर्जित स्त्रियाँ मिथ्या स्वरूप है ॥ ११ ॥

शय्यासनमलंकारमन्नपानमनार्यताम् ।
दुर्वाग्भावं रतिं चैव ददौ स्त्रीभ्यः प्रजापतिः ॥ १२ ॥

प्रजापतिने स्त्रियोंको शय्या, आसन, आभूषण, अन्न, पान, अनार्यता, दुर्वाक्य और रति प्रदान की है ॥ १२ ॥

न तासां रक्षणं कर्तुं शक्यं पुंसा कथंचन ।
अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ॥ १३ ॥

पुरुष किसी प्रकारसे भी उनकी रक्षा करनेमें समर्थ न होंगे। हे तात ! जब जगत्कर्ता ब्रह्मा स्वयं ही स्त्रियोंकी रक्षा नहीं कर सकते, तब इस लोकमें साधारण पुरुषोंकी बात ही क्या ? ॥ १३ ॥

वाचा वा वधबन्धैर्वा क्लेशैर्वा विविधैस्तथा ।
न शक्या रक्षितुं नार्यस्ता हि नित्यमसंयताः ॥ १४ ॥

वाणी, वध, बन्धन अथवा विविधक्लेशके द्वारा भी स्त्रियोंकी रक्षा नहीं की जा सकती; क्यों कि वे सब सदा ही असंयमशील होती हैं ॥ १४ ॥

इदं तु पुरुषव्याघ्र पुरस्ताच्छ्रुतवानहम् ।
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन गुरुस्त्रियः ॥ १५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पहले समयमें विपुल नामक महर्षिने जिस प्रकार गुरुपत्नीकी रक्षा की थी, वह वृत्तान्त मैंने सुना है ॥ १५ ॥

ऋषिरासीन्महाभागो देवशर्मेति विश्रुतः ।
तस्य भार्या रुचिर्नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥ १६ ॥
देवशर्मा नामके विख्यात एक महाभाग ऋषि थे, उनकी भार्याका नाम रुचि था; पृथ्वी-मण्डलमें उसके समान सुन्दरी कोई न थी ॥ १६ ॥

तस्या रूपेण संमत्ता देवगन्धर्वदानवाः ।
विशेषतस्तु राजेन्द्र वृत्रहा पाकशासनः ॥ १७ ॥
हे राजेन्द्र ! देव, गन्धर्व, दानव तथा विशेष करके वृत्रहन्ता इन्द्र उसका रूप देखके मतवाले हो जाते थे ॥ १७ ॥

नारीणां चरितज्ञश्च देवशर्मा महामुनिः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं भार्यां तामभ्यरक्षत ॥ १८ ॥
स्त्रीचरित जाननेवाले महामुनि देवशर्मा यथाशक्ति और उत्साहके अनुसार अपनी भार्याकी सब भांतिसे रक्षा करते थे ॥ १८ ॥

पुरंदरं च जानीते परस्त्रीकामचारिणम् ।
तस्माद्यत्नेन भार्याया रक्षणं स चकार ह ॥ १९ ॥
वह इन्द्रको परस्त्रीगामी जानते थे, इस ही निमित्त वे यत्नपूर्वक भार्याकी रक्षा करते थे ॥ १९ ॥

स कदाचिदृषिस्तात यज्ञं कर्तुमनास्तदा ।
भार्यासंरक्षणं कार्यं कथं स्यादित्यचिन्तयत् ॥ २० ॥
हे तात ! किसी समय उस ऋषिने यज्ञ करनेकी इच्छा की; उस समय वे विचार करने लगे कि किस प्रकार भार्याकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २० ॥

रक्षाविधानं मनसा स विचिन्त्य महातपाः ।
आहूय दयितं शिष्यं विपुलं प्राह भार्गवम् ॥ २१ ॥
उस महातपस्वीने मनही मन भार्याकी रक्षाका उपाय निश्चय करके भार्गवगोत्री निज प्रिय शिष्य विपुलको बुला करके कहा ॥ २१ ॥

यज्ञकारो गमिष्यामि रुचिं चेमां सुरेश्वरः ।
पुत्र प्रार्थयते नित्यं तां रक्षस्व यथाबलम् ॥ २२ ॥
हे पुत्र ! मैं यज्ञ करनेके लिये गमन करूंगा। देवराज इन्द्र सदा इस रुचिको चाहता है, इसलिये तुम शक्तिके अनुसार इसकी रक्षा करना ॥ २२ ॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यं सदा प्रति पुरंदरम् ।
स हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूद्वह ॥ २३ ॥
हे भृगुश्रेष्ठ ! इन्द्रके विषयमें तुम सदा सावधान रहना, क्यों कि वह विविध रूप धारण किया करता है ॥ २३ ॥

इत्युक्तो विपुलस्तेन तपस्वी नियतेन्द्रियः ।
सदैवोग्रतपा राजन्नग्न्यर्कसदृशद्युतिः ॥ २४ ॥

हे राजन् ! गुरुके ऐसा कहनेपर अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, सदा उग्र तप करनेवाले, नियतेन्द्रिय तपस्वी, ॥ २४ ॥

धर्मज्ञः सत्यवादी च तथेति प्रत्यभाषत ।
पुनश्चेदं महाराज पप्रच्छ प्रस्थितं गुरुम् ॥ २५ ॥

धर्मज्ञ, सत्यवादी विपुलने उत्तर दिया, कि ऐसा ही करूंगा। हे महाराज ! जब गुरु चलनेको उद्यत हुए, तब उन्होंने उनसे फिर पूछा ॥ २५ ॥

कानि रूपाणि शक्रस्य भवन्त्यागच्छतो मुने ।
वपुस्तेजश्च कीदृग्वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २६ ॥

हे मुनि ! देवराज इन्द्रके आगमन करनेपर उनके कौनसे रूप होते हैं, उस समय उनका शरीर और तेज कैसा होता है ? आप मेरे निकट इस विषयकी व्याख्या करिये ॥ २६ ॥

ततः स भगवांस्तस्मै विपुलाय महात्मने ।
आचचक्षे यथातत्त्वं मायां शक्रस्य भारत ॥ २७ ॥

हे भारत ! अनन्तर भगवान् देवशर्मा महानुभाव विपुलसे इन्द्रकी मायाका यथार्थ तत्व कहने लगे ॥ २७ ॥

बहुमायः स विप्रर्षे बलहा पाकशासनः ।
तांस्तान्विकुरुते भावान्बहूनथ मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥

हे विप्रर्षि ! बलहन्ता इन्द्र अनेक प्रकारकी माया जानते हैं, वह बार बार अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं ॥ २८ ॥

किरीटी वज्रभृद्धन्वी मुकुटी बद्धकुण्डलः ।
भवत्यथ मुहूर्तेन चण्डालसमदर्शनः ॥ २९ ॥

कभी किरीटी, वज्रधारी धनुष धारण किये, मुकुटी और कानोंमें कुण्डलवाले होते हैं तथा कभी मुहूर्त भरके बीच चाण्डालके सदृश दीख पडते हैं ॥ २९ ॥

शिखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक ।
बृहच्छरीरश्च पुनः पीवरोऽथ पुनः कृशः ॥ ३० ॥

हे तात ! वह कभी शिखावान्, कभी जटावान् होते, कभी चीरवसन पहरते, कभी विपुल-शरीर कभी स्थूल और फिर कृश हुआ करते हैं ॥ ३० ॥

×

गौरं श्यामं च कृष्णं च वर्णं विकुरुते पुनः ।
विरूपो रूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च ॥ ३१ ॥

वह कभी गौर, कभी श्याम तथा कभी कृष्ण वर्ण धारण करते हैं । वह कभी कुरूप, कभी रूपवान्, कभी युवा और कभी वृद्ध बन जाते हैं ॥ ३१ ॥

प्राज्ञो जडश्च मूकश्च ह्रस्वो दीर्घस्तथैव च ।
ब्राह्मणः क्षत्रियश्चैव वैश्यः शूद्रस्तथैव च ।
प्रतिलोमानुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः ॥ ३२ ॥

कभी विद्वान्, कभी मूढ, कभी मौनी, कभी वामन और कभी लम्बे बन जाते हैं, कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य और कभी शूद्र होते हैं; शतक्रतु समस्त प्रतिलोमसंकरका तथा अनुलोमसंकरका रूप धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

शुकवायसरूपी च हंसकोकिलरूपवान् ।
सिंहव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः ॥ ३३ ॥

वह तोता, कौआ, कोयल तथा हंसका रूप धारण कर सकते हैं और सिंह, वाघ तथा हाथीका रूप भी बार बार धारण किया करते हैं ॥ ३३ ॥

दैवं दैत्यमथो राज्ञां वपुर्धारयतेऽपि च ।
सुकृशो वायुभग्नाङ्गः शकुनिर्विकृतस्तथा ॥ ३४ ॥

देव, दैत्य और राजाओंका शरीर भी धारण करते हैं, तथा वह अत्यंत कृश, वातरोगसे भग्न शरीरवाले पक्षी, और कभी विकृत वेषवाले होते हैं ॥ ३४ ॥

चतुष्पाद्बहुरूपश्च पुनर्भवति बालिशः ।
मक्षिकामशकादीनां वपुर्धारयतेऽपि च ॥ ३५ ॥

कभी चतुष्पाद, बहुरूपियां और पुनर्वार अनाडी होते हैं तथा वे मक्षिका और मच्छर आदिका शरीर धारण करते हैं ॥ ३५ ॥

न शक्यमस्य ग्रहणं कर्तुं विपुल केनचित् ।
अपि विश्वकृता तात येन सृष्टमिदं जगत् ॥ ३६ ॥

हे विपुल ! कोई भी उन्हें पकड नहीं सकता; दूसरोंकी बात तो दूर है, जिसने इस जगत्की रचना की है, वह विश्वकर्ता भी उन्हें जाननेमें समर्थ नहीं होते ॥ ३६ ॥

पुनरन्तर्हितः शक्रो दृश्यते ज्ञानचक्षुषा ।
वायुभूतश्च स पुनर्देवराजो भवत्युत ॥ ३७ ॥

इन्द्र अन्तर्हित होनेपर ज्ञाननेत्रसे दीख पडते हैं और फिर वे वायुरूप होकर देवराज होते हैं ॥ ३७ ॥

एवं रूपाणि सततं कुरुते पाकशासनः
तस्माद्विपुल यत्नेन रक्षेमां तनुमध्यमाम् ॥ ३८ ॥

हे विपुल ! इन्द्र इस ही भांति सदा नये नये रूप धारण किया करते हैं, इसलिये इस तनुमध्यमा रुचिकी यत्नपूर्वक रक्षा करो ॥ ३८ ॥

यथा रुचिं नावलिहेद्देवेन्द्रो भृगुसत्तम ।
क्रतावुपहितं न्यस्तं हविः श्वेव दुरात्मवान् ॥ ३९ ॥

हे भृगुसत्तम ! उपस्थित यज्ञकी हविको चाटनेकी इच्छा करनेवाले कुत्तेकी भांति दुरात्मा देवेन्द्र रुचिको स्पर्श न कर सके, ऐसा करो ॥ ३९ ॥

एवमाख्याय स मुनिर्यज्ञकारोऽगमत्तदा ।
देवशर्मा महाभागस्ततो भरतसत्तम ॥ ४० ॥

हे भरतसत्तम ! अनन्तर उस महाभाग देवशर्मा मुनिने ऐसा वचन कहके यज्ञ करनेके लिये गमन किया ॥ ४० ॥

विपुलस्तु वचः श्रुत्वा गुरोश्चिन्तापरोऽभवत् ।
रक्षां च परमां चक्रे देवराजान्महाबलात् ॥ ४१ ॥

विपुल भी गुरुका वचन सुनके अत्यंत चिन्ता करने लगे और महाबलवान् देवराजसे गुरुपत्नीकी रक्षा करनेके लिये तत्परतासे यत्नवान् रहे ॥ ४१ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गुरुदाराभिरक्षणे ।
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसौ दुर्धर्षश्चापि वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

उन्होंने सोचा कि सुरराज अत्यन्त वीर्यवान्, दुर्धर्ष और मायावी है, इसलिये मैं उससे गुरुपत्नीकी रक्षा करनेके लिये क्या कर सकूंगा ? ॥ ४२ ॥

नापिधायाश्रमं शक्यो रक्षितुं पाकशासनः ।
उटजं वा तथा ह्यस्य नानाविधसरूपता ॥ ४३ ॥

आश्रम अथवा कुटीको बन्द करके भी इन्द्रको निवारण करना दुःसाध्य है; क्योंकि उसमें अनेक प्रकारके रूप धारण करनेकी योग्यता है ॥ ४३ ॥

वायुरूपेण वा शक्रो गुरुपत्नीं प्रधर्षयेत् ।
तस्मादिमां संप्रविश्य रुचिं स्थास्येऽहमद्य वै ॥ ४४ ॥

देवराज वायुरूपसे आकर गुरुपत्नीको दूषित कर सकते हैं, इसलिये मैं आजसे इसके शरीरमें प्रवेश करके रहूंगा ॥ ४४ ॥

अथ वा पौरुषेणेयमशक्या रक्षितुं मया ।
बहुरूपो हि भगवाञ्छ्रूयते हरिवाहनः ॥ ४५ ॥
नहीं तो मैं पौरुषसे इसकी रक्षा न कर सकूंगा। क्योंकि सुना है, भगवान् हरिवाहन इन्द्र अनेक प्रकारका रूप धारण किया करते हैं ॥ ४५ ॥

सोऽहं योगबलादेनां रक्षिष्ये पाकशासनात् ।
गात्राणि गात्रैरस्याहं संप्रवेक्ष्येऽभिरक्षितुम् ॥ ४६ ॥
इसलिये योगबलसे मैं इन्द्रसे इसकी रक्षा कर सकूंगा, गुरुपत्नीकी रक्षा करनेके लिये अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे इसमें समा जाऊंगा ॥ ४६ ॥

यद्युच्छिष्टामिमां पत्नीं रुचिं पश्येत मे गुरुः ।
शप्स्यत्यसंशयं कोपाद्दिव्यज्ञानो महातपाः ॥ ४७ ॥
दिव्य ज्ञानसे युक्त महातपस्वी मेरे गुरु यदि आज अपनी भार्याको पर-पुरुष द्वारा दूषित हुई देखेंगे, तो क्रुद्ध होके मुझे निःसन्देह शाप देंगे ॥ ४७ ॥

न चेयं रक्षितुं शक्या यथान्या प्रमदा नृभिः ।
मायावी हि सुरेन्द्रोऽयमहो प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ ४८ ॥
जैसे मनुष्य दूसरी स्त्रीकी रक्षा नहीं कर सकते, वैसे ही इसकी रक्षा करनी मेरे लिये असाध्य कार्य है; क्योंकि देवेन्द्र अत्यन्त ही मायावी है। हाय ! मैं क्या ही संशयमें पडा हूं ? ॥४८॥

अवश्यकरणीयं हि गुरोरिह हि शासनम् ।
यदि त्वेतदहं कुर्यामाश्चर्यं स्यात्कृतं मया ॥ ४९ ॥
इस समय गुरुकी आज्ञा मुझे अवश्य ही प्रतिपालन करनी उचित है; यदि मैं इसे प्रतिपालन कर सकूं, तो महत् आश्चर्यका कार्य होगा ॥ ४९ ॥

योगेनानुप्रविश्येह गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
निर्मुक्तस्य रजोरूपान्नापराधो भवेन्मम ॥ ५० ॥
अभी योगबलसे मैं गुरुपत्नीके शरीरमें प्रवेश करूं और रजोरूपसे निर्मुक्त रहनेपर मेरा कुछ अपराध नहीं होगा ॥ ५० ॥

यथा हि शून्यां पथिकः सभामध्यावसेत्पथि ।
तथाद्यावासयिष्यामि गुरुपत्न्याः कलेवरम् ॥ ५१ ॥
जैसे पथिक मार्गमें सूने स्थानमें वास करता है, आज मैं उस ही भांति गुरुपत्नीके शरीरमें निवास करूंगा ॥ ५१ ॥

असक्तः पद्मपत्रस्थो जलबिन्दुर्यथा चलः ।
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ॥ ५२ ॥
जिसप्रकार कमलके पत्तेपर स्थित जलकी बूंद निर्लिप्त भावसे स्थिर रहती है, उस ही भांति सावधान होकर मैं इसके शरीरमें स्थित रहूंगा ॥ ५२ ॥

इत्येवं धर्ममालोक्य वेदवेदांश्च सर्वशः ।
तपश्च विपुलं दृष्ट्वा गुरोरात्मन एव च ॥ ५३ ॥
हे राजन् ! इस ही प्रकार धर्मकी आलोचना वा सब भांतिसे वेदार्थकी पर्यालोचना की और गुरु तथा अपनी तपस्याको अवलोकन करनेपर ॥ ५३ ॥

इति निश्चित्य मनसा रक्षां प्रति स भार्गवः ।
आतिष्ठत्परमं यत्नं यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ ५४ ॥
मनसे निश्चय करके भृगुवंशीय विपुलने गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये जिस रीतिसे महान् यत्नका अनुष्ठान किया था, वह सुनो ॥ ५४ ॥

गुरुपत्नीमुपासीनो विपुलः स महातपाः ।
उपासीनामनिन्द्याङ्गीं कथाभिः समलोभयत् ॥ ५५ ॥
महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीके पास बैठकर, समीपमें बैठी हुई अनिन्दिताङ्गी गुरुपत्नीको अनेक कथाओंसे लुभाने लगे ॥ ५५ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्या रश्मीन्संयोज्य रश्मिभिः ।
विवेश विपुलः कायमाकाशं पवनो यथा ॥ ५६ ॥
विपुलने अपने नेत्रोंके तेजसे उसके दोनों नेत्रोंका तेज संयोजित करके इस प्रकार उसके शरीरमें प्रवेश किया, जैसे पवन आकाशमें प्रवेश करता है ॥ ५६ ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
अविचेष्टन्नतिष्ठद्वै छायेवान्तर्गतो मुनिः ॥ ५७ ॥
मुनि विपुल छायाकी भांति अन्तर्हित होकर लक्षणोंसे लक्षणोंमें मुखसे मुखमें प्रविष्ट हो, चेष्टारहित होकर स्थिर भावसे निवास करने लगे ॥ ५७ ॥

ततो विष्टभ्य विपुलो गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
उवास रक्षणे युक्तो न च सा तमबुध्यत ॥ ५८ ॥
अनन्तर विपुल गुरुपत्नीके शरीरको स्तम्भित करके उसकी रक्षामें नियुक्त होकर स्थित रहे, वह अपने शरीरमें आये हुए उन्हें न जान सकी ॥ ५८ ॥

यं कालं नागतो राजन्गुरुस्तस्य महात्मनः ।
क्रतुं समाप्य स्वगृहं तं कालं सोऽभ्यरक्षत ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ १९५४ ॥

हे महाराज ! जबतक उस महात्माके गुरु यज्ञ समाप्त करके अपने गृहपर नहीं आये, तबतक वह सब भाँतिसे गुरुपत्नीकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त रहे ॥ ५९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ १९५४ ॥

: ४१ :

भीष्म उवाच—

ततः कदाचिद्देवेन्द्रो दिव्यरूपवपुर्धरः ।
इदमन्तरमित्येवं ततोऽभ्यागादथाश्रमम् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर किसी समयमें इन्द्रने दिव्य सौन्दर्ययुक्त शरीर धारण करके अवकाशका समय विचारके उस आश्रमकी ओर आगमन किया ॥ १ ॥

रूपमप्रतिमं कृत्वा लोभनीयं जनाधिप ।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रविवेश तमाश्रमम् ॥ २ ॥

हे प्रजानाथ ! वह अप्रतिम मोहक सुन्दर रूप धारण करके अत्यन्त दर्शनीय होकर उस आश्रममें प्रविष्ट हुए ॥ २ ॥

स ददर्श तमासीनं विपुलस्य कलेवरम् ।
निश्चेष्टं स्तब्धनयनं यथालेख्यगतं तथा ॥ ३ ॥

उन्होंने उस समय चित्रलिखितकी भाँति स्तब्धनेत्र और चेष्टारहित होकर बैठा विपुलका शरीर देखा ॥ ३ ॥

रुचिं च रुचिरापाङ्गीं पीनश्रोणिपयोधराम् ।
पद्मपत्रविशालाक्षीं संपूर्णेन्दुनिभाननाम् ॥ ४ ॥

तथा स्थूल नितम्ब और पीन–पयोधर, पद्मपत्रके समान विशालनयनी, पूर्णचन्द्रसदृश मुख और उत्तम अंगवाली रुचिको अवलोकन किया ॥ ४ ॥

सा तमालोक्य सहसा प्रत्युत्थातुमियेष ह ।
रूपेण विस्मिता कोऽसीत्यथ वक्तुमिहेच्छती ॥ ५ ॥

रुचिने इन्द्रको देखते ही सहसा उठनेकी इच्छा की और उनके रूपसे विस्मित होकर तुम कौन हो, मानो ऐसा वचन कहनेकी अभिलाषी हुई ॥ ५ ॥

उत्थातुकामापि सती व्यतिष्ठद्विपुलेन सा ।
निगृहीता मनुष्येन्द्र न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ६ ॥

हे नरनाथ ! वह सती विपुलके द्वारा विष्टब्ध और निगृहीत रहनेसे उठनेकी इच्छा करके भी न उठ सकी ॥ ६ ॥

तामाबभाषे देवेन्द्रः साम्ना परमवल्गुना ।
त्वदर्थमागतं विद्धि देवेन्द्रं मां शुचिस्मिते ॥ ७ ॥

तब देवराज इन्द्रने उससे परम मनोहर प्रिय वचन कहे । हे शुचिस्मिते ! मैं देवेन्द्र हूं, तुम्हारे ही निमित्त यहां आया हूं ॥ ७ ॥

क्लिश्यमानमनङ्गेन त्वत्संकल्पोद्भवेन वै ।
तत्पर्याप्नुहि मां सुभ्रु पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ ८ ॥

हे सुभ्रु ! मैं तुम्हारे संकल्पजनित कामसे क्लेशित होकर आया हूं, तुम समागत समझो; समय बीता जाता है, देर न करो ॥ ८ ॥

तमेवंवादिनं शक्रं शुश्राव विपुलो मुनिः ।
गुरुपत्न्याः शरीरस्थो ददर्श च सुराधिपम् ॥ ९ ॥

इन्द्र ऐसा कह रहे थे, उसे गुरुपत्नीके शरीरमें स्थित विपुलमुनिने सुना और उन्होंने देवराजको भी देख लिया ॥ ९ ॥

न शशाक च सा राजन्प्रत्युत्थातुमनिन्दिता ।
वक्तुं च नाशकद्राजन्विष्टब्धा विपुलेन सा ॥ १० ॥

हे महाराज ! वह अनिन्दिता विपुलके द्वारा स्तम्भित होनेके कारण उठ न सकी और कुछ कह भी न सकी ॥ १० ॥

आकारं गुरुपत्न्यास्तु विज्ञाय स भृगूद्वहः ।
निजग्राह महातेजा योगेन बलवत्प्रभो ।
बबन्ध योगबन्धैश्च तस्याः सर्वेन्द्रियाणि सः ॥ ११ ॥

हे प्रभु ! उस भृगुकुलधुरन्धर महातेजस्वी विपुलने गुरुपत्नीका आशय जानके भली भांति बलपूर्वक योगके सहारे उसे निग्रह कर रखा । विपुलने उसकी सब इंद्रियां योगबन्धनसे बद्ध कर दीं ॥ ११ ॥

तां निर्विकारां दृष्ट्वा तु पुनरेव शचीपतिः ।
उवाच व्रीडितो राजंस्तां योगबलमोहिताम् ॥ १२ ॥

इन्द्रने उसे योगबलसे मोहित और विकाररहित देखकर लज्जित होकर फिर उससे कहा ॥ १२ ॥

एह्येहीति ततः सा तं प्रतिवक्तुमियेष च ।
स तां वाचं गुरोः पत्न्या विपुलः पर्यवर्तयत् ॥ १३ ॥

" आओ ! आओ ! " अनन्तर रुचिने उन्हें प्रत्युत्तर देनेकी इच्छा की, परन्तु विपुलने गुरुपत्नीकी उस वाणीका परिवर्तन कर दिया ॥ १३ ॥

भोः किमागमनं कृत्यमिति तस्याश्च निःसृता ।
वक्त्राच्छशाङ्कप्रतिमाद्वाणी संस्कारभूषिता ॥ १४ ॥

रुचिके चन्द्रसदृश वदनसे ' हे, तुम्हारे यहां आनेका क्या प्रयोजन है ? ' ऐसा ही संस्कार युक्त वचन बाहर हुआ ॥ १४ ॥

व्रीडिता सा तु तद्वाक्यमुक्त्वा परवशा तदा ।
पुरंदरश्च संत्रस्तो बभूव विमनास्तदा ॥ १५ ॥

परवश होनेसे रुचि उस समय ऐसा वचन कहके लज्जित हुई, इन्द्र भी वहांपर अत्यन्त दुःखित और विमनस्क होकर स्थित रहे ॥ १५ ॥

स तद्वैकृतमालक्ष्य देवराजो विशां पते ।
अवैक्षत सहस्राक्षस्तदा दिव्येन चक्षुषा ॥ १६ ॥

हे महाराज ! देवराज इन्द्रने उसका वह विकृतभाव जानके उस समय दिव्य-दृष्टिके सहारे उसकी ओर देखा ॥ १६ ॥

ददर्श च मुनिं तस्याः शरीरान्तरगोचरम् ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे गुरुपत्न्याः शरीरगम् ॥ १७ ॥

उन्होंने दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भांति गुरुपत्नीके शरीरमें तथा शरीरान्तरगोचर विपुलका शरीर अवलोकन किया ॥ १७ ॥

स तं घोरेण तपसा युक्तं दृष्ट्वा पुरंदरः ।
प्रावेपत सुसंत्रस्तः शापभीतस्तदा विभो ॥ १८ ॥

हे विभु ! इन्द्र उसे घोर तपस्यायुक्त देखके बहुत डरे और शापभयसे डरके उस समय कांपते हुए खडे रहे ॥ १८ ॥

विमुच्य गुरुपत्नीं तु विपुलः सुमहातपाः ।
स्वं कलेवरमाविश्य शक्रं भीतमथाब्रवीत् ॥ १९ ॥

तब महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीको परित्याग करके निज शरीरमें प्रविष्ट होकर डरे हुए इन्द्रसे कहने लगे ॥ १९ ॥

अजितेन्द्रिय पापात्मन्कामात्मक पुरंदर ।
न चिरं पूजयिष्यन्ति देवास्त्वां मानुषास्तथा ॥ २० ॥

विपुल बोले— हे अजितेन्द्रिय पापी कामी पुरन्दर ! देववृन्द और मनुष्य तेरी अधिक कालतक पूजा नहीं करेंगे ॥ २० ॥

किं नु तद्विस्मृतं शक्र न तन्मनसि ते स्थितम् ।
गौतमेनासि यन्मुक्तो भगाङ्कपरिचिह्नितः ॥ २१ ॥

हे शक्र ! गौतमके द्वारा सारे शरीरमें भगके चिन्ह बनाकर जो तू मुक्त हुआ था, क्या वह तुझे याद नहीं है ? क्या उसे भूल गया ? ॥ २१ ॥

जाने त्वां बालिशमतिमकृतात्मानमस्थिरम् ।
मयेयं रक्ष्यते मूढ गच्छ पाप यथागतम् ॥ २२ ॥

मैं तुझे मूढबुद्धि, अकृतात्मा और अस्थिर जानता हूं । रे मूढ ! रे पापी ! यह मेरे द्वारा रक्षित होरही है, तू जिस स्थानसे आया है, वहां ही चला जा ॥ २२ ॥

नाहं त्वामद्य मूढात्मन्दहेयं हि स्वतेजसा ।
कृपायमाणस्तु न ते दग्धुमिच्छामि वासव ॥ २३ ॥

रे मूढात्मा इन्द्र ! आज मैं अपने तेजसे तुझे नहीं जलाना चाहता; मैंने कृपा करके तुझे भस्म करनेकी इच्छा नहीं की ॥ २३ ॥

स च घोरतपा धीमान्गुरुर्मे पापचेतसम् ।
दृष्ट्वा त्वां निर्दहेदद्य क्रोधदीप्तेन चक्षुषा ॥ २४ ॥

मेरे वह अत्यन्त बुद्धिमान् गुरु तुझ पापीको देखते ही क्रोधयुक्त नेत्रसे इस ही क्षणमें निःशेष करके भस्म करेंगे ॥ २४ ॥

नैवं तु शक्र कर्तव्यं पुनर्मान्याश्च ते द्विजाः ।
मा गमः ससुतामात्योऽत्ययं ब्रह्मबलार्दितः ॥ २५ ॥

हे इन्द्र ! तू फिर कभी ऐसा कर्म न करना; ब्राह्मणवृन्द तुम्हारे माननीय हैं, इसलिये ब्रह्मबलसे पीडित होकर पुत्र और सेवकोंके सहित विनष्ट न होना ॥ २५ ॥

अमरोऽस्मीति यद्बुद्धिमेतामास्थाय वर्तसे ।
मावमंस्था न तपसामसाध्यं नाम किंचन ॥ २६ ॥

अपनेको अमर समझके यदि तू स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त रहता है, तो याद रख, किसी तपस्वीका अपमान न कर; क्योंकि तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ २६ ॥

×

तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो विपुलस्य महात्मनः ।
अकिंचिदुक्त्वा व्रीडितस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥
इन्द्र महानुभाव विपुलका ऐसा वचन सुनके लज्जासे आर्त्त होकर कुछ भी न कहके उस ही स्थानमें अन्तर्हित हुए ॥ २७ ॥

मुहूर्तयाते शक्रे तु देवशर्मा महातपाः ।
कृत्वा यज्ञं यथाकाममाजगाम स्वमाश्रमम् ॥ २८ ॥
मुहूर्त भर समय बीतनेपर महातपस्वी देवशर्मा इच्छानुसार यज्ञ समाप्त करके अपने आश्रमपर आये ॥ २८ ॥

आगतेऽथ गुरौ राजन्विपुलः प्रियकर्मकृत् ।
रक्षितां गुरवे भार्यां न्यवेदयदनिन्दिताम् ॥ २९ ॥
हे राजन् ! गुरुके आनेपर प्रियकार्य करनेवाले विपुलने अनिन्दिता गुरुपत्नीकी किस प्रकार रक्षा की थी, वह सब उनके समीप कह सुनाया ॥ २९ ॥

अभिवाद्य च शान्तात्मा स गुरुं गुरुवत्सलः ।
विपुलः पर्युपातिष्ठद्यथापूर्वमशङ्कितः । ॥ ३० ॥
वह शान्तचित्त गुरुवत्सल विपुल गुरुको प्रणाम कर पहलेकी भांति अशङ्कित होकर गुरुकी सेवा करने लगे ॥ ३० ॥

विश्रान्ताय ततस्तस्मै सहासीनाय भार्यया ।
निवेदयामास तदा विपुलः शक्रकर्म तत् ॥ ३१ ॥
जब वह विश्राम करके भार्याके सहित बैठे, तब विपुलने उनसे इन्द्रका सब कार्य सुना दिया ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिस्तुष्टो विपुलस्य प्रतापवान् ।
बभूव शीलवृत्ताभ्यां तपसा नियमेन च ॥ ३२ ॥
वह प्रतापवान् मुनिश्रेष्ठ विपुलका वचन सुनके उसके स्वभाव, चरित्र, तपस्या और नियमसे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३२ ॥

विपुलस्य गुरौ वृत्तिं भक्तिमात्मनि च प्रभुः ।
धर्मे च स्थिरतां दृष्ट्वा साधु साध्वित्युवाच ह ॥ ३३ ॥
विपुलकी गुरुसेवावृत्ति, अपने प्रति भक्ति तथा धर्ममें स्थिरता देखकर गुरुने ' साधु साधु ' कहके उसे धन्यवाद दिया ॥ ३३ ॥

प्रतिनन्द्य च धर्मात्मा शिष्यं धर्मपरायणम् ।
वरेण च्छन्दयामास स च नत्वाह गुरुवत्सलः ।
अनुज्ञातश्च गुरुणा चचारानुत्तमं तपः ॥ ३४ ॥

धर्मात्मा देवशर्माने शिष्यको धर्मपरायण जानके उससे कहा, कि वर मांगो । गुरुवत्सल विपुलने गुरुके समीप वर मांगा, वर पाके वे गुरुकी आज्ञासे उत्तम तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ३४ ॥

तथैव देवशर्मापि सभार्यः स महातपाः ।
निर्भयो बलवृत्रघ्नाच्चचार विजने वने ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ १९८९ ॥

वह महातपस्वी देवशर्मा भी बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रसे निडर होकर भार्याके सहित निर्जन वनमें विचरने लगे ॥ ३५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इकतलीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ १९८९ ॥

: ४२ :

भीष्म उवाच—

विपुलस्त्वकरोत्तीव्रं तपः कृत्वा गुरोर्वचः ।
तपोयुक्तमथात्मानममन्यत च वीर्यवान् ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर वीर्यवान् विपुलने गुरुका वचन प्रतिपालन करके तीव्र तपस्या की; इससे शक्ति बढ जानेके कारण वे अपनेको महान् तपस्वी मानने लगे ॥ १ ॥

स तेन कर्मणा स्पर्धन्पृथिवीं पृथिवीपते ।
चचार गतभीः प्रीतो लब्धकीर्तिर्नरो नृषु ॥ २ ॥

हे पृथ्वीपति ! वह निज कर्मसे कीर्ति लाभ करके पुरुषोंमें श्रेष्ठ प्रसन्न चित्त होकर स्पर्द्धा करते हुए, निर्भयचित्तसे पृथ्वीमंडलपर विचरने लगे ॥ २ ॥

उभौ लोकौ जितौ चापि तथैवामन्यत प्रभुः ।
कर्मणा तेन कौरव्य तपसा विपुलेन च ॥ ३ ॥

हे कौरव्य ! शक्तिशाली विपुल उस गुरुपत्नीका संरक्षण कार्य तथा अत्यन्त तपस्याचरणके सहारे मानने लगे कि मैंने दोनों लोक जीत लिये है ॥ ३ ॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते कस्मिंश्चित्कुरुनन्दन ।
रुच्या भगिन्या दानं वै बभूव धनधान्यवत् ॥ ४ ॥

हे कुरुनन्दन ! अनन्तर कुछ समय बीतनेपर रुचिके भगिनीका बहुतसे धनधान्यसे युक्त पाणिग्रहण संपन्न हुआ ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु दिव्या काचिद्वराङ्गना ।
बिभ्रती परमं रूपं जगामाथ विहायसा ॥ ५ ॥

उस ही समय कोई दिव्य वराङ्गना परम मनोहर रूप धारण करके आकाशमार्गसे जा रही थी ॥ ५ ॥

तस्याः शरीरात्पुष्पाणि पतितानि महीतले ।
तस्याश्रमस्याविदुरे दिव्यगन्धानि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! उस आश्रमसे थोडी ही दूरपर उस दिव्याङ्गनाके अङ्गसे दिव्यसुगन्धयुक्त बहुतसे फूल पृथ्वीपर गिरे ॥ ६ ॥

तान्यगृह्णात्ततो राजन्रुचिर्नलिनलोचना ।
तदा निमन्त्रकस्तस्या अङ्गेभ्यः क्षिप्रमागमत् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! अनन्तर कमलनयनी रुचिने उन फूलोंको ग्रहण कर लिया, उस ही समय अंगदेशसे शीघ्र ही उसके समीप एक निमन्त्रक आया ॥ ७ ॥

तस्या हि भगिनी तात ज्येष्ठा नाम्ना प्रभावती ।
भार्या चित्ररथस्याथ बभूवाङ्गेश्वरस्य वै ॥ ८ ॥

हे तात ! प्रभावती नामकी उसकी जेठी बहिन अंगदेशके राजा चित्ररथकी भार्या थी ॥८॥

पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी ।
आमन्त्रिता ततोऽगच्छद्रुचिरङ्गपतेर्गृहान् ॥ ९ ॥

वरवर्णिनी रुचि आमन्त्रित होनेपर केशोंमें उन्हीं फूलोंको गुथके अंगराजके घरपर गई ॥९॥

पुष्पाणि तानि दृष्ट्वाथ तदाङ्गेन्द्रवराङ्गना ।
भगिनीं चोदयामास पुष्पार्थे चारुलोचना ॥ १० ॥

उस समय अंगराजकी उत्तम नेत्रवाली रानीने उन फूलोंको देखकर अपनी वहिनसे वैसे ही फूल मंगवा देनेको कहा ॥ १० ॥

सा भर्त्रे सर्वमाचष्ट रुचिः सुरुचिरानना ।
भगिन्या भाषितं सर्वमृषिस्तच्चाभ्यनन्दत ॥ ११ ॥

सुन्दर मुखवाली रुचिने भगिनीका वचन पतिके निकट कह सुनाया; ऋषिने उसके वचनका समादर किया ॥ ११ ॥

ततो विपुलमानाय्य देवशर्मा महातपाः ।
पुष्पार्थे चोदयामास गच्छ गच्छेति भारत ॥ १२ ॥

हे भारत ! अनन्तर महातपस्वी देवशर्माने विपुलको बुलवा करके फूल लानेके निमित्त आज्ञा की और कहा— जाओ, जाओ ॥ १२ ॥

विपुलस्तु गुरोर्वाक्यमविचार्य महातपाः ।
स तथेत्यब्रवीद्राजंस्तं च देशं जगाम ह ॥ १३ ॥

हे राजन् ! महातपस्वी विपुल गुरुकी आज्ञा पाकर, उसपर कुछ भी विचार न करके बोले, कि ऐसा ही करूंगा; फिर उन्होंने उस ही स्थानपर गमन किया ॥ १३ ॥

यस्मिन्देशे तु तान्यासन्पतितानि नभस्तलात् ।
अम्लानान्यपि तत्रासन्कुसुमान्यपराण्यपि ॥ १४ ॥

जिस स्थानपर वे समस्त फूल आकाससे गिरे थे; वहांपर और भी कितनेही ताजे पुष्प पडे थे ॥ १४ ॥

ततः स तानि जग्राह दिव्यानि रुचिराणि च ।
प्राप्तानि स्वेन तपसा दिव्यगन्धानि भारत ॥ १५ ॥

हे भारत ! अनन्तर उन्होंने अपने तपोबलसे प्राप्त हुए उन दिव्य सुगन्धवाले मनोहर पुष्पोंको ग्रहण किया ॥ १५ ॥

संप्राप्य तानि प्रीतात्मा गुरोर्वचनकारकः ।
ततो जगाम तूर्णं च चम्पां चम्पकमालिनीम् ॥ १६ ॥

गुरुके बचनको पालन करनेवाले विपुलने उस समय उन फूलोंको पाके प्रसन्नचित्त होकर शीघ्र ही चम्पाके वृक्षोंसे घिरी हुई चम्पानगरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ १६ ॥

स वने विजने तात ददर्श मिथुनं नृणाम् ।
चक्रवत्परिवर्तन्तं गृहीत्वा पाणिना करम् ॥ १७ ॥

हे तात ! उन्होंने उस निर्जन बनके बीच एक दूसरेका हाथ पकड कर चक्रकी भांति परिवर्त्तनकारी नरमिथुन देखा ॥ १७ ॥

तत्रैकस्तूर्णमगमत्तत्पदे परिवर्तयन् ।
एकस्तु न तथा राजंश्चक्रतुः कलहं ततः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! उन दोनोंके बीच एक शीघ्र गमन कर रहा था, दूसरा उसके पदमें विषमता प्रतिपादन करते हुए साथमें गमन करता था; अनन्तर उस समय वे दोनों इच्छा करने लगे ॥ १८ ॥

त्वं शीघ्रं गच्छसीत्येकोऽब्रवीन्नेति तथापरः ।
नेति नेति च तौ तात परस्परमथोचतुः ॥ १९ ॥

तात ! एक कहता था, तुमने शीघ्र गमन किया है; दूसरा कहने लगा, मैंने शीघ्र गमन नहीं किया है । वे दोनों आपसमें नहीं, नहीं, ऐसा ही वचन कहने लगे ॥ १९ ॥

तयोर्विस्पर्धतोरेवं शपथोऽयमभूत्तदा ।
मनसोद्दिश्य विपुलं तौ वाक्यमथोचतुः ॥ २० ॥
उस समय इस ही भांति विवाद होते रहनेपर उन दोनोंमें शपथ खानेका प्रसंग आया; फिर विचार करके विपुलको उद्देश्य करके वे दोनों इस प्रकार बोले ॥ २० ॥

आवयोरनृतं प्राह यस्तस्याथ द्विजस्य वै ।
विपुलस्य परे लोके या गतिः सा भवेदिति ॥ २१ ॥
इस विपुल ब्राह्मणकी परलोकमें जो गति होगी, हम लोगोंके बीच जो मिथ्या कहता है, उसकी भी वही गति होगी ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो विषण्णवदनोऽभवत् ।
एवं तीव्रतपाश्चाहं कष्टश्चायं परिग्रहः ॥ २२ ॥
विपुलने ऐसा वचन सुनके खिन्न वदन होकर सोचा, कि ऐसी अत्यंत कठोर तपस्या करनेवाला हूं तो भी मेरी दुर्गति होगी, तो तपस्याका यही कष्टप्रद फल हुआ ॥ २२ ॥

मिथुनस्यास्य किं मे स्यात्कृतं पापं यतो गतिः ।
अनिष्टा सर्वभूतानां कीर्तितानेन मेऽद्य वै ॥ २३ ॥
मैंने ऐसा कौनसा पाप किया है, जिस कारण मेरी यह दुर्गति होगी, जो सब प्राणियोंके लिये अनिष्ट है और इस जोडेको मिलनेवाली है; इस समय इन लोगोंने मेरे समक्ष वर्णन किया है ॥ २३ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव विपुलो राजसत्तम ।
अधोमुखो न्यस्तशिरा दध्यौ दुष्कृतमात्मनः ॥ २४ ॥
हे राजसत्तम ! विपुल इस ही भांति चिन्ता करते हुए अधोमुख होकर सिर नीचा करके अपने दुष्कृति-विषयका ध्यान करने लगे ॥ २४ ॥

ततः षडन्यान्पुरुषानक्षैः काञ्चनराजतैः ।
अपश्यद्दीव्यमानान्वै लोभहर्षान्वितांस्तथा ॥ २५ ॥
अनन्तर उन्होंने सोने और रूपेसे बने हुए अक्षके सहारे जूआ खेलनेवाले, लोभहर्षयुक्त और छः पुरुषोंको अवलोकन किया ॥ २५ ॥

कुर्वतः शपथं तं वै यः कृतो मिथुनेन वै ।
विपुलं वै समुद्दिश्य तेऽपि वाक्यमथाब्रुवन् ॥ २६ ॥
पहले कहे हुए मिथुनने विपुलको उद्देश्य करके जिस प्रकार शपथ किया था, वे भी उस ही भांति शपथ करते थे । अनन्तर वे लोग विपुलको उद्देश्य करके यह वचन बोले ॥ २६ ॥

यो लोभमास्थायास्माकं विषमं कर्तुमुत्सहेत् ।
विपुलस्य परे लोके या गतिस्तामवाप्नुयात् ॥ २७ ॥

हम लोगोंके बीच जो लोभवशसे बेईमानीका आचरण करेगा, वह उस ही गतिको प्राप्त होगा, जैसी विपुलको परलोकमें मिलनेवाली है ॥ २७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो नापश्यद्धर्मसंकरम् ।
जन्मप्रभृति कौरव्य कृतपूर्वमथात्मनः ॥ २८ ॥

हे कौरव्य ! ऐसा वचन सुनके विपुलने जन्मसे लेकर वर्तमानकाल तकके अपने कर्मोंको याद किया; परन्तु अपनेको धर्मसङ्करकारी नहीं समझा ॥ २८ ॥

स प्रदध्यौ तदा राजन्नग्नावग्निरिवाहितः ।
दह्यमानेन मनसा शापं श्रुत्वा तथाविधम् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! वह इस प्रकार शाप सुनके एक अग्निमें दूसरी अग्नि रखी गयी हो और उसकी ज्वाला बढ गयी हो, उसी भांति मनसे दह्यमान होके चिन्ता करने लगे ॥ २९ ॥

तस्य चिन्तयतस्तात बह्वयो दिननिशा ययुः ।
इदमासीन्मनसि च रुच्या रक्षणकारितम् ॥ ३० ॥

हे तात ! उनके चिन्ता करते रहनेपर अनेक रात्रि और दीन व्यतीत हुई; अनन्तर उनके अन्तःकरणमें गुरुपत्नी रुचिके विषयमें रक्षाजनित व्यवहार उदित हुआ ॥ ३० ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
विधाय न मया चोक्तं सत्यमेतद्गुरोस्तदा ॥ ३१ ॥

स्त्रीपुरुषके असाधारण लक्षणको लक्षणसे और मुखको मुखसे निगृहीत करके, मैंने गुरुके निकट इस विषयको सत्य नहीं कहा है ॥ ३१ ॥

एतदात्मनि कौरव्य दुष्कृतं विपुलस्तदा ।
अमन्यत महाभाग तथा तच्च न संशयः ॥ ३२ ॥

हे महाभाग कौरव्य ! उस समय विपुलने अपने मनमें इसीको दुष्कृत माना और वही निश्चय पाप था, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३२ ॥

स चम्पां नगरीमेत्य पुष्पाणि गुरवे ददौ ।
पूजयामास च गुरुं विधिवत्स गुरुप्रियः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ २०२२ ॥

अनन्तर उन्होंने चम्पानगरीमें आकर गुरुको फूल दिये और उस गुरुप्रिय विपुलने विधिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ ३३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ २०२२ ॥

---

(४३)

भीष्म उवाच—

समागतमभिप्रेक्ष्य शिष्यं वाक्यमथाब्रवीत् ।
देवशर्मा महातेजा यत्तच्छृणु नराधिप ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे प्रजानाथ ! अनन्तर महातेजस्वी देवशर्माने उस शिष्यको आया हुआ देखकर जो वचन कहा था, उसे सुनो ॥ १ ॥

देवशर्मोवाच—

किं ते विपुल दृष्टं वै तस्मिन्नद्य महावने ।
ते त्वा जानन्ति निपुण आत्मा च रुचिरेव च ॥ २ ॥

देवशर्मा बोले– हे विपुल ! तुमने उस महावनके बीच क्या देखा था ? वे रुचिको और तुम्हारी कुशल आत्माको जानते हैं ॥ २ ॥

विपुल उवाच—

ब्रह्मर्षे मिथुनं किं तत्के च ते पुरुषा विभो ।
ये मां जानन्ति तत्त्वेन तांश्च मे वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

विपुल बोले– हे विभु ब्रह्मर्षि ! जो लोग मुझे यथार्थ रीतिसे जानते हैं, वह मिथुन कौन था और वे सब पुरुष भी कौन थे ? उनके विषयमें आप मुझे कहिये ॥ ३ ॥

देवशर्मोवाच—

यद्वै तन्मिथुनं ब्रह्मन्नहोरात्रं हि विद्धि तत् ।
चक्रवत्परिवर्तेत तत्ते जानाति दुष्कृतम् ॥ ४ ॥

देवशर्मा बोले– हे ब्रह्मन् ! तुमने जो मिथुन देखा था, जो कि चक्रकी भांति भ्रमण कर रहा है, उसे दिन और रात्रि जानो; वे तुम्हारे पापकर्मको जानते हैं ॥ ४ ॥

ये च ते पुरुषा विप्र अक्षैर्दीव्यन्ति हृष्टवत् ।
ऋतूंस्तानभिजानीहि ते ते जानन्ति दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

हे विप्र ! जो सब पुरुष हर्षित होकर अक्षक्रीडा कर रहे थे, उन्हें छः ऋतु जानो, वे तुम्हारा दुष्कृत जानते हैं ॥ ५ ॥

न मां कश्चिद्विजानीत इति कृत्वा न विश्वसेत् ।
नरो रहसि पापात्मा पापकं कर्म वै द्विज ॥ ६ ॥

हे द्विज ! पापात्मा मनुष्य एकान्तमें पापकर्म करके, मुझे कोई नहीं जानता है, ऐसा विचार करके विश्वास करना योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

कुर्वाणं हि नरं कर्म पापं रहसि सर्वदा ।
पश्यन्ति ऋतवश्चापि तथा दिननिशोऽप्युत ॥ ७ ॥

एकान्तमें मनुष्य पापाचरण करता है, परंतु मनुष्यके पापाचरण करनेपर ऋतुएं और अहोरात्रि उसे सदा देखा करती हैं ॥ ७ ॥

ते त्वां हर्षस्मितं दृष्ट्वा गुरोः कर्मानिवेदकम् ।
स्मारयन्तस्तथा प्राहुस्ते यथा श्रुतवान्भवान् ॥ ८ ॥
ऋतु प्रभृतिने तुम्हें गुरुके निकट निज पाप कर्म निवेदन न करके हर्षसे गर्वित देखके उस विषयको स्मरण करानेके लिये जो कहा है, वह तुमने सुना है ॥ ८ ॥

अहोरात्रं विजानाति ऋतवश्चापि नित्यशः ।
पुरुषे पापकं कर्म शुभं वा शुभकर्मणः ॥ ९ ॥
अहोरात्र और छहों ऋतु अशुभकर्मशील पुरुषोंके वा शुभ-कर्माके शुभ-अशुभ कर्मोंको सदा जानते हैं ॥ ९ ॥

तत्त्वया मम यत्कर्म व्यभिचाराद्भयात्मकम् ।
नाख्यातमिति जानन्तस्ते त्वामाहुस्तथा द्विज ॥ १० ॥
हे द्विज ! तुमने मेरे समीप अपना व्यभिचारवशसे भयात्मक कर्म नहीं कहा था, उसे ही जानके उन सबने तुमसे ऐसा कहा था ॥ १० ॥

ते चैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वा नाचक्षतः कर्म मम यच्च त्वया कृतम् ॥ ११ ॥
तुमने मेरे समीप जैसा किया है, वैसा पापकर्म करके न कहनेसे उस पापकारीको, वे ही पापाचारियोंके लोक प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

तथा शक्या च दुर्वृत्ता रक्षितुं प्रमदा द्विज ।
न च त्वं कृतवान्किंचिदागः प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १२ ॥
हे द्विज ! उस प्रकार दुश्चरित्रा स्त्रीकी रक्षा करनेमें समर्थ होना शक्य है; उस विषयमें तुमने कुछ पाप नहीं किया, इस ही निमित्त मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं ॥ १२ ॥

यदि त्वहं त्वा दुर्वृत्तमद्राक्षं द्विजसत्तम ।
शपेयं त्वामहं क्रोधान्न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १३ ॥
हे द्विजसत्तम ! यदि मैं तुम्हारा दुराचार देखता, तो क्रोधवश होकर तुम्हें शाप देता; इस विषयमें मेरे मनमें कोई अन्य विचार नहीं है ॥ १३ ॥

सज्जन्ति पुरुषे नार्यः पुंसां सोऽर्थश्च पुष्कलः ।
अन्यथा रक्षतः शापोऽभविष्यत्ते गतिश्च सा ॥ १४ ॥
स्त्रियां पुरुषोंपर अनुरागवती होती हैं और पुरुषोंका भी पूर्णतया वैसा ही भाव होता है; यदि तुम उसकी रक्षा करनेके विपरीत आचरण करते, तो मैं तुम्हें अभिशाप देता और मेरी बुद्धि तुम्हें शाप देनेकी ही हो जाती ॥ १४ ॥

×

रक्षिता सा त्वया पुत्र मम चापि निवेदिता।
अहं ते प्रीतिमांस्तात स्वस्ति स्वर्गं गमिष्यसि ॥ १५ ॥

हे तात ! तुमने यथार्थ रीतिसे मेरी पत्नीकी रक्षा की है और यह वृत्तान्त मुझे सुनाया है। हे पुत्र ! इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं। तुम सुखी रहके स्वर्गमें गमन करोगे ॥१५॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्त्वा विपुलं प्रीतो देवशर्मा महानृषिः।
मुमोद स्वर्गमास्थाय सहभार्यः सशिष्यकः ॥ १६ ॥

भीष्म बोले— महर्षि देवशर्माने प्रसन्न होकर विपुलसे इतनी कथा कहके, भार्या और शिष्यके सहित स्वर्गमें जाकर अतिप्रीति लाभ की थी ॥ १६ ॥

इदमाख्यातवांश्चापि ममाख्यानं महामुनिः।
मार्कण्डेयः पुरा राजन्गङ्गाकूले कथान्तरे ॥ १७ ॥

हे राजन् ! पहले समयमें गंगाके तटपर महामुनि मार्कण्डेयने कथा प्रसङ्गमें मेरे समीप यह उपाख्यान कहा था ॥ १७ ॥

तस्माद्ब्रवीमि पार्थ त्वा स्त्रियः सर्वाः सदैव च।
उभयं दृश्यते तासु सततं साध्वसाधु च। ॥ १८ ॥

हे पार्थ ! इस ही लिये मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हें सदा सब स्त्रियोंकी रक्षा करनी चाहिये। स्त्रियां सदा साधु और दुष्ट दोनोंही दीख पडती हैं ॥ १८ ॥

स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः संमता लोकमातरः।
धारयन्ति महीं राजन्निमां सवनकाननाम् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! यदि स्त्रियां साध्वी हों तो वे अत्यंत सौभाग्यशालिनी होती हैं; जगत्‌में उनका संमान होता है और वे सब लोकोंकी माता मानी हैं; येही वन और काननके सहित इस पृथ्वीमण्डलका धारण करती हैं ॥ १९ ॥

असाध्व्यश्चापि दुर्वृत्ताः कुलघ्न्यः पापनिश्चयाः।
विज्ञेया लक्षणैर्दुष्टैः स्वगात्रसहजैर्नृप ॥ २० ॥

हे नरपाल ! असाध्वी, दुर्वृत्ता, कुलघ्नी, पापकर्मवाली स्त्रियोंको शरीरमें उत्पन्न हुई हाथ पांवकी रेखा तथा दुष्ट लक्षणसे मालूम करना चाहिये ॥ २० ॥

एवमेतासु रक्षा वै शक्या कर्तुं महात्मभिः।
अन्यथा राजशार्दूल न शक्या रक्षितुं स्त्रियः ॥ २१ ॥

महानुभाव मनुष्य इसही प्रकार ऐसी स्त्रियोंकी उत्तम रीतिसे रक्षा करनेमें समर्थ हैं। हे नृपश्रेष्ठ ! अन्यथा स्त्रियोंकी रक्षा अशक्य है ॥ २१ ॥

एता हि मनुजव्याघ्र तीक्ष्णास्तीक्ष्णपराक्रमाः ।
नासामस्ति प्रियो नाम मैथुने संगमे नृभिः ॥ २२ ॥

हे मनुजश्रेष्ठ ! ये तीखे स्वभाववाली तथा दुस्सह पराक्रमशालिनी होती हैं; मैथुनमें जो इनके साथ सहवास करता है, वही इनके लिये प्रिय है, उससे अतिरिक्त और कोई भी प्रिय नहीं है ॥ २२ ॥

एताः कृत्याश्च कार्याश्च कृताश्च भरतर्षभ ।
न चैकस्मिन्नरमन्त्येताः पुरुषे पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! ये कृत्या अर्थात् प्राणघातिनी मूर्त्तरूपी हैं, व्यभिचारिणी होनेपर प्राण हरण किया करती हैं, कार्यरूपिणी और एक पुरुषकी अङ्गीकृत हैं । हे पाण्डुनन्दन ! ये एक पुरुषमें रत नहीं होती ॥ २३ ॥

नासु स्नेहो नृभिः कार्यस्तथैवेर्ष्या जनेश्वर ।
खेदमास्थाय भुञ्जीत धर्ममास्थाय चैव हि ॥ २४ ॥

हे प्रजानाथ ! स्त्रियोंके विषयमें मनुष्योंको स्नेह अथवा ईर्षा करनी उचित नहीं है । ऋतुकालके अनुरोधसे वैराग्यपूर्वक धर्मका आश्रय लेकर इन्हें भोग करे ॥ २४ ॥

विहन्येतान्यथा कुर्वन्नरः कौरवनन्दन ।
सर्वथा राजशार्दूल युक्तिः सर्वत्र पूज्यते ॥ २५ ॥

हे कौरवनन्दन ! इसके विपरीत बर्ताव करनेसे मनुष्य विनाशको प्राप्त होता है । हे राजश्रेष्ठ ! योग सब भांतिसे सर्वत्र समादरणीय है ॥ २५ ॥

तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः ।
नान्यः शक्तो नृलोकेऽस्मिन्रक्षितुं नृप योषितः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ २०४८ ॥

एकमात्र उस विपुलने ही स्त्रीकी रक्षा की थी । हे नृप ! इस मनुष्य लोकके बीच दूसरा कोई भी स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है ॥ २६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ २०४८ ॥

: ४४ :

युधिष्ठिर उवाच—

यन्मूलं सर्वधर्माणां प्रजनस्य गृहस्य च ।
पितृदेवातिथीनां च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! पितृलोक, देवता, अतिथि, उत्पादन, गृह और सब धर्मोंका जो मूल है, आप मुझसे वही कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अयं हि सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः ।
कीदृशाय प्रदेया स्यात्कन्येति वसुधाधिप ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे पृथ्वीनाथ ! यही सब धर्मोंके बीच अत्यन्त चिन्तनीय धर्म कहके सम्मत है, कि कैसे योग्य वरको कन्या दान करे ? ॥ २ ॥

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च ।
अद्भिरेव प्रदातव्या कन्या गुणवते वरे ।
ब्राह्मणानां सतामेष धर्मो नित्यं युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

वरके शीलस्वभाव, चरित्र, विद्या, योनि अर्थात् मातृकुल और पितृकुलकी शुद्धि तथा कर्मको भली भांति जानके मनुष्य सभी दृष्टियोंसे गुणवान् वरको कन्यादान करें । हे युधिष्ठिर ! उक्त गुणोंसे युक्त विवाहके योग्य वरको बुलाकर उसके साथ कन्याका विवाह करना उत्तम ब्राह्मणोंको नित्य धर्म है ॥ ३ ॥

आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ।
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः ॥ ४ ॥

धनदानादिसे सन्तुष्ट करके जो कन्या दान की जाती है; साधु ब्राह्मणोंका यही ब्राह्मधर्म है और श्रेष्ठ क्षत्रियोंका भी यही क्षात्रधर्म है ॥ ४ ॥

आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ।
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर ।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥

हे युधिष्ठिर ! अपने अभिप्रायको छोड करके जिस वरको कन्या चाहती हो और जो वर कन्याको चाहता हो, उसहीको कन्या दान करने को धर्म जाननेवाले पुरुष गान्धर्व विवाह कहा करते हैं ॥ ५ ॥

धनेन बहुना क्रीत्वा संप्रलोभ्य च बान्धवान् ।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! कन्याके बान्धवोंको लुभाके बहुतसे धनके सहारे कन्याको मोल लेके जो विवाह होता है, पंडित लोग उसे आसुर विवाह कहते हैं ॥ ६ ॥

हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसं धर्मलक्षणम् ॥ ७ ॥

हे तात ! कन्याके रोते हुए आत्मियोंको मारके तथा उनके सिर काटके रोती हुई कन्याको गृहसे जबर्दस्तीसे हरके जो विवाह होता है, वह राक्षस विवाह कहा जाता है ॥ ७ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर ।
पैशाच आसुरश्चैव न कर्तव्यौ कथंचन ॥ ८ ॥

राक्षस विवाह अन्तर्गत पैशाच विवाह है, इन पांच प्रकारके विवाहोंसे पूर्वकथित तीन धर्म-सङ्गत हैं और शेष दो धर्मविरुद्ध हैं; अर्थात् कन्या हरण करके जो विवाह होता है, वह राक्षस विवाह और आसुर विवाह किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्व एते धर्म्या नरर्षभ ।
पृथग्वा यदि वा मिश्राः कर्तव्या नात्र संशयः ॥ ९ ॥

हे नरश्रेष्ठ राजन् ! ब्राह्म, क्षात्र और गान्धर्व, ये तीन प्रकारके विवाह ही धर्मसंगत हैं । पृथक् अथवा मिश्रित रीतिसे ये तीन प्रकारके विवाह ही करने योग्य हैं, इस विषयमें सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु ।
वैश्यः स्वजातिं विन्देत तास्वपत्यं समं भवेत् ॥ १० ॥

ब्राह्मणके लिये (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातीय) तीन भार्याएं, क्षत्रियके लिये (क्षत्रिय तथा वैश्य जातीय) दो भार्याएं और वैश्यके लिये स्वजातीय भार्या होवे । इन स्त्रियोंसे जो सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वे सब पिताके समान वर्णवाली होती हैं ॥ १० ॥

ब्राह्मणी तु भवेज्ज्येष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु ।
रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जनाः ॥ ११ ॥

ब्राह्मणकी पत्नियोंमें ब्राह्मण कन्या श्रेष्ठ मानी जाती है, और क्षत्रियकी क्षत्रिय कन्या श्रेष्ठ है । कुछ लोग कहते हैं कि रतिके ही लिये शूद्र जातिकी कन्यासे विवाह कर सकते हैं, परंतु दूसरे लोग ऐसा नहीं मानते ॥ ११ ॥

अपत्यजन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः ।
शूद्रायां जनयन्विप्रः प्रायश्चित्ती विधीयते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणका शूद्रा स्त्रीसे सन्तान उत्पन्न करना साधु पुरुषोंके बीच प्रशंसित नहीं है; यदि ब्राह्मण शूद्रा स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करे, तो वह प्रायश्चित्त करनेके योग्य होता है ॥ १२ ॥

त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात् ॥ १३ ॥

तीस वर्षका पुरुष जो रजस्वला न हुई हो ऐसी दस वर्षकी कन्या और इक्कीश वर्षकी अवस्थावाला पुरुष सात वर्षकी कुमारी कन्याको भार्यारूपसे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता पिता वा भरतर्षभ ।
नोपयच्छेत तां जातु पुत्रिकाधर्मिणी हि सा ॥ १४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस कन्याके भाई अथवा पिता न हों, उसे कदापि न ब्याहे, क्योंकि वह कन्या अपने पिताके पुत्रस्थानीय हो सकती है ॥ १४ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती ।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत् ॥ १५ ॥

कन्या ऋतुमती होनेपर तीन वर्षतक अपने विवाहकी बाट देखे; चौथा वर्ष लगनेपर वह स्वयं ही अपना स्वामी खोज लेवे ॥ १५ ॥

प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ ।
अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद्वाच्या प्रजापतेः ॥ १६ ॥

स्वयं पति खोज लेनेवाली स्त्रीका उस पुरुषके साथ किया हुआ सम्बन्ध और उससे होनेवाली सन्तान निम्न श्रेणीकी नहीं समझी जाती । जो नारी इसके विपरीत आचरण करती है, वह प्रजापतिके निकट निन्दनीय होती है ॥ १६ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥

जो कन्या माताकी सपिण्ड और पिताकी सगोत्र न हो, उसे ही ब्याहे; मनुने इसे ही सनातन धर्म कहा है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

शुल्कमन्येन दत्तं स्याद्ददानीत्याह चापरः ।
बलादन्यः प्रभाषेत धनमन्यः प्रदर्शयेत् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! कोई विवाह पक्का करके शुल्क दान करे, दूसरा मैंने दान किया ऐसा वचन कहकर विवाह पक्का करे, कोई जबर्दस्तीसे हरनेको कहे, कोई पुरुष उसके सम्बन्धियोंको धन दिखावे ॥ १८ ॥

पाणिगृहीता त्वन्यः स्यात्कस्य कन्या पितामह ।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ॥ १९ ॥

और कोई पाणिग्रह करके चुका हो, तब उनमेंसे वह कन्या किसकी भार्या होगी ? हम तत्त्वजिज्ञासुओंके पक्षमें आप नेत्रस्वरूप हैं ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच—

यत्किंचित्कर्म मानुष्यं संस्थानाय प्रकृष्यते ।
मन्त्रवन्मन्त्रितं तस्य मृषावादस्तु पातकः ॥ २० ॥

भीष्म बोले— मनुष्योंके हित जनक " यह इसकी भार्या है " इत्यादि व्यवस्थाजनित जो कुछ कर्म मन्त्र जाननेवाले पुरुषोंके द्वारा मन्त्रित किया जाता है, उसे मिथ्या करनेसे वह पापका भागी हुआ करता है ॥ २० ॥

भार्यापत्यृत्विगाचार्याः शिष्योपाध्याय एव च ।
मृषोक्ते दण्डमर्हन्ति नेत्याहुरपरे जनाः ॥ २१ ॥

भार्या, पति, ऋत्विक्, आचार्य, शिष्य और उपाध्याय भी मिथ्या कहनेपर प्रायश्चित्तके भागी होते हैं; परंतु दूसरे लोग उन्हें दंडके भागी नहीं मानते हैं ॥ २१ ॥

न ह्यकामेन संवादं मनुरेवं प्रशंसति ।
अयशस्यमधर्म्यं च यन्मृषा धर्मकोपनम् ॥ २२ ॥

अकाम मनुष्यके सङ्ग चर्चा करनेकी मनु प्रशंसा नहीं करते । मिथ्या धर्म प्रकाश करना अयश और अधर्मयुक्त है; वह धर्मको नष्ट करनेवाला माना गया है ॥ २२ ॥

नैकान्तदोष एकस्मिंस्तद्दानं नोपलभ्यते ।
धर्मतो यां प्रयच्छन्ति यां च क्रीणन्ति भारत ॥ २३ ॥

हे भारत ! पाणिग्रहण विधिके अनुसार बन्धु जन जो कन्या दान कर देते हैं अथवा मूल्य लेकर देते हैं, उस कन्याको मनुष्य अपने घर ले जाय, तो इसमें दोष नहीं होता; तो उसमें दोषकी प्राप्ति कैसे होगी ? ॥ २३ ॥

बन्धुभिः समनुज्ञातो मन्त्रहोमौ प्रयोजयेत् ।
तथा सिध्यन्ति ते मन्त्रा नादत्तायाः कथंचन ॥ २४ ॥

हे भारत ! बन्धुजन कर्मके अनुसार जो कन्या प्रदान करें, अथवा जिसे बेंचें, बान्धवोंकी अनुज्ञा होनेपर उसके सम्बन्धमें मन्त्र और होम प्रयोग करे, तब वे सब मन्त्र सिद्ध होते हैं; बान्धवोंके द्वारा अदत्ता कन्याके सम्बन्धमें मन्त्र प्रयोग करनेसे वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥ २४ ॥

यस्त्वत्र मन्त्रसमयो भार्यापत्योर्मिथः कृतः ।
तमेवाहुर्गरीयांसं यश्चासौ ज्ञातिभिः कृतः ॥ २५ ॥

भार्या और पति दोनोंमें मन्त्रके द्वारा की हुई प्रतिज्ञा श्रेष्ठ है, तो भी उसके लिये बन्धुजनोंका आशीर्वाद मिले तो अधिक बढतर उत्तम है ॥ २५ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां वेत्ति धर्मस्य शासनात् ।
सा दैवीं मानुषीं वाचमनृतां पर्युदस्यति ॥ २६ ॥

पति धर्मके शासनवशसे भार्याको प्राक्तनकर्मदत्ता अथवा ईश्वरकी दी हुई जानके ग्रहण करता है; वह मानुषी मिथ्या वाणीको परित्याग करता है ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कन्यायां प्राप्तशुल्कायां ज्यायांश्चेदाव्रजेद्वरः ।
धर्मकामार्थसंपन्नो वाच्यमत्रानृतं न वा ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले– यदि कन्याके लिये किसी पुरुषने शुल्क दान किया हो, फिर धर्म, काम, अर्थ और कुलशील आदिसे युक्त दूसरा वर यदि उस कन्याको ग्रहण करे, तो वह निन्दनीय होगा, अथवा वह विवाह असिद्ध होगा ? ॥ २७ ॥

तस्मिन्नुभयतो दोषे कुर्वञ्छ्रेयः समाचरेत् ।
अयं नः सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः ॥ २८ ॥

शिष्टातिक्रम और बन्धु सम्मतिपूर्वक विक्रयातिक्रम दोनों ओर दोष उपस्थित होनेपर कर्त्ता किस श्रेष्ठ पक्षको कल्याणकारी समझके अवलम्बन करे ? यही हम लोगोंको सब धर्मोंके बीच अत्यन्त विचारणीय है ॥ २८ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ।
तदेतत्सर्वमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथयताम् ॥ २९ ॥

हम तत्व–जिज्ञासा कर रहे हैं, आप हमारे नेत्रस्वरूप होइये; इन सब विषयोंको वर्णन करिये, आपका वचन सुनके हम लोगोंकी तृप्तिकी सीमा नहीं होती है ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच—

न वै निष्ठाकरं शुल्कं ज्ञात्वासीत्तेन नाहृतम् ।
न हि शुल्कपराः सन्तः कन्यां ददति कर्हिचित् ॥ ३० ॥

भीष्म बोले– शुल्क ग्रहण करनेसेही विवाहकी सिद्धि नहीं होती है । मूल्य देनेवाला ऐसा जानके शुल्क देता है और उसे वापस नहीं मांगता; और साधु लोग शुल्क ग्रहण करके भी कभी विशेष कारणवश कन्या दान नहीं करते ॥ ३० ॥

अन्यैर्गुणैरुपेतं तु शुल्कं याचन्ति बान्धवाः ।
अलंकृत्वा वहस्वेति यो दद्यादनुकूलतः ॥ ३१ ॥

यदि वर अवस्थामें अधिक होता है, तो कन्याके बान्धवगण शुल्क मांगते हैं । कन्याको आभूषण देकर विवाह करो, ऐसा कहनेपर वर आभूषण देकर विवाह करे तो यह धर्मानुकूल ही है ॥ ३१ ॥

तच्च तां च ददात्येव न शुल्कं विक्रयो न सः ।
प्रतिगृह्य भवेद्देयमेष धर्मः सनातनः ॥ ३२ ॥

जो कन्याके लिये आभूषण लेकर कन्या दान किया जाता है, वैसा विवाह शुल्कग्रहणपूर्वक विक्रय नहीं होता । कन्याके लिये कोई वस्तु स्वीकार करके कन्याका दान करना ही सनातन धर्म है ॥ ३२ ॥

दास्यामि भवते कन्यामिति पूर्वं न भाषितम् ।
ये चैवाहुर्ये च नाहुर्ये चावश्यं वदन्त्युत ॥ ३३ ॥

जो मैं तुम्हें कन्यादान करूंगा, ऐसा वचन कहते हैं, जो 'नहीं दूंगा' कहते हैं और जो पुरुष अवश्य दान करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, उनकी ये सभी बातें कन्या देनेके पहले नहीं कही हुईके समान हैं ॥ ३३ ॥

तस्मादा ग्रहणात्पाणेर्याचयन्ति परस्परम् ।
कन्यावरः पुरा दत्तो मरुद्भिरिति नः श्रुतम् ॥ ३४ ॥

इसलिये जबतक पाणिग्रहण नहीं होता, तबतक कन्या और वर परस्पर प्रार्थना किया करते हैं। मैंने ऐसा सुना है, कि जबतक कन्या प्रदान नहीं की जाती, तबतक उसके निमित्त सभी प्रार्थना कर सकते हैं, मरुद्गणोंने कन्याके सम्बन्धमें ऐसा ही वरदान किया है ॥ ३४ ॥

नानिष्टाय प्रदातव्या कन्या इत्यृषिचोदितम् ।
तन्मूलं काममूलस्य प्रजनस्येति मे मतिः ॥ ३५ ॥

अनिष्ट वरको कन्या दान न करे, यह ऋषिवाक्य है। सुयोग्यको कन्या दान करना ही काम और अपत्यकी मूल है, इसलिये जो पुरुष उत्तम दौहित्रकी इच्छा करता है, वह कल्याणके निमित्त श्रेष्ठ पात्रको कन्या दान करे, मुझे ऐसा ही निश्चय है ॥ ३५ ॥

समीक्ष्य च बहून्दोषान्संवासाद्विद्विषाणयोः ।
यथा निष्ठाकरं शुल्कं न जात्वासीत्तथा शृणु ॥ ३६ ॥

चिरपरिचयवशसे कन्याके क्रयविक्रयके बहुतेरे दोषोंको देखकर मालूम कर सकेंगे; शुल्क दे देना कभी विवाहसिद्धिके विषयमें कारण नहीं होता, उसे कहता हूं, सुनो ॥ ३६ ॥

अहं विचित्रवीर्याय द्वे कन्ये समुदावहम् ।
जित्वा च मागधान्सर्वान्काशीनथ च कोसलान् ।
गृहीतपाणिरेकासीत्प्राप्तशुल्कापराभवत् ॥ ३७ ॥

पहले मैं मगध, काशी और कोसल देशीय सब राजाओंको जीतके विचित्रवीर्यके विवाहके लिये दो कन्याओंको हरण करके लाया था; उनमेंसे एकका पाणिग्रहण हुआ था, दूसरीका शुल्क प्राप्त होके भी गृहीता नहीं हुई ॥ ३७ ॥

पाणौ गृहीता तत्रैव विसृज्या इति मे पिता ।
अब्रवीदितरां कन्यामावहत्स तु कौरवः ॥ ३८ ॥

क्योंकि मेरे तात कुरुवंशीय बाह्लिकने पाणिगृहीत कन्याको त्याग करके दूसरी कन्याके सङ्ग विवाह करनेके लिये वहीं कहा था ॥ ३८ ॥

×

अपृच्छन्थास्तनुपप्रच्छ शङ्कमानः पितुर्वचः ।
अतीव ह्यस्य धर्मेप्सा पितुर्मेऽभ्यधिकाभवत् ॥ ३९ ॥

मैंने उनके वचनमें शङ्का करके दूसरे पुरुषोंसे इसके विषयमें पूछा; परंतु इस विषयमें मेरे चाचाकी अत्यन्त प्रबल इच्छा थी कि धर्मका पालन किया जाय ॥ ३९ ॥

ततोऽहमब्रुवं राजन्नाचारेप्सुरिदं वचः ।
आचारं तत्त्वतो वेत्तुमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ ४० ॥

हे राजन् ! अनन्तर आचार जाननेके लिये अभिलाषी होकर मैंने बार बार कहा, कि मैं यथार्थ रीतिसे परम्परागत आचार जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ ४० ॥

ततो मयैवमुक्ते तु वाक्ये धर्मभृतां वरः ।
पिता मम महाराज बाह्लीको वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! जब मैंने ऐसा कहा, तब धार्मिक- श्रेष्ठ मेरे पितृव्य बाह्लिक बोले ॥ ४१ ॥

यदि वः शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणं तथा ।
लाजान्तरमुपासीत प्राप्तशुल्का पतिं वृतम् ॥ ४२ ॥

यदि तुम्हारे मतमें शुल्क देनेसे ही विवाह सिद्ध हो, पाणिग्रहणसे नहीं, तो जिस कन्याके लिये शुल्क दिया गया है, उसके पतिके निमित्त लाजादि वस्तुओंको लानेका क्या प्रयोजन है ? ॥ ४२ ॥

न हि धर्मविदः प्राहुः प्रमाणं वाक्यतः स्मृतम् ।
येषां वै शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात्तथा ॥ ४३ ॥

जिनका मत शुल्कदानसे ही विवाह सिद्ध होता है, पाणिग्रहणसे नहीं, उनके कथनको धर्म जाननेवाले पुरुष वाग्दानको कन्यादान विषयमें प्रमाण नहीं कहते ॥ ४३ ॥

प्रसिद्धं भाषितं दाने तेषां प्रत्ययनं पुनः ।
ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो जनाः ॥ ४४ ॥

ऐसा अभिप्राय प्रसिद्ध है, कि कन्या दानके विषयमें उनके वचन मान्य नहीं है और इसमें लोगोंको विश्वास नहीं होता । शुल्कको जो लोग क्रयमूल्य समझते हैं, वे धर्मज्ञ नहीं हैं ॥ ४४ ॥

न चैतेभ्यः प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा ।
न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रेया कथंचन ॥ ४५ ॥

वैसे पुरुषोंको कन्यादान करना उचित नहीं है और इस प्रकारकी कन्याको भी व्याहना अनुचित है; क्योंकि भार्या किसी प्रकार क्रय अथवा विक्रय करनेकी वस्तु नहीं है ॥ ४५ ॥

ये च क्रीणन्ति दासीवद्ये च विक्रीणते जनाः ।
भवेत्तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम् ॥ ४६ ॥

जो लोग भार्याको दासीकी भांति क्रय-विक्रय करते हैं, वे पापबुद्धि और लोभी होते हैं; उनकी इस प्रकारके व्यवहारमें ही निष्ठा होती है ॥ ४६ ॥

अस्मिन्धर्मे सत्यवन्तं पर्यपृच्छन्त वै जनाः ।
कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः शुल्कदः प्रशमं गतः ॥ ४७ ॥

पहले समयमें लोगोंने यही विषय सत्यवानसे पूछा था, कि जिस किसी कन्याके निमित्त किसी पुरुषने शुल्क प्रदान किया हो, उसकी मृत्यु होनेपर ॥ ४७ ॥

पाणिग्रहीता चान्यः स्यादत्र नो धर्मसंशयः ।
तन्नश्छिन्धि महाप्राज्ञ त्वं हि वै प्राज्ञसंमतः ।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ॥ ४८ ॥

दूसरा पुरुष पाणिग्रहण कर सकता है या नहीं ? इसलिये इस विषयमें हम लोगोंको धर्म विषयक सन्देह होता है। हे महाप्राज्ञ! आप प्राज्ञसंमत हैं, इसलिये हम लोगोंका यह सन्देह दूर करिये; हम तत्व जिज्ञासा करते हैं, आप हम लोगोंके निमित्त नेत्र स्वरूप— मार्गदर्शक होइये ॥ ४८ ॥

तानेवं ब्रुवतः सर्वान्सत्यवान्वाक्यमब्रवीत् ।
यत्रेष्टं तत्र देया स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।
कुर्वते जीवतोऽप्येवं मृते नैवास्ति संशयः ॥ ४९ ॥

उन सब लोगोंके ऐसा कहते रहनेपर सत्यवान बोले, जहां योग्य वर मिले वहीं कन्या दान करे, इस विषयमें अन्य विचार करना उचित नहीं है; शुल्कदाता यदि जीवित हो तो भी सुयोग्य वर मिलनेपर साधु लोग इस ही प्रकार इच्छानुसार कन्याका दान किया करते हैं, फिर उसके मरनेपर अन्यत्र करें, इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४९ ॥

देवरं प्रविशेत्कन्या तप्येद्वापि महत्तपः ।
तमेवानुव्रता भूत्वा पाणिग्राहस्य नाम सा ॥ ५० ॥

शुल्कदाताके मरनेके पश्चात् कन्या उसके देवरको पतिरूपमें वरण करे, अथवा उस पाणि-ग्रहीताकी कामनासे व्रत अवलम्बन करके तपस्याचरण करे ॥ ५० ॥

लिखन्त्येव तु केषांचिदपरेषां शनैरपि ।
इति ये संवदन्त्यत्र त एतं निश्चयं विदुः ॥ ५१ ॥

किसी किसी पुरुषोंके मतमें देवर प्रभृति अनुपभुक्त भ्रातृभार्याको सुरतकार्यमें प्रवृत्त करे, दूसरे लोगोंके मतमें यह प्रवृत्ति मन्थरा अर्थात् यह ऐच्छिकी प्रवृत्ति युक्त नहीं है। इस विषयमें जो लोक विवाद करते हैं, वे पूर्वोक्त रीतिसे निश्चय किया करते हैं ॥ ५१ ॥

तत्पाणिग्रहणात्पूर्वमुत्तरं यत्र वर्तते ।
सर्वमङ्गलमन्त्रं वै मृषावादस्तु पातकः ॥ ५२ ॥
इसलिये पाणिग्रहणके पहले अथवा उसके बीच जो सब हरिद्रा-लेपन स्नान प्रभृति मङ्गल कार्य और मन्त्र पाठ आदि जिसमें निष्पन्न होते हैं, वैसा अवकाशकाल जिसमें रहता है, उसमें ही पूर्वोक्त नियम सङ्गत होते हैं और सङ्कल्पपूर्वक प्रदान की हुई कन्याको हरने तथा उसके लिये मिथ्या वचन कहनेसे पाप होता है ॥ ५२ ॥

पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात्सप्तमे पदे ।
पाणिग्राहस्य भार्या स्याद्यस्य चाद्भिः प्रदीयते ॥ ५३ ॥
सप्तपदीके सातवें पदमें पाणिग्रहणके मन्त्रोंकी सफलता हुआ करती है, जलसे संकल्प करके जिसे कन्या दान की जाती है, उस ही पाणिग्रहीताकी भार्या हुआ करती है ॥ ५३ ॥

अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम् ।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद्द्विजोत्तमः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ २१०२ ॥

वक्ष्यमाण रीतिसे कन्या सम्प्रदान करना योग्य है, पण्डित लोग इसे निश्चय ही जानते हैं, द्विजश्रेष्ठ अनुकूल सवंश और अनुरूप भ्रातृदत्ता कन्याको अग्निके निकट न्यायपूर्वक परिक्रमा देकर ग्रहण करे ॥ ५४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ २१०२ ॥

: ४५ :

युधिष्ठिर उवाच—

कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः पतिश्चेन्नास्ति कश्चन ।
तत्र का प्रतिपत्तिः स्यात्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! यदि कन्याका शुल्कप्रद पति उपस्थित न हो— परदेश गया हो, तब उस विषयमें उसे कैसा व्यवहार करना योग्य है, आप मुझसे वही कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

या पुत्रकस्याप्यरिक्थस्य प्रतिपत्सा तदा भवेत् । ॥ २ ॥
भीष्म बोले— समृद्धिशाली पुत्रक पिताकी प्रतिपालनीय कन्याके लिये जो शुल्क गृहीत हुआ था, यदि वह वरपक्षीय पुरुषोंको प्रत्यर्पित किया जाय, तो वह कन्या पिताकी ही प्रतिपाल्य रहेगी ॥ २ ॥

अथ चेत्प्रत्याहरेच्छुल्कं क्रीता शुल्कप्रदस्य सा ।
तस्यार्थेऽपत्यमीहेत येन न्यायेन शक्नुयात् ॥ ३ ॥

और यदि शुल्क प्रत्यर्पण न किया जाय, तो उसे शुल्कदाताकी मोल ली हुई होकर रहना होगा । उस शुल्कदाताके निमित्त जिस न्यायोचित प्रकार होसके, सन्तानोत्पत्तिके लिये इच्छा करे ॥ ३ ॥

न तस्या मन्त्रवत्कार्यं कश्चित्कुर्वीत किंचन ॥ ४ ॥

इसलिये उस शुल्कदाताके अतिरिक्त और कोई भी उस कन्याके सङ्ग मन्त्र उच्चारण करके विवाह या और कोई कार्य न करे ॥ ४ ॥

स्वयं वृतेति सावित्री पित्रा वै प्रत्यपद्यत ।
तत्तस्यान्ये प्रशंसन्ति धर्मज्ञा नेतरे जनाः ॥ ५ ॥

सावित्रीने पिताकी आज्ञा लेकर जिसे स्वयं वरण किया था, उसहीके सङ्ग विवाह किया; उसके वैसे कार्यकी कोई धर्मज्ञ प्रशंसा करते हैं, परन्तु दूसरे मनुष्य उस विषयका अनुमोदन नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

एतत्तु नापरे चक्रुर्न परे जातु साधवः ।
साधूनां पुनराचारो गरीयो धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि दूसरे साधु पुरुषोंने ऐसा आचरण नहीं किया है, और कुछ कहते हैं कि अन्योंने कभी ऐसा किया भी है । साधु पुरुषोंका आचार ही धर्मका गुरुतर लक्षण है ॥ ६ ॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे सुक्रतुर्वाक्यमब्रवीत् ।
नप्ता विदेहराजस्य जनकस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

विदेहराज महाराज जनकके नाती सुक्रतुने इस प्रकरणमें ही वक्ष्यमाण वचन कहा है ॥ ७ ॥

असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ।
अनुप्रश्नः संशयो वा सतामेतदुपालभेत् ॥ ८ ॥

दुष्टोंके आचरित पथका किस प्रकार शास्त्रोंसे अनुमोदन किया जा सकता है ? इस विषयमें साधु-पुरुषोंके निकट प्रश्न अथवा संशय कैसे उपस्थित किया जा सकता है ? ॥ ८ ॥

असदेव हि धर्मस्य प्रमादो धर्म आसुरः ।
नानुशुश्रुम जात्वेतामिमां पूर्वेषु जन्मसु ॥ ९ ॥

स्त्रियोंके अस्वाधीनता-धर्मको खण्डन करना, दोष बताना आसुरधर्म है; पहलेके बूढोंमें विवाह कार्यमें स्त्रियोंकी स्वाधीनतापद्धति हमने कदापि नहीं सुनी है ॥ ९ ॥

भार्यापत्योर्हि संबन्धः स्त्रीपुंसोस्तुल्य एव सः ।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः ॥ १० ॥

भार्या और पतिका अथवा स्त्री–पुरुषका सम्बन्ध बहुतही सूक्ष्म है; उस सुक्रतु राजाने यह भी कहा था, कि रति साधारण धर्म है ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अथ केन प्रमाणेन पुंसामादीयते धनम् ।
पुत्रवद्धि पितुस्तस्य कन्या भवितुमर्हति ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले– जब पिताके निकट कन्या भी पुत्रके तुल्य है, तब उसके रहते हुए किस प्रमाणके अनुसार केवल पुरुष धन ग्रहण करते हैं ? ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १२ ॥

भीष्म बोले– पुत्र अपने आत्माके समान है, पुत्री भी पुत्रके तुल्य है, इसलिये आत्मस्वरूपी पुत्रीके उपस्थित रहते किस प्रकार दूसरा पुरुष धन हरण कर सकता है ? ॥ १२ ॥

मातुश्च यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव वा रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ॥ १३ ॥

पुत्र रहे वा न रहे, माताको जो दहेजमें धन मिलता है, उसपर कन्याका अधिकार है, उसमें पुत्रोंका अंश नहीं है; अपुत्रक पुरुषके धनको लेनेके लिये दौहित्र ही अधिकारी है, वही उसे ले सकता है ॥ १३ ॥

ददाति हि स पिण्डं वै पितुर्मातामहस्य च ।
पुत्रदौहित्रयोर्नेह विशेषो धर्मतः स्मृतः ॥ १४ ॥

क्योंकि दौहित्र ही अपने पिता और मातामहको पिण्डदान किया करता है, इसलिये धर्मानुसार पुत्र और दौहित्रमें कुछ विशेष नहीं माना जाता है ॥ १४ ॥

अन्यत्र जातया सा हि प्रजया पुत्र ईहते ।
दुहितान्यत्र जातेन पुत्रेणापि विशिष्यते ॥ १५ ॥

पुत्र उत्पन्न होनेके पहले यदि कन्या उत्पन्न हुई और वह यदि पुत्रीकरण नियमके अनुसार पुत्रस्थानीय मान ली गयी तथा यदि उसके अनन्तर पुत्र भी उत्पन्न हुआ, तो वह पुत्र उस कन्याके साथ ही पिताके धनका अधिकारी होता है । यदि दूसरेका पुत्र गोद लिया गया हो तो उस दत्तक पुत्रसे निज तनुसे उत्पन्न हुई कन्या श्रेष्ठ मानी जाती है ॥ १५ ॥

दौहित्रकेण धर्मेण नात्र पश्यामि कारणम् ।
विक्रीतासु च ये पुत्रा भवन्ति पितुरेव ते ॥ १६ ॥

मूल्य लेकर बेची हुई कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्र केवल अपने पिताके उत्तराधिकारी होते हैं; इसलिये उन्हें दौहित्रक धर्मके अनुसार मातामहके धनका अधिकारी बननेके लिये कोई कारण मैं नहीं देखता ॥ १६ ॥

असूयवस्त्वधर्मिष्ठाः परस्वादायिनः शठाः ।
आसुराद्धिसम्भूता धर्माद्विषमवृत्तयः ॥ १७ ॥

कन्याको बेचके जो लोग आसुर विवाह करते हैं, उन कन्याके असूयायुक्त, पापी, पराया धन अनुचित रूपसे लेनेवाले, शठ और धर्मके विषम वृत्तिवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
धर्मज्ञा धर्मशास्त्रेषु निबद्धा धर्मसेतुषु ॥ १८ ॥

धर्मशास्त्रके जाननेवाले धर्म मर्यादाओंमें बंधे हुए इतिहासवेत्ता पण्डित लोग इस विषयमें यमकी कही हुई कथा वर्णन किया करते हैं ॥ १८ ॥

यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति ।
कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति ॥ १९ ॥

जो मनुष्य अपने पुत्रको बेचके धन लाभ करना चाहता है, अथवा जीविकाके लिये शुल्क ग्रहण करके कन्या प्रदान करता है, ॥ १९ ॥

सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये ।
स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन्प्रेत उपाश्नुते ॥ २० ॥

वह मृत होकर सात नरकोंसे भी निकृष्ट कालसूत्र नामक घोर नरकमें पडकर अपने ही स्वेद, मूत्र और विष्ठाका भक्षण किया करता है ॥ २० ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पं वा बहु वा राजन्विक्रयस्तावदेव सः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! कोई कोई आर्ष विवाहमें गोमिथुनको शुल्कके रूपमें लेनेको कहा करते हैं, परंतु वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि चाहे शुल्क थोडा हो या अधिक हो, लेनेसे ही कन्याका बेचना सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

यद्यप्याचरितः कैश्चिन्नैष धर्मः कथंचन ।
अन्येषामपि दृश्यन्ते लोभतः संप्रवृत्तयः ॥ २२ ॥

यद्यपि किसी किसी पुरुषोंके द्वारा यह आचरित हुआ है, तोभी यह किसी भी प्रकार सनातन धर्म नहीं है । दूसरे लोगोंमें भी लोभवश बहुतसी प्रवृत्तियां देखी जाती हैं ॥ २२ ॥

वश्यां कुमारीं विहितां ये च तामुपभुञ्जते ।
एते पापस्य कर्तारस्तमस्यन्धेऽथ शेरते ॥ २३ ॥

जबरदस्तीसे वशमें करके जो लोग कुमारी कन्याका उपभोग करते हैं, वे पापाचारी मनुष्य अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हैं ॥ २३ ॥

अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः ।
अधर्ममूलैर्हि धनैर्न तैरर्थोऽस्ति कश्चन ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ २१२६ ॥

जब कि अन्य मनुष्यको भी बेचना योग्य नहीं है, तब अपनी सन्तानको बेचना कदापि धर्मसङ्गत नहीं हो सकता; अधर्ममूलक धनसे किया हुआ कोई भी कार्य सफल नहीं होता ॥ २४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ २१२६ ॥

: ४६ :

भीष्म उवाच—

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– प्राचीन इतिहासके जाननेवाले पंडितलोग दक्ष प्रजापतिके वचनके अनुसार कहते हैं, कि कन्यादानके समय उसके पक्षवाले जातीय पुरुष यदि स्वयंके लिये कुछ भी धन न लेकर कन्याके वस्त्र आभूषणके लिये मांगे, तो वह कन्याका बेचना नहीं कहा जाता ॥ १ ॥

अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत् ।
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात्कन्यायै तदशेषतः ॥ २ ॥

वह तो उनका सत्कार होता है, वह तो परम दयालुतापूर्ण कार्य है, प्राप्त हुई सभी वस्तुएं– धन कन्याको दान करना उचित है ॥ २ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैव श्वशुरैरथ देवरैः ।
पूज्या लालयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३ ॥

अधिक कल्याणकी इच्छा करनेवाले पिता, भाई, श्वशुर और देवरवृन्द स्त्रियोंका पूजन तथा स्नेह देकर उनका सत्कार करें ॥ ३ ॥

यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदनात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्धते ॥ ४ ॥

यदि स्त्रीका अनुराग पूर्ण नहीं किया जाय तो वह अपने पतिको प्रमुदित भी नहीं कर सकती, उस अप्रमोद-निबन्धनसे पुरुषकी संतान वृद्धि नहीं हो सकती है ॥ ४ ॥

पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप ।
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।
तदैव तत्कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः ॥ ५ ॥

हे जननाथ ! स्त्रियोंका सदा सत्कार और लालन करना योग्य है और जिन गृहोंमें स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वहांपर सब कार्य ही विफल होते हैं । जिस समय स्त्रियां दुःखसे शोक मग्न होती हैं, उस ही समय वह कुल विनष्ट होता है ॥ ५ ॥

जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया ।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव ॥ ६ ॥

हे राजन् ! जिन घरोंको स्त्रियां दुःखित होकर अभिशाप देती हैं, वे सब गृह कृत्याके द्वारा नष्ट हुएके समान विच्छिन्न होते हैं तथा वे श्रीहीन होके शोभा नहीं पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है ॥ ६ ॥

स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम् ।
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ॥ ७ ॥

स्वर्गमें जानेकी इच्छा करनेवाले मनुने पुरुषोंके हाथमें स्त्रियोंको अर्पित किया और कहा— स्त्रियां अबला, थोडेसे वस्त्रोंसे समाधान माननेवाली, उदार हृदयवाली, सत्यपरायण, ॥७॥

ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डा असुहृदोऽबुधाः ।
स्त्रियो मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः ॥ ८ ॥

ईर्ष्यालु, मानकी इच्छा करनेवाली, अत्यंत क्रोधी, असुहृद् और सरल स्वभावकी हैं। स्त्रियां सम्मानके योग्य हैं, इसलिये तुम लोग उनका सम्मान करो ॥ ८ ॥

स्त्रीप्रत्ययो हि वो धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः ।
परिचर्यान्नसंस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः ॥ ९ ॥

स्त्री ही हमारे धर्मकी सिद्धि हैं और उनसे ही रतिभोग हुआ करता है; तुम्हारी परिचर्या तथा अन्नसंस्कार स्त्रियोंके ही वशमें होंगे ॥ ९ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रा च पश्यत स्त्रीनिबन्धनम् ॥ १० ॥

देखिये, पुत्र उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए बालकका लालन-पालन और लोकयात्राकी प्रीतिके विषयमें स्त्री ही कारण है ॥ १० ॥

संमान्यमानाश्चैताभिः सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ ।
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥ ११ ॥

इनके संमान करनेसे तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे; विदेहराज जनककी दुहिताने इस स्त्री-धर्मके विषयमें एक श्लोक कहा है ॥ ११ ॥

नास्ति यज्ञः स्त्रियः कश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
धर्मस्तु भर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ॥ १२ ॥

स्त्रियोंके लिये कोई यज्ञकर्म, श्राद्ध तथा उपवास करना आवश्यक नहीं है; स्त्रियोंके लिये निज पतिकी सेवा ही धर्म है, उसहीसे वे स्वर्गको जीतती हैं ॥ १२ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रास्तु स्थविरीभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १३ ॥

बालकपनमें पिता कन्याकी रक्षा करता है, जवानीमें पति स्त्रीकी रक्षा किया करता है और बुढापेमें पुत्रगण उसकी रक्षा करते हैं, इसलिये स्त्री कभी स्वतंत्र रहनेके योग्य नहीं है ॥ १३ ॥

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
लालिता निगृहीता च स्त्री श्रीर्भवति भारत ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ २१४० ॥

स्त्रियां श्री–लक्ष्मी स्वरूप हैं; ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उनका संमान करना चाहिये । हे भारत ! स्त्रियां सुखपूर्ण और आनन्दित रहने तथा उत्तम रीतिसे रक्षित होनेपर ही लक्ष्मीस्वरूप होती हैं ॥ १४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ २१४० ॥

: ४७ :

युधिष्ठिर उवाच—

सर्वशास्त्रविधानज्ञ राजधर्मार्थवित्तम ।
अतीव संशयच्छेत्ता भवान्वै प्रथितः क्षितौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्वशास्त्रविधानके जाननेवाले राजधर्म अर्थज्ञ श्रेष्ठ पितामह ! आप सब संशयोंका पूर्ण रीतिसे निवारण करनेवाले कहके पृथ्वीपर विख्यात हैं ॥ १ ॥

कश्चित्तु संशयो मेऽस्ति तन्मे ब्रूहि पितामह ।
अस्यामापदि कष्टायामन्यं पृच्छाम कं वयम् ॥ २ ॥

मुझे कुछ सन्देह है, उसे आप दूर करिये । हे राजन् ! ऐसा अनिष्ट संशय उपजनेपर हम लोग दूसरे किसीसे पूछेंगे ? ॥ २ ॥

यथा नरेण कर्तव्यं यश्च धर्मः सनातनः ।
एतत्सर्वं महाबाहो भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! धर्ममार्गमें गमन करनेवाले मनुष्यका जो कुछ सनातन धर्म—कर्तव्य हो, आपको वह सब वर्णन करना उचित है ॥ ३ ॥

चतस्रो विहिता भार्या ब्राह्मणस्य पितामह ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च रतिमिच्छतः ॥ ४ ॥

हे पितामह ! रतिकी कामनावाले ब्राह्मणके निमित्त ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा ये चार प्रकारकी भार्या विहित हुई हैं ॥ ४ ॥

तत्र जातेषु पुत्रेषु सर्वासां कुरुसत्तम ।
आनुपूर्व्येण कस्तेषां पित्र्यं दायाद्यमर्हति ॥ ५ ॥

हे कुरुनन्दन ! उन सबसे ही पुत्र उत्पन्न होनेसे उनमेंसे आनुपूर्विक क्रमसे कौन पैतृक अंश पानेके योग्य होगा ? ॥ ५ ॥

केन वा किं ततो हार्यं पितृवित्तात्पितामह ।
एतदिच्छामि कथितं विभागस्तेषु यः स्मृतः ॥ ६ ॥

हे पितामह ! उनके बीच कौन पुत्र कितने परिमाणसे उस पिताका धन लेगा ? शास्त्रके अनुसार उन लोगोंका जैसा हिस्सा है, उसे आप वर्णन करिये, मैं यही सुननेकी अभिलाष करता हूं ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
एतेषु विहितो धर्मो ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य— ये तीनों वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं; इन सबके लिये ब्राह्मणका विवाह धर्मसे विहित हुआ है ॥ ७ ॥

वैषम्यादथ वा लोभात्कामाद्वापि परंतप ।
ब्राह्मणस्य भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ८ ॥

हे शत्रुतापन ! अन्याय अथवा लोभ तथा कामवशसे ब्राह्मणकी शूद्रा पत्नी होती है; शास्त्रके अनुसार वह नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणः पीडितो भवेत् ।
प्रायश्चित्तीयते चापि विधिदृष्टेन हेतुना ॥ ९ ॥

ब्राह्मण शूद्रा स्त्रीको निज शय्यापर सुलानेसे दुःखित होता है और शास्त्रीय विधिके हेतुसे वह प्रायश्चित्ताई हुआ करता है ॥ ९ ॥

तत्र जातेष्वपत्येषु द्विगुणं स्याद्युधिष्ठिर ।
अतस्ते नियमं वित्ते संप्रवक्ष्यामि भारत ॥ १० ॥

हे युधिष्ठिर ! शूद्रा स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न होनेपर ब्राह्मणको दूना प्रायश्चित्त करना पडता है। हे भारत ! इसलिये मैं उसका जो नियम है वह कहता हूं ॥ १० ॥

लक्षण्यो गोवृषो यानं यत्प्रधानतमं भवेत्।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत्पुत्र एकांशं वै पितुर्धनात् ॥ ११ ॥

लक्षणयुक्त गृह, गौ, वृषभ, सवारी तथा दूसरे जो कुछ अत्यन्त उत्तम वस्तु रहेगी, ब्राह्मणीका पुत्र पितृधनमेंसे उस ही मुख्य हिस्सेको पावेगा ॥ ११ ॥

शेषं तु दशधा कार्यं ब्राह्मणस्वं युधिष्ठिर ।
तत्र तेनैव हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात् ॥ १२ ॥

हे युधिष्ठिर ! शेषमें जो कुछ ब्राह्मणका धन रहेगा, वह दस हिस्सेमें बटेगा; ब्राह्मणीका पुत्र ही उस पितृधनमेंसे चार भाग लेगा ॥ १२ ॥

क्षत्रियायास्तु यः पुत्रो ब्राह्मणः सोऽप्यसंशयः ।
स तु मातृविशेषेण त्रीनंशान्हर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

क्षत्रिया स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र भी निःसन्देह ब्राह्मण ही होता है; वह पुत्र माताकी विशिष्टताके अनुसार पितृधनका तीन हिस्सा पावेगा ॥ १३ ॥

वर्णे तृतीये जातस्तु वैश्यायां ब्राह्मणादपि ।
द्विरंशस्तेन हर्तव्यो ब्राह्मणस्वाद्युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! तृतीय वर्णवाली वैश्या स्त्रीसे जो पुत्र ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न होता है, वह ब्राह्मणस्वमेंसे दो भाग ग्रहण करेगा ॥ १४ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो नित्यादेयधनः स्मृतः ।
अल्पं वापि प्रदातव्यं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १५ ॥

ब्राह्मणके द्वारा जो पुत्र शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न होता है, उसे सब भांतिसे धन न देनेका ही विधान है । हे भारत ! तो भी शूद्रा स्त्रीके पुत्रको पितृधनका स्वल्पतम भाग– एक अंश धन देना योग्य है ॥ १५ ॥

दशधा प्रविभक्तस्य धनस्यैष भवेत्क्रमः ।
सवर्णासु तु जातानां समान्भागान्प्रकल्पयेत् ॥ १६ ॥

दस हिस्सेमें बटे हुए धनके विभाग क्रमसे इस ही प्रकार देना चाहिये और सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें समान हिस्सा देना योग्य है ॥ १६ ॥

अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात् ।
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद्ब्राह्मणो भवेत् ॥ १७ ॥

बिना समन्त्रक संस्कार हुए शूद्रा स्त्रीके गर्भसे ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्रको अब्राह्मण समझा जाता है, क्योंकि उसमें ब्राह्मणोचित निपुणता नहीं होती है । शेष तीन वर्णकी स्त्रियोंसे ब्राह्मणी, क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न हुए सन्तान ब्राह्मण हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

स्मृता वर्णाश्च चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते ।
हरेत्तु दशमं भागं शूद्रापुत्रः पितुर्धनात् ॥ १८ ॥

चार वर्ण ही शास्त्र सिद्ध हैं, इनसे भिन्न पांचवां वर्ण नहीं है । शूद्राका पुत्र पितृधनमेंसे दसवां हिस्सा ले सकता है ॥ १८ ॥

तत्तु दत्तं हरेत्पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ।
अवश्यं हि धनं देयं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १९ ॥

शूद्रापुत्रको पिता जो कुछ दे, वह उसे ही लेवे, बिना दी हुई वस्तुको वह नहीं ले सकेगा । हे भारत ! शूद्रापुत्रको अवश्य धन दान करना उचित है ॥ १९ ॥

आनृशंस्यं परो धर्म इति तस्मै प्रदीयते ।
यत्र तत्र समुत्पन्नो गुणायैवोपकल्पते ॥ २० ॥

दया ही परम धर्म है, इस ही निमित्त उसे धनका हिस्सा दिया जाता है; दया जिस स्थानमें अनुष्ठित होती है, वहांपर ही गुणकी हेतु हुआ करती है ॥ २० ॥

यदि वाप्येकपुत्रः स्यादपुत्रो यदि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय भारत ॥ २१ ॥

हे भारत ! ब्राह्मणके अन्य वर्णकी स्त्रियोंसे एकही पुत्र हो अथवा वह पुत्ररहित ही हो, वह शूद्राके पुत्रको दसवें भागसे अधिक धन न देवे ॥ २१ ॥

त्रैवार्षिकाद्यदा भक्तादधिकं स्याद्द्विजस्य तु ।
यजेत तेन द्रव्येण न वृथा साधयेद्धनम् ॥ २२ ॥

ब्राह्मणके समीप त्रैवार्षिक अन्नसे जब अधिक धन इकट्ठा हो, तो उसे उस ही धनसे यज्ञ करना होगा; धनका व्यर्थ संग्रह वह न करे ॥ २२ ॥

त्रिसाहस्रपरो दायः स्त्रियो देयो धनस्य वै ।
तच्च भर्त्रा धनं दत्तं नादत्तं भोक्तुमर्हति ॥ २३ ॥

स्त्रीको तीन सहस्रसे ज्यादा धन न देवे । पति भार्याको जो धन देता है, वह उसे यथोचित रूपसे उपभोगमें लावें; और न दिये हुए धनका पतिके साथ उपभोग करें ॥ २३ ॥

स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम् ।
नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन ॥ २४ ॥

स्त्रियां पतिके धनसे जो भाग मिलता है उसका उपभोग करें, वही उसका फल माना जाता है । पतिके दिये हुए धनसे कोई भी अपहार न करे ॥ २४ ॥

स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं युधिष्ठिर ।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत्कन्या यथा पुत्रस्तथा हि सा ।
सा हि पुत्रसमा राजन्विहिता कुरुनन्दन ॥ २५ ॥

हे युधिष्ठिर ! स्त्रियोंके समीप पिताका दिया हुआ जो धन रहे, ब्राह्मणीका होनेपर उसे कन्या लेगी, क्यों कि जैसा पुत्र है, कन्या भी उस ही भांति है । हे कुरुनन्दन महाराज ! कन्या पुत्रके समान कही गई है ॥ २५ ॥

एवमेतत्समुद्दिष्टं धर्मेषु भरतर्षभ ।
एतद्धर्ममनुस्मृत्य न वृथा साधयेद्धनम् ॥ २६ ॥

हे भरतर्षभ इस ही प्रकार धर्ममें पूरी रीतिसे निर्दिष्ट किया गया है; इसलिये इस धर्मका अनुस्मरण करके धनको वृथा संपादन न करे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो यद्यदेयधनः स्मृतः ।
केन प्रतिविशेषेण दशमोऽप्यस्य दीयते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले— ब्राह्मणसे शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रको यदि धन अदेय है, तो किस प्रकारकी विशेषतासे उसे पिताके धनका दसवां हिस्सा दिया जाता है ? ॥ २७ ॥

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।
क्षत्रियायां तथैव स्याद्वैश्यायामपि चैव हि ॥ २८ ॥

ब्राह्मणी स्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न हुआ पुत्र निःसन्देह ब्राह्मण होता है; क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न हुआ सन्तान भी वैसा ही ब्राह्मण होता है ॥ २८ ॥

कस्मात्ते विषमं भागं भजेरन्नृपसत्तम ।
यदा सर्वे त्रयो वर्णास्त्वयोक्ता ब्राह्मणा इति ॥ २९ ॥

हे नृपसत्तम ! इससे जब आपने इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मण कहा है, तब ये किस लिये न्यून हिस्सा भोग करेंगे ? ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच—

दारा इत्युच्यते लोके नाम्नैकेन परंतप ।
प्रोक्तेन चैकनाम्नायं विशेषः सुमहान्भवेत् ॥ ३० ॥

भीष्म बोले— हे परन्तप ! लोकसमाजके बीच धर्म कामकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके आदरकी पात्र दारा हैं, इस ही एक मात्र नामसे स्त्रियोंको पहचाना जाता है; इस एक नामसे ही यह अत्यन्त महान् विशेषता होती है, [चारों वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें महान् अन्तर होता है] ॥ ३० ॥

तिस्रः कृत्वा पुरो भार्याः पश्चाद्विन्देत ब्राह्मणीम् ।
सा ज्येष्ठा सा च पूज्या स्यात्सा च ताभ्यो गरीयसी ॥ ३१ ॥

यदि ब्राह्मण पहले क्षत्रिया आदि तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंके साथ पाणिग्रहण करके पश्चात् ब्राह्मणीके सङ्ग विवाह करे, तब वह ब्राह्मणी कनिष्ठा होनेपर भी पितृगौरवके कारण उन स्त्रियोंकी अपेक्षा ज्येष्ठ, पूजनीय तथा प्रतिष्ठित भार्या होती है ॥ ३१ ॥

स्नानं प्रसाधनं भर्तुर्दन्तधावनमञ्जनम् ।
हव्यं कव्यं च यच्चान्यद्धर्मयुक्तं भवेद्गृहे ॥ ३२ ॥

पतिके स्नान, प्रसाधन, दन्तधावन, अञ्जन और हव्य–कव्य आदि तथा और भी जो कुछ धर्मकार्य गृहमें करना योग्य हो, ॥ ३२ ॥

न तस्यां जातु तिष्ठन्त्यामन्या तत्कर्तुमर्हति ।
ब्राह्मणी त्वेव तत्कुर्याद्ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

ये सब कार्य ब्राह्मणके लिये ब्राह्मणीको ही करने चाहिये; उसके घरमें उपस्थित रहते, क्षत्रिया प्रभृति दूसरी स्त्रियां उन्हे कदापि नहीं कर सकतीं ॥ ३३ ॥

अन्नं पानं च माल्यं च वासांस्याभरणानि च ।
ब्राह्मण्यै तानि देयानि भर्तुः सा हि गरीयसी ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणीही ब्राह्मणके उन सब कार्योंको निबाहेगी, ब्राह्मणी ही पतिको अन्न, पान, माला, वस्त्र, और आभूषण आदि देगी, क्योंकि वह पतिकी गरीयसी भार्या है ॥ ३४ ॥

मनुनाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन ।
तत्राप्येष महाराज दृष्टो धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

हे कुरुनन्दन महाराज ! जो शास्त्र मनुके द्वारा वर्णित हुआ है, उसमें भी यही सनातन धर्म दीख पडता है ॥ ३५ ॥

अथ चेदन्यथा कुर्याद्यदि कामाद्युधिष्ठिर।
यथा ब्राह्मणचण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ३६ ॥

हे युधिष्ठिर ! यदि कोई इस शास्त्रीय पद्धतिके विपरीत आचरण कामके वशीभूत होकर करे, तो पहले कहे हुएके अनुसार वह ब्राह्मण चण्डाल माना जाता है ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण्याः सदृशः पुत्रः क्षत्रियायाश्च यो भवेत्।
राजन्विशेषो नास्त्यत्र वर्णयोरुभयोरपि ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! क्षत्रियाका पुत्र जो ब्राह्मणीके पुत्रके समान ही होगा, उन दोनोंमें उभय वर्णगत विशेषता नहीं रहती है ॥ ३७ ॥

न तु जात्या समा लोके ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत्।
ब्राह्मण्याः प्रथमः पुत्रो भूयान्स्याद्राजसत्तम।
भूयोऽपि भूयसा हार्यं पितृवित्ताद्युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥

जगत्के बीच जातिमें क्षत्रिया ब्राह्मणीके समान नहीं हो सकती। हे राजसत्तम युधिष्ठिर ! ब्राह्मणीका पुत्र क्षत्रियोंके पुत्रसे पहला तथा ज्येष्ठ होता है और वह पितृधनमेंसे अधिक अंश पानेका अधिकारी है ॥ ३८ ॥

यथा न सदृशी जातु ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत्।
क्षत्रियायास्तथा वैश्या न जातु सदृशी भवेत् ॥ ३९ ॥

जैसे क्षत्रिया कभी ब्राह्मणीके समान नहीं हो सकती, वैसे ही वैश्या भी कदापि क्षत्रियाके सदृश नहीं हो सकती ॥ ३९ ॥

श्रीश्च राज्यं च कोशश्च क्षत्रियाणां युधिष्ठिर।
विहितं दृश्यते राजन्सागरान्ता च मेदिनी ॥ ४० ॥

हे राजन् ! युधिष्ठिर ! सम्पत्ति, राज्य, खजाना और सागरमेखला पृथिवी क्षत्रियोंके ही निमित्त विहित हुई दीख पडती है ॥ ४० ॥

क्षत्रियो हि स्वधर्मेण श्रियं प्राप्नोति भूयसीम्।
राजा दण्डधरो राजन्रक्षा नान्यत्र क्षत्रियात् ॥ ४१ ॥

क्योंकि क्षत्रिय निज धर्मके सहारे बहुतसी सम्पत्ति प्राप्त करता है। हे राजन् ! क्षत्रिय ही राजदण्ड धारण करता है, क्षत्रियके अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष रक्षाका कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागा देवानामपि देवताः।
तेषु राजा प्रवर्तेत पूजया विधिपूर्वकम् ॥ ४२ ॥

महाभाग ब्राह्मणवृन्द देवताओंके भी देवता हैं, ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करनेमें राजा प्रवृत्त रहे ॥ ४२ ॥

प्रणीतमृषिभिर्ज्ञात्वा धर्मं शाश्वतमव्ययम् ।
लुप्यमानः स्वधर्मेण क्षत्रियो रक्षति प्रजाः ॥ ४३ ॥

ऋषियोंके प्रणीत शाश्वत अव्यय धर्मकी आलोचना करके उसे लुप्त होता जानकर क्षत्रिय स्वयंके धर्मानुसार प्रजाकी रक्षा करे ॥ ४३ ॥

दस्युभिर्ह्रियमाणं च धनं दाराश्च सर्वशः ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

डाकुओंसे धन लुटे जाने तथा स्त्री हरी जानेपर क्षत्रिय ही सब भाँतिसे उसकी रक्षा किया करता है, राजा ही सब वर्णोंका त्राणकर्त्ता होता है ॥ ४४ ॥

भूयान्स्यात्क्षत्रियापुत्रो वैश्यापुत्रान्न संशयः ।
भूयस्तेनापि हर्तव्यं पितृवित्ताद्युधिष्ठिर ॥ ४५ ॥

इसलिये वैश्याके पुत्रसे क्षत्रियाके पुत्रकी श्रेष्ठताके विषयमें सन्देह नहीं है । हे युधिष्ठिर ! इस कारणसे ही क्षत्रियाका पुत्र पितृधनमेंसे वैश्यापुत्रसे अधिक हिस्सा लेगा ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

उक्तं ते विधिवद्राजन्ब्राह्मणस्वे पितामह ।
इतरेषां तु वर्णानां कथं विनियमो भवेत् ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! आपने ब्राह्मणके दायविभागके नियम विधिपूर्वक कहे; दूसरे वर्णोंके लोगोंके विषयमें उक्त नियम किस प्रकारका होगा ? ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच—

क्षत्रियस्यापि भार्ये द्वे विहिते कुरुनन्दन ।
तृतीया च भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ४७ ॥

भीष्म बोले— हे कुरुनन्दन ! क्षत्रियके निमित्त क्षत्रिया और वैश्या, येही दो वर्णोंकी भार्या विहित हैं; तीसरी शूद्रा भी उसकी भार्या हो सकती है, परंतु शास्त्रके अनुसार उसका समर्थन नहीं होता ॥ ४७ ॥

एष एव क्रमो हि स्यात्क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।
अष्टधा तु भवेत्कार्यं क्षत्रियस्वं युधिष्ठिर ॥ ४८ ॥

हे युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंके दायविभागका भी यही क्रम है; क्षत्रियके धनको आठ हिस्सेमें विभक्त करना होगा ॥ ४८ ॥

क्षत्रियाया हरेत्पुत्रश्चतुरोंऽशान्पितुर्धनात् ।
युद्धावहारिकं यच्च पितुः स्यात्स हरेच्च तत् ॥ ४९ ॥

क्षत्रियका पुत्र उस पितृधनमेंसे चार हिस्सा ग्रहण करे और पिताकी जो युद्धकी उपयोगी वस्तु हों, उन्हें भी वही लेगा ॥ ४९ ॥

×

वैश्यापुत्रस्तु भागांस्त्रीन्शूद्रापुत्रस्तथाष्टमम्।
सोऽपि दत्तं हरेत्पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ॥ ५० ॥

वैश्याका पुत्र शेषमेंसे तीन भाग और शूद्राका पुत्र आठवां हिस्सा वह भी पिताके देनेपर ही लेगा, पावेगा; अन्यथा उसे अदत्त धन ग्रहण करनेका अधिकार नहीं है ॥ ५० ॥

एकैव हि भवेद्भार्या वैश्यस्य कुरुनन्दन।
द्वितीया वा भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ५१ ॥

हे कुरुनन्दन ! वैश्य जातिके लिये एक ही वैशकन्या भार्या विहित है; दूसरी शूद्रा भार्या भी हो सकती है, परंतु शास्त्रके अनुसार उसका समर्थन नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

वैश्यस्य वर्तमानस्य वैश्यायां भरतर्षभ।
शूद्रायां चैव कौन्तेय तयोर्विनियमः स्मृतः ॥ ५२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र ! वैश्या और शूद्रा पत्नीमें वैश्यके पुत्र हों, तो उनके लिये भी धनके विभाजनका वैसा ही नियम है ॥ ५२ ॥

पञ्चधा तु भवेत्कार्यं वैश्यस्वं भरतर्षभ।
तयोरपत्ये वक्ष्यामि विभागं च जनाधिप ॥ ५३ ॥

हे प्रजानाथ भरतर्षभ ! वैश्यके धनको पांच हिस्सेमें विभक्त करना होगा। वैश्या और शूद्राके सन्तानोंमें उस धनका विभाजन कैसे होगा, वह कहता हूं ॥ ५३ ॥

वैश्यापुत्रेण हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात्।
पञ्चमस्तु भवेद्भागः शूद्रापुत्राय भारत ॥ ५४ ॥

हे भारत ! वैश्याका धन पितृधनमेंसे चार हिस्सा लेगा और शूद्रासन्तानके लिये केवल पांचवां भाग कहा गया है ॥ ५४ ॥

सोऽपि दत्तं हरेत्पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति।
त्रिभिर्वर्णैस्तथा जातः शूद्रो देयधनो भवेत् ॥ ५५ ॥

शूद्रापुत्र पिताका दिया हुआ धन ही ले और यदि पिता उसे न दे तो वह उसे हरण न कर सकेगा; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंके द्वारा उत्पन्न हुआ शूद्रापुत्र पितृ-धनका अधिकारी नहीं होता, तब पिता इच्छा करनेसे उसे केवल एक हिस्सा दे सकता है ॥ ५५ ॥

शूद्रस्य स्यात्सवर्णैव भार्या नान्या कथंचन।
शूद्रस्य समभागाः स्याद्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ ५६ ॥

शूद्रके लिये केवल सवर्ण भार्या हुआ करती है, किसी भांति दूसरी भार्या नहीं होती। उस शूद्रके यदि सौ पुत्र भी हों, तथापि वे समान हिस्सा पावेंगे ॥ ५६ ॥

जातानां समवर्णासु पुत्राणामविशेषतः ।
सर्वेषामेव वर्णानां समभागो धने स्मृतः ॥ ५७ ॥

समान वर्णवाली भार्याके गर्भसे उत्पन्न हुए सब वर्णोंके सब पुत्रोंका पितृधनमें समान भाग माना गया है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठस्य भागो ज्येष्ठः स्यादेकांशो यः प्रधानतः ।
एष दायविधिः पार्थ पूर्वमुक्तः स्वयंभुवा ॥ ५८ ॥

किन्तु ज्येष्ठ पुत्रको प्रधानताके हेतु उसके लिये एक भाग पृथक् अधिक देना होगा। हे पार्थ! पहले स्वयम्भु ब्रह्माके द्वारा पिताके धनके विभाजनकी यह विधि वर्णित हुई है ॥ ५८ ॥

समवर्णासु जातानां विशेषोऽस्त्यपरो नृप ।
विवाहवैशेष्यकृतः पूर्वः पूर्वो विशिष्यते ॥ ५९ ॥

हे राजन्! सवर्णा भार्यासे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें यह अन्य विशेषता है; केवल विवाहकी विशिष्टतानिबन्धनसे पहले पहलेका पुत्र ही श्रेष्ठ होता है, दूसरे विवाहकी स्त्रीका पुत्र कनिष्ठ होता है ॥ ५९ ॥

हरेज्ज्येष्ठः प्रधानांशमेकं तुल्यासुतेष्वपि ।
मध्यमो मध्यमं चैव कनीयांस्तु कनीयसम् ॥ ६० ॥

सवर्णा भार्यासे उत्पन्न हुए पुत्रोंके समान होने पर भी ज्येष्ठ पुत्र एक भाग ज्येष्ठ हिस्सा लेगा; मझला मध्यम अंश और छोटा पुत्र न्यून हिस्सा पावेगा ॥ ६० ॥

एवं जातिषु सर्वासु सवर्णाः श्रेष्ठतां गताः ।
महर्षिरपि चैतद्वै मारीचः काश्यपोऽब्रवीत् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ २२०१ ॥

इस ही प्रकार सब जातिमें ही सवर्णज सन्तानोंको श्रेष्ठता प्राप्त हुई है। महर्षि मरीचिके पुत्र कश्यपने ऐसा ही कहा है ॥ ६१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ २२०१ ॥

: ४८ :

युधिष्ठिर उवाच—

अर्थाश्रयाद्वा कामाद्वा वर्णानां वाप्यनिश्चयात् ।
अज्ञानाद्वापि वर्णानां जायते वर्णसंकरः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह! धनके कारण अथवा कामवशसे तथा सब वर्णोंका निश्चय अथवा ज्ञान न होनेपर अर्थात् उत्तम वर्णवाली स्त्री नीचगामिनी होती है, इस ही कारण वर्णसंकर संतानकी उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

तेषामेतेन विधिना जातानां वर्णसंकरे।
को धर्मः कानि कर्माणि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

ऐसी ही विधिके अनुसार सङ्करवर्णमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके लिये कौनसे धर्म और कर्म हैं? यह विषय आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम्।
असृजत्स ह यज्ञार्थे पूर्वमेव प्रजापतिः ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— पहले समयमें प्रजापतिने यज्ञके निमित्त चारों वर्णोंके कर्म और केवल चारों वर्णोंको उत्पन्न किया था ॥ ३ ॥

भार्याश्चतस्रो विप्रस्य द्वयोरात्मास्य जायते।
आनुपूर्व्याद्द्वयोर्हीनौ मातृजात्यौ प्रसूयतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंके लिये चार भार्याएं हैं, उनमेंसे दो स्त्रियोंसे— ब्राह्मणी पत्नीसे और क्षत्रिया भार्यासे जो पुत्र होता है, वह ब्राह्मण ही उत्पन्न होता है; शेष दो वैश्या और शूद्रा स्त्रियोंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे ब्राह्मणत्वसे हीन क्रमसे मातृजातीय कहे गये हैं ॥ ४ ॥

परं शवाद्ब्राह्मणस्यैष पुत्रः शूद्रापुत्रं पारशवं तमाहुः।
शुश्रूषकः स्वस्य कुलस्य स स्यात्स्वं चारित्रं नित्यमथो न जह्यात् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणके द्वारा शूद्राके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह शवसे अर्थात् शूद्रसे परे अर्थात् श्रेष्ठ है, इस ही निमित्त पण्डित लोग शूद्रापुत्रको पारशव कहा करते हैं। वह पुत्र अपने कुलकी सेवा करे और सदा अपने आचरणका परित्याग न करे ॥ ५ ॥

सर्वानुपायानपि संप्रधार्य समुद्धरेत्स्वस्य कुलस्य तन्तुम्।
ज्येष्ठो यवीयानपि यो द्विजस्य शुश्रूषवान्दानपरायणः स्यात् ॥ ६ ॥

शूद्रापुत्र सब उपायोंका निश्चय करके अपने कुलकी परम्पराका पूर्णरीतिसे उद्धार करे। पारशव अवस्थामें ज्येष्ठ होनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यसे कनिष्ठही माना जाता है; इसलिये वह सेवाके सहित दानपरायण होवे ॥ ६ ॥

तिस्रः क्षत्रियसंबन्धाद्द्वयोरात्मास्य जायते।
हीनवर्णस्तृतीयायां शूद्र उग्र इति स्मृतः ॥ ७ ॥

क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा— ये तीनों भार्याओंके बीच क्षत्रिया और वैश्यासे क्षत्रियके संबंधसे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न होता है और तीसरी शूद्रा पत्नीसे हीनवर्ण उग्रनाम शूद्रजाति उत्पन्न होती है, ऐसा धर्मशास्त्रका वचन है ॥ ७ ॥

द्वे चापि भार्ये वैश्यस्य द्वयोरात्मास्य जायते ।
शूद्रा शूद्रस्य चाप्येका शूद्रमेव प्रजायते ॥ ८ ॥

वैश्यके लिये दो भार्याएं होती हैं, वैश्या और शूद्रा; उन दोनों स्त्रियोंसे ही वैश्यपुत्रही जन्मता है । शूद्रके लिये केवल शूद्रा भार्या है, उससे शूद्रजातीय पुत्र उत्पन्न होता है ॥८॥

अतो विशिष्टस्त्वधमो गुरुदारप्रवर्षकः ।
बाह्यं वर्णं जनयति चातुर्वर्ण्यविगर्हितम् ॥ ९ ॥

वर्णोंमें नीचे दर्जेका शूद्र यदि गुरुजनोंकी— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंके साथ समागम करे, तो चारों वर्णोंसे बहिर्भूत चाण्डाल आदि बाह्यवर्ण उत्पन्न किया करता है ॥९॥

अयाज्यं क्षत्रियो व्रात्यं सूतं स्तोमक्रियापरम् ।
वैश्यो वैदेहकं चापि मौद्गल्यमपवर्जितम् ॥ १० ॥

क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे अपूज्य, वर्णसंकर युक्त स्तुति करनेवाला सूत जातीय पुत्र उत्पन्न होता है । वैश्य ब्राह्मणीके गर्भसे अन्तःपुरके रक्षण—कार्य करनेवाले संस्काररहित वैदेहक जातीय सन्तान उत्पन्न किया करता है, उसे मौद्गल्य भी कहते हैं ॥ १० ॥

शूद्रश्चण्डालमत्युग्रं वध्यघ्नं बाह्यवासिनम् ।
ब्राह्मण्यां संप्रजायन्त इत्येते कुलपांसनाः ।
एते मतिमतां श्रेष्ठ वर्णसंकरजाः प्रभो ॥ ११ ॥

शूद्रके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे अत्यन्त भयंकर स्वभाववाला, वधार्ह चोर प्रभृतिके सिरको काटना प्रभृति कार्योंको करनेवाला और ग्रामके बाहिरी भागमें निवास करनेवाला चाण्डाल सन्तान उत्पन्न होता है । हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विभु ! ब्राह्मणीके साथ नीच पुरुषोंका संबंध होनेसे ये कुलांगर पुत्र उत्पन्न होते हैं और वर्णसंकरसे उत्पन्न कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

बन्दी तु जायते वैश्यान्मागधो वाक्यजीवनः ।
शूद्रान्निषादो मत्स्यघ्नः क्षत्रियायां व्यतिक्रमात् ॥ १२ ॥

वैश्यके द्वारा क्षत्रिया स्त्रीसे लोगोंकी स्तुति करके जीविका चलानेवाला बन्दी मागध जातीय सन्तान जन्मता है । शूद्रके द्वारा क्षत्रियामें व्यतिक्रम होनेपर मत्स्यघाती निषाद सन्तान उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

शूद्रादायोगवश्चापि वैश्यायां ग्रामधर्मिणः ।
ब्राह्मणैरप्रतिग्राह्यस्तक्षा स वनजीवनः ॥ १३ ॥

शूद्रद्वारा वैश्यासे ग्राम्यधर्मविशिष्ट सन्तान जन्मता है, उसे आयोगव कहा जाता है, वह वनमें रहकर जीवन निर्वाह करता है तथा ब्राह्मणोंको उससे दान नहीं लेना चाहिये॥ १३॥

एतेऽपि सदृशं वर्णं जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरा हीनयोनिषु ॥ १४ ॥

ये वर्णसंकर लोग अपनी ही जातिकी स्त्रीसे संसर्ग करके अपने ही समान वर्णवाले सन्तान उत्पन्न करते हैं और अपनेसे नीच योनिमें मातृजातीय श्रेष्ठ सन्तानोंकी उत्पत्ति करते हैं ॥१४॥

यथा चतुर्षु वर्णेषु द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात्तु जायन्ते तथा बाह्याः प्रधानतः ॥ १५ ॥

चारों वर्णोंके बीच अपने और अपनेसे एक वर्ण नीचेकी भार्याओंमें सजातीय सन्तान उत्पन्न होती है; और एक वर्णका अन्तर छोड़कर नीचेके वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न सन्तान प्रधान वर्णसे बाह्य—माताकी जातिवाले होते हैं ॥ १५ ॥

ते चापि सदृशं वर्णं जनयन्ति स्वयोनिषु ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ १६ ॥

इस प्रकार वर्णसंकर मनुष्य भी स्वयोनिसे सदृश वर्णवाले सन्तान उत्पन्न करते हैं और परस्परमें अन्य जातिकी स्त्रियोंसे वे अपनेसे भी निन्दनीय सन्तानोंको जन्म देते हैं ॥१६॥

यथा च शूद्रो ब्राह्मण्यां जन्तुं बाह्यं प्रसूयते ।
एवं बाह्यतराद्बाह्यश्चातुर्वर्ण्यात्प्रसूयते ॥ १७ ॥

जैसे शूद्रके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे अत्यन्त नीचवर्ण चाण्डाल उत्पन्न होता है, वैसे ही वह चारों वर्णोंकी और बाह्यतर जातिकी स्त्रियोंसे अत्यन्त नीच वर्णोंकी उत्पत्ति करता है ॥१७॥

प्रतिलोमं तु वर्तन्तो बाह्याद्बाह्यतरं पुनः ।
हीना हीनात्प्रसूयन्ते वर्णाः पञ्चदशैव ते ॥ १८ ॥

बाह्य और बाह्यतर जातिकी स्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रतिलोमजात वर्णोंकी वृद्धि होती है। हीनसे हीन जातिके पन्द्रह प्रकारके संकर वर्ण उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ १८ ॥

अगम्यागमनाच्चैव वर्तते वर्णसंकरः ।
व्रात्यानामत्र जायन्ते सैरन्ध्रा मागधेषु च ।
प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ॥ १९ ॥

अगम्या स्त्रीके साथ गमन निबन्धनसे वर्णसङ्करोंकी उत्पत्ति होती है। चारों वर्णोंसे पृथक् सब वर्णोंके बीच सैरन्ध्री और मागध जातिसे राजाओंके प्रसाधन कार्यज्ञ तथा द्विव्य अङ्ग-राग घर्षण और स्तुति आदिसे सन्तुष्ट करनेवाला अदास वा दासजीवन जाति उत्पन्न होती है ॥ १९ ॥

सैरन्ध्रायोगवं सूते वागुरावनजीवनम् ।
मैरेयकं च वैदेहः संप्रसूतेऽथ माधुकम् ॥ २० ॥

मागधविशेषसे सैरन्ध्रयोनिमें वनमें जाल बिछाकर पशुओंको पकड़कर जीवन निर्वाह करनेवाली अयोगव जातिकी उत्पत्ति होती है। मागधीमें वैदेहके द्वारा मद्यकर मैरेयक नामकी सन्तान उत्पन्न हुआ करती है ॥ २० ॥

निषादो मुद्गरं सूते दासं नावोपजीविनम् ।
मृतपं चापि चण्डालः श्वपाकमतिकुत्सितम् ॥ २१ ॥

निषाद जातिसे मुद्गर अर्थात् मुद्गरनाम मत्स्योपजीवी, नौकोपजीवी दास सन्तान उत्पन्न होती है और चाण्डाल श्वपाक नामसे कुविख्यात मृतप अर्थात् श्मशानाधिकारी सन्तान उत्पन्न किया करता है ॥ २१ ॥

चतुरो मागधी सूते क्रूरान्मायोपजीविनः ।
मांसस्वादुकरं सूदं सौगन्धमिति संज्ञितम् ॥ २२ ॥

मागधी स्त्री अयोगवादि चार जातियोंसे संबंध करके मायासे जीविका चलानेवाले चार प्रकारके क्रूर पुत्र उत्पन्न करती है, और वे मांस, स्वादुकर सूद और सौगन्ध नामसे वर्णित हुए हैं; इसलिये मागध जातिके निमित्त चार प्रकारकी वृत्ति निर्दिष्ट हुई है ॥ २२ ॥

वैदेहकाच्च पापिष्ठं क्रूरं भार्योपजीविनम् ।
निषादान्मद्रनाभं च खरयानप्रयायिनम् ॥ २३ ॥

आयोगव स्त्रीसे वैदेहके द्वारा पापी, क्रूर और अपनी भार्यासे जीविका चलानेवाले पुत्र होते हैं; वही निषादके द्वारा गधेके सवारी पर चलनेवाले मद्रनाभ जातिको जन्म देती है ॥२३॥

चण्डालात्पुल्कसं चापि खराश्वगजभोजिनम् ।
मृतचेलप्रतिच्छन्नं भिन्नभाजनभोजिनम् ॥ २४ ॥

और वही चांडालके द्वारा गधे, घोडे तथा हाथियोंके मांस खानेवाली पुल्कस जातिको उत्पन्न करती है; यह जाति मृतकका वस्त्र पहनती और फूटे पात्रमें भोजन किया करती है ॥२४॥

आयोगवीषु जायन्ते हीनवर्णास्तु ते त्रयः ।
क्षुद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः ॥ २५ ॥

नीच अयोगवीसे तीन अधम जातिके मनुष्य उत्पन्न होते हैं। निषादीसे वैदेहके द्वारा क्षुद्र और अन्ध्र जातिके पुत्रोंकी उत्पत्ति होती हैं; ये गांवसे बाहर रहकर जङ्गली पशुओंके मांससे जीविका निबाहनेवाले होते हैं ॥ २५ ॥

कारावरो निषाद्यां तु चर्मकारात्प्रजायते ।
चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ॥ २६ ॥

निषादीके गर्भसे चर्मकारके द्वारा कारावर जाति उत्पन्न होती है और चाण्डालसे बांसकी डलिया आदि बनाकर जीविका चलानेवाली पाण्डुसोपाक जाति उत्पन्न होती है ॥ २६ ॥

आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यां संप्रजायते ।
चण्डालेन तु सोपाको मौद्गल्यसमवृत्तिमान् ॥ २७ ॥

वैदेहीके गर्भसे निषादके द्वारा आहिण्डिक नाम पुत्र उत्पन्न होता है । चाण्डालके द्वारा मुद्गल सदृश व्यवहारयुक्त सोपाक पुत्र उत्पन्न हुआ करता है ॥ २७ ॥

निषादी चापि चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यैरपि बहिष्कृतम् ॥ २८ ॥

निषादीके गर्भसे चाण्डालके द्वारा बाह्यवर्णोंसे भी पृथक् श्मशानवासी अन्त्येवसायी सन्तान उत्पन्न होती है ॥ २८ ॥

इत्येताः संकरे जात्यः पितृमातृव्यतिक्रमात् ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ २९ ॥

माता-पिताके उलट-फेरसे ये सब वर्ण सङ्कर जातियाँ उत्पन्न होती हैं । ये चाहे छिपी रहें, अथवा प्रकाश भावसे ही रहें, इन्हें इनके स्वकर्मके सहारे जाना जाता है ॥ २९ ॥

चतुर्णामेव वर्णानां धर्मो नान्यस्य विद्यते ।
वर्णानां धर्महीनेषु संज्ञा नास्तीह कस्यचित् ॥ ३० ॥

शास्त्रोंमें चारों वर्णोंके धर्म कहे गये हैं, औरोंके नहीं । अन्य धर्महीनजाति भेदके बीच किसीके धर्मका कोई नियम अथवा विधि नहीं है ॥ ३० ॥

यदृच्छयोपसंपन्नैर्यज्ञसाध्वबहिष्कृतैः ।
बाह्या बाह्यैस्तु जायन्ते यथावृत्ति यथाश्रयम् ॥ ३१ ॥

यदृच्छाक्रम अर्थात् जातिके नियमोंका पालन न करके जो अन्य वर्णकी स्त्रियोंके साथ संबंध रखते हैं, और जो यज्ञोंके अधिकार तथा साधुओंसे बहिष्कृत हैं, इन्हींसे ही वर्णसंकर संतानें निर्माण होती हैं और ये सब वर्णसंकर जातियां स्वेच्छानुरूप कर्मके अनुसार जीविका और जाति विशेषको प्राप्त हुआ करती हैं ॥ ३१ ॥

चतुष्पथश्मशानानि शैलांश्चान्यान्वनस्पतीन् ।
भुञ्जन्तो चाप्यलंकारांस्तथोपकरणानि च ॥ ३२ ॥

ये लोग चतुष्पथ, श्मशान, पर्वत और वृक्षोंके निकट सदा स्वकी जानकारीमें वास करें, आभूषण और गृहके योग्य सब सामग्री तैयार करते रहें ॥ ३२ ॥

गोब्राह्मणार्थे साहाय्यं कुर्वाणा वै न संशयः ।
आनृशंस्यमनुक्रोशः सत्यवाक्यमथ क्षमा ॥ ३३ ॥

वे गौ और ब्राह्मणोंकी निःसन्देह सहायता करें; सौम्यता, दया, सत्यवचन और क्षमाका अवलंबन करें ॥ ३३ ॥

स्वशरीरैः परित्राणं बाह्यानां सिद्धिकारकम् ।
मनुजव्याघ्र भवति तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ३४ ॥

और निज शरीरसे विपदमें पडे हुए लोगोंको उबारें, तो इन वर्णसंकर लोगोंकी भी उन्नति होगी । हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस विषयमें मुझे सन्देह नहीं है ॥ ३४ ॥

यथोपदेशं परिकीर्तितासु नरः प्रजायेत विचार्य बुद्धिमान् ।
विहीनयोनिर्हि सुतोऽवसादयेत्तितीर्षमाणं सलिले यथोपलम् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य ऋषि-मुनियोंके उपदेशके अनुसार कही हुई हीनजातिकी स्त्रियोंमें अच्छी तरहसे विचार करके पुत्र उत्पन्न करे, क्योंकि जैसे जलमें तैरनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको भंवर अवसन्न करती है, वैसे ही अत्यन्त हीनयोनिमें उत्पन्न हुआ पुत्र वंशको नष्ट किया करता है ॥ ३५ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
नयन्ते ह्युत्पथं नार्यः कामक्रोधवशानुगम् ॥ ३६ ॥

इस लोकमें स्त्रियां विद्वान अथवा मूढ पुरुषोंको कामक्रोधके वशमें करके अति ही कुमार्गपर ले जाती हैं ॥ ३६ ॥

स्वभावश्चैव नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
इत्यर्थं न प्रसज्जन्ते प्रमदासु विपश्चितः ॥ ३७ ॥

संसारमें मनुष्योंको दूषित कर देना स्त्रियोंका स्वभाव ही है, इसलिये विवेकी पुरुष स्त्रियोंमें अधिक आसक्त नहीं होते हैं ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कथं विद्यामहे नृप ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर बोले— राजन् ! जो चारों वर्णोंसे त्यागा हुआ, पापयोनिमें उत्पन्न तथा उत्पादि-वशसे अनार्य होकर देखनेमें आर्य जैसे पुरुषको हम किस प्रकार जाननेमें समर्थ होंगे ? ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच—

योनिसंकलुषे जातं नानाचारसमाहितम् ।
कर्मभिः सज्जनाचीर्णैर्विज्ञेया योनिशुद्धता ॥ ३९ ॥

भीष्म बोले— अनार्योंके पृथक् पृथक् भाव तथा चेष्टायुक्त मनुष्योंको सङ्करयोनिज जानना चाहिये और सज्जनोंके आचरित कर्मके सहारे योनि- शुद्धता जाने ॥ ३९ ॥

अनार्यत्वमनाचारः क्रूरत्वं निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ४० ॥

इस लोकमें अनार्यता, अनाचार, क्रूरता और निष्क्रियात्मता आदि दोष दूषित योनिमें उत्पन्न हुए पुरुषको प्रकाशित कर देते हैं ॥ ४० ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातृजं वा तथोभयम् ।
न कथंचन संकीर्णः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ४१ ॥

नीचजातिका पुरुष पितृस्वभाव अथवा माताके चरित्र तथा पिता माता दोनोंके ही स्वभावको प्राप्त करता है; वह कदापि निज प्रकृतिको गुप्त नहीं रख सकता ॥ ४१ ॥

यथैव सदृशो रूपे मातापित्रोर्हि जायते ।
व्याघ्रश्चित्रैस्तथा योनिं पुरुषः स्वां नियच्छति ॥ ४२ ॥

जैसे तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए व्याघ्र आदि विचित्र वर्णके सहित माता पिताके रूपसदृश होके जन्मते हैं, वैसे ही मनुष्य भी निज योनिका अनुसरण करता है ॥ ४२ ॥

कुलस्रोतसि संछन्ने यस्य स्याद्योनिसंकरः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ४३ ॥

वंशस्रोतके गुप्त रहनेपर भी जिसका जन्म सङ्कर योनिसे होता है, वह मनुष्य जिस पुरुषके औरससे उत्पन्न होता है, उसके थोडे अथवा अधिक चरित्र अवश्य ही उसमें दीख पडते हैं ॥ ४३ ॥

आर्यरूपसमाचारं चरन्तं कृतके पथि ।
सुवर्णमन्यवर्णं वा स्वशीलं शास्ति निश्चये ॥ ४४ ॥

आर्य पुरुषोंके रूपसे कृत्रिम पथमें विचरनेवाले पुरुषके उत्तम वा निकृष्ट वर्णके निश्चय करनेके विषयमें उसका स्वभाव ही उसे प्रकाशित करता है, जैसे सुवर्ण और दुर्वर्ण अर्थात् रूपा है, सुजात और कुजात पुरुषोंके चरित्र भी वैसे ही हैं ॥ ४४ ॥

नानावृत्तेषु भूतेषु नानाकर्मरतेषु च ।
जन्मवृत्तसमं लोके सुश्लिष्टं न विरज्यते ॥ ४५ ॥

अनेक प्रकारके जीव नाना प्रकारके व्यवहारमें मग्न रहते हैं, विविध कर्मोंमें रत हैं, इसलिये आचरणके सिवा जन्मके रहस्यको प्रगट करनेवाली दुसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ४५ ॥

शरीरमिह सत्त्वेन नरस्य परिकृष्यते ।
ज्येष्ठमध्यावरं सत्त्वं तुल्यसत्त्वं प्रमोदते ॥ ४६ ॥

सङ्करवर्ण चरित्र शास्त्रीय बुद्धिके सहारे आकृष्ट नहीं होते, बीजगुणकी प्रबलताके कारण काल-भेदसे बुद्धिवृत्तिकी प्रधानता होनेपर भी शरीरकी ज्येष्ठता, मध्यता और अवरताके अनुसार जो तुल्य होता है, वही आनन्दित हुआ करता है ॥ ४६ ॥

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत् ।
अपि शूद्रं तु सद्वृत्तं धर्मज्ञमभिपूजयेत् ॥ ४७ ॥

वर्णज्येष्ठ पुरुष यदि सदाचारसे रहित हो, तो उसका सम्मान करना योग्य नहीं और शूद्र यदि सदाचारसे युक्त तथा धर्मज्ञ हो, तो उसका सम्मान करना चाहिये ॥ ४७ ॥

आत्मानमाख्याति हि कर्मभिर्नरः स्वशीलचारित्रकृतैः शुभाशुभैः ।
प्रनष्टमप्यात्मकुलं तथा नरः पुनः प्रकाशं कुरुते स्वकर्मभिः ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्म, सुशीलता, सच्चरित्र और कुलके द्वारा अपनेको प्रकाशित करता है, कुल नष्ट होनेपर पुरुष निज कर्मके सहारे फिर शीघ्र ही उसका उद्धार किया करता है ॥ ४८ ॥

योनिष्वेतासु सर्वासु सङ्कीर्णास्वितरासु च ।
यत्रात्मानं न जनयेद्बुधस्ताः परिवर्जयेत् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ २२५० ॥

इन सब संकीर्ण और इतर योनियोंके बीच जिनसे सन्तान उत्पन्न करना योग्य न हो, पण्डित पुरुष वैसी स्त्रियोंका परित्याग करें ॥ ४९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ २२५० ॥

: ४९ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्रूहि पुत्रान्कुरुश्रेष्ठ वर्णानां त्वं पृथक्पृथक् ।
कीदृश्यां कीदृशाश्चापि पुत्राः कस्य च के च ते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतकुलश्रेष्ठ ! आप सब वर्णोंके पृथक् पृथक् विषय वर्णन करिये । कैसी स्त्रीसे कैसे पुत्र होंगे ? वे सब पुत्र किसके तथा क्या कहे जांयगे ? ॥ १ ॥

विप्रवादाः सुबहुशः श्रूयन्ते पुत्रकारिताः ।
अत्र नो मुह्यतां राजन्संशयं छेत्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे राजन् ! पुत्रोंके विषयमें विविध प्रवाद सुने जाते हैं; इसहीसे इस विषयमें हम मुग्ध होते हैं, इसलिये आप ही हमारे सन्देहको छुडाने योग्य हैं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

आत्मा पुत्रस्तु विज्ञेयस्तस्यानन्तरजश्च यः ।
नियुक्तजश्च विज्ञेयः सुतः प्रसृतजस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्म बोले–जो पतिकेही वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, उस अनन्त रज अर्थात् औरस पुत्रको अपना आत्मा ही मानना चाहिये । दूसरा पुत्र नियुक्तज जानो और तीसरा प्रसृतज होता है ॥ ३ ॥

पतितस्य तु भार्यायां भर्त्रा सुसमवेतया।
तथा दत्तकृतौ पुत्रावध्यूढश्च तथापरः ॥ ४ ॥
निज भार्यामें पतित पुरुषके द्वारा उत्पन्न हुआ पुत्र, दत्तक तथा मोल लिया हुआ और अध्यूढ अर्थात् जिसकी माता गर्भवती होनेपर ब्याही गई थी ॥ ४ ॥

षडपध्वंसजाश्चापि कानीनापसदास्तथा।
इत्येते ते समाख्यातास्तान्विजानीहि भारत ॥ ५ ॥
और कानीन पुत्र भी होता है। इनके अतिरिक्त छः प्रकारके अपध्वंसज तथा छः प्रकारके अपसद पुत्र होते हैं। येही बीस प्रकारकी सन्तान कही जाती हैं। हे भारत! इसलिये उन्हें विशेष रीतिसे मालूम करो ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

षडपध्वंसजाः के स्युः के चाप्यपसदास्तथा।
एतत्सर्वं यथातत्त्वं व्याख्यातुं मे त्वमर्हसि ॥ ६ ॥
युधिष्ठिर बोले— छः प्रकारके अपध्वंसज कौन हैं और छः प्रकारके अपसद ही किनके होते हैं? वह आपको कहना उचित है, मेरे समीप इस विषयकी यथार्थ रीतिसे व्याख्या करिये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—

त्रिषु वर्णेषु ये पुत्रा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर।
वर्णयोश्च द्वयोः स्यातां यौ राजन्यस्य भारत ॥ ७ ॥
भीष्म बोले— हे भारत युधिष्ठिर! ब्राह्मणसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी स्त्रियोंमें अनुलोमजात जो तीन प्रकारकी सन्तान होती हैं, क्षत्रियसे वैश्य और शूद्र इन दो वर्णोंमें अनुलोमजात दो प्रकारकी सन्तान हुआ करती हैं ॥ ७ ॥

एको द्विवर्ण एवाथ तथात्रैवोपलक्षितः।
षडपध्वंसजास्ते हि तथैवापसदाञ्शृणु ॥ ८ ॥
और वैश्यसे शूद्र वर्णसे जो एक प्रकारकी सन्तान जन्मती है, इन छहोंको अपध्वंसज जानो; अब अपसदका विषय सुनो ॥ ८ ॥

चण्डालो व्रात्यवेनौ च ब्राह्मण्यां क्षत्रियासु च।
वैश्यायां चैव शूद्रस्य लक्ष्यन्तेऽपसदास्त्रयः ॥ ९ ॥
शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुई सन्तान चाण्डाल, क्षत्रियामें व्रात्य अर्थात् संस्काररहित और वैश्यामें वेन, ये तीन प्रकारके अपसद जाने जाते हैं ॥ ९ ॥

मागधो वामकश्चैव द्वौ वैश्यस्योपलक्षितौ ।
ब्राह्मण्यां क्षत्रियायां च क्षत्रियस्यैक एव तु ॥ १० ॥

फिर वैश्यके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे मागध तथा क्षत्रियासे वामक ये दो प्रकारके सन्तान अपसद देखे जाते हैं और क्षत्रियके एक ही वैसा पुत्र देखा जाता है ॥ १० ॥

ब्राह्मण्यां लक्ष्यते सूत इत्येतेऽपसदाः स्मृताः ।
पुत्रैरेतो न शक्यं हि मिथ्या कर्तुं नराधिप ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न होता है और वह सूत कहा जाता है। इसलिये येही छः प्रकारकी सन्तान अपसद नामसे वर्णित हुए हैं। हे नरनाथ ! इन्हें सन्तान मिथ्या करने अर्थात् ये सन्तान नहीं हैं, ऐसा कोई भी नहीं कह सकता ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

क्षेत्रजं केचिदेवाहुः सुतं केचित्तु शुक्रजम् ।
तुल्यावेतौ सुतौ कस्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! किसी किसी सन्तानको क्षेत्रज (अपनी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुआ किसी भी प्रकारका पुत्र) और किसी किसीको शुक्रज (अपने वीर्यसे उत्पन्न हुआ पुत्र) कहते हैं, ये सन्तानस्वरूपसे तुल्य होनेपर भी किसके कहाते हैं ? जन्म देनेवाली स्त्रीके पतिके या गर्भाधान करनेवाले पुरुषके ? इसे आप ही मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—

रेतजो वा भवेत्पुत्रस्त्यक्तो वा क्षेत्रजो भवेत् ।
अध्यूढः समयं भित्त्वेत्येतदेव निबोध मे ॥ १३ ॥

भीष्म बोले— रेतज अर्थात् औरस और वीजके लिये परित्यक्त पत्नीसे जो सन्तान होती है, वह क्षेत्रज है, औरस तथा क्षेत्रज सन्तान तुल्य हैं; और नियम भङ्ग करके गर्भवतीको व्याहनेपर उससे जो सन्तान होती है, उसे अध्यूढ कहा जाता है; यही बात इसके विषयमें भी माननी चाहिये ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

रेतोजं विद्म वै पुत्रं क्षेत्रजस्यागमः कथम् ।
अध्यूढं विद्म वै पुत्रं हित्वा च समयं कथम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले— हम औरस सन्तानको ही सन्तान करके जानते हैं, परन्तु सन्तानके विषयमें सन्तानत्व किस प्रकार सिद्ध होता है, और समयको भङ्ग करके अध्यूढ किस प्रकार संतान हो सकता है ? मैं इसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच—

आत्मजं पुत्रमुत्पाद्य यस्त्यजेत्कारणान्तरे।
न तत्र कारणं रेतः स क्षेत्रस्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥

भीष्म बोले— जो पुरुष आत्मज सन्तान उत्पन्न करके लोकापवादभयसे उसे परित्याग करता है, उसमें उसका केवल वीर्यस्थापनके कारण अधिकार नहीं रहता है, उस पुत्रका क्षेत्रस्वामी अधिकारी होता है ॥ १५ ॥

पुत्रकामो हि पुत्रार्थे यां वृणीते विशाम्पते।
तत्र क्षेत्रं प्रमाणं स्यान्न वै तत्रात्मजः सुतः ॥ १६ ॥

हे नरनाथ! पुत्रकी इच्छा करनेवाला पुरुष पुत्रके निमित्त जिस गर्भवती कन्याको ग्रहण करता है, उसके गर्भसे जो पुत्र होता है, वह परिणेताका क्षेत्रज कहके माना जाता है, वहां वीर्य डालनेवालेका अधिकार नहीं रहता है ॥ १६ ॥

अन्यत्र क्षेत्रजः पुत्रो लक्ष्यते भरतर्षभ।
न ह्यात्मा शक्यते हन्तुं दृष्टान्तोपगतो ह्यसौ ॥ १७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! पराये क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ पुत्र नाना लक्षणोंसे जाना जाता है कि किसका पुत्र है। कोई भी अपनेको छिपा नहीं सकता, वह प्रत्यक्ष ही मालूम हुआ करता है ॥ १७ ॥

कश्चिच्च कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
न तत्र रेतः क्षेत्रं वा प्रमाणं स्याद्युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

हे युधिष्ठिर! किसी स्थलमें ग्रहण करने या अपना मान लेनेके कारण कृत्रिम पुत्र भी देखा जाता है। शुक्र और क्षेत्र इन दोनोंमें उसके पुत्रत्वका प्रमाण नहीं मालूम होता ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कीदृशः कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
शुक्रं क्षेत्रं प्रमाणं वा यत्र लक्ष्येत भारत ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत! जब शुक्र और क्षेत्रका पुत्रत्वके निश्चयमें प्रमाण नहीं मालूम होता, जो संग्रहवशसे ही अपने पुत्रके रूपमें जाना जाता है, वह कृत्रिम पुत्र कैसा है? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच—

मातापितृभ्यां संत्यक्तं पथि यं तु प्रलक्षयेत्।
न चास्य मातापितरौ ज्ञायेते स हि कृत्रिमः ॥ २० ॥

भीष्म बोले— माता-पिताके द्वारा जो पुत्र मार्गमें परित्यक्त होता है और पता लगानेपर भी जिसके माता-पिताका ज्ञान नहीं होता, उस बालकको जो देखता है उसे ही कृतक पुत्र जानना चाहिये ॥ २० ॥

अस्वामिकस्य स्वामित्वं यस्मिन्संप्रतिलक्षयेत् ।
सवर्णस्तं च पोषेत सवर्णस्तस्य जायते ॥ २१ ॥

जिस बालकका कोई स्वामी न हो, उसका जो मालिक बने, तथा जिस वर्णका मनुष्य उसे प्रतिपालन करे, वह उस ही प्रतिपालकके वर्णको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथमस्य प्रयोक्तव्यः संस्कारः कस्य वा कथम् ।
देया कन्या कथं चेति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! जो बालक पितामातासे परित्यक्त हुआ हो, उसका किस जातिके अनुसार किस प्रकार संस्कार होगा और वह किस वर्णका पुत्र कहावेगा ? किस भांतिसे उसे कन्या दान की जावेगी ? आप मेरे समीप इस विषयको वर्णन करिये ॥२२॥

भीष्म उवाच—

आत्मवत्तस्य कुर्वीत संस्कारं स्वामिवत्तथा ॥ २३ ॥

भीष्म बोले– पालक स्वामीको अपने वर्णके अनुसार उसका संस्कार करना योग्य है ॥२३॥

त्यक्तो मातापितृभ्यां यः सवर्णं प्रतिपद्यते ।
तद्गोत्रवर्णतस्तस्य कुर्यात्संस्कारमच्युत ॥ २४ ॥

पितामातासे त्यागे जानेपर अस्वामिक बालक अपने स्वामीके– पालक पिताके– वर्णको प्राप्त होता है, हे अचञ्चल युधिष्ठिर ! पालक– स्वामी अपने ही वर्ण और गोत्रके अनुसार उसका संस्कार करे ॥ २४ ॥

अथ देया तु कन्या स्यात्तद्वर्णेन युधिष्ठिर ।
संस्कर्तुं मातृगोत्रं च मातृवर्णाविनिश्चये ॥ २५ ॥

तथा उसही वर्णके योग्य कन्याके साथ उसका विवाह करे; उसकी माताके वर्ण और गोत्रका निश्चय हो जानेपर उस बालकका संस्कार माताके वर्ण और गोत्रके अनुसार किया जाय ॥२५॥

कानीनाध्यूढजौ चापि विज्ञेयौ पुत्रकिल्बिषौ ।
तावपि स्वाविव सुतौ संस्कार्याविति निश्चयः ॥ २६ ॥

कानीन और अध्यूढ पुत्रोंको निकृष्ट श्रेणीकेही समझने चाहिये । शास्त्रका यह निश्चय है, कि अपने पुत्रकी भांति उनका भी संस्कार करना चाहिये ॥ २६ ॥

क्षेत्रजो वाप्यपसदो येऽध्यूढास्तेषु चाप्यथ ।
आत्मवद्वै प्रयुञ्जीरन्संस्कारं ब्राह्मणादयः ॥ २७ ॥

क्षेत्रज, अपसद अथवा जो अध्यूढ पुत्र हों, ब्राह्मण आदिको चाहिये कि वे अपने ही समान उनका संस्कार करें ॥ २७ ॥

धर्मशास्त्रेषु वर्णानां निश्चयोऽयं प्रदृश्यते ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥ २२७८ ॥

धर्मशास्त्रोंमें सब वर्णोंके संस्कारके संबंधमें ऐसा ही निश्चय दीख पडता है। मैंने यह समस्त विषय तुमसे कहा, अब और किस विषयको सुननेकी इच्छा करते हो ? ॥ २८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥ २२७८ ॥

: ५० :

युधिष्ठिर उवाच—

दर्शने कीदृशः स्नेहः संवासे च पितामह ।
महाभाग्यं गवां चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! दूसरेको देखके कैसा स्नेह करना चाहिये तथा उसके सङ्गमें किस भांति प्रीतिका अनुष्ठान करना योग्य है और गौओंका कैसा माहात्म्य है ? इस विषयको आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते ।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे महाद्युति ! बहुत अच्छा, मैं तुम्हारे समीप नहुष राजा और च्यवन महर्षिके संवादयुक्त प्राचीन इतिहासको कहता हूं ॥ २ ॥

पुरा महर्षिश्च्यवनो भार्गवो भरतर्षभ ।
उदवासकृतारम्भो बभूव सुमहाव्रतः ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पहले समयमें भृगुवंशमें उत्पन्न हुए अत्यंत महाव्रती च्यवन महर्षिने जलमें वास करना आरम्भ किया ॥ ३ ॥

निहत्य मानं क्रोधं च प्रहर्षं शोकमेव च ।
वर्षाणि द्वादश मुनिर्जलवासे धृतव्रतः ॥ ४ ॥

वह अभिमान, क्रोध, हर्ष और शोकको नष्ट करके बारह वर्षतक मौनावलम्बी होकर जलवास व्रतधारी हुए थे ॥ ४ ॥

आदधत्सर्वभूतेषु विस्रम्भं परमं शुभम् ।
जलेचरेषु सत्त्वेषु शीतरश्मिरिव प्रभुः ॥ ५ ॥

शान्त किरणोंवाले चन्द्रमाकी भांति सब प्राणियों और जलचर जीवोंके विषयमें उन शक्तिमान मुनिने परम पवित्र विश्वास स्थापित किया था ॥ ५ ॥

स्थाणुभूतः शुचिर्भूत्वा दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये जलं संप्रविवेश ह ॥ ६ ॥

स्थिर चित्त और पवित्र होके देवताओंको प्रणाम करनेके अनन्तर गङ्गा और यमुनाके बीच जलके भीतर उन्होंने प्रवेश किया था ॥ ६ ॥

गङ्गायमुनयोर्वेगं सुभीमं भीमनिःस्वनम् ।
प्रतिजग्राह शिरसा वातवेगसमं जवे ॥ ७ ॥

गङ्गा-यमुनाके वायुसदृश वेगवाले अत्यन्त भयङ्कर शब्दके सहित वेगको उन्होंने अपने सिरपर धारण किया था ॥ ७ ॥

गङ्गा च यमुना चैव सरितश्चानुगास्तयोः ।
प्रदक्षिणमृषिं चक्रुर्न चैनं पर्यपीडयन् ॥ ८ ॥

गङ्गायमुना प्रभृति सब नदियां और तालाब ऋषिकी प्रदक्षिणा करते थे, कदापि उन्हें पीडित नहीं करते थे ॥ ८ ॥

अन्तर्जले स सुष्वाप काष्ठभूतो महामुनिः ।
ततश्चोर्ध्वस्थितो धीमानभवद्भरतर्षभ ॥ ९ ॥

वे महामुनि काष्ठरूपी होके जलके बीच सो रहते थे । हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर वह धीमान् मुनि उसके ऊपर खडे रहते थे ॥ ९ ॥

जलौकसां स सत्त्वानां बभूव प्रियदर्शनः ।
उपाजिघ्रन्त च तदा मत्स्यास्तं हृष्टमानसाः ।
तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन्महान् ॥ १० ॥

और वे जलवासी जीवोंके प्रीतिपात्र हुए थे । उस समय मछलियां प्रसन्नचित्त होकर उनको संघती थीं । उनके उस जलमें निवास करते रहनेपर बहुत समय बीत गया ॥ १० ॥

ततः कदाचित्समये कस्मिंश्चिन्मत्स्यजीविनः ।
तं देशं समुपाजग्मुर्जालहस्ता महाद्युते ॥ ११ ॥

हे महातेजस्वी ! अनन्तर किसी समयमें किसी देशके मछुवाहे हाथमें जाल लेकर उस स्थानमें गये ॥ ११ ॥

निषादा बहवस्तत्र मत्स्योद्धरणनिश्चिताः ।
व्यायता बलिनः शूराः सलिलेष्वनिवर्तिनः ।
अभ्याययुश्च तं देशं निश्चिता जालकर्मणि ॥ १२ ॥

वे बहुतसे मल्लाह मछलियोंको पकडनेका निश्चय करके आये थे । अत्यंत बलवान्, शूर, जलमें भ्रमण करनेमें अपरांमुख, बडे शरीरवाले निषादोंने वहां जाल फैलानेका निश्चय किया ॥ १२॥

×

जालं च योजयामासुर्विशेषेण जनाधिप ।
मत्स्योदकं समासाद्य तदा भरतसत्तम ॥ १३ ॥

हे भरतसत्तम प्रजानाथ ! वे उस ही स्थानमें मछलियोंसे परिपूरित जल पाके लगातार जाल फैलाने लगे ॥ १३ ॥

ततस्ते बहुभिर्योगैः कैवर्ता मत्स्यकाङ्क्षिणः ।
गङ्गायमुनयोर्वारि जालैरभ्यकिरंस्ततः ॥ १४ ॥

अनन्तर उन मछलियोंके अभिलाषी मल्लाहोंने अनेक प्रकारसे उपाय रचके जालके सहारे गङ्गा और यमुनाके जलको आच्छादित किया ॥ १४ ॥

जालं सुविततं तेषां नवसूत्रकृतं तथा ।
विस्तारायामसंपन्नं यत्तत्र सलिले क्षमम् ॥ १५ ॥

उन लोगोंने उस स्थानमें सब ओरसे जो जाल छोडा था, वह अत्यन्त दृढ, नये सूतोंसे बना हुआ, लम्बा और चौडा था ॥ १५ ॥

ततस्ते सुमहच्चैव बलवच्च सुवर्तितम् ।
प्रकीर्य सर्वतः सर्वे जालं चकृषिरे तदा ॥ १६ ॥

अनन्तर वे सब लोग जलमें उतरकर महत् और बलवत् जालको सब ओरसे खींचने लगे ॥ १६ ॥

अभीतरूपाः संहृष्टास्तेऽन्योऽन्यवशवर्तिनः ।
बबन्धुस्तत्र मत्स्यांश्च तथान्याञ्जलचारिणः ॥ १७ ॥

वे सब निर्भय, प्रसन्न और परस्परमें वशवर्ती होकर उस जालमें मछलियों तथा अन्य जलचरोंको बांधने लगे ॥ १७ ॥

तथा मत्स्यैः परिवृतं च्यवनं भृगुनन्दनम् ।
आकर्षन्त महाराज जालेनाथ यदृच्छया ॥ १८ ॥

हे महाराज ! उन लोगोंने यदृच्छाक्रमसे मछलियोंसे घिरे हुए भृगुनन्दन च्यवन मुनिको भी जालके सहारे खींच लिया ॥ १८ ॥

नदीशैवलदिग्धाङ्गं हरिश्मश्रुजटाधरम् ।
लग्नैः शङ्खगणैर्गात्रैः कोष्ठैश्चित्रैरिवावृतम् ॥ १९ ॥

उन हरे रंगकी मूंछ–दाढीवाले जटाधारी, अङ्गमें नदीके सिवारसे लिपटे, तथा शङ्ख आदि जलजन्तुओंके नख लिपटे हुए शरीरसे युक्त, और विचित्र पेटसे युक्त मुनिको उन्होंने देखा ॥ १९ ॥

तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा ते तदा वेदपारगम्।
सर्वे प्राञ्जलयो दाशाः शिरोभिः प्रापतन्भुवि ॥ २० ॥

वेद जाननेवाले मुनिको जालके द्वारा खिंचे हुए देखके वे सब हाथ जोडकर सिर नीचा करके पृथ्वीपर गिरे ॥ २० ॥

परिखेदपरित्रासाज्जालस्याकर्षणेन च।
मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंकर्षणेन च ॥ २१ ॥

जालके द्वारा खिंचे जानेसे शोक त्रास तथा स्थल संकर्षण होनेसे मछलियां मृत हुई ॥ २१ ॥

स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम्।
बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २२ ॥

मुनि उस समय उन मछलियोंका यह संहार देखकर बार बार लम्बी सांस छोडते हुए अत्यन्त कृपायुक्त हुए ॥ २२ ॥

निषादा ऊचुः—

अज्ञानाद्यत्कृतं पापं प्रसादं तत्र नः कुरु।
करवाम प्रियं किं ते तन्नो ब्रूहि महामुने ॥ २३ ॥

निषादोंने कहा, हे महामुनि! हम लोगोंने विना जाने जो पाप किया है, उस विषयमें आप हमें क्षमा कीजिये। हम लोग आपका कौनसा प्रियकार्य करें, उसके लिये हमें आज्ञा करिये ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत्।
यो मेऽद्य परमः कामस्तं शृणुध्वं समाहिताः ॥ २४ ॥

भीष्म बोले— मछलियोंके बीचमें बैठे हुए च्यवन मुनि मल्लाहोंका ऐसा वचन सुनके बोले, इस समय मेरी जो महत् अभिलाषा है, उसे तुम लोग सावधान होकर सुनो ॥ २४ ॥

प्राणोत्सर्गं विक्रयं वा मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं सलिलाध्युषितानिमान् ॥ २५ ॥

मैं मछलियोंके सहित अपने प्राणोंका त्याग करूंगा वा इनके सङ्ग अपनेको बेचूंगा; जलके बीच एकत्र सहवासके कारण इन्हें परित्याग न कर सकूंगा ॥ २५ ॥

इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः।
सर्वे विषण्णवदना नहुषाय न्यवेदयन् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥ २३०४ ॥

जब मुनिने ऐसा कहा, तब निषादोंने भयसे कांपते, विवर्ण मुख तथा दुःखित होके नहुष राजाके निकट जाके समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पचासवां अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ २३०४ ॥

: ५१ :

भीष्म उवाच–

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा च्यवनं तं तथागतम् ।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥ १ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर राजा नहुष च्यवन मुनिको वैसी अवस्थामें अपने नगरके निकट आया जान मन्त्री और पुरोहितके सहित शीघ्र ही वहां गये ॥ १ ॥

शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।
आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने ॥ २ ॥

राजाने यथा रीतिसे शरीरशुद्धि करके हाथ जोडकर और सिरसे प्रणाम करके महात्मा च्यवन मुनिके निकट अपना नाम कहा ॥ २ ॥

अर्चयामास तं चापि तस्य राज्ञः पुरोहितः ।
सत्यव्रतं महाभागं देवकल्पं विशां पते ॥ ३ ॥

हे महाराज ! राजाके पुरोहितने उस सत्यव्रती देवसदृश महाभागकी विधियुक्त पूजा की ॥ ३ ॥

नहुष उवाच–

करवाणि प्रियं किं ते तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
सर्वं कर्तास्मि भगवन्यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

नहुष बोले– हे भगवन् ! मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूं ? वह आप कहिये । यदि कर्त्तव्य कार्य अत्यन्त दुष्कर भी होगा, तोभी मैं उसे सिद्ध करूंगा ॥ ४ ॥

च्यवन उवाच–

श्रमेण महता युक्ताः कैवर्ता मत्स्यजीविनः ।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह ॥ ५ ॥

च्यवन बोले– मत्स्यजीवी मल्लाहवृन्द बहुत थक गये हैं, इसलिये इन लोगोंको मछलियोंके मूल्यके सहित मेरा भी मूल्य दो ॥ ५ ॥

नहुष उवाच–

सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
निष्क्रयार्थं भगवतो यथाह भृगुनन्दनः ॥ ६ ॥

नहुष बोले– हे पुरोहित ! भगवान् भृगुनन्दनने जिस प्रकार कहा, उन्हें मोल लेनेके लिये निषादोंको एक सहस्र मुद्रा दो ॥ ६ ॥

च्यवन उवाच—

सहस्रं नाहमर्हामि किं वा त्वं मन्यसे नृप।
सदृशं दीयतां मूल्यं स्वबुद्ध्या निश्चयं कुरु ॥ ७ ॥

च्यवन बोले— हे महाराज! मैं सहस्र मुद्रा मूल्यके योग्य नहीं हूं, भला तुम ही क्या विचार करते हो? अपनी बुद्धिके सहारे निश्चय करके मेरा योग्य मूल्य दो ॥ ७ ॥

नहुष उवाच—

सहस्राणां शतं क्षिप्रं निषादेभ्यः प्रदीयताम्।
स्यादेतत्तु भवेन्मूल्यं किं वान्यन्मन्यते भवान् ॥ ८ ॥

नहुष बोले— निषादोंको शीघ्र ही एक लाख मुद्रा दो। हे भगवन्! यही आपका योग्य मूल्य है न? अथवा आप क्या और कुछ देना चाहते हैं? ॥ ८ ॥

च्यवन उवाच—

नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ।
दीयतां सदृशं मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ॥ ९ ॥

च्यवन बोले— हे राजसत्तम! मैं एक लक्ष मुद्राके मोलमें बिकने योग्य नहीं हूं। उचित मूल्य दीजिये; इस विषयमें मन्त्रियोंके साथ विचार कीजिये ॥ ९ ॥

नहुष उवाच—

कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित।
यदेतदपि नौपम्यमतो भूयः प्रदीयताम् ॥ १० ॥

नहुष बोले—हे पुरोहित! निषादोंको एक करोड मुद्रा दो। यदि यह भी योग्य मूल्य न होता हो, तो इससे भी अधिक मूल्य प्रदान करो ॥ १० ॥

च्यवन उवाच—

राजन्नार्हाम्यहं कोटिं भूयो वापि महाद्युते।
सदृशं दीयतां मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ॥ ११ ॥

च्यवन बोले— हे महातेजस्वी महाराज! करोड अथवा उससे अधिक धनके भी मैं योग्य नहीं हूं; ब्राह्मणोंके सङ्ग विचार करके मेरे लिये योग्य मूल्य दो ॥ ११ ॥

नहुष उवाच—

अर्धराज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम्।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वान्यन्मन्यसे द्विज ॥ १२ ॥

नहुष बोले, हे द्विजवर! निषादोंको आधा राज्य अथवा समग्र राज्य दे दो, मैं यही योग्य मूल्य समझता हूं, आपके विचारमें इसके अतिरिक्त और क्या आता है? ॥ १२ ॥

च्यवन उवाच—

अर्धराज्यं समग्रं वा नाहमर्हामि पार्थिव ।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम् ॥ १३ ॥

च्यवन बोले, हे महाराज ! आधा अथवा सारा राज्य मेरे योग्य नहीं है; ऋषियोंके सङ्ग विचार करके मेरे योग्य मूल्य प्रदान करो ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच—

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्शितः ।
स चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥ १४ ॥

भीष्म बोले, वह नहुष राजा च्यवन महर्षिका वचन सुनके अत्यंत दुःखित होकर, उस समय मन्त्री और पुरोहितके सहित विचार करने लगे ॥ १४ ॥

तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।
नहुषस्य समीपस्थो गविजातोऽभवन्मुनिः ॥ १५ ॥

उस समय गायके गर्भसे उत्पन्न, फल, मूलका भोजन करनेवाले अन्य एक वनवासी मुनि नहुष राजाके निकट आया ॥ १५ ॥

स समाभाष्य राजानमब्रवीद्द्विजसत्तमः ।
तोषयिष्याम्यहं विप्रं यथा तुष्टो भविष्यति ॥ १६ ॥

उस द्विजसत्तमने राजा नहुषसे संबोधित करके कहा, आप जिस प्रकार संतुष्ट होंगे, मैं उसही भावसे शीघ्रही इन्हें प्रसन्न करूंगा ॥ १६ ॥

नाहं मिथ्यावचो ब्रूयां स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
भवतो यदहं ब्रूयां तत्कार्यमविशङ्कया ॥ १७ ॥

मैंने स्वेच्छापूर्वक परिहासमें कभी मिथ्या वचन नहीं कहा है, फिर ऐसे समयमें असत्य कैसे बोलूंगा ? मैं जो कहूंगा, उस विषयको शङ्कारहित होके तुम्हें प्रतिपालन करना योग्य है ॥ १७ ॥

नहुष उवाच—

ब्रवीतु भगवान्मूल्यं महर्षेः सदृशं भृगोः ।
परित्रायस्व मामस्माद्विषयं च कुलं च मे ॥ १८ ॥

नहुष बोले— हे भगवन् ! आप महर्षि भृगुनन्दनके योग्य कितना मूल्य होगा यह कहिये; और ऐसा करके मुझे और मेरे राज्य तथा वंशका परित्राण करिये ॥ १८ ॥

हन्याद्धि भगवान्क्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि केवलम् ।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्यपरायणम् ॥ १९ ॥

भगवान च्यवन मुनि क्रुद्ध होनेपर तीनों लोकोंको नष्ट कर सकते हैं; मैं केवल बाहुबलसे युक्त तपस्यासे रहित हूं, इसलिये मुझे जो विनष्ट करेंगे, उसमें कौनसी विचित्रता है ? ॥ १९ ॥

अगाधेऽम्भसि मग्नस्य सामात्यस्य सहर्त्विजः ।
प्लवो भव महर्षे त्वं कुरु मूल्यविनिश्चयम् ॥ २० ॥

हे विप्रर्षि ! मैं मन्त्री और पुरोहितके सहित संकटके अगाध जलमें डूब रहा हूं; आप हमारे लिये नौका स्वरूप होइये; महर्षिका मूल्य विशेष रीतिसे निश्चय करिये ॥ २० ॥

भीष्म उवाच—

नहुषस्य वचः श्रुत्वा गविजातः प्रतापवान् ।
उवाच हर्षयन्सर्वानमात्यान्पार्थिवं च तम् ॥ २१ ॥

भीष्म बोले— प्रतापशाली गविजने नहुषका वचन सुनके मन्त्रियोंके सहित उस राजाको हर्षयुक्त करते हुए कहा ॥ २१ ॥

अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णमहत्तमाः ।
गावश्च पृथिवीपाल गौर्मूल्यं परिकल्प्यताम् ॥ २२ ॥
नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप ।
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ॥ २३ ॥

हे महाराज ! पृथ्वीपति ! सब वर्णोंके बीच ब्राह्मण और गौ अत्यंत श्रेष्ठ तथा अमूल्य हैं; अर्थात् गौ और ब्राह्मणका मूल्य नहीं लगाया जाता, इसलिये आप इनकी कीमतमें एक गौका मूल्य समझिये । हे महाराज ! अनन्तर राजा नहुष महर्षिका यह वचन सुनके मन्त्री और पुरोहितके सहित अत्यन्त हर्षित हुए ॥ २२–२३ ॥

अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं संशितव्रतम् ।
इदं प्रोवाच नृपते वाचा संतर्पयन्निव ॥ २४ ॥

राजन् ! वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले भृगुनन्दन च्यवन मुनिके समीप जाके उन्हें अपने वचनसे प्रसन्न करके कहने लगे ॥ २४ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ॥ २५ ॥

हे भृगुनन्दन विप्रर्षि ! आप उठिये, आप एक गौके द्वारा मोल लिये गये हैं । हे धार्मिकश्रेष्ठ ! मैंने यही आपका योग्य मूल्य माना है ॥ २५ ॥

च्यवन उवाच—

उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक्क्रीतोऽस्मि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥ २६ ॥

च्यवन मुनि बोले— हे पापरहित राजेन्द्र ! अब मैं उठता हूं, तुमने योग्य मूल्यमें मुझे मोल लिया है । हे अच्युत ! मैं इस लोकमें गौओंके सदृश कुछ भी धन नहीं देखता हूं ॥२६॥

कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्॥ २७॥

हे वीर राजन्! गौओंके नाम और गुणोंका कथा कहना, सुनना और उनका दान देना, उनका दर्शन करना। इनकी बहुत प्रशंसा की गयी है। ये कार्य सब पापोंको हरने तथा कल्याण प्राप्त करानेवाले हैं॥ २७॥

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः॥ २८॥

गौएं ही सदा लक्ष्मीका मूल है, गौओंमें पाप नहीं है; गौएं ही सदा मनुष्योंको अन्न और देवताओंको हविष्य देती हैं॥ २८॥

स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।
गावो यज्ञप्रणेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्॥ २९॥

गौओंमें ही स्वाहा और वषट्कार सदा प्रतिष्ठित होते हैं, गौएंही यज्ञोंको सिद्ध करती हैं और वेही यज्ञके मुख-स्वरूप हैं॥ २९॥

अमृतं ह्यक्षयं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः॥ ३०॥

गौओंमें ही दिव्य अक्षय अमृत बहता तथा क्षरता है। सब लोकोंकी नमस्कृत ये सब गौएं अमृतके स्थान हैं॥ ३०॥

तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि।
गावो हि सुमहत्तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः॥ ३१॥

भूलोकमें तेज और तनके सहारे गोवृन्द अग्निसदृश हैं, गौएं उत्तम महत् तेजकी राशि और प्राणियोंको सुख देनेवाली हैं॥ ३१॥

निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयति तं देशं पाप्मानं चापकर्षति॥ ३२॥

गौवें जिस स्थानमें स्थित होकर निर्भय होके सांस लेती हैं, उस स्थानको भूषित करती हुई वहांके पापोंको दूर किया करती हैं॥ ३२॥

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।
गावः कामदुघा देव्यो नान्यत्किंचित्परं स्मृतम्॥ ३३॥

गौएं ही स्वर्गके लिये सोपान स्वरूप हैं, गौओंका समूह स्वर्गमें भी पूजित हुआ करता है; गौएं देवी स्वरूप हैं, वे सब कामनाओंको पूर्ण किया करती हैं। दूसरी कुछ भी वस्तु गौओंसे श्रेष्ठ नहीं है॥ ३३॥

इत्येतद्गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं पार्थिवर्षभ ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ॥ ३४ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! यह गौवोंका माहात्म्य मैंने कहा है; इनके गुणोंका केवल दिग्दर्शन ही किया है; सब गुणोंका वर्णन करना तो बहुत ही अशक्य बात है ॥ ३४ ॥

निषादा ऊचुः—

दर्शनं कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने ।
सतां सप्तपदं मित्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ॥ ३५ ॥

निषादवृन्द बोले— हे मुनि ! आपका हम लोगोंके सङ्ग दर्शन और वार्त्तालाप हुआ है, साधुओंके साथ सात पग चालनेसे ही मित्रता होती है, हे प्रभु ! इसलिये आप हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये ॥ ३५ ॥

हवींषि सर्वाणि यथा ह्युपभुङ्क्ते हुताशनः ।
एवं त्वमपि धर्मात्मन्पुरुषाग्निः प्रतापवान् ॥ ३६ ॥

हे धर्मात्मन् ! जैसे अग्नि समस्त हवि उपभोग करती है, वैसे ही आप भी हमारे दोषोंको दग्ध करनेवाले प्रतापवान् पुरुषाग्नि हैं ॥ ३६ ॥

प्रसादयामहे विद्वन्भवन्तं प्रणता वयम् ।
अनुग्रहार्थमस्माकमियं गौः प्रतिगृह्यताम् ॥ ३७ ॥

हे विद्वन् ! हम लोग प्रणत होके आपको प्रसन्न करते हैं, हमपर कृपा करके आप इस गौको प्रतिग्रह करिये ॥ ३७ ॥

च्यवन उवाच—

कृपणस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ३८ ॥

च्यवन बोले— जैसे प्रज्वलित अग्नि सूखे तृणोंको जलाती है, वैसे ही दीन हीन कृपण, मुनि और विषधर सर्पके नेत्र मनुष्योंको मूलके सहित भस्म किया करते हैं ॥ ३८ ॥

प्रतिगृह्णामि वो धेनुं कैवर्ता मुक्तकिल्बिषाः ।
दिवं गच्छत वै क्षिप्रं मत्स्यैर्जालोद्धृतैः सह ॥ ३९ ॥

हे कैवर्त— मल्लाहवृन्द ! मैं तुम लोगोंकी दी हुई गौका स्वीकार करता हूं । तुम लोग पाप-रहित होके, जालमें पकडी हुई मछलियोंके सहित शीघ्र ही स्वर्गमें गमन करो ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच—

ततस्तस्य प्रसादात्ते महर्षेर्भावितात्मनः ।
निषादास्तेन वाक्येन सह मत्स्यैर्दिवं ययुः ॥ ४० ॥

भीष्म बोले— अनन्तर निषादोंने उस पवित्र चित्तवाले महर्षिके प्रसादसे उनके वचनके अनुसार मछलियोंके सहित स्वर्गमें गमन किया ॥ ४० ॥

×

ततः स राजा नहुषो विस्मितः प्रेक्ष्य धीवरान्।
आरोहमाणांस्त्रिदिवं मत्स्यांश्च भरतर्षभ ॥ ४१ ॥
हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर राजा नहुष मछलियोंके सहित मल्लाहोंको स्वर्गमें जाते देखके विस्मित हुए ॥ ४१ ॥

ततस्तौ गविजश्चैव च्यवनश्च भृगूद्वहः।
वराभ्यामनुरूपाभ्यां छन्दयामासतुर्नृपम् ॥ ४२ ॥
अन्तमें वह गविज और भृगुनन्दन च्यवन मुनि दोनोंने राजा नहुषको यथोचित वर मांगनेके लिये कहा ॥ ४२ ॥

ततो राजा महावीर्यो नहुषः पृथिवीपतिः।
परमित्यब्रवीत्प्रीतस्तदा भरतसत्तम ॥ ४३ ॥
हे भरतसत्तम! अनन्तर महापराक्रमी पृथ्वीपति राजा नहुषने उस समय प्रसन्न होके कहा, आपकी बहुत कृपा है ॥ ४३ ॥

ततो जग्राह धर्मे स स्थितिमिन्द्रनिभो नृपः।
तथेति चोदितः प्रीतस्तावृषी प्रत्यपूजयत् ॥ ४४ ॥
उस इन्द्रतुल्य राजाने धर्ममें निष्ठा रहनेके निमित्त वर मांगा, उन्होंने भी कहा, कि ऐसा ही होवे; तब राजाने प्रसन्न होके दोनों ऋषियोंकी विधिवत् पूजा की ॥ ४४ ॥

समाप्तदीक्षश्च्यवनस्ततोऽगच्छत्स्वमाश्रमम्।
गविजश्च महातेजाः स्वमाश्रमपदं ययौ ॥ ४५ ॥
च्यवन मुनि दीक्षा समाप्त करनेके अनन्तर अपने आश्रमपर आये; महातेजस्वी गविजने भी निज आश्रमकी ओर गमन किया ॥ ४५ ॥

निषादाश्च दिवं जग्मुस्ते च मत्स्या जनाधिप।
नहुषोऽपि वरं लब्ध्वा प्रविवेश पुरं स्वकम् ॥ ४६ ॥
हे राजन्! वे मल्लाह और मत्स्य स्वर्गमें चले गये; राजा नहुष भी वर पाके अपने नगरमें आये ॥ ४६ ॥

एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
दर्शने यादृशः स्नेहः संवासे वा युधिष्ठिर ॥ ४७ ॥
हे तात युधिष्ठिर! तुम्हारे पूछनेके अनुसार मैंने यह सारा वृत्तांत कहा है। दर्शन और सहवाससे कैसा स्नेह होता है? ॥ ४७ ॥

महाभाग्यं गवां चैव तथा धर्मविनिश्चयम् ।
किं भूयः कथ्यतां वीर किं ते हृदि विवक्षितम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ २३५२ ॥

तथा गौओंका माहात्म्य क्या है और इस विषयमें धर्मनिश्चय क्या है ? यह विषय इससे स्पष्ट होता है । हे वीर ! फिर क्या कहूं ? तुम्हारे अन्तःकरणमें किस विषयके जाननेकी अभिलाषा है ? ॥ ४८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ २३५२ ॥

: ५२ :

युधिष्ठिर उवाच—

संशयो मे महाप्राज्ञ सुमहान्सागरोपमः ।
तन्मे शृणु महाबाहो श्रुत्वा चाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महाप्राज्ञ महाबाहो ! मुझे महा समुद्रके समान सन्देह है, आप उसे सुनिये और सुननेपर उस विषयकी व्याख्या करनेके लिये आप ही योग्य हैं ॥ १ ॥

कौतूहलं मे सुमहज्जामदग्न्यं प्रति प्रभो ।
रामं धर्मभृतां श्रेष्ठं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

हे प्रभु ! धार्मिकश्रेष्ठ जामदग्न्य रामके विषयमें मुझे अत्यन्त कौतूहल हो रहा है । आप मेरे समीप इस ही विषयको वर्णन करिये ॥ २ ॥

कथमेष समुत्पन्नो रामः सत्यपराक्रमः ।
कथं ब्रह्मर्षिवंशो च क्षत्रधर्मा व्यजायत ॥ ३ ॥

ये सत्यपराक्रमी राम किस प्रकार उत्पन्न हुए थे ? ब्रह्मर्षिके वंशमें उत्पन्न होके यह क्षत्रियोंके धर्मका आचरण करनेवाला कैसा हुआ ? ॥ ३ ॥

तदस्य संभवं राजन्निखिलेनानुकीर्तय ।
कौशिकाच्च कथं वंशात्क्षत्राद्वै ब्राह्मणोऽभवत् ॥ ४ ॥

उनकी उत्पत्तिका विषय आप विस्तारपूर्वक वर्णन करिये । हे महाराज ! क्षत्रिय कौशिक-वंशमें किस प्रकार ब्राह्मणकी उत्पत्ति हुई ? ॥ ४ ॥

अहो प्रभावः सुमहानासीद्वै सुमहात्मनोः ।
रामस्य च नरव्याघ्र विश्वामित्रस्य चैव ह ॥ ५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! महानुभाव राम और विश्वामित्रमें अत्यन्त महत् आश्चर्ययुक्त प्रभाव था ॥ ५ ॥

कथं पुत्रानतिक्रम्य तेषां नप्तॄन्यथाभवत्।
एष दोषः सुतान्हित्वा तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

पुत्रोंको छोडके उनके नातियोंमें यह विजातीयताका दोष किस प्रकार सम्भव हुआ ? आप उसे यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
च्यवनस्य च संवादं कुशिकस्य च भारत ॥ ७ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! प्राचीन लोग इस विषयमें महर्षि च्यवन और राजा कुशिकके संवादयुक्त पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ७ ॥

एतं दोषं पुरा दृष्ट्वा भार्गवश्च्यवनस्तदा।
आगामिनं महाबुद्धिः स्ववंशे मुनिपुंगवः ॥ ८ ॥

महाबुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ भृगुनन्दन च्यवनने उस समय निज वंशमें इस भविष्य दोषको पहले ही देखके ॥ ८ ॥

संचिन्त्य मनसा सर्वं गुणदोषबलाबलम्।
दग्धुकामः कुलं सर्वं कुशिकानां तपोधनः ॥ ९ ॥

मन ही मन समस्त गुण, दोष और बलाबलका निश्चय करके समस्त कुशिककुलको भस्म करनेकी तपोधन च्यवनने इच्छा की ॥ ९ ॥

च्यवनस्तमनुप्राप्य कुशिकं वाक्यमब्रवीत्।
वस्तुमिच्छा समुत्पन्ना त्वया सह ममानघ ॥ १० ॥

च्यवन मुनि कुशिकके समीप पहुंचके बोले, हे पापरहित ! तुम्हारे सङ्ग एकत्र वास करनेकी मुझे इच्छा हुई है ॥ १० ॥

कुशिक उवाच—

भगवन्सहधर्मोऽयं पण्डितैरिह धार्यते।
प्रदानकाले कन्यानामुच्यते च सदा बुधैः ॥ ११ ॥

कुशिक बोले– हे भगवन् ! यह अतिथि सेवाका सह धर्म पण्डित लोग यहां धारण करते हैं और बुद्धिमान् विद्वानोंके द्वारा कन्यादान करनेके समय यह निश्चित हुआ करता है ॥ ११ ॥

यत्तु तावदतिक्रान्तं धर्मद्वारं तपोधन।
तत्कार्यं प्रकरिष्यामि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे तपोधन ! उस ही धर्मके मार्गका अबतक पालन नहीं हो सका, अब उसे कर्त्तव्य समझके करूंगा; इसलिये उस विषयमें आप आज्ञा करिये ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—

अथासनमुपादाय च्यवनस्य महामुनेः ।
कुशिको भार्यया सार्धमाजगाम यतो मुनिः ॥ १३ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर राजा कुशिकने महामुनि च्यवनके लिये बैठनेको आसन दिया और पत्नीके साथ जिस स्थानमें वे विराजमान थे, वहां आये ॥ १३ ॥

प्रगृह्य राजा भृङ्गारं पाद्यमस्मै न्यवेदयत् ।
कारयामास सर्वाश्च क्रियास्तस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

राजाने भृङ्गार (जलपात्रविशेष) ग्रहण करके मुनिके पैर धोनेके लिये जल दिया और उस महात्माके सब अर्घ्य आदि कार्योंको पूरा कर दिया ॥ १४ ॥

ततः स राजा च्यवनं मधुपर्कं यथाविधि ।
प्रत्यग्राहयदव्यग्रो महात्मा नियतव्रतः ॥ १५ ॥

अनन्तर महानुभाव, नियतव्रती राजाने सावधानीके सहित च्यवनको विधिपूर्वक मधुपर्क दिया ॥ १५ ॥

सत्कृत्य स तथा विप्रमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन्परवन्तौ स्वो ब्रूहि किं करवावहे ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस विप्र श्रेष्ठका सत्कार करके उन्होंने फिर उनसे कहा, हे भगवन्! हम दोनों आपके अधीन हैं, इसलिये कहिये हम क्या करें? ॥ १६ ॥

यदि राज्यं यदि धनं यदि गाः संशितव्रत ।
यज्ञदानानि च तथा ब्रूहि सर्वं ददामि ते ॥ १७ ॥

हे कठोरव्रती मुनि! यदि राज्य, धन, गौ, यज्ञ, दान प्रभृतिका प्रयोजन हो, तो मुझे आज्ञा करिये, मैं आपको सब दान कर सकता हूं ॥ १७ ॥

इदं गृहमिदं राज्यमिदं धर्मासनं च ते ।
राजा त्वमसि शाध्युर्वीं भृत्योऽहं परवांस्त्वयि ॥ १८ ॥

यह गृह, यह राज्य और धर्मासन सब आपका ही है; आप ही राजा हैं, इस पृथ्वीका शासन करिये, मैं आपके अधीन रहनेवाला सेवक हूं ॥ १८ ॥

एवमुक्ते ततो वाक्ये च्यवनो भार्गवस्तदा ।
कुशिकं प्रत्युवाचेदं मुदा परमया युतः ॥ १९ ॥

कुशिकके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन च्यवन अत्यन्त हर्षित होके उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १९ ॥

न राज्यं कामये राजन्न धनं न च योषितः ।
न च गा न च ते देशान्न यज्ञाञ्छ्रूयतामिदम् ॥ २० ॥
हे महाराज ! मैं राज्य, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार, गौ, तुम्हारे देश अथवा यज्ञकी इच्छा नहीं करता; मुझे जो अभिलाषा है, वह कहता हूं, सुनो ॥ २० ॥

नियमं किंचिदारप्स्ये युवयोर्यदि रोचते ।
परिचर्योऽस्मि यत्ताभ्यां युवाभ्यामविशङ्कया ॥ २१ ॥
यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं कोई नियम आरम्भ करूंगा; तुम दोनों पति–पत्नीको सदा सावधान रहकर निःशङ्क हृदयसे प्रणत होकर मेरी सेवा करनी होगी ॥ २१ ॥

एवमुक्ते तदा तेन दंपती तौ जहर्षतुः ।
प्रत्यब्रूतां च तमृषिमेवमस्त्विति भारत ॥ २२ ॥
हे भारत ! च्यवनके ऐसा कहनेपर राजा और रानी दोनोंने अत्यन्त हर्षित होके ऋषिको उत्तर दिया ‘ ऐसा ही होगा ’ ॥ २२ ॥

अथ तं कुशिको हृष्टः प्रावेशयदनुत्तमम् ।
गृहोद्देशं ततस्तत्र दर्शनीयमदर्शयत् ॥ २३ ॥
अनन्तर राजा कुशिक प्रसन्न होकर उन्हें अत्यन्त रमणीय महलमें ले गये और देखने योग्य सब वस्तुओंको उन्हें दिखाया ॥ २३ ॥

इयं शय्या भगवतो यथाकाममिहोष्यताम् ।
प्रयतिष्यावहे प्रीतिमाहर्तुं ते तपोधन ॥ २४ ॥
फिर वे बोले– हे तपोधन ! यही आपकी शय्या है, आप इच्छानुसार इस स्थानमें निवास करिये । हम आपकी प्रीति पूरी करनेके लिये प्रयत्न करेंगे ॥ २४ ॥

अथ सूर्योऽतिचक्राम तेषां संवदतां तथा ।
अथर्षिश्चोदयामास पानमन्नं तथैव च ॥ २५ ॥
उन लोगोंके इस ही प्रकार वार्तालाप करते रहनेपर सूर्यदेवने अस्ताचलपर गमन किया । अनन्तर महर्षि च्यवनने अन्न और जल लानेके लिये आज्ञा की ॥ २५ ॥

तमपृच्छत्ततो राजा कुशिकः प्रणतस्तदा ।
किमन्नजातमिष्टं ते किमुपस्थापयाम्यहम् ॥ २६ ॥
राजा कुशिकने उस समय प्रणत होके ऋषिसे पूछा, हे भगवन् ! कैसे अन्न आपको रुचते हैं ? मैं कैसी भोजनकी सामग्री मंगाऊं ? ॥ २६ ॥

ततः स परया प्रीत्या प्रत्युवाच जनाधिपम् ।
औपपत्तिकमाहारं प्रयच्छस्वेति भारत ॥ २७ ॥
हे भारत ! अनन्तर उस महर्षिने परम हर्षके सहित राजाको उत्तर दिया, कि युक्तिसंगत अन्न प्रदान करो ॥ २७ ॥

तद्वचः पूजयित्वा तु तथेत्याह स पार्थिवः ।
यथोपपन्नं चाहारं तस्मै प्रादाज्जनाधिपः ॥ २८ ॥
राजा कुशिक च्यवनके उस वचनका आदर करके बोले, कि 'ऐसा ही होगा।' नरनाथ कुशिकने उन्हें युक्तियुक्त अन्न प्रदान किया ॥ २८ ॥

ततः स भगवान्भुक्त्वा दंपती प्राह धर्मवित् ।
स्वप्तुमिच्छाम्यहं निद्रा बाधते मामिति प्रभो ॥ २९ ॥
धर्म जाननेवाले भगवान् च्यवन भोजनके अनन्तर राजदम्पतीसे बोले, हे राजन् ! निद्रा मुझे बाधा दे रही है, इसलिये मैं सोनेकी इच्छा करता हूं ॥ २९ ॥

ततः शय्यागृहं प्राप्य भगवानृषिसत्तमः ।
संविवेश नरेन्द्रस्तु सपत्नीकः स्थितोऽभवत् ॥ ३० ॥
अनन्तर ऋषिसत्तम भगवान च्यवनने शय्यागृहमें जाके शयन किया। राजा भार्याके सहित वहां उनकी सेवामें स्थित रहा ॥ ३० ॥

न प्रबोध्योऽस्मि संसुप्त इत्युवाचाथ भार्गवः ।
संवाहितव्यौ पादौ मे जागर्तव्यं च वां निशि ॥ ३१ ॥
अनन्तर भृगुनन्दनने कहा, मेरे निद्रित होनेपर मुझे न जगाना; तुम लोग मेरे चरणकी सेवा करते हुए सदा जाग्रत अवस्थामें रात्रिमें स्थित रहो ॥ ३१ ॥

अविशङ्कश्च कुशिकस्तथेत्याह स धर्मवित् ।
न प्रबोधयतां तं च तौ तदा रजनीक्षये ॥ ३२ ॥
धर्म जाननेवाले राजा कुशिकने शङ्कारहित होके कहा, 'ऐसा ही होगा।' फिर रात बीतनेपर भी उन दोनोंने उन्हें न जगाया ॥ ३२ ॥

यथादेशं महर्षेस्तु शुश्रूषापरमौ तदा ।
बभूवतुर्महाराज प्रयतावथ दंपती ॥ ३३ ॥
हे महाराज ! वे दम्पती उस समय महर्षिकी आज्ञाके अनुसार प्रयत्नवान् होकर उनकी सेवा करने लगे ॥ ३३ ॥

ततः स भगवान्विप्रः समादिश्य नराधिपम्।
सुष्वापैकेन पार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम् ॥ ३४ ॥

अनन्तर उस विप्र भगवानने राजाको इसही प्रकार आज्ञा करके इकीस दिनोंतक एक पार्श्वसे सोके निद्रावस्थामें समय व्यतीत किया ॥ ३४ ॥

स तु राजा निराहारः सभार्यः कुरुनन्दन।
पर्युपासत तं हृष्टश्च्यवनाराधने रतः ॥ ३५ ॥

हे कुरुनन्दन! राजा कुशिक पत्नीके सहित निराहार होके च्यवनकी आराधनामें अनुरक्त और प्रसन्न रहके सब भांतिसे उनकी उपासना करने लगे ॥ ३५ ॥

भार्गवस्तु समुत्तस्थौ स्वयमेव तपोधनः।
अकिंचिदुक्त्वा तु गृहान्निश्चक्राम महातपाः ॥ ३६ ॥

अनन्तर तपोधन भृगुनन्दन स्वयंही उठे, और वे महातपस्वी कुछ भी वचन न कहके गृहसे बाहर निकले ॥ ३६ ॥

तमन्वगच्छतां तौ तु क्षुधितौ श्रमकर्शितौ।
भार्यापती मुनिश्रेष्ठो न च ताववलोकयत् ॥ ३७ ॥

राजा और रानी दोनोंही भूखसे पीडित और श्रमसे दुर्बल हो गये थे, तो भी वे उनके पीछे चले। उनके आनेपर भी मुनि श्रेष्ठने उनकी ओर न देखा ॥ ३७ ॥

तयोस्तु प्रेक्षतोरेव भार्गवाणां कुलोद्वहः।
अन्तर्हितोऽभूद्राजेन्द्र ततो राजापतत्क्षितौ ॥ ३८ ॥

हे राजेन्द्र! भार्याके सहित राजा कुशिकके देखते रहनेपर भी भृगुकुलोद्वह च्यवन अन्तर्द्धान हुए; उनके अन्तर्हित होते ही राजा पृथ्वीपर गिर पडे ॥ ३८ ॥

स मुहूर्तं समाश्वस्य सह देव्या महाद्युतिः।
पुनरन्वेषणे यत्नमकरोत्परमं तदा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ २३९१ ॥

महातेजस्वी राजाने भार्याके सहित मुहूर्त्त भरके अनन्तर धीरज धरके उस समय फिर उन्हें ढूंढनेका अत्यन्त यत्न किया ॥ ३९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ २३९१ ॥

५३

युधिष्ठिर उवाच—

तस्मिन्नन्तर्हिते विप्रे राजा किमकरोत्तदा ।
भार्या चास्य महाभागा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! उस विप्रके अदृश्य होनेपर वह राजा और उनकी महाभाग्यवती रानीने क्या किया ? वह आप मुझसे कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अदृष्ट्वा स महीपालस्तमृषिं सह भार्यया ।
परिश्रान्तो निववृते व्रीडितो नष्टचेतनः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— भार्याके सहित वह राजा ऋषिको न देखनेपर बहुत थकके लौट आये; उस समय वे बहुत लज्जित तथा चेतनारहितसे हो गये थे ॥ २ ॥

स प्रविश्य पुरीं दीनो नाभ्यभाषत किंचन ।
तदेव चिन्तयामास च्यवनस्य विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

वह दुःखित होके नगरमें प्रवेश करके किसीसे कुछ भी नहीं बोले; केवल च्यवन मुनिके उसही कार्यकी चिन्ता करने लगे ॥ ३ ॥

अथ शून्येन मनसा प्रविवेश गृहं नृपः ।
ददर्श शयने तस्मिञ्शयानं भृगुनन्दनम् ॥ ४ ॥

अनन्तर राजाने सूने मनसे निज भवनमें प्रवेश करके भृगुनन्दन च्यवनको उसही शय्यापर सोये हुए देखा ॥ ४ ॥

विस्मितौ तौ तु दृष्ट्वा तं तदाश्चर्यं विचिन्त्य च ।
दर्शनात्तस्य च मुनेर्विश्रान्तौ संबभूवतुः ॥ ५ ॥

दम्पती उस समय ऋषिको देखके विस्मित हुए और उस आश्चर्य कारक घटनापर विचार करके चकित हुए; उन मुनिके दर्शन निबन्धनसे उनकी थकावट दूर हो गयी ॥ ५ ॥

यथास्थानं तु तौ स्थित्वा भूयस्तं संववाहतुः ।
अथापरेण पार्श्वेन सुष्वाप स महामुनिः ॥ ६ ॥

वे यथास्थानमें स्थित होके फिर ऋषिकी चरणसेवा करनेमें प्रवृत्त रहे । अब महामुनि दूसरी करवट होके निन्द्रा-सुख भोगने लगे ॥ ६ ॥

तेनैव च स कालेन प्रत्यबुध्यत वीर्यवान् ।
न च तौ चक्रतुः किंचिद्विकारं भयशङ्कितौ ॥ ७ ॥

वीर्यवान् च्यवन जितने दिनतक एक पार्श्वसे निद्रित थे, उतने ही समयतक दूसरी करवट निद्रित रहके जागे । भार्याके सहित राजाने भयसे शङ्कित होकर, किसी प्रकार अपने मनमें विकार नहीं आने दिया ॥ ७ ॥

×

प्रतिबुद्धस्तु स मुनिस्तौ प्रोवाच विशां पते ।
तैलाभ्यङ्गो दीयतां मे स्नास्येऽहमिति भारत ॥ ८ ॥
हे भारत ! नरनाथ ! उस मुनिने जागे होनेपर उनसे कहा, मेरे समस्त शरीरमें तेल लगाओ, मैं स्नान करूंगा ॥ ८ ॥

तथेति तौ प्रतिश्रुत्य क्षुधितौ श्रमकर्शितौ ।
शतपाकेन तैलेन महार्हेणोपतस्थतुः ॥ ९ ॥
भार्याके सहित राजा भूखे और श्रमयुक्त होनेपर भी उनका वचन अङ्गीकार करके महामूल्यवान शतपाक तेल ले आये और सेवामें लगे ॥ ९ ॥

ततः सुखासीनमृषिं वाग्यतौ संववाहतुः ।
न च पर्याप्तमित्याह भार्गवः सुमहातपाः ॥ १० ॥
अनन्तर वे दोनों मौन हो उस सुखसे बैठे मुनिके शरीरमें तेल मलने लगे । महातपस्वी भार्गवने यह पर्याप्त हुआ ऐसे कुछ भी नहीं कहा ॥ १० ॥

यदा तौ निर्विकारौ तु लक्षयामास भार्गवः ।
तत उत्थाय सहसा स्नानशालां विवेश ह ।
क्लृप्तमेव तु तत्रासीत्स्नानीयं पार्थिवोचितम् ॥ ११ ॥
अनन्तर जब भृगुनन्दनने उस राजा और राजरानीको निर्विकार देखा, तब सहसा उठके वे स्नानगृहमें गये; स्नानशालामें राजाके योग्य स्नानीय जल आदि सब वस्तु तैयार थीं ॥ ११ ॥

असत्कृत्य तु तत्सर्वं तत्रैवान्तरधीयत ।
स मुनिः पुनरेवाथ नृपतेः पश्यतस्तदा ।
नासूयां चक्रतुस्तौ च दंपती भरतर्षभ ॥ १२ ॥
वह राजाके सम्मुखमें ही इन सबका निरादर करके उसही स्थानमें वे मुनि फिर अन्तर्द्धान हुए । हे भरतश्रेष्ठ ! राजदम्पतीने उस विषयमें कुछ भी असूया न की ॥ १२ ॥

अथ स्नातः स भगवान्सिंहासनगतः प्रभुः ।
दर्शयामास कुशिकं सभार्यं भृगुनन्दनः ॥ १३ ॥
अनन्तर निग्रहानुग्रहमें समर्थ भृगुनन्दन च्यवन भगवान्ने स्नान करके सिंहासनपर बैठके सपत्नीक कुशिक राजाको दर्शन किया ॥ १३ ॥

संहृष्टवदनो राजा सभार्यः कुशिको मुनिम् ।
सिद्धमन्नमिति प्रह्वो निर्विकारो न्यवेदयत् ॥ १४ ॥
प्रह्वायुक्त राजा कुशिकने भार्याके सहित प्रसन्नवदन और निर्विकारचित्त होके विनीत भावसे मुनिसे कहा, कि भोजन तैयार है ॥ १४ ॥

आनीयतामिति मुनिस्तं चोवाच नराधिपम् ।
राजा च समुपाजह्रे तदन्नं सह भार्यया ॥ १५ ॥
मुनिने भी राजासे कहा, लाओ; तब राजा भार्याके सहित वह प्रस्तुत अन्न मुनिके समीप ले आया ॥ १५ ॥

मांसप्रकारान्विविधाञ्शाकानि विविधानि च ।
वेसवारविकारांश्च पानकानि लघूनि च ॥ १६ ॥
अनेक प्रकारके मांस, विविध शाक, अनेक प्रकारकी तरकारियाँ, अनेक भाँतिके हल्के पानीय ॥ १६ ॥

रसालापूपकांश्चित्रान्मोदकानथ षाडवान् ।
रसान्नानाप्रकारांश्च वन्यं च मुनिभोजनम् ॥ १७ ॥
रसमिश्रित पिष्टक, विचित्र लड्डू, रसाल अपूप, खाण्डव, अनेक प्रकारके रस, मुनिभोजनके योग्य वनके फल ॥ १७ ॥

फलानि च विचित्राणि तथा भोज्यानि भूरिशः ।
बदरेङ्गुदकाश्मर्यभल्लातकवटानि च ॥ १८ ॥
बहुतसे विचित्र फल, उसके अतिरिक्त सब राज्यभोग, बदर, इंगुद, काश्मर्य, भल्लातक आदि फल ॥ १८ ॥

गृहस्थानां च यद्भोज्यं यच्चापि वनवासिनाम् ।
सर्वमाहारयामास राजा शापभयान्मुनेः ॥ १९ ॥
तथा गृहस्थ और वनवासियोंके खाने योग्य जो सब पदार्थ मुनिके शापभयसे राजाने वह सब मंगाया था ॥ १९ ॥

अथ सर्वमुपन्यस्तमग्रतश्च्यवनस्य तत् ।
ततः सर्वं समानीय तच्च शय्यासनं मुनिः ॥ २० ॥
अनन्तर च्यवन मुनिके अगाडी समस्त भोजनकी सामग्री परोसकर रखी गई । भृगुनन्दन च्यवन मुनिने उन सब भोजनके पदार्थोंको और शय्या और आसनको ॥ २० ॥

वस्त्रैः शुभैरवच्छाद्य भोजनोपस्करैः सह ।
सर्वमादीपयामास च्यवनो भृगुनन्दनः ॥ २१ ॥
सफेद सुंदर वस्त्रोंसे ढाकके भृगुनन्दन च्यवनने भोजनसामग्रीके साथ उन वस्त्रोंको भी जला दिया ॥ २१ ॥

न च तौ चक्रतुः कोपं दंपती सुमहाव्रतौ ।
तयोः संप्रेक्षतोरेव पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २२ ॥

वे महाव्रती दंपती उससे भी क्रुद्ध न हुए। उनके देखते ही देखते वे मुनि फिर अन्तर्द्धान हुए ॥ २२ ॥

तत्रैव च स राजर्षिस्तस्थौ तां रजनीं तदा ।
सभार्यो वाग्यतः श्रीमान्न च तं कोप आविशत् ॥ २३ ॥

वे राजर्षि श्रीमान् कुशिक भार्याके सहित मौनव्रत होकर उस रात्रिमें उस ही भावसे खडे रहे; उस समय वह क्रुद्ध नहीं हुए ॥ २३ ॥

नित्यं संस्कृतमन्नं तु विविधं राजवेश्मनि ।
शयनानि च मुख्यानि परिषेकाश्च पुष्कलाः ॥ २४ ॥

राजभवनमें प्रतिदिन विविध प्रकारका अन्न और उत्तम शय्या उपस्थित रहती थीं, बहुतसे स्नानयोग्य पात्र रखे जाते थे ॥ २४ ॥

वस्त्रं च विविधाकारमभवत्समुपार्जितम् ।
न शशाक ततो द्रष्टुमन्तरं च्यवनस्तदा ॥ २५ ॥

तथा अनेक प्रकारके वस्त्र उनकी सेवामें समर्पित किये जाते थे; च्यवन ऋषि इनमें कोई त्रुटि नहीं देख सके ॥ २५ ॥

पुनरेव च विप्रर्षिः प्रोवाच कुशिकं नृपम् ।
सभार्यो मां रथेनाशु वह यत्र ब्रवीम्यहम् ॥ २६ ॥

विप्रर्षिने फिर राजा कुशिकसे कहा, मैं जिस स्थानमें कहूं, वहांपर तुम भार्याके सहित मुझे रथपर शीघ्र ले चलो ॥ २६ ॥

तथेति च प्राह नृपो निर्विशङ्कस्तपोधनम् ।
क्रीडारथोऽस्तु भगवन्नुत सांग्रामिको रथः ॥ २७ ॥

उस समय राजाने निःशङ्क होकर तपोधन महर्षिसे कहा, कि ऐसा ही होगा । हे भगवन् ! हम क्रीडारथ अथवा सांग्रामिक रथमें आपको ले चलें ? ॥ २७ ॥

इत्युक्तः स मुनिस्तेन राज्ञा हृष्टेन तद्वचः ।
च्यवनः प्रत्युवाचेदं हृष्टः परपुरंजयम् ॥ २८ ॥

राजाके जब प्रसन्नचित्त होकर मुनिसे ऐसा कहा, तब च्यवन मुनि हर्षित होके उस शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले राजासे बोले ॥ २८ ॥

सज्जीकुरु रथं क्षिप्रं यस्ते सांग्रामिको मतः ।
सायुधः सपताकश्च सशक्तिः कणयष्टिमान् ॥ २९ ॥
तुम्हारा जो सांग्रामिक रथ है, उसे ही शीघ्र सज्जित करो । उस रथमें अस्त्र-शस्त्र, पताका, शक्ति और कणयष्टि रखी जांय ॥ २९ ॥

किङ्किणीशतनिर्घोषो युक्तस्तोमरकल्पनैः ।
गदाखड्गनिबद्धश्च परमेषुशतान्वितः ॥ ३० ॥
सौ किङ्किणीशब्दसे सम्पन्न, तोमरोंसे भूषित गदा, खड्गसे युक्त और सैंकडों उत्तम बाणोंसे युक्त वह रथ रहे ॥ ३० ॥

ततः स तं तथेत्युक्त्वा कल्पयित्वा महारथम् ।
भार्यां वामे धुरि तदा चात्मानं दक्षिणे तथा ॥ ३१ ॥
अनन्तर राजाने ' ऐसा ही होवे ' यह वचन कहके उस महारथको सजाकर वहां लाया; धुरीकी बांई तरफ प्रियभार्याको और दाहिनी ओर अपनेको योजित किया ॥ ३१ ॥

त्रिदंष्ट्रं वज्रसूच्यग्रं प्रतोदं तत्र चादधत् ।
सर्वमेतत्ततो दत्त्वा नृपो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥
त्रिदंष्ट्र और सूईकी नोंकके समान अग्रभागवाला एक चाबूक भी उसमें स्थापित किया । राजाने यह सब सामग्री रथमें स्थापित करके कहा ॥ ३२ ॥

भगवन्क रथो यातु ब्रवीतु भृगुनन्दनः ।
यत्र वक्ष्यसि विप्रर्षे तत्र यास्यति ते रथः ॥ ३३ ॥
हे भगवन् ! हे भृगुनन्दन ! आप कहिये, रथ कहांपर ले चले ? हे विप्रर्षि ! आप जिस स्थानमें कहेंगे, वहां ही आपका रथ जावेगा ॥ ३३ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान्प्रत्युवाचाथ तं नृपम् ।
इतःप्रभृति यातव्यं पदकं पदकं शनैः ॥ ३४ ॥
भगवान् च्यवनने ऐसा वचन सुनके उस राजासे कहा, इस स्थानसे धीरे धीरे एक एक पग चलना होगा ॥ ३४ ॥

श्रमो मम यथा न स्यात्तथा मे छन्दचारिणौ ।
सुखं चैवास्मि वोढव्यो जनः सर्वश्च पश्यतु ॥ ३५ ॥
जिससे मुझे बहुत कष्ट न हो, उस ही भांति मेरी इच्छाके अनुसार तुम दोनों चलोगे । तुम लोग मुझे परम सुख मिले इस प्रकार रथको ले चलो और सब लोग देखें ॥ ३५ ॥

नोत्सार्यः पथिकः कश्चित्तेभ्यो दास्याम्यहं वसु।
ब्राह्मणेभ्यश्च ये कामानर्थयिष्यन्ति मां पथि ॥ ३६ ॥

मार्गसे किसी पथिकको न हटाओ, क्योंकि मैं उन्हें धन दान करूंगा। मार्गमें ब्राह्मण लोग मेरे समीप जिस वस्तुके लिये प्रार्थना करेंगे, मैं उन्हें वही वस्तु प्रदान करूंगा ॥ ३६ ॥

सर्वं दास्याम्यशेषेण धनं रत्नानि चैव हि।
क्रियतां निखिलेनैतन्मा विचारय पार्थिव ॥ ३७ ॥

मैं सब धन और रत्न इच्छानुरूप बांटूंगा। हे राजन्! मैंने जो कहा, वह सब तुम सिद्ध करो; इस विषयमें कुछ भी विचार मत करो ॥ ३७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा भृत्यानथाब्रवीत्।
यद्यद्ब्रूयान्मुनिस्तत्तत्सर्वं देयमशङ्कितैः ॥ ३८ ॥

राजा उनका यह वचन सुनके अपने सेवकोंसे बोला, मुनि जिस जिस वस्तुके लिये कुछ कहें, तुम लोग शङ्कारहित होकर वह सब प्रदान करना ॥ ३८ ॥

ततो रत्नान्यनेकानि स्त्रियो युग्यमजाविकम्।
कृताकृतं च कनकं गजेन्द्राश्चाचलोपमाः ॥ ३९ ॥

अनन्तर विविध प्रकारके रत्न, स्त्रीवृन्द, सवारी, बकरे, भेड़ें, सुवर्णके भूषण, सोना, पर्वत-सदृश हाथियोंके समूह ॥ ३९ ॥

अन्वगच्छन्त तमृषिं राजामात्याश्च सर्वशः।
हाहाभूतं च तत्सर्वमासीन्नगरमार्तिमत् ॥ ४० ॥

और राजादि समस्त मन्त्री उस ऋषिके पीछे पीछे गमन करने लगे। नगरवासी सब लोग आर्त होके हाहाकार करने लगे ॥ ४० ॥

तौ तीक्ष्णाग्रेण सहसा प्रतोदेन प्रचोदितौ।
पृष्ठे विद्धौ कटे चैव निर्विकारौ तमूहतुः ॥ ४१ ॥

राजा और राजमहिषी तीक्ष्णाग्र कोड़ेके द्वारा सहसा ताडित तथा पुरोवर्त्ती गण्डस्थल, पीठ और कमर विद्ध होनेपर भी निर्विकार भावसे रथ खींचने लगे ॥ ४१ ॥

वेपमानौ निराहारौ पञ्चाशद्रात्रकर्शितौ।
कथंचिदूहतुर्वीरौ दंपती तं रथोत्तमम् ॥ ४२ ॥

वे वीरदम्पती पचास रात्रितक उपवास करनेके कारण दुबले होगये थे, उनका सारा शरीर कांप रहा था; तो भी किसी प्रकार उस उत्तम रथको खींचने लगे ॥ ४२ ॥

बहुशो भृशविद्धौ तौ क्षरन्तौ क्षतोद्भवम् ।
ददृशाते महाराज पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४३ ॥

हे महाराज ! वे दोनों अत्यन्त विद्ध हो गये थे; उनके घावोंमें रुधिर झर रहा था; रुधिरसे लथपथ होनेके कारण वे फूले हुए किंशुक वृक्षकी भांति दिखाई देने लगे ॥ ४३ ॥

तौ दृष्ट्वा पौरवर्गस्तु भृशं शोकपरायणः ।
अभिशापभयात्त्रस्तो न च किंचिदुवाच ह ॥ ४४ ॥

पुरवासीवृन्द उन्हें देखके शोकसे व्याकुल होनेपर भी मुनिके शापभयसे डरके कुछ भी न कह सके ॥ ४४ ॥

द्वन्द्वशश्चाब्रुवन्सर्वे पश्यध्वं तपसो बलम् ।
क्रुद्धा अपि मुनिश्रेष्ठं वीक्षितुं नैव शक्नुमः ॥ ४५ ॥

दो-दो आदमी अलगसे खडे होकर आपसमें कहने लगे, " सब लोग मुनिकी तपस्याका फल देखो; हम लोग क्रुद्ध होके भी मुनिश्रेष्ठकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं ॥ ४५ ॥

अहो भगवतो वीर्यं महर्षेर्भावितात्मनः ।
राज्ञश्चापि सभार्यस्य धैर्यं पश्यत यादृशम् ॥ ४६ ॥

इस धर्मात्मा महर्षिका क्या ही आश्चर्य बल है, और भार्यादि सहित राजाका जैसा आश्चर्यमय धीरज है, वह भी अवलोकन करो ॥ ४६ ॥

श्रान्तावपि हि कृच्छ्रेण रथमेतं समूहतुः ।
न चैतयोर्विकारं वै ददर्श भृगुनन्दनः ॥ ४७ ॥

ये दोनों थकनेपर भी अत्यन्त कष्टसे इस रथको खींच रहे हैं । भृगुनन्दनने इनमें कुछ भी विकार नहीं देखा है " ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच—

ततः स निर्विकारौ तौ दृष्ट्वा भृगुकुलोद्वहः ।
वसु विश्राणयामास यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ४८ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर भृगुकुलधुरन्धर च्यवन उन्हें निर्विकार देखके, कुबेरकी भांति उनका बहुत धन दान करने लगे ॥ ४८ ॥

तत्रापि राजा प्रीतात्मा यथाज्ञप्तमथाकरोत् ।
ततोऽस्य भगवान्प्रीतो बभूव मुनिसत्तमः ॥ ४९ ॥

वैसी राजा प्रसन्नचित्त होकर उनके कहे हुए कार्यको करनेमें कुण्ठित नहीं हुआ । अन्तमें मुनिसत्तम भगवान् च्यवन उनपर प्रसन्न हुए ॥ ४९ ॥

अवतीर्य रथश्रेष्ठाद्दंपती तौ मुमोच ह ।
विमोच्य चैतौ विधिवत्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ५० ॥
और उस श्रेष्ठ रथसे उतरकर उन्होंने दोनों पति–पत्नीको मुक्त कर दिया। उन्हें रथसे मुक्त करके विधिपूर्वक इनसे बोले ॥ ५० ॥

स्निग्धगम्भीरया वाचा भार्गवः सुप्रसन्नया ।
ददानि वां वरं श्रेष्ठं तद्ब्रूतामिति भारत ॥ ५१ ॥
हे भारत ! भृगुनन्दन उस समय स्नेहपूर्वक और प्रसन्नचित्तसे उत्तम, कोमल, गम्भीर यह वचन बोले, मैं तुम दोनोंको अत्यन्त उत्तम वर दूंगा, जो इच्छा हो वह मांगो ॥ ५१ ॥

सुकुमारौ च तौ विद्धान्कराभ्यां मुनिसत्तमः ।
पस्पर्शामृतकल्पाभ्यां स्नेहाद्भरतसत्तम ॥ ५२ ॥
हे भरतसत्तम ! उस विद्वान् मुनिसत्तमने स्नेहवशमें अमृतमय हाथसे अत्यन्त विद्ध सुकुमार दम्पतीका शरीरस्पर्श किया ॥ ५२ ॥

अथाब्रवीन्नृपो वाक्यं श्रमो नास्त्यावयोरिह ।
विश्रान्तौ स्वः प्रभावात्ते ध्यानेनैवेति भार्गव ॥ ५३ ॥
अनन्तर राजाने भार्गवसे कहा, हे भृगुनन्दन ! आपकी कृपासे हमें श्रमका अनुभव नहीं हुआ है, अब हम दोनों आपके प्रभावसे और ध्यानसे श्रमरहित हुए हैं ॥ ५३ ॥

अथ तौ भगवान्प्राह प्रहृष्टश्च्यवनस्तदा ।
न वृथा व्याहृतं पूर्वं यन्मया तद्भविष्यति ॥ ५४ ॥
शेषमें भगवान च्यवन अत्यन्त हर्षित होकर उस समय उनसे बोले, मैंने पहले जो कुछ कहा है, वह व्यर्थ नहीं होगा, अवश्य ही सिद्ध होगा ॥ ५४ ॥

रमणीयः समुद्देशो गङ्गातीरमिदं शुभम् ।
कंचित्कालं व्रतपरो निवत्स्यामीह पार्थिव ॥ ५५ ॥
हे महाराज ! पवित्र गङ्गाका यह सुंदर तट अत्यन्त रमणीय स्थल है, कुछ समयतक व्रतनिष्ठ होकर मैं इस ही स्थलमें निवास करूंगा ॥ ५५ ॥

गम्यतां स्वपुरं पुत्र विश्रान्तः पुनरेष्यसि ।
इहस्थं मां सभार्यस्त्वं द्रष्टासि श्वो नराधिप ॥ ५६ ॥
हे पुत्र ! तुम अपने नगरमें जाओ, वहां विश्राम करके फिर इस ही स्थानमें आना । हे नरनाथ ! कल तुम भार्याके सहित आके मुझे यहां ही देखोगे ॥ ५६ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यः श्रेयस्ते समुपस्थितम् ।
यत्काङ्क्षितं हृदिस्थं ते तत्सर्वं संभविष्यति ॥ ५७ ॥

तुम क्रोध अथवा शोक मत करो, तुम्हारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है; तुम्हारे हृदयमें जो अभिलाषा है, वह सब निश्चय ही सिद्ध होगी ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्तः कुशिकः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
प्रोवाच मुनिशार्दूलमिदं वचनमर्थवत् ॥ ५८ ॥

राजा कुशिक ऐसा वचन सुनके प्रसन्नचित्त होकर उस मुनिश्रेष्ठसे यह अर्थयुक्त वचन बोले ॥ ५८ ॥

न मे मन्युर्महाभाग पूतोऽस्मि भगवंस्त्वया ।
संवृत्तौ यौवनस्थौ स्वो वपुष्मन्तौ बलान्वितौ ॥ ५९ ॥

हे महाभाग ! भगवन् ! हमें क्रोध अथवा शोक नहीं है, हम आपके प्रसादसे पवित्र हुए । हम तेज और बलसे युक्त होकर यौवनस्थ हुए हैं ॥ ५९ ॥

प्रतोदेन व्रणा ये मे सभार्यस्य कृतास्त्वया ।
तान्न पश्यामि गात्रेषु स्वस्थोऽस्मि सह भार्यया ॥ ६० ॥

आपने पत्नीसहित मेरे शरीरमें कोडेसे जो सब घाव उत्पन्न किये थे, उन्हें अब मैं अपने अंगोंमें नहीं देखता हूं, इस समय मैं भार्याके सहित स्वस्थ हुआ हूं ॥ ६० ॥

इमां च देवीं पश्यामि मुने दिव्याप्सरोपमाम् ।
श्रिया परमया युक्तां यथादृष्टां मया पुरा ॥ ६१ ॥

हे मुनि ! इस देवीको मैंने पहले जिस प्रकार देखा था, उससे भी बढके श्रीसंपन्न और शरीरकी सुघराईमें अप्सरासदृश मनोहर देखता हूं ॥ ६१ ॥

तव प्रसादात्संवृत्तमिदं सर्वं महामुने ।
नैतच्चित्रं तु भगवंस्त्वयि सत्यपराक्रम ॥ ६२ ॥

हे महामुनि ! आपके प्रसादसे ही यह सब सम्भव हुआ है । हे सत्यपराक्रमी भगवन् ! आप जैसे मुनियोंमें ये सब आश्चर्य नहीं हैं ॥ ६२ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं च्यवनः कुशिकं तदा ।
आगच्छेथाः सभार्यश्च त्वमिहेति नराधिप ॥ ६३ ॥

च्यवन मुनि उस समय ऐसा सुनके राजा कुशिकसे बोले, हे नरनाथ ! तुम भार्याके सहित इस ही स्थानमें आना ॥ ६३ ॥

×

इत्युक्तः समनुज्ञातो राजर्षिरभिवाद्य तम् ।
प्रययौ वपुषा युक्तो नगरं देवराजवत् ॥ ६४ ॥

राजर्षि कुशिकने महर्षिका ऐसा वचन सुनके उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञानुसार विदा होके, देवराजकी भांति सौन्दर्ययुक्त शरीरसे नगरमें गमन किया ॥ ६४ ॥

तत एनमुपाजग्मुरमात्याः सपुरोहिताः ।
बलस्था गणिकायुक्ताः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ॥ ६५ ॥

अनन्तर पुरोहितके सङ्ग अमात्यवृन्द, सेनापति और गणिकाओंके सहित समस्त प्रजा उनके पीछे पीछे चली ॥ ६५ ॥

तैर्वृतः कुशिको राजा श्रिया परमया ज्वलन् ।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूज्यमानोऽथ बन्दिभिः ॥ ६६ ॥

परम श्रीसम्पन्न राजा कुशिकने उस समस्त प्रजासमूहसे घिरके अत्यंत प्रसन्न होकर नगरमें प्रवेश किया । वन्दीजन उनके गुणोंका गान कर रहे थे ॥ ६६ ॥

ततः प्रविश्य नगरं कृत्वा सर्वाह्णिकक्रियाः ।
भुक्त्वा सभार्यो रजनीमुवास स महीपतिः ॥ ६७ ॥

अनन्तर राजाने नगरमें प्रविष्ट होकर पूर्वाह्णके कालकी क्रियाएं की; अनन्तर भार्याके सहित भोजन करके उन महीपतिने रातको महलमें निवास किया ॥ ६७ ॥

ततस्तु तौ नवमभिवीक्ष्य यौवनं परस्परं विगतजराविवामरौ ।
ननन्दतुः शयनगतौ वपुर्धरौ श्रिया युतौ द्विजवरदत्तया तया ॥ ६८ ॥

उस समय वे जरारहित होके परस्परका देवसदृश नवयौवन देखके उन द्विजश्रेष्ठके दिये हुए श्रीसम्पन्न नूतन शरीर धारण करके सोकर आनन्दित हुए ॥ ६८ ॥

स चाप्यृषिर्भृगुकुलकीर्तिवर्धनस्तपोधनो वनमभिराममृद्धिमत् ।
मनीषया बहुविधरत्नभूषितं ससर्ज यन्नास्ति शतक्रतोरपि ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ २४६० ॥

अनन्तर भृगुकुलकी कीर्ति बढानेवाले तपस्वी च्यवनने अपने संकल्पके द्वारा अनेक प्रकारके रत्नोंसे भूषित, समृद्धियुक्त, अत्यन्त रमणीय ऐसा तपोवन रचा कि जिसका इन्द्रकी अमरावती नगरीमें भी दर्शन होना दुर्लभ था ॥ ६७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तिरपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ २४६० ॥

: ५४ :

भीष्म उवाच—

ततः स राजा रात्र्यन्ते प्रतिबुद्धो महामनाः ।
कृतपूर्वाह्णिकः प्रायात्सभार्यस्तद्वनं प्रति ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर महात्मा राजा कुशिक रात्रि बीतनेपर सावधान होके पूर्वाह्णिक कार्योंको समाप्त करके, भार्याके सहित उस तपोवनमें गये ॥ १ ॥

ततो ददर्श नृपतिः प्रासादं सर्वकाञ्चनम् ।
मणिस्तम्भसहस्राढ्यं गन्धर्वनगरोपमम् ।
तत्र दिव्यानभिप्रायान्ददर्श कुशिकस्तदा ॥ २ ॥

अनन्तर वहां पहुंचकर राजा कुशिकने गन्धर्वनगरसदृश सहस्रों मणिमय स्तम्भोंसे युक्त एक सुवर्णमय प्रासाद देखा । वे उस समय वहांपर शिल्पियोंके निर्मित सब दिव्य पदार्थ देखने लगे ॥ २ ॥

पर्वतान्रम्यसानूंश्च नलिनीश्च सपङ्कजाः ।
चित्रशालाश्च विविधास्तोरणानि च भारत ।
शाद्वलोपचितां भूमिं तथा काञ्चनकुट्टिमाम् ॥ ३ ॥

रमणीय शिखरोंसे भूषित पर्वत, कमलोंके सहित नलिनीदल, अनेक प्रकारकी चित्रशालाएं और विचित्र तोरण वहां उन्होंने देखे । भारत ! सुवर्ण प्रासादके भूमिपर सोनेसे मढा हुआ फर्श और कहीं हरी घासकी बहार थी ॥ ३ ॥

सहकारान्प्रफुल्लांश्च केतकोद्दालकान्धवान् ।
अशोकान्मुचुकुन्दांश्च फुल्लांश्चैवातिमुक्तकान् ॥ ४ ॥

उस वनमें बौर लगे थे; वहां प्रफुल्लित केतकी, उद्दालक, धव, अशोक, मुचुकुन्द, फले हुए अतिमुक्तक, ॥ ४ ॥

चम्पकांस्तिलकान्भव्यान्पनसान्वञ्जुलानपि ।
पुष्पितान्कर्णिकारांश्च तत्र तत्र ददर्श ह ॥ ५ ॥

चम्पक, तिलक, सुन्दर पनस, वञ्जुल और फूले हुए कर्णिकारके वृक्ष उस स्थानमें थे; उन सबको उन्होंने देखा ॥ ५ ॥

श्यामां वारणपुष्पीं च तथाष्टापदिकां लताम् ।
तत्र तत्र परिक्लृप्ता ददर्श स महीपतिः ॥ ६ ॥

श्यामवर्ण तमाल, वारणपुष्प और अष्टपदिका लताओंको राजाने उस स्थानमें फैली हुई देखा ॥ ६ ॥

वृक्षान्पद्मोत्पलधरान्सर्वर्तुकुसुमांस्तथा ।
विमानच्छन्दकांश्चापि प्रासादान्पद्मसंनिभान् ॥ ७ ॥

हे भारत ! किसी स्थलमें सब ऋतुके पद्मोत्पलधर आदि सब वृक्ष और फूल, विमानकी भांति कमल सदृश ऊंचे समस्त प्रासाद थे ॥ ७ ॥

शीतलानि च तोयानि क्वचिदुष्णानि भारत ।
आसनानि विचित्राणि शयनप्रवराणि च ॥ ८ ॥

हे भारत ! कहीं उत्तम शीतल जल, किसी किसी स्थलमें गर्म जल थे; किसी स्थानमें विचित्र आसन और उत्तम शय्याएं बिछी हुई थीं ॥ ८ ॥

पर्यङ्कान्सर्वसौवर्णान्परार्ध्यास्तरणास्तृतान् ।
भक्ष्यभोज्यमनन्तं च तत्र तत्रोपकल्पितम् ॥ ९ ॥

बहुमूल्य आस्तरणयुक्त रत्नसुवर्णमय पलङ्ग और अनेकप्रकारके भक्षण और भोजनकी सामग्री उस स्थानमें उत्तम रीतिसे सज्जित तथा प्रस्तुत थी ॥ ९ ॥

वाणीवादाञ्छुकांश्चापि शारिकाभृङ्गराजकान् ।
कोकिलाञ्छतपत्रांश्च कोयष्टिककुक्कुटान् ॥ १० ॥

वाकपटु शुक, सारिका, भृङ्गराज, कोकिल, शतपत्र, कोयष्टिक और मुर्गे ॥ १० ॥

मयूरान्कुक्कुटांश्चापि पुत्रकाञ्जीवजीवकान् ।
चकोरान्वानरान्हंसान्सारसांश्चक्रसाह्वयान् ॥ ११ ॥

मयूर, कुक्कुट, पुत्रक, जीवजीवक, चकोर, वानर, हंस, सारस और चक्रवाक आदि ॥ ११ ॥

समन्ततः प्रमुदितान्ददर्श सुमनोहरान् ।
क्वचिदप्सरसां संघान्गन्धर्वाणां च पार्थिव ॥ १२ ॥

अत्यन्त मनोहर पक्षियों और वानरोंके समूहको राजाने चारों ओर प्रमुदित देखा । हे राजन् ! किसी किसी स्थलमें अप्सराएं और गन्धर्ववृन्द प्रसन्नचित्त विहर रहे हैं ॥ १२ ॥

कान्ताभिरपरांस्तत्र परिष्वक्तान्ददर्श ह ।
न ददर्श च तान्भूयो ददर्श च पुनर्नृपः ॥ १३ ॥

कहींपर स्त्रियोंके आलिङ्गन पाशमें बंधे हुए अन्यान्य पुरुषोंको देखा; वह राजा कभी उन्हें देख सकते थे और कभी नहीं देखते थे ॥ १३ ॥

गीतध्वनिं सुमधुरं तथैवाध्ययनध्वनिम् ।
हंसान्सुमधुरांश्चापि तत्र शुश्राव पार्थिवः ॥ १४ ॥

राजाने उस स्थानमें उत्तम मधुर संगीत शब्द, वेदोंके अध्ययनका घोष और हंसोंकी मीठी बाणी सुनी ॥ १४ ॥

तं दृष्ट्वात्यद्भुतं राजा मनसाचिन्तयत्तदा ।
स्वप्नोऽयं चित्तविभ्रंश उताहो सत्यमेव तु ॥ १५ ॥
राजाने उस अति अद्भुत कार्यको देखकर उस समय मन ही मन विचार किया, कि यह स्वप्न है अथवा चित्तविभ्रम है वा सब सत्य ही होगा ? ॥ १५ ॥

अहो सह शरीरेण प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् ।
उत्तरान्वा कुरून्पुण्यानथ वाप्यमरावतीम् ॥ १६ ॥
क्या ही आश्चर्य है, मैं सशरीर ही परम गतिको प्राप्त हुआ हूं, अथवा पवित्र उत्तर कुरुदेश वा अमरावतीमें पहुंचा हूं ॥ १६ ॥

किं त्विदं महदाश्चर्यं संपश्यामीत्यचिन्तयत् ।
एवं संचिन्तयन्नेव ददर्श मुनिपुंगवम् ॥ १७ ॥
ओहो ! यह महत् आश्चर्यकी बात जो मैं देख रहा हूं, वह क्या है ? इस ही प्रकार चिन्ता करने लगे । वे इस ही प्रकार चिन्ता करते ही रहे थे कि उन्होंने मुनिश्रेष्ठ च्यवनको देखा ॥ १७ ॥

तस्मिन्विमाने सौवर्णे मणिस्तम्भसमाकुले ।
महार्हे शयने दिव्ये शयानं भृगुनन्दनम् ॥ १८ ॥
उस मणिमय स्तम्भोंसे युक्त सुवर्णके विमानमें बहुमूल्य दिव्य शय्यापर भृगुनन्दन सोये हुए थे ॥ १८ ॥

तमभ्ययात्प्रहर्षेण नरेन्द्रः सह भार्यया ।
अन्तर्हितस्ततो भूयश्च्यवनः शयनं च तत् ॥ १९ ॥
उन्हें देखतेही राजा अत्यंत हर्षित होकर भार्याके सहित उन महर्षिके सामने गया । तब च्यवन महर्षि उस शय्याके सहित फिर अंतर्द्धान हुए ॥ १९ ॥

ततोऽन्यस्मिन्वनोद्देशे पुनरेव ददर्श तम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं जपमानं महाव्रतम् ।
एवं योगबलाद्विप्रो मोहयामास पार्थिवम् ॥ २० ॥
अनन्तर राजाने किसी दूसरे वनस्थलमें कुशासनपर बैठे, उस महाव्रती, जपमें रत मुनिका फिर दर्शन किया । विप्रवर च्यवन मुनिने इस ही प्रकार अपने योगबलसे राजाको मोहित कर दिया ॥ २० ॥

क्षणेन तद्वनं चैव ते चैवाप्सरसां गणाः ।
गन्धर्वाः पादपाश्चैव सर्वमन्तरधीयत ॥ २१ ॥
क्षणभरके बीच वह वन वे अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व और वृक्ष सब अदृश्य हुए ॥ २१ ॥

निःशब्दसमवचापि गङ्गाकूलं पुनर्नृप।
कुशवल्मीकभूयिष्ठं बभूव च यथा पुरा ॥ २२ ॥

हे महाराज! गंगाका तट फिर निःशब्द हुआ, जैसे पहले उसमें बहुतसे कुश और बालुके कण थे, वैसे ही रहे ॥ २२ ॥

ततः स राजा कुशिकः सभार्यस्तेन कर्मणा।
विस्मयं परमं प्राप्तस्तद् दृष्ट्वा महदद्भुतम् ॥ २३ ॥

अनन्तर राजा भार्याके सहित ऋषिका वह महत् अद्भुत कार्य देखके अत्यन्त विस्मित हुआ ॥ २३ ॥

ततः प्रोवाच कुशिको भार्यां हर्षसमन्वितः।
पश्य भद्रे यथा भावाश्चित्रा दृष्टाः सुदुर्लभाः ॥ २४ ॥

अनन्तर हर्षयुक्त होके राजा अपनी भार्यासे बोला, हे कल्याणी! देखो, हमने भृगुनन्दनके प्रसादसे अत्यन्त दुर्लभ विचित्र व्यापार देखे हैं ॥ २४ ॥

प्रसादाद्भृगुमुख्यस्य किमन्यत्र तपोबलात्।
तपसा तदवाप्यं हि यन्न शक्यं मनोरथैः ॥ २५ ॥

यह क्या भृगुकुलश्रेष्ठ मुनिके तपोबलके अतिरिक्त अन्य कारणसे हो सकता है? जो मनोरथसे प्राप्त नहीं होता, वह तपस्याके सहारे प्राप्त हुआ करता है ॥ २५ ॥

त्रैलोक्यराज्यादपि हि तप एव विशिष्यते।
तपसा हि सुतप्तेन क्रीडत्येष तपोधनः ॥ २६ ॥

तीनों लोकोंके राज्यसे तपस्या ही श्रेष्ठ है। उत्तम रीतिसे तपस्या करनेसे उस ही तपोबलसे ये तपोधन मुनि ऐसी माया कर सकते हैं ॥ २६ ॥

अहो प्रभावो ब्रह्मर्षेश्च्यवनस्य महात्मनः।
इच्छन्नेष तपोवीर्यादन्याँल्लोकान्सृजेदपि ॥ २७ ॥

महानुभाव ब्रह्मर्षि च्यवनका प्रभाव कैसा आश्चर्ययुक्त है। ये इच्छा करनेसे ही तपोबलसे दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं ॥ २७ ॥

ब्राह्मणा एव जायेरन्पुण्यवाग्बुद्धिकर्मणः।
उत्सहेदिह कर्तुं हि कोऽन्यो वै च्यवनादृते ॥ २८ ॥

ब्राह्मण ही पुण्यवाक्, पूतबुद्धि और पवित्रकर्मा होकर जन्मते हैं। इस लोकमें महर्षि च्यवनके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष ऐसा कार्य करनेके लिये उत्साहवान हुआ करता है? ॥ २८ ॥

ब्राह्मण्यं दुर्लभं लोके राज्यं हि सुलभं नरैः।
ब्राह्मण्यस्य प्रभावाद्धि रथे युक्तौ स्वधुर्यवत् ॥ २९ ॥

इस लोकमें मनुष्योंके लिये ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है, राज्य बहुत सहजमें प्राप्त होता है; ब्राह्मणत्वके प्रभावसे ही हम निज रथकी धुरीमें जुते थे ॥ २९ ॥

इत्येवं चिन्तयानः स विदितश्च्यवनस्य वै ।
संप्रेक्ष्योवाच स नृपं क्षिप्रमागम्यतामिति ॥ ३० ॥

राजा इस ही प्रकार विचार करते थे कि च्यवन मुनिको उनका आना ज्ञात हुआ । महर्षिने राजाको देखके कहा— जलदी आओ ॥ ३० ॥

इत्युक्तः सहभार्यस्तमभ्यगच्छन्महामुनिम् ।
शिरसा वन्दनीयं तमवन्दत स पार्थिवः ॥ ३१ ॥

राजा महर्षिकी ऐसी आज्ञा सुनके भार्याके सहित उन महामुनिके संमुख उपस्थित हुआ और उन वन्दनीय मुनिको सिर नीचा करके उन्होंने प्रणाम किया ॥ ३१ ॥

तस्याशिषः प्रयुज्याथ स मुनिस्तं नराधिपम् ।
निषीदेत्यब्रवीद्धीमान्सान्त्वयन्पुरुषर्षभ ॥ ३२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उन बुद्धिमान् मुनिने उस राजाको आशीर्वाद देकर उसे धीरज देते हुए कहा— आओ, बैठो ॥ ३२ ॥

ततः प्रकृतिमापन्नो भार्गवो नृपते नृपम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा तर्पयन्निव भारत ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! भारत ! अनन्तर शान्तचित्त होकर भृगुनन्दन च्यवन मुनि मधुर वाणीसे राजाको तृप्त करते हुए बोले ॥ ३३ ॥

राजन्सम्यग्जितानीह पञ्च पञ्चसु यत्त्वया ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कृच्छ्रान्मुक्तोऽसि तेन वै ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! तुमने पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों और छठे मनको पूरी रीतिसे जीत लिया है; इस ही निमित्त महत् क्लेशसे मुक्त हुए हो ॥ ३४ ॥

सम्यगाराधितः पुत्र त्वयाहं वदतां वर ।
न हि ते वृजिनं किंचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥ ३५ ॥

हे तात ! वक्तृवर ! मैं तुम्हारे द्वारा पूर्ण रीतिसे पूजित हुआ हूं, तुममें सूक्ष्म परिमाणसे भी किञ्चिन्मात्र पाप नहीं है ॥ ३५ ॥

अनुजानीहि मां राजन्गमिष्यामि यथागतम् ।
प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र वरश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ ३६ ॥

हे महाराज ! अब मुझे निज स्थानपर जानेके लिये अनुमति दो । मैं जैसे आया था, वैसे ही लौटूंगा । राजेन्द्र ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम वर मांगो ॥ ३६ ॥

कुशिक उवाच—

अग्निमध्यगतेनेदं भगवन्संनिधौ त्वया ।
वर्तितं भृगुशार्दूल यन्न दग्धोऽस्मि तद्बहु ॥ ३७ ॥

कुशिक बोले— हे भगवन् भृगुश्रेष्ठ ! मैं आपके समीप अग्निके बीच पडे हुए पुरुषकी भांति विद्यमान् रहके भी जो भस्म नहीं हुआ, यही मेरे लिये बहुत है ॥ ३७ ॥

एष एव वरो मुख्यः प्राप्तो मे भृगुनन्दन ।
यत्प्रीतोऽसि समाचारात्कुलं पूतं ममानघ ॥ ३८ ॥

हे पापरहित भृगुनन्दन ! यही मैंने आपसे मुख्य वर पाया, कि आप मुझपर प्रसन्न हुए और उत्तम व्यवहारसे मेरा कुल पवित्र हो गया है ॥ ३८ ॥

एष मेऽनुग्रहो विप्र जीविते च प्रयोजनम् ।
एतद्राज्यफलं चैव तपश्चैतत्परं मम ॥ ३९ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! यही मेरे ऊपर आपकी बडी कृपा हुई है; यही मेरे जीवनका प्रयोजन सफल हो गया है और यही मेरे राज्य और तपस्याका श्रेष्ठ फल है ॥ ३९ ॥

यदि तु प्रीतिमान्विप्र मयि त्वं भृगुनन्दन ।
अस्ति मे संशयः कश्चित्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ २५०० ॥

हे विप्रवर भृगुनन्दन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हुए हों, तो मुझे कुछ सन्देह है, उस विषयकी आपको व्याख्या करनी उचित है ॥ ४० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ २५०० ॥

५५

च्यवन उवाच—

वरश्च गृह्यतां मत्तो यश्च ते संशयो हृदि ।
तं च ब्रूहि नरश्रेष्ठ सर्वं संपादयामि ते ॥ १ ॥

च्यवन बोले— हे नरश्रेष्ठ राजन् ! मेरे समीप वर भी ग्रहण करो और तुम्हारे मनमें जो सन्देह हो, वह भी कहो; मैं तुम्हारी सब कामना सिद्ध करूंगा ॥ १ ॥

कुशिक उवाच—

यदि प्रीतोऽसि भगवंस्ततो मे वद भार्गव ।
कारणं श्रोतुमिच्छामि मद्गृहे वासकारितम् ॥ २ ॥

कुशिक बोले— हे भगवन् भार्गव ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो आपने मेरे गृहमें जिस लिये निवास किया था, उसका कारण कहिये, मैं उसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

शयनं चैकपार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम् ।
अकिंचिदुक्त्वा गमनं बहिश्च मुनिपुंगव ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! इक्कीस दिनोंतक आप एक पार्श्वसे सोये रहके, कुछ भी न कहके बाहर निकले ॥ ३ ॥

अन्तर्धानमकस्माच्च पुनरेव च दर्शनम् ।
पुनश्च शयनं विप्र दिवसानेकविंशतिम् ॥ ४ ॥

और अकस्मात् अन्तर्द्धान हुए, फिर दर्शन दिया । फिर इक्कीस दिनोंतक दूसरी करवटसे सोये रहे ॥ ४ ॥

तैलाभ्यक्तस्य गमनं भोजनं च गृहे मम ।
समुपानीय विविधं यद्दग्धं जातवेदसा ।
निर्याणं च रथेनाशु सहसा यत्कृतं त्वया ॥ ५ ॥

तेल लगाके गमन किया, मेरे भवनमें विविध भोजनकी सामग्री मंगाके अग्निके सहारे उसे भस्म कराया, सहसा रथपर चढके नगरमें घूमे ॥ ५ ॥

धनानां च विसर्गस्य वनस्यापि च दर्शनम् ।
प्रासादानां बहूनां च काञ्चनानां महामुने ॥ ६ ॥

धन दान किया और दिव्य वनका प्रदर्शन किया, अनेक प्रकारके सुवर्णमय प्रासादोंको प्रकट किया ॥ ६ ॥

मणिविद्रुमपादानां पर्यङ्कानां च दर्शनम् ।
पुनश्चादर्शनं तस्य श्रोतुमिच्छामि कारणम् ॥ ७ ॥

मणि और विद्रुमोंके पायेवाले पलंगोंको प्रदर्शित किया, फिर उन सब वस्तुओंको अदृश्य किया । हे महामुनि ! इन सबके कारणको मैं सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ७ ॥

अतीव ह्यत्र मुह्यामि चिन्तयानो दिवानिशम् ।
न चैवात्राधिगच्छामि सर्वस्यास्य विनिश्चयम् ।
एतदिच्छामि कार्त्स्न्येन सत्यं श्रोतुं तपोधन ॥ ८ ॥

मैं इन सब विषयोंपर रातदिन विचार करते हुए अत्यन्त मुग्ध होरहा हूं । हे तपोधन ! इन सब पर विचार करके भी मैं किसी निश्चयपर नहीं पहुंच सकता हूं, इसलिये मैं यह समस्त विषय सत्य तथा यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ८ ॥

च्यवन उवाच—

शृणु सर्वमशेषेण यदिदं येन हेतुना ।
न हि शक्यमनाख्यातुमेवं पृष्टेन पार्थिव ॥ ९ ॥

च्यवन बोले— हे महाराज ! ये सब विषय जिस कारणसे हुए हैं, उसे तुम पूर्णरूपसे सुनो । तुम्हारे इस प्रकार पूछनेपर इसको बताये विना मैं नहीं रह सकता ॥ ९ ॥

×

पितामहस्य वदतः पुरा देवसमागमे ।
श्रुतवानस्मि यद्राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १० ॥

राजन् ! पहले समयमें देवताओंकी सभामें पितामह ब्रह्माने जो कथा कही थी, उसे मैंने सुना था । इस समय उसे कहता हूं, सुनो ॥ १० ॥

ब्रह्मक्षत्रविरोधेन भविता कुलसंकरः ।
पौत्रस्ते भविता राजंस्तेजोवीर्यसमन्वितः ॥ ११ ॥

राजन् ! ब्रह्माने कहा कि ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके परस्पर विरोधके कारण दोनों कुलोंमें सङ्कर होगा । तेज और पराक्रमसे युक्त तुम्हारे एक पौत्र जन्मेगा ॥ ११ ॥

ततः स्वकुलरक्षार्थमहं त्वा समुपागमम् ।
चिकीर्षन्कुशिकोच्छेदं संदिधक्षुः कुलं तव ॥ १२ ॥

इस ही लिये मैं मेरे वंशका रक्षण करनेके निमित्त तुम्हारे समीप आया था; कुशिकवंशके नाश करनेकी कामना करते हुए तुम्हारे कुलको जलानेकी मेरी इच्छा थी ॥ १२ ॥

ततोऽहमागम्य पुरा त्वामवोचं महीपते ।
नियमं कंचिदारप्स्ये शुश्रूषा क्रियतामिति ॥ १३ ॥

हे पृथ्वीपते ! उस ही निमित्त मैंने तुम्हारे गृहमें आके पहलेही तुमसे यह वचन कहा था कि मैं कोई व्रत आरम्भ करूंगा, तुम लोग मेरी सेवा करो ॥ १३ ॥

न च ते दुष्कृतं किंचिदहमासादयं गृहे ।
तेन जीवसि राजर्षे न भवेथास्ततोऽन्यथा ॥ १४ ॥

मैंने तुम्हारे गृहमें रहकर भी तुममें दोष नहीं देखा। हे राजर्षि ! इस ही लिये तुम जीवित हो, अन्यथा तुम नष्ट हो जाते ॥ १४ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय दिवसानेकविंशतिम् ।
सुप्तोऽस्मि यदि मां कश्चिद्बोधयेदिति पार्थिव ॥ १५ ॥

मैं यही विचार करके इक्कीस दिनोंतक एक करवटसे गृहमें सोया था, कि यदि कोई इतने समयके बीच मुझे जगावे ॥ १५ ॥

यदा त्वया सभार्येण संसुप्तो न प्रबोधितः ।
अहं तदैव ते प्रीतो मनसा राजसत्तम ॥ १६ ॥

हे नृपसत्तम ! परन्तु मेरे सोनेपर जब भार्याके सहित तुमने मेरी सेवा करते हुए निद्रा भङ्ग नहीं की, उस ही समय मैं तुम्हारे ऊपर मन ही मन प्रसन्न हुआ था ॥ १६ ॥

उत्थाय चास्मि निष्क्रान्तो यदि मां त्वं महीपते ।
पृच्छेः क यास्यसीत्येवं शपेयं त्वामिति प्रभो ॥ १७ ॥

हे महाराज ! प्रभो ! जब मैं उठके बाहर निकला, उस समय यदि तुम मुझसे पूछते, कि 'कहा जाओगे ?' तो मैं तुम्हें शाप देता ॥ १७ ॥

अन्तर्हितश्चास्मि पुनः पुनरेव च ते गृहे ।
योगमास्थाय संविष्टो दिवसानेकविंशतिम् ॥ १८ ॥

हे महाराज ! अनन्तर फिर मैं अन्तर्द्धान हुआ और पुनः तुम्हारे गृहमें आकर योगका अवलम्बन करके फिर इकीस दिनोंतक सोया था ॥ १८ ॥

क्षुधितो मामसूयेथाः श्रमाद्वेति नराधिप ।
एतां बुद्धिं समास्थाय कर्शितौ वां मया क्षुधा ॥ १९ ॥

हे नरनाथ ! तुम लोग भूखसे पीडित होकर अथवा परिश्रमसे थककर मेरे विषयमें असूया करोगे, ऐसा ही विचार करके मैंने तुम्हें क्षुधासे दुःखित किया था ॥ १९ ॥

न च तेऽभूत्सूक्ष्मोऽपि मन्युर्मनसि पार्थिव ।
सभार्यस्य नरश्रेष्ठ तेन ते प्रीतिमानहम् ॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठ महाराज ! इतनेपर भी भार्याके सहित तुम्हारे अन्तःकरणमें अत्यन्त सूक्ष्म परिमाणसे भी क्रोध नहीं हुआ, इसहीसे मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं ॥ २० ॥

भोजनं च समानाय्य यत्तदादीपितं मया ।
क्रुध्येथा यदि मात्सर्यादिति तन्मर्षितं च ते ॥ २१ ॥

भोजनकी सारी सामग्री मंगाके उस समय मैंने जो भस्म कराई थी, उसका यही तात्पर्य था, कि यदि तुम लोग मत्सरताके वशमें होकर मेरे विषयमें क्रोध करते, तो मैं तुम्हें शाप देता; परन्तु उस समय तुमने मेरे विषयमें क्षमा की थी ॥ २१ ॥

ततोऽहं रथमारुह्य त्वामवोचं नराधिप ।
सभार्यो मां वहस्वेति तच्च त्वं कृतवांस्तथा ॥ २२ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर ! मैंने रथपर चढके तुमसे कहा कि तुम भार्याके सहित "रथमें जुतकर मुझे ले चलो"; इस कार्यको भी तुमने किया ॥ २२ ॥

अविशङ्को नरपते प्रीतोऽहं चापि तेन ते ।
धनोत्सर्गेऽपि च कृते न त्वां क्रोधः प्रधर्षयत् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! यह तुमने शंकारहित होकर किया, उस कारणसे मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं । फिर मैं जब तुम्हारा धन लोगोंको दे रहा था, तब भी क्रोध तुम्हें आक्रमण न कर सका ॥ २३ ॥

ततः प्रीतेन ते राजन्पुनरेतत्कृतं तव ।
सभार्यस्य वनं भूयस्तद्विद्धि मनुजाधिप ॥ २४ ॥

हे नरनाथ महाराज ! इन्हीं कारणोंसे भार्याके सहित तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर, मैंने फिर उस वनको उत्पन्न किया था, इस बातको तुम जानो ॥ २४ ॥

प्रीत्यर्थं तव चैतन्मे स्वर्गसंदर्शनं कृतम् ।
यत्ते वनेऽस्मिन्नृपते दृष्टं दिव्यं निदर्शनम् ॥ २५ ॥

मैंने तुम्हारी प्रसन्नताके लिये तुम्हें स्वर्ग दिखाया है । हे राजन् ! इस वनके बीच तुमने दिव्यदर्शन देखा है ॥ २५ ॥

स्वर्गोद्देशस्त्वया राजन्सशरीरेण पार्थिव ।
मुहूर्तमनुभूतोऽसौ सभार्येण नृपोत्तम ॥ २६ ॥

हे राजन् ! वह स्वर्गकी एक झलक थी । उसहीसे भार्याके सहित इसी शरीरसे मुहूर्तभर तुम्हें स्वर्गसुख अनुभव हुआ है ॥ २६ ॥

निदर्शनार्थं तपसो धर्मस्य च नराधिप ।
तत्र यासीत्स्पृहा राजंस्तच्चापि विदितं मम ॥ २७ ॥

हे नरनाथ ! तपस्या और धर्मका प्रभाव दिखानेके लिये ही यह किया था; उस समय यह सब देखनेपर तुम्हारे मनमें जो इच्छा हुई थी, वह भी मुझे विदित हुई है ॥ २७ ॥

ब्राह्मण्यं काङ्क्षसे हि त्वं तपश्च पृथिवीपते ।
अवमन्य नरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं च पार्थिव ॥ २८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! तुमने नरेन्द्रत्व तथा देवेन्द्रपदकी भी अवहेलना करके ब्राह्मणत्व तथा तपस्याकी आकांक्षा की है ॥ २८ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वं ब्राह्मण्यं तात दुर्लभम् ।
ब्राह्मण्ये सति चर्षित्वमृषित्वे च तपस्विता ॥ २९ ॥

हे तात ! तुमने जो ब्राह्मणत्वको अत्यन्त दुर्लभ कहा, वह यथार्थ है । ब्राह्मणत्व होनेपर ऋषित्व दुर्लभ है, ऋषित्व पदकी प्राप्ति होनेपर तपस्विता तो अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २९ ॥

भविष्यत्येष ते कामः कुशिकात्कौशिको द्विजः ।
तृतीयं पुरुषं प्राप्य ब्राह्मणत्वं गमिष्यति ॥ ३० ॥

जो हो, तुम्हारी यह कामना सफल होगी । कुशिकसे कौशिक द्विज जन्मेगा; तुम्हारी तीसरी पीढीमें ब्राह्मणत्व संक्रान्त होगा ॥ ३० ॥

वंशस्ते पार्थिवश्रेष्ठ भृगूणामेव तेजसा ।
पौत्रस्ते भविता विप्र तपस्वी पावकद्युतिः ॥ ३१ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! भृगुवंशियोंके तेजसे तुम्हारा वंश ब्राह्मणत्वको प्राप्त होगा; तुम्हारा पौत्र तपस्वी और अग्निके समान तेजस्वी ब्राह्मण होगा ॥ ३१ ॥

यः स देवमनुष्याणां भयमुत्पादयिष्यति ।
त्रयाणां चैव लोकानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । ॥ ३२ ॥

वह देववृन्द, मनुष्य और तीनों लोकोंको भय उत्पन्न करेगा; यह मैं तुमसे सत्य ही कहता हूं ॥ ३२ ॥

वरं गृहाण राजर्षे यस्ते मनसि वर्तते ।
तीर्थयात्रां गमिष्यामि पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ ३३ ॥

हे राजर्षि ! तुम्हारे अन्तःकरणमें जो अभिलाषा हो, वह वर मांगो; मैं सब तीर्थोंमें घूमनेके लिये जाऊंगा, समय बीत रहा है ॥ ३३ ॥

कुशिक उवाच—

एष एव वरो मेऽद्य यत्त्वं प्रीतो महामुने ।
भवत्वेतद्यथात्थ त्वं तपः पौत्रे ममानघ ।
ब्राह्मण्यं मे कुलस्यास्तु भगवन्नेष मे वरः ॥ ३४ ॥

कुशिक बोले– हे महामुनि ! आप जो मुझपर प्रसन्न हुए, यही मेरे लिये वर है । हे पापरहित ! आप जैसा कहते हैं, वह सत्य हो– मेरा पौत्र तपस्वी ब्राह्मण ही होवे । हे भगवन् ! मेरा कुल ब्राह्मण होवे, यही मेरे लिये वर है ॥ ३४ ॥

पुनश्चाख्यातुमिच्छामि भगवन्विस्तरेण वै ।
कथमेष्यति विप्रत्वं कुलं मे भृगुनन्दन ।
कश्चासौ भविता बन्धुर्मम कश्चापि संमतः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ २५३५ ॥

भगवन् ! मेरी यह अभिलाषा है, कि इस विषयको आप फिर विस्तारपूर्वक वर्णन करें, मैं सुनना चाहता हूं । हे भृगुनन्दन ! किस प्रकार मेरे कुलमें ब्राह्मणत्व आवेगा ? कौन वह सम्मानित मेरा बन्धु होगा ? ॥ ३५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ २५३५ ॥

: ५६ :

च्यवन उवाच—

अवश्यं कथनीयं मे तवैतन्नरपुंगव ।
यदर्थं त्वाहमुच्छेत्तुं संप्राप्तो मनुजाधिप ॥ १ ॥

च्यवन बोले– हे नरनाथ ! जिस निमित्त मैं तुम्हारा नाश करनेके लिये यहां आया था, वह मुझे तुमसे अवश्य कहना योग्य है ॥ १ ॥

भृगूणां क्षत्रिया याज्या नित्यमेव जनाधिप ।
ते च भेदं गमिष्यन्ति दैवयुक्तेन हेतुना ॥ २ ॥

हे प्रजानाथ ! क्षत्रिय लोग भृगुवंशियोंके सदासेही यजमान हैं; दैववश उनमें विभिन्नता होगी ॥ २ ॥

क्षत्रियाश्च भृगून्सर्वान्वधिष्यन्ति नराधिप ।
आ गर्भादनुकृन्तन्तो दैवदण्डनिपीडिताः ॥ ३ ॥

हे नरनाथ ! सारे क्षत्रिय लोग दैवदण्डसे निपीडित होकर गर्भ पर्यन्त नष्ट करते हुए भृगुवंशियोंका वध करेंगे ॥ ३ ॥

तत उत्पत्स्यतेऽस्माकं कुले गोत्रविवर्धनः ।
और्वो नाम महातेजा ज्वलनार्कसमद्युतिः ॥ ४ ॥

अनन्तर हमारे कुलमें भार्गव गोत्रकी वृद्धि करनेवाले अग्निदेव तथा सूर्यके समान तेजसे युक्त और्व नामक एक महातेजस्वी पुरुष उत्पन्न होगा ॥ ४ ॥

स त्रैलोक्यविनाशाय कोपाग्निं जनयिष्यति ।
महीं सपर्वतवनां यः करिष्यति भस्मसात् ॥ ५ ॥

वह तीनों लोकोंको नष्ट करनेके लिये क्रोधजनित अग्नि उत्पन्न करेगा; वह अग्नि पर्वतों और वनोंके सहित समस्त पृथ्वीमण्डलको भस्मीभूत करेगी ॥ ५ ॥

कंचित्कालं तु तं वह्निं स एव शमयिष्यति ।
समुद्रे वडवावक्त्रे प्रक्षिप्य मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

कुछ कालके बाद वे मुनिसत्तम समुद्रके बीच बडवानलके मुखमें उस अग्निको डालकर शान्त करेंगे ॥ ६ ॥

पुत्रं तस्य महाभागमृचीकं भृगुनन्दनम् ।
साक्षात्कृत्स्नो धनुर्वेदः समुपस्थास्यतेऽनघ ॥ ७ ॥

हे पापरहित महाराज ! उनके पुत्र भृगुनन्दन ऋचीकके समीप समस्त धनुर्वेद प्रत्यक्षमेंही उपस्थित होगा ॥ ७ ॥

क्षत्रियाणामभावाय दैवयुक्तेन हेतुना ।
स तु तं प्रतिगृह्यैव पुत्रे संक्रामयिष्यति ॥ ८ ॥

दैव कारणसे क्षत्रियोंका नाश करनेके लिये वे उस धनुर्वेदको ग्रहण करके अपने पुत्रको उसकी शिक्षा देंगे ॥ ८ ॥

जमदग्नौ महाभागे तपसा भावितात्मनि ।
स चापि भृगुशार्दूलस्तं वेदं धारयिष्यति ॥ ९ ॥

वे तपस्याके सहारे शुद्ध चित्तवाले महाभाग जमदग्नि होंगे; भृगुश्रेष्ठ जमदग्नि उसही धनुर्वेदको धारण करेंगे ॥ ९ ॥

कुलात्तु तव धर्मात्मन्कन्यां सोऽधिगमिष्यति ।
उद्भावनार्थं भवतो वंशस्य नृपसत्तम ॥ १० ॥

हे धर्मात्मन् ! नृपश्रेष्ठ ! वही ऋचीक तुम्हारे कुलकी उन्नतिके लिये तुम्हारे वंशकी कन्यासे विवाह करेंगे ॥ १० ॥

गाधेर्दुहितरं प्राप्य पौत्रीं तव महातपाः ।
ब्राह्मणं क्षत्रधर्माणं राममुत्पादयिष्यति ॥ ११ ॥

महातपस्वी ऋचीक तुम्हारी पौत्री और गाधिकी पुत्रीको पाके उसके गर्भसे क्षत्रिय-धर्मयुक्त ब्राह्मण पुत्र रामको उत्पन्न करेंगे ॥ ११ ॥

क्षत्रियं विप्रकर्माणं बृहस्पतिमिवौजसा ।
विश्वामित्रं तव कुले गाधेः पुत्रं सुधार्मिकम् ।
तपसा महता युक्तं प्रदास्यति महाद्युते ॥ १२ ॥

महातेजस्वी राजन् ! वही तुम्हारे वंशमें गाधिके वीर्यसे महातेजस्वी, तेजमें बृहस्पतिके समान, अत्यन्त धार्मिक, महातपस्यावाली, विप्रकर्म करनेवाला विश्वामित्र नामक क्षत्रिय पुत्र प्रदान करेंगे ॥ १२ ॥

स्त्रियौ तु कारणं तत्र परिवर्ते भविष्यतः ।
पितामहनियोगाद्वै नान्यथैतद्भविष्यति ॥ १३ ॥

पितामहकी आज्ञासे उस परिवर्त्तनके विषयमें गाधिकी पत्नी और पुत्री— ये स्त्रियां कारण होंगी; यह अन्यथा नहीं होगा ॥ १३ ॥

तृतीये पुरुषे तुभ्यं ब्राह्मणत्वमुपैष्यति ।
भविता त्वं च संबन्धी भृगूणां भावितात्मनाम् ॥ १४ ॥

तुमसे तीसरी पीढीमें तुम्हारे वंशमें ब्राह्मणत्व प्राप्त होगा । तुम शुद्धचित्त भार्गवोंके सम्बन्धी होगे ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच—

कुशिकस्तु मुनेर्वाक्यं च्यवनस्य महात्मनः ।
श्रुत्वा हृष्टोऽभवद्राजा वाक्यं चेदमुवाच ह ।
एवमस्त्विति धर्मात्मा तदा भरतसत्तम ॥ १५ ॥

भीष्म बोले– हे भरतसत्तम ! उस समय धर्मात्मा राजा कुशिक महानुभाव च्यवन मुनिका वचन सुनके आनन्दित हुए और उन्होंने कहा कि ऐसाही होवे ॥ १५ ॥

च्यवनस्तु महातेजाः पुनरेव नराधिपम् ।
वरार्थं चोदयामास तमुवाच स पार्थिवः ॥ १६ ॥

महातेजस्वी च्यवनने फिर उस राजासे वर मांगनेको कहा । तब राजा उनसे इस प्रकार बोला ॥ १६ ॥

बाढमेवं ग्रहीष्यामि कामं त्वत्तो महामुने ।
ब्रह्मभूतं कुलं मेऽस्तु धर्मे चास्य मनो भवेत् ॥ १७ ॥

हे महामुनि ! अच्छा, मैं आपके समीप इच्छानुसार वर मांगता हूं; मेरा वंश ब्राह्मणकुलमें परिणत होवे और इस वंशकी बुद्धि धर्ममें रत रहे ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तथेत्येवं प्रत्युक्त्वा च्यवनो मुनिः ।
अभ्यनुज्ञाय नृपतिं तीर्थयात्रां ययौ तदा ॥ १८ ॥

च्यवन मुनि राजाका वचन सुनके बोले, कि ऐसा ही होगा; अनन्तर उन्होंने राजासे अनुमति लेकर तीर्थयात्राके लिये गमन किया ॥ १८ ॥

एतत्ते कथितं सर्वमशेषेण मया नृप ।
भृगूणां कुशिकानां च प्रति संबन्धकारणम् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! यह मैंने भृगु और कुशिक गणके परस्पर सम्बन्धका कारण विस्तारपूर्वक तुमसे कहा है ॥ १९ ॥

यथोक्तं मुनिना चापि तथा तदभवन्नृप ।
जन्म रामस्य च मुनेर्विश्वामित्रस्य चैव ह ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ २५५५ ॥

हे महाराज ! च्यवन ऋषिने राम और विश्वामित्र मुनिके जन्म विषयमें जिस प्रकार कहा था, उसके अनुसार वैसा ही हुआ ॥ २० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ २५५५ ॥

: ५७ :

युधिष्ठिर उवाच—

मुह्यामीव निशम्याद्य चिन्तयानः पुनः पुनः ।
हीनां पार्थिवसंघातैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! मैं आपका वचन सुनके बार बार उसे विचारके तथा श्रीमान् राजाओंसे रहित इस पृथ्वीके दशाकी पर्यालोचना करके बहुत ही मुग्ध होता हूं ॥ १ ॥

प्राप्य राज्यानि शतशो महीं जित्वापि भारत ।
कोटिशः पुरुषान्हत्वा परितप्ये पितामह ॥ २ ॥

हे भारत ! मैंने पृथ्वीमण्डलको जीतकर सैकडों राज्योंको पाया और इसके लिये करोडों पुरुषोंका संहार करना पडा, इस कारण परिताप करता हूं ॥ २ ॥

का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाद्य भविष्यति ।
या हीनाः पतिभिः पुत्रैर्मातुलैर्भ्रातृभिस्तथा ॥ ३ ॥

जो सब वरवर्णिनी स्त्रियां अपने पति, पुत्र, भ्राता और मामा आदिसे हीन हुई हैं, उनकी कैसी अवस्था होगी ? ॥ ३ ॥

वयं हि तान्गुरून्हत्वा ज्ञातींश्च सुहृदोऽपि च ।
अवाक्शीर्षाः पतिष्यामो नरके नात्र संशयः ॥ ४ ॥

हम उन श्रेष्ठ लोगों, स्वजनों और सुहृदोंको मारनेसे नीचे मुंह किये निःसन्देह नरकमें पडेंगे ॥ ४ ॥

शरीरं योक्तुमिच्छामि तपसोग्रेण भारत ।
उपदिष्टमिहेच्छामि तत्त्वतोऽहं विशां पते ॥ ५ ॥

हे भारत ! मैं उग्र तपस्यासे शरीरको संयुक्त करनेकी इच्छा करता हूं । हे नरनाथ ! इस समय मुझे आपका यथार्थ उपदेश सुननेकी अभिलाषा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा भीष्मो महामनाः ।
परीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– महात्मा भीष्म, युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके अपनी बुद्धिके सहारे पूर्णतया विचार करके बोले ॥ ६ ॥

रहस्यमद्भुतं चैव शृणु वक्ष्यामि यत्त्वयि ।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावेषु भारत ॥ ७ ॥

हे भारत ! मैं तुम्हें अद्भुत रहस्यकी एक बात कहता हूं । मरनेके अनन्तर किस कर्मसे पुरुषको जो गति प्राप्त होती है, उसे कहता हूं, सुनो ॥ ७ ॥

×

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः ।
आयुःप्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो ॥ ८ ॥

हे विभु ! तपस्याके सहारे स्वर्ग मिलता है, तपस्यासे यशलाभ हुआ करता है, तपस्यासे ही परमायुकी प्रकर्षता तथा भोग प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं संपत्तथैव च ।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तपस्याके सहारे ज्ञान, विज्ञान, आरोग्यता, रूप, सम्पत्ति और सौभाग्य प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

धनं प्राप्नोति तपसा मौनं ज्ञानं प्रयच्छति ।
उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥ १० ॥

मनुष्य तपस्यासे धन प्राप्त करता है; मौनव्रतमें ज्ञान प्राप्त होता है । दानसे समस्त उपभोग और ब्रह्मचर्यके द्वारा उत्तम दीर्घ परमायु प्राप्त होती है ॥ १० ॥

अहिंसायाः फलं रूपं दीक्षाया जन्म वै कुले ।
फलमूलाशिनां राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत् ॥ ११ ॥

अहिंसाका फल रूप है, दीक्षाका सत्कुलमें जन्म; फल और मूल- भोजन करके रहनेवाले मनुष्योंका फल राज्य और पत्ते खाकर तप करनेवालोंको स्वर्ग प्राप्ति हुआ करती है ॥ ११ ॥

पयोभक्षो दिवं याति स्नानेन द्रविणाधिकः ।
गुरुशुश्रूषया विद्या नित्यश्राद्धेन संततिः ॥ १२ ॥

जो दूध पीके रहता है उसे स्वर्ग मिलता है । स्नानके सहारे मनुष्य अधिक धनयुक्त हुआ करता है; गुरुसेवासे विद्या मिलती है और नित्य श्राद्ध करनेसे संतति प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

गवाढ्यः शाकदीक्षाभिः स्वर्गमाहुस्तृणाशनात् ।
स्त्रियस्त्रिषवणस्नानाद्वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत् ॥ १३ ॥

शाक भोजन करनेसे मनुष्य गोधनसे युक्त हुआ करता है । तृणभक्षण करनेसे स्वर्ग मिलता है । तीनों कालमें स्नान करनेसे स्त्रियोंकी प्राप्ति होती है और वायुपान करके रहनेसे यज्ञका फल मिलता है ॥ १३ ॥

नित्यस्नायी भवेद्दक्षः संध्ये तु द्वे जपन्द्विजः ।
मरुं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण नित्य स्नान करके प्रातः और सायं दोनों समय सन्ध्योपासना और जप करता है, वह चतुर होता है; जो पुरुष मरुकी- साधना- जलरहित स्थलमें साधना करता है, उसे राज्य मिलता है और अनशन व्रत अवलम्बन करनेसे स्वर्गमें वास हुआ करता है ॥ १४ ॥

स्थण्डिले शयमानानां गृहाणि शयनानि च ।
चीरवल्कलवासोभिर्वासांस्याभरणानि च ॥ १५ ॥
सिट्टीकी वेदीपर सोनेवाले तपस्वियोंको गृह और शय्याएं मिलती हैं; चीर और वल्कल वसन पहननेसे उत्तम वस्त्र तथा समस्त आभूषण मिलते हैं ॥ १५ ॥

शय्यासनानि यानानि योगयुक्ते तपोधने ।
अग्निप्रवेशे नियतं ब्रह्मलोको विधीयते ॥ १६ ॥
योगयुक्त तपस्वियोंके निकट शय्या, आसन तथा समस्त सवारियां उपस्थित होती हैं; नियमपूर्वक अग्निमें प्रवेश करनेसे सदा ब्रह्मलोकमें वास हुआ करता है ॥ १६ ॥

रसानां प्रतिसंहारात्सौभाग्यमिह विन्दति ।
आमिषप्रतिसंहारात्प्रजास्यायुष्मती भवेत् ॥ १७ ॥
रसोंका परित्याग करनेसे इस लोकमें सौभाग्य प्राप्त होता है; मांस भक्षण त्यागनेसे आयुष्मती संतान उत्पन्न हुआ करती है ॥ १७ ॥

उदवासं वसेद्यस्तु स नराधिपतिर्भवेत् ।
सत्यवादी नरश्रेष्ठ दैवतैः सह मोदते ॥ १८ ॥
जो जलके बीच वास करता है, वह राजा होता है। हे नरश्रेष्ठ! सत्यवादी मनुष्य देवताओंके साथ आनन्दित हुआ करता है ॥ १८ ॥

कीर्तिर्भवति दानेन तथारोग्यमहिंसया ।
द्विजशुश्रूषया राज्यं द्विजत्वं वापि पुष्कलम् ॥ १९ ॥
दानसे कीर्त्ति होती है, अहिंसाके सहारे नीरोगता प्राप्त हुआ करती है; ब्राह्मणोंकी सेवासे प्रचुर राज्य और ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

पानीयस्य प्रदानेन कीर्तिर्भवति शाश्वती ।
अन्नपानप्रदानेन तृप्यते कामभोगतः ॥ २० ॥
जल दान करनेसे शाश्वती कीर्ति प्राप्त हुआ करती है; अन्न और जल दान करनेसे काम और भोगसे तृप्ति मिलती है ॥ २० ॥

सान्त्वदः सर्वभूतानां सर्वशोकैर्विमुच्यते ।
देवशुश्रूषया राज्यं दिव्यं रूपं नियच्छति ॥ २१ ॥
जो सब भूतोंको सान्त्वना देता है, वह सब शोकोंसे मुक्त होता है। देवताओंकी सेवासे राज्य और दिव्यरूप प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

दीपालोकप्रदानेन चक्षुष्मान्भवते नरः ।
प्रेक्षणीयप्रदानेन स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ २२ ॥

दीपककी रोशनी दान करनेसे मनुष्यका नेत्र नीरोगी होता है। प्रेक्षणीय वस्तु प्रदान करनेसे स्मृति और बुद्धि प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

गन्धमाल्यनिवृत्त्या तु कीर्तिर्भवति पुष्कला ।
केशश्मश्रून्धारयतामग्र्या भवति संततिः ॥ २३ ॥

सुगन्ध और मालासे निवृत्त रहनेसे बहुतही कीर्ति हुआ करती है; केश तथा श्मश्रुधारी मनुष्योंकी श्रेष्ठ सन्तति होती है ॥ २३ ॥

उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव ।
कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद्विशिष्यते ॥ २४ ॥

हे महाराज! बारह वर्षोंतक सब भोगोंका परित्याग करके जप आदि नियमोंका स्वीकार और त्रिकाल स्नान करनेसे वीरस्थानसे भी श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

दासीदासमलंकारान्क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
ब्रह्मदेयां सुतां दत्त्वा प्राप्नोति मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! ब्राह्मविवाहकी विधिके अनुसार कन्या दान करनेसे मनुष्य दासदासी, आभूषण, क्षेत्र और गृह आदि पाता है ॥ २५ ॥

क्रतुभिश्चोपवासैश्च त्रिदिवं याति भारत ।
लभते च चिरं स्थानं बलिपुष्पप्रदो नरः ॥ २६ ॥

हे भारत! यज्ञ और उपवासके द्वारा मनुष्य सुरपुरमें गमन करता है; हवि और फूलका दान करनेवाला मनुष्य चिरस्थानका लाभ किया करता है ॥ २६ ॥

सुवर्णशृङ्गैस्तु विभूषितानां गवां सहस्रस्य नरः प्रदाता ।
प्राप्नोति पुण्यं दिवि देवलोकमित्येवमाहुर्मुनिदेवसंघाः ॥ २७ ॥

सोनेसे मढे हुए सींगसे शोभित करके सहस्र गौओंका दान करनेसे मनुष्य स्वर्गमें पवित्र देवलोक पाता है, मुनि और देववृन्द ऐसा ही कहा करते हैं ॥ २७ ॥

प्रयच्छते यः कपिलां सचैलां कांस्योपदोहां कनकाग्रशृङ्गीम् ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुघास्य भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥ २८ ॥

जो कांसेके बने हुए दोहनपात्रसे युक्त, सुवर्णभूषित सींगवाली सहस्र गौ दान करता है, वह गौ उन्हीं गुणोंके द्वारा उस दान देनेवालेके निकट प्रयोजन सिद्ध करनेवाली होकर स्वयं उपस्थित होती है ॥ २८ ॥

यावन्ति लोमानि भवन्ति धेन्वास्तावत्फलं प्राप्नुते गोप्रदाता ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र ॥ २९ ॥
गौके शरीरमें जितने परिमाणसे रोएं रहते हैं, गौदान करनेवाला उतने ही परिमाणसे फल पाता है और वह गौ पुत्र पौत्र आदि सात पीढ़ियोंतक सब कुलका परलोकमें उद्धार करती है ॥ २९ ॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं कांस्योपदोहां द्रविणोत्तरीयाम् ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥ ३० ॥
सुवर्णके बने सुन्दर सींगवाली, कांसेके दोहनपात्रसे युक्त, द्रव्यमय उत्तरीय देकर तथा तिलकी गौ दक्षिणाके सहित जो ब्राह्मणको दान देता है, उसके लिये वसुगणके लोक सुलभ होते हैं ॥ ३० ॥

स्वकर्मभिर्मानवं संनिबद्धं तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वायुयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥ ३१ ॥
जैसे महासागरमें नौका वायुका आश्रय लेकर पार करती है, इसी प्रकार मनुष्य निज कर्मोंसे बंधकर घोर अन्धकारमय नरकमें पतित होनेवाले मनुष्यको गौका दान परलोकमें पार करता है ॥ ३१ ॥

यो ब्रह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति चान्नं विधिवच्च यश्च स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ ३२ ॥
जो ब्राह्मविवाहकी विधिके अनुसार कन्यादान करता है, जो ब्राह्मणको भूमि प्रदान करता है और जो विधिपूर्वक अन्नका दान करता है उसे इन्द्रलोक मिलता है ॥ ३२ ॥

नैवेशिकं सर्वगुणोपपन्नं ददाति वै यस्तु नरो द्विजाय ।
स्वाध्यायचारित्रगुणान्विताय तस्यापि लोकाः कुरुषूत्तरेषु ॥ ३३ ॥
जो मनुष्य स्वाध्याययुक्त, चरित्र संपन्न और गुणयुक्त ब्राह्मणको सर्व गुणमयी गृह और शय्या आदि सामग्री प्रदान करता है, उसका उत्तर कुरुदेशमें निवास हुआ करता है ॥ ३३ ॥

धुर्यप्रदानेन गवां तथाश्वैर्लोकानवाप्नोति नरो वसूनाम् ।
स्वर्गाय चाहुर्हि हिरण्यदानं ततो विशिष्टं कनकप्रदानम् ॥ ३४ ॥
भार ढोनेमें समर्थ बैल और गायोंका दान करनेसे मनुष्यको वसुगणोंके लोक मिलते हैं, सुवर्ण दान स्वर्गका हेतु हुआ करता है और विशुद्ध कनकका दान उससे भी श्रेष्ठ फल देता है ॥ ३४ ॥

छत्रप्रदानेन गृहं वरिष्ठं यानं तथोपानहसंप्रदाने ।
वस्त्रप्रदानेन फलं सुरूपं गन्धप्रदाने सुरभिर्नरः स्यात् ॥ ३५ ॥
छत्रदान करनेसे उत्तम स्थान, पादत्राणके दानसे सवारी और वस्त्र दान करनेसे मनुष्यको सुन्दर रूप प्राप्त होता है, और सुगन्धित वस्तु दान करनेसे मनुष्य सुगन्धशाली हुआ करता है ॥ ३५ ॥

पुष्पोपगं वाथ फलोपगं वा यः पादपं स्पर्शयते द्विजाय ।
स स्त्रीसमृद्धं बहुरत्नपूर्णं लभत्ययत्नोपगतं गृहं वै ॥ ३६ ॥
जो मनुष्य ब्राह्मणको फल अथवा फूलोंसे भरे हुए वृक्षका दान करता है, उसे सहजमें ही स्त्री, समृद्धि और अनेक रत्नोंसे युक्त गृह प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भक्षान्नपानीयरसप्रदाता सर्वानवाप्नोति रसान्प्रकामम् ।
प्रतिश्रयाच्छादनसंप्रदाता प्राप्नोति तानेव न संशयोऽत्र ॥ ३७ ॥
ब्राह्मण भोजनके योग्य अन्न, जल और पीने योग्य रस दान करनेवाले मनुष्यको इच्छानुसार विधिपूर्वक सब रस प्राप्त होते हैं और जो घर और ओढनेके लिये वस्त्र दान करता है, उसे निःसन्देह वे समस्त उत्तम विषय प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

स्रग्धूपगन्धान्यनुलेपनानि स्नानानि माल्यानि च मानवो यः ।
दद्याद्द्विजेभ्यः स भवेदरोगस्तथाभिरूपश्च नरेन्द्रलोके ॥ ३८ ॥
जो मनुष्य ब्राह्मणोंको फूलोंकी माला, धूप, चन्दन, सुगन्ध, स्नानके लिये जल और फूल दान करता है, वह इस लोकमें परम सौन्दर्य लाभ करके रोगरहित हुआ करता है ॥ ३८ ॥

बीजैरशून्यं शयनैरुपेतं दद्याद्गृहं यः पुरुषो द्विजाय ।
पुण्याभिरामं बहुरत्नपूर्णं लभत्यधिष्ठानवरं स राजन् ॥ ३९ ॥
हे राजन् ! जो पुरुष ब्राह्मणको अन्नसे भरा हुआ और शय्यायुक्त गृह दान करता है, वह अनेक रत्नोंसे युक्त, पवित्र और मनोहर निवासस्थान पाता है ॥ ३९ ॥

सुगन्धचित्रास्तरणोपपन्नं दद्यान्नरो यः शयनं द्विजाय ।
रूपान्वितां पक्षवतीं मनोज्ञां भार्यामयत्नोपगतां लभेत्सः ॥ ४० ॥
जो ब्राह्मणको तकिये और विचित्र बिछावनेके सहित सुगन्धियुक्त शय्या दान करता है, उन्हें सहजमें ही रूपवती, मनको हरनेवाली तथा महत्कुलमें उत्पन्न हुई भार्या प्राप्त होती है ॥ ४० ॥

पितामहस्यानुचरो वीरशायी भवेन्नरः ।
नाधिकं विद्यते तस्मादित्याहुः परमर्षयः ॥ ४१ ॥
जो मनुष्य समरमें वीरशय्यापर शयन करता है, वह जिससे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, उस पितामहका सहचर होता है, ऐसा महर्षि लोग कहा करते हैं ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतात्मा कुरुनन्दनः ।
नाश्रमेऽरोचयद्वासं वीरमार्गाभिकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कुरुनन्दन युधिष्ठिरने भीष्मके यह समस्त वचन सुनके प्रसन्नचित्त होकर, वीरमार्गकी कामना करके आश्रममें वास करनेकी अभिलाषा नहीं की ॥ ४२ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्राह पाण्डवान्भरतर्षभ ।
पितामहस्य यद्वाक्यं तद्वो रोचत्विति प्रभुः ॥ ४३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर संतुष्ट प्रभु युधिष्ठिर पाण्डवगणसे बोले, वीरमार्गके विषयमें पितामहने जो कथा कही है, उसमें तुम लोगोंकी रुचि होवे ॥ ४३ ॥

ततस्तु पाण्डवाः सर्वे द्रौपदी च यशस्विनी ।
युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं बाढमित्यभ्यपूजयन् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ २५९९ ॥

उस समय पाण्डवगण और यशस्विनी द्रौपदीने ' बहुत अच्छा ' कहकर युधिष्ठिरके वचनको स्वीकार करके उनका संमान किया ॥ ४४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ २५९९ ॥

: ५८ :

युधिष्ठिर उवाच—

यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते ।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुङ्गव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञ वेदीसे भिन्न जो सब दानके विषय कहे गये, उनमेंसे आपके मतमें श्रेष्ठ दान कौनसा है ? ॥ १ ॥

कौतूहलं हि परमं तत्र मे वितते प्रभो ।
दातारं दत्तमन्वेति यद्दानं तत्प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥

हे प्रभु ! उस विषयमें मुझे बहुत ही कौतूहल है, इसलिये जो दान दाताका अनुगमन करता है, आप मेरे समीप उस ही दानका विषय वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहम् ।
यच्चाभिलषितं दद्यात्तृषितायाभियाचते ॥ ३ ॥

भीष्म बोले—सब प्राणियोंको अभयदान, विपत्तिकालमें उनपर अनुग्रह और याचकको अभिलषित वस्तु देना और प्याससे पीड़ित होकर पानी माँगनेवालेको पानी पिलाना ॥ ३ ॥

दत्तं मन्येत यद्दत्त्वा तद्दानं श्रेष्ठमुच्यते ।
दत्तं दातारमन्वेति यद्दानं भरतर्षभ ॥ ४ ॥

उत्तम दान है और उसे ही देके दाता दी हुई समझे, वह दान सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। हे भरतश्रेष्ठ ! जो दान दिये जानेपर दाताका अनुगमन करता है, वह यही है ॥ ४ ॥

हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

सुवर्ण दान, गो दान और भूमिदान इन तीनोंका दान ही पवित्र है; ये पापी पुरुषका भी उद्धार करते हैं ॥ ५ ॥

एतानि पुरुषव्याघ्र साधुभ्यो देहि नित्यदा ।
दानानि हि नरं पापान्मोक्षयन्ति न संशयः ॥ ६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इसलिये तुम साधुओंको ही सदा इनका दान करो। ये दान ही केवल सब पापोंसे मनुष्यको अवश्य मुक्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं हो सकता है ॥ ६ ॥

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ७ ॥

जगत्में जो जो वस्तु इष्ट हो तथा घरके बीच दाताकी जो प्यारी वस्तु हो, उस प्रिय वस्तुको दानको अक्षय करनेवाले मनुष्यको योग्य है, कि वह उन्हें गुणवान मनुष्यको दान करें ॥ ७ ॥

प्रियाणि लभते लोके प्रियदः प्रियकृत्तथा ।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥ ८ ॥

प्रिय वस्तु देनेवाला तथा प्रिय कार्य करनेवाला पुरुष जगत्में प्रिय वस्तुओंको ही पाता है और इसलोक और परलोकमें भी वह सबका प्रिय हुआ करता है ॥ ८ ॥

याचमानमभीमानादाशावन्तमकिंचनम् ।
यो नार्चति यथाशक्ति स नृशंसो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष आशावान् दरिद्र याचकका अभिमानवश होकर शक्तिके अनुसार सत्कार नहीं करता, वह मनुष्य निर्दयी कहाता है ॥ ९ ॥

अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम् ।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥ १० ॥

शत्रु भी यदि दीन होकर शरणागत होवे, उसपर भी विपत्कालमें जो पुरुष दया करता है, वही सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

कृशाय हीमते तात वृत्तिक्षीणाय सीदते ।
अपहन्यात्क्षुधं यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥ ११ ॥

तात ! जो दुर्बल, लज्जित, आजीविका रहित और दुखी पुरुषके क्षुधाकी शान्ति करता है, उसके समान पुरुष और कोई भी नहीं है ॥ ११ ॥

ह्रिया तु नियतान्साधून्पुत्रदारैश्च कर्शितान् ।
अयाचमानान्कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रय ॥ १२ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! निज धर्ममें रत, साधु, पुत्र और भार्या आदिसे कर्षित तथा अयाचक मनुष्योंको सब प्रकारके उपायसे सहायता देनेके लिये निमन्त्रित करे ॥ १२ ॥

आशिषं ये न देवेषु न मर्त्येषु च कुर्वते ।
अर्हन्तो नित्यसत्त्वस्था यथालब्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

जो लोग देवता और मनुष्योंके निकट किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते, उन पूजनीय, सदा अच्छे काममें रत और कुछ नहीं मिल जाय तो भी जीविका निबाहनेवाले ॥ १३ ॥

आशीविषसमेभ्यश्च तेभ्यो रक्षस्व भारत ।
तान्युक्तैरुपजिज्ञास्य तथा द्विजवरोत्तमान् ॥ १४ ॥

हे भारत ! दुखी होनेके कारण विषीले सर्पके समान भयंकर हुए ब्राह्मणोंसे अपनी रक्षा करो । वैसे पूज्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका दूतोंसे पता लगाओ और उन्हें आमन्त्रित करो ॥ १४ ॥

कृतैरावसथैर्नित्यं सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः ।
निमन्त्रयेथाः कौरव्य सर्वकामसुखावहैः ॥ १५ ॥

हे कौरव्य ! सर्वकामसुखप्रद सेवकों और परिपूर्ण सामग्रियोंके सहित आश्रम प्रभृति प्रदान करके उन पुरुषोंको नित्य निमन्त्रण करना योग्य है ॥ १५ ॥

यदि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धापूतं युधिष्ठिर ।
कार्यमित्येव मन्वाना धार्मिकाः पुण्यकर्मिणः ॥ १६ ॥

हे युधिष्ठिर ! वे पुण्यकर्मशील, धार्मिक पुरुष यदि तुम्हारा दान श्रद्धासे पवित्र और उत्तम कर्तव्य बुद्धिसे युक्त किया होगा, तो उत्तम मानकर स्वीकार करेंगे ॥ १६ ॥

विद्यास्नाता व्रतस्नाता ये व्यपाश्रित्यजीविनः ।
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १७ ॥

जो लोग विद्वान्, व्रतधारी, किसी दूसरेके आश्रित न होकर जीवन धारण करनेवाले, जिनके स्वाध्याय और तपस्या अत्यन्त गूढ है तथा जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं ॥ १७ ॥

तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदारनिरतेषु च ।
यत्करिष्यसि कल्याणं तत्त्वा लोकेषु धास्यति ॥ १८ ॥

उन शुद्ध, जितेन्द्रिय और निज स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले ब्राह्मणोंका यदि तुम उपकार करोगे, तो लोकमें वह तुम्हारा कल्याणकारी होगा ॥ १८ ॥

यथाग्निहोत्रं सुहुतं सायं प्रातर्द्विजातिना ।
तथा भवति दत्तं वै द्विजेभ्योऽथ कृतात्मना ॥ १९ ॥

जैसे सन्ध्या और प्रातःकाल समय द्विजातियोंसे किया हुआ अग्निहोत्र उत्तम फल प्रदान करता है, वैसे ही कृतात्मासे ब्राह्मणोंको जो दान किया जाता है, उसका वही फल मिलता है ॥ १९ ॥

एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः ।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो ददतस्तात वर्तताम् ॥ २० ॥

हे तात ! तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला विशाल दान यज्ञ श्रद्धायुक्त और सदक्षिण है, यही सब यज्ञोंसे श्रेष्ठ है, तुम दाता हो, इसलिये तुम सदा यह यज्ञ चालू रखो ॥ २० ॥

निवापो दानसदृशस्तादृशेषु युधिष्ठिर ।
निवसन्पूजयंश्चैव तेष्वानृण्यं निगच्छति ॥ २१ ॥

हे युधिष्ठिर ! वैसे ब्राह्मणोंको जो दान किया जाता है, वह पितृतर्पणके समान है, उन लोगोंको निवास देते रहो और उनकी पूजा करो; ऐसा करनेवाला मनुष्य देवताओंके ऋणसे मुक्त होता है ॥ २१ ॥

य एव नो न कुप्यन्ति न लुभ्यन्ति तृणेष्वपि ।
त एव नः पूज्यतमा ये चान्ये प्रियवादिनः ॥ २२ ॥

जो ब्राह्मण कदापि क्रोध नहीं करते, तृणमात्र भी लोभ नहीं करते और जो दूसरे प्रियवादी होते हैं, वेही हमारे लिये अत्यन्त पूजनीय हैं ॥ २२ ॥

ये नो न बहु मन्यन्ते न प्रवर्तन्ति चापरे ।
पुत्रवत्परिपाल्यास्ते नमस्तेभ्यस्तथाभयम् ॥ २३ ॥

ये लोग निःस्पृह होते हैं, इसलिये दाताका बहुमान नहीं करते और कितने दूसरे तो धनोपार्जनके कार्यमें भी प्रवृत्त नहीं होते हैं, ये लोग पुत्रकी भांति सब प्रकारसे प्रतिपालन करने योग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूं, उनकी ओरसे हमें कोई भय न हो ॥ २३ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या मृदुब्रह्मधरा हि ते ।
क्षत्रेणापि हि संसृष्टं तेजः शाम्यति वै द्विजे ॥ २४ ॥

ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य ये शिष्यके विषयमें वत्सल और वेदज्ञ होते हैं; क्षत्रियका तेज ब्राह्मणके पास जाते ही शान्त होता है; शान्त द्विजमें दीप्यमान् तेज सदा स्थित रहता है ॥ २४ ॥

अस्ति मे बलवानस्मि राजास्मीति युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणान्मा स्म पर्यश्नीर्वासोभिरशनेन च ॥ २५ ॥

हे युधिष्ठिर ! 'मेरे पास धन है, मैं बलवान हूं, मैं राजा हूं' ऐसा अभिमान करके ब्राह्मणोंको परित्याग करके पहरने और खानेकी वस्तुओंको स्वयं भोग न करना ॥ २५ ॥

यच्छोभार्थं बलार्थं वा वित्तमस्ति तवानघ ।
तेन ते ब्राह्मणाः पूज्याः स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ २६ ॥

हे पापरहित ! तुम्हारे पास शोभा बढानेके लिये अथवा बलकी वृद्धि करनेके लिये जो धन है, तुम निज धर्मका अनुष्ठान करते हुए उस धनके सहारे ब्राह्मणोंकी पूजा करो ॥ २६ ॥

नमस्कार्यास्त्वया विप्रा वर्तमाना यथातथम् ।
यथासुखं यथोत्साहं ललन्तु त्वयि पुत्रवत् ॥ २७ ॥

ब्राह्मण किसी प्रकारके रूपसे क्यों न वर्त्तमान रहें, वे अवश्य ही तुम्हारे नमस्कारके योग्य हैं; तुम्हारे समीप वे लोग पुत्रकी भांति स्नेह तथा उत्साहके अनुसार यथायोग्य सुख पावें ॥२७॥

को ह्यन्यः सुप्रसादानां सुहृदामल्पतोषिणाम् ।
वृत्तिमर्हत्युपक्षेप्तुं त्वदन्यः कुरुसत्तम ॥ २८ ॥

हे कुरुसत्तम ! जो अक्षय सुख देनेवाले सुहृद थोडेमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले हैं, उन ब्राह्मणोंको कौन पुरुष तुम्हारे अतिरिक्त वृत्ति देनेमें समर्थ होगा ? ॥ २८ ॥

यथा पत्याश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या तथास्माकं द्विजातयः ॥ २९ ॥

जैसे इस जगत्में स्त्रियोंका सनातन धर्म पतिकी सेवापर ही अवलम्बित है तथा उनके लिये वही देवता है और दूसरी गति नहीं है, हमारे लिये ब्राह्मणवृन्द भी वैसे ही हैं ॥ २९ ॥

यदि नो ब्राह्मणास्तात संत्यजेयुरपूजिताः ।
पश्यन्तो दारुणं कर्म सततं क्षत्रिये स्थितम् ॥ ३० ॥

हे तात ! यदि ब्राह्मण क्षत्रियोंसे पूजित न हों तथा क्षत्रियोंका सदा दारुण कर्म देखकर ब्राह्मण लोग यदि हमें परित्याग करें ॥ ३० ॥

अवेदानामकीर्तीनामलोकानामयज्वनाम् ।
कोऽस्माकं जीवितेनार्थस्तद्धि नो ब्राह्मणाश्रयम् ॥ ३१ ॥

तो वे क्षत्रिय वेदरहित, कीर्तिहीन, उत्तम लोकरहित और यज्ञरहित हो जायेंगे। इस दशामें ब्राह्मणोंके आश्रय बिना हमारे जीवित रहनेका क्या प्रयोजन है? ॥ ३१ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मः सनातनः ।
राजन्यो ब्राह्मणं राजन्पुरा परिचचार ह ।
वैश्यो राजन्यमित्येव शूद्रो वैश्यमिति श्रुतिः ॥ ३२ ॥

हे राजन्! इस विषयमें जो सनातन धर्म है, उसे तुम्हारे समीप कहता हूं। ऐसी जनश्रुति है, कि पहले समयमें क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंकी सेवा की थी, वैश्य क्षत्रियोंकी और शूद्र वैश्योंकी सेवा करते थे ॥ ३२ ॥

दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।
संस्पृश्य परिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च ॥ ३३ ॥

शूद्र जलती हुई अग्निकी भांति ब्राह्मणकी दूरसे सेवा करे। उनके शरीरके स्पर्शपूर्वक क्षत्रिय और वैश्य ही सेवा करें ॥ ३३ ॥

मृदुभावान्सत्यशीलान्सत्यधर्मानुपालकान् ।
आशीविषानिव क्रुद्धांस्तानुपाचरत द्विजान् ॥ ३४ ॥

कोमल, सत्यशील और सत्यधर्मका पालन करनेवाले स्वभावसे ही ब्राह्मण होते हैं; परंतु क्रुद्ध होनेपर विषैले सर्पके सदृश भयंकर होते हैं; इसलिये तुम नित्य ब्राह्मणोंकी सेवा करो ॥ ३४ ॥

अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चैव ये परे ।
क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च ।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च तपांसि च ॥ ३५ ॥

अन्य श्रेष्ठ जातियोंसे भी श्रेष्ठ होकर तेज और बलके सहारे जो क्षत्रिय प्रतापी हुए हैं, ब्राह्मणोंके समीप उन क्षत्रियोंकी तपस्या और तेज शान्त हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

न मे पिता प्रियतरो न त्वं तात तथा प्रियः ।
न मे पितुः पिता राजन्न चात्मा न च जीवितम् ॥ ३६ ॥

हे तात महाराज! हमारे लिये पिता, तुम, पितामह, आत्मा और जीवन भी ब्राह्मणोंके समान प्रिय नहीं है ॥ ३६ ॥

त्वत्तश्च मे प्रियतरः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
त्वत्तोऽपि मे प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पृथ्वीपर मेरे लिये तुमसे बढके प्यारा और दूसरा कोई नहीं है, परन्तु ब्राह्मण लोग तुमसे भी अधिक प्रिय हैं ॥ ३७ ॥

ब्रवीमि सत्यमेतच्च यथाहं पाण्डुनन्दन ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान्यत्र स शांतनुः ॥ ३८ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! जो मैं यह सत्य वचन कहता हूं, तो उस ही सत्यके सहारे उन लोकोंमें गमन करूंगा, जहांपर मेरे पिता शन्तनु निवास करते हैं ॥ ३८ ॥

पश्येयं च सतां लोकाञ्छुचीन्ब्रह्मपुरस्कृतान् ।
तत्र मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ ३९ ॥

मैं जहां ब्राह्मण और ब्रह्माकी प्रधानता है, उन पवित्र लोकोंको देख रहा हूं; हे तात ! सदाके लिये शीघ्र ही वहां गमन करूंगा ॥ ३९ ॥

सोऽहमेतादृशाँल्लोकान्दृष्ट्वा भरतसत्तम ।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेषु न तप्ये तेन पार्थिव ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ २६३९ ॥

हे भरतसत्तम महाराज ! मैंने ऐसे लोकोंको देखकर ब्राह्मणोंके विषयमें जो कार्य किया है, उस ही कारणसे इस समय परिताप नहीं करता ॥ ४० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ २६३२ ॥

: ५९ :

युधिष्ठिर उवाच—

यौ तु स्यातां चरणेनोपपन्नौ यौ विद्यया सदृशौ जन्मना च ।
ताभ्यां दानं कतरस्मै विशिष्टमयाचमानाय च याचते च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— यदि दो ब्राह्मण समान आचार, जन्म और विद्यामें सदृश हों, उनमेंसे एक याचक और दूसरा अयाचक हो, तो उन दोनोंमें किसे दान करनेसे विशेष फल प्राप्त होता है, यही आप कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

श्रेयो वै याचतः पार्थ दत्तमाहुरयाचते ।
अर्हत्तमो वै धृतिमान्कृपणादधृतात्मनः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे पार्थ ! याचककी अपेक्षा न मांगनेवाले ब्राह्मणको दिया हुआ दान श्रेष्ठ तथा कल्याणकारी है; धीरज रहित दीन मनुष्यकी अपेक्षा धैर्यशाली ही पूजनीय है ॥ २ ॥

क्षत्रियो रक्षणधृतिर्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः ।
ब्राह्मणो धृतिमान्विद्वान्देवान्प्रीणाति तुष्टिमान् ॥ ३ ॥

रक्षा करना ही क्षत्रियोंका धैर्य है और न मांगनाही ब्राह्मणोंका धैर्य है और ऐसही श्रेष्ठ है। धृतिमान्, विद्वान् और सन्तुष्टचित्त ब्राह्मण देवताओंको सन्तुष्ट किया करता है ॥ ३ ॥

याञ्चामाहुरनीशस्य अभिहारं च भारत।
उद्वेजयति याचन्हि सदा भूतानि दस्युवत् ॥ ४ ॥

हे भारत ! दरिद्र पुरुषकी याचना ही तिरस्कारका कारण होती है; जब मनुष्य जाचते हैं, तब वे दस्युकी भांति लोगोंको उद्विग्न करते हैं ॥ ४ ॥

म्रियते याचमानो वै तमनु म्रियते ददत्।
ददत्संजीवयत्येनमात्मानं च युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

हे युधिष्ठिर ! मांगनेवाला मनुष्य ही मर जाता है, देनेवाला उसका अनुकरण करके मरता है; दाता दान करते हुए याचक तथा अपनेको जीवित रखता है ॥ ५ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत्प्रदीयते।
अयाचतः सीदमानान्सर्वोपायैर्निमन्त्रय ॥ ६ ॥

याचक पुरुषको जो वस्तु प्रदान की जाती है, वह दयारूप परम धर्म है; बिना जाचे जो लोग अवसन्न हो रहे हों, उन्हें प्रत्येक उपायसे हो सके तो आमंत्रित करके दान देना योग्य है ॥ ६ ॥

यदि वै तादृशा राष्ट्रे वसेयुस्ते द्विजोत्तमाः।
भस्मच्छन्नानिवाग्नींस्तान्बुध्येथास्त्वं प्रयत्नतः ॥ ७ ॥

यदि वैसे श्रेष्ठ द्विज तुम्हारे राज्यमें वास करते हों तो वे छाईंसे छिपी हुई अग्निकी भांति हैं; तुम्हें प्रयत्नपूर्वक उनका पता लगाना चाहिये ॥ ७ ॥

तपसा दीप्यमानास्ते दहेयुः पृथिवीमपि।
पूज्या हि ज्ञानविज्ञानतपोयोगसमन्विताः ॥ ८ ॥

हे कुरुवंशावतंस ! तपस्याके सहारे दीप्यमान वे ब्राह्मण इस पृथ्वीको जला सकते हैं। जो लोग ज्ञान–विज्ञान तपस्या और योगयुक्त हैं, वे पूजनीय हैं ॥ ८ ॥

तेभ्यः पूजां प्रयुञ्जीथा ब्राह्मणेभ्यः परंतप।
ददद्बहुविधान्दायानुपगच्छन्नयाचतः ॥ ९ ॥

हे परंतप ! इसलिये उन ब्राह्मणोंकी तुम्हें पूजा करनी चाहिये। वेदविद्या व्रतसे युक्त अयाचक ब्राह्मणोंके निकट जाके अनेक प्रकारसे धन प्रभृति दान करना ॥ ९ ॥

यदग्निहोत्रे सुहुते सायंप्रातर्भवेत्फलम् ।
विद्यावेदव्रतवति तद्दानफलमुच्यते ॥ १० ॥
सन्ध्या और भोरके समय अग्निहोत्रमें होम करनेसे जो फल होता है, वही वेदज्ञ और व्रतशाली ब्राह्मणको दान करनेसे फल कहा गया है ॥ १० ॥

विद्यावेदव्रतस्नातानव्यपाश्रयजीविनः ।
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणान्संशितव्रतान् ॥ ११ ॥
हे कौन्तेय ! जो लोग विद्या और वेदमें निपुण और स्वामीके आसरेमें रहके जीविका निर्वाहकी इच्छा नहीं करते, जिनके निज शाखोक्त वेदपाठ और तपस्या अत्यन्त गूढ है, तथा कठोर व्रती हैं ॥ ११ ॥

कृतैरावसथैर्हृद्यैः सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः
निमन्त्रयेथाः कौन्तेय कामैश्चान्यैर्द्विजोत्तमान् ॥ १२ ॥
उन उत्तम ब्राह्मणोंको आमंत्रित करके, बने हुए मनोहर आश्रम, वस्त्र, सेवक तथा दूसरी समस्त आवश्यकीय वस्तुओंसे संपन्न प्रदान करो ॥ १२ ॥

अपि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धापूतं युधिष्ठिर ।
कार्यमित्येव मन्वाना धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १३ ॥
हे युधिष्ठिर ! वे धर्मज्ञ और सूक्ष्मदर्शी ब्राह्मण लोग तुम्हारे श्रद्धायुक्त दानको कर्तव्य कार्य जानके स्वीकार करेंगे ॥ १३ ॥

अपि ते ब्राह्मणा भुक्त्वा गताः सोद्धरणान्गृहान् ।
येषां दाराः प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १४ ॥
जैसे किसान बरसातकी राह देखते हैं, वैसेही जिनकी स्त्रियां अन्नकी प्रतिक्षा करके, बालकोंको निज स्वामीके आनेपर " खानेको दूंगी, " ऐसा कहके धीरज दिया करती हैं, क्या ऐसे ब्राह्मण तुम्हारे यहां भोजन करके अपने घरोंको गये हैं ? ॥ १४ ॥

अन्नानि प्रातःसवने नियता ब्रह्मचारिणः ।
ब्राह्मणास्तात भुञ्जानास्त्रेताग्नीन्प्रीणयन्तु ते ॥ १५ ॥
हे तात ! नियमपूर्वक ब्रह्मचारी रहनेवाले ब्राह्मण प्रातःकालमें घरमें भोजन करते हुए गार्हपत्य, आवहनीय और दक्षिणाग्नि, इन तीनों अग्नियोंको प्रसन्न करते हैं ॥ १५ ॥

माध्यंदिनं ते सवनं ददतस्तात वर्तताम् ।
गा हिरण्यानि वासांसि तेनेन्द्रः प्रीयतां तव ॥ १६ ॥
हे तात ! दिनके मध्याह्नमें तुम ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें गौ, सुवर्ण और वस्त्र दान करोगे, तो उससे इन्द्र तुमपर प्रसन्न होंगे ॥ १६ ॥

तृतीयं सवनं तत्ते वैश्वदेवं युधिष्ठिर ।
यद्देवेभ्यः पितृभ्यश्च विप्रेभ्यश्च प्रयच्छसि ॥ १७ ॥

हे युधिष्ठिर ! तीसरे समयमें तुम देवता, पितर और ब्राह्मणोंके उद्देश्यसे जो दान करते हैं, वह विश्व देवोंको प्रसन्न करता है ॥ १७ ॥

अहिंसा सर्वभूतेभ्यः संविभागश्च सर्वशः ।
दमस्त्यागो धृतिः सत्यं भवत्ववभृथाय ते ॥ १८ ॥

सब प्राणियोंके विषयमें अहिंसा, सबको सर्वशः अर्पण करना, दम, त्याग, धृति और सत्य ये सब तुम्हें अवभृथस्नानका फल देंगे ॥ १८ ॥

एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः ।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो नित्यं तात प्रवर्तताम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ २६५८ ॥

यह तुम्हारे निकट श्रद्धायुक्त सदक्षिण यज्ञका विषय कहा गया, यही सब यज्ञोंसे श्रेष्ठ है । हे तात ! तुम्हारी इस यज्ञमें सदा प्रवृत्ति होवे ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥ २६५८ ॥

: ६० :

युधिष्ठिर उवाच—

दानं यज्ञक्रिया चेह किंस्वित्प्रेत्य महाफलम् ।
कस्य ज्यायः फलं प्रोक्तं कीदृशेभ्यः कथं कदा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! इस लोकमें दान और यज्ञ करनेसे परलोकमें महाफल होता है, परन्तु इन दोनोंके बीच किसका फल श्रेष्ठ कहके वर्णित हुआ है ? कैसे पुरुषोंको दान करना चाहिये और किस प्रकारसे किस समयमें यज्ञ करना उचित है ? ॥ १ ॥

एतदिच्छामि विज्ञातुं याथातथ्येन भारत ।
विद्वञ्जिज्ञासमानाय दानधर्मान्प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥

हे हे भारत ! इसे मैं यथार्थ रीतिसे जानने की इच्छा करता हूं । हे विद्वन् ! मैं यही पूछता हूं, मुझ जिज्ञासुको समस्त दानधर्मका उपदेश करिये ॥ २ ॥

अन्तर्वेद्यां च यद्दत्तं श्रद्धया चानृशंस्यतः ।
किंस्विन्निःश्रेयसं तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

हे तात पितामह ! अन्तर्वेदिके बीच श्रद्धापूर्वक जो दान दिया जाता है, और जो वेदीके बाहर दयापूर्वक दिया जाता है, इनमें कौनसा कल्याणकारी हुआ करता है ? इसही विषयको मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते ।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— हे तात ! क्षत्रियोंको सदा ही कठोर कर्म करने पडते हैं, इसलिये यहां यज्ञ और दान ही उसे पवित्र करनेवाले कर्म हैं ॥ ४ ॥

न तु पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः ।
एतस्मात्कारणाद्यज्ञैर्यजेद्राजाप्तदक्षिणैः ॥ ५ ॥

साधु पुरुष पाप करनेवाले राजाका दान नहीं लेते हैं, इसलिये राजा विपुल दक्षिणायुक्त यज्ञ करे ॥ ५ ॥

अथ चेत्प्रतिगृह्णीयुर्दद्यादहरहर्नृपः ।
श्रद्धामास्थाय परमां पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ६ ॥

यदि ब्राह्मण लोग दानका स्वीकार करें, तो राजा परम श्रद्धाके सहित प्रतिदिन दान करे, कारण वही दान पावन करनेवाला परम पवित्र साधन है ॥ ६ ॥

ब्राह्मणांस्तर्पयेद्द्रव्यैस्ततो यज्ञे यतव्रतः ।
मैत्रान्साधून्वेदविदः शीलवृत्ततपोन्वितान् ॥ ७ ॥

सब प्राणियोंके अभयदाता, वेदज्ञ, सुशील, सद्वृत्त, सरल स्वभाववाले और तपस्यायुक्त ब्राह्मणोंको धन देकर प्रसन्न करो ॥ ७ ॥

यत्ते तेन करिष्यन्ति कृतं तेन भविष्यति ।
यज्ञान्साधय साधुभ्यः स्वाद्वन्नान्दक्षिणावतः ॥ ८ ॥

ब्राह्मण लोग यदि तुम्हारा दान ग्रहण करेंगे, तो तुम्हें सुकृत होगा; इसलिये सुकृतके निमित्त यज्ञ करो और साधुओंको दक्षिणाके सहित सुस्वादु अन्न दो ॥ ८ ॥

इष्टं दत्तं च मन्येथा आत्मानं दानकर्मणा ।
पूजयेथा यायजूकांस्तवाप्यंशो भवेद्यथा ॥ ९ ॥

याज्ञिकोंको दानकर्मके सहारे अपनेको यज्ञ करनेवाला तथा दाता जानो; क्यों कि दान ही यज्ञ आदिके अन्तर्भूत होता है। यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी पूजा करो और उन्हें दान करनेसे तुम भी उनके यज्ञमें सदा अनन्त कल्याणलाभके अंशभागी होगे ॥ ९ ॥

प्रजावतो भरेथाश्च ब्राह्मणान्बहुभारिणः ।
प्रजावांस्तेन भवति यथा जनयिता तथा ॥ १० ॥

जो अनेक कष्ट करनेवाले और बाल–बच्चेवाले ब्राह्मणोंका भरण करता है, वह उस कर्मसे प्रजापतिके समान संतानयुक्त होता है ॥ १० ॥

×

धावतो वै साधुधर्मान्सन्तः संप्रतर्पयन्त्युत ।
सर्वे ते चापि भर्तव्या नरा ये बहुचारिणः ॥ ११ ॥

जो साधु लोग समस्त सद्धर्मोंका प्रचार करते हैं, इस लिये जो मनुष्य बहुतसे कष्ट किया करते हैं, राजाको योग्य है, कि उन समस्त लोगोंका सब प्रकारसे पालन करे ॥ ११ ॥

समृद्धः संप्रयच्छस्व ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ।
धेनूरनडुहोऽन्नानि च्छत्रं वासांस्युपानहौ ॥ १२ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम समृद्धियुक्त हो, इसलिये याचक ब्राह्मणोंको गाय, गाडीमें जुतने योग्य बैल, अन्न, छाता, वस्त्र और जूता दान करते रहो ॥ १२ ॥

आज्यानि यजमानेभ्यस्तथान्नाद्यानि भारत ।
अश्ववन्ति च यानानि वेश्मानि शयनानि च ॥ १३ ॥

भारत ! जो ब्राह्मण यज्ञ करते हैं, उनको घृत, बहुतसी भोजनकी वस्तुएं, घोडेयुक्त सवारियां, गृह और शय्या प्रभृति दान करना ॥ १३ ॥

एते देया व्युष्टिमन्तो लघूपायाश्च भारत ।
अजुगुप्सांश्च विज्ञाय ब्राह्मणान्वृत्तिकर्शितान् ॥ १४ ॥

हे भारत ! ये सब दान सरल और समृद्धियुक्त हैं । जिनका आचरण निन्दनीय न हो, और जो जीवन निर्वाहके लिये कष्ट पा रहे हों, उनका पता लगाकर ॥ १४ ॥

उपच्छन्नं प्रकाशं वा वृत्त्या तान्प्रतिपादय ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां श्रेयस्तत्क्षत्रियान्प्रति ॥ १५ ॥

गुप्त वा प्रकट भावसे ब्राह्मणोंको वृत्ति दान करना उचित है । क्षत्रियोंके लिये यह कार्य अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंसे भी कल्याणकारी है ॥ १५ ॥

एवं पापैर्विमुक्तस्त्वं पूतः स्वर्गमवाप्स्यसि ।
संसयित्वा पुनः कोशं यद्राष्ट्रं पालयिष्यसि ॥ १६ ॥

इस ही प्रकार तुम पापोंसे मुक्त तथा पवित्र होके स्वर्गलोक पाओगे; तुम फिर कोशसञ्चय करके राज्यका पालन करोगे ॥ १६ ॥

ततश्च ब्रह्मभूयस्त्वमवाप्स्यसि धनानि च ।
आत्मनश्च परेषां च वृत्तिं संरक्ष भारत ॥ १७ ॥

उसहीके सहारे तुम्हें समस्त धन और ब्राह्मणत्व प्राप्त होगा । हे भारत ! तुम अपनी और दूसरोंकी भी जीविकाकी रक्षा करो ॥ १७ ॥

पुत्रवच्चापि भृत्यान्स्वान्प्रजाश्च परिपालय ।
योगक्षेमश्च ते नित्यं ब्राह्मणेष्वस्तु भारत ॥ १८ ॥

पुत्रकी भांति निज सेवक और प्रजासमूहका प्रतिपालन करो । हे भारत ! ब्राह्मणोंको उनकी अभिलषित वस्तु देना और उसकी रक्षा करना तुम्हें योग्य है ॥ १८ ॥

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं स्म राजकलिं हन्युः प्रजाः संनह्य निर्घृणम् ॥ १९ ॥

प्रजाओंकी रक्षा न करनेवाला, उनके धनको लूटनेवाला तथा जिसके पास कोई नेतृत्व नहीं है, उस कलिके समान दुष्ट राजाको प्रजा एकत्र होके नाश करे ॥ १९ ॥

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥ २० ॥

मैं तुम लोगोंका रक्षक हूं, ऐसा वचन कहके जो राजा रक्षा नहीं करता, उस उन्मत्त तथा रोगी राजाको प्रजा इकट्ठी होके कुत्तेकी भांति मार डाले ॥ २० ॥

पापं कुर्वन्ति यत्किंचित्प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ २१ ॥

हे भारत ! राजासे अरक्षित होनेपर प्रजा जो कुछ पाप करती है, राजा उसमेंसे चौथा भाग प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः
चतुर्थं मतमस्माकं मनोः श्रुत्वानुशासनम् ॥ २२ ॥

कोई कहते हैं, प्रजाका किया हुआ समस्त पाप राजाको लगता है, कोई निश्चयपूर्वक कहते हैं, उसका आधा हिस्सा मिला करता है; मनुकी आज्ञा सुनके राजाको चौथा भाग ही प्राप्त होता है, ऐसा मुझे अभिमत है ॥ २२ ॥

शुभं वा यत्प्रकुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ॥ २३ ॥

हे भारत ! राजासे सुरक्षित प्रजा जो सब शुभ कर्म करती है, उस पुण्यमें भी उसे चतुर्थ भाग प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

जीवन्तं त्वानुजीवन्तु प्रजाः सर्वा युधिष्ठिर ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे समस्त प्राणी पर्जन्यके सहारे जीवित रहते हैं, वैसे ही महान् वृक्ष रूपी ब्राह्मणोंका आश्रय लेकर वे जीवित रहें; तुम्हारे जीवित रहते हुए समस्त प्रजा तुमसे ही जीविका चलाये ॥ २४ ॥

कुबेरमिव रक्षांसि शतक्रतुमिवामराः ।
ज्ञातयस्त्वानुजीवन्तु सुहृदश्च परंतप ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ २६८३ ॥

हे परंतप ! और जैसे राक्षसगण कुबेरके और देववृन्द महेन्द्रके अनुजीवी होते हैं, वैसे ही स्वजन और सुहृद्गण तुम्हारे अनुजीवी होवें ॥ २५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें साठवां अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ २६८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

इदं देयमिदं देयमितीयं श्रुतिचोदना ।
बहुदेयाश्च राजानः किंस्विद्देयमनुत्तमम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— यह देय है, यह दातव्य है, इस ही प्रकार श्रुति अत्यन्त आदरके सहित दानकी विधि कहा करती है; राजा लोगोंके लिये बहुत प्रकारका दान करनेके लिये सबसे श्रेष्ठ दान कौनसा है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अति दानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामाननुत्तमान् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— सब दानोंमें भूमिदान सबसे श्रेष्ठ कहा गया है; अक्षया और अचला भूमि समस्त उत्तम कामना पूर्ण किया करती है ॥ २ ॥

दोग्ध्री वासांसि रत्नानि पशून्व्रीहियवांस्तथा ।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाश्वतीरेधते समाः ॥ ३ ॥

वस्त्र, रत्न, पशु और यव प्रभृति धानको पृथ्वीही देती है, इसलिये भूमिका दान देनेवाला सब प्राणियोंके बीच सदा ही वर्द्धित होता है ॥ ३ ॥

यावद्भूमेरायुरिह तावद्भूमिद एधते ।
न भूमिदानादस्तीह परं किंचिद्युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें जबतक भूमि विद्यमान रहती है, भूमि दान करनेवाला उतने समय पर्यन्त वर्द्धित होता है; इसलिये भूमिदानसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

अप्यल्पं प्रददुः पूर्वे पृथिव्या इति नः श्रुतम् ।
भूमिमेते ददुः सर्वे ये भूमिं भुञ्जते जनाः ॥ ५ ॥

हमने सुना है, कि पहले बहुत ही थोडे लोगोंने भूमिदान किया है, वे सब लोग भूमि दानका फल पाकर उपभोग करते हैं ॥ ५ ॥

स्वकर्मैवोपजीवन्ति नरा इह परत्र च ।
भूमिर्भूतिर्महादेवी दातारं कुरुते प्रियम् ॥ ६ ॥

मनुष्य इस लोक और परलोकमें निज कर्मके अनुसार जीवन निर्वाह करते हैं; सिद्धिरूपा महादेवी पृथ्वी भूमिदाताका अत्यंत प्रिय किया करती है ॥ ६ ॥

य एतां दक्षिणां दद्यादक्षयां पृथिवीपतिः ।
पुनर्नरत्वं संप्राप्य भवेत्स पृथिवीपतिः ॥ ७ ॥

हे राजसत्तम ! जो राजा इस अक्षया भूमिका दक्षिणामें दान करता है, वह फिर मनुष्यत्व लाभ करके पृथ्वीपति होता है ॥ ७ ॥

यथा दानं तथा भोग इति धर्मेषु निश्चयः ।
संग्रामे वा तनुं जह्याद्दद्याद्वा पृथिवीमिमाम् ॥ ८ ॥

जैसा दान किया जायगा वैसा ही भोग प्राप्त होगा, यह धर्मशास्त्रका सिद्धान्त है; चाहे संग्राममें शरीर परित्याग करे, अथवा इस पृथ्वीका दान करे ॥ ८ ॥

इत्येतां क्षत्रबन्धूनां वदन्ति परमाशिषम् ।
पुनाति दत्ता पृथिवी दातारमिति शुश्रुम ॥ ९ ॥

पण्डित लोग इसे ही क्षत्रिय बन्धुओंके लिये परम आशीर्वाद रूप कहते हैं; मैंने सुना है, कि दान की हुई पृथ्वी दाताको पवित्र करती है ॥ ९ ॥

अपि पापसमाचारं ब्रह्मघ्नमपि वानृतम् ।
सैव पापं पावयति सैव पापात्प्रमोचयेत् ॥ १० ॥

पाप करनेवाला, ब्रह्मघ्न और मिथ्यावादी मनुष्यको दानमें दी हुई पृथ्वी ही पापसे उसका उद्धार करती है और वही उसे पापोंसे मुक्त किया करती है ॥ १० ॥

अपि पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः ।
पृथिवीं नान्यदिच्छन्ति पावनं जननी यथा ॥ ११ ॥

साधुजन पापाचारी राजाओंके भी भूमिदानको ही प्रतिग्रह करते हैं, अन्य किसी वस्तुको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते, क्यों कि पृथ्वी वैसी ही पवित्र है जैसी जननी है ॥ ११ ॥

नामास्याः प्रियदत्तेति गुह्यं देव्याः सनातनम् ।
दानं वाप्यथ वा ज्ञानं नाम्नोऽस्याः परमं प्रियम् ।
तस्मात्प्राप्यैव पृथिवीं दद्याद्विप्राय पार्थिवः ॥ १२ ॥

इस पृथ्वीका सनातन गोपनीय नाम प्रियदत्ता है; इसका दान अथवा ज्ञान, दोनों ही इसे परम प्रिय हैं; इसलिये राजाको चाहिये कि वह भूमि प्राप्त होते ही उसमेंसे कुछ ब्राह्मणोंको दान करे ॥ १२ ॥

नाभूमिपतिना भूमिरधिष्ठेया कथंचन ।
न चापात्रेण वा गूहेदन्तर्धानेन वा चरेत् ।
ये चान्ये भूमिमिच्छेयुः कुर्युरेवमसंशयम् ॥ १३ ॥

जो भूमिपति नहीं है वह किसी प्रकार पृथ्वीपर अधिकार करनेमें समर्थ नहीं होता; पात्र मनुष्यको दान करके छुपाना उचित नहीं है, तथा अन्तर्धान होकर अपने दिये हुए स्थानमें विचरना भी अयोग्य है, दूसरे जो कोई पुरुष भूमिलाभकी इच्छा करें, वे निःसन्देह इस ही प्रकार भूमिदान करें ॥ १३ ॥

यः साधोर्भूमिमादत्ते न भूमिं विन्दते तु सः ।
भूमिं तु दत्त्वा साधुभ्यो विन्दते भूमिमेव हि ।
प्रेत्येह च स धर्मात्मा संप्राप्नोति महद्यशः ॥ १४ ॥

जो साधु पुरुषकी भूमि अन्यायपूर्वक लेता है, वह कभी भी भूमि नहीं पा सकता । साधुओंको भूमि दान करनेसे उत्तम भूमि ही मिलती है । उस धर्मात्मा मनुष्यको इस लोक और परलोकमें महत् यश प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यस्य विप्रानुशासन्ति साधोर्भूमिं सदैव हि ।
न तस्य शत्रवो राजन्प्रशासन्ति वसुंधराम् ॥ १५ ॥

हे महाराज ! साधु लोग जिस श्रेष्ठ पुरुषकी दी हुई भूमिका सदा अनुशासन किया करते हैं, उसके भूमिका शत्रुगण अनुशासन नहीं करते हैं ॥ १५ ॥

यत्किंचित्पुरुषः पापं कुरुते वृत्तिकर्शितः ।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन पूयते ॥ १६ ॥

मनुष्य जीविकाके लिये क्लेशित होकर जो कुछ पाप करता है, वह गोचर्मपरिमाणसे भी भूमि दान करने पर पापसे छूट जाता है ॥ १६ ॥

येऽपि संकीर्णकर्माणो राजानो रौद्रकर्मिणः ।
तेभ्यः पवित्रमाख्येयं भूमिदानमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

जो राजा पापी तथा भयङ्कर कर्म करते हैं, उनके निकट सबसे उत्तम पवित्र भूमिदानका विषय वर्णन करना चाहिये ॥ १७ ॥

अल्पान्तरमिदं शश्वत्पुराणा मेनिरे जनाः ।
यो यजेदश्वमेधेन दद्याद्वा साधवे महीम् ॥ १८ ॥

प्राचीन लोग सदा यह मानते हैं कि कोई अश्वमेध यज्ञ करे अथवा साधु पुरुषोंको भूमिदान करे इन दोनोंमें बहुत कम अन्तर है ॥ १८ ॥

अपि चेत्सुकृतं कृत्वा शङ्केरन्नपि पण्डिताः ।
अशक्यमेकमेवैतद् भूमिदानमनुत्तमम् ॥ १९ ॥

कोई सुकृत करके भी उसके फलके विषयमें किसी भांति पण्डित लोगोंको शंका निर्माण हो सकती है; परंतु सर्वोत्तम भूमि दान एक ही अशंकित ऐसा सत्कर्म है ॥ १९ ॥

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च ।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञ ददाति वसुधां ददत् ॥ २० ॥

महाबुद्धिशाली मनुष्य भूमि दान करनेसे सोना, चांदी, वस्त्र, मणि, मोती और समस्त धन दानका फल पाता है ॥ २० ॥

तपो यज्ञः श्रुतं शीलमलोभः सत्यसंधता ।
गुरुदैवतपूजा च नातिवर्तन्ति भूमिदम् ॥ २१ ॥

तपस्या, यज्ञ, विद्या, शील, अलोभ, सत्यवादिता, गुरुपूजा और देवपूजा, ये सब भूमिदानसे अधिक नहीं हैं ॥ २१ ॥

भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगताः सिद्धा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ २२ ॥

जो लोग स्वामीका मङ्गल करनेकी कामनासे समरभूमिमें शरीर त्यागते और सिद्ध होकर ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वे भी भूमिदाताको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २२ ॥

यथा जनित्री क्षीरेण स्वपुत्रं भरते सदा ।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥ २३ ॥

जैसे माता अपने पुत्रको सदा दूध पिलाके पालती है, वैसे ही पृथ्वी सब रसोंके द्वारा दाताके विषयमें अनुग्रह किया करती है ॥ २३ ॥

मृत्योर्वै किंकरो दण्डस्तापो वह्नेः सुदारुणः ।
घोराश्च वारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥ २४ ॥

मृत्युका सेवक, कालदण्ड, अत्यन्त प्रचण्ड अग्निकी पीडा और समस्त घोर दारुण पाश भूमिदाताके समीप जानेमें समर्थ नहीं होते ॥ २४ ॥

पितॄंश्च पितृलोकस्थान्देवलोके च देवताः ।
संतर्पयति शान्तात्मा यो ददाति वसुंधराम् ॥ २५ ॥

जो शान्तचित्तवाला मनुष्य भूमिदान करता है, वह पितृलोक निवासी पितर और देवलोकवासी देवताओंको पूर्णरीतिसे परितृप्त किया करता है ॥ २५ ॥

कृशाय म्रियमाणाय वृत्तिग्लानाय सीदते।
भूमिं वृत्तिकरीं दत्त्वा सत्री भवति मानवः ॥ २६ ॥

कृश, जीविकाके बिना कष्ट सहनेवाले और भूखसे पीडित ब्राह्मणको जीविकाके योग्य भूमिदान करनेसे मनुष्य यज्ञफलका अधिकारी होता है ॥ २६ ॥

यथा धावति गौर्वत्सं क्षीरमभ्युत्सृजन्त्युत।
एवमेव महाभाग भूमिर्भवति भूमिदम् ॥ २७ ॥

हे महाराज! जैसे उपरमा गौ वात्सल्यभावसे अपने स्तनोंसे दूध गिरती हुई उसे पिलानेके लिये दौडती है, वैसे ही भूमिदाताकी ओर भूमि उसे सुख देनेके लिये गमन करती है ॥ २७ ॥

हलकृष्टां महीं दत्त्वा सबीजां सफलामपि।
उदीर्णं वापि शरणं तथा भवति कामदः ॥ २८ ॥

हलसे जोती हुई बीजयुक्त और फलशालिनी भूमि तथा महत् गृह दान करनेसे मनुष्यकी कामनाएं पूर्ण होती हैं ॥ २८ ॥

ब्राह्मणं वृत्तसंपन्नमाहिताग्निं शुचिव्रतम्।
नरः प्रतिग्राह्य महीं न याति यमसादनम् ॥ २९ ॥

सदाचारयुक्त, आहिताग्नि और पवित्र व्रत करनेवाले ब्राह्मणको भूमिदान करनेसे मनुष्य यमलोकमें नहीं जाता है ॥ २९ ॥

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि जायते।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ३० ॥

जैसे प्रतिदिन चन्द्रमाकी वृद्धि होती है, वैसे ही भूमिदानका फल प्रतिशस्योंमें वर्द्धित हुआ करता है ॥ ३० ॥

अत्र गाथा भूमिगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
याः श्रुत्वा जामदग्न्येन दत्ता भूः काश्यपाय वै ॥ ३१ ॥

इस विषयमें प्राचीन पण्डित लोग भूमिकी गायी हुई समस्त गाथाओंको कहा करते हैं, जिन्हें सुनके जामदग्न्य रामने कश्यपको समस्त भूमिका दान किया था ॥ ३१ ॥

मामेवादत्त मां दत्त मां दत्त्वा मामवाप्स्यथ।
अस्मिँल्लोके परे चैव ततश्चाजनने पुनः ॥ ३२ ॥

"मुझे ही ग्रहण करो, मुझे ही दान करो, मुझे ही दान करके मुझे ही पाओगे" इस लोकमें जो दान किया जाता है, वही इहलोक और परलोकमें फिर मिलता है ॥ ३२ ॥

य इमां व्याहृतिं वेद ब्राह्मणो ब्रह्मसंश्रितः ।
श्राद्धस्य हूयमानस्य ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ३३ ॥

जो ब्रह्मवादी ब्राह्मण श्राद्धकालमें इस वेदतुल्य व्याहृतिको जानता है, इस गाथाका पाठ करता है, वह ब्रह्मत्व अर्थात् बृहत् फल पाता है ॥ ३३ ॥

कृत्यानामभिशस्तानां दुरिष्टशमनं महत् ।
प्रायश्चित्तमहं कृत्वा पुनात्युभयतो दश ॥ ३४ ॥

अनन्त प्रबल मन्त्रमयी मारणशक्तिके प्रयोगसे जो भय होता है, उसे शान्त करनेका पृथ्वीका दान ही महान् साधन है। भूमिदान रूप प्रायश्चित्त करके हम पहले और पीछेकी दस पीढियोंको पवित्र किया करते हैं ॥ ३४ ॥

पुनाति य इदं वेद वेद चाहं तथैव च ।
प्रकृतिः सर्वभूतानां भूमिर्वै शाश्वती मता ॥ ३५ ॥

जो इस वेदवाक्य रूप गाथाको जानता है, वह भी अपनी दस पीढियोंको पवित्र करता है, मैं भी इसे जानता हूं। जगत्में भूमि ही सब प्राणियोंकी उत्पत्ति स्थान है और यही शाश्वती मानी गई है ॥ ३५ ॥

अभिषिच्यैव नृपतिं श्रावयेदिममागमम् ।
यथा श्रुत्वा महीं दद्यान्नादद्यात्साधुतश्च ताम् ॥ ३६ ॥

राजाको अभिषेक करते ही यह पृथ्वीकी गाथा उसे सुनावे, जिसे सुनके राजा भूमिका दान करे और साधु पुरुषोंकी भूमि न लेवे ॥ ३६ ॥

सोऽयं कृत्स्नो ब्राह्मणार्थो राजार्थश्चाप्यसंशयम् ।
राजा हि धर्मकुशलः प्रथमं भूतिलक्षणम् ॥ ३७ ॥

यह भूमि दान विषयक शास्त्र ब्राह्मणों और राजाओंके लिये वर्णित हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। धर्म जाननेवाला राजा ही प्रजाके ऐश्वर्यसूचक प्रथम लक्षण है ॥ ३७ ॥

अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिकः ।
न ते सुखं प्रबुध्यन्ते न सुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ३८ ॥

जिन लोगोंका राजा धर्मको न जाननेवाला और नास्तिक होता है, वे सुखसे जागते तथा सुखसे निद्रित नहीं होते ॥ ३८ ॥

सदा भवन्ति चोद्विग्नास्तस्य दुश्चरितैर्नराः ।
योगक्षेमा हि बहवो राष्ट्रं नास्याविशन्ति तत् ॥ ३९ ॥

मनुष्य उस राजाके दुश्चरित्रोंसे सदैव अत्यन्त व्याकुल होते हैं, उसके राज्यमें बहुतेरे योगक्षेम नहीं प्राप्त होते ॥ ३९ ॥

अथ येषां पुनः प्राज्ञो राजा भवति धार्मिकः ।
सुखं ते प्रतिबुध्यन्ते सुसुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४० ॥

और जिनका राजा बुद्धिमान् तथा धार्मिक होता है, वे लोग सुखसे जागते और परम सुखसे सोते हैं ॥ ४० ॥

तस्य राज्ञः शुभैरार्यैः कर्मभिर्निर्वृताः प्रजाः ।
योगक्षेमेण वृष्ट्या च विवर्धन्ते स्वकर्मभिः ॥ ४१ ॥

उस राजाके पवित्र राज्यमें उसके शुभकर्मोंके सहारे प्रजा संतुष्ट रहती है; उसके राज्यमें सबके योगक्षेमका निर्वाह होता है; वर्षा होती है और प्रजा अपने सुयोग्य कर्मोंसे वर्द्धित होती है ॥ ४१ ॥

स कुलीनः स पुरुषः स बन्धुः स च पुण्यकृत् ।
स दाता स च विक्रान्तो यो ददाति वसुंधराम् ॥ ४२ ॥

जो भूमिका दान करता है, वही कुलीन, वही पुरुष, वही बन्धु, वही पुण्य करनेवाला, वही दाता और वही बलवान् होता है ॥ ४२ ॥

आदित्या इव दीप्यन्ते तेजसा भुवि मानवाः ।
ददन्ति वसुधां स्फीतां ये वेदविदुषि द्विजे ॥ ४३ ॥

जो लोग वेद जाननेवाले ब्राह्मणको अधिक धन-धान्येंसे युक्त भूमिका दान करते हैं, वे भूमण्डल पर तेजपुञ्जके सहारे सूर्यकी भांति प्रकाशित होते हैं ॥ ४३ ॥

यथा बीजानि रोहन्ति प्रकीर्णानि महीतले ।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदानसमार्जिताः ॥ ४४ ॥

भूमिमें बोये हुए बीज जैसे अंकुररूपसे उत्पन्न होते हैं, वैसे ही भूमिदानसे अर्जित सब कामनाएं पूर्ण हुआ करती हैं ॥ ४४ ॥

आदित्यो वरुणो विष्णुर्ब्रह्मा सोमो हुताशनः ।
शूलपाणिश्च भगवान्प्रतिनन्दन्ति भूमिदम् ॥ ४५ ॥

सूर्य, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और भगवान् शिव भूमिदाताको अभिनन्दित करते हैं ॥ ४५ ॥

भूमौ जायन्ति पुरुषा भूमौ निष्ठां व्रजन्ति च ।
चतुर्विधो हि लोकोऽयं योऽयं भूमिगुणात्मकः ॥ ४६ ॥

मनुष्य भूमिपर ही जन्मते और भूमि ही पर पञ्चत्वको प्राप्त होते हैं, इसलिये ये अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज- ये चार प्रकारके जीवमात्र ही पार्थिव गुणमय हैं ॥ ४६ ॥

एषा माता पिता चैव जगतः पृथिवीपते ।
नानया सदृशं भूतं किंचिदस्ति जनाधिप ॥ ४७ ॥

हे पृथ्वीनाथ महाराज ! यह पृथ्वी ही जगत्की माता और पिता है, इसलिये इसके समान दूसरा कोई भी भूत नहीं है ॥ ४७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ४८ ॥

हे युधिष्ठिर ! प्राचीन लोग इस विषयमें बृहस्पति और इन्द्रके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ४८ ॥

इष्ट्वा क्रतुशतेनाथ महता दक्षिणावता ।
मघवा वाग्विदां श्रेष्ठं पप्रच्छेदं बृहस्पतिम् ॥ ४९ ॥

देवराज इन्द्रने उत्तम महत् दक्षिणायुक्त एक सौ यज्ञ करके वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिसे इस प्रकार पूछा था ॥ ४९ ॥

भगवन्केन दानेन स्वर्गतः सुखमेधते ।
यदक्षयं महार्घं च तद्ब्रूहि वदतां वर ॥ ५० ॥

हे वक्तृवर भगवन् ! कौनसी वस्तु दान करनेसे दाताको स्वर्गसे भी अधिक सुख समृद्धि होती है ? जो दान अक्षय और अधिक महत्त्वपूर्ण हो, आप उसे वर्णन करिये ॥ ५० ॥

इत्युक्तः स सुरेन्द्रेण ततो देवपुरोहितः ।
बृहस्पतिर्महातेजाः प्रत्युवाच शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥

अनन्तर देवताओंके पुरोहित महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराज इन्द्रका ऐसा वचन सुनकर उन्हें उत्तर दिया ॥ ५१ ॥

सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं च वृत्रहन् ।
दददेतान्महाप्राज्ञः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५२ ॥

हे वृत्रासुरका वध करनेवाले ! जो अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य सुवर्ण दान, गोदान और भूमि दान करता है, वह सब पापोंसे छूटता है ॥ ५२ ॥

न भूमिदानाद्देवेन्द्र परं किंचिदिति प्रभो ।
विशिष्टमिति मन्यामि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥

हे देवेन्द्र ! प्रभो ! पण्डित लोग जैसा कहा करते हैं, उसके अनुसार मैं भूमिदानसे बढके किसी दानको भी विशिष्ट वा श्रेष्ठ नहीं मानता हूं ॥ ५३ ॥

ये शूरा निहता युद्धे स्वर्याता दानगृद्धिनः ।
सर्वे ते विबुधश्रेष्ठ नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५४ ॥

हे देवश्रेष्ठ ! जो सब दानके अभिलाषी शूर पुरुष संग्राममें मरके स्वर्गमें जाते हैं, वे भूमिदाताको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ५४ ॥

भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगताः शूरा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५५ ॥

स्वामीके कल्याणके लिये नियुक्त होके युद्धमें मरकर जो लोग शरीर त्यागकर पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वे भी भूमिदाताको उत्क्रमण करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ५५ ॥

पञ्च पूर्वादिपुरुषाः षट् च ये वसुधां गताः ।
एकादश ददद्भूमिं परित्रातीह मानवः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य भूमिदान करता है, वह अपनी पांच पीढी तकके पूर्वजोंका और पृथ्वीपर आनवाली छ पीढियोंका इन ग्यारह पीढियोंका उद्धार करता है ॥ ५६ ॥

रत्नोपकीर्णां वसुधां यो ददाति पुरंदर ।
स मुक्तः सर्वकलुषैः स्वर्गलोके महीयते ॥ ५७ ॥

हे इन्द्र ! जो रत्नपूरित पृथ्वीका दान करता है, वह सब पापोंसे छूटके स्वर्ग लोकमें सम्मानित होकर निवास करता है ॥ ५७ ॥

महीं स्फीतां ददद्राजा सर्वकामगुणान्विताम् ।
राजाधिराजो भवति तद्धि दानमनुत्तमम् ॥ ५८ ॥

धन-धान्यसे सम्पन्न और सर्वकामना पूर्ण करनेवाले गुणयुक्त भूमिका दान करनेवाला मनुष्य राजाधिराज होता है, इसलिये भूमिदान ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५८ ॥

सर्वकामसमायुक्तां काश्यपीं यः प्रयच्छति ।
सर्वभूतानि मन्यन्ते मां ददातीति वासव ॥ ५९ ॥

हे इन्द्र ! जो सर्वभोगोंसे युक्त भूमिका दान करता है, उसे सब प्राणी ऐसा मानते हैं, कि यह मेरा दान करता है ॥ ५९ ॥

सर्वकामदुघां धेनुं सर्वकामपुरोगमाम् ।
ददाति यः सहस्राक्ष स स्वर्गं याति मानवः ॥ ६० ॥

हे सहस्राक्ष ! जो मनुष्य सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली और सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली गुणयुक्त कामधेनु स्वरूप भूमिका दान करता है, वह स्वर्गमें जाता है ॥ ६० ॥

मधुसर्पिःप्रवाहिन्यः पयोदधिवहास्तथा ।
सरितस्तर्पयन्तीह सुरेन्द्र वसुधाप्रदम् ॥ ६१ ॥

हे सुरेन्द्र ! इस लोकमें भूमि दान करनेवाले मनुष्यको परलोकमें मधु और घृत प्रवाहिनी, दूध तथा दहीसे बहती हुई नदियां तृप्त करती हैं ॥ ६१ ॥

भूमिप्रदानान्नृपतिर्मुच्यते राजकिल्बिषात् ।
न हि भूमिप्रदानेन दानमन्यद्विशिष्यते ॥ ६२ ॥
राजा भूमिदान करनेपर राजाओंके सब पापोंसे मुक्त होता है; भूमिदानसे बढ़के अन्य कोई दान श्रेष्ठ नहीं है ॥ ६२ ॥

ददाति यः समुद्रान्तां पृथिवीं शस्त्रनिर्जिताम् ।
तं जनाः कथयन्तीह यावद्धरति गौरियम् ॥ ६३ ॥
जो शस्त्रनिर्जित समुद्र पर्यन्त पृथ्वी प्रदान करता है, यह पृथ्वी जबतक रहेगी, तबतक उसकी कीर्ति लोग गाया करेंगे ॥ ६३ ॥

पुण्यामृद्धरसां भूमिं यो ददाति पुरंदर ।
न तस्य लोकाः क्षीयन्ते भूमिदानगुणार्जिताः ॥ ६४ ॥
हे इन्द्र ! जो पवित्र समृद्धरसशालिनी भूमिका दान करता है, उसके भूमिदानसे मिले हुए समस्त गुणान्वित लोक नष्ट नहीं होते ॥ ६४ ॥

सर्वथा पार्थिवेनेह सततं भूतिमिच्छता ।
भूर्देया विधिवच्छक्र पात्रे सुखमभीप्सता ॥ ६५ ॥
हे इन्द्र ! समस्त ऐश्वर्य चाहनेवाला और सुखकी इच्छा करनेवाला राजा सदा सत्पात्रको विधिपूर्वक भूमि दान करें ॥ ६५ ॥

अपि कृत्वा नरः पापं भूमिं दत्त्वा द्विजातये ।
समुत्सृजति तत्पापं जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ६६ ॥
जैसे सर्प अपनी पुरानी केंचुलीको छोड देता है, वैसे ही मनुष्य पापकर्म करके भी ब्राह्मणको भूमिदान करनेसे उस पापसे मुक्त हुआ करता है ॥ ६६ ॥

सागरान्सरितः शैलान्काननानि च सर्वशः ।
सर्वमेतन्नरः शक्र ददाति वसुधां ददत् ॥ ६७ ॥
हे इन्द्र ! जो मनुष्य भूमिका दान करता है, वह समुद्र, नदी, पर्वत और सम्पूर्ण वन, इन सबको ही दान किया करता है ॥ ६७ ॥

तडागान्युदपानानि स्रोतांसि च सरांसि च ।
स्नेहान्सर्वरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत् ॥ ६८ ॥
जो भूमिका दान करता है, वह तडाग, कुआ, झरना, तालाव, स्नेह और समस्त रसोंके दानका फल प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

ओषधीः क्षीरसंपन्ना नगान्पुष्पफलान्वितान् ।
कान्तोपलशैलांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥ ६९ ॥

जो पृथ्वीका दान करता है, वह रससम्पन्न ओषधि, फूल-फलसे युक्त वृक्ष, वन और पत्थरोंसे युक्त पहाड़ोंको भी दान करता है ॥ ६९ ॥

अग्निष्टोमप्रभृतिभिरिष्ट्वा च स्वाप्तदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति भूमिदानाद्यदश्नुते ॥ ७० ॥

भूमि दान करनेसे जो फल मिलता है, अग्निष्टोम प्रभृति पर्याप्त दक्षिणायुक्त यज्ञ करनेसे वैसा फल नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ७० ॥

दाता दशानुगृह्णाति दश हन्ति तथा क्षिपन् ।
पूर्वदत्तां हरन्भूमिं नरकायोपगच्छति ॥ ७१ ॥

भूमिदाता अपनी दस पीढ़ियोंको तारता है और भूमि देकर हरनेवाला अपनी दस पीढ़ियोंको नरकमें ढकेलता है; जो पुरुष पहलेकी दी हुई भूमिको हर लेता है, वह स्वयं नरकमें जाता है ॥ ७१ ॥

न ददाति प्रतिश्रुत्य दत्त्वा वा हरते तु यः ।
स बद्धो वारुणैः पाशैस्तप्यते मृत्युशासनात् ॥ ७२ ॥

जो पुरुष देनेका अभिवचन देकर दान नहीं करता और दान करके फिर उसे हर लेता है, वह मृत्युके शासनसे वरुणके पाशमें बंधकर कष्ट भोगता है ॥ ७२ ॥

आहिताग्निं सदायज्ञं कृशभृत्यं प्रियातिथिम् ।
ये भरन्ति द्विजश्रेष्ठं नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥ ७३ ॥

जो लोग आहिताग्नि, सदा यज्ञ करनेवाले, जिसके पास जीविकाका साधन नहीं है और अतिथिप्रिय श्रेष्ठ द्विजकी सेवा करते हैं, वे यमके निकट नहीं जाते ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणेष्वृणभूतं स्यात्पार्थिवस्य पुरंदर ।
इतरेषां तु वर्णानां तारयेत्कृशदुर्बलान् ॥ ७४ ॥

हे इन्द्र ! राजा ब्राह्मणोंके समीप ऋणयुक्त होवे— अर्थात् उनकी सेवा करे; इतर वर्णोंके बीच, दीन और दुर्बलोंका उद्धार करे ॥ ७४ ॥

नाच्छिन्द्यात्स्पर्शितां भूमिं परेण त्रिदशाधिप ।
ब्राह्मणाय सुरश्रेष्ठ कृशभृत्याय कश्चन ॥ ७५ ॥

हे सुरश्रेष्ठ त्रिदशेश्वर ! जिसका जीविकाका साधन नष्ट हुआ है ऐसे ब्राह्मणको दूसरेने जो भूमि दान की हो, उसे कभी आक्षेपपूर्वक ग्रहण न करे ॥ ७५ ॥

अथाश्रु पतितं तेषां दीनानामवसीदताम् ।
ब्राह्मणानां हृते क्षेत्रे हन्यात्त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ७६ ॥

भूमि हर जानसे दीन हीन दुखिये ब्राह्मणोंके जो आंसू गिरते हैं, वे तीन पीढियों तक वंशको विनष्ट करते हैं ॥ ७६ ॥

भूमिपालं च्युतं राष्ट्राद्यस्तु संस्थापयेत्पुनः ।
तस्य वासः सहस्राक्ष नाकपृष्ठे महीयते ॥ ७७ ॥

हे सहस्राक्ष ! राज्यच्युत भूपतिको जो मनुष्य फिर राज्यपर स्थापित करता है, उसका स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक निवास होता है ॥ ७७ ॥

इक्षुभिः संततां भूमिं यवगोधूमसंकुलाम् ।
गोऽश्ववाहनसंपूर्णां बाहुवीर्यसमार्जिताम् ॥ ७८ ॥

जो पुरुष गन्नेसे भरी हुई और जो-गेहूं आदिसे परिपूरित, बैल तथा घोडे प्रभृति वहानोंसे युक्त, बाहुबलसे उपार्जित ॥ ७८ ॥

निधिगर्भां ददद्भूमिं सर्वरत्नपरिच्छदाम् ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्भूमिसत्रं हि तस्य तत् ॥ ७९ ॥

रत्नगर्भा और सब रत्नोंसे युक्त भूमिका दान करता है, उसे समस्त अक्षयलोक प्राप्त होते हैं, वही उसका भूमियज्ञ कहा जाता है ॥ ७९ ॥

विधूय कलुषं सर्वं विरजाः संमतः सताम् ।
लोके महीयते सद्भिर्यो ददाति वसुंधराम् ॥ ८० ॥

जो पृथ्वीका दान करता है, वह सब पापोंसे छूटके रजोगुणसे रहित और साधुसम्मत होता है और लोकमें सज्जन लोग उसका आदर करते हैं ॥ ८० ॥

यथाप्सु पतितः शक्र तैलबिन्दुर्विसर्पति ।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विसर्पति ॥ ८१ ॥

हे इन्द्र ! जैसे जलमें डालनेसे तेलकी बूंद दूरतक फैलती है, वैसे ही भूमिदानका पुण्य प्रति फसलके सङ्ग वर्द्धित हुआ करता है ॥ ८१ ॥

ये रणाग्रे महीपालाः शूराः समितिशोभनाः ।
वध्यन्तेऽभिमुखाः शक्र ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ ८२ ॥

हे सुरराज ! जो युद्धमें शोभित शूरवीर राजा शत्रुके सम्मुख लडते हुए संग्राममें मरते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ८२ ॥

नृत्यगीतपरा नार्यो दिव्यमाल्यविभूषिताः ।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र सदा भूमिप्रदं दिवि ॥ ८३ ॥

देवेन्द्र ! दिव्य मालाओंसे विभूषित, नृत्य और गीतमें निपुण स्त्रियां स्वर्गमें भूमिदाताकी सेवामें सदैव उपस्थित होती हैं ॥ ८३ ॥

मोदते च सुखं स्वर्गे देवगन्धर्वपूजितः ।
यो ददाति महीं सम्यग्विधिनेह द्विजातये ॥ ८४ ॥

जो पुरुष इस लोकमें विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको भूमिदान करता है, वह सुरपुरमें देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित होकर सुखसे प्रसन्न होता है ॥ ८४ ॥

शतमप्सरसश्चैव दिव्यमाल्यविभूषिताः ।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र सदा भूमिप्रदं नरम् ॥ ८५ ॥

देवेन्द्र ! भूमिदाता पुरुषके निकट दिव्य मालाओंसे विभूषित सैकड़ों अप्सराएं उपस्थित होती हैं ॥ ८५ ॥

शङ्खं भद्रासनं छत्रं वराश्वा वरवारणाः ।
भूमिप्रदात्पुष्पाणि हिरण्यनिचयास्तथा ॥ ८६ ॥

भूमिदानसे शंख, भद्रासन, छत्र, श्रेष्ठ घोड़े, उत्तम हाथी, फूल तथा सुवर्णके भण्डार ॥ ८६ ॥

आज्ञा सदाप्रतिहता जयशब्दो भवत्यथ ।
भूमिदानस्य पुष्पाणि फलं स्वर्गः पुरंदर ॥ ८७ ॥

अप्रतिहत आज्ञा और जय शब्द उपस्थित हुआ करते हैं। हे इन्द्र ! भूमिदानके फूल जो हैं, उनके फलमें स्वर्ग मिलता है ॥ ८७ ॥

हिरण्यपुष्पाश्चौषध्यः कुशकाञ्चनशाड्वलाः ।
अमृतप्रसवां भूमिं प्राप्नोति पुरुषो ददत् ॥ ८८ ॥

सुवर्ण पुष्पयुक्त औषधियां, कांचन स्वरूप कुश और घास तथा अमृत उत्पन्न करनेवाली पृथ्वी जो पुरुष भूमिदान करता है, वह पाता है ॥ ८८ ॥

नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः ॥ ८९ ॥

भूमिदानके समान दूसरा कोई दान नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, सत्यके समान कोई धर्म नहीं है और दानके तुल्य कोई निधि नहीं है ॥ ८९ ॥

एतदाङ्गिरसाच्छ्रुत्वा वासवो वसुधामिमाम् ।
वसुरत्नसमाकीर्णां ददावाङ्गिरसे तदा ॥ ९० ॥

देवराज इन्द्रने बृहस्पतिके मुखसे यह भूमिदानकी कथा सुनके उन्हें ही उस समय धन और रत्नोंसे भरी हुई यह पृथ्वी दान की थी ॥ ९० ॥

य इमं श्रावयेच्छ्राद्धे भूमिदानस्य संस्तवम्।
न तस्य रक्षसां भागो नासुराणां भवत्युत ॥ ९१ ॥

जो श्राद्धके समय इस भूमिदानके महात्म्यकी कथा सुनता है, उसे राक्षस अथवा असुरोंके भागकी कल्पना नहीं करनी पडती ॥ ९१ ॥

अक्षयं च भवेद्दत्तं पितृभ्यस्तन्न संशयः।
तस्माच्छ्राद्धेष्विदं विप्रो भुञ्जतः श्रावयेद्द्विजान् ॥ ९२ ॥

पितरोंके निमित्त वह जो दान करता है, वह निःसन्देह अक्षय होता है। इसलिये विद्वान् पुरुष श्राद्धके समय भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको यह भूमिदानका महात्म्य सुनावे ॥ ९२ ॥

इत्येतत्सर्वदानानां श्रेष्ठमुक्तं तवानघ।
मया भरतशार्दूल किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ २७७६ ॥

हे पापरहित भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे समीप सब दानोंके बीच श्रेष्ठदानका विषय कहा है, फिर कौनसे विषयको सुननेकी इच्छा करते हो ? ॥ ९३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ २७७६ ॥

: ६२ :

युधिष्ठिर उवाच—

कानि दानानि लोकेऽस्मिन्दातुकामो महीपतिः।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद्भरतसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतसत्तम ! इस लोकमें दान करनेकी कामना करनेवाला राजा अधिक गुणवाले ब्राह्मणोंको किन किन वस्तुओंका प्रदान करे ? ॥ १ ॥

केन तुष्यन्ति ते सद्यस्तुष्टाः किं प्रदिशन्त्युत।
शंस मे तन्महाबाहो फलं पुण्यकृतं महत् ॥ २ ॥

ब्राह्मण लोग कैसे दानसे उसही समय प्रसन्न होते हैं ? प्रसन्न होके क्या प्रदान करते हैं ? हे महाबाहो ! मेरे निकट इस पुण्यजनक महत् फलके विषयको वर्णन करिये ॥ २ ॥

दत्तं किं फलवद्राजन्निह लोके परत्र च।
भवतः श्रोतुमिच्छामि तन्मे विस्तरतो वद ॥ ३ ॥

हे राजन् ! कौन वस्तु दान करनेसे इसलोकमें और परलोकमें विशेष फलित होती है ? उसे मैं आपके समीप सुननेकी इच्छा करता हूं, आप वह विषय मेरे निकट विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥

×

भीष्म उवाच—

इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः ।
यदुक्तवानसौ तन्मे गदतः श्रृणु भारत ॥ ४ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! पहले यह विषय मैंने देवर्षि नारदसे पूछा था, उन्होंने जो कथा कही थी, उसे कहता हूं, सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच—

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
लोकतन्त्रं हि यज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

नारद मुनि बोले– देवता और ऋषि अन्नकीही प्रशंसा करते हैं, समस्त लोकयात्रा और यज्ञ अन्नमें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५ ॥

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ६ ॥

अन्नदानके सदृश दूसरा दान न हुआ और न होगा; इस ही लिये मनुष्य विशेष रीतिसे अन्नदान करनेकी इच्छा करते हैं ॥ ६ ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः ।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥ ७ ॥

इस लोकमें अन्न ही बलकारक है, सबका प्राण अन्नसे ही प्रतिष्ठित है। हे प्रभु ! सारे जगत्को अन्न ही धारण करता है ॥ ७ ॥

अन्नाद्गृहस्था लोकेऽस्मिन्भिक्षवस्तत एव च ।
अन्नात्प्रभवति प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ ८ ॥

इस जगत्में गृहस्थ और भिक्षुक अन्नसेही जीते हैं; यह निःसन्देह प्रत्यक्ष है, कि अन्नसेही प्राण उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

कुटुम्बं पीडयित्वापि ब्राह्मणाय महात्मने ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥ ९ ॥

अपने ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला मनुष्य कुटुम्बवत्सल, अन्नके लिये पीडित, महानुभाव ब्राह्मणको और भिक्षुकको अन्नदान करे ॥ ९ ॥

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने ।
निदधाति निधिं श्रेष्ठं पारलौकिकमात्मनः ॥ १० ॥

जो सद्वंशमें उत्पन्न हुए याचक ब्राह्मणको अन्नदान करता है, वह अपने पारलौकिक निधिका विधान किया करता है ॥ १० ॥

श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम् ।
अर्चयेद् भूतिमन्विच्छन्गृहस्थो गृहमागतम् ॥ ११ ॥

गृहस्थ पुरुष ऐश्वर्यकी इच्छा करते हुए रास्तेका थका पथिक, वृद्ध, पूज्य, सहसा उपस्थित हुए और गृहमें आये अतिथिकी पूजा करें ॥ ११ ॥

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अन्नदः प्राप्नुते राजन्दिवि चेह च यत्सुखम् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! राग-द्वेषको त्यागके सुशील और मत्सररहित होके जो पुरुष अन्नदान करता है, वह स्वर्ग तथा इस लोकमें सुख लाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ १२ ॥

नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात्कथंचन ।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥ १३ ॥

अपने घरपर उपस्थित अतिथिका अपमान न करें, किसी प्रकार भी उसे डांटना नहीं क्यों कि चाण्डाल अथवा कुत्तेको भी अन्नदान करनेसे उस दानका फल विनष्ट नहीं होता ॥१३॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो थके हुए और अपरिचित पथिकको प्रसन्नतापूर्वक अन्नदान करता है, उसे महान् धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

पितॄन्देवानृषीन्विप्रानतिथींश्च जनाधिप ।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥ १५ ॥

हे प्रजानाथ ! जो पितरों, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों और ब्राह्मणोंको अन्नके द्वारा प्रीतियुक्त करता है, उसके पुण्यका फल अत्यन्त महान् है ॥ १५ ॥

कृत्वापि पापकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन युज्यते ॥ १६ ॥

अत्यन्त पापका कर्म करके भी जो पुरुष याचकको, विशेष करके ब्राह्मणको अन्नदान करता है, वह अपने पापसे संयुक्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।
अन्नदानं च शूद्रे च ब्राह्मणे च विशिष्यते ॥ १७ ॥

ब्राह्मणको अन्नदान करनेसे अक्षय फल प्राप्त होता है और शूद्रको अन्न देनेसे महाफल होता है; शूद्रको या ब्राह्मणको अन्नदान करनेसे उसका विशिष्ट फल हुआ करता है ॥ १७ ॥

न पृच्छेद्गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव वा ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह जन्म वान्नं प्रयाचितः ॥ १८ ॥

ब्राह्मण जब अन्नकी याचना करे तब उसके गोत्र, शाखा, स्वाध्याय, निवासस्थान अथवा जन्म आदि–गृहस्थ पुरुष न पूछके, उसे मांगनेपर अन्नदान करे ॥ १८ ॥

अन्नदस्यान्नवृक्षाश्च सर्वकामफलान्विताः ।
भवन्तीहाथ वामुत्र नृपते नात्र संशयः ॥ १९ ॥

हे महाराज ! अन्नदाताके अन्नरूप वृक्षसमूह इस लोक और परलोकमें सब कामनाके फल प्रदान किया करते हैं, इस विषयमें सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वान्नं प्रदास्यति ॥ २० ॥

जैसे किसान अच्छी वृष्टिकी इच्छा करते हैं, वैसेही "मेरा पुत्र अथवा पौत्र भी हमारे लिये अन्न प्रदान करेगा"– पितरवृन्द ऐसी ही आशा किया करते हैं ॥ २० ॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतं स्वयं देहीति याचते ।
अकामो वा सकामो वा दत्त्वा पुण्यमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

ब्राह्मण एक महान् जीव है, जब वह स्वयं "देहि" कहके अन्नके लिये प्रार्थना करता है, तब मनुष्य चाहे अकाम भावसे अथवा सकाम भावसे उसे अन्न देकर पुण्य प्राप्त करे ॥ २१ ॥

ब्राह्मणः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ।
विप्रा यमधिगच्छन्ति भिक्षमाणा गृहं सदा ॥ २२ ॥

ब्राह्मण सब प्राणियोंका अतिथि और सबसे पहले भोजनका अधिकारी है; ब्राह्मण लोग जिसके घरपर सदा भिक्षा मांगनेके लिये जाते हैं ॥ २२ ॥

सत्कृताश्च निवर्तन्ते तदतीव प्रवर्धते ।
महाभागे कुले जन्म प्रेत्य प्राप्नोति भारत ॥ २३ ॥

और वहांसे सत्कारयुक्त होके निवृत्त होते हैं, वह गृह बहुत ही संपत्तियुक्त होता है । हे भारत ! वह गृहस्थ मरनेके बाद महाऐश्वर्ययुक्त कुलमें जन्मता है ॥ २३ ॥

दत्त्वा त्वन्नं नरो लोके तथा स्थानमनुत्तमम् ।
मृष्टमृष्टान्नदायी तु स्वर्गे वसति सत्कृतः ॥ २४ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें अन्न उत्तम स्थान और अभिलषित मिष्टान्नका दान करता है, वह स्वर्गलोकमें देवताओंसे सत्कारयुक्त होके निवास किया करता है ॥ २४ ॥

अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान्पुत्री धनवान्भोगवानपि ॥ २५ ॥

अन्न ही मनुष्योंके प्राण हैं, अन्नमें ही सब प्रतिष्ठित है; अन्नदाता पशु, पुत्र, धन, भोग ॥ २५ ॥

प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥ २६ ॥

प्राण और रूप प्राप्त करता है । हे महाराज ! अन्नदाता इस लोकमें प्राणदाता और सर्वस्व देनेवाला कहके वर्णित होता है ॥ २६ ॥

अन्नं हि दत्त्वातिथये ब्राह्मणाय यथाविधि ।
प्रदाता सुखमाप्नोति दैवैश्चाप्यभिपूज्यते ॥ २७ ॥

अतिथि ब्राह्मणको विधिपूर्वक अन्नदान करनेसे दाताको सुख मिलता है तथा वह देवताओंसे भी पूजित होता है ॥ २७ ॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतं क्षेत्रं चरति पादवत् ।
उप्यते तत्र यद्बीजं तद्धि पुण्यफलं महत् ॥ २८ ॥

ब्राह्मण महान् जीव है और अतिथिके समान सब क्षेत्रोंमें घूमता है; उसमें जो बीज उगता है, वही महत् पुण्यका फल देनेवाला है ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तृदात्रोर्भवत्युत ।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥ २९ ॥

भोक्ता और दाता दोनोंको अन्नदान प्रत्यक्ष रूपसे प्रसन्न करता है; दूसरे समस्त दान परोक्षमें फलविशिष्ट हुआ करते हैं ॥ २९ ॥

अन्नाद्धि प्रसवं विद्धि रतिमन्नाद्धि भारत ।
धर्मार्थावन्नतो विद्धि रोगनाशं तथान्नतः ॥ ३० ॥

हे भारत ! अन्नसे ही उत्पत्ति अर्थात् पुत्र आदि प्राप्त होते हैं, अन्नसे ही रति उपजती है; धर्म और अर्थ अन्नसे ही हुआ करता है तथा यह भी जान रखो, कि अन्नसे ही रोग नष्ट होते हैं ॥ ३० ॥

अन्नं ह्यमृतमित्याह पुराकल्पे प्रजापतिः ।
अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

पूर्वकल्पमें प्रजापतिने अन्नकोही अमृत कहा है; अन्न ही भूलोक, स्वर्ग और आकाश स्वरूप है; अन्नसे ही सब प्रतिष्ठित है ॥ ३१ ॥

अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ।
बलं बलवतोऽपीह प्रणश्यत्यन्नहानितः ॥ ३२ ॥

अन्नका आहार न मिलनेसे शरीरमें रहनेवाले पांचों तत्त्व विभिन्न होते हैं; अन्नके अभावसे बलवान् पुरुषका बल नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा ।
न वर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते ॥ ३३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! अन्नके विना लोकयात्रा, विवाह और यज्ञ भी नहीं निभते; इस अन्नके अभावमें वेदोंका ज्ञान भी लुप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

अन्नतः सर्वमेतद्धि यत्किंचित्स्थाणु जङ्गमम् ।
त्रिषु लोकेषु धर्मार्थमन्नं देयमतो बुधैः ॥ ३४ ॥

यह स्थावर–जङ्गम रूप जो जगत् है, वह सब अन्नसे ही प्रतिष्ठित है, इसलिये पंडितोंको योग्य है, कि तीनों लोकोंमें धर्म और अर्थके लिये अन्नदान करें ॥ ३४ ॥

अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशः सुखम् ।
कीर्तिश्च वर्धते शश्वत्त्रिषु लोकेषु पार्थिव ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! अन्नदाता मनुष्यका बल, वीर्य, यश, सुख और कीर्ति त्रिभुवनोंके बीच सदा वर्द्धित होती है ॥ ३५ ॥

मेघेष्वम्भः संनिधत्ते प्राणानां पवनः शिवः ।
तच्च मेघगतं वारि शक्रो वर्षति भारत ॥ ३६ ॥

हे भारत ! प्राणोंका कल्याणमय पति पवन बादलोंमें जलरूपसे निवास करता है; इन्द्र उन बादलोंमें जल जो है, उसे बरसाता है ॥ ३६ ॥

आदत्ते च रसं भौममादित्यः स्वगभस्तिभिः ।
वायुरादित्यतस्तांश्च रसान्देवः प्रजापतिः ॥ ३७ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे भूमिका रस ग्रहण करता है; पवन प्रजापति आदित्यसे प्रतप्त रसोंको लेकर फिर बरसाया करता है ॥ ३७ ॥

तद्यदा मेघतो वारि पतितं भवति क्षितौ ।
तदा वसुमती देवी स्निग्धा भवति भारत ॥ ३८ ॥

हे भारत ! जब बादलोंसे जल पृथ्वीपर गिरता है, तब पृथ्वीदेवी शीतल होती है ॥ ३८ ॥

ततः सस्यानि रोहन्ति येन वर्तयते जगत् ।
मांसमेदोस्थिशुक्राणां प्रादुर्भावस्ततः पुनः ॥ ३९ ॥

अनन्तर उस गिली भूमिसे अनाजके अंकुर उत्पन्न होते हैं, जिससे जगतके जीवोंका निर्वाह होता है । उस अन्नसे शरीरमें मांस, मेद, हड्डी और वीर्यका प्रादुर्भाव होता है ॥ ३९ ॥

संभवन्ति ततः शुक्रात्प्राणिनः पृथिवीपते ।
अग्नीषोमौ हि तच्छुक्रं प्रजनः पुष्यतश्च ह ॥ ४० ॥

हे पृथ्वीपति ! उस वीर्यसे ही प्राणिवृन्द उत्पन्न होते हैं । अग्नि और चन्द्रमा उस शुक्रको उत्पन्न तथा पोषण करते हैं ॥ ४० ॥

एवमन्नं च सूर्यश्च पवनः शुक्रमेव च ।
एक एव स्मृतो राशिर्यतो भूतानि जज्ञिरे ॥ ४१ ॥

इस ही भांति अन्नके हेतु सूर्य, पवन तथा शुक्र एकही राशि कहके स्मृत हुए हैं, और उसहीसे सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं ॥ ४१ ॥

प्राणान्ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ ।
गृहमभ्यागतायाशु यो दद्यादन्नमर्थिने ॥ ४२ ॥

हे भरतर्षभ ! जो गृहपर आये हुए अतिथिको त्वरित अन्नदान करता है, वह सब जीवोंको प्राणदान तथा तेज प्रदान किया करता है ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच—
नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप ।
अनसूयुस्त्वमप्यन्नं तस्माद्देहि गतज्वरः ॥ ४३ ॥

भीष्म बोले– हे महाराज ! नारदमुनिके मुखसे यह अन्नदानके महात्म्यकी कथा सुनके उस ही समयसे मैं सदा अन्नदान किया करता था, इसलिये तुम असूयाशून्य तथा शोकरहित होके अन्नदान करो ॥ ४३ ॥

दत्त्वान्नं विधिवद्राजन्विप्रेभ्यस्त्वमपि प्रभो ।
यथावदनुरूपेभ्यस्ततः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ४४ ॥

हे महाराज ! तुम सुयोग्य ब्राह्मणोंको विधियुक्त अन्नदान करके उसके पुण्यसे स्वर्गलोक पाओगे ॥ ४४ ॥

अन्नदानां हि ये लोकास्तांस्त्वं शृणु नराधिप ।
भवनानि प्रकाशन्ते दिवि तेषां महात्मनाम् ।
नानासंस्थानरूपाणि नानास्तम्भान्वितानि च ॥ ४५ ॥

हे प्रजानाथ ! अन्नदाता पुरुषोंको जो सब लोक प्राप्त होते हैं, उनको सुनो । स्वर्गमें उन महानुभावोंके भवन प्रकाशित होते रहते हैं, वे उनके गृह अनेक प्रकारके रूप–संपन्न विविध स्तम्भोंसे युक्त होते हैं ॥ ४५ ॥

चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च ।
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ॥ ४६ ॥

वे चन्द्रमण्डलकी भांति उज्ज्वल, छोटी छोटी घंटियोंसे शोभित झालरोंसे युक्त, उदित सूर्यके समान लाल रंगसे युक्त होते हैं; कितने स्थावर हैं और कितने विचरते रहते हैं ॥ ४६ ॥

अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ।
वैडूर्यार्कप्रकाशानि रौप्यरुक्ममयानि च ॥ ४७ ॥

उनमें सैकडों कक्षाएं होती हैं और मनोहर जलयुक्त वन होते हैं। कितने वैडूर्य मणि तथा सूर्यसदृश प्रकाशमान, चांदी और सोनेके बने हुए विद्यमान हैं ॥ ४७ ॥

सर्वकामफलाश्चापि वृक्षा भवनसंस्थिताः ।
वाप्यो वीथ्यः सभाः कूपा दीर्घिकाश्चैव सर्वशः ॥ ४८ ॥

उन गृहोंमें सर्वकामफलप्रद वृक्ष लगे हुए हैं। उनमें चारों ओर बावडियां, गलियां, सभा भवन, कूप, तालाब ॥ ४८ ॥

घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ।
भक्ष्यभोज्यमयाः शैला वासांस्याभरणानि च ॥ ४९ ॥

और शब्द घोष करनेवाले सहस्रों जुते हुए वाहन होते हैं; भक्ष्य और भोज्य पदार्थोंके पर्वत, वस्त्र और आभूषण हैं ॥ ४९ ॥

क्षीरं स्रवन्त्यः सरितस्तथा चैवान्नपर्वताः ।
प्रासादाः पाण्डुराभ्राभाः शय्याश्च कनकोज्ज्वलाः ।
तानन्नदाः प्रपद्यन्ते तस्मादन्नप्रदो भव ॥ ५० ॥

वहां दूध बहानेवाली नदियां और अन्नोंके पर्वत हैं; वहां पाण्डुरवर्ण बादलोंके समान समस्त गृह और सुवर्णखचित प्रकाशपूर्ण शय्याएं विद्यमान हैं; अन्नदाता उन वस्तुओंको पाते हैं, इसलिये तुम अन्नदान करो ॥ ५० ॥

एते लोकाः पुण्यकृतामन्नदानां महात्मनाम् ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं मानवैर्भुवि ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ २८२७ ॥

महानुभाव पुण्य करनेवाले अन्नदाता पुरुषोंके लिये ये समस्त लोक निश्चित हैं, इसलिये पृथ्वीमण्डलपर मनुष्योंको योग्य है, कि सब प्रकार प्रयत्नके सहारे अन्नदान करें ॥ ५१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ २८२७ ॥

: ६३ :

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुतं मे भवतो वाक्यमन्नदानस्य यो विधिः ।
नक्षत्रयोगस्येदानीं दानकल्पं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— मैंने अन्नदानकी विधि विषयक आपका वचन सुना; अब किस नक्षत्रयोगमें किस वस्तुका दान करनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है, उसे मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
देवक्याश्चैव संवादं देवर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्म बोले— प्राचीन लोग इस विषयमें देवकी और नारद महर्षिके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

द्वारकामनुसंप्राप्तं नारदं देवदर्शनम् ।
पप्रच्छैनं ततः प्रश्नं देवकी धर्मदर्शिनी ॥ ३ ॥

देवर्षि नारदके द्वारकामें उपस्थित होनेपर धर्मदर्शिनी देवकीने उन्हें यही विषय पूछा ॥ ३ ॥

तस्याः संपृच्छमानाया देवर्षिर्नारदस्तदा ।
आचष्ट विधिवत्सर्वं यत्तच्छृणु विशां पते ॥ ४ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर देवर्षि नारदने देवकीके इस प्रकार पूछनेपर जो उस समय विधिपूर्वक बातें कही थीं, उन्हें तुम सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच—

कृत्तिकासु महाभागे पायसेन ससर्पिषा ।
संतर्प्य ब्राह्मणान्साधूँल्लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ५ ॥

नारद बोले— हे महभागे ! कृत्तिका नक्षत्रमें घृत सहित पायससे साधु ब्राह्मणोंको तृप्त करनेसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

रोहिण्यां प्रथितैर्मांसैर्माषैरन्नेन सर्पिषा ।
पयोऽनुपानं दातव्यमानृण्यार्थं द्विजातये ॥ ६ ॥

रोहिणी नक्षत्रमें आनृण्यके हेतु ब्राह्मणोंको विपुल फलके गूदे और घृत, दूध तथा अन्नदान करना चाहिये ॥ ६ ॥

दोग्ध्रीं दत्त्वा सवत्सां तु नक्षत्रे सोमदैवते ।
गच्छन्ति मानुषाल्लोकात्स्वर्गलोकमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

सोमदैवत मृगशिरा नक्षत्रमें बछडे युक्त दूध देनेवाली गौका दान करनेसे दाता पुरुष मृत्युके बाद इस लोकसे अत्यन्त श्रेष्ठ स्वर्गलोकमें गमन किया करते हैं ॥ ७ ॥

आर्द्रायां कृसरं दत्त्वा तैलमिश्रमुपोषितः ।
नरस्तरति दुर्गाणि क्षुरधारांश्च पर्वतान् ॥ ८ ॥

आर्द्रा नक्षत्रमें उपवास करके तिल मिले हुए खिचडी दान करनेसे मनुष्य उन क्लेशों तथा क्षुरकी धारवाले पर्वतोंसे पार होता है ॥ ८ ॥

×

अपूपान्पुनर्वसौ दत्त्वा तथैवान्नानि शोभने ।
यशस्वी रूपसंपन्नो बह्वन्ने जायते कुले ॥ ९ ॥

हे शोभने ! पुनर्वसु नक्षत्रमें घृतयुक्त पिण्डाकार पूपपुञ्ज तथा अनेक प्रकारके अन्नदान करनेसे मनुष्य यशस्वी और रूपवान् होकर बहुतेरे अन्नोंसे पवित्र कुलमें जन्मता है ॥ ९ ॥

पुष्ये तु कनकं दत्त्वा कृतं चाकृतमेव च ।
अनालोकेषु लोकेषु सोमवत्स विराजते ॥ १० ॥

पुष्य नक्षत्रमें सोनेका आभूषण और केवल सुवर्ण ही दान करनेसे मनुष्य प्रकाशरहित लोकोंमें भी चन्द्रमाकी भांति विराजता है ॥ १० ॥

आश्लेषायां तु यो रूप्यमृषभं वा प्रयच्छति ।
स सर्वभयनिर्मुक्तः शास्त्रवानधितिष्ठति ॥ ११ ॥

आश्लेषा नक्षत्रमें जो चांदी अथवा वृषभ प्रदान करता है, वह सर्वभयसे छूटके शास्त्रवान् होता है ॥ ११ ॥

मघासु तिलपूर्णानि वर्धमानानि मानवः ।
प्रदाय पुत्रपशुमानिह प्रेत्य च मोदते ॥ १२ ॥

मघा नक्षत्रमें तिलपूरित वर्धमान पात्र प्रदान करनेसे मनुष्य इस लोकमें पुत्रवान् और पशुओंसे सम्पन्न होकर परलोकमें आनन्दित हुआ करता है ॥ १२ ॥

फल्गुनीपूर्वसमये ब्राह्मणानामुपोषितः ।
भक्षान्फाणितसंयुक्तान्दत्त्वा सौभाग्यमृच्छति ॥ १३ ॥

पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रमें उपवासी होकर ब्राह्मणोंको मक्खन संयुक्त भक्ष्य सामग्री प्रदान करनेसे मनुष्यको सौभाग्य प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

घृतक्षीरसमायुक्तं विधिवत्षष्टिकौदनम् ।
उत्तराविषये दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ १४ ॥

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें विधिपूर्वक घृत और क्षीरयुक्त साठीके चावलके भातका अन्नदान करनेसे मनुष्य स्वर्ग लोकमें सम्मानित होता है ॥ १४ ॥

यद्यत्प्रदीयते दानमुत्तराविषये नरैः ।
महाफलमनन्तं च भवतीति विनिश्चयः ॥ १५ ॥

उत्तरा फल्गुनी नक्षत्रमें मनुष्य जिन वस्तुओंको दान करते हैं, वह दान महाफलजनक और अनन्त हुआ करता है, यह शास्त्रोंका निश्चय है ॥ १५ ॥

हस्ते हस्तिरथं दत्त्वा चतुर्युक्तमुपोषितः ।
प्राप्नोति परमाल्लँोकान्पुण्यकामसमन्वितान् ॥ १६ ॥
हस्त नक्षत्रमें उपवासी होकर ध्वजा, पताका, चंदोवा और किंकिणि जल-- इन चार वस्तुओंसे युक्त हाथी जुते हुए रथको दान करनेसे मनुष्य पुण्यकामयुक्त परम पवित्र लोकोंको पाता है ॥ १६ ॥

चित्रायामृषभं दत्त्वा पुण्यान्गन्धांश्च भारत ।
चरत्यप्सरसां लोके रमते नन्दने तथा ॥ १७ ॥
हे भारत ! चित्रा नक्षत्रमें उत्तम बैल और पुण्यगन्ध प्रदान करनेसे मनुष्य अप्सराओंके लोकोंमें क्रीडा करता तथा नन्दनवनमें आमोद किया करता है ॥ १७ ॥

स्वात्यामथ धनं दत्त्वा यदिष्टतममात्मनः ।
प्राप्नोति लोकान्स शुभानिह चैव महद्यशः ॥ १८ ॥
स्वाती नक्षत्रमें जो इच्छानुसार अपनी प्रियतम वस्तुका दान करता है, वह इस लोकमें महत् यश लाभ करके, परलोकमें शुभ लोकोंको पाता है ॥ १८ ॥

विशाखायामनड्वाहं धेनुं दत्त्वा च दुग्धदाम् ।
सप्रासङ्गं च शकटं सधान्यं वस्त्रसंयुतम् ॥ १९ ॥
विशाखा नक्षत्रमें छकडेको खींचनेमें समर्थ वृषभ, दूध देनेवाली गाय, धान्य आदि पिधान-योग्य चतुरस्र, प्रासङ्गयुक्त, अन्नसे भरे छकडे और वस्त्रदान करनेसे, ॥ १९ ॥

पितृन्देवांश्च प्रीणाति प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।
न च दुर्गाण्यवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ २० ॥
मनुष्य पितरों तथा देवताओंको प्रीतियुक्त करके परलोकमें अनन्त सुख भोग किया करता है; जीते जी वह संकटमें नहीं पडता और वह स्वर्गमें जाता है ॥ २० ॥

दत्त्वा यथोक्तं विप्रेभ्यो वृत्तिमिष्टां स विन्दति ।
नरकादींश्च संक्लेशान्नाप्नोतीति विनिश्चयः ॥ २१ ॥
जो ब्राह्मणोंको पूर्वोक्त वस्तुदान करता है, निश्चय ही वह निज अभिलषित वृत्ति पाता और कदापि नरक आदि क्लेशोंको नहीं भोगता ॥ २१ ॥

अनुराधासु प्रावारं वस्त्रान्तरमुपोषितः ।
दत्त्वा युगशतं चापि नरः स्वर्गे महीयते ॥ २२ ॥
अनुराधा नक्षत्रमें उपवास करके जो पुरुष ओढनेके और अंदरके वस्त्र दान करता है, वह सौ युगोंतक स्वर्गमें सम्मानके साथ वास किया करता है ॥ २२ ॥

कालशाकं तु विप्रेभ्यो दत्त्वा मर्त्यः समूलकम्।
ज्येष्ठायामृद्धिमिष्टां वै गतिमिष्टां च विन्दति ॥ २३ ॥

ज्येष्ठा नक्षत्रमें जो मनुष्य ब्राह्मणोंको समयोचित मूलके सहित शाक दान करता है, वह अभिलषित समृद्धि और गति पाता है ॥ २३ ॥

मूले मूलफलं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
पितॄन्प्रीणयते चापि गतिमिष्टां च गच्छति ॥ २४ ॥

मूल नक्षत्रमें एकचित्त होके ब्राह्मणोंको फल मूल दान करनेसे पितरोंकी पीतिका विधान तथा अभिलषित गति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

अथ पूर्वास्वषाढासु दधिपात्राण्युपोषितः।
कुलवृत्तोपसंपन्ने ब्राह्मणे वेदपारगे।
प्रदाय जायते प्रेत्य कुले सुबहुगोकुले ॥ २५ ॥

पूर्वाषाढा नक्षत्रमें उपवासी होके कुल और सद् वृत्तिसम्पन्न वेद जाननेवाले ब्राह्मणको दधिपात्र दान करनेसे पुरुष दूसरे जन्ममें अनेक गोधनयुक्त वंशमें जन्मता है ॥ २५ ॥

उदमन्थं ससर्पिष्कं प्रभूतमधुफाणितम्।
दत्त्वोत्तरास्वषाढासु सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ २६ ॥

उत्तराषाढा नक्षत्रमें घृत और जल भरे हुए घडेसे युक्त सत्तू मधु तथा क्षीरसे बनी हुई मिष्टान्नयुक्त वस्तु दान करनेसे मनुष्य समस्त काम्य विषयोंको पाता है ॥ २६ ॥

दुग्धं त्वभिजिते योगे दत्त्वा मधुघृताप्लुतम्।
धर्मनित्यो मनीषिभ्यः स्वर्गलोके महीयते ॥ २७ ॥

उत्तराषाढाके शेष और श्रवणके प्रथम भाग अभिजित योगमें मनीषियोंको दूध, मधु और घृत दान करनेसे धर्ममें रत मनुष्य स्वर्ग लोकमें सम्मानपूर्वक निवास किया करता है ॥२७॥

श्रवणे कम्बलं दत्त्वा वस्त्रान्तरितमेव च।
श्वेतेन याति यानेन सर्वं लोकानसंवृतान् ॥ २८ ॥

श्रवण नक्षत्रमें वस्त्र वेष्टित कम्बल दान करनेसे मनुष्य श्वेतवर्ण विमानके सहारे खुले हुए स्वर्गलोकमें गमन करता है ॥ २८ ॥

गोप्रयुक्तं धनिष्ठासु यानं दत्त्वा समाहितः।
वस्त्ररश्मिधनं सद्यः प्रेत्य राज्यं प्रपद्यते ॥ २९ ॥

धनिष्ठा नक्षत्रमें एकाग्रचित्त होकर वस्त्र तथा रश्मिसे युक्त बैलगाडी दान करनेसे परलोकमें शीघ्रही राज्य प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

गन्धानगुरुकाष्ठानि शतभिषग्योगे दत्त्वा सानुचन्दनान् ।
प्राप्नोत्यप्सरसां लोकान्प्रेत्य गन्धांश्च शाश्वतान् ॥ ३० ॥

शतभिषाके योग नक्षत्रमें अगुरु, चन्दन और सुगन्ध सहित वस्तुओंको दान करनेसे मनुष्य परलोकमें अप्सराओंके लोकमें शाश्वत गन्धोंको पाता है ॥ ३० ॥

पूर्वभाद्रपदायोगे राजमाषान्प्रदाय तु ।
सर्वभक्षफलोपेतः स वै प्रेत्य सुखी भवेत् ॥ ३१ ॥

पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्रके योगमें राजमाष अर्थात् बडी उडद दान करनेसे परलोकमें सर्वभक्ष्य फलोंसे युक्त होकर पुरुष सुखी होता है ॥ ३१ ॥

औरभ्रमुत्तरायोगे यस्तु मांसं प्रयच्छति ।
स पितॄन्प्रीणयति वै प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ३२ ॥

उत्तराभाद्रपदा नक्षत्रके योगमें जो औरभ्रफलका गूदा दान करता है, वह पितरोंको प्रसन्न करते हुए परलोकमें अनन्त सुख भोग किया करता है ॥ ३२ ॥

कांस्योपदोहनां धेनुं रेवत्यां यः प्रयच्छति ।
सा प्रेत्य कामानादाय दातारमुपतिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो रेवती नक्षत्रमें कांसेके दोहनपात्रसे युक्त गोदान करता है, उसके परलोकमें जानेपर वही गौ सर्वकाम्य विषयोंको ग्रहण करके उस दाताके निकट उपस्थित होती है ॥ ३४ ॥

रथमश्वसमायुक्तं दत्त्वाश्विन्यां नरोत्तमः ।
हस्त्यश्वरथसंपन्ने वर्चस्वी जायते कुले ॥ ३४ ॥

जो पुरुषश्रेष्ठ अश्विनी नक्षत्रमें घोडेसे युक्त रथका दान करता है, वह हाथी, घोडे और रथोंसे परिपूर्ण कुलमें तेजस्वी पुत्र रूपसे जन्मता है ॥ ३४ ॥

भरणीषु द्विजातिभ्यस्तिलधेनुं प्रदाय वै ।
गाः सुप्रभूताः प्राप्नोति नरः प्रेत्य यशस्तथा ॥ ३५ ॥

भरणी नक्षत्रमें ब्राह्मणोंको तिलमयी गौका दान करनेसे, इस लोकमें बहुतसी गौओंको और परलोकमें उत्तम यश पाता है ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच—

इत्येष लक्षणोद्देशः प्रोक्तो नक्षत्रयोगतः ।
देवक्या नारदेनेह सा स्नुषाभ्योऽब्रवीदिदम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ २८६३ ॥

भीष्म बोले— नारद मुनिने देवकीसे नक्षत्रयोगके अनुसार यही सब दानका लक्षण कहा, और देवकीने अपनी पुत्रवधुओंसे यह सब वृत्तान्त कहा था ॥ ३६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तिरसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ २८६३ ॥

भीष्म उवाच—

सर्वान्कामान्प्रयच्छन्ति ये प्रयच्छन्ति काञ्चनम्।
इत्येवं भगवानत्रिः पितामहसुतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्म बोले– ब्रह्माके पुत्र अत्रि भगवानने ऐसा कहा है, कि जो लोग सुवर्ण प्रदान करते हैं, वे समस्त काम्य वस्तु दान किया करते हैं ॥ १ ॥

पवित्रं शुच्यथायुष्यं पितॄणामक्षयं च तत्।
सुवर्णं मनुजेन्द्रेण हरिश्चन्द्रेण कीर्तितम् ॥ २ ॥

राजा हरिश्चन्द्रने कहा है, कि सुवर्ण पवित्र, मङ्गल– निर्मल, आयुष्य बढानेवाला और पितरोंको अक्षय गति देनेवाला है ॥ २ ॥

पानीयदानं परमं दानानां मनुरब्रवीत्।
तस्माद्वापीश्च कूपांश्च तडागानि च खानयेत् ॥ ३ ॥

मनुने सब दानोंके बीच जलदानको परम श्रेष्ठ दान कहा है, इसलिये बावली, कूप और तालाब प्रभृति खुदवाना चाहिये ॥ ३ ॥

अर्धं पापस्य हरति पुरुषस्येह कर्मणः।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सुप्रवृत्तश्च नित्यशः ॥ ४ ॥

प्रतिदिन लोग जिस कूएंके अच्छे जलको पीते हैं, वह कूआं कूप खोदनेवालेके पापका आधा भाग हर लेता है ॥ ४ ॥

सर्वं तारयते वंशं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति विप्राश्च साधवश्च नराः सदा ॥ ५ ॥

जिसके खोदे हुए तालाबमें गौ, ब्राह्मण और साधु पुरुष सदा जल पीते हैं, वह तालाब उस मनुष्यके समस्त वंशका उद्धार किया करता है ॥ ५ ॥

निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठत्यवारितम्।
स दुर्गं विषमं कृच्छ्रं न कदाचिदवाप्नुते ॥ ६ ॥

ग्रीष्म ऋतुमें जिसका तालाब जलसे भरा रहता है, वह कदापि अत्यन्त विषम क्लेशोंको नहीं पाता ॥ ६ ॥

बृहस्पतेर्भगवतः पूष्णश्चैव भगस्य च।
अश्विनोश्चैव वह्नेश्च प्रीतिर्भवति सर्पिषा ॥ ७ ॥

घृतके दानसे भगवान् बृहस्पति, पूषा, भग, दोनों अश्विनीकुमार और अग्निदेव प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥

परमं भेषजं ह्येतद्यज्ञानामेतदुत्तमम् ।
रसानामुत्तमं चैतत्फलानां चैतदुत्तमम् ॥ ८ ॥
घृत ही परम औषध है, यज्ञके लिये घृत ही अत्यन्त उत्कृष्ट है; यह सब रसोंके बीच श्रेष्ठ रस है और सब फलोंमें उत्तम फल है ॥ ८ ॥

फलकामो यशस्कामः पुष्टिकामश्च नित्यदा ।
घृतं दद्याद् द्विजातिभ्यः पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ ९ ॥
जो पुरुष सदा फल, यश और पुष्टिकी कामना करता है, वह पवित्र और संयतचित्त होकर ब्राह्मणोंको घृत दान करे ॥ ९ ॥

घृतं मासे आश्वयुजि विप्रेभ्यो यः प्रयच्छति ।
तस्मै प्रयच्छतो रूपं प्रीतौ देवाविहाश्विनौ ॥ १० ॥
अश्विन मासमें ब्राह्मणोंको घृत दान करनेसे, इस लोकमें दोनों अश्विनीकुमार प्रसन्न होके उसे रूप प्रदान किया करते हैं ॥ १० ॥

पायसं सर्पिषा मिश्रं द्विजेभ्यो यः प्रयच्छति ।
गृहं तस्य न रक्षांसि धर्षयन्ति कदाचन ॥ ११ ॥
जो ब्राह्मणोंको घृतमिश्रित पायस—खीर दान करता है, राक्षस कदापि उसके गृहपर आक्रमण नहीं करते ॥ ११ ॥

पिपासया न म्रियते सोदच्छन्दश्च दृश्यते ।
न प्राप्नुयाच्च व्यसनं करकान्यः प्रयच्छति ॥ १२ ॥
जो पानीसे भरा हुआ कमण्डलु नामक जलपात्र दान करता है, वह प्याससे नहीं मरता। वह गृहकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण रहता है और कदापि विपद्ग्रस्त नहीं होता ॥ १२ ॥

प्रयतो ब्राह्मणाग्रेभ्यः श्रद्धया परया युतः ।
उपस्पर्शनषड्भागं लभते पुरुषः सदा ॥ १३ ॥
जो पुरुष एकाग्रचित्त होके परम श्रद्धाके सहित श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ विनयपूर्ण व्यवहार करता है, वह सदा दानके पुण्यका छठवां भाग ग्रहण किया करता है ॥ १३ ॥

यः साधनार्थं काष्ठानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
प्रतापार्थं च राजेन्द्र वृत्तवद्भ्यः सदा नरः ॥ १४ ॥
हे राजेन्द्र ! जो भोजन बनाने और तापनेके लिये व्रतनिष्ठ ब्राह्मणोंको सदा लकड़ियां देता है, ॥ १४ ॥

सिध्यन्त्यर्थाः सदा तस्य कार्याणि विविधानि च ।
उपर्युपरि शत्रूणां वपुषा दीप्यते च सः ॥ १५ ॥

उसके सब प्रयोजन तथा विविध कार्य सदा सिद्ध होते हैं और वह शत्रुओंके ऊपर रहकर अपने तेज शरीरसे प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

भगवांश्चास्य सुप्रीतो वह्निर्भवति नित्यशः ।
न तं त्यजन्ते पशवः संग्रामे च जयत्यपि ॥ १६ ॥

भगवान् अग्नि सदा उसके विषयमें अत्यंत प्रसन्न रहते हैं; पशुवृन्द उसे परित्याग नहीं करते और वह संग्राममें विजयी होता है ॥ १६ ॥

पुत्राञ्छ्रियं च लभते यश्छत्रं संप्रयच्छति ।
चक्षुर्व्याधिं न लभते यज्ञभागमथाश्नुते ॥ १७ ॥

जो छाता दान करता है, वह पुत्र और लक्ष्मी प्राप्त करता है; उसे नेत्ररोग नहीं होता और यज्ञका भाग मिलता है ॥ १७ ॥

निदाघकाले वर्षे वा यश्छत्रं संप्रयच्छति ।
नास्य कश्चिन्मनोदाहः कदाचिदपि जायते ।
कृच्छ्रात् स विषमाच्चैव विप्र मोक्षमवाप्नुते ॥ १८ ॥

जो ग्रीष्म अथवा वर्षाऋतुमें छाता दान करता है, कभी उसके मनमें दाह नहीं होती, वह अत्यंत कठिन संकटसे मुक्त होता है ॥ १८ ॥

प्रदानं सर्वदानानां शकटस्य विशिष्यते ।
एवमाह महाभागः शाण्डिल्यो भगवानृषिः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ २८८२ ॥

हे नरनाथ ! सब दानोंकी अपेक्षा शकट दान विशेष महत्त्वपूर्ण है; महाभाग भगवान् शाण्डिल्य ऋषिने ऐसा ही कहा है ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ २८८२ ॥

: ६५ :

युधिष्ठिर उवाच—

दग्धमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ ।
यत्फलं तस्य भवति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! गर्मीके दिनोंमें जिसके पैर जल रहे हों, ऐसे ब्राह्मणको जूता दान करनेसे जो फल मिलता है, आप मेरे समीप उसे वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

उपानहौ प्रयच्छेद्यो ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ।
मर्दते कण्टकान्सर्वान्विषमान्निस्तरत्यपि ।
स शत्रूणामुपरि च संतिष्ठति युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले— जो पुरुष एकाग्रचित्त होकर ब्राह्मणोंको पादुका दान करता है, वह समस्त कांटोंको मर्दते हुए विषम आपत्तिसे भी पार होता है । हे युधिष्ठिर ! वह शत्रुओंके ऊपर विराजमान होता है ॥ २ ॥

यानं चाश्वतरीयुक्तं तस्य शुभ्रं विशां पते ।
उपतिष्ठति कौन्तेय रूप्यकाञ्चनभूषणम् ।
शकटं दम्यसंयुक्तं दत्तं भवति चैव हि ॥ ३ ॥

और उसे खचरियोंसे युक्त तेजस्वी यान प्राप्त होता है; जो नये बैलोंसे युक्त शकट दान करता है, उसे चांदी और सोनेसे भूषित शकट प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यत्फलं तिलदाने च भूमिदाने च कीर्तितम् ।
गोप्रदानेऽन्नदाने च भूयस्तद्ब्रूहि कौरव ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे कौरव ! तिल, भूमि, गौ और अन्नदानके विषयमें आपने जो कथा कही है, उसे ही फिर कहिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

शृणुष्व मम कौन्तेय तिलदानस्य यत्फलम् ।
निशम्य च यथान्यायं प्रयच्छ कुरुसत्तम ॥ ५ ॥

भीष्म बोले— हे कुरुसत्तम कुन्तीपुत्र ! तिलदानसे जो फल होता है, वह मेरे समीप सुनो और सुनके न्यायपूर्वक उसका दान करो ॥ ५ ॥

पितृणां प्रथमं भोज्यं तिलाः सृष्टाः स्वयंभुवा ।
तिलदानेन वै तस्मात्पितृपक्षः प्रमोदते ॥ ६ ॥

पितरोंका प्रथम भोज्य समस्त तिल स्वयम्भूके द्वारा उत्पन्न हुए हैं, इस ही लिये तिल दान करनेसे पितरवृन्द प्रमुदित होते हैं ॥ ६ ॥

माघमासे तिलान्यस्तु ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
सर्वसत्त्वसमाकीर्णं नरकं स न पश्यति ॥ ७ ॥

जो माघ महीनेमें ब्राह्मणोंको तिल दान करता है, वह सब जन्तुओंसे भरे हुए नरकको नहीं देखता ॥ ७ ॥

×

सर्वकामैः स यजते यस्तिलैर्यजते पितॄन् ।
न चाकामेन दातव्यं तिलश्राद्धं कथंचन ॥ ८ ॥

जो तिलोंसे पितृयज्ञ करता है, वह मानो सब कामनाओंसे यज्ञन करता है । अकाम मनुष्य कदापि तिल श्राद्ध न करें ॥ ८ ॥

महर्षेः कश्यपस्यैते गात्रेभ्यः प्रसृतास्तिलाः ।
ततो दिव्यं गता भावं प्रदानेषु तिलाः प्रभो ॥ ९ ॥

हे महाराज ! ये सब तिल महर्षि कश्यपके अंगोंसे उत्पन्न होकर विस्तारको प्राप्त हुए हैं, इसलिये प्रदान करनेके समय दिव्य भावको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

पौष्टिका रूपदाश्चैव तथा पापविनाशनाः ।
तस्मात्सर्वप्रदानेभ्यस्तिलदानं विशिष्यते ॥ १० ॥

तिल पुष्टि करनेवाले, सुंदररूप प्रदान करनेवाले और पापोंको नष्ट करनेवाले हैं; इसलिये सब दानोंसे तिल दान उत्तम है ॥ १० ॥

आपस्तम्बश्च मेधावी शङ्खश्च लिखितस्तथा ।
महर्षिर्गौतमश्चापि तिलदानैर्दिवं गताः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् महर्षि आपस्तम्ब, शङ्ख, लिखित और गौतम– ये तिल दानके सहारे स्वर्गमें गये हैं ॥ ११ ॥

तिलहोमपरा विप्राः सर्वे संयतमैथुनाः ।
समा गव्येन हविषा प्रवृत्तिषु च संस्थिताः ॥ १२ ॥

ये सब ब्राह्मण स्त्री समागमसे दूर रहकर तिलोंका हवन करनेमें तत्पर रहते थे; तिल गोघृतके समान कहके हविके योग्य वर्णित हुए हैं। प्रत्येक कर्ममें उनकी आवश्यकता है ॥ १२ ॥

सर्वेषामेव दानानां तिलदानं परं स्मृतम् ।
अक्षयं सर्वदानानां तिलदानमिहोच्यते ॥ १३ ॥

समस्त दानोंके बीच तिल दान ही परमश्रेष्ठ माना गया है । तिल दान ही इस लोकमें सब दानोंके बीच अक्षय फल देनेवाला कहके वर्णित हुआ है ॥ १३ ॥

उत्पन्ने च पुरा हव्ये कुशिकर्षिः परंतप ।
तिलैरग्नित्रयं हुत्वा प्राप्तवान्गतिमुत्तमाम् ॥ १४ ॥

हे शत्रुतापन ! पहले समयमें घृतके अभावमें कुशिक ऋषिने तिलोंके सहारे हवन करके तीनों अग्नियोंको तृप्त करके उत्तम गति पाई थी ॥ १४ ॥

इति प्रोक्तं कुरुश्रेष्ठ तिलदानमनुत्तमम् ।
विधानं येन विधिना तिलानामिह शस्यते ॥ १५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! यह सर्वोत्तम तिल दानका विषय तथा जिस प्रकार विधिपूर्वक तिलदान प्रशंसित हुआ करता है, वह कहा गया ॥ १५ ॥

अत ऊर्ध्वं निबोधेदं देवानां यष्टुमिच्छताम् ।
समागमं महाराज ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा ॥ १६ ॥

हे महाराज ! इसके अनन्तर यज्ञ करनेके अभिलाषी देवताओंका स्वयंभू ब्रह्माके समीप समागम हुआ था, वह कथा सुनो ॥ १६ ॥

देवाः समेत्य ब्रह्माणं भूमिभागं यियक्षवः ।
शुभं देशमयाचन्त यजेम इति पार्थिव ॥ १७ ॥

हे राजन् ! देवताओंने ब्रह्माके निकट उपस्थित होके यज्ञ करनेकी इच्छासे किसी पवित्र स्थानकी माँग की ॥ १७ ॥

देवा ऊचुः—

भगवंस्त्वं प्रभुर्भूमेः सर्वस्य त्रिदिवस्य च ।
यजेमहि महाभाग यज्ञं भवदनुज्ञया ।
नाननुज्ञातभूमिर्हि यज्ञस्य फलमश्नुते ॥ १८ ॥

देववृन्द बोले— हे महाभाग भगवन् ! आप भूमि और समस्त स्वर्गके स्वामी हैं, इसलिये आपकी अनुमतिसे हम यज्ञ करेंगे । विना आज्ञाके भूमि लेकर यज्ञ करनेसे यज्ञफलका भाग नहीं प्राप्त होता ॥ १८ ॥

त्वं हि सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ।
प्रभुर्भवसि तस्मात्त्वं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

आप स्थावर, जङ्गम समस्त जगत्के प्रभु हैं, इसलिये पृथ्वीपर यज्ञ करनेके लिये हमें आज्ञा दीजिये ॥ १९ ॥

ब्रह्मोवाच—

ददामि मेदिनीभागं भवद्भ्योऽहं सुरर्षभाः ।
यस्मिन्देशे करिष्यध्वं यज्ञं काश्यपनन्दनाः ॥ २० ॥

ब्रह्मा बोले— हे काश्यपनन्दन देववृन्द ! पृथ्वीके जिस स्थानमें तुम लोग यज्ञ करोगे, मैं तुम्हारे लिये वैसी भूमि दान करता हूं ॥ २० ॥

देवा ऊचुः—

भगवन्कृतकामाः स्मो यक्ष्यामस्त्वाप्तदक्षिणैः ।

इमं तु देशं मुनयः पर्युपासन्त नित्यदा ॥ २१ ॥

देववृन्द बोले— हे भगवन् ! हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी; इस समय हिमालयके निकट कुरुक्षेत्रमें मुनिवृन्द सदा निवास करते हैं, इसलिये उस ही स्थानमें हम लोग पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञके द्वारा याग करेंगे ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच—

ततोऽगस्त्यश्च कण्वश्च भृगुरत्रिर्वृषाकपिः ।

असितो देवलश्चैव देवयज्ञमुपागमन् ॥ २२ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर अगस्त्य, कण्व, भृगु, अत्रि, वृषाकपि, असित और देवल मुनिने देवयज्ञमें गमन किया ॥ २२ ॥

ततो देवा महात्मान ईजिरे यज्ञमच्युत ।

तथा समापयामासुर्यथाकालं सुरर्षभाः ॥ २३ ॥

हे अच्युत ! तब महानुभाव देववृन्द यज्ञ करने लगे और उन श्रेष्ठ देवगणोंने यथासमयपर उसे समाप्त किया ॥ २३ ॥

त इष्टयज्ञास्त्रिदशा हिमवत्यचलोत्तमे ।

षष्ठमंशं क्रतोस्तस्य भूमिदानं प्रचक्रिरे ॥ २४ ॥

देवताओंने पर्वतश्रेष्ठ हिमालयके निकट यज्ञ पूरा करके उस यज्ञमें भूमिका दान भी किया, जो उस यज्ञके छठे भागके समान था ॥ २४ ॥

प्रादेशमात्रं भूमेस्तु यो दद्यादनुपस्कृतम् ।

न सीदति स कृच्छ्रेषु न च दुर्गाण्यवाप्नुते ॥ २५ ॥

जो प्रादेशपरिमाण अनुपस्कृत भूमिका दान करता है, वह कभी कठिन संकटोंमें नहीं पडता और दुखी नहीं होता है ॥ २५ ॥

शीतवातातपसहां गृहभूमिं सुसंस्कृताम् ।

प्रदाय सुरलोकस्थः पुण्यान्तेऽपि न चाल्यते ॥ २६ ॥

उत्तम संस्कारयुक्त शीत, गर्मी और वायु सहन करने योग्य गृह भूमि दान करके, श्रेष्ठ सुरलोकमें निवास करता है; पुण्य क्षीण होनेपर भी दाता वहांसे हटाया नहीं जाता ॥ २६ ॥

मुदितो वसते प्राज्ञः शक्रेण सह पार्थिव ।

प्रतिश्रयप्रदाता च सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥ २७ ॥

हे महाराज ! जो प्राज्ञ पुरुष गृहदान करता है, वह उसके पुण्यसे आनन्दित होके इन्द्रके सङ्ग एकत्र वास करता है, और स्वर्गमें सम्मानित होता है ॥ २७ ॥

अध्यापककुले जातः श्रोत्रियो नियतेन्द्रियः ।
गृहे यस्य वसेत्तुष्टः प्रधानं लोकमश्नुते ॥ २८ ॥
अध्यापक वंशमें उत्पन्न संयतेन्द्रिय और श्रोत्रिय ब्राह्मण सन्तुष्ट होकर जिसके दिये हुए गृहमें निवास करता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मलोक भोग किया करता है ॥ २८ ॥

तथा गवार्थे शरणं शीतवर्षसहं महत् ।
आसप्तमं तारयति कुलं भरतसत्तम ॥ २९ ॥
हे भरतश्रेष्ठ ! जो गौवोंके वासके लिये सर्दी और वर्षा सहने योग्य उत्तम महत् गृह बनवाता है, वह अपनी सात पीढियोंका उद्धार करता है ॥ २९ ॥

क्षेत्रभूमिं ददल्लोके पुत्र श्रियमवाप्नुयात् ।
रत्नभूमिं प्रदत्त्वा तु कुलवंशं विवर्धयेत् ॥ ३० ॥
पुत्र ! जो खेतके योग्य भूमिदान करता है, वह लोकके बीच पवित्र श्रीसम्पन्न होता है । जो रत्नयुक्त भूमिका दान देता है, वह कुल तथा वंशकी वृद्धि करता है ॥ ३० ॥

न चोषरां न निर्दग्धां महीं दद्यात्कथंचन ।
न श्मशानपरीतां च न च पापनिषेविताम् ॥ ३१ ॥
ऊषर और जली भूमि किसी प्रकारसे भी न देनी चाहिये; तथा श्मशानसे घिरी हुई और जहां पापी लोग रहते हैं, वैसी भूमि भी दानके योग्य नहीं है ॥ ३१ ॥

पारक्ये भूमिदेशे तु पितॄणां निर्वपेत्तु यः ।
तद्भूमिस्वामिपितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते ॥ ३२ ॥
जो पुरुष दूसरेकी भूमिमें पितरोंका श्राद्ध करता है, उस भूमिके स्वामी पितर उसका किया हुआ श्राद्ध कर्म निष्फल करते हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात्क्रीत्वा महीं दद्यात्स्वल्पामपि विचक्षणः ।
पिण्डः पितृभ्यो दत्तो वै तस्यां भवति शाश्वतः ॥ ३३ ॥
इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अल्प परिमाण भूमि मोल लेके दान करे, क्यों कि उस मोल ली हुई भूमिमें पितरोंके निमित्त दिया हुआ पिण्ड शाश्वत होता है ॥ ३३ ॥

अटवीपर्वताश्चैव नदीतीर्थानि यानि च ।
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न हि तत्र परिग्रहः ॥ ३४ ॥
वन, पर्वत, नदी और तीर्थोंको पण्डित लोग अस्वामिक कहते हैं, इस लिये उन स्थानोंमें पितरोंका श्राद्ध करनेके लिये भूमि खरीदनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३४ ॥

इत्येतद्भूमिदानस्य फलमुक्तं विशां पते ।
अतः परं तु गोदानं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥

हे नरनाथ ! इस प्रकार यह तुमसे भूमिदानका फल कहा है। हे पापरहित ! इसके अनन्तर गोदानका फल वर्णन करता हूं ॥ ३५ ॥

गावोऽधिकास्तपस्विभ्यो यस्मात्सर्वेभ्य एव च ।
तस्मान्महेश्वरो देवस्तपस्ताभिः समास्थितः ॥ ३६ ॥

सब तपस्वियोंसे गौएं अधिक श्रेष्ठ हैं; इस ही लिये भगवान् महादेवने गौओंके साथ रहकर तपस्या की थी ॥ ३६ ॥

ब्रह्मलोके वसन्त्येताः सोमेन सह भारत ।
आसां ब्रह्मर्षयः सिद्धाः प्रार्थयन्ति परां गतिम् ॥ ३७ ॥

हे भारत ! ब्रह्मलोकमें गौवें चन्द्रमाके सङ्ग निवास करती हैं। सिद्ध ब्रह्मर्षि लोग परमपदकी इच्छा रखकर इनकी प्रार्थना करते हैं ॥ ३७ ॥

पयसा हविषा दध्ना शकृताप्यथ चर्मणा ।
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति शृङ्गैर्वालैश्च भारत ॥ ३८ ॥

हे भारत ! ये गौवें ही दूध, दही, घृत, गोमय, चर्म, हड्डी, सींग और बालोंसे सबका उपकार करती हैं ॥ ३८ ॥

नासां शीतातपौ स्यातां सदैताः कर्म कुर्वते ।
न वर्षं विषमं वापि दुःखमासां भवत्युत ॥ ३९ ॥

इन्हें सर्दी, गर्मीका कष्ट नहीं होता है, ये सदा ही काम किया करती हैं, वर्षासे इन्हें दुःख नहीं होता ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणैः सहिता यान्ति तस्मात्परतरं पदम् ।
एकं गोब्राह्मणं तस्मात्प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४० ॥

इसलिये ये ब्राह्मणोंके सहित परमपदमें गमन करती हैं; इसीसे पण्डित लोग गौ और ब्राह्मणको एकही कहा करते हैं ॥ ४० ॥

रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः पशुत्वेनोपकल्पिताः ।
ततश्चर्मण्वती राजन्गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! रन्तिदेव राजाके यज्ञमें गौवें पशुरूपसे दानके लिये कल्पित हुई थीं; इसी कारण गोचर्मोंसे यह चर्मण्वती नदी प्रवर्तित हुई है ॥ ४१ ॥

पशुत्वाच्च विनिर्मुक्ताः प्रदानायोपकल्पिताः ।
ता इमा विप्रमुख्येभ्यो यो ददाति महीपते ।
निस्तरेदापदं कृच्छ्रां विषमस्थोऽपि पार्थिव ॥ ४२ ॥

दानके लिये उपकल्पित गौएँ पशुत्वसे मुक्त हुई थीं। हे पृथ्वीनाथ! जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको इन गौओंका दान करता है, वह विषम अवस्थामें पड़के भी क्लेश तथा आपदोंसे पार होता है ॥ ४२ ॥

गवां सहस्रदः प्रेत्य नरकं न प्रपश्यति ।
सर्वत्र विजयं चापि लभते मनुजाधिप ॥ ४३ ॥

हे नरनाथ! एक सहस्र गोदान करनेसे परलोकमें जानेपर पुरुष नरकमें नहीं पड़ता और उसे सबठौर विजय प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः ।
तस्माद्ददाति यो धेनुममृतं स प्रयच्छति ॥ ४४ ॥

देवराज इन्द्रने गौओंके दूधको ही अमृत कहा है, इसलिये जो दूध देनेवाली गौका दान करता है, वह अमृत प्रदान किया करता है ॥ ४४ ॥

अग्नीनामव्ययं ह्येतद्धौम्यं वेदविदो विदुः ।
तस्माद्ददाति यो धेनुं स हौम्यं संप्रयच्छति ॥ ४५ ॥

वेद जाननेवाले पुरुष मानते हैं कि, अग्निमें गो दुग्ध-हविष्यका हवन करे तो अविनाशी फल मिलता है। इससे जो गोदान करता है, वह होम साधन प्रदान किया करता है ॥४५॥

स्वर्गो वै मूर्तिमानेष वृषभं यो गवां पतिम् ।
विप्रे गुणयुते दद्यात्स वै स्वर्गे महीयते ॥ ४६ ॥

यह गोपति वृषभ ही मूर्तिमान स्वर्ग स्वरूप है; जो गुणवान् ब्राह्मणको वृषभका दान देता है, वह स्वर्गमें निवास किया करता है ॥ ४६ ॥

प्राणा वै प्राणिनामेते प्रोच्यन्ते भरतर्षभ ।
तस्माद्ददाति यो धेनुं प्राणान्वै स प्रयच्छति ॥ ४७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! गौएं प्राणियोंकी प्राणस्वरूप कही गई हैं; इसलिये जो गौका दान देता है वह प्राण प्रदान किया करता है ॥ ४७ ॥

गावः शरण्या भूतानामिति वेदविदो विदुः ।
तस्माद्ददाति यो धेनुं शरणं संप्रयच्छति ॥ ४८ ॥

वेद जाननेवाले पुरुष गौओंको सब प्राणियोंको शरण देनेवाली हैं ऐसा मानते हैं; इसलिये जो गौका दान देता है, वह सबको शरण देनेवाला है ॥ ४८ ॥

न वधार्थं प्रदातव्या न कीनाशे न नास्तिके ।
गोजीविने न दातव्या तथा गौः पुरुषर्षभ ॥ ४९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! वध करनेके लिये कदापि गाय नहीं देनी चाहिये; इसी प्रकार कसाईको, नास्तिकको और गोजीवी पुरुषको भी गोदान करना अनुचित है ॥ ४९ ॥

ददाति तादृशानां वै नरो गाः पापकर्मणाम् ।
अक्षयं नरकं यातीत्येवमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

विद्वानोंने ऐसा कहा है, कि जो मनुष्य वैसे पापकर्म करनेवालोंको गाय देता है, वह अक्षय नरकमें पडता है ॥ ५० ॥

न कृशां पापवत्सां वा वन्ध्यां रोगान्वितां तथा ।
न व्यङ्गां न परिश्रान्तां दद्याद्गां ब्राह्मणाय वै ॥ ५१ ॥

कृशित, पापी बछडेवाली, वन्ध्या, रोगयुक्त, विकलाङ्गी और थकी हुई गौ ब्राह्मणको दान न करे ॥ ५१ ॥

दशगोसहस्रदः सम्यक्शक्रेण सह मोदते ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्नरः शतसहस्रदः ॥ ५२ ॥

दस हजार गौओंको दान करनेवाला मनुष्य स्वर्गमें इन्द्रके सङ्ग आनन्द भोगता है और लाख गौओंका दान करनेवाला अक्षय लोकोंको पाता है ॥ ५२ ॥

इत्येतद्गोप्रदानं च तिलदानं च कीर्तितम् ।
तथा भूमिप्रदानं च शृणुष्वान्ने च भारत ॥ ५३ ॥

हे भारत ! इस प्रकार गौ, तिल और भूमिदानका विषय कहा गया, अब अन्नदानका फल सुनो ॥ ५३ ॥

अन्नदानं प्रधानं हि कौन्तेय परिचक्षते ।
अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः ॥ ५४ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! महर्षिलोग अन्नदानको ही सब दानोंमें श्रेष्ठ दान कहा करते हैं; राजा रन्तिदेव अन्नदान करनेसे ही देवलोकमें गये थे ॥ ५४ ॥

श्रान्ताय क्षुधितायान्नं यः प्रयच्छति भूमिप ।
स्वायंभुवं महाभागं स पश्यति नराधिप ॥ ५५ ॥

हे महाराज ! जो थके और भूखेको अन्नदान करता है, वह महाभाग ब्रह्माको स्वयं देखता है ॥ ५५ ॥

न हिरण्यैर्न वासोभिर्नाश्वदानेन भारत ।
प्राप्नुवन्ति नराः श्रेयो यथेहान्नप्रदाः प्रभो ॥ ५६ ॥

हे भरतवंशावतंस नरनाथ ! अन्नदान करनेवाले मनुष्योंका जैसा कल्याण होता है, सुवर्ण, वस्त्र और अश्व दान करनेसे वैसा कल्याण नहीं प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

अन्नं वै परमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता ।
अन्नात्प्राणः प्रभवति तेजो वीर्यं बलं तथा ॥ ५७ ॥

अन्नही प्रथम द्रव्य है; अन्न ही परम श्री रूपसे सम्मत है; अन्नसे प्राण, तेज, वीर्य और बल उत्पन्न होता है ॥ ५७ ॥

सद्भ्यो ददाति यश्चान्नं सदैकाग्रमना नरः ।
न स दुर्गाण्यवाप्नोतीत्येवमाह पराशरः ॥ ५८ ॥

पराशर मुनि कहते हैं, कि जो पुरुष सदा एकाग्रचित्त होकर याचकोंकी प्रार्थनानुसार अन्न-दान करता है, उसे क्लेश नहीं मिलते ॥ ५८ ॥

अर्चयित्वा यथान्यायं देवेभ्योऽन्नं निवेदयेत् ।
यदन्नो हि नरो राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ५९ ॥

मनुष्यको यथाविधि देवताओंकी पूजा करके उन्हें अन्न निवेदन करना चाहिये। हे महाराज! मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वही अन्न ग्रहण करते हैं ॥ ५९ ॥

कौमुद्यां शुक्लपक्षे तु योऽन्नदानं करोत्युत ।
स संतरति दुर्गाणि प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ६० ॥

कार्त्तिक महीनेके शुक्ल पक्षमें जो अन्नदान करता है, वह इस लोकमें सब क्लेशोंसे पार होके परलोकमें अनन्त सुख भोगता है ॥ ६० ॥

अभुक्त्वातिथये चान्नं प्रयच्छेद्यः समाहितः ।
स वै ब्रह्मविदां लोकान्प्राप्नुयाद्भरतर्षभ ॥ ६१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो पुरुष एकाग्रचित्त हो स्वयं भूखा रहके अतिथिको अन्नदान करता है, उसे ब्रह्मवित् पुरुषोंके लोक प्राप्त होते हैं ॥ ६१ ॥

सुकृच्छ्रामापदं प्राप्तश्चान्नदः पुरुषस्तरेत् ।
पापं तरति चैवेह दुष्कृतं चापकर्षति ॥ ६२ ॥

अन्नदान करनेवाला मनुष्य अत्यन्त कष्टकारी आपदमें पडके भी उससे पार हुआ करता है। इस लोकमें वह पापसे निस्तार होता है और भविष्यमें होनेवाले दुष्कर्मोंका भी नाश कर देता है ॥ ६२ ॥

इत्येतदन्नदानस्य तिलदानस्य चैव ह ।
भूमिदानस्य च फलं गोदानस्य च कीर्तितम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥ २९४५ ॥

इस प्रकार यह अन्न, तिल, भूमि और गोदानका फल कहा गया ॥ ६३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ २९४५ ॥

+

॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुतं दानफलं तात यत्त्वया परिकीर्तितम् ।
अन्नं तु ते विशेषेण प्रशस्तमिह भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे तात ! भारत ! आपने जो कथा कही, वह सब दानका फल मैंने सुना; इस लोकमें आपने विशेष रूपसे अन्नदान ही श्रेष्ठ कहा है ॥ १ ॥

पानीयदानं परमं कथं चेह महाफलम् ।
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ॥ २ ॥

हे पितामह ! इस लोकमें जलदान करनेसे कैसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ? इसलिये यह विषय मैं विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथावद्भरतर्षभ ।
गदतस्तन्ममाद्येह शृणु सत्यपराक्रम ।
पानीयदानात्प्रभृति सर्वं वक्ष्यामि तेऽनघ ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे सत्यपराक्रमी भरतश्रेष्ठ ! अच्छा, अब मैं तुमसे विशिष्ट जलदानके फलको विधिपूर्वक वर्णन करता हूं, तुम उसे सुनो । हे पापरहित ! मैं जलदानसे आरम्भ करके सभी प्रकारके दानोंका फल कहता हूं ॥ ३ ॥

यदन्नं यच्च पानीयं सम्प्रदायाश्नुते नरः ।
न तस्मात्परमं दानं किंचिदस्तीति मे मतिः ॥ ४ ॥

अन्न और जल दान करके मनुष्य जो फल पाता है, मेरे विचारमें उससे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

अन्नात्प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः ।
तस्मादन्नं परं लोके सर्वदानेषु कथ्यते ॥ ५ ॥

हे तात ! अन्नसे समस्त प्राणधारी जीवमात्र जीते हैं, इसलिये इस जगत्में सब दानोंमें अन्न ही श्रेष्ठ रूपसे वर्णित हुआ करता है ॥ ५ ॥

अन्नाद्बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा ।
अन्नदानमतस्तस्माच्छ्रेष्ठमाह प्रजापतिः ॥ ६ ॥

अन्नसे ही प्राणियोंका बल और तेज सदा वर्धित होता है, इसलिये प्रजापति भी अन्नदानको ही सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६ ॥

सावित्र्या ह्यपि कौन्तेय श्रुतं ते वचनं शुभम् ।
यतश्चैतद्यथा चैतद्देवगुह्यं महामते ॥ ७ ॥

हे कौन्तेय ! तुमने सावित्रीका भी पवित्र वचन सुना होगा । हे महाबुद्धिमान् ! देवयज्ञमें जिस कारणसे जिस प्रकार जो सावित्रीने कहा था, वह यह है ॥ ७ ॥

अन्नं दत्ते नरेणेह प्राणा दत्ता भवन्त्युत ।
प्राणदानाद्धि परमं न दानमिह विद्यते ॥ ८ ॥

जिस मनुष्यके द्वारा यहाँ अन्न दिया जाता है, उसीके सहारे प्राणोंका दान हुआ करता है; इस लोकमें प्राणदानसे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है ॥ ८ ॥

श्रुतं हि ते महाबाहो लोमशस्यापि तद्वचः ।
प्राणान्दत्त्वा कपोताय यत्प्राप्तं शिबिना पुरा ॥ ९ ॥

हे महाबाहो ! तुमने लोमशका भी वह पवित्र वचन सुना है, जो कि पहले समयमें राजा शिबिने कबूतरके लिये प्राणदान देकर उत्तम गति प्राप्त की थी ॥ ९ ॥

तां गतिं लभते दत्त्वा द्विजस्यान्नं विशां पते ।
गतिं विशिष्टां गच्छन्ति प्राणदा इति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

हे पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणको अन्न दान करनेसे दाताको वही गति मिलती है; प्राणदान करनेवाले उससे भी श्रेष्ठ गतिको पाते हैं ऐसा हमने सुना है ॥ १० ॥

अन्नं चापि प्रभवति पानीयात्कुरुसत्तम ।
नीरजातेन हि विना न किंचित्संप्रवर्तते ॥ ११ ॥

हे कुरुसत्तम ! जलसेही अन्न भी उत्पन्न होता है; जलसे उत्पन्न हुए धान्य आदिके अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

नीरजातश्च भगवान्सोमो ग्रहगणेश्वरः ।
अमृतं च सुधा चैव स्वाहा चैव वषट् तथा ॥ १२ ॥

ग्रहोंके प्रभु भगवान् सोम जलहीसे उत्पन्न हुए हैं । अमृत, सुधा, स्वाहा, वषट् ॥ १२ ॥

अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः ।
यतः प्राणभृतां प्राणाः संभवन्ति विशां पते ॥ १३ ॥

अन्न, ओषधि और तृण जलसे ही उत्पन्न हुए हैं । हे नरनाथ ! जिनसे प्राणियोंके प्राण उत्पन्न होते हैं, ॥ १३ ॥

देवानाममृतं चान्नं नागानां च सुधा तथा ।
पितॄणां च स्वधा प्रोक्ता पशूनां चापि वीरुधः ॥ १४ ॥

देवताओंका अन्न अमृत, नागोंका अन्न सुधा, पितरोंका अन्न स्वधा और पशुओंका अन्न तृण है ॥ १४ ॥

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः ।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात्संप्रवर्तते ॥ १५ ॥

विद्वान् पण्डितोंने मनुष्योंका प्राण ही अन्न है ऐसा कहा है । हे नरश्रेष्ठ ! ये सभी प्रकारके अन्न जलसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

तस्मात्पानीयदानाद्धि न परं विद्यते क्वचित् ।
तच्च दद्यान्नरो नित्यं य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ १६ ॥

इसलिये जलदानसे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है । जो मनुष्य अपने कल्याणकी कामना करता है, उसे सदा जलदान करना चाहिये ॥ १६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानं विशां पते ।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥ १७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! इस लोकमें जलदान धन्य, यशस्कर और आयुष्यरूपी कहा गया है । हे कुन्तीनन्दन ! जलदाता सदा अपने शत्रुओंसे भी ऊपर निवास करता है ॥ १७ ॥

सर्वकामानवाप्नोति कीर्तिं चैवेह शाश्वतीम् ।
प्रेत्य चानन्त्यमाप्नोति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ॥ १८ ॥

वह इस जगतमें समस्त कामनाओं तथा शाश्वती कीर्तिको प्राप्त करता है और परलोकमें जाके अनन्त सुखका भोग करता है तथा सब पापोंसे मुक्त होता है ॥ १८ ॥

तोयदो मनुजव्याघ्र स्वर्गं गत्वा महाद्युते ।
अक्षयान्समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ २९६४ ॥

हे महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ ! मनुने कहा है, कि जलदाता स्वर्गमें जाके अक्षय लोकोंको पाता है ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छाछठवां अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ २२६४ ॥

: ६७ :

युधिष्ठिर उवाच—

तिलानां कीदृशं दानमथ दीपस्य चैव ह ।
अन्नानां वाससां चैव भूय एव ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! तिल दान और दीप दान कैसे दान हैं ? अन्न और वस्त्र दान किस प्रकार करना होता है ? आप फिर मेरे निकट इसे वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं यमस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! प्राचीन लोग इस विषयमें ब्राह्मण और यमके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

मध्यदेशे महान्ग्रामो ब्राह्मणानां बभूव ह ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये यामुनस्य गिरेरधः ॥ ३ ॥

मध्यदेशमें गङ्गायमुनाके बीच यामुन पर्वतकी तराईमें विद्वान ब्राह्मणोंका अत्यन्त विशाल एक गांव था ॥ ३ ॥

पर्णशालेति विख्यातो रमणीयो नराधिप ।
विद्वांसस्तत्र भूयिष्ठा ब्राह्मणाश्चावसंस्तदा ॥ ४ ॥

हे नरनाथ ! वह रमणीय स्थान पर्णशाला नामसे विख्यात था । वहां अनेक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे ॥ ४ ॥

अथ प्राह यमः कंचित्पुरुषं कृष्णवाससम् ।
रक्ताक्षमूर्ध्वरोमाणं काकजङ्घाक्षिनासिकम् ॥ ५ ॥

अनन्तर यमने काला वस्त्र पहरनेवाले, लालनेत्र, ऊर्ध्वरोम, कौवेकी भांति जङ्घा, नेत्र और नासिकायुक्त किसी पुरुषसे कहा ॥ ५ ॥

गच्छ त्वं ब्राह्मणग्रामं ततो गत्वा तमानय ।
अगस्त्यं गोत्रतश्चापि नामतश्चापि शर्मिणम् ॥ ६ ॥

तुम ब्राह्मणोंके उस गांवमें जाके, वहांसे अगस्त्यगोत्री शर्मि नामक ब्राह्मणको ले आओ ॥६॥

शमे निविष्टं विद्वांसमध्यापकमनादृतम् ।
मा चान्यमानयेथास्त्वं सगोत्रं तस्य पार्श्वतः ॥ ७ ॥

वह शमपरायण, विद्वान्, अध्यापक और अनादृत है; उसके पासमेंसे दूसरे किसी उनके सगोत्री ब्राह्मणको न लाना ॥ ७ ॥

स हि तादृग्गुणस्तेन तुल्योऽध्ययनजन्मना ।
अपत्येषु तथा वृत्ते समस्तेनैव धीमता ।
तमानय यथोदिष्टं पूजा कार्या हि तस्य मे ॥ ८ ॥

वह गुण, वेदाध्ययन और कुलमें उन्हींके तुल्य है, उनके पुत्र भी उन्हींके सदृश हैं । वह सदाचारके पालनमें भी उन बुद्धिमानके ही तुल्य है । इसलिये मैंने जैसा कहा, उस ही भांति उन्हें लाओ, मुझे उनकी पूजा करनी है ॥ ८ ॥

स गत्वा प्रतिकूलं तच्चकार यमशासनम् ।
तमाक्रम्यानयामास प्रतिषिद्धो यमेन यः ॥ ९ ॥

उस पुरुषने वहां जाके यमकी आज्ञाके विपरीत कार्य किया; यमने जिसे लानेका निषेध किया था, उसे ही आक्रमण करके ले आया ॥ ९ ॥

तस्मै यमः समुत्थाय पूजां कृत्वा च वीर्यवान् ।
प्रोवाच नीयतामेष सोऽन्य आनीयतामिति ॥ १० ॥

वीर्यवान् यमने उठकर उनका सत्कार किया और दूतसे बोले, इन्हें ले जाओ और दूसरेको ले आओ ॥ १० ॥

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन स द्विजः ।
उवाच धर्मराजानं निर्विण्णोऽध्ययनेन वै ।
यो मे कालो भवेच्छेषस्तं वसेयमिहाच्युत ॥ ११ ॥

धर्मराजका वचन सुनके वह ब्राह्मण उनसे बोला, मैं पढनेसे उद्विग्न हुआ हूं; हे अच्युत ! मेरे जीवनका जो समय शेष है, उतने ही समय तक इस लोकमें मैं निवास करूंगा ॥११॥

यम उवाच—

नाहं कालस्य विहितं प्राप्नोमीह कथंचन ।
यो हि धर्मं चरति वै तं तु जानामि केवलम् ॥ १२ ॥

यम बोले— मैं कालके द्वारा विहित परमायुका प्रमाण नहीं जानता; जो धर्माचरण करता है, केवल उसीको ही मैं जानता हूं ॥ १२ ॥

गच्छ विप्र त्वमद्यैव आलयं स्वं महाद्युते ।
ब्रूहि वा त्वं यथा स्वैरं करवाणि किमित्युत ॥ १३ ॥

हे महातेजस्वी विप्र ! इसलिये तुम आज ही अपने स्थानपर चले जाओ और अपनी इच्छाके अनुसार कहो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूं ? ॥ १३ ॥

ब्राह्मण उवाच—

यत्तु कृत्वा सुमहत्पुण्यं स्यात्तद्ब्रवीहि मे ।
सर्वस्य हि प्रमाणं त्वं त्रैलोक्यस्यापि सत्तम ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोला— जिस कार्यके करनेसे भूलोकमें उत्तम महत् पुण्य होता है, मुझे वही उपदेश करो । हे सत्तम ! तुम ही तीनों लोकोंके धर्माधर्म विषयमें प्रमाण हो ॥ १४ ॥

यम उवाच—

शृणु तत्त्वेन विप्रर्षे प्रदानविधिमुत्तमम् ।
तिलाः परमकं दानं पुण्यं चैवेह शाश्वतम् ॥ १५ ॥

यम बोले— हे विप्रर्षि ! तुम यथार्थ रूपसे दानकी श्रेष्ठ विधि सुनो; इस लोकमें तिलदान परमश्रेष्ठ, पवित्र और अक्षय फल देनेवाला है ॥ १५ ॥

तिलाश्च संप्रदातव्या यथाशक्ति द्विजर्षभ ।
नित्यदानात्सर्वकामांस्तिला निर्वर्तयन्त्युत ॥ १६ ॥

हे द्विजवर ! अपनी शक्तिके अनुसार तिलोंका दान करना योग्य है; सदा दान करनेसे तिल दान दाताकी समस्त कामनाएं पूरी करते हैं ॥ १६ ॥

तिलाञ्श्राद्धे प्रशंसन्ति दानमेतद्ध्यनुत्तमम् ।
तान्प्रयच्छस्व विप्रेभ्यो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १७ ॥

पण्डित लोग श्राद्धमें तिल दानकी प्रशंसा किया करते हैं, इसीसे यह दान सबसे उत्तम है; इसलिये तुम विधिविहित कर्मके सहारे ब्राह्मणोंको तिल दान करो ॥ १७ ॥

तिला भक्षयितव्याश्च सदा त्वालभनं च तैः ।
कार्यं सततमिच्छद्भिः श्रेयः सर्वात्मना गृहे ॥ १८ ॥

तिलभोजन करे और जो लोग सब भांतिसे अपने गृहमें कल्याणकी इच्छा करते हैं, उन्हें उचित है कि तिलसे सदा उद्वर्त्तन करें ॥ १८ ॥

तथापः सर्वदा देयाः पेयाश्चैव न संशयः ।
पुष्करिण्यस्तडागानि कूपांश्चैवात्र खानयेत् ॥ १९ ॥

तिल दानकी भांति सदा जल देना और जल पीना चाहिये, इसमें संशय नहीं है। पृथ्वीपर तालाब, तलायी और कुएं प्रभृति खुदवाने चाहिये ॥ १९ ॥

एतत्सुदुर्लभतरमिह लोके द्विजोत्तम ।
आपो नित्यं प्रदेयास्ते पुण्यं ह्येतदनुत्तमम् ॥ २० ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! इस लोकमें यह सब अत्यन्त ही दुर्लभ पुण्य कार्य है; तुम सदा जलदान करना, यही सबसे उत्तम पुण्य कार्य है ॥ २० ॥

प्रपाश्च कार्याः पानार्थं नित्यं ते द्विजसत्तम ।
भुक्तेऽप्यथ प्रदेयं ते पानीयं वै विशेषतः ॥ २१ ॥

हे द्विजसत्तम ! तुम सदा जलदानके निमित्त जलशाला बनाना; जो भोजन कर चुका है, उसे भी अन्न देना; विशेष रीतिसे जलदान तो आवश्यक है ॥ २१ ॥

इत्युक्ते स तदा तेन यमदूतेन वै गृहान् ।
नीतश्चकार च तथा सर्वं तद्यमशासनम् ॥ २२ ॥

उस समय जब उस ब्राह्मणने यमका यह सब वचन सुन लिया तब यमदूतने उसे उसके गृहमें पहुंचाया; फिर जिस प्रकार यमने उसे उपदेश किया था, उसहीके अनुसार उसने सब कार्य किया ॥ २२ ॥

नीत्वा तं यमदूतोऽपि गृहीत्वा शर्मिणं तदा ।
ययौ स धर्मराजाय न्यवेदयत चापि तम् ॥ २३ ॥

अनन्तर यमदूत उस शर्मिको लेकर यमके स्थानपर गया और धर्मराजके समीप उसका वृत्तान्त सुनाया ॥ २३ ॥

तं धर्मराजो धर्मज्ञं पूजयित्वा प्रतापवान् ।
कृत्वा च संविदं तेन विससर्ज यथागतम् ॥ २४ ॥

प्रतापवान् धर्मराजने उस धर्मज्ञ ब्राह्मणकी पूजा की और उसके सङ्ग वार्त्तालाप करके, वह जहांसे आया था, उसे वहां जानेके लिये विदा किया ॥ २४ ॥

तस्यापि च यमः सर्वमुपदेशं चकार ह ।
प्रत्येत्य च स तत्सर्वं चकारोक्तं यमेन तत् ॥ २५ ॥

यमने उसे भी सारा उपदेश किया; उसने यमलोकसे लौटकर धर्मराजके कहे हुए सब कार्योंको किया ॥ २५ ॥

तथा प्रशंसते दीपान्यमः पितृहितेप्सया ।
तस्माद्दीपप्रदो नित्यं संतारयति वै पितॄन् ॥ २६ ॥

यमराज पितरोंके हितकी कामनासे दीपदानकी प्रशंसा करते हैं । इसलिये सदा दीप दान करनेवाला मनुष्य पितरोंका उद्धार किया करता है ॥ २६ ॥

दातव्याः सततं दीपास्तस्माद्भरतसत्तम ।
देवानां च पितॄणां च चक्षुष्यास्ते मताः प्रभो ॥ २७ ॥

हे भरतसत्तम ! इसलिये सदा देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे दीप दान करना योग्य है; क्यों कि प्रभो ! दीपक नेत्रोंके लिये हितकर कहा गया है ॥ २७ ॥

रत्नदानं च सुमहत्पुण्यमुक्तं जनाधिप ।
तानि विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयंकरः ॥ २८ ॥

हे प्रजानाथ ! रत्न दान करनेसे उत्तम महत् पुण्य होता है, ऐसा कहा गया है; जो ब्राह्मण रत्न बेचके यज्ञ करता है, उसे कुछ भय नहीं होता ॥ २८ ॥

यद्वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै ।
उभयोः स्यात्तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण दातासे रत्नोंका दान लेकर उसे स्वयं ब्राह्मणोंको दान स्वरूपमें देता है, तो वह दाता तथा ग्रहीता दोनोंके लिये अक्षय पुण्य फलजनक हुआ करता है ॥ २९ ॥

योददाति स्थितः स्थित्यां तादृशाय प्रतिग्रहम् ।
उभयोरक्षयं धर्मं तं मनुः प्राह धर्मवित् ॥ ३० ॥

धर्मज्ञ मनुने कहा है, कि जो स्वयं धर्म मर्यादामें स्थित होके अपने समान ब्राह्मणको दानमें मिली हुई वस्तुका दान करता है, उन दोनोंको अक्षय धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ ३० ॥

वाससां तु प्रदानेन स्वदारनिरतो नरः ।
सुवस्त्रश्च सुवेषश्च भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ३१ ॥

मैंने ऐसा सुना है, कि निज स्त्रीमें रत रहनेवाला जो मनुष्य वस्त्र दान करता है, वह सुन्दर वस्त्र तथा रमणीय वेषभूषासे युक्त होता है ॥ ३१ ॥

गावः सुवर्णं च तथा तिलाश्चैवानुवर्णिताः ।
बहुशः पुरुषव्याघ्र वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ ३२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! वेदप्रमाणके अनुसार गौ, सुवर्ण और तिल दानका माहात्म्य कई वार कहा गया है ॥ ३२ ॥

विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च ।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद्विशिष्यते ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥ २९९७ ॥

मनुष्यको विवाह करना तथा विवाह करके अवश्य पुत्र उत्पन्न करना योग्य है। हे कौरव ! सब लाभोंके बीच पुत्रलाभ ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सरसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ २९९७ ॥

: ६८ :

युधिष्ठिर उवाच—

भूय एव कुरुश्रेष्ठ दानानां विधिमुत्तमम् ।
कथयस्व महाप्राज्ञ भूमिदानं विशेषतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाप्राज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! आप फिर समस्त दानोंकी श्रेष्ठ विधि, विशेष करके भूमिदानका विषय कहिये ॥ १ ॥

पृथिवीं क्षत्रियो दद्याद्ब्राह्मणस्तां स्वकर्मणा ।
विधिवत्प्रतिगृह्णीयान्न त्वन्यो दातुमर्हति ॥ २ ॥

अपना कर्म योग्य रीतिसे करनेवाले ब्राह्मणको क्षत्रिय भूमिदान करे, ब्राह्मण भी उसे विधि-पूर्वक ले; क्षत्रियके अतिरिक्त दूसरा भूमिदान करनेमें समर्थ नहीं है ॥ २ ॥

सर्ववर्णैस्तु यच्छक्यं प्रदातुं फलकाङ्क्षिभिः ।
वेदे वा यत्समाम्नातं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

सब वर्ण ही फलकी कामना करके जो वस्तु दान दे सकें और वेदमें जो दान पूरी रीतिसे वर्णित हो, आपको मेरे निकट उसहीकी व्याख्या करनी उचित है ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

तुल्यनामानि देयानि त्रीणि तुल्यफलानि च ।
सर्वकामफलानीह गावः पृथ्वी सरस्वती ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— गोपदवाच्य गौ, भूमि और वाणी ये तीनों तुल्य नामवाली हैं, इन तीनोंकोही दान करना उचित है; इन तीनोंके दानका फल समान ही है और इस लोकमें इनके सहारे सब प्रयोजन तथा फल प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

यो ब्रूयाच्चापि शिष्याय धर्म्यां ब्राह्मीं सरस्वतीम् ।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां स तुल्यं फलमश्नुते ॥ ५ ॥

जो ब्राह्मण शिष्यको धर्मयुक्त ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) का वचन कहता है, वह भूमि और गोदानके तुल्य फल पाता है ॥ ५ ॥

तथैव गाः प्रशंसन्ति न च देयं ततः परम् ।
संनिकृष्टफलास्ता हि लघ्वर्थाश्च युधिष्ठिर ।
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ॥ ६ ॥

इसही प्रकार सब कोई गोदानकी प्रशंसा किया करते हैं, गोदानसे श्रेष्ठदान और कुछ भी नहीं है । हे युधिष्ठिर ! गोदानका फल अत्यन्त ही अल्प समयमें मिलता है और वे शीघ्र अभिलषित धनकी सिद्धि करती हैं । सबको सुख देनेवाली गौएं सब प्राणियोंकी माता हैं ॥ ६ ॥

वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात्पूज्याः सदैव हि ॥ ७ ॥

जो अपने वृद्धिकी उत्कर्षकी कामना करता है, उसे सदा गौवोंकी प्रदक्षिणा करनी योग्य हैं । मङ्गलकी स्थान देवीस्वरूप गौवें सदा पूजनीय हैं ॥ ७ ॥

प्रचोदनं देवकृतं गवां कर्मसु वर्तताम् ।
पूर्वमेवाक्षरं नान्यदभिधेयं कथंचन ॥ ८ ॥

यज्ञके लिये भूमि जोतते समय देवताओंने बैलोंको डंडेसे हांका था; पहले यज्ञके लिये बैलोंको जोतना–हांकना श्रेयस्कर तथा कल्याणकारी है; उसके अतिरिक्त किसी तरह दूसरे कार्यके बैलोंको जोतना वा डंडेसे हांकना निन्दनीय तथा दूषित है ॥ ८ ॥

प्रचारे वा निपाने वा बुधो नोद्वेजयेत गाः ।
तृषिता ह्यभिवीक्षन्त्यो नरं हन्युः सबान्धवम् ॥ ९ ॥

पण्डित पुरुष चरने और जल पीनेके समय गौओंको उद्वेगयुक्त न करें; गौवें प्यासी होकर स्वामीकी ओर देखनेसे मनुष्यको बान्धवोंके सहित नष्ट करती हैं ॥ ९ ॥

पितृसद्मानि सततं देवतायतनानि च ।
पूयन्ते शकृता यासां पूतं किमधिकं ततः ॥ १० ॥

पितरोंके श्राद्ध स्थान और देवताओंके मंदिर जिनको गोमयसे लीपनेपर सदा पवित्र होते हैं, उनसे अधिक पवित्र और कौन है ? ॥ १० ॥

ग्रासमुष्टिं परगवे दद्यात्संवत्सरं तु यः ।
अकृत्वा स्वयमाहारं व्रतं तत्सार्वकामिकम् ॥ ११ ॥

जो स्वयं भोजनके पहले एक वर्षतक दूसरेके गौको एक मुट्ठी घास देता है, उसे उस व्रतसे सर्वकामनाओंको पूर्ण करनेवाला फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

स हि पुत्रान्यशोऽर्थं च श्रियं चाप्यधिगच्छति ।
नाशयत्यशुभं चैव दुःस्वप्नं च व्यपोहति ॥ १२ ॥

वह पुत्र, यश, धन तथा श्रीसम्पन्न होता है, उसके पाप नष्ट होते और दुःस्वप्न विनष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

देयाः किंलक्षणा गावः काश्चापि परिवर्जयेत् ।
कीदृशाय प्रदातव्या न देयाः कीदृशाय च ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले— कैसे लक्षणोंसे युक्त गौवोंका दान करना योग्य है, और कैसी न देनी चाहिये ? कैसे पुरुषको गाय दान देना योग्य है और कैसे मनुष्यको दान न देना चाहिये ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच—

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने ।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १४ ॥

भीष्म बोले— असद्वृत्तिवाले पापाचारी, लोभी, झूठ बोलनेवाले और हव्य-कव्यसे रहित पुरुषोंको किसी प्रकार गोदान करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये ।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १५ ॥

जो गौके लिये याचना करता है, जिसके बहुत पुत्र हैं, जो वेदवेत्ता और आहिताग्नि ब्राह्मण है, ऐसे मनुष्यको दस गौओंका दान करनेसे दाता सबसे श्रेष्ठ लोकोंको पाता है ॥ १५ ॥

यं चैव धर्मं कुरुते तस्य पुण्यफलं च यत् ।
सर्वस्यैवांशभाग्दाता तन्निमित्तं प्रवृत्तयः ॥ १६ ॥

दान लेनेवाला जो कुछ धर्माचरण करता है, और उसके धर्मका जो कुछ फल रहता है, दाता उन सबमें अंशभागी होता है; इसीके निमित्त उसकी गोदानमें प्रवृत्ति होती है ॥ १६ ॥

यश्चैनमुत्पादयति यश्चैनं त्रायते भयात् ।
यश्चास्य कुरुते वृत्तिं सर्वे ते पितरस्त्रयः ॥ १७ ॥

जो उत्पन्न करता है, जो भयसे परित्राण करता है तथा जो जीविका दान करता है, तीनों ही पिताके समान हैं ॥ १७ ॥

कल्मषं गुरुशुश्रूषा हन्ति मानो महद्यशः ।
अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ॥ १८ ॥

गुरुजनोंकी सेवा करनेसे पाप दूर होता है, अभिमान बडे यशको भी नष्ट कर देता है, तीन पुत्र जन्मनेसे अपुत्रता नहीं रहती और दूध देनेवाली दस गौएं जीविकाके अभावको नष्ट करती हैं ॥ १८ ॥

वेदान्तनिष्ठस्य बहुश्रुतस्य प्रज्ञानतृप्तस्य जितेन्द्रियस्य ।
शिष्टस्य दान्तस्य यतस्य चैव भूतेषु नित्यं प्रियवादिनश्च ॥ १९ ॥

वेदान्तनिष्ठ, बहुश्रुत, ज्ञानसे तृप्त, जितेन्द्रिय, शिष्ट, मनको वशमें रखनेवाला, प्रयत्नवादी सब जीवोंके विषयमें सदा प्रिय वचन कहनेवाला ॥ १९ ॥

यः क्षुद्भयाद्वै न विकर्म कुर्यान्मृदुर्दान्तश्चातिथेयश्च नित्यम् ।
वृत्तिं विप्रायातिसृजेत तस्मै यस्तुल्यशीलश्च सपुत्रदारः ॥ २० ॥

भूखा होनेपर भी अयोग्य कर्म न करनेवाला, मृदु, शान्त, अतिथिप्रिय, समान भाव रखनेवाला और स्त्री–पुत्र आदिसे युक्त जो हो, उस ब्राह्मणको जीविका अवश्य देनी चाहिये ॥२०॥

शुभे पात्रे ये गुणा गोप्रदाने तावान्दोषो ब्राह्मणस्वापहारे ।
सर्वावस्थं ब्राह्मणस्वापहारो दाराश्चैषां दूरतो वर्जनीयाः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ ३०१८ ॥

सत्पात्रको गोदान करनेसे जितने लाभ होते हैं, ब्राह्मणका धन हरनेसे उतने ही परिमाणसे पाप हुआ करता है । इसलिये किसी भी अवस्थामें ब्राह्मणोंके धनका अपहरण करना योग्य नहीं और उनकी स्त्रियोंका सम्बन्ध दूरसे ही त्यागना योग्य है ॥ २१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥ ३०१८ ॥

: ६९ :

भीष्म उवाच—

अत्रैव कीर्त्यते सद्भिर्ब्राह्मणस्वाभिमर्शने ।

नृगेण सुमहत्कृच्छ्रं यदवाप्तं कुरूद्वह ॥ १ ॥

भीष्म बोले- हे कुरुवंशधुरन्धर ! ब्राह्मणका धन हरनेके कारण राजा नृगको महत् क्लेश भोगने पडे थे, साधु लोग उसे ही वर्णन किया करते हैं ॥ १ ॥

निविशन्त्यां पुरा पार्थ द्वारवत्यामिति श्रुतिः ।

अदृश्यत महाकूपस्तृणवीरुत्समावृतः ॥ २ ॥

हे पार्थ ! हमने सुना है, कि पहले द्वारकापुरी जब बस रही थी उस समय तृण-लतासे परिपूरित एक महाकूप दिखायी दिया ॥ २ ॥

प्रयत्नं तत्र कुर्वाणास्तस्मात्कूपाज्जलार्थिनः

श्रमेण महता युक्तास्तस्मिंस्तोये सुसंवृते ॥ ३ ॥

उस कूएंका जल पीनेके अभिलाषी लोग बहुत परिश्रम करके उस घास- फूसको निकालनेके लिये अत्यंत प्रयत्न करने लगे ॥ ३ ॥

ददृशुस्ते महाकायं कृकलासमवस्थितम् ।

तस्य चोद्धरणे यत्नमकुर्वंस्ते सहस्रशः ॥ ४ ॥

अनन्तर उन लोगोंने उस कूएंके बीचमें स्थित एक बडा शरीरवाला गिरगिट देखा; उन्होंने गिरगिटको निकालनेके लिये सहस्रों बार यत्न किया ॥ ४ ॥

प्रग्रहैश्चर्मपट्टैश्च तं बध्वा पर्वतोपमम् ।

नाशक्नुवन्समुद्धर्तुं ततो जग्मुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥

रस्सी और चमडेकी पट्टियोंसे बांधके भी उस पर्वत सदृश गिरगिटको निकाल न सके, तब वे सब कोई श्रीकृष्णके समीप गये ॥ ५ ॥

खमावृत्योदपानस्य कृकलासः स्थितो महान् ।

तस्य नास्ति समुद्धर्तेत्यथ कृष्णे न्यवेदयन् ॥ ६ ॥

उन लोगोंने श्रीकृष्णसे कहा, कि एक बहुत बडा गिरगिट कूएंका आकाशभाग रोकके स्थित है, ऐसा कोई नहीं है, जो उसे बाहर निकाले ॥ ६ ॥

स वासुदेवेन समुद्धृतश्च पृष्टश्च कामान्निजगाद राजा ।

नृगस्तदात्मानमथो न्यवेदयत्पुरातनं यज्ञसहस्रयाजिनम् ॥ ७ ॥

उस गिरगिट रूपी राजा नृगने श्रीकृष्णके द्वारा कूएंसे बाहर निकाले जाने तथा पूछनेपर अपना कार्य कहा और पहले समयमें जो सहस्र यज्ञ किया था, वह भी कह सुनाया ॥७॥

तथा ब्रुवाणं तु तमाह माधवः शुभं त्वया कर्म कृतं न पापकम् ।
कथं भवान्दुर्गतिमीदृशीं गतो नरेन्द्र तद्ब्रूहि किमेतदीदृशम् ॥ ८ ॥
जब उन्होंने ऐसा वचन कहा, तब श्रीकृष्णचन्द्र उनसे बोले— आपने सदा शुभकार्य ही किया है, पापकर्म नहीं किया । नरेन्द्र ! तब आप किस प्रकार ऐसी दुर्गतिमें पड़े थे ? तुम्हारा ऐसा रूप क्यों हुआ, उसे वर्णन करो ॥ ८ ॥

शतं सहस्राणि शतं गवां पुनः पुनः शतान्यष्ट शतायुतानि ।
त्वया पुरा दत्तमितीह शुश्रुम नृप द्विजेभ्यः क्व नु तद्गतं तव ॥ ९ ॥
हे राजन् ! हमने सुना है, कि पहले समयमें आपने ब्राह्मणोंको पहले एक लाख गौएं दान कीं; फिर सौ और फिर सौ गौएं दान कीं; अनन्तर अस्सी लाख गौओंका दान किया । हे महाराज ! आपके उन समस्त दानोंका फल कहां गया ? ॥ ९ ॥

नृगस्ततोऽब्रवीत्कृष्णं ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ।
प्रोषितस्य परिभ्रष्टा गौरेका मम गोधने ॥ १० ॥
अनन्तर राजा नृग श्रीकृष्णसे बोले— परदेश गये हुए एक अग्निहोत्री ब्राह्मणकी एक गौ भूलसे हमारे गोसमूहमें आ घुसी थी ॥ १० ॥

गवां सहस्रे संख्याता तदा सा पशुपैर्मम ।
सा ब्राह्मणाय मे दत्ता प्रेत्यार्थमभिकाङ्क्षता ॥ ११ ॥
हमारे पशुपालकोंने उस गौको भी मेरी सहस्र गौओंके बीच गिना था । मैंने परलोकके फलकी आकांक्षासे एक ब्राह्मणको वह गौ दान की थी ॥ ११ ॥

अपश्यत्परिमार्गंश्च तां गां परगृहे द्विजः ।
ममेयमिति चोवाच ब्राह्मणो यस्य साभवत् ॥ १२ ॥
अग्निहोत्री ब्राह्मणने परदेशसे लौटनेके बाद उस गौको खोजते हुए, उसे दूसरे ब्राह्मणके घरमें देखा । वह गौ पहले जिसकी थी, उसने कहा, कि यह गौ मेरी है ॥ १२ ॥

तावुभौ समनुप्राप्तौ विवदन्तौ भृशज्वरौ ।
भवान्दाता भवान्हर्तेत्यथ तौ मां तदोचतुः ॥ १३ ॥
वे दोनों ही आपसमें झगडते हुए क्रुद्ध होके मेरे समीप आये और दोनों तब मुझसे बोले— कि " आप ही दाता तथा आप ही हर्ता हैं । " ॥ १३ ॥

शतेन शतसंख्येन गवां विनिमयेन वै ।
याचे प्रतिग्रहीतारं स तु मामब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥
मैंने दान लेनेवाले ब्राह्मणसे उस एक गायके बदले एक हजार गौएं दूंगा ऐसा कहकर नम्रतापूर्वक वह गाय मांगी; तब उसने मुझसे इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

देशकालोपसंपन्ना दोग्ध्री क्षान्तातिवत्सला ।
स्वादुक्षीरप्रदा धन्या मम नित्यं निवेशने ॥ १५ ॥

देशकालके अनुरूप, दूध देनेवाली, क्षमाशालिनी, अत्यन्त दयालु और स्वादिष्ट दूध देनेवाली है; धन्य है; यह सदा मेरे घरमें ही रहे ॥ १५ ॥

कृशं च भरते या गौर्मम पुत्रमपस्तनम् ।
न सा शक्या मया हातुमित्युक्त्वा स जगाम ह ॥ १६ ॥

प्रतिदिन मेरे स्थानमें दूध देती हुई मातृहीन मेरे कृश पुत्रको प्रतिपालन करती है, इसलिये मैं उसे न दे सकूंगा। ऐसा कहके वह चला गया ॥ १६ ॥

ततस्तमपरं विप्रं याचे विनिमयेन वै ।
गवां शतसहस्रं वै तत्कृते गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

तब मैंने दूसरे ब्राह्मणको उस गौके बदलेमें एक लाख गौएं लीजिए, ऐसी प्रार्थना की ॥१७॥

ब्राह्मण उवाच—

न राज्ञां प्रतिगृह्णामि शक्तोऽहं स्वस्य मार्गणे ।
सैव गौर्दीयतां शीघ्रं ममेति मधुसूदन ॥ १८ ॥

हे मधुसूदन ! तब वह ब्राह्मण बोला, मैं राजाओंका प्रतिग्रह नहीं करता, मैं स्वयं मेरे लिये धनका उपार्जन करनेमें समर्थ हूं; इसलिये शीघ्र मुझे वही गौ लाकर दीजिये ॥ १८ ॥

रुक्ममश्वांश्च ददतो रजतं स्यन्दनांस्तथा ।
न जग्राह ययौ चापि तदा स ब्राह्मणर्षभः ॥ १९ ॥

मैंने उसे घोडे, सोना, चांदी और रथ देनेको मान्य किया; तौभी उसने उसे नहीं लिया, परंतु वह ब्राह्मण श्रेष्ठ चला गया ॥ १९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चोदितः कालधर्मणा ।
पितृलोकमहं प्राप्य धर्मराजमुपागमम् ॥ २० ॥

इतने ही समयमें मैं कालसे प्रेरित होकर मृत्युको प्राप्त हुआ और पितृलोकमें जाके धर्मराजके समीप उपस्थित हुआ ॥ २० ॥

यमस्तु पूजयित्वा मां ततो वचनमब्रवीत् ।
नान्तः संख्यायते राजंस्तव पुण्यस्य कर्मणः ॥ २१ ॥

यमने मेरा सम्मान करके शेषमें मुझे यह कहा— हे महाराज ! तुम्हारे पुण्यकर्मोंकी गिनती नहीं की जाती ॥ २१ ॥

अस्ति चैव कृतं पापमज्ञानात्तदपि त्वया ।
चरस्व पापं पश्चाद्वा पूर्वं वा त्वं यथेच्छसि ॥ २२ ॥

परन्तु तुमने भूलसे एक पापकर्म किया है; तुम उस पापका फल पहले भोगो, या पीछे भोगो। जो तुम्हारी इच्छा हो, वह करो ॥ २२ ॥

रक्षितास्मीति चोक्तं ते प्रतिज्ञा चानृता तव ।
ब्राह्मणस्वस्य चादानं त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः ॥ २३ ॥

" मैं रक्षा करनेवाला हूं " यह तुम्हारी प्रतिज्ञा ब्राह्मणकी गाय खोई जानेसे मिथ्या हुई है और ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेसे तुम्हें तीन प्रकारका पाप हुआ है ॥ २३ ॥

पूर्वं कृच्छ्रं चरिष्येऽहं पश्चाच्छुभमिति प्रभो ।
धर्मराजं ब्रुवन्नेवं पतितोऽस्मि महीतले ॥ २४ ॥

मैंने धर्मराजसे कहा, कि हे प्रभु ! मैं पहले पापका फल भोगके उसके बाद पुण्यका फल भोगूंगा । ऐसा कहते ही मैं पृथ्वीपर गिरा ॥ २४ ॥

अश्रौषं प्रच्युतश्चाहं यमस्योच्चैः प्रभाषतः ।
वासुदेवः समुद्धर्ता भविता ते जनार्दनः ॥ २५ ॥

और गिरते समय ऊंचे स्वरसे कहा हुआ धर्मराजका यह वचन सुना, कि जनार्दन भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारा उद्धार करेंगे ॥ २५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते क्षीणे कर्माणि दुष्कृते ।
प्राप्स्यसे शाश्वताँल्लोकाञ्जितान्स्वेनैव कर्मणा ॥ २६ ॥

सहस्र वर्ष पूरा होनेपर तुम्हारा पाप कर्म नष्ट होगा, तब तुम निज पुण्य कर्मके सहारे विजित शाश्वत लोकोंको पाओगे ॥ २६ ॥

कूपेऽऽत्मानमधःशीर्षमपश्यं पतितं च ह ।
तिर्यग्योनिमनुप्राप्तं न तु मामजहात्स्मृतिः ॥ २७ ॥

मैंने नीचे शिर करके अपनेको कूएंके बीच पडा हुआ देखा; तिर्यग्योनिको प्राप्त होनेपर भी पूर्वजन्मोंकी स्मृतिने मुझे परित्याग नहीं किया ॥ २७ ॥

त्वया तु तारितोऽस्म्यद्य किमन्यत्र तपोबलात् ।
अनुजानीहि मां कृष्ण गच्छेयं दिवमद्य वै ॥ २८ ॥

हे श्रीकृष्ण ! आज तुम्हारे द्वारा मेरा उद्धार हुआ है; इसमें आपके तपोबलके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ? इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये, अब मैं स्वर्गको जाऊंगा ॥ २८ ॥

अनुज्ञातः स कृष्णेन नमस्कृत्य जनार्दनम् ।
विमानं दिव्यमास्थाय ययौ दिवमरिंदम ॥ २९ ॥

हे शत्रुनाशन ! अनन्तर श्रीकृष्णने उन्हें आज्ञा दे दी और राजा नृग उन्हें प्रणाम कर, दिव्य मार्गका आश्रय ले सुरलोकको गये ॥ २९ ॥

ततस्तस्मिन्दिवं प्राप्ते नृगे भरतसत्तम ।
वासुदेव इमं श्लोकं जगाद कुरुनन्दन ॥ ३० ॥

हे भरतसत्तम कुरुनन्दन ! अनन्तर राजा नृगके स्वर्गमें जानेपर वासुदेव नन्दन श्रीकृष्णने यह श्लोक कहा ॥ ३० ॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं पुरुषेण विजानता ।
ब्राह्मणस्वं हृतं हन्ति नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको ब्राह्मणके धनको हरना योग्य नहीं है, जैसे ब्राह्मणकी गौने राजा नृगको विनष्ट किया था, उसी भांति ब्राह्मणका चुराया हुआ धन चोरको विनष्ट किया करता है ॥ ३१ ॥

सतां समागमः सद्भिर्नाफलः पार्थ विद्यते ।
विमुक्तं नरकात्पश्य नृगं साधुसमागमात् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! साधुओंका समागम कभी निष्फल नहीं होता; नृग राजाका साधुसमागमसे ही नरकसे उद्धार हुआ, यह देखो ॥ ३२ ॥

प्रदानं फलवत्तत्र द्रोहस्तत्र तथाफलः ।
अपचारं गवां तस्माद्वर्जयेत्त युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ ३०५१ ॥

गौओंका दान उत्तम फलकारी और गौओंसे द्रोह करनेपर कुफल भोगना पडता है । हे युधिष्ठिर ! इसलिये गौवोंके विषयमें कभी बुरा आचरण न करना ॥ ३३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ ३०५१ ॥

: ७० :

युधिष्ठिर उवाच—

दत्तानां फलसंप्राप्तिं गवां प्रब्रूहि मेऽनघ ।
विस्तरेण महाबाहो न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पापरहित महाबाहो ! गोदान करनेवालोंकी फलप्राप्तिको विस्तारपूर्वक कहिये। मैं जितना ही सुनता हूं, किसीसे भी तृप्त नहीं होता हूं, इसलिये इसे ही यथार्थ वर्णन करिये ॥ १ ॥

×

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषेरुद्दालकेर्वाक्यं नाचिकेतस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— विद्वान् लोग इस विषयमें उद्दालक ऋषि और नाचिकेतके संवादयुक्त पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

ऋषिरुद्दालकिर्दीक्षामुपगम्य ततः सुतम् ।
त्वं मामुपचरस्वेति नाचिकेतमभाषत ।
समाप्ते नियमे तस्मिन्महर्षिः पुत्रमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् उद्दालक ऋषिने यज्ञकी दीक्षा स्वीकार करके निज पुत्र नाचिकेतसे कहा, कि तुम मेरी सेवा करो । उस यज्ञका नियम समाप्त होनेपर महर्षिने पुत्रसे कहा ॥ ३ ॥

उपस्पर्शनसक्तस्य स्वाध्यायनिरतस्य च ।
इध्मा दर्भाः सुमनसः कलशश्चाभितो जलम् ।
विस्मृतं मे तदादाय नदीतीरादिहाव्रज ॥ ४ ॥

मैंने स्नान करके वेदपाठ करते हुए, नदीके तीरपर समिध्, कुश, पुष्प और जलसे भरा कलश भूल आया हूं, तुम जाके उन सब वस्तुओंको इस स्थानपर ले आओ ॥ ४ ॥

गत्वानवाप्य तत्सर्वं नदीवेगसमाप्लुतम् ।
न पश्यामि तदित्येवं पितरं सोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ५ ॥

नाचिकेत वहां गया तो उसे कुछ नहीं मिला; सब वस्तुएं नदीके वेगमें बह गयी थीं । उस मुनिने पिताके निकट आके कहा, मुझे वहां कुछ दिखायी नहीं दिया ॥ ५ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमाविष्टो मुनिरुद्दालकिस्तदा ।
यमं पश्येति तं पुत्रमशपत्स महातपाः ॥ ६ ॥

महातपस्वी उद्दालक मुनि उस समय भूख—प्याससे युक्त और थके हुए थे, इसलिये उन्होंने पुत्रको शाप दिया, कि 'तुम यमका दर्शन करो ।' ॥ ६ ॥

तथा स पित्राभिहतो वाग्वज्रेण कृताञ्जलिः ।
प्रसीदेति ब्रुवन्नेव गतसत्त्वोऽपतद्भुवि ॥ ७ ॥

पुत्र पिताके वाग्वज्रसे पीडित होकर हाथ जोडके बोला, 'प्रसन्न होइये,' ऐसा कहते ही वह चेतना रहित होकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ ७ ॥

नाचिकेतं पिता दृष्ट्वा पतितं दुःखमूर्छितः ।
किं मया कृतमित्युक्त्वा निपपात महीतले ॥ ८ ॥

पिता नाचिकेतको पृथ्वीपर गिरा हुआ देखके दुःखसे मूर्च्छित होकर 'यह मैंने क्या किया !' ऐसा कहके स्वयं पृथ्वीपर गिर पडे ॥ ८ ॥

तस्य दुःखपरीतस्य स्वं पुत्रमुपगूहतः ।
व्यतीतं तदहःशेषं सा चोग्रा तत्र शर्वरी ॥ ९ ॥

उनके दुःखित होकर पुत्रको अपने गले लगाते रहनेपर दिनका शेष भाग और भयङ्करी रात्रि भी व्यतीत हुई ॥ ९ ॥

पित्र्येणाश्रुप्रपातेन नाचिकेतः कुरूद्वह ।
प्रास्पन्दच्छयने कौश्ये वृष्ट्या सस्यमिवाप्लुतम् ॥ १० ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! सूखी हुई अनाजकी खेती जैसे वर्षासे फिर हरी होती है, वैसे ही मानो, कुशकी चटाईपर पड़ा हुआ नाचिकेत पिताके आंसू गिरनेपर हिलने लगा ॥ १० ॥

स पर्यपृच्छत्तं पुत्रं श्लाघ्यं प्रत्यागतं पुनः ।
दिव्यैर्गन्धैः समादिग्धं क्षीणस्वप्नमिवोत्थितम् ॥ ११ ॥

पिताने उस मरकर फिर लौट आये, मानो नींद टूट जानेके कारण उठे हुए, दिव्य गन्धसे युक्त माननीय पुत्रसे पूछा ॥ ११ ॥

अपि पुत्र जिता लोकाः शुभास्ते स्वेन कर्मणा ।
दिष्ट्या चासि पुनः प्राप्तो न हि ते मानुषं वपुः ॥ १२ ॥

हे पुत्र! क्या तुमने निजकर्मसे समस्त शुभ लोकोंपर जय प्राप्त किया है? दैवबलसे मैंने तुम्हें फिर पाया; तुम्हारा यह शरीर मनुष्यका नहीं है, वह दिव्य है ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पित्रा पृष्टो महात्मना ।
अन्वर्थं तं पितुर्मध्ये महर्षीणां न्यवेदयत् ॥ १३ ॥

परलोकके सब विषयोंके प्रत्यक्षदर्शी उनका पुत्र पिताके पूछनेपर उन्हें अन्यान्य साधु महर्षियोंके बीच समस्त वृत्तान्त सुनाने लगा ॥ १३ ॥

कुर्वन्भवच्छासनमाशु यातो ह्यहं विशालां रुचिरप्रभावाम् ।
वैवस्वतीं प्राप्य सभामपश्यं सहस्रशो योजनहैमभौमाम् ॥ १४ ॥

मैंने आपकी आज्ञाका प्रतिपालन करनेके लिये शीघ्र ही निकलकर अत्यन्त विशाल और रुचिर प्रभावयुक्त यमपुरीमें जाकर वहांकी सभा देखी; वह सुवर्णचन्द्रके समान प्रभासे प्रकाशित होकर सहस्रों योजन तक अपना तेज फैला रही थी ॥ १४ ॥

दृष्ट्वैव मामभिमुखमापतन्तं गृहं निवेद्यासनमादिदेश ।
वैवस्वतोऽर्घ्यादिभिरर्हणैश्च भवत्कृते पूजयामास मां सः ॥ १५ ॥

यमराजने मुझे घरमें सन्मुख पहुंचा हुआ देखके आसन देनेके लिये आज्ञा दी; उन्होंने आपके लिये पाद्य अर्घ्यसे मेरी पूजा की ॥ १५ ॥

ततस्त्वहं तं शनकैरवोचं वृतं सदस्यैरभिपूज्यमानम् ।
प्राप्तोऽस्मि ते विषयं धर्मराज लोकानर्हे यान्स्म तान्मे विधत्स्व ॥ १६ ॥
अनन्तर मैंने सभासदोंसे घिरे तथा पूजित यमसे मृदुस्वरसे कहा, हे धर्मराज ! मैं आपके राज्यमें आया हूं, इसलिये मैं जिन लोकोंके योग्य होऊं उनका विधान करिये ॥ १६ ॥

यमोऽब्रवीन्मां न मृतोऽसि सौम्य यमं पश्येत्याह तु त्वां तपस्वी ।
पिता प्रदीप्ताग्निसमानतेजा न तच्छक्यमनृतं विप्र कर्तुम् ॥ १७ ॥
यम मुझसे बोले— हे प्रियदर्शन ! तुम मरे नहीं हो; तुम्हारे तेजस्वी पिताने तुम्हें केवल इतना ही कहा था, कि " यमका दर्शन करो " हे विप्र ! तुम्हारे पिता प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी हैं, इसलिये उसे मैं मिथ्या नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

दृष्टस्तेऽहं प्रतिगच्छस्व तात शोचत्यसौ तव देहस्य कर्ता ।
ददानि किं चापि मनःप्रणीतं प्रियातिथे तव कामान्वृणीष्व ॥ १८ ॥
हे तात ! तुमने मुझे देखा, इसलिये अब लौट जाओ; वह तुम्हारे देहकर्ता पिता शोक करते हैं । मैं तुम्हारा कौनसा अभिलषित पूर्ण करूं ? तुम मेरे प्रिय अतिथि हो, इसलिये जो इच्छा हो, वह वर मांगो ॥ १८ ॥

तेनैवमुक्तस्तमहं प्रत्यवोचं प्राप्तोऽस्मि ते विषयं दुर्निवर्त्यम् ।
इच्छाम्यहं पुण्यकृतां समृद्धाँल्लोकान्द्रष्टुं यदि तेऽहं वरार्हः ॥ १९ ॥
धर्मराजका ऐसा वचन सुनके मैंने उनसे कहा, जिस स्थानमें आनेसे फिर कोई लौटके नहीं जा सकता, मैं आपके उस ही राज्यमें आया हूं; यदि आप मुझे वरप्रदानके योग्य समझते हैं, तो मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके समृद्ध लोकोंको देखनेकी इच्छा करता हूं ॥ १९ ॥

यानं समारोप्य तु मां स देवो वाहैर्युक्तं सुप्रभं भानुमन्तम् ।
संदर्शयामास तदा स्म लोकान्सर्वांस्तदा पुण्यकृतां द्विजेन्द्र ॥ २० ॥
हे द्विजेन्द्र ! अनन्तर उस देवने मुझे वाहनयुक्त प्रकाशमान उत्तम प्रभावाले तेजस्वी यान पर चढाके उस समय पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले सब लोकोंको दिखाया ॥ २० ॥

अपश्यं तत्र वेश्मानि तैजसानि कृतात्मनाम् ।
नानासंस्थानरूपाणि सर्वरत्नमयानि च ॥ २१ ॥
मैंने वहां महात्माओंके प्रकाशमय गृहोंको देखा, उन गृहोंकी बनावट अनेक प्रकारकी थी और उनका सब प्रकारके रत्नोंसे निर्माण हुआ था ॥ २१ ॥

चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च ।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ॥ २२ ॥
वे सब चन्द्रमण्डलकी भांति तेजोमय थे; उनपर छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी थीं; उनमें सैकडों मंजिले थीं; उनमें जलाशय और वन स्थित थे ॥ २२ ॥

वैदूर्यार्कप्रकाशानि रूप्यरुक्ममयानि च ।
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ॥ २३ ॥

वह वैदूर्य तथा सूर्यकी भांति प्रकाशमान थे; कितने रौप्य और स्वर्णमय थे; उदित सूर्यकी भांति लाल रंगवाले कितने ही थे; उनमेंसे कुछ स्थावर और कुछ विचरनेवाले थे ॥ २३ ॥

भक्ष्यभोज्यमयाञ्शैलान्वासांसि शयनानि च ।
सर्वकामफलांश्चैव वृक्षान्भवनसंस्थितान् ॥ २४ ॥

उनमें भक्ष्य और भोज्य वस्तुओंके पर्वत थे, वस्त्र और शय्या विपुल थीं; सब मनोकामनाओंके फलोंको देनेवाले वृक्ष उन भवनोंकी सीमामें थे ॥ २४ ॥

नद्यो वीथ्यः सभा वापी दीर्घिकाश्चैव सर्वशः ।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्येव सहस्रशः ॥ २५ ॥

उन लोकोंमें नदियां, गलियां, सभागृह, वापी, तालाब और सहस्रों जोतकर तैयार घोषयुक्त रथ सब ओर थे ॥ २५ ॥

क्षीरस्रवा वै सरितो गिरींश्च सर्पिस्तथा विमलं चापि तोयम् ।
वैवस्वतस्यानुमतांश्च देशानदृष्टपूर्वान्सुबहूनपश्यम् ॥ २६ ॥

दूध बहानेवाली नदियां, पर्वत, घी, निर्मल जल और वैवस्वतकी अनुमतीसे बहुतेरे अदृष्टपूर्व स्थानोंको मैंने देखा ॥ २६ ॥

सर्वं दृष्ट्वा तदहं धर्मराजमवोचं वै प्रभविष्णुं पुराणम् ।
क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः शाश्वत्स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः ॥ २७ ॥

मैंने वह सब देखके पुरातन प्रभु धर्मराजसे कहा, ये सब प्रवाही दूध और घृतकी नदियां किनकी भोज्यरूपी निर्दिष्ट हुई हैं ॥ २७ ॥

यमोऽब्रवीद्विद्धि भोज्यास्त्वमेता ये दातारः साधवो गोरसानाम् ।
अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकाः समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम् ॥ २८ ॥

यम बोले– ये जिनकी भोज्य हैं, वह तुम सुनो । जो साधु पुरुष गोरस दान करते हैं, ये उनके ही भोज्य हैं; जो लोग गौ प्रदान करनेमें रत रहते हैं, उन सब पुण्यात्माओंके लिये शाश्वत और शोकरहित लोक हैं, वे उनसे परिपूरित हैं ॥ २८ ॥

न त्वेवासां दानमात्रं प्रशस्तं पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च ।
ज्ञात्वा देया विप्र गवान्तरं हि दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ २९ ॥

हे विप्र ! इन गौवोंका केवल दानही श्रेष्ठ नहीं है, वैसी गौओंका पालन करना भी अत्यन्त श्रेष्ठ है; सुपात्र, उत्तम काल, विधि और विशिष्ट गौ इन सबोंका जानकर गोदान करे; क्योंकि अग्नि और सूर्य स्वरूप गौका विशेष ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है ॥ २९ ॥

स्वाध्यायाढ्यो योऽतिमात्रं तपस्वी वैतानस्थो ब्राह्मणः पात्रमासाम्।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥ ३० ॥

जो ब्राह्मण निज शाखायुक्त वेदोंके स्वाध्यायसे युक्त अत्यन्त तपस्वी और यज्ञ करनेवाला है वही गोदानके पात्र होता है; कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतसे मुक्त तथा परिवारका पोषण करनेके लिये अभ्यागत हुए हों, वे भी दानके पात्र हैं; इनको दानमें दी हुई गौएं प्रशंसनीय हुआ करती हैं ॥ ३० ॥

तिस्रो रात्रीरद्भिरुपोष्य भूमौ तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः।
वत्सैः प्रीताः सुप्रजाः सोपचारास्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥ ३१ ॥

केवल जल पीके तथा भूमिपर सोकर त्रिरात्रव्रत करके खिला–पिलाकर तृप्त गौओंको भोजन आदिसे संतुष्ट किये ब्राह्मणोंको दान करे; जिन गौओंका दान करे, वे बछडेके सहित अत्यन्त प्रसन्न और उत्तम सन्ततिवाली हों और उन्हें, अलंकृत करके दान करना चाहिये। ऐसी गौओंका दान करके तीन दिनोंतक गोरसका आहार करके रहे ॥ ३१ ॥

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति लोमानि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥ ३२ ॥

कांसेकी दोहनीसे युक्त, उत्तम स्वभाववाली, कल्याणयुक्त सवत्सा और जो भागती न हों, वैसी गौ दान करनेसे उसके शरीरमें जितने परिमाणसे रोएं रहते हैं, दाता उतने वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥ ३२ ॥

तथानड्वाहं ब्राह्मणाय प्रदाय दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम्।
कुलानुजीवं वीर्यवन्तं बृहन्तं भुङ्क्ते लोकान्संमितान्धेनुदस्य ॥ ३३ ॥

काबूमें किया हुआ, बोझा ढोनेवाला, उत्तम बलवान्, युवा, वीर्यवान्, कृषक जीविका चलाने योग्य और विशाल वृषभका ब्राह्मणको दान करनेवाला गोदाताके समान लोकोंको भोग किया करता है ॥ ३३ ॥

गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः।
वृत्तिग्लाने संभ्रमे वा महार्थे कृष्यर्थे वा होमहेतोः प्रसूत्याम् ॥ ३४ ॥

पण्डित लोग कहा करते हैं, कि जो गौओंके विषयमें क्षमाशील, गौ ही जिनके लिये अवलम्ब है, वैसे कृतज्ञ, आजीविकाहीन ब्राह्मण गोदानका पात्र है। आजीविकासे रहित पुरुषोंके रोगयुक्त होनेपर उनके पथ्यके लिये, दुर्भिक्षके समय यज्ञके निमित्त, कृषि, होमके लिये हविष्य और घरमें स्त्रीके बच्चा होनेवाला हो, ॥ ३४ ॥

गुर्वर्थे वा बालपुष्ट्याभिषङ्गाद्गावो दातुं देशकालोऽविशिष्टः ।
अन्तर्जाताः सुक्रयज्ञानलब्धाः प्राणक्रीता निर्जिताश्चौदकाश्च ॥ ३५ ॥

गुरुके लिये दक्षिणा तथा बालककी पुष्टिके निमित्त गोदुग्धके लिये आवश्यकता हो ऐसे लोगोंको गौ दान करनेसे देश और कालके अनुसार विशिष्ट दान होता है। जो गौवें दुग्धवती मालूम हों, जो मोल लेने या ज्ञानसे प्राप्त हुई हों, जो प्राणियोंके बदलीमें ली गई तथा जीतकर लायी हों और विवाहके समयमें जो दहेजमें प्राप्त होती हैं, ऐसी गौएं दानके लिये उत्तम हैं ॥ ३५ ॥

नाचिकेत उवाच—

श्रुत्वा वैवस्वतवचस्तमहं पुनरब्रुवम् ।
अगोमी गोप्रदातॄणां कथं लोकान्निगच्छति ॥ ३६ ॥

नाचिकेत बोले— मैंने वैवस्वत यमका बचन सुनके फिर उनसे कहा, गोदानके अभावमें किस प्रकार गोदाताओंको ही मिलनेवाले लोकोंमें मनुष्य जा सकेगा ? ॥ ३६ ॥

ततो यमोऽब्रवीद्धीमान्गोप्रदाने परां गतिम् ।
गोप्रदानानुकल्पं तु गामृते सन्ति गोप्रदाः ॥ ३७ ॥

अनन्तर बुद्धिमान यम गोप्रदानकी परम गति तथा गोदानके विना गोप्रदानके समान फल देनेवाले दानका वर्णन करने लगे। इसके अनुसार दान करनेसे विना गायके भी लोग गोदान करनेवाले हो सकते हैं ॥ ३७ ॥

अलाभे यो गवां दद्याद्घृतधेनुं यतव्रतः ।
तस्यैता घृतवाहिन्यः क्षरन्ते वत्सला इव ॥ ३८ ॥

गौओंके अभावमें जो यतव्रती होकर घृतरूपी गौका दान करता है, उसके लिये ये घृतवाहिनी नदियां वत्सला गौओंकी भांति घृत बहाती हैं ॥ ३८ ॥

घृतालाभे च यो दद्यात्तिलधेनुं यतव्रतः ।
स दुर्गात्तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते ॥ ३९ ॥

घृतके अभावमें जो पुरुष यतव्रती होकर तिलमयी गौका दान करता है, वह गौके द्वारा क्लेशोंसे छूटकर दूधकी नदीमें प्रमुदित होता है ॥ ३९ ॥

तिलालाभे च यो दद्याज्जलधेनुं यतव्रतः ।
स कामप्रवहां शीतां नदीमेतामुपाश्नुते ॥ ४० ॥

जो मनुष्य यतव्रत होके तिलके अभावमें जलमयी धेनुका दान करता है, वह इच्छित वस्तु-ओंको बहानेवाली इस शीतल नदीके निकट रहकर भोग किया करता है ॥ ४० ॥

एवमादीनि मे तत्र धर्मराजो न्यदर्शयत् ।
दृष्ट्वा च परमं हर्षमवापमहमच्युत ॥ ४१ ॥

धर्मराजने इस ही प्रकार वहां मुझे सब स्थान दिखाये । हे अच्युत ! मैं वह सब देखके परम हर्षित हुआ ॥ ४१ ॥

निवेदये चापि प्रियं भवत्सु क्रतुर्महानल्पधनप्रचारः ।
प्राप्तो मया तात स मत्प्रसूतः प्रपत्स्यते वेदविधिप्रवृत्तः ॥ ४२ ॥

हे तात ! मैं आपके समीप यह प्रिय वृत्तान्त सुनाता हूं; मैंने वहां थोडेमेंही धनसे सफल होनेवाला यह गोदानरूपी अत्यन्त महान् यज्ञ प्राप्त किया है; वह यहां वेदविधिके अनुसार मेरे द्वारा प्रकट होकर सर्वत्र प्रसिद्ध होगा ॥ ४२ ॥

शापो ह्ययं भवतोऽनुग्रहाय प्राप्तो मया यत्र दृष्टो यमो मे ।
दानव्युष्टिं तत्र दृष्ट्वा महार्थां निःसंदिग्धं दानधर्मांश्चरिष्ये ॥ ४३ ॥

मेरे विषयमें आपका यह शाप मुझपर अनुग्रहके निमित्त ही प्राप्त हुआ था, जिसके प्रभावसे मैंने वहां धर्मराज यमका दर्शन किया । मैं वहांपर दानके महान् फलको देखके शङ्कारहित होकर दानधर्माचरण करूंगा ॥ ४३ ॥

इदं च मामब्रवीद्धर्मराजः पुनः पुनः संप्रहृष्टो द्विजर्षे ।
दानेन तात प्रयतोऽभूः सदैव विशेषतो गोप्रदानं च कुर्याः ॥ ४४ ॥

हे द्विजर्षि ! धर्मराजने बार बार अत्यन्त प्रसन्न होके यह भी मुझसे कहा है, कि तात ! जो लोग दान विषयमें सदा प्रयत्न करते हैं, वे विशेष रीतिसे गोदान करें ॥ ४४ ॥

शुद्धो ह्यर्थो नावमन्यः स्वधर्मात्पात्रे देयं देशकालोपपन्ने ।
तस्माद्गावस्ते नित्यमेव प्रदेया मा भूच्च ते संशयः कश्चिदत्र ॥ ४५ ॥

शुद्ध अर्थ यही है, कि धर्मकी अवमानना मत करो; देश कालके अनुसार सुपात्रको दान देना उचित है; इसलिये तुम कुछ संशय न करके सदा गोदान करो ॥ ४५ ॥

एताः पुरा अददन्नित्यमेव शान्तात्मानो दानपथे निविष्टाः ।
तपांस्युग्राण्यप्रतिशङ्कमानास्ते वै दानं प्रददुश्चापि शक्त्या ॥ ४६ ॥

पहले समयमें दानपथमें स्थित शान्तचित्तवाले मनुष्य सदा गोदान करते थे; वे लोग उग्र तपस्याविषयमें शङ्का न करते हुए शक्तिके अनुसार दान करनेमें प्रवृत्त होते थे ॥ ४६ ॥

काले शक्त्या मत्सरं वर्जयित्वा शुद्धात्मानः श्रद्धिनः पुण्यशीलाः ।
दत्त्वा तप्त्वा लोकममुं प्रपन्ना देदीप्यन्ते पुण्यशीलाश्च नाके ॥ ४७ ॥

यथासमय शक्तिके अनुसार मत्सरतारहित होके पवित्रचित्तवाले श्रद्धावान् पुण्यशील मनुष्य गोदान तथा तपस्या करनेसे परलोकमें जाके अपने पुण्यशीलताके कारण स्वर्गके बीच प्रकाशित होते हैं ॥ ४७ ॥

एतद्दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः पात्रे दत्तं प्रापणीयं परीक्ष्य ।
काम्याष्टम्यां वर्तितव्यं दशाहं रसैर्गवां शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ ४८ ॥
न्यायसे प्राप्त किये हुए इस गोधनका ब्राह्मणोंको दान करो और पात्रकी परीक्षा करके सुपात्रको गाय दो; काम्याष्टमीसे दस दिनोंतक गोमय, गोमूत्र तथा गोरसके सहारे जीवन बिताओ ॥ ४८ ॥

वेदव्रती स्याद्वृषभप्रदाता वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने ।
तीर्थावाप्तिर्गोप्रयुक्तप्रदाने पापोत्सर्गः कपिलायाः प्रदाने ॥ ४९ ॥
वृषभ दान करनेवाला पुरुष वेदव्रती होता है, दो बैलोंका दान करनेसे वेद विद्याकी प्राप्ति होती है; बैलोंसे युक्त रथ तथा शकट आदि दान करनेसे तीर्थका लाभ हुआ करता है और कपिला गौका दान करनेसे पाप नष्ट होता है ॥ ४९ ॥

गामप्येकां कपिलां संप्रदाय न्यायोपेतां कल्मषाद्विप्रमुच्येत् ।
गवां रसात्परमं नास्ति किंचिद्गवां दानं सुमहत्तद्वदन्ति ॥ ५० ॥
न्यायसे प्राप्त हुई एक ही कपिला गौ दान करनेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त हुआ करता है । गोरससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, इस ही लिये पण्डित लोग गोदानको अत्यन्त महान् कहा करते हैं ॥ ५० ॥

गावो लोकान्धारयन्ति क्षरन्त्यो गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके ।
यस्तज्जानन्न गवां हार्दमेति स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५१ ॥
गौवें दूध देती हुई लोगोंका पोषण करती हैं, इस लोकमें गौवें ही सबके लिये अन्न उत्पन्न करती हैं; जो इसे जानके गौवोंके प्रति स्नेहका भाव नहीं रखता, वह पापी मनुष्य नरकमें पडता है ॥ ५१ ॥

यत्ते दातुं गोसहस्रं शतं वा शतार्धं वा दश वा साधुवत्साः ।
अप्येकां वा साधवे ब्राह्मणाय सास्यामुष्मिन्पुण्यतीर्था नदी वै ॥ ५२ ॥
जो मनुष्य अच्छे बछडे सहित सहस्र, सौ, पचास, दस अथवा एक गौका साधु ब्राह्मणको दान देता है, तो वही दान की हुई गौ परलोकमें दाताके पक्षमें पुण्यतीर्थवाली नदी स्वरूप हुआ करती है ॥ ५२ ॥

प्राप्त्या पुष्ट्या लोकसंरक्षणेन गावस्तुल्याः सूर्यपादैः पृथिव्याम् ।
शब्दश्चैकः संततिश्चोपभोगस्तस्माद्गोदः सूर्य इवाभिभाति ॥ ५३ ॥
प्राप्ति, पुष्टि और लोगोंकी रक्षाके हेतु इस पृथिवीमें गौवें सूर्यकिरणसदृश हैं; गोशब्दसे सूर्य किरण और गौ, इन दोनोंका ही बोध हुआ करता है । गौओंसे सन्तति और उपभोग प्राप्त होते हैं, इसलिये गोदान करनेवाला सूर्यकी भांति विराजता है ॥ ५३ ॥

×

गुरुं शिष्यो वरयेद्गोप्रदाने स वै वक्ता नियतं स्वर्गदाता ।
विधिज्ञानां सुमहान्नेष धर्मो विधिं ह्याद्यं विधयः संश्रयन्ति ॥ ५४ ॥
शिष्य गुरुको गोदान स्वीकार करनेके लिये चुने; तो वह गुरु अवश्य ही स्वर्गदाता होगा। जो विधिको जानते हैं, उनके लिये यह गोदान उत्तम महान् धर्म है; योगज्ञान प्रभृति सब विधियां इस आद्यविधिके बीच संमिलित होती हैं ॥ ५४ ॥

एतद्दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः पात्रे दत्त्वा प्रापयेथाः परीक्ष्य ।
त्वय्याशंसन्त्यमरा मानवाश्च वयं चापि प्रसृते पुण्यशीलाः ॥ ५५ ॥
न्यायसे प्राप्त हुआ गोधन पात्रकी परीक्षा करके ब्राह्मणोंको दान करो और उसे ब्राह्मणके घर पहुंचाना । तुम प्रसिद्ध पुण्यशील हो, इसलिये देवता, मनुष्य तथा हम सब कोई तुमसे धर्मकी आशा किया करते हैं ॥ ५५ ॥

इत्युक्तोऽहं धर्मराज्ञा महर्षे धर्मात्मानं शिरसाभिप्रणम्य ।
अनुज्ञातस्तेन वैवस्वतेन प्रत्यागमं भगवत्पादमूलम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥ ३१०७ ॥

हे महर्षि ! धर्मराजने जब मुझसे इतनी कथा कही, तब मैंने सिर झुकाके उन्हें प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे लौटके आपके चरणमूलमें आगया हूं ॥ ५६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ ३१०७ ॥

: ७१ :

युधिष्ठिर उवाच—

उक्तं वै गोप्रदानं ते नाचिकेतमृषिं प्रति ।
माहात्म्यमपि चैवोक्तमुद्देशेन गवां प्रभो ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले— हे प्रभो ! आपने नाचिकेत ऋषिके प्रति किये गये गोदान सम्बन्धी उपदेशका और गोदानका फल तथा माहात्म्यका वर्णन कहा ॥ १ ॥

नृगेण च यथा दुःखमनुभूतं महात्मना ।
एकापराधादज्ञानात्पितामह महामते ॥ २ ॥
हे महाप्राज्ञ पितामह ! महात्मा राजा नृगने बिना जाने केवल एक ही अपराधसे महत् दुःख पाया था, उसे भी वर्णन किया ॥ २ ॥

द्वारवत्यां यथा चासौ निविशान्त्यां समुद्धृतः ।
मोक्षहेतुरभूत्कृष्णस्तदप्यवधृतं मया ॥ ३ ॥

द्वारकापुरी बननेपर जिस प्रकार उनका उद्धार हुआ, तथा श्रीकृष्ण जिस प्रकार उनके मोक्षके हेतु हुए थे, वह भी मैंने सावधानतासे सुना ॥ ३ ॥

किं त्वस्ति मम संदेहो गवां लोकं प्रति प्रभो ।
तत्त्वतः श्रोतुमिच्छामि गोदा यत्र विशन्त्युत ॥ ४ ॥

परन्तु गोदान करनेसे जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें मुझे सन्देह है। हे प्रभु! इसलिये गोदान करनेवाले मनुष्य जिन लोकोंमें निवास करते हैं, उस वृत्तान्तको यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथापृच्छत्पद्मयोनिमेतदेव शतक्रतुः ॥ ५ ॥

भीष्म बोले— इन्द्रने यही विषय ब्रह्मासे पूछा था, प्राचीन विद्वान् लोग ऐसे स्थलमें उसही पुरातन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं ॥ ५ ॥

शक्र उवाच—

स्वर्लोकवासिनां लक्ष्मीमभिभूय स्वया त्विषा ।
गोलोकवासिनः पश्ये व्रजतः संशयोऽत्र मे ॥ ६ ॥

इन्द्र बोले— गोलोकवासियोंको स्वकर्म प्रकाशके सहारे स्वर्गवासियोंके भाग्यको लांघकर चले जाते हुए देखके, इस विषयमें मुझे सन्देह हुआ है ॥ ६ ॥

कीदृशा भगवँल्लोका गवां तद्ब्रूहि मेऽनघ ।
यानावसन्ति दातार एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ७ ॥

हे पापरहित भगवन्! कहिये, गोलोक किस प्रकार हैं? किन स्थानोंमें गोदाता पुरुष निवास करते हैं, उन्हें जाननेकी अभिलाष करता हूं ॥ ७ ॥

कीदृशाः किंफलाः कःस्वित्परमस्तत्र वै गुणः ।
कथं च पुरुषास्तत्र गच्छन्ति विगतज्वराः ॥ ८ ॥

गोलोक कैसे हैं, उनका फल क्या है और वहांपर उत्तम गुण कौनसा है? मनुष्य किस प्रकार चिन्ता— क्लेशरहित होके वहां जाते हैं? ॥ ८ ॥

कियत्कालं प्रदानस्य दाता च फलमश्नुते ।
कथं बहुविधं दानं स्यादल्पमपि वा कथम् ॥ ९ ॥

दाता कितने समयतक दानका फल भोगता है? किस भांति अनेक प्रकारके अथवा थोडे दान होते हैं? ॥ ९ ॥

बह्वीनां कीदृशं दानमल्पानां चापि कीदृशम्।
अदत्त्वा गोप्रदाः सन्ति केन वा तच्च शंस मे ॥ १० ॥

बहुतसी गौओंका दान कैसा होता है ? थोडीसी गौओंका दान किस प्रकारका है ? तथा विना गोदानके भी किस प्रकारसे मनुष्य गोदाता हुआ करते हैं ? उसे भी मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १० ॥

कथं च बहुदाता स्यादल्पदात्रा समः प्रभो।
अल्पप्रदाता बहुदः कथं च स्यादिहेश्वर ॥ ११ ॥

हे प्रभु ! बहुतका दान करनेवाला किस प्रकार अल्पदाताके समान होता है और हे ईश्वर ! थोडा दान करनेवाला किस भांति बहुप्रद हुआ करता है ? ॥ ११ ॥

कीदृशी दक्षिणा चैव गोप्रदाने विशिष्यते।
एतत्तथ्येन भगवन्मम शंसितुमर्हसि ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥ ३११९ ॥

हे भगवन् ! गोदानमें कैसी दक्षिणा श्रेष्ठ होती है ? इन सब विषयोंको मेरे समीप यथार्थ रीतिसे आपही वर्णन करनेके योग्य हैं ॥ १२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥ ३११९ ॥

: ७२ :

ब्रह्मोवाच—

योऽयं प्रश्नस्त्वया पृष्टो गोप्रदानाधिकारवान्।
नास्य प्रष्टास्ति लोकेऽस्मिंस्त्वत्तोऽन्यो हि शतक्रतो ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले— हे देवराज ! तुमने जो गोदानके विषयमें यह प्रश्न किया है, इस लोकके बीच तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस विषयमें जिज्ञासु नहीं है ॥ १ ॥

सन्ति नानाविधा लोका यांस्त्वं शक्र न पश्यसि।
पश्यामि यानहं लोकानेकपत्न्यश्च याः स्त्रियः ॥ २ ॥

हे शक्र ! अनेक प्रकारके ऐसे लोक हैं, जो कि तुम्हारे नेत्र–गोचर नहीं हुए; केवल मैं ही उन लोकोंको देखता हूं, और पतिव्रता स्त्रियां भी उन्हें देख सकती हैं ॥ २ ॥

कर्मभिश्चापि सुशुभैः सुव्रता ऋषयस्तथा।
सशरीरा हि तान्यान्ति ब्राह्मणाः शुभवृत्तयः ॥ ३ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि और शुभ आचरणयुक्त ब्राह्मण लोग अत्यन्त शुभ कर्मके सहारे वहां निज शरीरसे गमन किया करते हैं ॥ ३ ॥

शरीरन्यासमोक्षेण मनसा निर्मलेन च ।
स्वप्नभूतांश्च ताँल्लोकान्पश्यन्तीहापि सुव्रताः ॥ ४ ॥

उत्तम व्रत करनेवाले योगी पुरुष समाधि स्थितिमें अथवा शरीरसे सम्बन्ध त्याग देनेपर, अपने निर्मल चित्तके सहारे उन स्वप्नकी भांति दीखनेवाले लोकोंको यहांसे देखते हैं ॥४॥

ते तु लोकाः सहस्राक्ष शृणु यादृग्गुणान्विताः ।
न तत्र क्रमते कालो न जरा न च पापकम् ।
तथान्यन्नाशुभं किंचिन्न व्याधिस्तत्र न क्लमः ॥ ५ ॥

हे सहस्राक्ष ! वे सब लोक जैसे गुणोंसे युक्त हैं, उसे सुनो । वहां काल किसीको भी आक्रमण नहीं करता । जरा तथा अग्नि किसी पुरुषको आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं होती; वहां किसी भांतिके पाप, व्याधि और क्लेश नहीं हैं ॥ ५ ॥

यद्यच्च गावो मनसा तस्मिन्वाञ्छन्ति वासव ।
तत्सर्वं प्रापयन्ति स्म मम प्रत्यक्षदर्शनात् ।
कामगाः कामचारिण्यः कामात्कामांश्च भुञ्जते ॥ ६ ॥

हे वासव ! यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि गौएं उस स्थानमें मनही मन जो कुछ अभिलाष करें, वह उन्हें मिलता है । वे कामगामिनी और कामचारिणी होकर इच्छानुसार काम्य विषयोंको भोग करती हैं ॥ ६ ॥

वाप्यः सरांसि सरितो विविधानि वनानि च ।
गृहाणि पर्वताश्चैव यावद्द्रव्यं च किंचन ॥ ७ ॥

बावली, तालाब, नदियां विविध वन, गृह, तथा पर्वत आदि सब वहां हैं ॥ ७ ॥

मनोज्ञं सर्वभूतेभ्यः सर्वं तत्र प्रदृश्यते ।
ईदृशान्विद्धि ताँल्लोकान्नास्ति लोकस्ततोऽधिकः ॥ ८ ॥

सब प्राणियोंके समस्त मनोहर विषय वहां दिखाई देते हैं; ऐसे लोकसे उत्तम तथा वैसा दूसरा लोक नहीं है ॥ ८ ॥

तत्र सर्वसहाः क्षान्ता वत्सला गुरुवर्तिनः ।
अहंकारैर्विरहिता यान्ति शक्र नरोत्तमाः ॥ ९ ॥

हे शक्र ! वहां सबके विषयमें सहनशील, क्षमाशील, दयालु, गुरुके वशवर्ती और अहङ्कार-रहित उत्तम पुरुष गमन किया करते हैं ॥ ९ ॥

यः सर्वमांसानि न भक्षयीत पुमान्सदा यावदन्ताय युक्तः ।
मातापित्रोरर्चिता सत्ययुक्तः शुश्रूषिता ब्राह्मणानामनिन्द्यः ॥ १० ॥

जो किसी प्रकारका मांस भक्षण नहीं करता, सदा धर्म, ईश्वरोपासनामें युक्त रहता है, माता-पिताकी पूजा करता, सत्य बोलता, ब्राह्मणोंकी सेवामें तत्पर रहता, अनिन्द्य है ॥१०॥

अक्रोधनो गोषु तथा द्विजेषु धर्मे रतो गुरुशुश्रूषकश्च ।
यावज्जीवं सत्यवृत्ते रतश्च दाने रतो यः क्षमी चापराधे ॥ ११ ॥
जो गौओं और ब्राह्मणोंपर क्रोध नहीं करता तथा जो धर्ममें रत, गुरुजन-शुश्रुषायुक्त, जीवनभर सत्यका आचार और दान करनेमें रत, अपराध करनेपर भी क्षमावान॥ ११ ॥

मृदुर्दान्तो देवपरायणश्च सर्वातिथिश्चापि तथा दयावान् ।
ईदृग्गुणो मानवः संप्रयाति लोकं गवां शाश्वतं चाव्ययं च ॥ १२ ॥
कोमलतायुक्त, जितेन्द्रिय, देवताओंकी उपासना और सबका आतिथ्य करनेवाला और दयावान है, ऐसे गुणोंसे युक्त मनुष्य उस शाश्वत अक्षय गोलोकमें गमन करता है ॥ १२ ॥

न पारदारी पश्यति लोकमेनं न वै गुरुघ्नो न मृषाप्रलापी ।
सदापवादी ब्राह्मणः शान्तवेदो दोषैरन्यैर्यश्च युक्तो दुरात्मा ॥ १३ ॥
पराई स्त्रीमें रत रहनेवाला, गुरुकी हत्या करनेवाला, मिथ्यावादी, सदा निंदा करनेवाला और संयमी, विद्वान् ब्राह्मण जो दुष्टात्मा और इन दूसरे दोषोंसे युक्त है, वह इस गोलोकको देखनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

न मित्रध्रुङ्नैकृतिकः कृतघ्नः शठोऽनृजुर्धर्मविद्वेषकश्च ।
न ब्रह्महा मनसापि प्रपश्येद्गवां लोकं पुण्यकृतां निवासम् ॥ १४ ॥
मित्रद्रोही, वञ्चक, कृतघ्न, शठ, कोमलतारहित, धर्मद्वेषी और ब्रह्मघाती पुरुष पुण्यात्माओंके निवासस्थान गोलोकको मनसे भी देखनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १४ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं नैपुणेन सुरेश्वर ।
गोप्रदानरतानां तु फलं शृणु शतक्रतो ॥ १५ ॥
हे सुरेश्वर ! यह मैंने तुमसे विशेषरूपसे गोलोकका सब महत्त्व कहा । हे शतक्रतु ! अब गोदानमें रत मनुष्योंके फल सुनो ॥ १५ ॥

दायाद्यलब्धैरर्थैर्यो गाः क्रीत्वा संप्रयच्छति ।
धर्मार्जितधनक्रीतान्स लोकानश्नुतेऽक्षयान् ॥ १६ ॥
जो पुरुष निज पैतृक भागके धनसे गौएं खरीद लेके दान करता है और जो धर्मोपार्जित धनसे गौएं मोल लेके दान देता है, उसे उस धनसे अक्षय लोक प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

यो वै द्यूते धनं जित्वा गाः क्रीत्वा संप्रयच्छति ।
स दिव्यमयुतं शक्र वर्षाणां फलमश्नुते ॥ १७ ॥
हे शक्र ! जो द्यूतक्रीडामें धन जीतनेपर गौएं मोल लेके दान करता है, वह दस हजार दिव्य वर्षोंतक पुण्यका फल भोगता है ॥ १७ ॥

दायाद्या यस्य वै गावो न्यायपूर्वैरुपार्जिताः ।
प्रदत्तास्ताः प्रदातॄणां संभवन्त्यक्षया ध्रुवाः ॥ १८ ॥

अथवा पैतृक भागसे न्यायपूर्वक प्राप्त हुई गौओंका दान करता है, ऐसे दाताओंके लिये वे गौएं अक्षय फल देनेवाली होती हैं ॥ १८ ॥

प्रतिगृह्य च यो दद्याद् गाः सुशुद्धेन चेतसा ।
तस्यापीहाक्षयाँल्लोकान्ध्रुवान्विद्धि शचीपते ॥ १९ ॥

हे शचीपति ! जो पुरुष गोप्रतिग्रह करके फिर शुद्ध चित्तसे उनका दान करता है; उसे भी यहां अक्षय और स्थिर लोकोंकी अवश्य प्राप्ति होती है, यह जानो ॥ १९ ॥

जन्मप्रभृति सत्यं च यो ब्रूयान्नियतेन्द्रियः ।
गुरुद्विजसहः क्षान्तस्तस्य गोभिः समा गतिः ॥ २० ॥

जो नियतेन्द्रिय और क्षमावान् होकर जन्मसे ही सत्य वचन कहता है, गुरु और ब्राह्मणोंके कठोर वचनोंको सहन करता है, उस पुरुषको गौओंके समान गति प्राप्त होती है ॥ २० ॥

न जातु ब्राह्मणो वाच्यो यदवाच्यं शचीपते ।
मनसा गोषु न द्रुह्येद्गोवृत्तिर्गोनुकम्पकः ॥ २१ ॥

हे शचीनाथ ! ब्राह्मणको निन्दाके अकथनीय भाषण कदापि कहना उचित नहीं है । जो गौवृत्तिसे रहता है तथा गौओंके विषयमें दयाभाव रखता है, उसे कभी मनसे भी गौओंके प्रति द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

सत्ये धर्मे च निरतस्तस्य शक्र फलं शृणु ।
गोसहस्रेण समिता तस्य धेनुर्भवत्युत ॥ २२ ॥

हे शक्र ! जो पुरुष सत्य और धर्ममें रत रहता है, उसका फल सुनो । सत्य धर्मानुयायी मनुष्य यदि एक ही गौका दान करे तो उसे सहस्र गौओंके दानके तुल्य फल मिलता है ॥ २२ ॥

क्षत्रियस्य गुणैरेभिरन्वितस्य फलं शृणु ।
तस्यापि शततुल्या गौर्भवतीति विनिश्चयः ॥ २३ ॥

क्षत्रिय भी इन गुणोंसे युक्त होता है, तो उसे भी गोदानका फल मिलता है, सुनो । यह विशेष रीतिसे निश्चित है, कि उसकी गौभी सौ गौओंके समान फल देनेवाली होती है ॥ २३ ॥

वैश्यस्यैते यदि गुणास्तस्य पञ्चाशतं भवेत् ।
शूद्रस्यापि विनीतस्य चतुर्भागफलं स्मृतम् ॥ २४ ॥

वैश्यमें यदि ये सब गुण रहें, तो उसकी एक गौ पचास गौओंके सदृश है । विनययुक्त शूद्रके लिये चौथाई भागका फल कहा गया है ॥ २४ ॥

एतच्चैकं योऽनुतिष्ठेत युक्तः सत्येन युक्तो गुरुशुश्रूषया च ।
दान्तः क्षान्तो देवतार्ची प्रशान्तः शुचिर्बुद्धो धर्मशीलोऽनहंवाक् ॥ २५ ॥
जो सदा सावधान होकर इस धर्मका सत्यबुद्धिसे पालन करता है, और गुरुसेवामें परायण, संयमी, क्षमाशील, देवताओंका भक्त, शान्तचित्त, पवित्र, ज्ञानवान्, धर्मशील और अनहङ्कारी होता है ॥ २५ ॥

महत्फलं प्राप्नुते स द्विजाय दत्त्वा दोग्ध्रीं विधिनानेन धेनुम् ।
नित्यं दद्यादेकभक्तः सदा च सत्ये स्थितो गुरुशुश्रूषिता च ॥ २६ ॥
वह इस विधिके अनुसार ब्राह्मणको दूध देनेवाली गौका दान करे तो उसे महान् फल प्राप्त होता है; इसलिये एक समय भोजन करके, सत्यमें रत और गुरुसेवामें नियुक्त रहके गोदान करे ॥ २६ ॥

वेदाध्यायी गोषु यो भक्तिमांश्च नित्यं दृष्ट्वा योऽभिनन्देत गाश्च ।
आ जातितो यश्च गवां नमेत इदं फलं शक्र निबोध तस्य ॥ २७ ॥
हे शक्र ! जो वेदपाठी सदा गौओंके विषयमें भक्ति करता है और जो गौओंका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करता है, जन्मसे ही गौओंको नमस्कार करता है, उसका फल सुनो ॥ २७ ॥

यत्स्यादिष्ट्वा राजसूये फलं तु यत्स्यादिष्ट्वा बहुना काञ्चनेन ।
एतत्तुल्यं फलमस्याहुरग्र्यं सर्वे सन्तस्त्वृषयो ये च सिद्धाः ॥ २८ ॥
राजसूय यज्ञ करनेसे जो फल मिलता है, बहुतसे सुवर्णकी दक्षिणा देकर यज्ञ करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह मनुष्य भी उसके समान उत्तम फल प्राप्त करता है; यह समस्त सिद्ध, संत, महात्मा तथा ऋषियोंका कहना है ॥ २८ ॥

योऽग्रं भक्तात्किंचिदप्राश्य दद्याद्गोभ्यो नित्यं गोव्रती सत्यवादी ।
शान्तो बुद्धो गोसहस्रस्य पुण्यं संवत्सरेणाप्नुयात्पुण्यशीलः ॥ २९ ॥
जो गोव्रती होके भोजनकी वस्तुओंका अग्रभाग भोजन न करके पहले सदा गौओंको देता है, शान्त और विचारवान् होकर सत्यवादी रहता है, वह सत्यशील पुरुष प्रतिवर्ष सहस्र गोदान करनेका फल पाता है ॥ २९ ॥

य एकं भक्तमश्नीयाद्दद्यादेकं गवां च यत् ।
दश वर्षाण्यनन्तानि गोव्रती गोनुकम्पकः ॥ ३० ॥
जो गो सेवाका व्रती एकबार भोजन करके एक समयका भोजन गौओंको देता है, जो एक गौका दान करता है, तथा गौओं पर दया करता है, वह दस वर्षोंतक इस प्रकार गो सेवा करके अनन्त सुख भोग किया करता है ॥ ३० ॥

एकेनैव च भक्तेन यः क्रीत्वा गां प्रयच्छति ।
यावन्ति तस्या प्रोक्तानि दिवसानि शतक्रतो ।
तावच्छतानां स गवां फलमाप्नोति शाश्वतम् ॥ ३१ ॥

हे देवराज ! जो एकबार भोजन करके दूसरे समयके बचाये हुए भोजनसे गौ खरीदकर उसका दान करता है, उस गौके जितने दिन कहे गये हैं, उतने सैकड़े गौओंके दानका अक्षय फल प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणस्य फलं हीदं क्षत्रियेऽभिहितं शृणु ।
पञ्चवार्षिकमेतत्तु क्षत्रियस्य फलं स्मृतम् ।
ततोऽर्धेन तु वैश्यस्य शूद्रो वैश्यार्धतः स्मृतः ॥ ३२ ॥

यह ब्राह्मणके गोदान विषयक फल कहा गया, अब क्षत्रियको मिलनेवाला फल सुनो । क्षत्रिय गोदान निबन्धनसे पांच वर्षोंतक गौकी सेवा करे तो उसे वही फल प्राप्त होता है; उससे आधे समयमें वैश्यको और उससे भी आधे समयमें शूद्रको उसी फलकी प्राप्ति कही गयी है ॥ ३२ ॥

यश्चात्मविक्रयं कृत्वा गाः क्रीत्वा संप्रयच्छति ।
यावतीः स्पर्शयेद्गा वै तावत्तु फलमश्नुते ।
लोम्नि लोम्नि महाभाग लोकाश्चास्याक्षयाः स्मृताः ॥ ३३ ॥

जो आत्मविक्रयसे गौ खरीदकर उसका दान करता है, जबतक ब्रह्माण्डमें वह गौओंको स्पर्श कर सकता है, उतने समय तक वह उस दानका फल भोगता है । हे महाभाग ! गौओंके रोम रोममें अक्षय लोकोंका अस्तित्व माना गया है ॥ ३३ ॥

संग्रामेष्वर्जयित्वा तु यो वै गाः संप्रयच्छति ।
आत्मविक्रयतुल्यास्ताः शाश्वता विद्धि कौशिक ॥ ३४ ॥

हे इन्द्र ! जो संग्राममें जीतनेपर प्राप्त हुई गौओंका दान करता है, उन्हें वे गौएं स्वयंको बेचकर लेकर दी हुई गौओंके समान अक्षय फल देती हैं, यह जानो ॥ ३४ ॥

अलाभे यो गवां दद्यात्तिलधेनुं यतव्रतः ।
दुर्गात्स तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते ॥ ३५ ॥

गौके न मिलनेपर जो यतव्रती पुरुष तिलगौका प्रदान करता है, वह उस गौके सहारे सब क्लेशोंसे मुक्त होकर दूधकी धारा बहानेवाली नदीमें प्रमुदित होता है ॥ ३५ ॥

×

न ह्येवासां दानमात्रं प्रशस्तं पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च ।
कालज्ञानं विप्र गवान्तरं हि दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ ३६ ॥
विप्र ! गौओंका केवल दानमात्र ही श्रेष्ठ नहीं है; उसके लिये योग्य पात्र, काल, गोविशेष, विधि, कालका ज्ञान, अग्नि और सूर्यस्वरूप उत्तम पात्र तथा गौओंके तारतम्यको मालूम करना दुःसाध्य है ॥ ३६ ॥

स्वाध्यायाढ्यं शुद्धयोनिं प्रशान्तं वैतानस्थं पापभीरुं कृतज्ञम् ।
गोषु क्षान्तं नातितीक्ष्णं शरण्यं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ॥ ३७ ॥
वेदोंके स्वाध्यायसे युक्त, शुद्ध कुलमें उत्पन्न, प्रशान्त, यज्ञपरायण, पापभीरु, कृतज्ञ, गौओंके विषयमें क्षमावान्, अत्यन्त कठोरतारहित, गौकी रक्षा करनेमें समर्थ और जीविकासे रहित है, ऐसे ब्राह्मणको पण्डित लोग गोदानके पात्र कहा करते हैं ॥ ३७ ॥

वृत्तिग्लाने सीदति चातिमात्रं कृष्यर्थं वा होमहेतोः प्रसूत्याम् ।
गुर्वर्थं वा बालसंवृद्धये वा धेनुं दद्याद्देशकाले विशिष्टे ॥ ३८ ॥
जीविकाहीन, अवसन्न, कृषिकार्यके लिये, होमके लिये, पुत्र उत्पन्न होनेपर तथा गुरु और बालककी वृद्धिके लिये देशकालके अनुसार दुधारू गौका दान करे ॥ ३८ ॥

अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः प्राणक्रीता निर्जिताश्चौकजाश्च ।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥ ३९ ॥
गर्भवती, खरीदकर लायी हुई, ज्ञानके सहारे प्राप्त की हुई, दूसरे प्राणियोंको देके लायी गई, जीतकर उपार्जित तथा घरसे मिली कृच्छ्रसाध्य चान्द्रायण आदि व्रतोंमें प्राप्त, परित्यक्ता तथा पोषणके निमित्त आई हुई—ये सब विशेष गौएं इन्हीं कारणोंसे दानके लिये श्रेष्ठ हुआ करती हैं ॥ ३९ ॥

बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः सर्वाः प्रशंसन्ति सुगन्धवत्यः ।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ४० ॥
जो गौएं बलिष्ठ, शीलवलसे युक्त, जवान और सुगन्धवती होती हैं, उनकी सब कोई प्रशंसा करते हैं; जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ है, वैसे ही गौओंके बीच कपिला गौ श्रेष्ठ है ॥ ४० ॥

तिस्रो रात्रीस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः ।
वत्सैः पुष्टैः क्षीरपैः सुप्रचारास्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥ ४१ ॥
तीन रात्रि उपवास करके केवल जल पीके ही प्राण धारण करके, पृथ्वीपर शयन करे और गौओंको खिलाकर तृप्त करे; फिर ब्राह्मणोंको अन्न आदिके सहारे परितृप्त करके वे गौएं दान करना योग्य है; दूध पीनेवाले पुष्ट बछड़ोंके सहित उत्तम गौएं दान करके, तिरात गोरसके सहारे वृत्ति निर्वाह करनी उचित है ॥ ४१ ॥

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां साधुवत्सां कल्याणवृत्तामपलायिनीं च ।
यावन्ति लोमानि भवन्ति तस्यास्तावन्ति वर्षाणि वसत्यमुत्र ॥ ४२ ॥
सीधी-सूधी, उत्तम बछड़े युक्त, कल्याणदायक, न भागनेवाली उत्तम गौका दान करनेसे उसके शरीरमें जितने रोएं रहते हैं, उतने वर्षपर्यन्त दाता परलोकमें सुखपूर्वक रहता है ॥ ४२ ॥

तथानडुवाहं ब्राह्मणायाथ धुर्यं दत्त्वा युवानं बलिनं विनीतम्।
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यं प्राप्नोति लोकान्दशधेनुदस्य ॥ ४३ ॥
इस ही भांति ब्राह्मणको बोझा ढोनेवाले, युवा, बलवान, विनीत, हल खींचनेवाले और अनन्त वीर्यवान बैल दान करनेसे, दाताको दस गौओंके दाताके तुल्य लोक प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

कान्तारे ब्राह्मणान्गाश्च यः परित्राति कौशिक ।
क्षेमेणा च विमुच्येत तस्य पुण्यफलं शृणु ।
अश्वमेधक्रतोस्तुल्यं फलं भवति शाश्वतम् ॥ ४४ ॥
हे देवराज ! दुर्गम मार्गमें फंसे हुए ब्राह्मण और गौओंका उद्धार करनेसे, गौ तथा ब्राह्मणके कल्याणमय आशीर्वादसे वह पापोंसे विमुक्त होता है; इसलिये जो उन्हें ऐसे मार्गसे उबारता है, उसका फल सुनो । वह अश्वमेध यज्ञके तुल्य अक्षय फल पाता है ॥ ४४ ॥

मृत्युकाले सहस्राक्ष यां वृत्तिमनुकाङ्क्षते ।
लोकान्बहुविधान्दिव्यान्यद्वास्य हृदि वर्तते ॥ ४५ ॥
हे सहस्राक्ष ! वह मृत्यु कालमें जिस स्थितिकी अभिलाषा करता है और उसके हृदयमें जो अनेक प्रकारके दिव्य लोक और इच्छा होती है ॥ ४५ ॥

तत्सर्वं समवाप्नोति कर्मणा तेन मानवः ।
गोभिश्च समनुज्ञातः सर्वत्र स महीयते ॥ ४६ ॥
वह सब कुछ उस सत्कर्मके सहारे मनुष्य प्राप्त करता है और गौओंसे संमानित होकर सब ओर पूजित होता है ॥ ४६ ॥

यस्त्वेतेनैव विधिना गां वनेष्वनुगच्छति ।
तृणगोमयपर्णाशी निःस्पृहो नियतः शुचिः ॥ ४७ ॥
जो इस विधिसे गौओंका वनमें रहकर अनुसरण करता है तथा तृण, गोमय, पर्णाशी होके निःस्पृह, संयमी और सदा पवित्र रहता है ॥ ४७ ॥

अकामं तेन वस्तव्यं मुदितेन शतक्रतो ।
मम लोके सुरैः सार्धं लोके यत्रापि चेच्छति ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वासप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ २१६७ ॥

हे देवराज ! वह निष्काम तथा आनन्दित होके मेरे लोकमें देवताओंके सहित अथवा जिस लोकमें उसकी इच्छा हो वहां निवास करता है ॥ ४८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ २१६७ ॥

: ७३ :

इन्द्र उवाच—

जानन्यो गामपहरेद्विक्रीयाद्वार्थकारणात् ।
एतद्विज्ञातुमिच्छामि का नु तस्य गतिर्भवेत् ॥ १ ॥

इन्द्र बोले— जो पुरुष जानबूझकर दूसरेकी गौ हरता अथवा धनके निमित्त बेचता है, उसकी कैसी गति होती है ? मैं इसे यथार्थ रीतिसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच—

भक्षार्थं विक्रयार्थं वा येऽपहारं हि कुर्वते ।
दानार्थं वा ब्राह्मणाय तत्रेदं श्रूयतां फलम् ॥ २ ॥

ब्रह्मा बोले— खाने अथवा बेचने और ब्राह्मणको दान करनेके लिये जो दूसरेकी गौका अपहरण करते हैं, उस विषयके फल सुनो ॥ २ ॥

विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद्भक्षयेद्वा निरङ्कुशः ।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः ॥ ३ ॥

जो स्वेच्छाचारी पुरुष मांस बेचनेके लिये गौको मारता वा गोमांस भक्षण करता है, तथा जो स्वार्थी होकर घातक पुरुषको गाय मारनेकी अनुमति देता है ॥ ३ ॥

घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते ।
यावन्ति तस्या लोमानि तावद्वर्षाणि मज्जति ॥ ४ ॥

गौके शरीरमें जितने रोएं रहते हैं, उतने वर्ष पर्यन्त गौ मारनेवाले, उसका मांस खानेवाले और गौ हत्याकी अनुमति देनेवाले—नरकमें डूबते हैं ॥ ४ ॥

ये दोषा यादृशाश्चैव द्विजयज्ञोपघातके ।
विक्रये चापहारे च ते दोषा वै स्मृताः प्रभो ॥ ५ ॥

हे प्रभु ! ब्राह्मणके यज्ञको नष्ट करनेवालेको जैसे दोष होते हैं, गौ बेचने और हरनेसे भी उतने ही दोष हुआ करते हैं, ऐसा बताया गया है ॥ ५ ॥

अपहृत्य तु यो गां वै ब्राह्मणाय प्रयच्छति ।
यावद्दाने फलं तस्यास्तावन्निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो पुरुष दूसरोंकी गौ चुराकर ब्राह्मणको दान करता है, गोदानका जितना फल है, उतने समयतक वह दाता नरकमें गमन करता है ॥ ६ ॥

सुवर्णं दक्षिणामाहुर्गोप्रदाने महाद्युते ।
सुवर्णं परमं ह्युक्तं दक्षिणार्थमसंशयम् ॥ ७ ॥

हे महाद्युति ! गोदानके समय सुवर्णकी दक्षिणा देनेका विधान कहा है; दक्षिणाके निमित्त निःसन्देह सुवर्ण ही श्रेष्ठ बताया गया है ॥ ७ ॥

गोप्रदानं तारयते सप्त पूर्वांस्तथा परान् ।
सुवर्णं दक्षिणां दत्त्वा तावद्द्विगुणमुच्यते ॥ ८ ॥

मनुष्य गोदान करनेसे सात पीढी पहलेके पितरोंका और सात पीढी आगे आनेवाली संतानोंका उद्धार करता है; उसके साथ सुवर्णकी दक्षिणा देनेसे उसका दुगुना फल कहा गया है ॥ ८ ॥

सुवर्णं परमं दानं सुवर्णं दक्षिणा परा ।
सुवर्णं पावनं शक्र पावनानां परं स्मृतम् ॥ ९ ॥

सुवर्ण ही परम दान और सबसे श्रेष्ठ दक्षिणा है । हे शक्र ! सुवर्ण ही समस्त पवित्र वस्तुओंके बीच पावन कहके वर्णित हुआ है ॥ ९ ॥

कुलानां पावनं प्राहुर्जातरूपं शतक्रतो ।
एषा मे दक्षिणा प्रोक्ता समासेन महाद्युते ॥ १० ॥

हे देवराज ! सुवर्णको समस्त कुलोंको पावन करनेवाला कहा है । हे महाद्युति ! यह मैंने संक्षेपमें दक्षिणाकी कथा कही है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच—

एतत्पितामहेनोक्तमिन्द्राय भरतर्षभ ।
इन्द्रो दशरथायाह रामायाह पिता तथा ॥ ११ ॥

भीष्म बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! पितामह ब्रह्माने यह विषय देवराजसे कहा था, इन्द्रने राजा दशरथसे तथा पिता दशरथने अपने पुत्र श्री रामसे कहा था ॥ ११ ॥

राघवोऽपि प्रियभ्रात्रे लक्ष्मणाय यशस्विने ।
ऋषिभ्यो लक्ष्मणेनोक्तमरण्ये वसता विभो ॥ १२ ॥

श्री रामने अपने प्रिय भाई यशस्वी लक्ष्मणसे कहा और लक्ष्मणने वनवासके समयमें यह विषय ऋषियोंके समीप वर्णन किया था ॥ १२ ॥

पारंपर्यागतं चेदमृषयः संशितव्रताः ।
दुर्धरं धारयामासू राजानश्चैव धार्मिकाः ।
उपाध्यायेन गदितं मम चेदं युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि और धार्मिक राजाओंने इस ही परम्पराक्रमसे प्राप्त हुए इस दुर्धर विषयको धारण किया है। हे युधिष्ठिर ! इस विषयको मेरे उपाध्यायने मेरे निकट वर्णन किया था ॥ १३ ॥

य इदं ब्राह्मणो नित्यं वदेद्ब्राह्मणसंसदि ।
यज्ञेषु गोप्रदानेषु द्वयोरपि समागमे ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण इसे सदा ब्राह्मणोंकी सभामें कहता है, यज्ञ, गोदान, अथवा दोनोंके समागममें इसको बोलता है ॥ १४ ॥

तस्य लोकाः किलाक्षय्या दैवतैः सह नित्यदा ।
इति ब्रह्मा स भगवानुवाच परमेश्वरः ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ ३१८२ ॥

उसको समस्त अक्षय लोक सदा देवताओंके सहित प्राप्त होते हैं, उस सर्व शक्तिमान् भगवान परमेश्वर ब्रह्माने यह कथा कही थी ॥ १५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७३ ॥ ३१८२ ॥

: ७४ :

युधिष्ठिर उवाच—

विस्रम्भितोऽहं भवता धर्मान्प्रवदता विभो ।
प्रवक्ष्यामि तु संदेहं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे प्रभु पितामह ! आपके सब धर्म वर्णन करनेसे मैं विश्वस्त हुआ हूं, अब मैं कुछ सन्देहके विषय पूछता हूं, आप मुझे उसका उत्तर दीजिये ॥ १ ॥

व्रतानां किं फलं प्रोक्तं कीदृशं वा महाद्युते ।
नियमानां फलं किं च स्वधीतस्य च किं फलम् ॥ २ ॥

हे महातेजस्वी ! व्रतोंका कैसा फल कहा गया है और वे कैसे हैं ? नियमोंका क्या फल है ? उत्तम रीतिसे अध्ययन करनेका कैसा फल होता है ? ॥ २ ॥

दमस्येह फलं किं च वेदानां धारणे च किम् ।
अध्यापने फलं किं च सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

इन्द्रियनिग्रहरूपी दमका क्या फल है ? वेदोंको धारण करनेसे क्या फल होता है ? पढानेसे कैसा फल हुआ करता है ? यह सब जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ ३ ॥

अप्रतिग्राहके किं च फलं लोके पितामह ।
तस्य किं च फलं दृष्टं श्रुतं यः संप्रयच्छति ॥ ४ ॥

हे पितामह ! जगत्में प्रतिग्रह न करनेसे क्या फल होता है ? जो वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उसके दानका कौनसा फल देखा गया है ? ॥ ४ ॥

स्वकर्मनिरतानां च शूराणां चापि किं फलम् ।
सत्ये च किं फलं प्रोक्तं ब्रह्मचर्ये च किं फलम् ॥ ५ ॥

निजकार्यमें रत रहनेवाले शूर पुरुषोंको क्या फल प्राप्त होता है ? सत्याचरणका क्या फल कहा गया है ? ब्रह्मचर्यका क्या फल है ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषणे किं च मातृशुश्रूषणे तथा ।
आचार्यगुरुशुश्रूषास्वनुक्रोशानुकम्पने ॥ ६ ॥

पिता और माताकी सेवा करनेका क्या फल होता है ? आचार्य और गुरुकी सेवा करनेका कैसा फल है ? अनुक्रोश अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी होना और अनुकम्पा अर्थात् दूसरेके दुःखको दूर करनेका क्या फल है ? ॥ ६ ॥

एतत्सर्वमशेषेण पितामह यथातथम् ।
वेत्तुमिच्छामि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

हे धर्मज्ञ पितामह ! इन विषयोंको यथार्थ रीतिसे जाननेकी अभिलाषा करता हूं, इसमें मुझे अत्यन्त ही कौतूहल हुआ है ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच—

यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा संप्रतिपद्यते ।
अखण्डं सम्यगारब्धं तस्य लोकाः सनातनाः ॥ ८ ॥

भीष्म बोले– जो लोग एकभक्त आदि यथा विहित व्रतको भली भांति आरम्भ करके पूर्ण रीतिसे समाप्त करते हैं, उन्हें सनातन लोक मिलते हैं ॥ ८ ॥

नियमानां फलं राजन्प्रत्यक्षमिह दृश्यते ।
नियमानां क्रतूनां च त्वयावाप्तमिदं फलम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! इस लोकमें यज्ञोंका और नियमोंके पालनका फल प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है और आपने इनका ही फल प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

स्वधीतस्यापि च फलं दृश्यतेऽमुत्र चेह च ।
इहलोकेऽर्थवान्नित्यं ब्रह्मलोके च मोदते ॥ १० ॥

भली भांति पढनेका फल इस लोक और परलोकमें दीखता है । अर्थवान् मनुष्य इस लोकमें और ब्रह्मलोकमें सदा प्रमुदित होता है ॥ १० ॥

दमस्य तु फलं राजञ्शृणु त्वं विस्तरेण मे।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ताः सर्वत्र निर्वृताः ॥ ११ ॥

हे महाराज! तुम मेरे समीप विस्तारपूर्वक दम—इन्द्रियसंयमका फल सुनो! जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सुख भोगते हैं और सब स्थानोंमें ही संतुष्ट हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

यत्रेच्छागामिनो दान्ताः सर्वशत्रुनिषूदनाः।
प्रार्थयन्ति च यद् दान्ता लभन्ते तन्न संशयः ॥ १२ ॥

उनकी जिस स्थानमें इच्छा हो, वहां जा सकते हैं और समस्त शत्रुओंको नष्ट करते हैं; जितेन्द्रिय पुरुष जिस वस्तुके निमित्त प्रार्थना करते हैं, उसे निःसन्देह पाते हैं ॥ १२ ॥

युज्यन्ते सर्वकामैर्हि दान्ताः सर्वत्र पाण्डव।
स्वर्गे तथा प्रमोदन्ते तपसा विक्रमेण च ॥ १३ ॥

हे पाण्डव! दमयुक्त पुरुष सर्वत्र सर्वकामसम्पन्न हुआ करते हैं। वे अपनी तपस्या और पराक्रमके सहारे स्वर्गमें प्रमोद करते हैं ॥ १३ ॥

दानैर्यज्ञैश्च विविधैर्यथा दान्ताः क्षमान्विताः।
दाता कुप्यति नो दान्तस्तस्माद्दानात्परो दमः ॥ १४ ॥

इन्द्रियोंका दमन करनेवाले पुरुष क्षमाशील होते हैं और वे विविध दान और यज्ञके सहारे आनन्दित हुआ करते हैं। दाता कदाचित् कुपित हो सकता है, परन्तु जितेन्द्रिय पुरुष कभी क्रुद्ध नहीं होते, इसलिये दानसे दम ही श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥

यस्तु दद्यादकुप्यन्हि तस्य लोकाः सनातनाः।
क्रोधो हन्ति हि यद्दानं तस्माद्दानात्परो दमः ॥ १५ ॥

जो क्रुद्ध न होके दान करता है, उसे सनातन लोक मिलते हैं, जब कि दानके समय क्रोध आ जाय तो वह दानको विनष्ट करता है, इसलिये दानसे दम ही श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥

अदृश्यानि महाराज स्थानान्ययुतशो दिवि।
ऋषीणां सर्वलोकेषु यानीतो यान्ति देवताः ॥ १६ ॥

हे महाराज! सब लोकोंमें रहनेवाले ऋषियोंके सुरपुरमें हजारों अदृश्य स्थान हैं, जिन स्थानोंमें देववृन्द इस लोकसे गमन किया करते हैं, वेही सब लोकोंके बीच उत्तम हैं ॥ १६ ॥

दमेन यानि नृपते गच्छन्ति परमर्षयः।
कामयाना महत्स्थानं तस्माद्दानात्परो दमः ॥ १७ ॥

कामगामी परमर्षिवृन्द दमके सहारे जहां प्रस्थान करते हैं, वही महत् स्थान है, इसलिये दानसे दम ही श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥

अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते ।
विधिवत्पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप ॥ १८ ॥

अध्यापक अध्यापन कार्यसे अत्यन्त क्लेश सहनेके कारण अक्षय फलका उपभोग करता है। हे नरनाथ! विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें गमन किया करता है ॥१८॥

अधीत्यापि हि यो वेदान्न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति ।
गुरुकर्मप्रशंसी च सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥ १९ ॥

जो वेदको पढके न्यायपरायण लोगोंको पढाता है, और गुरुके कर्मोंकी प्रशंसा करता है, वह भी स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ १९ ॥

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि ।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥ २० ॥

जो क्षत्रिय अध्ययन, यजन और दान कार्यमें नियुक्त रहके, युद्धमें दूसरोंकी रक्षा करता है, वह भी स्वर्गमें पूजित हुआ करता है ॥ २० ॥

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत् ।
शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्छति ॥ २१ ॥

निज कर्ममें रत वैश्य दानसे महत्त्वपूर्ण पदको पाता है और निज कर्ममें तत्पर रहनेवाला शूद्र भी सेवाके सहारे स्वर्गमें जाता है ॥ २१ ॥

शूरा बहुविधाः प्रोक्तास्तेषामर्थांश्च मे शृणु ।
शूरान्वयानां निर्दिष्टं फलं शूरस्य चैव ह ॥ २२ ॥

अनेक प्रकारके शूर कहे जाते हैं; मेरे समीप उनका विषय सुनो । शूरवंशीय तथा शूरोंका फल बताया गया है ॥ २२ ॥

यज्ञशूरा दमे शूराः सत्यशूरास्तथापरे ।
युद्धशूरास्तथैवोक्ता दानशूराश्च मानवाः ॥ २३ ॥

यज्ञशूर, दम (इंद्रियसंयम) शूर, सत्यशूर, युद्धशूर तथा दानशूर—इसी प्रकार कहे गये हैं ॥ २३ ॥

बुद्धिशूरास्तथैवान्ये क्षमाशूरास्तथापरे ।
आर्जवे च तथा शूराः शमे वर्तन्ति मानवाः ॥ २४ ॥

बुद्धि शूर और क्षमाशूर प्रभृति अनेक प्रकारके मनुष्य शूर कहे गये हैं, सरलता विषयमें शूर हैं, कोई मनुष्य शम (मनोनिग्रह) शूर रूपसे वर्तमान है ॥ २४ ॥

×

तैस्तैस्तु नियमैः शूरा बहवः सन्ति चापरे ।
वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्यापने रताः ॥ २५ ॥

अनेक नियमोंके द्वारा दूसरे अनेक प्रकारके शूर हुआ करते हैं । कितने वेद पढनेमें शूर हैं, तो दूसरे विद्यामें रत रहनेसे शूर हैं ॥ २५ ॥

गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयापरे ।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथापरे ॥ २६ ॥

कितने गुरुसेवा, पितृसेवा और मातृसेवा विषयमें शूर हैं, कोई मनुष्य भिक्षा विषयमें शूर हैं ॥ २६ ॥

सांख्यशूराश्च बहवो योगशूरास्तथापरे ।
अरण्ये गृहवासे च शूराश्चातिथिपूजने ।
सर्वे यान्ति पराँल्लोकान्स्वकर्मफलनिर्जितान् ॥ २७ ॥

बहुतसे सांख्यशूर और योगशूर हैं; वनवास, गृह-वास और अतिथिपूजनमें कोई कोई मनुष्य शूर हुआ करते हैं; ये सभी पुरुष निजकर्म फलसे अर्जित लोकोंमें गमन करते हैं ॥२७॥

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम् ॥ २८ ॥

वेदोंका धारण करनेवाले तथा तीर्थोंमें स्नान करनेवाले, सदा सत्यवादीके समान होते अथवा नहीं हो सकते, यह कहा नहीं जाता ॥ २८ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ २९ ॥

सहस्र अश्वमेध यज्ञ और अकेला सत्य तराजू पर तौला जाय तो, सहस्र अश्वमेधसे अकेला सत्य ही श्रेष्ठ होगा ॥ २९ ॥

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मारुतो वाति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

सत्यसे ही सूर्य तपता है, सत्यहीसे अग्नि जलती है, सत्यसे ही वायु बहती है, इसलिये सत्यसे ही सब प्रतिष्ठित है ॥ ३० ॥

सत्येन देवान्प्रीणाति पितॄन्वै ब्राह्मणांस्तथा ।
सत्यमाहुः परं धर्मं तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत् ॥ ३१ ॥

सत्यसे देवता प्रसन्न होते और सत्यसे ही पितर तथा ब्राह्मणवृन्द प्रसन्न हुआ करते हैं । सत्यको ही ऋषिलोग परम धर्म कहते हैं, इसलिये सत्यका उल्लंघन कभी नहीं करना ॥३१॥

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ।
सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

मुनिवृन्द सत्यमें ही रत हैं, मुनियोंका सत्य ही विक्रम है, मुनियोंकी शपथ सत्य है, इसलिये सत्य ही सबसे श्रेष्ठ होता है । हे भरतश्रेष्ठ ! सत्यवादी मनुष्य स्वर्गलोकमें आनन्दित हुआ करते हैं ॥ ३२ ॥

दमः सत्यफलावाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया ।
असंशयं विनीतात्मा सर्वः स्वर्गे महीयते ॥ ३३ ॥

दम ही सत्यफलकी प्राप्ति स्वरूप है, इसे मैंने हृदयसे कहा है; विनययुक्त मनुष्य निःसन्देह स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ ३३ ॥

ब्रह्मचर्यस्य तु गुणाञ्शृणु मे वसुधाधिप ।
आ जन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि जनाधिप ॥ ३४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! अब तुम मुझसे ब्रह्मचर्यके गुण सुनो; जो पुरुष इस लोकमें जन्मसे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी होता है, उसे कुछ भी अप्राप्य नहीं है, यह जानो ॥ ३४ ॥

बह्व्यः कोटयस्त्वृषीणां तु ब्रह्मलोके वसन्त्युत ।
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मलोकमें जो यहां सदा सत्यनिष्ठ, जितेन्द्रिय और ऊर्ध्वरेता रहे थे, ऐसे करोडों ऋषि रहते हैं ॥ ३५ ॥

ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन्सर्वपापान्युपासितम् ।
ब्राह्मणेन विशेषेण ब्राह्मणो ह्यग्निरुच्यते ॥ ३६ ॥

विशेष रूपसे ब्रह्मचर्यव्रतनिष्ठ ब्राह्मण सब पापोंको जला देता है, क्योंकि ब्रह्मचारी ब्राह्मण अग्निरूपी कहा गया है ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षं च तवाप्येतद्ब्राह्मणेषु तपस्विषु ।
बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः ।
तद्ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते ॥ ३७ ॥

तपस्वी ब्राह्मणोंमें तुम भी यह प्रत्यक्ष देख सकते हैं, कि ब्रह्मचारीसे धर्षित होनेपर इन्द्र भी डरते हैं; ऋषियोंमें उस ब्रह्मचर्यका फल इस लोकमें दिखाई देता है ॥ ३७ ॥

मातापित्रोः पूजने यो धर्मस्तमपि मे शृणु ।
शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत्कथंचन ।
मातरं चानहंवादी गुरुमाचार्यमेव च ॥ ३८ ॥

माता–पिताकी पूजा करनेसे जो धर्म होता है, वह मुझसे सुनो । हे महाराज ! जो पिताकी सेवा करता है और कभी उनके विषयमें असूया नहीं करता, तथा माता, गुरु और आचार्यके विषयमें अहंकार रहित व्यवहार करता है, ॥ ३८ ॥

तस्य राजन्फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमुत्तमम् ।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषुरात्मवान् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥ ३२२१ ॥

स्वर्गलोकमें उसे पूजित उत्तम स्थान मिलता है, इसे ही पुण्य फल जानो । आत्मवान् पुरुष गुरुसेवाके सहारे कदापि नरक नहीं देखता ॥ ३९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ ३२२१ ॥

: ७५ :

युधिष्ठिर उवाच—

विधिं गवां परमहं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
येन ताञ्छाश्वताँल्लोकानखिलानश्नुवीमहि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! जिसके द्वारा उन सब शाश्वत लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है, आपके समीप उस श्रेष्ठ गोदानकी विधिको यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

न गोदानात्परं किंचिद्विद्यते वसुधाधिप ।
गौर्हि न्यायागता दत्ता सद्यस्तारयते कुलम् ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे पृथ्वीनाथ ! गोदानसे श्रेष्ठ दूसरा कोई भी विषय विद्यमान नहीं है, क्योंकि न्यायसे प्राप्त हुई गौका दान करनेसे वह शीघ्र ही कुलका उद्धार करती है ॥ २ ॥

सतामर्थे सम्यगुत्पादितो यः स वै क्लृप्तः सम्यगिष्टः प्रजाभ्यः ।
तस्मात्पूर्वं ह्यादिकाले प्रवृत्तं गवां दाने शृणु राजन्विधिं मे ॥ ३ ॥

हे महाराज ! जो विधि साधुओंके निमित्त पूरी रीतिसे प्रकट है, इन प्रजाओंके लिये भी वही ज्योंकी त्यों रचित है; इसलिये पहले समयसे प्रसिद्ध उस गोदानकी विधिको मेरे समीप सुनो ॥ ३ ॥

पुरा गोपूपनीतासु गोषु संदिग्धदर्शिना ।
मान्धात्रा प्रकृतं प्रश्नं बृहस्पतिरभाषत ॥ ४ ॥

पहले समयमें गौओंके दानके लिये उपस्थित होनेपर उनके विषयमें मान्धाताके शङ्कायुक्त होके प्रश्न करनेपर बृहस्पतिने उत्तर दिया था ॥ ४ ॥

द्विजातिमभिसत्कृत्य श्वः कालमभिवेद्य च ।
प्रदानार्थे नियुञ्जीत रोहिणीं नियतव्रतः ॥ ५ ॥

गोदानका इच्छुक मनुष्य नियमपूर्वक व्रत पालन करके, ब्राह्मणका उत्तम सत्कार करे और कहे कि कल मैं आपको एक गौ दान करूंगा । गोदानके लिये वह लाल रंगकी गौ लावे ॥ ५ ॥

आह्वानं च प्रयुञ्जीत समङ्गे बहुलेति च ।
प्रविश्य च गवां मध्यमिमां श्रुतिमुदाहरेत् ॥ ६ ॥

गौको " समङ्गे बहुले " इन नामोंके द्वारा संबोधित करे और गौओंके बीचमें प्रवेश करके इस वक्ष्यमाण श्रुतिका पाठ करे ॥ ६ ॥

गौर्मे माता गोवृषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा ।
प्रपद्यैवं शर्वरीमुष्य गोषु मुनिर्वाणीमुत्सृजेद्गोप्रदाने ॥ ७ ॥

" गौ मेरी माता और वृषभ मेरा पिता है; वे मुझे स्वर्ग तथा ऐहिक सुख प्रदान करें; गौ मेरी प्रतिष्ठा है, " ऐसा मन्त्र उच्चारण करके गोसमूहमें प्रवेश करे और मौनावलम्बन करके वहां एक रात्रि वास करे; गोदानके समय फिर वचन कहे, यही गोदानका पूर्वाङ्ग व्रत है ॥ ७ ॥

स तामेकां निशां गोभिः समसख्यः समव्रतः ।
ऐकात्म्यगमनात्सद्यः कल्मषाद्विप्रमुच्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो पुरुष एक रात्रि गौओंके सहित समसख्य और समव्रती अर्थात् पृथ्वीपर सोके दंश मशकादिके अनिवारण प्रभृति गुणोंसे युक्त हुआ करता है, वह गौओंके सहित ऐकात्म्य गमन निबन्धनसे ही समस्त पापोंसे छूट जाता है ॥ ८ ॥

उत्सृष्टवृषवत्सा हि प्रदेया सूर्यदर्शने ।
त्रिविधं प्रतिपत्तव्यमर्थवादाशिषः स्तवाः ॥ ९ ॥

सूर्योदयके समय बछडे युक्त गौ दान करनेसे तुम त्रिविध दर—अर्थवाद, आशीर्वाद और स्तुति प्राप्त करोगे ॥ ९ ॥

ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञो गर्भोऽमृतस्य जगतश्च प्रतिष्ठा ।
क्षितौ राधःप्रभवः शश्वदेव प्राजापत्याः सर्वमित्यर्थवादः ॥ १० ॥

गौएं उर्जस्विनी अर्थात् उत्साह सम्पन्न बलविधायिनी, प्रज्ञावर्द्धिनी, यज्ञ, अमृत स्वरूप हविकी गर्भभूत, इस जगत्की प्रतिष्ठास्वरूप और पृथ्वीमें खेती उपजानेवाली, संसारकी उत्पत्ति और प्रजापतिकी पुत्री हैं। ये सब अर्थवाद गौओंमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १० ॥

गावो ममैनः प्रणुदन्तु सौर्यास्तथा सौम्याः स्वर्गयानाय सन्तु ।
आम्नाता मे ददतीराश्रयं तु तथानुक्ताः सन्तु सर्वाशिषो मे ॥ ११ ॥

गौएं मेरा पाप दूर करें, सूर्य और सोमदेवत गौएं मेरे स्वर्ग लोककी प्राप्ति कारण होवें, मुझे पवित्र वेद शरण प्रदान करें; इन मन्त्रोंमें कहा हुआ तथा अनुक्त आशीर्वाद मेरे निमित्त सफल होवे ॥ ११ ॥

शेषोत्सर्गे कर्मभिर्देहमोक्षे सरस्वत्यः श्रेयसि संप्रवृत्ताः ।
यूयं नित्यं पुण्यकर्मोपवाह्या दिशध्वं मे गतिमिष्टां प्रपन्नाः ॥ १२ ॥

जो तुम्हारी सेवा करते हैं, उनके कर्मोंसे संतुष्ट होकर उन्हें रोग–उपतापके दूर करने और देहमोक्षके समय पंचगव्यादि सेवन करनेपर तुम सरस्वती नदीकी भांति सदा कल्याणके हेतु हुआ करती हो। हे गोवृन्द ! इसलिये तुम प्रसन्न होके सदा पुण्य कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली अभिलषित गति मुझे प्रदान करो ॥ १२ ॥

या वै यूयं सोऽहमद्यैकभावो युष्मान्दत्त्वा चाहमात्मप्रदाता ।
मनश्च्युता मनएवोपपन्नाः संधुक्षध्वं सौम्यरूपोग्ररूपाः ॥ १३ ॥

इस समय जो तुम हो, मैं वही हूं; आज हम लोगोंकी एक भावना अर्थात् एकरूपता होती है। मैं तुम्हें दान करके आत्मप्रदाता बनता हूं; तुम दाताके ममत्व अभिमानसे रहित होके मेरे ममताका सहारा हुई हो; तुम सौम्य और उग्ररूपसे युक्त हो; दाताको और मुझे अभीष्ट भोगके सहारे दृढ़ करो ॥ १३ ॥

एवं तस्याग्रे पूर्वमर्धं वदेत गवां दाता विधिवत्पूर्वदृष्टम् ।
प्रतिब्रूयाच्छेषमर्धं द्विजातिः प्रतिगृह्णन्वै गोप्रदाने विधिज्ञः ॥ १४ ॥

विधिपूर्वक गोदान करनेवाला दाता प्रथम दृष्टिपथमें आये ग्रहीताके अगाडी पहले कहे हुए श्लोकका अर्द्धभाग पढे और गोदान विधिका ज्ञाता प्रतिग्रहीता ब्राह्मण गोदान लेनेके समय पहले कहे हुए श्लोकके शेष आधे हिस्सेका उच्चारण करे ॥ १४ ॥

गां ददानीति वक्तव्यमर्घ्यवस्त्रवसुप्रदः ।
ऊधस्या भरितव्या च वैष्णवीति च चोदयेत् ॥ १५ ॥

जो गोदानकी प्रतिनिधि स्वरूप व्यावहारिक गौका मूल्य, वस्त्र वा सुवर्ण दान करता है, उसे भी गोदाता कहना योग्य है। मूल्य, वस्त्र और सुवर्णरूपमें दी जानेवाली गौओंका नाम क्रमसे ऊधस्या, भरितव्या और वैष्णवी है। गौका मूल्य दान करनेके समय ऐसा वचन कहे, कि तुम्हें ऊधस्या गौ प्रदान करता हूं, तुम ग्रहण करो। वस्त्र दान करनेके समय भरितव्या और वसुधेनु दानके समय 'वैष्णवी' इस वाक्यका प्रयोग करे ॥ १५ ॥

नाम संकीर्तयेत्तस्या यथासंख्योत्तरं स वै ।
फलं षड्विंशदष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥ १६ ॥

संकल्पके समय संख्याके अनुसार गौओंके उधस्या प्रभृति नाम कहना चाहिये। यथाक्रमसे प्रतिनिधि दान प्रभृतिका ऐसा ही फल जानो; गौका मूल्य देनेसे छत्तीस हजार वर्षोंतक फल होता है, वस्त्रधेनु देनेसे आठ हजार वर्षोंतक और वसुधेनु दान करनेसे बीस हजार वर्षोंतक फल हुआ करता है ॥ १६ ॥

एवमेतान्गुणान्वृद्धान्गवादीनां यथाक्रमम् ।
गोप्रदाता समाप्नोति समस्तानष्टमे क्रमे ॥ १७ ॥

इस प्रकार गौओंके निष्क्रय दानका फल क्रमसे कहा है। साक्षात् गोदान करनेवालेको दान लेनेवाला ब्राह्मण आठ पग गमन करते ही समस्त फल प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

गोदः शीली निर्भयश्चार्घदाता न स्याद्दुःखी वसुदाता च कामी ।
ऊधस्योढा भारत यश्च विद्वान्व्याख्यातास्ते वैष्णवाश्चन्द्रलोकाः ॥ १८ ॥

गोदाता शीलवान् होता, उसका मूल्य देनेवाला निर्भय हुआ करता है और गौकी जगह इच्छानुसार सुवर्ण दाता कभी दुःखी नहीं होता। भारत! जो उषःकालमें प्रातःस्नान, गोसेवा आदि क्रिया करते हैं और जो विद्वान् है, और जो विख्यात वैष्णव हैं, वे सब चन्द्रलोकमें जाते हैं ॥ १८ ॥

गा वै दत्त्वा गोव्रती स्यात्त्रिरात्रं निशां चैकां संवसेतेह तास्विः ।
काम्याष्टम्यां वर्तितव्यं त्रिरात्रं रसैर्वा गोः शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ १९ ॥

गोदान करके मनुष्य तीन राततक गोव्रती होकर रहे और एक रात इस लोकमें गौओंके सहित निवास करे तथा कामाष्टमीमें तीन रात तक गोरस, गोमय अथवा गोमूत्रके द्वारा जीवन बितावे ॥ १९ ॥

वेदव्रती स्याद् वृषभप्रदाता वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने ।
तथा गवां विधिमासाद्य यज्वा लोकानग्र्यान् विन्दते नाविधिज्ञः ॥ २० ॥
वृषभका दान करनेपर मनुष्य वेदव्रती अर्थात् सूर्यमण्डलभेत्ता ब्रह्मचारी हुआ करता है; एक गाय और एक बैल दान करनेसे वेदप्राप्ति होती है और विधिपूर्वक गोदान यज्ञ करनेसे उत्तम लोक पाता है। जो लोग विधि जाननेवाले नहीं हैं, उन्हें उन लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २० ॥

कामान् सर्वान् पार्थिवानेकसंस्थान् यो वै दद्यात् कामदुघां च धेनुम् ।
सम्यक्ताः स्युर्हव्यकव्यौघवत्यस्तासामुक्ष्णां ज्यायसां संप्रदानम् ॥ २१ ॥
जो इच्छानुसार दूध देनेवाली गौका दान करता है वह समस्त पार्थिव काम्यविषयोंका एक साथ ही दान देता है; उनमेंसे हव्यकव्यवती गौएं ही श्रेष्ठ होती हैं और गौओंकी अपेक्षा उत्तम वृषभोंका दान करनेसे अधिक फल प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

न चाशिष्यायाव्रतायोपकुर्यान्नाश्रद्दधानाय न वक्रबुद्धये ।
गुह्यो ह्ययं सर्वलोकस्य धर्मो नेमं धर्मं यत्र तत्र प्रजल्पेत् ॥ २२ ॥
जो पुरुष शिष्य नहीं है, जो व्रतका पालन नहीं करता, जो श्रद्धावान् नहीं है और जो कुटिल बुद्धिका है, उसके समीप यह गोदानका धर्मविषय न कहे; यह धर्म सबसे गोपनीय है इसलिये जहां तहां इस धर्मकी जल्पना करनी उचित नहीं है ॥ २२ ॥

सन्ति लोके श्रद्दधाना मनुष्याः सन्ति क्षुद्रा राक्षसा मानुषेषु ।
येषां दानं दीयमानं ह्यनिष्टं नास्तिक्यं चाप्याश्रयन्ते ह्यपुण्याः ॥ २३ ॥
इस लोकमें बहुतसे श्रद्धावान् मनुष्य हैं और मनुष्योंके बीच बहुतेरे क्षुद्रबुद्धि तथा राक्षस हैं; कितने ही पुण्यहीन मनुष्य नास्तिकताका अवलम्बन किये रहते हैं, जिनको दानका उपदेश देनेसे अनिष्टकारक होता है ॥ २३ ॥

बार्हस्पत्यं वाक्यमेतन्निशम्य ये राजानो गोप्रदानानि कृत्वा ।
लोकान् प्राप्ताः पुण्यशीलाः सुवृत्तास्तान् मे राजन् कीर्त्यमानान्निबोध ॥ २४ ॥
हे महाराज! इस सब बृहस्पतिके वचनको सुनके जिन राजाओंने गोदान करके पवित्र लोकोंको पाया और जो सत्कर्मोंमें प्रवृत्त हुए, उन पुण्यशील राजाओंके नाम कहता हूं, सुनो ॥ २४ ॥

उशीनरो विष्वगश्वो नृगश्च भगीरथो विश्रुतो यौवनाश्वः ।
मान्धाता वै मुचुकुन्दश्च राजा भूरिद्युम्नो नैषधः सोमकश्च ॥ २५ ॥
उशीनर, विष्वगश्व, नृग, विख्यात भगीरथ, यौवनाश्व, मान्धाता, राजा मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, नैषध, सोमक ॥ २५ ॥

पुरूरवा भरतश्चक्रवर्ती यस्यान्वये भारताः सर्व एव ।
तथा वीरो दाशरथिश्च रामो ये चाप्यन्ये विश्रुताः कीर्तिमन्तः ॥ २६ ॥
पुरूरवा, चक्रवर्त्ती भरत— " जिसके वंशमें जन्म लेके सब राजा भारत नामसे विख्यात हुए हैं, " वीरश्रेष्ठ दाशरथि राम, इनके अतिरिक्त दूसरे जो सब राजा कीर्त्तिमान रूपसे विख्यात हैं ॥ २६ ॥

तथा राजा पृथुकर्मा दिलीपो दिवं प्राप्तो गोप्रदाने विधिज्ञः ।
यज्ञैर्दानैस्तपसा राजधर्मैर्मान्धाताभूद्गोप्रदानैश्च युक्तः ॥ २७ ॥
और महान् कर्म करनेवाले दिलीप— इन सब गोदानमें विधिज्ञ नरेशोंने स्वर्गलोक पाया है। महाराज मान्धाता यज्ञ, दान, तपस्या, राजधर्म और गोदान विषयमें सदा नियुक्त थे ॥ २७॥

तस्मात्पार्थ त्वमपीमां मयोक्तां बार्हस्पतीं भारतीं धारयस्व ।
द्विजाग्र्येभ्यः संप्रयच्छ प्रतीतो गाः पुण्या वै प्राप्य राज्यं कुरूणाम् ॥ २८॥
हे पार्थ! इसलिये तुम भी मेरी कही हुई इस बार्हस्पती वाणीको धारण करो। तुमने कौरवोंका राज्य पाया है, इसलिये प्रसन्न होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको पवित्र गौओंका दान करो ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच—
तथा सर्वं कृतवान्धर्मराजो भीष्मेणोक्तो विधिवद्गोप्रदाने ।
स मान्धातुर्देवदेवोपदिष्टं सम्यग्धर्मं धारयामास राजा ॥ २९ ॥
श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर जिस प्रकार भीष्मने विधिवत् गोदान करनेका विषय कहा, धर्मराजने उसे उसही भांति किया; मान्धाताके समीप देवताओंके देवता बृहस्पतिने जिस उत्तम धर्मका उपदेश किया था, राजाने उस ही धर्मको पूर्ण रीतिसे धारण किया ॥ २९॥

इति नृप सततं गवां प्रदाने यवशकलान्सह गोमयैः पिबानः ।
क्षितितलशयनः शिखी यतात्मा वृष इव राजवृषस्तदा बभूव ॥ ३० ॥
हे महाराज! इस ही भांति गोदानके लिये सदा युक्त होकर गोमयके साथ यवस भक्षण और संयमचित्तसे पृथ्वीपर शयन करते हुए, शिखावान होकर वह नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर धर्मके समान तेजस्वी होने लगे ॥ ३० ॥

स नृपतिरभवत्सदैव ताभ्यः प्रयतमना ह्यभिसंस्तुवंश्च गा वै ।
नृपधुरि च न गामयुङ्क्त भूयस्तुरगवरैरगमच्च यत्र तत्र ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥ ३२५२ ॥

राजन्! राजा युधिष्ठिर सदा गौओंके प्रति प्रसन्नचित्त और विनीत होकर उनकी स्तुति करते थे, उन्होंने फिर बैलका सवारीमें उपयोग नहीं किया; वे उत्तम घोडोंसे ही इधर-उधरकी यात्रा करते थे ॥ ३१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥ ३२५२ ॥

+

: ७६ :

वैशंपायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा भूयः शांतनवं नृप।
गोदाने विस्तरं धीमानपृच्छद् विनयान्वितः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजन् ! अनन्तर बुद्धिशक्तिसे युक्त राजा युधिष्ठिरने विनयपूर्वक फिर शान्तनुनन्दन भीष्मसे गोदानकी विस्तृत विधि पूछी ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

गोप्रदाने गुणान्सम्यक्पुनः प्रब्रूहि भारत।
न हि तृप्याम्यहं वीर शृण्वानोऽमृतमीदृशम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भारत ! गोदानके समस्त गुणोंको फिर मेरे समीप पूर्ण रीतिसे वर्णन करिये। हे वीर ! मैं ऐसे अमृतको कानसे पीते हुए किसी प्रकार तृप्त नहीं होता हूं ॥२॥

इत्युक्तो धर्मराजेन तदा शांतनवो नृप।
सम्यगाह गुणांस्तस्मै गोप्रदानस्य केवलान् ॥ ३ ॥

राजन् ! शान्तनुपुत्र भीष्म धर्मराजका ऐसा वचन सुनके उनसे केवल गोदानका फल पूर्ण रीतिसे कहने लगे ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

वत्सलां गुणसंपन्नां तरुणीं वत्ससंयुताम्।
दत्त्वेदृशीं गां विप्राय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— ब्राह्मणको वात्सल्य भावसे युक्त, गुणसंपन्न और युवा गौ वत्स ओढाके दान करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४ ॥

असुर्या नाम ते लोका गां दत्त्वा तत्र गच्छति।
पीतोदकां जग्धतृणां नष्टदुग्धां निरिन्द्रियाम् ॥ ५ ॥

जिस गौका पानी पीना और घास खाना समाप्त हुआ है, जिसका दूध देना बंद हो गया है और जिसकी इन्द्रियां काम नहीं दे सकतीं, ऐसी गौका दान करके मनुष्य असुर्य नामके लोकमें जाता है ॥ ५ ॥

जरोग्रामुपयुक्तार्थां जीर्णां कूपमिवाजलम्।
दत्त्वा तमः प्रविशति द्विज क्लेशेन योजयेत् ॥ ६ ॥

बुढापा और रोगसे युक्त, जलरहित वापीकी भांति जीर्ण गौ दान करनेसे घोर नरकके बीच प्रवेश करना होता है; जो पुरुष ऐसी गौ दान करता है, वह ब्राह्मणको क्लेशयुक्त किया करता है ॥ ६ ॥

दुष्टा रुष्टा व्याधिता दुर्बला वा न दातव्या याश्च मूल्यैरदत्तैः ।
क्लेशैर्विप्रं योऽफलैः संयुनक्ति तस्यावीर्याश्चाफलाश्चैव लोकाः ॥ ७ ॥
दुष्ट, रुष्ट, व्याधियुक्त, दुबली और जिस गौका मूल्य नहीं दिया गया हो, ऐसी गौका दान करना उचित नहीं है। जो पुरुष इस तरहकी गाय देकर ब्राह्मणको निरर्थक क्लेशयुक्त करता है, उसे निष्फल तथा निर्वीर्य लोक प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः सर्वाः प्रशंसन्ति सुगन्धवत्यः ।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ८ ॥
बल, शील और अवस्थायुक्त सुगन्धवती गौकी सब कोई प्रशंसा किया करते हैं। जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, वैसे ही गौओंके बीच कपिला गौ श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—
कस्मात्समाने बहुलाप्रदाने सद्भिः प्रशस्तं कपिलाप्रदानम् ।
विशेषमिच्छामि महानुभाव श्रोतुं समर्थो हि भवान्प्रवक्तुम् ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर बोले— हे महाप्राज्ञ पितामह ! गोदान समान होनेपर भी साधु लोग किसलिये कपिलादानको श्रेष्ठ कहते हैं ? इस वृत्तान्तको मैं विशेष रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं; मैं सुननेमें और आप कहनेमें समर्थ हैं ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—
वृद्धानां ब्रुवतां तात श्रुतं मे यत्प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि तदशेषेण रोहिण्यो निर्मिता यथा ॥ १० ॥
भीष्म बोले— हे तात ! मैंने वृद्ध पण्डितोंसे तुम जो पूछ रहे हो उस विषयमें जो कथा सुनी है और रोहिणीवृन्द जिस प्रकार उत्पन्न हुई हैं, वह सब पूरी रीतिसे कहता हूं ॥ १० ॥

प्रजाः सृजेति व्यादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयंभुवा ।
असृजद्वृत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाम्यया ॥ ११ ॥
पहले स्वयम्भू ब्रह्माने दक्षको प्रजा उत्पन्न करनेके लिये आज्ञा दी, तब उन्होंने प्रजासमूहके हितकामनासे पहले उनकी आजीविका ही उत्पन्न की ॥ ११ ॥

यथा ह्यमृतमाश्रित्य वर्तयन्ति दिवौकसः ।
तथा वृत्तिं समाश्रित्य वर्तयन्ति प्रजा विभो ॥ १२ ॥
हे विभु ! जैसे देववृन्द अमृतके आसरे विद्यमान हैं, वैसे ही सब प्रजा आजीविकाको अवलम्बन करके वर्त्तमान है ॥ १२ ॥

अचरेभ्यश्च भूतेभ्यश्चराः श्रेष्ठास्ततो नराः ।
ब्राह्मणाश्च ततः श्रेष्ठास्तेषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १३ ॥
स्थावर जीवोंसे जङ्गम प्राणी ही श्रेष्ठ हैं, इसलिये उनमें मनुष्य और मनुष्योंके बीच ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि ब्राह्मणोंमें ही यज्ञ प्रतिष्ठित हैं ॥ १३ ॥

यज्ञैराप्याय्यते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः ।
सर्वे देवाः प्रमोदन्ते पूर्ववृत्तास्ततः प्रजाः ॥ १४ ॥

यज्ञके सहारे सोमरस प्राप्त हो सकता है, परन्तु वह यज्ञ गौओंमें प्रतिष्ठित है, यज्ञसे ही सब देववृन्द प्रमुदित होते हैं, इसलिये पहले आजीविका और फिर प्रजासमूहकी उत्पत्ति हुई है ॥ १४ ॥

एतान्येव तु भूतानि प्राक्रोशन्वृत्तिकाङ्क्षया ।
वृत्तिदं चान्वपद्यन्त तृषिताः पितृमातृवत् ॥ १५ ॥

जीवगणने उत्पन्न होके जीविकाके निमित्त चीत्कार किया था, भूखे-प्यासे सब जीव पिता-माताके समान जीविका दाता प्रजापतिके पास गये ॥ १५ ॥

इतीदं मनसा गत्वा प्रजासर्गार्थमात्मनः ।
प्रजापतिर्बलाधानममृतं प्रापिबत्तदा ॥ १६ ॥

भगवान् प्रजापतिने इसपर मनही मन आलोचना करके प्रजाकी आजीविकाके लिये उस समय बलदायी अमृत पिया था ॥ १६ ॥

स गतस्तस्य तृप्तिं तु गन्धं सुरभिमुद्गिरन् ।
ददर्शोद्गारसंवृत्तां सुरभिं मुखजां सुताम् ॥ १७ ॥

अमृत पीकर तृप्त होनेपर, उनके मुखसे सुरभि (सुंदर) गन्ध निकली; सुरभि गन्ध निकलते ही सुरभि गौ प्रकट हो गयी, उसे प्रजापतिने अपने मुखसे प्रकट हुई पुत्रीके रूपमें देखा ॥ १७ ॥

सासृजत्सौरभेयीस्तु सुरभिर्लोकमातरः ।
सुवर्णवर्णाः कपिलाः प्रजानां वृत्तिधेनवः ॥ १८ ॥

उस सुरभीने प्रजाओंकी वृत्तिविधायिनी, सुवर्ण रङ्गवाली कपिला सर्वलोकमाता सौरभेयी गौओंको उत्पन्न किया ॥ १८ ॥

तासाममृतवर्णानां क्षरन्तीनां समन्ततः ।
बभूवामृतजः फेनः स्रवन्तीनामिवोर्मिजः ॥ १९ ॥

जैसे नदियोंके तरङ्गोंसे फेन उत्पन्न होता है, वैसे ही सब प्रकारसे दूध देनेवाली अमृतवर्ण सौरभेयी गौओंके अमृत (दूध) से फेन उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

स वत्समुखविभ्रष्टो भवस्य भुवि तिष्ठतः ।
शिरस्यवाप तत्क्रुद्धः स तदोदैक्षत प्रभुः ।
ललाटप्रभवेनाक्ष्णा रोहिणीः प्रदहन्निव ॥ २० ॥

वह फेन बछडेके मुखसे पृथ्वीपर स्थित महादेवके मस्तकपर गिरा । सर्व शक्तिमान् महादेवने इस कारण क्रुद्ध होकर माथेके नेत्रसे रोहिणीको मानो जलानेके लिये उसकी ओर देखा ॥२०॥

तत्तेजस्तु ततो रौद्रं कपिला गा विशां पते।
नानावर्णत्वमनयन्मेघानिव दिवाकरः ॥ २१ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर जैसे सूर्य मेघमालाको अनेक वर्णका करता है, वैसे ही उस रौद्रतेजने कपिला गौओंको विविध वर्ण किया ॥ २१ ॥

यास्तु तस्मादपक्रम्य सोममेवाभिसंश्रिताः।
यथोत्पन्नाः स्ववर्णस्थास्ता नीता नान्यवर्णताम् ॥ २२ ॥

जो कपिला गौएं वहांसे भागकर चन्द्रमाकी ही शरणमें जाके स्थित हुई थीं, वे जिस प्रकार स्ववर्ण होके उत्पन्न हुई थीं, वैसी ही रहीं, उनका दूसरा रङ्ग नहीं हुआ ॥ २२ ॥

अथ क्रुद्धं महादेवं प्रजापतिरभाषत।
अमृतेनावसिक्तस्त्वं नोच्छिष्टं विद्यते गवाम् ॥ २३ ॥

अनन्तर क्रुद्ध हुए महादेवसे प्रजापतिने कहा, तुम अमृतसे अभिषिक्त हुए हो, गौओंका दूध जूठा नहीं होता ॥ २३ ॥

यथा ह्यमृतमादाय सोमो विष्यन्दते पुनः।
तथा क्षीरं क्षरन्त्येता रोहिण्योऽमृतसंभवाः ॥ २४ ॥

जैसे चन्द्रमा अमृत ग्रहण करके फिर उसे बरसता है, वैसे ही ये रोहिणी गौएं अमृतसे उत्पन्न दूध दिया करती हैं ॥ २४ ॥

न दुष्यत्यनिलो नाग्निर्न सुवर्णं न चोदधिः।
नामृतेनामृतं पीतं वत्सपीता न वत्सला ॥ २५ ॥

वायु, अग्नि, सुवर्ण, समुद्र और देवताओंका पीया हुआ अमृत दूषित नहीं होता, और बछडेके पीनेपर सवत्सा गौएं भी दूषित नहीं होती हैं ॥ २५ ॥

इमाँल्लोकान्भरिष्यन्ति हविषा प्रस्नवेन च।
आसामैश्वर्यमश्नीहि सर्वामृतमयं शुभम् ॥ २६ ॥

ये गौएं घृत और दूधके सहारे इन सब लोकोंका भरण पोषण करेंगी; सब कोई इनके अमृतमय शुभ ऐश्वर्य पानेकी इच्छा किया करते हैं ॥ २६ ॥

वृषभं च ददौ तस्मै सह ताभिः प्रजापतिः।
प्रसादयामास मनस्तेन रुद्रस्य भारत ॥ २७ ॥

प्रजापतिने महादेवको प्रसन्न करनेके लिये गौओंके सहित एक वृषभ दिया। हे भारत उन्होंने इससे रुद्रका मन प्रसन्न किया ॥ २७ ॥

प्रीतश्चापि महादेवश्चकार वृषभं तदा ।
ध्वजं च वाहनं चैव तस्मात्स वृषभध्वजः ॥ २८ ॥

महादेवने प्रसन्न होकर उस बैलको अपनी ध्वजा तथा अपना वाहन किया, इस ही निमित्त वे वृषभध्वज नामसे विख्यात हुए हैं ॥ २८ ॥

ततो देवैर्महादेवस्तदा पशुपतिः कृतः ।
ईश्वरः स गवां मध्ये वृषाङ्क इति चोच्यते ॥ २९ ॥

अनन्तर देवताओंने उस समय महादेवको पशुपति किया, वे गौओंके बीच रहनेसे वृषाङ्क नामसे वर्णित हुए ॥ २९ ॥

एवमव्यग्रवर्णानां कपिलानां महौजसाम् ।
प्रदाने प्रथमः कल्पः सर्वासामेव कीर्तितः ॥ ३० ॥

इस ही भांति शान्त वर्णवाली महातेजस्विनी कपिला गौओंका दान प्रथम कल्प कहा गया है ॥ ३० ॥

लोकज्येष्ठा लोकवृत्तिप्रवृत्ता रुद्रोपेताः सोमविष्यन्दभूताः ।
सौम्याः पुण्याः कामदाः प्राणदाश्च गा वै दत्त्वा सर्वकामप्रदः स्यात् ॥ ३१ ॥

गौएं संसारलोकमें श्रेष्ठ, लोगोंकी जीविकाके लिये प्रदत्त, भगवान् महादेव सदा उनके पास रहते हैं, चन्द्रमासे निकले हुए अमृतसे उत्पन्न, सौम्य, पवित्र, कामदा और प्राणदा हैं, गौओंका दान करनेसे मनुष्य सर्वकामप्रद होता है ॥ ३१ ॥

इदं गवां प्रभवविधानमुत्तमं पठन्सदा शुचिरतिमङ्गलप्रियः ।
विमुच्यते कलिकलुषेण मानवः प्रियं सुतान्पशुधनमाप्नुयात्तथा ॥ ३२ ॥

गौओंके इस उत्तम उत्पत्ति-कथा विषयका सदा पाठ करनेसे मनुष्य पवित्र और मङ्गल प्रिय होता है और कलियुगके पापोंसे छूट जाता है; तथा सदा प्रिय पुत्र, पशु और धन पाता है ॥ ३२ ॥

हव्यं कव्यं तर्पणं शान्तिकर्म यानं वासो वृद्धबालस्य पुष्टिम् ।
एतान्सर्वान्गोप्रदाने गुणान्वै दाता राजन्नाप्नुयाद्वै सदैव ॥ ३३ ॥

हे महाराज ! दाता गोदान करके हव्य, कव्य, तर्पण शान्तिकर्म, वाहन, वस्त्र, बालक और बूढोंकी पुष्टि, ये समस्त फल सदा ही पाता है ॥ ३३ ॥

वैशंपायन उवाच—

पितामहस्याथ निशम्य वाक्यं राजा सह भ्रातृभिराजमीढः ।
सौवर्णकांस्योपदुहास्ततो गाः पार्थो ददौ ब्राह्मणसत्तमेभ्यः ॥ ३४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— पितामहका वचन सुनके अजमीढवंशावतंस पृथापुत्र महाराज युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुवर्ण-कांसीय पात्र और गौओंका दान किया ॥ ३४ ॥

तथैव तेभ्योऽभिददौ द्विजेभ्यो गवां सहस्राणि शतानि चैव ।
यज्ञान्समुद्दिश्य च दक्षिणार्थे लोकान्विजेतुं परमां च कीर्तिम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्सततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ ३२८७ ॥

तथा उन्होंने श्रेष्ठ लोकोंपर जय करने तथा उत्तम कीर्त्तिके निमित्त, यज्ञके उद्देश्यसे दक्षिणामें सैकडों और हजारों गौएं दान कीं ॥ ३५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ ३२८७ ॥

: ७७ :

भीष्म उवाच—

एतस्मिन्नेव काले तु वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
इक्ष्वाकुवंशजो राजा सौदासो ददतां वरः ॥ १ ॥
सर्वलोकचरं सिद्धं ब्रह्मकोशं सनातनम् ।
पुरोहितमिदं प्रष्टुमभिपाद्योपचक्रमे ॥ २ ॥

भीष्म बोले— इसके अनन्तर इक्ष्वाकुवंशीय दानियोंमें श्रेष्ठ राजा सौदासने सर्वलोकचारी, सिद्ध, वेदनिधि, नित्य, पुरोहित ऋषिसत्तम वसिष्ठको प्रणाम करके प्रश्न करना आरम्भ किया ॥ १-२ ॥

सौदास उवाच—

त्रैलोक्ये भगवन्किंस्वित्पवित्रं कथ्यतेऽनघ ।
यत्कीर्तयन्सदा मर्त्यः प्राप्नुयात्पुण्यमुत्तमम् ॥ ३ ॥

सौदास बोले— हे अनघ भगवन् ! तीनों लोकोंके बीच मनुष्य जिसका सदा नाम लेते हुए उत्तम पुण्यसंचय करता ऐसा पवित्र क्या है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

तस्मै प्रोवाच वचनं प्रणताय हितं तदा ।
गवामुपनिषद्विद्वान्नमस्कृत्य गवां शुचिः ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— विद्वान् पवित्र वसिष्ठ गौओंको प्रणाम करके उस समय प्रणत राजासे गौओंके विषयमें उपनिषत् वचन कहने लगे ॥ ४ ॥

गावः सुरभिगन्धिन्यस्तथा गुग्गुलुगन्धिकाः ।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ मुनि बोले— गौएं सुरभिगन्धवाली और गुग्गुलुके समान गन्धवाली हैं, गौएं सर्व भूतोंकी प्रतिष्ठा—' आधार और सबहीके लिये महान् मंगल स्वरूप हैं ॥ ५ ॥

गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी ।
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति ।
अन्नं हि सततं गावो देवानां परमं हविः ॥ ६ ॥

गौएं ही भूत और भविष्य हैं, गोवृन्द ही सनातनी पुष्टि स्वरूप हैं । गौएं ही लक्ष्मीके मूल हैं और जो कुछ गौओंको दिया जाता है, वह पुण्य विनष्ट नहीं होता । गौएं ही देवताओंके परम हवि और सदा अन्नस्वरूप हैं ॥ ६ ॥

स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ ७ ॥

स्वाहाकार, वषट्कार सदा गौओंमें प्रतिष्ठित हैं । गौएं ही यज्ञका फल देनेवाली हैं, उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है ॥ ७ ॥

सायं प्रातश्च सततं होमकाले महाद्युते ।
गावो ददति वै होम्यमृषिभ्यः पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

हे महाबुद्धिमान् पुरुषश्रेष्ठ ! सन्ध्या और भोरके समय सदा गौएं ऋषियोंके होमका साधन घृत आदि प्रदान किया करती हैं ॥ ८ ॥

कानिचिद्यानि दुर्गाणि दुष्कृतानि कृतानि च ।
तरन्ति चैव पाप्मानं धेनुं ये ददति प्रभो ॥ ९ ॥

हे महाराज ! चाहे कोई कैसाही पापी क्यों न हो, गोदान करनेसे उसके सब दुर्गम संकट और पाप नष्ट होकर वह उनसे तर जाता है ॥ ९ ॥

एकां च दशगुर्दद्याद्दश दद्याच्च गोशती ।
शतं सहस्रगुर्दद्यात्सर्वे तुल्यफला हि ते ॥ १० ॥

जिसके पास दस गौएं हों, वह एक गौका दान करे; जो सौ गौवाला हो, वह दस गौओंका दान करे और जो सहस्र गोयुक्त है, वह सौ गौएं दान करे; परन्तु ये सब कोई तुल्य फल भोग करेंगे ॥ १० ॥

अनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
समृद्धो यश्च कीनाशो नार्घ्यमर्हन्ति ते त्रयः ॥ ११ ॥

सौ गौओंवाला पुरुष यदि आहिताग्नि न हो और सहस्र गौओंवाला पुरुष यदि विधिपूर्वक यज्ञ न करे, तथा जो पुरुष समृद्ध होके भी कृपण हो, ये तीनों ही सम्मानके योग्य नहीं हैं ॥ ११ ॥

कपिलां ये प्रयच्छन्ति सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामुभौ लोकौ जयन्ति ते ॥ १२ ॥

जो लोग सवत्सा, कांस्यदोहना, उत्तम व्रत और वस्त्रसे युक्त कपिला गौका दान करते हैं, वे इस लोक तथा परलोकपर जय किया करते हैं ॥ १२ ॥

युवानमिन्द्रियोपेतं शतेन सह यूथपम् ।
गवेन्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिश्रृङ्गमलंकृतम् ॥ १३ ॥
वृषभं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाय परंतप ।
ऐश्वर्यं तेऽभिजायन्ते जायमानाः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

हे शत्रुतापन ! जो लोग श्रोत्रिय ब्राह्मणको युवा, सर्वेन्द्रियपुष्ट, सौ गायोंके यूथपति बडे शींगोंसे अलंकृत गवेन्द्र वृषभको अलंकृत करके सौ गायों सहित दान करते हैं, वे बार बार जन्म लेके ऐश्वर्यलाभ किया करते हैं ॥ १३–१४ ॥

नाकीर्तयित्वा गाः सुप्यान्नास्मृत्य पुनरुत्पतेत् ।
सायं प्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात् ॥ १५ ॥

गौओंका नाम लिये विना सोना नहीं चाहिये, उन्हें विना स्मरण किये फिर उठना अनुचित है; सन्ध्या और सबेरे गौओंको प्रणाम करे, इससे पुष्टि प्राप्त होगी ॥ १५ ॥

गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कदाचन ।
न चासां मांसमश्नीयाद्गवां व्युष्टिं तथाश्नुते ॥ १६ ॥

गौओंके मूत्र और गोबरसे किसी प्रकार कभी भी घबडाना न चाहिये और कदाचित् भी इनका मांस भक्षण न करे, तो इससे कान्ति प्राप्त होगी ॥ १६ ॥

गाश्च संकीर्तयेन्नित्यं नावमन्येत गास्तथा ।
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य गां नरः संप्रकीर्तयेत् ॥ १७ ॥

गौओंका सदा नाम ले, उनकी कभी अवज्ञा न करे; मनुष्य बुरे स्वप्न देखनेपर गौओंका नाम लेवे ॥ १७ ॥

गोमयेन सदा स्नायाद्गोकरीषे च संविशेत् ।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥ १८ ॥

सदा गोमयसे स्नान करे, सूखे हुए गोबरपर बैठे; उसपर थूक, मल–मूत्र न छोडे; उनका तिरस्कार न करे ॥ १८ ॥

सार्द्रचर्मणि भुञ्जीत निरीक्षन्वारुणीं दिशम् ।
वाग्यतः सर्पिषा भूमौ गवां व्युष्टिं तथाश्नुते ॥ १९ ॥

प्रोक्षणके द्वारा गोचर्मके भींगनेपर बैठके भोजन करे, पश्चिम दिशाकी ओर देखे; मौन होके पृथ्वीपर बैठकर घीका भक्षण करे । इससे गौओंकी पुष्टि होती है ॥ १९ ॥

×

घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं दद्याद् घृतं प्राश्य गवां व्युष्टिं तथाश्नुते ॥ २० ॥

घृतसे अग्नि होम करे, घृतके द्वारा स्वस्तिवाचन करावे; घृतका दान करे और गौका घृत प्राशन करे; इससे कान्तिकी प्राप्ति होगी ॥ २० ॥

गोमत्या विद्यया धेनुं तिलानामभिमन्त्र्य यः ।
रसरत्नमयीं दद्यान्न स शोचेत्कृताकृते ॥ २१ ॥

जो गोमती विद्याके द्वारा अभिमन्त्रित करके सुंदर रत्नोंसे युक्त तिलकी धेनुका करता है, उसे कृत और अकृत विषयोंके लिये शोक नहीं करना पडता ॥ २१ ॥

गावो मामुपतिष्ठन्तु हेमशृङ्गाः पयोमुचः ।
सुरभ्यः सौरभेयाश्च सरितः सागरं यथा ॥ २२ ॥

जैसे सब नदियां समुद्रके निकट उपस्थित होती हैं, वैसे ही सुवर्णके शींगोंसे युक्त दूध देनेवाली सुरभि और सौरभेयी गौएं मेरे समीप उपस्थित होवें ॥ २२ ॥

गावः पश्यन्तु मां नित्यं गावः पश्याम्यहं सदा ।
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम् ॥ २३ ॥

गौएं मुझपर सदा कृपादृष्टि करें, मैं सदा गौओंका दर्शन करूं, गोवृन्द हमारी हैं और हम उनके हैं, जहांपर गौएं हैं, हम भी उस ही स्थानमें हैं ॥ २३ ॥

एवं रात्रौ दिवा चैव समेषु विषमेषु च ।
महाभयेषु च नरः कीर्तयन्मुच्यते भयात् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥ ३३११ ॥

जो मनुष्य रात दिन, सम वा विषम अवस्थामें महाभय उपस्थित होनेपर भी इस ही प्रकार गौका यश और नाम गाता है, वह भयसे मुक्त होता है ॥ २४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७७ ॥ ३३११ ॥

: ७८ :

वसिष्ठ उवाच—

शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्तं सुदुश्चरम् ।
गोभिः पूर्वविसृष्टाभिर्गच्छेम श्रेष्ठतामिति ॥ १ ॥

वसिष्ठ बोले– हे परन्तप ! पहले जब गौएं उत्पन्न हुई थीं तब गौओंने सबसे अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करनेकी इच्छासे एक लाख वर्षोंतक अत्यन्त घोर तपस्या की थी ॥ १ ॥

लोकेऽस्मिन्दक्षिणानां च सर्वासां वयमुत्तमाः ।
भवेम न च लिप्येम दोषेणेति परंतप ॥ २ ॥

इस जगत्में समस्त दक्षिणाओंके बीच हम श्रेष्ठ हों तथा हम किसी दोषमें लिप्त न हों ॥ २॥

स एव चेतसा तेन हतो लिप्येत सर्वदा ।
शकृता च पवित्रार्थं कुर्वीरन्देवमानुषाः ॥ ३ ॥

वह उस विचारसे ही सदा ज्वलित होता रहे । देवता और मनुष्य हमारे गोमयके सहारे पवित्रताका विधान करें ॥ ३ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
प्रदातारश्च गोलोकान्गच्छेयुरिति मानद ॥ ४ ॥

और स्थावर जङ्गम समस्त जीव हमारे गोमयसे पवित्र हो जांय; जो हमें प्रदान करें, वही हमारे लोकोंमें गमन कर सकें ॥ ४ ॥

ताभ्यो वरं ददौ ब्रह्मा तपसोऽन्ते स्वयं प्रभुः ।
एवं भवत्विति विभुर्लोकांस्तारयतेति च ॥ ५ ॥

गौओंने इसी प्रकार कामना करके तपस्या की थी; उनकी तपस्या पूरी होनेपर सर्व शक्तिमान् ब्रह्माने स्वयं उन्हें वर दिया— 'ऐसा ही होवे, तुम्हारे संकल्प पूर्ण हो । तुम सबका उद्धार करो ' ॥ ५ ॥

उत्तस्थुः सिद्धिकामास्ता भूतभव्यस्य मातरः ।
तपसोऽन्ते महाराज गावो लोकपरायणाः ॥ ६ ॥

भूत–भविष्यकी माता वे सब गौएं अपना मनोरथ पूरा हो जानेपर तपस्यासे उठीं । हे महाराज ! तपस्या समाप्त होनेपर गौएं लोकपरायण हुई ॥ ६ ॥

तस्माद्गावो महाभागाः पवित्रं परमुच्यते ।
तथैव सर्वभूतानां गावस्तिष्ठन्ति मूर्धनि ॥ ७ ॥

इसलिये महाभागा गौएं परम पवित्र रूपसे वर्णित हुआ करती हैं और इस ही निमित्त गौएं सब लोगोंके मस्तकपर स्थित हैं (सबसे वंदनीय हैं) ॥ ७ ॥

समानवत्सां कपिलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां ब्रह्मलोके महीयते ॥ ८ ॥

जो मनुष्य सवत्सा उत्तम लक्षणोंसे और वस्त्रसे युक्त दूध देनेवाली कपिला गौ दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ ८ ॥

रोहिणीं तुल्यवत्सां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सूर्यलोके महीयते ॥ ९ ॥

लाल वर्णवाली तुल्यवत्सा, उत्तम लक्षणा दुग्धवती गौको वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य सूर्यलोकमें पूजित हुआ करता है ॥ ९ ॥

समानवत्सां शबलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सोमलोके महीयते ॥ १० ॥

समानवत्सा, उत्तम लक्षणवाली वस्त्रपूरित पयस्विनी चितकबरी गौ दान करनेसे मनुष्य चन्द्रलोकमें पूजित होता है ॥ १० ॥

समानवत्सां श्वेतां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामिन्द्रलोके महीयते ॥ ११ ॥

वस्त्र उढाके उत्तम लक्षणोंसे युक्त समानवत्सा पयस्विनी श्वेत वर्णकी गौ दान करनेसे मनुष्यको इन्द्रलोकमें संमान प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

समानवत्सां कृष्णां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामग्निलोके महीयते ॥ १२ ॥

समानवत्सा उत्तम लक्षणवाली कृष्णवर्णवाली पयस्विनी गौ वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य अग्निलोकमें पूजित होता है ॥ १२ ॥

समानवत्सां धूम्रां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां याम्यलोके महीयते ॥ १३ ॥

उत्तम लक्षणवाली समानवत्सा धूम्रवर्णकी दुग्धवती गौ वस्त्र ओढाकर दान करनेसे मनुष्य यमलोकमें पूजनीय होता है ॥ १३ ॥

अपां फेनसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वारुणं लोकमश्नुते ॥ १४ ॥

जलके फेनके समान रङ्ग और बछडा, वस्त्र और कांस्यके दोहनपात्रसे युक्त गौ दान करनेसे मनुष्य वरुणलोकमें सुख भोग करता है ॥ १४ ॥

वातरेणुसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वायुलोके महीयते ॥ १५ ॥

हवासे उडी हुई धूलीके समान रङ्गवाली कांसेके दोहनपात्र तथा वस्त्र पूरित सवत्सा गौ दान करनेसे पुरुष वायुलोकमें अभिनन्दित हुआ करता है ॥ १५ ॥

हिरण्यवर्णां पिङ्गाक्षीं सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां कौबेरं लोकमश्नुते ॥ १६ ॥
सुवर्णरङ्गवाली पिङ्गाक्षी सवत्सा कांसेकी दोहनीके सहित वस्त्र उढाके गौ दान करनेसे मनुष्य कुबेरलोकमें सुख भोगता है ॥ १६ ॥

पलालधूम्रवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां पितृलोके महीयते ॥ १७ ॥
तृणके धूम्रवर्णवाली गौ कांसेके दोहनीके सहित वस्त्र उढाके सवत्सा दान करनेसे मनुष्य पितृलोकमें पूजित होता है ॥ १७ ॥

सवत्सां पीवरीं दत्त्वा शितिकण्ठामलंकृताम् ।
वैश्वदेवमसंबाधं स्थानं श्रेष्ठं प्रपद्यते ॥ १८ ॥
गर्दनमें कम्बलकी झूलसे अलंकृत करके युवा सवत्सा गौ दान करनेसे, मनुष्यको बाधारहित वैश्वदेव नामक उत्तम लोक प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

समानवत्सां गौरीं तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां वसूनां लोकमश्नुते ॥ १९ ॥
दूध देनेवाली सवत्सा उत्तम गौर वर्णवाली गौको वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य वसुलोक पाता है ॥ १९ ॥

पाण्डुकम्बलवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां साध्यानां लोकमश्नुते ॥ २० ॥
श्वेत कम्बलके समान रङ्ग, दूध देनेवाली सवत्सा गौको कांसेकी दोहनीके साथ वस्त्र उढाके दान करनेसे साध्योंके समस्त लोक प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

वैराटपृष्ठमुक्षाणं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
प्रदाय मरुतां लोकानजरान्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥
जो सब प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत करके दृढ पीठवाले वृषभका दान करता है, वह मरुद्गणोंके लोकोंमें गमन करता है ॥ २१ ॥

वत्सोपपन्नां नीलाङ्गां सर्वरत्नसमन्विताम् ।
गन्धर्वाप्सरसां लोकान्दत्त्वा प्राप्नोति मानवः ॥ २२ ॥
मनुष्य सब रत्नोंसे युक्त यौवन सम्पन्न और इन्द्रनीलके समान रंगवाले वृषभका दान करनेसे गन्धर्व और अप्सराओंके लोकोंको पाता है ॥ २२ ॥

शितिकण्ठमनड्वाहं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
दत्त्वा प्रजापतेर्लोकान्विशोकः प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥
गर्दनमें कम्बलकी झूल और मयूरके समान रंगवाले कण्ठको सब रत्नोंसे अलंकृत करके दान करनेसे पुरुष शोकरहित होकर प्रजापतिके लोकोंको पाता है ॥ २३ ॥

गोप्रदानरतो याति भित्त्वा जलदसंचयान् ।
विमानेनार्कवर्णेन दिवि राजन्विराजता ॥ २४ ॥

हे महाराज ! गोदानमें रत रहनेवाला मनुष्य मेघजालको भेदता हुआ सूर्यके समान वर्णवाले विमानके द्वारा सुरपुरमें जाके विराजमान होता है ॥ २४ ॥

तं चारुवेषाः सुश्रोण्यः सहस्रं वरयोषितः ।
रमयन्ति नरश्रेष्ठ गोप्रदानरतं नरम् ॥ २५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! मनोहर वेषवाली, सुश्रोणी सहस्रों श्रेष्ठ सुन्दरी उस गोदानमें रत पुरुषके सङ्ग क्रीडा कराती हैं ॥ २५ ॥

वीणानां वल्लकीनां च नूपुराणां च शिञ्जितैः ।
हासैश्च हरिणाक्षीणां प्रसुप्तः प्रतिबोध्यते ॥ २६ ॥

वह सोनेपर उन हरिणाक्षियोंकी वीणा, वल्लकी, नूपुरकी झंकार तथा हास–परिहासके मधुर शब्दोंसे जाग्रत होता है ॥ २६ ॥

यावन्ति लोमानि भवन्ति धेन्वास्तावन्ति वर्षाणि महीयते सः ।
स्वर्गाच्च्युतश्चापि ततो नृलोके कुले समुत्पत्स्यति गोमिनां सः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥ ३३३८ ॥

गौके शरीरमें जितने परिमाणसे रोम रहते हैं, गोदान करनेवाला उतने वर्षोंतक सुरपुरमें पूजित होता है; अन्तमें वह क्षीणपुण्य होकर जब स्वर्गसे नीचे आता है, तब मर्त्य लोकमें गोसेवकोंके वंशमें जन्म लेता है ॥ २७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ ३३३८ ॥

: ७९ :

वसिष्ठ उवाच—

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः ।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥ १ ॥

वसिष्ठ बोले– गौएं घृत और दूध देनेवाली, घीकी उत्पत्तिस्थान और घीको उत्पन्न करनेवाली घृतकी नदी तथा घृतकी आवर्त हैं, इसलिये मेरे गृहमें सदा निवास करें ॥ १ ॥

घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम् ।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम् ॥ २ ॥

गौका घी सदा मेरे हृदयमें रहे, घृत मेरी नाभिमें सदा प्रतिष्ठित हो, घृत मेरे सारे अंगोंमें और मनमें निवास करता रहे ॥ २ ॥

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥ ३ ॥

गौएं मेरे आगे और पीछे भी रहें; गौएं मेरे सब ओर रहें, मैं गौओंके बीच वास करता हूं ॥ ३ ॥

इत्याचम्य जपेत्सायं प्रातश्च पुरुषः सदा ।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात्स परिमुच्यते ॥ ४ ॥

जो पुरुष संध्या और सवेरेके समय आचमन करके सदा इसका जप करता है, वह दिन भरके किये हुए पापोंसे मुक्त होता है ॥ ४ ॥

प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा ।
गन्धर्वाप्सरसो यत्र तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ५ ॥

जिस स्थानमें सुवर्णमय प्रासाद विद्यमान हैं, वसुधारारूपी मन्दाकिनी विराज रही है और गन्धर्व-अप्सराएं वर्त्तमान हैं, सहस्र गौओंका दान करनेवाले मनुष्य वहां ही जाते हैं ॥५॥

नवनीतपङ्काः क्षीरोदा दधिशैवलसंकुलाः ।
वहन्ति यत्र नद्यो वै तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ६ ॥

मक्खनरूपी पङ्क, क्षीररूपी जल और दधिरूपी सैवालयुक्त नदियां जिस स्थानमें बह रही हैं, हजार गौओंका दान करनेवाले पुरुष उस ही स्थानमें गमन करते हैं ॥ ६ ॥

गवां शतसहस्रं तु यः प्रयच्छेद्यथाविधि ।
परामृद्धिमवाप्याथ स गोलोके महीयते ॥ ७ ॥

जो विधिपूर्वक एक लाख गौओंका दान करता है, वह इस लोकमें परम समृद्धिवान होके गोलोकमें पूजित होता है ॥ ७ ॥

दश चोभयतः प्रेत्य मातापित्रोः पितामहान् ।
दधाति सुकृताँल्लोकान्पुनाति च कुलं नरः ॥ ८ ॥

गोदान करनेसे माता और पिता दोनों कुलोंकी दस पीढियोंको सुकृत लोकोंमें भेजके अपने कुलको भी वह पवित्र करता है ॥ ८ ॥

धेन्वाः प्रमाणेन समप्रमाणां धेनुं तिलानामपि च प्रदाय ।
पानीयदाता च यमस्य लोके न यातनां कांचिदुपैति तत्र ॥ ९ ॥

गौके प्रमाणके अनुसार तुल्य परिमाणसे तिलकी गौका दान करने तथा जल धेनुका दान देनेसे मनुष्यको यमलोकमें कोई पीडा नहीं प्राप्त होती ॥ ९ ॥

पवित्रमग्र्यं जगतः प्रतिष्ठा दिवौकसां मातरोऽथाप्रमेयाः ।
अन्वालभेद्दक्षिणतो व्रजेच्च दद्याच्च पात्रे प्रसमीक्ष्य कालम् ॥ १० ॥
परम पवित्र, जगत्‌की प्रतिष्ठा, देवताओंकी माता अप्रमेय गौओंकी स्तुति, सादर स्पर्श और दाहिने रखकर प्रदक्षिणा करे और उत्तम समय विचारके उपयुक्त पात्रको दान दे ॥ १० ॥

धेनुं सवत्सां कपिलां भूरिशृङ्गां कांस्योपदोहां वसनोत्तरीयाम् ।
प्रदाय तां गाहति दुर्विगाह्यां याम्यां सभां वीतभयो मनुष्यः ॥ ११ ॥
कांसेके दोहनीपात्रसे युक्त, विशाल सींगवाली कपिला गौ वस्त्र उढाके सवत्सा दान करनेसे मनुष्य भयरहित होके दुर्गम यमसभामें प्रवेश करता है ॥ ११ ॥

सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
गावो मामुपतिष्ठन्तामिति नित्यं प्रकीर्तयेत् ॥ १२ ॥
मनुष्य सदा ऐसी प्रार्थना करे, कि उत्तम रूपवाली, बहुरूपा, विश्वरूपिणी, मातृस्वरूपी गौएं मेरे निकट उपस्थित होवें ॥ १२ ॥

नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम् ।
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति ॥ १३ ॥
गोदानसे बढके पुण्यजनक दान दूसरा कुछ भी नहीं है; इससे बढके पुण्यका फल भी और कुछ नहीं है, लोकमें इससे श्रेष्ठ न कुछ हुआ और न होगा ॥ १३ ॥

त्वचा लोम्नाऽथ शृङ्गैश्च वालैः क्षीरेण मेदसा ।
यज्ञं वहन्ति संभूय किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥
गौएं त्वचा, रोम, सींग, पुच्छके बाल, क्षीर और मेदसे युक्त होकर यज्ञको पूर्ण करती हैं, इसलिये उनसे बढके और कौन श्रेष्ठ है? ॥ १४ ॥

यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम् ॥ १५ ॥
यह स्थावरजङ्गममय सारा जगत् जिससे व्याप्त होरहा है, उस भूत और भविष्यकी जननी गौको मैं सिर झुकाके प्रणाम करता हूं ॥ १५ ॥

गुणवचनसमुच्चयैकदेशो नृवर मयैष गवां प्रकीर्तितस्ते ।
न हि परमिह दानमस्ति गोभ्यो भवति न चापि परायणं तथान्यत् ॥ १६ ॥
हे नरश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे समीप गौओंके अत्युत्तम प्रशंसावादका केवल एकही अंश वर्णन किया है । इस लोकमें गोदानसे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है, और गौओंके अतिरिक्त अन्य कोई परम आश्रय नहीं है ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच—

एतस्मिन्नमिति भूमिपो विचिन्त्य प्रवरमृषेर्वचनं ततो महात्मा ।

व्यसृजत नियतात्मवान्द्विजेभ्यः सुबहु च गोधनमाप्तवांश्च लोकान् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥ ३२५५ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर महानुभाव संयतचित्त सौदास राजाने वशिष्ठ ऋषिके इस श्रेष्ठ वचनको समझके द्विजोंको बहुतसी गौएं दान दी और अन्तकालमें गोलोक पाया ॥ १७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें उन्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ७९ ॥ ३२५५ ॥

: ८० :

युधिष्ठिर उवाच—

पवित्राणां पवित्रं यच्छ्रेष्ठं लोके च यद्भवेत् ।

पावनं परमं चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह! इस लोकमें पूर्वोक्त विषयोंके अतिरिक्त जो समस्त पवित्रोंके बीच पवित्र तथा परम पावन है, वह मेरे निकट वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

गावो महार्थाः पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान् ।

धारयन्ति प्रजाश्चेमाः पयसा हविषा तथा ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भरतसत्तम ! महान् कार्य करनेवाली पवित्र गौएं मनुष्योंका उद्धार करती हैं, घृत और दूधके सहारे समस्त प्रजाको धारण कर रही हैं ॥ २ ॥

न हि पुण्यतमं किंचिद्गोभ्यो भरतसत्तम ।

एताः पवित्राः पुण्याश्च त्रिषु लोकेष्वनुत्तमाः ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! गौओंसे परम पवित्र और कुछ भी नहीं है; येही त्रिभुवनके बीच पवित्र पुण्यदायक और तीनों लोकोंमें अत्यंत श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥

देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै ।

दत्त्वा चैता नरपते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः ॥ ४ ॥

हे नरपति ! गौएं देवताओंसे भी ऊपरके लोकोंमें निवास करती हैं; मनीषिवृन्द गोदान करके कुलका उद्धार करते हुए स्वर्गमें गमन किया करते हैं ॥ ४ ॥

मान्धाता यौवनाश्वश्च ययातिर्नहुषस्तथा ।

गावो ददन्तः सततं सहस्रशतसंमिताः ।

गताः परमकं स्थानं देवैरपि सुदुर्लभम् ॥ ५ ॥

मान्धाता, यौवनाश्व, ययाति और नहुष राजाओंने सदा लाखों गौओंका दान करके, देवताओंसे भी अत्यंत दुर्लभ परम स्थानमें गमन किया था ॥ ५ ॥

×

अपि चात्र पुरावृत्तं कथयिष्यामि तेऽनघ ॥ ६ ॥

हे अनघ! इस विषयमें मैं तुमसे एक पौराणिक कथा कहता हूँ ॥ ६ ॥

ऋषीणामुत्तमं धीमान्कृष्णद्वैपायनं शुकः।
अभिवाद्याह्निकं कृत्वा शुचिः प्रयतमानसः।
पितरं परिपप्रच्छ दृष्टलोकपरावरम् ॥ ७ ॥

पवित्र मन, पावन चित्तवाले, बुद्धिमान शुकदेवने नित्य कर्मसे निवृत्त होकर, ऋषियोंमें श्रेष्ठ लोकके भूत और भविष्यको प्रत्यक्ष देखनेवाले अपने पिता कृष्णद्वैपायनको प्रणाम करके प्रश्न किया ॥ ७ ॥

को यज्ञः सर्वयज्ञानां वरिष्ठ उपलक्ष्यते।
किं च कृत्वा परं स्वर्गं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥

सब यज्ञोंके बीच किस यज्ञको आप श्रेष्ठ जानते हैं? मनीषिगण कौनसा कर्म करनेसे उत्तम स्वर्गको पाते हैं? ॥ ८ ॥

केन देवाः पवित्रेण स्वर्गमश्नन्ति वा विभो।
किं च यज्ञस्य यज्ञत्वं क्व च यज्ञः प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

हे विभो! देववृन्द किस पवित्र कार्यके द्वारा स्वर्गलोकमें सुखभोग करते हैं? यज्ञका यज्ञत्व क्या है? यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित होरहा है? ॥ ९ ॥

दानानामुत्तमं किं च किं च सत्रमितः परम्।
पवित्राणां पवित्रं च यत्तद्ब्रूहि ममानघ ॥ १० ॥

दानके निमित्त कौनसी वस्तु उत्तम है? हे अनघ! इस लोकमें परम यज्ञ क्या है? और जो पवित्रोंके बीच पवित्र हो, वह मेरे निकट प्रकट करिये ॥ १० ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यासः परमधर्मवित्।
पुत्रायाकथयत्सर्वं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! परम धर्मज्ञ व्यासदेव इतनी बात सुनके पुत्रके निकट यथार्थ रीतिसे सारी कथा कहने लगे ॥ ११ ॥

व्यास उवाच—

गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम्।
गावः पुण्याः पवित्राश्च पावनं धर्म एव च ॥ १२ ॥

व्यासदेव बोले— गौएं ही प्राणियोंकी प्रतिष्ठा स्थान, परम आश्रय, पुण्यमयी, पवित्र और परम पावन धर्म हैं ॥ १२ ॥

पूर्वमासन्नशृङ्गा वै गाव इत्यनुशुश्रुम।
शृङ्गार्थे समुपासन्त ताः किल प्रभुमव्ययम्　　　　॥ १३ ॥
हमने ऐसा सुना है, कि पहले गौओंके सींग नहीं थे; अनन्तर उन्होंने सींगके लिये अव्यय प्रभु प्रजापतिकी उपासना की थी ॥ १३ ॥

ततो ब्रह्मा तु गाः प्रायमुपविष्टाः समीक्ष्य ह।
ईप्सितं प्रददौ ताभ्यो गोभ्यः प्रत्येकशः प्रभुः　　　　॥ १४ ॥
तब सर्वशक्तिमान् ब्रह्माने गौओंको प्रायोपवेशन करते देखके उन हरएकको ही अभिलषित वर दिया ॥ १४ ॥

तासां शृङ्गाण्यजायन्त यस्या यादृङ्मनोगतम्।
नानावर्णाः शृङ्गवन्त्यस्ता व्यरोचन्त पुत्रक　　　　॥ १५ ॥
हे पुत्र! उनके बीच जिसकी जैसी अभिलाषा थी, उनके वैसी ही सींग उत्पन्न हुईं; वे अनेक वर्णवाले सींगोंसे युक्त होकर सुशोभित हुईं ॥ १५ ॥

ब्रह्मणा वरदत्तास्ता हव्यकव्यप्रदाः शुभाः।
पुण्याः पवित्राः सुभगा दिव्यसंस्थानलक्षणाः।
गावस्तेजो महद्दिव्यं गवां दानं प्रशस्यते　　　　॥ १६ ॥
जब ब्रह्माने उन्हें वर दान किया, तब वे गौएं कल्याणदायिनी, हव्यकव्यप्रदान करनेवाली, पुण्यमयी, पवित्र, सुभगा और दिव्य अवयव तथा लक्षणोंसे युक्त हुईं। गौएं उत्तम, महत्, दिव्य तेजस्वरूप हैं, उनके दानकी प्रशंसा की जाती है ॥ १६ ॥

ये चैताः संप्रयच्छन्ति साधवो वीतमत्सराः।
ते वै सुकृतिनः प्रोक्ताः सर्वदानप्रदाश्च ते।
गवां लोकं तथा पुण्यमाप्नुवन्ति च तेऽनघ　　　　॥ १७ ॥
जो साधु पुरुष मत्सररहित होकर इन्हें दान करते हैं, वेही सुकृती तथा सर्वदानप्रदाता माने गये हैं। हे पापरहित! उन्हें ही पवित्र गोलोक मिलता है ॥ १७ ॥

यत्र वृक्षा मधुफला दिव्यपुष्पफलोपगाः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि दिव्यानि द्विजसत्तम　　　　॥ १८ ॥
हे द्विजसत्तम! उस लोकमें वृक्षोंमें मधुर फल लगते और वे दिव्य पुष्प तथा फलसम्पन्न होते हैं; उन वृक्षोंके सब पुष्प भी दिव्य और सुगन्धियुक्त हुआ करते हैं ॥ १८ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका।
सर्वत्र सुखसंस्पर्शा निष्पङ्का नीरजा शुभा　　　　॥ १९ ॥
उस स्थानमें सारी भूमि मणिमयी, सुवर्णवालुकासे युक्त, सब ऋतुओंमें सुखस्पर्श, पङ्करहित, रजोगुणवर्जित और शुभदायिनी रहती है ॥ १९ ॥

रक्तोत्पलवनैश्चैव मणिदण्डैर्हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसंकाशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ २० ॥

वहांपर समस्त तालाव उदित सूर्यसदृश लाल पत्थरसे युक्त, कमलवन और हिरण्मय मणिखण्डोंसे शोभित हैं ॥ २० ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलविमिश्रैश्च सरोभिर्बहुपङ्कजैः ॥ २१ ॥

बहुमूल्य मणिकी भांति पत्ते, सुवर्ण प्रभायुक्त केसर, नीलोत्पलयुक्त विविध भांतिके कमल शोभित तालावोंसे वहांकी भूमि अलंकृत होती है ॥ २१ ॥

करवीरवनैः फुल्लैः सहस्रावर्तसंवृतैः ।
संतानकवनैः फुल्लैर्वृक्षैश्च समलंकृताः ॥ २२ ॥

खिले हुए करवीरवन, सहस्रों आवर्तोंसे परिपूरित सन्तानकवन, फूले हुए वृक्षोंसे वहांकी भूमि शोभित होती है ॥ २२ ॥

निर्मलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाधनैः
उद्धूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ २३ ॥

निर्मल मुक्ताजाल और अत्यंत मौल्यवान् मणियों तथा सुवर्णसे सहारेकी वहां नदियोंकी तटभूमिमें प्रकट हुई है ॥ २३ ॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चान्यैर्हुताशनसमप्रभैः ॥ २४ ॥

वहां नदियोंके जलमें सर्वरत्नमय उत्तम पर्वत प्रविष्ट हुए दिखायी देते हैं; कोई श्रेष्ठ पर्वत सुवर्णमय और कोई अग्निसदृश प्रभायुक्त हैं ॥ २४ ॥

सौवर्णगिरयस्तत्र मणिरत्नशिलोच्चयाः ।
सर्वरत्नमयैर्भान्ति शृङ्गैश्चारुभिरुच्छ्रितैः ॥ २५ ॥

उस स्थानमें सुवर्णमय सब पर्वत, मणिरत्न शिला तथा सर्वरत्नमय ऊंचे मनोहर शिखरोंसे शोभित होरहे हैं ॥ २५ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसैः पुष्पैः फलैश्च भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वहांके वृक्ष नित्य फल पुष्पोंसे युक्त और पक्षियोंसे परिपूरित रहते हैं, उनके फूलों और फलोंमें दिव्य रस और दिव्य सुगन्ध होते हैं ॥ २६ ॥

रमन्ते पुण्यकर्माणस्तत्र नित्यं युधिष्ठिर ।
सर्वकामसमृद्धार्था निःशोका गतमन्यवः ॥ २७ ॥

हे युधिष्ठिर ! उस स्थानमें निवास करनेवाले पुण्यकर्मवाले मनुष्य सर्वकामसमृद्धार्थ और शोकरहित तथा क्रोधसे हीन होते हैं ॥ २७ ॥

विमानेषु विचित्रेषु रमणीयेषु भारत ।
मोदन्ते पुण्यकर्माणो विहरन्तो यशस्विनः ॥ २८ ॥

हे भारत ! पुण्यकर्मा यशस्वी मनुष्य वहांपर विचित्र और रमणीय विमानोंमें विहार करते हुए प्रसन्न हुआ करते हैं ॥ २८ ॥

उपक्रीडन्ति तान्राजन्शुभाश्चाप्सरसां गणाः ।
एताँल्लोकानवाप्नोति गां दत्त्वा वै युधिष्ठिर ॥ २९ ॥

हे महाराज ! उत्तम रूपवाली अप्सराएं उनके साथ क्रीडा करती हैं । हे युधिष्ठिर ! गोदान करनेसे मनुष्य इन्हीं लोकोंको पाता है ॥ २९ ॥

यासामधिपतिः पूषा मारुतो बलवान्बली ।
ऐश्वर्ये वरुणो राजा ता मां पान्तु युगंधराः ॥ ३० ॥

सर्वशक्तिमान् सूर्य और बलवान वायु जिनके प्रभु हैं, ऐश्वर्यविषयमें जिनके राजा वरुण हैं, सत्य प्रभृति युगोंको धारण करनेवाली वे गौएं मेरा संरक्षण करें ॥ ३० ॥

सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
प्राजापत्या इति ब्रह्मञ्जपेन्नित्यं यतव्रतः ॥ ३१ ॥

गौएं उत्तम रूपवाली, बहुरूपिणी, विश्वरूपा और सबकी माताएं हैं; हे ब्रह्मन् ! मनुष्य इन नामोंका यतव्रती होकर सदा जप करे, ब्रह्माके द्वारा यही तपस्या कही गई है ॥ ३१ ॥

गास्तु शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः ।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान् ॥ ३२ ॥

जो गौओंकी सेवा करता है और सब भांतिसे उनका अनुगत होता है, उसपर वे प्रसन्न होके अत्यन्त दुर्लभ वर दिया करती हैं ॥ ३२ ॥

न द्रुह्येन्मनसा चापि गोषु ता हि सुखप्रदाः ।
अर्चयेत सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत् ।
दान्तः प्रीतमना नित्यं गवां व्युष्टिं तथाश्नुते ॥ ३३ ॥

मनुष्य मनसे भी कभी गौओंसे द्रोहाचरण न करे, वे सदा सुखदात्री हैं, गौओंका सदा सत्कार करे तथा नमस्कार करके उनकी पूजा करे । जो दमयुक्त, प्रसन्नमन और दयावान होकर सदा उनकी सेवा करता है, वह समृद्धिको लाभ करता है ॥ ३३ ॥

येन देवाः पवित्रेण भुञ्जते लोकमुत्तमम्।
यत् पवित्रं पवित्राणां तद् घृतं शिरसा वहेत् ॥ ३४ ॥

देववृन्द जिस पवित्र वस्तु घृतके सहारे उत्तम लोकको भोगते हैं, जो कि पवित्र वस्तुओंके बीच अत्यंत पवित्र है, उस घृतको माथेपर रखे ॥ ३४ ॥

घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत्।
घृतं प्राशेद् घृतं दद्याद् गवां पुष्टिं तथाश्नुते ॥ ३५ ॥

गायके घृतसे अग्निमें होम करे, घृतकी दक्षिणासे स्वस्तिवाचन करावे, घृत भक्षण करे और जो घृतका दान करे; तो वह गौओंकी समृद्धि और अपनी पुष्टिका भोग प्राप्त करेगा ॥ ३५ ॥

त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं पिबेत् पयः।
गवामुष्णं पयः पीत्वा त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत्।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम् ॥ ३६ ॥

मनुष्य तीन दिनोंतक उष्ण गोमूत्र पीवे, फिर तीन दिन गरम दूध पीवे; गौका दूध पीनेके पश्चात् तीन दिनोंतक उष्ण घृत पीले; तीन दिनतक गरम घृत पीकर तीन दिनोंतक वायु पीके रहे ॥ ३६ ॥

निर्हृतैश्च यवैर्गोभिर्मासं प्रसृतयावकः।
ब्रह्महत्यासमं पापं सर्वमेतेन शुध्यति ॥ ३७ ॥

गौओंके द्वारा गोमयके सहित परित्यक्त यवको यावक कहते हैं, जो एक महीने तक यावक भोजन करता है, उसके ब्रह्महत्यासदृश पाप इसहीके सहारे छूट जाते हैं ॥ ३७ ॥

पराभवार्थं दैत्यानां देवैः शौचमिदं कृतम्।
देवत्वमपि च प्राप्ताः संसिद्धाश्च महाबलाः ॥ ३८ ॥

दैत्योंके पराभवके हेतु देवताओंने इसी प्रायश्चित्तका अनुष्ठान किया, इसीसे वे देवत्व पाके सम्यक् सिद्ध और महाबलसे युक्त हुए ॥ ३८ ॥

गावः पवित्राः पुण्याश्च पावनं परमं महत्।
ताश्च दत्त्वा द्विजातिभ्यो नरः स्वर्गमुपाश्नुते ॥ ३९ ॥

गौएं परम पवित्र, महत् पावन और पुण्यप्रद हैं; मनुष्य द्विजातियोंको गौ दान करनेसे स्वर्गका भोग करता है ॥ ३९ ॥

गवां मध्ये शुचिर्भूत्वा गोमतीं मनसा जपेत्।
पूताभिरद्भिराचम्य शुचिर्भवति निर्मलः ॥ ४० ॥

पवित्र होकर गौओंके बीच मनही मन ऋक्के द्वारे प्रकाशित गोमती मन्त्र जपे; मनुष्य पवित्र जलसे आचमन करके मन्त्र जपनेसे पवित्र और निर्मल होता है ॥ ४० ॥

अग्निमध्ये गवां मध्ये ब्राह्मणानां च संसदि ।
विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः पुण्यकर्मिणः ॥ ४१ ॥

अग्नि तथा गौओंके बीच और ब्राह्मणोंके समाजमें विद्या और वेदव्रतमें निष्णात, पुण्य कर्मवाले ब्राह्मणोंको उचित है, कि ॥ ४१ ॥

अध्यापयेरञ्शिष्यान्वै गोमतीं यज्ञसंमिताम् ।
त्रिरात्रोपोषितः श्रुत्वा गोमतीं लभते वरम् ॥ ४२ ॥

शिष्योंको यज्ञतुल्य गोमती ऋक् पढावें । त्रिरात्र उपवासयुक्त होकर गोमती ऋक्का मन्त्रजप सुननेसे उसे गौओंका वर प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

पुत्रकामश्च लभते पुत्रं धनमथापि च ।
पतिकामा च भर्तारं सर्वकामांश्च मानवः ।
गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति सेविता वै न संशयः ॥ ४३ ॥

पुत्रकी कामनावाला मनुष्य पुत्र और धनका अभिलाषी मनुष्यको धन मिलता है । पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्री पति पाती है; मनुष्यका इसके सहारे सब प्रयोजन सिद्ध होता है । गौएं सेवित और सन्तुष्ट होकर निःसन्देह वर दान करती हैं ॥ ४३ ॥

एवमेता महाभागा यज्ञियाः सर्वकामदाः ।
रोहिण्य इति जानीहि नैताभ्यो विद्यते परम् ॥ ४४ ॥

तुम इस ही प्रकार महाभाग यज्ञहितकारी सर्वकामद इन गौओंको रोहिणी जानो, इनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ॥ ४४ ॥

इत्युक्तः स महातेजाः शुकः पित्रा महात्मना ।
पूजयामास गा नित्यं तस्मात्त्वमपि पूजय ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ ३४०० ॥

महातेजस्वी शुकदेवने महानुभाव पिताका ऐसा वचन सुनके प्रतिदिन गौकी सेवा–पूजा की थी; इसलिये तुम भी उनकी सेवा–पूजा करो ॥ ४५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ ८० ॥ ३४०० ॥

: ८१ :

युधिष्ठिर उवाच—

मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं संशयोऽत्र हि मे महान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! मैंने सुना है, कि गौओंके गोबरमें लक्ष्मीका निवास है, इसलिये इस विषयमें मुझे महान् सन्देह है, इसीसे मैं इसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गोभिर्नृपेह संवादं श्रिया भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे भरतसत्तम महाराज ! प्राचीन लोग इस विषयमें लक्ष्मीके सहित इस लोकमें गौओंके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

श्रीः कृत्वेह वपुः कान्तं गोमध्यं प्रविवेश ह ।
गावोऽथ विस्मितास्तस्या दृष्ट्वा रूपस्य संपदम् ॥ ३ ॥

लक्ष्मीने मनोहर शरीर धारण करके इस लोकमें गौओंके बीच प्रवेश किया, गौएं उनकी सुन्दरताई-सम्पत्ति देखके विस्मित हुईं ॥ ३ ॥

गाव ऊचुः—

कासि देवि कुतो वा त्वं रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
विस्मिताः स्व महाभागे तव रूपस्य संपदा ॥ ४ ॥

गौओंने कहा– हे देवि ! तुम कौन हो ? किस स्थानसे आई हो ? भूलोकमें तुम्हारे रूपकी उपमा नहीं है । हे महाभागे ! तुम्हारे रूपसम्पत्तिसे हम विस्मययुक्त हुई हैं ॥ ४ ॥

इच्छाम त्वां वयं ज्ञातुं का त्वं क्व च गमिष्यसि ।
तत्त्वेन च सुवर्णाभे सर्वमेतद्ब्रवीहि नः ॥ ५ ॥

तुम कौन हो, कहां जाओगी, हमें इसे जाननेकी इच्छा है । हे सुवर्णवर्णाभे ! इसलिये तुम यथार्थ रीतिसे हमारे निकट यह सब यथार्थ वृत्तान्त कहो ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच—

लोककान्तास्मि भद्रं वः श्रीर्नाम्नेह परिश्रुता ।
मया दैत्याः परित्यक्ता विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥

लक्ष्मी बोली– तुम लोगोंका मङ्गल होवे, मैं इस लोकमें लोककान्ता श्री नामसे विख्यात हूं; दैत्य लोग मुझसे परित्यक्त होकर बहुत समयसे नष्ट हुए हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रो विवस्वान्सोमश्च विष्णुरापोऽग्निरेव च ।
मयाभिपन्ना ऋध्यन्ते ऋषयो देवतास्तथा ॥ ७ ॥

इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, वरुण और अग्नि प्रभृति देवगण तथा ऋषिवृन्द मुझसे अनुग्रहीत होकर सिद्ध होते हैं ॥ ७ ॥

यांश्च द्विषाम्यहं गावस्ते विनश्यन्ति सर्वशः ।
धर्मार्थकामहीनाश्च ते भवन्त्यसुखान्विताः ॥ ८ ॥

हे गोवृन्द ! मैं जिनका तिरस्कार करती हूं, वे सब प्रकारसे विनष्ट होते हैं । धर्म, अर्थ और कामहीन ऐसे वे दुःखी हुआ करते हैं ॥ ८ ॥

एवंप्रभावां मां गावो विजानीत सुखप्रदाम्।
इच्छामि चापि युष्मासु वस्तुं सर्वासु नित्यदा।
आगता प्रार्थयानाहं श्रीजुष्टा भवतानघाः ॥ ९ ॥

हे गोगण! मुझे ऐसे ही सुखदायक प्रभावयुक्त जानो; मैं सदा तुम्हारे भीतर निवास करनेकी इच्छा करती हूं। मैं तुम्हारे निकट आके प्रार्थना करती हूं, कि तुम निष्पाप, श्रीयुक्त होकर रहो ॥ ९ ॥

गाव ऊचुः—

अध्रुवां चञ्चलां च त्वां सामान्यां बहुभिः सह।
न त्वामिच्छाम भद्रं ते गम्यतां यत्र रोचते ॥ १० ॥

गौओंने कहा— तुम्हारा मंगल होवे, तुम अस्थिर और चंचला हो और बहुतोंके संग समान भावसे रहती हो, इसलिये हम सब तुम्हें नहीं चाहती हैं; जिस स्थानमें तुम अनुरक्त रहो, वहां जाओ ॥ १० ॥

वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयाद्य वै।
यत्रेष्टं गम्यतां तत्र कृतकार्या वयं त्वया ॥ ११ ॥

हम सब कोई हृष्ट-पुष्ट शरीरवाली सुंदर हैं, इस समय तुम हमारी कौनसी इष्टसिद्धि करोगी? तुम्हारी जहां इच्छा हो, वहां जाओ; तुमने दर्शन दिया, इसीसे हम सब कृतकार्य हुई हैं ॥ ११ ॥

श्रीरुवाच:—

किमेतद्वः क्षमं गावो यन्मां नेहाभ्यनन्दथ।
न मां संप्रति गृह्णीथ कस्माद्वै दुर्लभां सतीम् ॥ १२ ॥

लक्ष्मी बोली— हे गोवृन्द! तुम लोग जो मुझे अभिनन्दित नहीं करती हो, क्या यह तुम्हें उचित है? मैं दूसरोंके लिये दुर्लभ सती साध्वी हूं, तब तुम लोग किस निमित्त इस समय मुझे नहीं ग्रहण करती हो? ॥ १२ ॥

सत्यश्च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः ॥ १३ ॥

हे उत्तमव्रती गोगण! लोकमें जो यह लोकापवाद प्रचलित है, कि स्वयं उपस्थित होनेपर अनादर होता है, वह सत्य तथा निश्चित है ॥ १३ ॥

महदुग्रं तपः कृत्वा मां निषेवन्ति मानवाः।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ १४ ॥

मनुष्य, देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसगण अत्यन्त उग्र तपस्या करके मेरी सेवाका भाग्य प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

क्षमस्वेतद्धि वो गावः प्रतिगृह्णीत मामिह ।
नावमन्या ह्यहं सौम्यास्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ १५ ॥

हे गोवृन्द ! तुम्हारा तो यही सामर्थ्य है, कि मैं स्वयं आयी हूं; इसलिये तुम मुझे यहां ग्रहण करो। हे प्रियदर्शना ! स्थावरजंगममय तीनों लोकोंके बीच मैं किसीके भी अवमानकी पात्री नहीं हूं ॥ १५ ॥

गाव ऊचुः—

नावमन्यामहे देवि न त्वां परिभवामहे ।
अध्रुवा चलचित्तासि ततस्त्वां वर्जयामहे ॥ १६ ॥

गौओंने कहा, हे देवि ! हम अवमान वा तुम्हारा अनादर नहीं करती हैं, तुम अस्थिर और चलचित्ता हो, इस ही लिये तुम्हें परित्याग करती हैं ॥ १६ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन गम्यतां यत्र वाञ्छसि ।
वपुष्मत्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयानघे ॥ १७ ॥

यहां बहुत वचन कहनेसे क्या लाभ है ? तुम्हारी जिस स्थानमें जानेकी इच्छा हो, वहां जाओ। हम सब हृष्ट-पुष्ट और सुंदर हैं। हे पापरहिते ! तुमसे हमारा क्या होगा ? ॥१७॥

श्रीरुवाच—

अवज्ञाता भविष्यामि सर्वलोकेषु मानदाः ।
प्रत्याख्यानेन युष्माभिः प्रसादः क्रियतामिति ॥ १८ ॥

लक्ष्मी बोली— हे मानदात्रीगण ! तुम यदि मुझे त्याग दोगी तो मैं सब लोगोंके निकट अपमानित-उपेक्षित होऊंगी, इसलिये तुम्हें मुझपर प्रसन्न होना चाहिये ॥ १८ ॥

महाभागा भवत्यो वै शरण्याः शरणागताम् ।
परित्रायन्तु मां नित्यं भजमानामनिन्दिताम् ।
माननां त्वहमिच्छामि भवत्यः सततं शुभाः ॥ १९ ॥

तुम महाभागा और सबको शरण देनेवाली हो, इसलिये मुझ सदा भजमान, अनिन्दनीय और शरणागताकी रक्षा करो। मैं तुम्हारे समीप सम्मानकी अभिलाष करती हूं, तुम सदा सबका मांगल्य करनेवाली हो ॥ १९ ॥

अप्येकाङ्गे तु वो वस्तुमिच्छामि च सुकुत्सिते ।
न वोऽस्ति कुत्सितं किंचिदङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः ॥ २० ॥

मुझे तुम्हारे अधोवर्ती अत्यन्त निकृष्ट एक अङ्गमें वास करनेकी इच्छा है। हे पापरहित गोवृन्द ! तुम्हारे शरीरके बीच कोई स्थान भी कुत्सित नहीं दीखता है ॥ २० ॥

पुण्याः पवित्राः सुभगा ममादेशं प्रयच्छत ।
वसेयं यत्र चाङ्गेऽहं तन्मे व्याख्यातुमर्हथ ॥ २१ ॥

तुम पुण्यदा, पवित्र और सुभगा हो, इसलिये मुझे आज्ञा दो; मैं तुम्हारे देहके जिस स्थानमें वास करूंगी, उसे तुम्हें कहना उचित है ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्तास्तु ता गावः शुभाः करुणवत्सलाः ।
संमन्त्र्य सहिताः सर्वाः श्रियमूचुर्नराधिप ॥ २२ ॥

भीष्म बोले— हे नरनाथ ! करुणावत्सला कल्याणदायिनी गौओंने लक्ष्मीका ऐसा वचन सुनके इकट्ठी होकर विचार करके सबने लक्ष्मीसे कहा ॥ २२ ॥

अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि ।
शकृन्मूत्रे निवस नः पुण्यमेतद्धि नः शुभे ॥ २३ ॥

हे कल्याणदायिनि यशस्विनि ! हमें तुम्हारा अवश्यही सम्मान करना योग्य है; इसलिये तुम हमारे गोमयमूत्रमें निवास करो, क्योंकि हमारी ये दोनों वस्तुएं पवित्र है ॥ २३ ॥

श्रीरुवाच—

दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः ।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ॥ २४ ॥

लक्ष्मी बोली— प्रारब्धसे ही तुमने मुझपर प्रसन्न होके कृपा की है, इसलिये ऐसा ही होगा। हे सुखप्रदा गौओं ! तुम्हारा मङ्गल हो, मैं पूजित हुई हूं ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच—

एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत ।
पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तरधीयत ॥ २५ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! श्रीदेवीने गौओंके संग इसी भांति प्रतिज्ञाबद्ध होकर उनके सम्मुखमें वहां ही अन्तर्हित होगई ॥ २५ ॥

एतद्गोशकृतः पुत्र माहात्म्यं तेऽनुवर्णितम् ।
माहात्म्यं च गवां भूयः श्रूयतां गदतो मम ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥ ३४२६ ॥

हे तात ! यह मैंने तुम्हारे निकट गोमयका माहात्म्य वर्णन किया, अब फिर गौओंका माहात्म्य कहता हूं, सुनो ॥ २६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इक्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥ ३४२६ ॥

: ८२ :

भीष्म उवाच—

ये च गाः संप्रयच्छन्ति हुतशिष्टाशिनश्च ये।
तेषां सत्राणि यज्ञाश्च नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! जो लोग गोदान करते तथा जो होमके शेषमें भोजन किया करते हैं, उन्हें यज्ञ और सदा अन्नदान करनेका फल मिलता है ॥ १ ॥

ऋते दधिघृतेनेह न यज्ञः संप्रवर्तते।
तेन यज्ञस्य यज्ञत्वमतोमूलं च कथ्यते ॥ २ ॥

इस लोकमें दही और घृतके विना यज्ञ पूर्ण नहीं होता, उन्हींसे यज्ञका यज्ञत्व सफल होता है; इसलिये गौओंको यज्ञका मूल माना जाता है ॥ २ ॥

दानानामपि सर्वेषां गवां दानं प्रशस्यते।
गावः श्रेष्ठाः पवित्राश्च पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सब दानोंके बीच गोदान श्रेष्ठ माना जाता है; गौएं सबसे उत्तम तथा पवित्र हैं और येही अत्यन्त पावन हैं ॥ ३ ॥

पुष्ट्यर्थमेताः सेवेत शान्त्यर्थमपि चैव ह।
पयो दधि घृतं यासां सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ४ ॥

अपने शरीरकी पुष्टि और विघ्नोंकी शान्तिके निमित्त मनुष्य इनकी सेवा करे; इनके दूध, दही और घृत समस्त पाप नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

गावस्तेजः परं प्रोक्तमिह लोके परत्र च।
न गोभ्यः परमं किंचित्पवित्रं पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

इस लोक तथा परलोकमें गौएं परम तेज स्वरूप कही गई हैं। हे भरतश्रेष्ठ गौओंसे बढके परम पवित्र वस्तु और कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पितामहस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन लोग ब्रह्मा और इन्द्रके संवादयुक्त पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ ६ ॥

पराभूतेषु दैत्येषु शक्रे त्रिभुवनेश्वरे।
प्रजाः समुदिताः सर्वाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ७ ॥

किसी समयमें दैत्यदलके पराजित होनेपर जब इन्द्र तीनों लोकोंके अधिपति हुए, तब समस्त प्रजा प्रसन्नताके साथ सत्य और धर्मपरायण होकर रहने लगी ॥ ७ ॥

अथर्षयः सगन्धर्वाः किंनरोरगराक्षसाः ।
देवासुरसुपर्णाश्च प्रजानां पतयस्तथा ।
पर्युपासन्त कौरव्य कदाचिद्वै पितामहम् ॥ ८ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! अनन्तर ऋषि, गन्धर्व, किन्नर, सर्प, राक्षस, देव, असुर, गरुड और प्रजापति –ब्रह्माकी उपासना कर रहे थे ॥ ८ ॥

नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहू ।
दिव्यतानेषु गायन्तः पर्युपासन्त तं प्रभुम् ॥ ९ ॥

नारद, पर्वत, विश्वावसु और हाहा, हूहू प्रभृति दिव्य तानसे गान करते हुए सब भांतिसे भगवान ब्रह्माकी उपासना कर रहे थे ॥ ९ ॥

तत्र दिव्यानि पुष्पाणि प्रावहत्पवनस्तथा ।
आजह्रुर्ऋतवश्चापि सुगन्धीनि पृथक्पृथक् ॥ १० ॥

उस समय वायु दिव्य पुष्पोंकी सुगंधसे युक्त होकर बह रहा था, छहों ऋतु पृथक् पृथक् सुगन्धि लाने लगीं ॥ १० ॥

तस्मिन्देवसमावाये सर्वभूतसमागमे ।
दिव्यवादित्रसंघुष्टे दिव्यस्त्रीचारणावृते ।
इन्द्रः पप्रच्छ देवेशमभिवाद्य प्रणम्य च ॥ ११ ॥

उस समय देवता एकत्र आये थे, सब प्राणियोंका समागम हुआ था; दिव्य वाद्योंके सहित दिव्यांगनाओं और चारणोंसे सभास्थान परिपूरित हो गया था, तब देवराज इन्द्रने देवेश्वर ब्रह्माको प्रणाम करके विनयपूर्वक प्रश्न किया ॥ ११ ॥

देवानां भगवन्कस्माल्लोकेशानां पितामह ।
उपरिष्टाद्गवां लोक एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १२ ॥

हे भगवन् पितामह ! गोलोक किस निमित्त लोकेश्वर देवताओंके उपरमें स्थापित हुआ है ? मैं इसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १२ ॥

किं तपो ब्रह्मचर्यं वा गोभिः कृतमिहेश्वर ।
देवानामुपरिष्टाद्यद्वसन्त्यरजसः सुखम् ॥ १३ ॥

हे ईश्वर ! इस लोकमें गौओंने कौनसी तपस्या वा ब्रह्मचर्यका पालन किया था, कि जिसके प्रभावसे रजोगुणसे रहित होकर सहजमें ही देवताओंके ऊपरके स्थानमें निवास करती हैं ? ॥ १३ ॥

ततः प्रोवाच तं ब्रह्मा शक्रं बलनिसूदनम् ।
अवज्ञातास्त्वया नित्यं गावो बलनिसूदन ॥ १४ ॥

अनन्तर ब्रह्मा उस बलनिसूदन इन्द्रसे बोले– हे बल–निसूदन ! गौओंकी तुमने सदा अवज्ञा की है ॥ १४ ॥

तेन त्वमासां माहात्म्यं न वेत्थ शृणु तत्प्रभो ।
गवां प्रभावं परमं माहात्म्यं च सुरर्षभ ॥ १५ ॥

इस ही निमित्त तुम इनके माहात्म्यको नहीं जानते । हे सुरेश्वर ! इसलिये तुम गौओंका परम प्रभाव और माहात्म्य सुनो ॥ १५ ॥

यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव ।
एताभिश्चाप्यृते यज्ञो न प्रवर्तेत्कथंचन ॥ १६ ॥

हे इन्द्र ! गौएं यज्ञका अङ्ग तथा यज्ञरूपी कही जाती हैं; गौओंके दूध, दही और घीके बिना किसी प्रकारसे यज्ञ पूरा नहीं होता ॥ १६ ॥

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा ।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते ॥ १७ ॥

गौएं घृत और दूधसे सारी प्रजाको धारण कर रही हैं; इनके पुत्र (बैल) कृषिकार्योंको निबाहते हुए ॥ १७ ॥

जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च ।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः ॥ १८ ॥

विविध धान्य तथा बीज उत्पन्न किया करते हैं । उन्हींसे यज्ञ और हव्य कव्य आरम्भ होते हैं ॥ १८ ॥

पयो दधि घृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप ।
वहन्ति विविधान्भारान्क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः ॥ १९ ॥

हे देवराज ! ये गौएं तथा इनके दूध, दही और घृत अत्यन्त पवित्र है । ये भूख प्याससे अधिक पीडित होके भी विविध भार ढोया करती हैं ॥ १९ ॥

मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा ।
वासवाकूटवाहिन्यः कर्मणा सुकृतेन च ।
उपरिष्टात्ततोऽस्माकं वसन्त्येताः सदैव हि ॥ २० ॥

ये अपने कार्यसे मुनियों तथा समस्त प्रजाओंको धारण कर रही हैं । हे इन्द्र ये निष्कपट व्यवहार करती हैं, ये सदा सत्कर्ममें रत रहती हैं; इसीसे कर्म और सुकृतके सहारे सदा हम लोगोंके ऊपर स्थानमें निवास किया करती हैं ॥ २० ॥

एतत्ते कारणं शक्र निवासकृतमद्य वै ।
गवां देवोपरिष्टाद्धि समाख्यातं शतक्रतो ॥ २१ ॥

हे देवराज ! यह मैंने तुमसे देवताओंके भी ऊर्ध्वमें गौओंके निवासका कारण कहा है ॥ २१ ॥

एता हि वरदत्ताश्च वरदाश्चैव वासव ।
सौरभ्यः पुण्यकर्मिण्यः पावनाः शुभलक्षणाः ॥ २२ ॥

हे इन्द्र ! इन्होंने वर भी पाया है और ये वर देनेमें भी समर्थ हैं । सुरभी गौएं पुण्यकर्म-शालिनी और शुभलक्षणवाली पवित्र होती हैं ॥ २२ ॥

यदर्थं गा गताश्चैव सौरभ्यः सुरसत्तम ।
तच्च मे शृणु कार्त्स्न्येन वदतो बलसूदन ॥ २३ ॥

हे सुरश्रेष्ठ ! बलसूदन ! पावन सुरभि गौएं जिस निमित्त पृथ्वीपर गई हैं, वह भी मैं विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो ॥ २३ ॥

पुरा देवयुगे तात दैत्येन्द्रेषु महात्मसु ।
त्रीँल्लोकाननुशासत्सु विष्णौ गर्भत्वमागते ॥ २४ ॥
अदित्यास्तप्यमानायास्तपो घोरं सुदुश्चरम् ।
पुत्रार्थममरश्रेष्ठ पादेनैकेन नित्यदा ॥ २५ ॥

हे तात ! पहले समय सत्ययुगमें महानुभाव दैत्येन्द्र तीनों लोकोंपर शासन कर रहे थे, उस समय देवी अदितिके पुत्रके लिये सदा एक पदसे स्थित होकर घोर दुश्चर तपस्या करनेसे भगवान विष्णु उसके गर्भस्थ हुए ॥ २४-२५ ॥

तां तु दृष्ट्वा महादेवीं तप्यमानां महत्तपः ।
दक्षस्य दुहिता देवी सुरभिर्नाम नामतः ॥ २६ ॥

उसी समय दक्षपुत्री सुरभि नाम्नी देवीने महादेवी अदितिको उत्तम महत् तपस्या करते देखकर ॥ २६ ॥

अतप्यत तपो घोरं हृष्टा धर्मपरायणा ।
कैलासशिखरे रम्ये देवगन्धर्वसेविते ॥ २७ ॥

हर्षपूर्वक धर्मपरायण होके घोर तपस्या की थी । देव और गन्धर्वोंसे सेवित रमणीय कैलास पर्वतके शिखरपर ॥ २७ ॥

व्यतिष्ठदेकपादेन परमं योगमास्थिता ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥ २८ ॥

वह उत्तम योगका अवलम्बन करके ग्यारह हजार वर्षोंतक एक चरणसे निवास करने लगी ॥ २८ ॥

संतप्तास्तपसा तस्या देवाः सर्षिमहोरगाः ।
तत्र गत्वा मया सार्धं पर्युपासन्त तां शुभाम् ॥ २९ ॥

देवता, महर्षि और बडे नाग उस देवीकी तपस्यासे सन्तप्त हो गये; मेरे सहित वे सब वहां जाके उस कल्याणीकी उपासना करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ २९ ॥

अथाहमब्रुवं तत्र देवीं तां तपसान्विताम् ।
किमर्थं तप्यसे देवि तपो घोरमनिन्दिते ॥ ३० ॥

अनन्तर मैंने उस तपस्या करनेवाली देवीसे कहा, हे अनिन्दिते देवि ! तुम किस निमित्त घोर तपस्या करती हो ?॥ ३० ॥

प्रीतस्तेऽहं महाभागे तपसानेन शोभने ।
वरयस्व वरं देवि दातास्मीति पुरंदर ॥ ३१ ॥

हे महाभागे शोभने ! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे प्रसन्न हुआ हूं । हे देवि ! जो इच्छा हो, वर मांगो, मैं तुम्हें वर देता हूं । पुरंदर ! मैंने उसे कहा ॥ ३१ ॥

सुरभ्युवाच—

वरेण भगवन्मह्यं कृतं लोकपितामह ।
एष एव वरो मेऽद्य यत्प्रीतोऽसि ममानघ ॥ ३२ ॥

सुरभि बोली— हे लोकपितामह भगवन् ! मुझे वरसे क्या प्रयोजन है ? हे अनघ ! आप जो मुझपर प्रसन्न हुए, यही मेरे लिये वर है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मोवाच—

तामेवं ब्रुवतीं देवीं सुरभीं त्रिदशेश्वर ।
प्रत्यब्रुवं यद्देवेन्द्र तन्निबोध शचीपते ॥ ३३ ॥

ब्रह्मा बोले— हे त्रिदशेश्वर ! शचीपति ! देवेन्द्र ! उस सुरभि देवीके ऐसा कहनेपर मैंने उसे जो उत्तर दिया, वह सुनो ॥ ३३ ॥

अलोभकाम्यया देवि तपसा च शुभेन ते ।
प्रसन्नोऽहं वरं तस्माद‍मरत्वं ददानि ते ॥ ३४ ॥

हे देवी ! तुम्हारी अलोभता, निष्कामता और उत्तम तपस्यासे मैं प्रसन्न होकर तुम्हें अमरत्वका वर देता हूं ॥ ३४ ॥

त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यसि ।
मत्प्रसादाच्च विख्यातो गोलोकः स भविष्यति ॥ ३५ ॥

और तुम तीनों लोकोंके ऊपरमें निवास करोगी; मेरे प्रसादसे वह स्थान गोलोक नामसे विख्यात होगा ॥ ३५ ॥

मानुषेषु च कुर्वाणाः प्रजाः कर्म सुतास्तव ।
निवत्स्यन्ति महाभागे सर्वा दुहितरश्च ते ॥ ३६ ॥

हे महाभागे ! तुम्हारी सब सन्तानें— पुत्र और कन्याएं मनुष्यलोकमें शुभ कर्म करके निवास करेंगी ॥ ३६ ॥

मनसा चिन्तिता भोगास्त्वया वै दिव्यमानुषाः ।
यच्च स्वर्गसुखं देवि तत्ते संपत्स्यते शुभे ॥ ३७ ॥
तुम मनही मन ध्यान करनेसे ही दिव्य तथा मानुष भोग पाओगी । हे शुभे ! हे देवि ! जो कुछ स्वर्ग सुख है, उसे तुम उपभोग करोगी ॥ ३७ ॥

तस्या लोकाः सहस्राक्ष सर्वकामसमन्विताः ।
न तत्र क्रमते मृत्युर्न जरा न च पावकः ।
न दैन्यं नाशुभं किंचिद्विद्यते तत्र वासव ॥ ३८ ॥
हे सहस्राक्ष ! सुरभिके समस्त लोक सर्वकामसंयुक्त हैं; वहांपर जरा और मृत्यु तथा अग्नि संक्रमण करनेमें समर्थ नहीं हैं । हे इन्द्र ! वहां कुछ भी दैन्य और अशुभ नहीं है ॥३८॥

तत्र दिव्यान्यरण्यानि दिव्यानि भवनानि च ।
विमानानि च युक्तानि कामगानि च वासव ॥ ३९ ॥
उस स्थानमें दिव्य वन, दिव्य गृह तथा सुंदर और इच्छानुसार विचरनेवाले उत्तम विमान विद्यमान हैं ॥ ३९ ॥

व्रतैश्च विविधैः पुण्यैस्तथा तीर्थानुसेवनात् ।
तपसा महता चैव सुकृतेन च कर्मणा ।
शक्यः समासादयितुं गोलोकः पुष्करेक्षण ॥ ४० ॥
हे कमलनेत्र ! विविध व्रत, बहुतसे पुण्य, तीर्थसेवन, उत्तम महत् तपस्या और सुकृत कर्मके सहारे गोलोक प्राप्त होसकता है ॥ ४० ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं मया शक्रानुपृच्छते ।
न ते परिभवः कार्यो गवामरिनिसूदन ॥ ४१ ॥
हे शत्रुनाशन शक्र ! तुमने जो प्रश्न किया था, तुम्हारे समीप वह सब कहा गया, इसलिये तुम्हें गौओंका तिरस्कार करना योग्य नहीं है ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच—

एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा ।
गाश्चक्रे बहुमानं च तासु नित्यं युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥
भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! सहस्राक्ष इन्द्र ऐसा सुनके सदा गौओंकी पूजा और उनका बहुमान करने लगे ॥ ४२ ॥

×

एतद्वै सर्वमाख्यातं पावनं च महाद्युते ।
पवित्रं परमं चापि गवां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कीर्तितं पुरुषव्याघ्र सर्वपापविनाशनम् ॥ ४३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह तुम्हारे समीप परम पवित्र, पावन और सर्वपापनाशक गौओंका अत्यन्त उत्तम माहात्म्य कहा गया ॥ ४३ ॥

य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ।
हव्यकव्येषु यज्ञेषु पितृकार्येषु चैव ह ।
सार्वकामिकमक्षय्यं पितृंस्तस्योपतिष्ठति ॥ ४४ ॥

जो एकाग्रचित्त होके हव्य, कव्य, यज्ञ और पितृकार्यमें ब्राह्मणोंको सदा यह विषय सुनाता है, उसका दिया हुआ सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और अक्षय होकर पितरोंके निकट उपस्थित होता है ॥ ४४ ॥

गोषु भक्तश्च लभते यद्यदिच्छति मानवः ।
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च कामानवाप्नुयुः ॥ ४५ ॥

मनुष्य गौओंका भक्त होनेपर इच्छानुसार फल पाता है और जो स्त्रियाँ भी गौओंमें भक्ति करती हैं, उन्हें भी सब काम्यविषय प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥

पुत्रार्थी लभते पुत्रं कन्या पतिमवाप्नुयात् ।
धनार्थी लभते वित्तं धर्मार्थी धर्ममाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

पुत्रार्थी मनुष्य पुत्र पाता है, कन्याकी इच्छा करनेवालेको कन्या प्राप्त होती है; धनकी इच्छावाले धन पाता और धर्मार्थी मनुष्यको धर्म प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां सुखार्थी प्राप्नुयात्सुखम् ।
न किंचिद्दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥ ३४७३ ॥

विद्यार्थीको विद्या मिलती है, सुख चाहनेवाला सुख उपभोग किया करता है । हे भारत ! जो गौओंमें भक्ति करता है, उसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ४७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥ ३४७३ ॥

॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

उक्तं पितामहेनेदं गवां दानमनुत्तमम् ।
विशेषेण नरेन्द्राणामिति धर्ममवेक्षताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— इस लोकमें अत्युत्तम गोदानका विषय पितामहके द्वारा वर्णित हुआ, विशेष करके धर्मदर्शी राजाओंके लिये यह हितकर है ॥ १ ॥

राज्यं हि सततं दुःखमाश्रमाश्च सुदुर्विदाः ।
परिवारेण वै दुःखं दुर्धरं चाकृतात्मभिः ।
भूयिष्ठं च नरेन्द्राणां विद्यते न शुभा गतिः ॥ २ ॥

राज्य सदा दुःखकर और आश्रम जाननेको अत्यंत कठिन है । परिवार दुःखद है और असंयमीयोंके लिये दुर्धर है; इस कारण प्रायः राजाओंको शुभ गति प्राप्त नहीं होती ॥ २ ॥

पूयन्ते तेऽत्र नियतं प्रयच्छन्तो वसुंधराम् ।
पूर्वे च कथिता धर्मास्त्वया मे कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

जो नियमपूर्वक पृथ्वीका दान करते हैं, वही यहां पवित्र होते हैं । हे कुरुनन्दन ! आपने मेरे समीप पहले धर्मोंका वर्णन किया है ॥ ३ ॥

एवमेव गवामुक्तं प्रदानं ते नृगेण ह ।
ऋषिणा नाचिकेतेन पूर्वमेव निदर्शितम् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार राजा नृगने गौओंका पूजन किया था, गोदानका विषय तथा नाचिकेत ऋषिने जो कहा था, वह सब आपने पहले ही कहा है ॥ ४ ॥

वेदोपनिषदे चैव सर्वकर्मसु दक्षिणा ।
सर्वक्रतुषु चोद्दिष्टं भूमिर्गावोऽथ काञ्चनम् ॥ ५ ॥

वेद और उपनिषदोंने सब कार्योंमें दक्षिणाका विधान किया है; तथा यज्ञोंमें भूमि, गौ और सुवर्ण दक्षिणारूपसे निर्दिष्ट की है ॥ ५ ॥

तत्र श्रुतिस्तु परमा सुवर्णं दक्षिणेति वै ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पितामह यथातथम् ॥ ६ ॥

ऐसा श्रुतिका वचन है, कि उनके बीच सुवर्ण ही सब भांतिसे श्रेष्ठ दक्षिणा है । हे पितामह ! इसलिये इस विषयका यथार्थ वृत्तान्त सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ६ ॥

किं सुवर्णं कथं जातं कस्मिन्काले किमात्मकम् ।
किं दानं किं फलं चैव कस्माच्च परमुच्यते ॥ ७ ॥

सुवर्ण क्या है ? किस समयमें किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? इसका स्वरूप क्या है ? क्या यह दान है ? इसका फल क्या है ? किस निमित्त श्रेष्ठ करके वर्णित हुआ है ? ॥ ७ ॥

कस्माद्दानं सुवर्णस्य पूजयन्ति मनीषिणः ।
कस्माच्च दक्षिणार्थं तद्यज्ञकर्मसु शस्यते ॥ ८ ॥

मनीषिगण किस निमित्त सुवर्णदानकी प्रशंसा किया करते हैं ? यज्ञकर्ममें दक्षिणाके लिये किस हेतुसे सुवर्ण श्रेष्ठ है ?

कस्माच्च पावनं श्रेष्ठं भूमेर्गोभ्यश्च काञ्चनम् ।
परमं दक्षिणार्थे च तद्ब्रवीहि पितामह ॥ ९ ॥

हे पितामह ! भूमि और गौओंसे सुवर्ण किस निमित्त पावन और श्रेष्ठ है तथा दक्षिणाके लिये किस कारणसे वह परम श्रेष्ठ है ? यह सब मेरे निकट वर्णन करिये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—

शृणु राजन्नवहितो बहुकारणविस्तरम् ।
जातरूपसमुत्पत्तिमनुभूतं च यन्मया ॥ १० ॥

भीष्म बोले— हे महाराज ! सुवर्णकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत बडा कारण जो मुझे मालूम हुआ है, और मैंने अनुभव किया है, तुम सावधान होकर उसे सुनो ॥ १० ॥

पिता मम महातेजाः शांतनुर्निधनं गतः ।
तस्य दित्सुरहं श्राद्धं गङ्गाद्वारमुपागमम् ॥ ११ ॥

मेरे पिता महातेजस्वी शान्तनुके मरनेपर मैं उनका श्राद्ध करनेके लिये गङ्गाद्वार तीर्थमें गया था ॥ ११ ॥

तत्रागम्य पितुः पुत्र श्राद्धकर्म समारभम् ।
माता मे जाह्नवी चैव साहाय्यमकरोत्तदा ॥ १२ ॥

हे तात ! मैंने वहां जाके श्राद्धकर्म आरम्भ किया, उस समय मेरी माता जाह्नवीने इस विषयमें सहायता की थी ॥ १२ ॥

ततोऽग्रतस्तपःसिद्धानुपवेश्य बहूनृषीन् ।
तोयप्रदानात्प्रभृति कार्याण्यहमथारभम् ॥ १३ ॥

अनन्तर अपने अग्रभागमें अनेक ऋषियोंको बिठाके मैंने जल दान प्रभृति कार्य आरम्भ किये ॥ १३ ॥

तत्समाप्य यथोद्दिष्टं पूर्वकर्म समाहितः ।
दातुं निर्वपणं सम्यग्यथावदहमारभम् ॥ १४ ॥

मैं एकाग्रचित्त होकर शास्त्रोक्त रीतिसे पूर्वकर्म समाप्त करके विधिपूर्वक पूरी रीतिसे श्राद्ध करनेमें प्रवृत्त हुआ ॥ १४ ॥

ततस्तं दर्भविन्यासं भित्त्वा सुरुचिराङ्गदः ।
प्रलम्बाभरणो बाहुरुदतिष्ठद्विशां पते ॥ १५ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर पिण्डदानके लिये बिछाये कुशको भेदकर, मनोहर अङ्गद तथा आभूषणोंसे युक्त एक लम्बी भुजा बाहर निकली ॥ १५ ॥

तमुत्थितमहं दृष्ट्वा परं विस्मयमागमम् ।
प्रतिग्रहीता साक्षान्मे पितेति भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैं भुजाको ऊपर निकली हुई देखके अत्यन्त विस्मित हुआ । साक्षात मेरे पिता ही पिण्डदान लेनेके लिये आये थे ॥ १६ ॥

ततो मे पुनरेवासीत्संज्ञा संचिन्त्य शास्त्रतः
नायं वेदेषु विहितो विधिर्हस्त इति प्रभो ।
पिण्डो देयो नरेणेह ततो मतिरभून्मम ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! अनन्तर शास्त्र विधिके अनुसार विचार करके मैं फिर सावधान हुआ और मुझे स्मरण आया कि मनुष्यके लिये वेदके बीच हाथमें पिण्ड देनेकी विधि नहीं है ॥ १७ ॥

साक्षान्नेह मनुष्यस्य पितरोऽन्तर्हिताः क्वचित् ।
गृह्णन्ति विहितं त्वेवं पिण्डो देयः कुशेष्विति ॥ १८ ॥

इसलिये मैंने विचार किया कि अन्तर्धान होकर पितर लोग साक्षात् सम्बन्धसे इस लोकमें कदापि मनुष्योंका पिण्ड ग्रहण नहीं करते, ऐसा ही विहित है; इस हेतु कुशोंपर पिण्डदान करना चाहिये ॥ १८ ॥

ततोऽहं तदनादृत्य पितुर्हस्तनिदर्शनम् ।
शास्त्रप्रमाणात्सूक्ष्मं तु विधिं पार्थिव संस्मरन् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! यह सोचकर अनन्तर मैंने पिताके उस हस्तनिदर्शनका अनादर करके, शास्त्रप्रमाणके अनुसार पिण्डदानकी सूक्ष्म विधि स्मरण करते हुए ॥ १९ ॥

ततो दर्भेषु तत्सर्वमददं भरतर्षभ ।
शास्त्रमार्गानुसारेण तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥ २० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वह सब पिण्ड कुशोंपर ही प्रदान किया; हे नरश्रेष्ठ ! यह जान रक्खो, कि यह सब शास्त्र विधिके अनुसार ही हुआ ॥ २० ॥

ततः सोऽन्तर्हितो बाहुः पितुर्मम नराधिप ।
ततो मां दर्शयामासुः स्वप्नान्ते पितरस्तदा ॥ २१ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर मेरे पिताकी वह बाहु अदृश्य हुई । अनन्तर पिताने स्वप्नमें मुझे दर्शन दिया ॥ २१ ॥

प्रीयमाणास्तु मामूचुः प्रीताः स्म भरतर्षभ ।
विज्ञानेन तवानेन यन्न मुह्यसि धर्मतः ॥ २२ ॥

और बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! तुम जो शास्त्र प्रमाणके अनुसार इस विज्ञानसे मुग्ध नहीं हुए, इसलिये मैं प्रसन्न हुआ हूं । तुम इस कारण धर्मके विषयमें मोहित नहीं हुए ॥ २२ ॥

त्वया हि कुर्वता शास्त्रं प्रमाणमिह पार्थिव ।
आत्मा धर्मः श्रुतं वेदाः पितरश्च महर्षिभिः ॥ २३ ॥

हे पृथ्वीपति ! तुम यहां शास्त्रको प्रमाण मानकर आत्मा, धर्म, शास्त्र, समस्त वेद, महर्षियोंके सहित पितृगण ॥ २३ ॥

साक्षात्पितामहो ब्रह्मा गुरवोऽथ प्रजापतिः ।
प्रमाणमुपनीता वै स्थितिश्च न विचालिता ॥ २४ ॥

साक्षात् पितामह ब्रह्मा और प्रजापति, गुरुजन ये सब कोई प्रमाणमें स्थित हैं और आदर्श होकर तुम मर्यादासे विचलित नहीं हुए ॥ २४ ॥

तदिदं सम्यगारब्धं त्वयाद्य भरतर्षभ ।
किं तु भूमेर्गवां चार्थे सुवर्णं दीयतामिति ॥ २५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इसलिये आज तुमने यह सब उत्तम कार्य किया है, किन्तु भूमि और गौवोंके निमित्त सुवर्ण दान करो ॥ २५ ॥

एवं वयं च धर्मश्च सर्वे चास्मत्पितामहाः ।
पाविता वै भविष्यन्ति पावनं परमं हि तत् ॥ २६ ॥

ऐसा करनेसे मैं, धर्म और मेरे समस्त पितामहगण पवित्र होंगे, क्योंकि सुवर्ण सबसे परम पवित्र पावन है ॥ २६ ॥

दश पूर्वान्दश परांस्तथा संतारयन्ति ते ।
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति एवं मे पितरोऽब्रुवन् ॥ २७ ॥

मेरे पिताने कहा था, कि जो लोग सुवर्ण दान करते हैं, वे अपने पहले और पीछेकी दस-दस पीढियोंका उद्धार किया करते हैं ॥ २७ ॥

ततोऽहं विस्मितो राजन्प्रतिबुद्धो विशां पते ।
सुवर्णदानेऽकरवं मतिं भरतसत्तम ॥ २८ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर मैं सावधान होनेपर विस्मित हुआ । हे भरतश्रेष्ठ ! तब मैंने सुवर्ण दान करनेकी इच्छा निश्चित की ॥ २८ ॥

इतिहासमिमं चापि शृणु राजन्पुरातनम् ।
जामदग्न्यं प्रति विभो धन्यमायुष्यमेव च ॥ २९ ॥

हे महाराज ! विभो ! जमदग्निपुत्र परशुराम सम्बन्धीय धन तथा आयु देनेवाले इस पुराने इतिहासको सुनो ॥ २९ ॥

जामदग्न्येन रामेण तीव्ररोषान्वितेन वै ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥ ३० ॥

पहले समयमें तीव्र रोषयुक्त जामदग्न्य रामने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया था ॥३०॥

ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीवलोचनः ।
आजहार क्रतुं वीरो ब्रह्मक्षत्रेण पूजितम् ॥ ३१ ॥

अनन्तर महावीर कमललोचन रामने अखण्ड पृथ्वीमण्डलको जीतके ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे पूजित यज्ञ आरम्भ किया ॥ ३१ ॥

वाजिमेधं महाराज सर्वकामसमन्वितम् ।
पावनं सर्वभूतानां तेजोद्युतिविवर्धनम् ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला अश्वमेध यज्ञ सर्वभूतोंके लिये पावन, तेज तथा द्युतिको बढानेवाला है ॥ ३२ ॥

विपाप्मापि स तेजस्वी तेन क्रतुफलेन वै ।
नैवात्मनोऽथ लघुतां जामदग्न्योऽभ्यगच्छत ॥ ३३ ॥

जमदग्निपुत्र तेजस्वी रामने उस यज्ञसे पापरहित होके भी अपने चित्तको पवित्र न पाया । उन्होंने अपनी लघुताका अनुभव किया ॥ ३३ ॥

स तु क्रतुवरेणेष्ट्वा महात्मा दक्षिणावता ।
पप्रच्छागमसंपन्नानृषीन्देवांश्च भार्गवः ॥ ३४ ॥

महात्मा भृगुनन्दन रामने प्रचुर दक्षिणायुक्त श्रेष्ठ यज्ञ करके वेद जाननेवाले ऋषियों और देवताओंसे पूछा ॥ ३४ ॥

पावनं यत्परं नृणामुग्रे कर्मणि वर्तताम् ।
तदुच्यतां महाभागा इति जातघृणोऽब्रवीत् ।
इत्युक्ता वेदशास्त्रज्ञास्ते तमूचुर्महर्षयः ॥ ३५ ॥

हे महाभागगण ! उग्र कर्ममें रत रहनेवाले मनुष्योंके लिये जो परम पावन हो, उसे ही वर्णन करिये। जब रामने करुणायुक्त होकर ऐसा कहा, तब वेदशास्त्र जाननेवाले महर्षिवृन्द उनका वचन सुनके बोले ॥ ३५ ॥

देवतास्ते प्रयच्छन्ति सुवर्णं ये ददत्युत ।
अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णं च तदात्मकम् ॥ ३६ ॥

जो लोग सुवर्णदान देते हैं, वे देवताओंका दान किया करते हैं, क्यों कि अग्नि ही समस्त देवतात्मक है और सोना अग्नि स्वरूप है ॥ ३६ ॥

तस्मात्सुवर्णं ददता दत्ताः सर्वाश्च देवताः ।
भवन्ति पुरुषव्याघ्र न ह्यतः परमं विदुः ॥ ३७ ॥

इसलिये सुवर्णदाता समस्त देवताओंका ही दान करता है, ऐसा माना जाता है। हे पुरुषश्रेष्ठ! पण्डित लोग सुवर्ण दानसे श्रेष्ठ और किसीको भी नहीं मानते ॥ ३७ ॥

भूय एव च माहात्म्यं सुवर्णस्य निबोध मे ।
गदतो मम विप्रर्षे सर्वशस्त्रभृतां वर ॥ ३८ ॥

हे सर्वशस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षि ! मैं फिर कहता हूं, मेरे समीप सुवर्णका माहात्म्य विस्तार-पूर्वक सुनो ॥ ३८ ॥

मया श्रुतमिदं पूर्वं पुराणे भृगुनन्दन ।
प्रजापतेः कथयतो मनोः स्वायंभुवस्य वै ॥ ३९ ॥

हे भृगुनन्दन ! पहले स्वयंभू मनु प्रजापतिने जो कहा है, उसे मैंने पुराणमें सुना है ॥ ३९ ॥

शूलपाणेर्भगवतो रुद्रस्य च महात्मनः ।
गिरौ हिमवति श्रेष्ठे तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ४० ॥

हे भृगुकुलधुरन्धर ! सर्वश्रेष्ठ हिमालय पर्वतपर महानुभाव भगवान शूलधारी रुद्रके सहित ॥ ४० ॥

देव्या विवाहे निर्वृत्ते रुद्राण्या भृगुनन्दन ।
समागमे भगवतो देव्या सह महात्मनः ।
ततः सर्वे समुद्विग्ना भगवन्तमुपागमन् ॥ ४१ ॥

रुद्राणी देवीका विवाह होनेपर, महानुभाव भगवान शिवका देवीके सङ्ग समागम होनेके समय समस्त देववृन्द उद्विग्न होकर महादेवके निकट उपस्थित हुए ॥ ४१ ॥

ते महादेवमासीनं देवीं च वरदामुमाम् ।
प्रसाद्य शिरसा सर्वे रुद्रमूचुर्भृगूद्वह ॥ ४२ ॥

हे भृगुनन्दन ! वे सब लोग बैठे हुए महादेव रुद्र और वरदायिनी उमादेवीको सिर झुकाकर प्रणाम करके उनसे बोले ॥ ४२ ॥

अयं समागमो देव देव्या सह तवानघ ।
तपस्विनस्तपस्विन्या तेजस्विन्यातितेजसः ।
अमोघतेजास्त्वं देव देवी चेयमुमा तथा ॥ ४३ ॥

हे देव ! अनघ ! देवीके सङ्ग आपका यह समागम होता है, यह तपस्वीका तपस्विनीके साथ और महातेजस्वीका तेजस्विनीके साथ हुआ है । हे देव ! आपका तेज अमोघ है, उमादेवीका तेज भी वैसा ही है ॥ ४३ ॥

अपत्यं युवयोर्देव बलवद्भविता प्रभो ।
तन्नूनं त्रिषु लोकेषु न किंचिच्छेषयिष्यति ॥ ४४ ॥

हे देव ! हे प्रभु ! आपकी सन्तान अत्यन्त बलवान होगी; वह तीनों लोकोंके बीच किसीको भी अवशिष्ट न रक्खेगी, यह निश्चय ही बोध हो रहा है ॥ ४४ ॥

तदेभ्यः प्रणतेभ्यस्त्वं देवेभ्यः पृथुलोचन ।
वरं प्रयच्छ लोकेश त्रैलोक्यहितकाम्यया ।
अपत्यार्थं निगृह्णीष्व तेजो ज्वलितमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

हे विशालनेत्र लोकेश ! हम सब देवता आपको प्रणत होकर शरण आये हैं; आप तीनों लोकोंके हितके लिये हमें वर दान करिये। आप संतानके निमित्त अपने उत्तम तेजस्वी तेजको रोकिये ॥ ४५ ॥

इति तेषां कथयतां भगवान्गोवृषध्वजः ।
एवमस्त्विति देवांस्तान्विप्रर्षे प्रत्यभाषत ॥ ४६ ॥

हे विप्रर्षि ! देवताओंके ऐसे वचन सुनकर भगवान् वृषभध्वजने उन्हें 'एवमस्तु' कहके उत्तर दिया ॥ ४६ ॥

इत्युक्त्वा चोर्ध्वमनयत्तद्रेतो वृषवाहनः ।
ऊर्ध्वरेताः समभवत्ततःप्रभृति चापि सः ॥ ४७ ॥

वृषभवाहन शिवने उनका वचन स्वीकार करके निज वीर्यको ऊर्ध्वमें धारण किया; तभीसे उनका नाम ऊर्ध्वरेता हुआ ॥ ४७ ॥

रुद्राणीतु ततः क्रुद्धा प्रजोच्छेदे तथा कृते ।
देवानथाब्रवीत्तत्र स्त्रीभावात्परुषं वचः ॥ ४८ ॥

अनन्तर इस प्रकारसे मेरी भावी संतानका उच्छेद किया यह सोचकर रुद्राणीने क्रुद्ध होकर, स्त्रीस्वभावके अनुसार सहजहीमें क्रोधवशसे देवताओंको यह कठोर वचन बोली ॥ ४८ ॥

यस्मादपत्यकामो वै भर्ता मे विनिवर्तितः ।
तस्मात्सर्वे सुरा यूयमनपत्या भविष्यथ ॥ ४९ ॥

जिस कारणसे संततीकी इच्छा करनेवाले मेरे स्वामी तुम लोगोंके द्वारा संतति लाभसे निवृत्त हुए, उस ही निमित्त सब देवता संतति विरहित होंगे ॥ ४९ ॥

प्रजोच्छेदो मम कृतो यस्माद्युष्माभिरद्य वै ।
तस्मात्प्रजा वः खगमाः सर्वेषां न भविष्यति ॥ ५० ॥

हे आकाशचारी देववृन्द ! आज तुम लोगोने जिस प्रकार मेरी संततिका उच्छेद किया है, उसी भांति तुम्हारे भी सन्तान नहीं होगी ॥ ५० ॥

पावकस्तु न तत्रासीच्छापकाले भृगूद्वह ।
देवा देव्यास्तथा शापादनपत्यास्तदाभवन् ॥ ५१ ॥

हे भृगुनन्दन ! उस शाप देनेके समय अग्निदेव वहांपर उपस्थित नहीं थे (इसलिये उन्हें वह शाप नहीं लगा) । देवीके ऐसे शापसे देववृन्द उसी समयसे अनपत्य हुए ॥ ५१ ॥

रुद्रस्तु तेजोऽप्रतिमं धारयामास तत्तदा ।
प्रस्कन्नं तु ततस्तस्मात्किंचित्तत्रापतद्भुवि ॥ ५२ ॥

उस समय रुद्रदेवने अप्रतिम तेजको धारण किया था । अनन्तर उनसे कुछ तेज स्खलित होके वहीं पृथ्वीपर गिरा ॥ ५१ ॥

तत्पपात तदा चाग्नौ ववृधे चाद्भुतोपमम् ।
तेजस्तेजसि संपृक्तमेकयोनित्वमागतम् ॥ ५३ ॥

वह अद्भुत तेज पृथ्वीपर गिरते ही अग्निमें मिलकर बढने लगा । वह तेज अग्निमें मिलकर एक स्वयंभू रूपमें प्रकट होने लगा ॥ ५३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवाः शक्रपुरोगमाः ।
असुरस्तारको नाम तेन संतापिता भृशम् ॥ ५४ ॥

उस ही समयमें इन्द्रादि देववृन्द तारक नाम असुरके द्वारा अत्यन्त सन्तापित हुए थे ॥५४॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतोऽथाश्विनावपि ।
साध्याश्च सर्वे संत्रस्ता दैतेयस्य पराक्रमात् ॥ ५५ ॥

आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार और साध्यगण– सभी देवता उस दैत्यके पराक्रमसे भयभीत हुए थे ॥ ५५ ॥

स्थानानि देवतानां हि विमानानि पुराणि च ।
ऋषीणामाश्रमाश्चैव बभूवुरसुरैर्हृताः ॥ ५६ ॥

देवताओंके स्थान, विमान, नगर और ऋषियोंके आश्रमोंको असुरोंने हर लिया था ॥५६॥

ते दीनमनसः सर्वे देवाश्च ऋषयश्च ह
प्रजग्मुः शरणं देवं ब्राह्मणमजरं प्रभुम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥ ३५२० ॥

वे सब देवता और ऋषि लोग दीनचित्त होकर अजर अमर प्रभु ब्रह्माके शरणागत हुए ॥५७॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥ ३५२० ॥

: ८४ :

देवा ऊचुः—

असुरस्तारको नाम त्वया दत्तवरः प्रभो ।
सुरानृषींश्च क्लिश्नाति वधस्तस्य विधीयताम् ॥ १ ॥

देववृन्द बोले– हे प्रभु ! आपने जिसे वरदान किया है, वह तारक नाम महाअसुर देवताओं और ऋषियोंको क्लेश दे रहा है । इसलिये उसको मारनेकी युक्ति करिये ॥ १ ॥

तस्माद्भयं समुत्पन्नमस्माकं वै पितामह ।
परित्रायस्व नो देव न ह्यन्या गतिरस्ति नः ॥ २ ॥

हे पितामह! देव ! उससे हम लोगोंको भय उत्पन्न हुआ है, इसलिये आप हमें उबारिये, हम लोगोंको और दूसरा उपाय नहीं है ॥ २ ॥

ब्रह्मोवाच—

समोऽहं सर्वभूतानामधर्मं नेह रोचये ।
हन्यतां तारकः क्षिप्रं सुरर्षिगणबाधकः ॥ ३ ॥

ब्रह्मा बोले– इस लोकमें सब प्राणी मुझे समान हैं । मैं अधर्मकी अभिलाषा नहीं करता; इसलिये देवताओं और ऋषियोंको पीडा देनेवाले तारकासुरको शीघ्र मार डालो ॥ ३ ॥

वेदा धर्माश्च नोत्सादं गच्छेयुः सुरसत्तमाः ।
विहितं पूर्वमेवात्र मया वै व्येतु वो ज्वरः ॥ ४ ॥

हे सुरसत्तम ! वेद और धर्म नष्ट न हो जावे, उस विषयमें मैंने पहले ही उपाय रचा है, इसलिये तुम्हारा दुःख दूर होवे ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः—

वरदानाद्भगवतो दैतेयो बलगर्वितः ।
देवैर्न शक्यते हन्तुं स कथं प्रशमं व्रजेत् ॥ ५ ॥

देववृन्द बोले– आपके वरप्रभावसे वह दैत्य बलसे गर्वित हुआ है, इसलिये देवतावृन्द उसे मारनेमें समर्थ नहीं है, तब वह किस प्रकार नष्ट होगा ? ॥ ५ ॥

स हि नैव स्म देवानां नासुराणां न रक्षसाम्।
वध्यः स्यामिति जग्राह वरं त्वत्तः पितामह ॥ ६ ॥

पितामह! तारकासुरने "मैं देव, दानव और राक्षसोंके द्वारा न मरूं" ऐसा ही कहके आपके समीप वर प्राप्त कर लिया है ॥ ६ ॥

देवाश्च शप्ता रुद्राण्या प्रजोच्छेदे पुरा कृते।
न भविष्यति वोऽपत्यमिति सर्वजगत्पते ॥ ७ ॥

पहले रुद्राणीकी पुत्र कामना नष्ट करनेसे उन्होंने देवताओंको यह शाप दिया है, कि तुम लोगोंको कोई सन्तान नहीं होगी ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच—

हुताशनो न तत्रासीच्छापकाले सुरोत्तमाः।
स उत्पादयितापत्यं वधार्थं त्रिदशद्विषाम् ॥ ८ ॥

ब्रह्मा बोले– हे सुरोत्तमगण! उस शाप देनेके समय वहांपर अग्निदेव नहीं थे, वे देवद्वेषियोंको मारनेके लिये संतान उत्पन्न करेंगे ॥ ८ ॥

तद्वै सर्वानतिक्रम्य देवदानवराक्षसान्।
मानुषानथ गन्धर्वान्नागानथ च पक्षिणः ॥ ९ ॥

वही सब देव, दानव, राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और पक्षियोंको अतिक्रम करके ॥९॥

अस्त्रेणामोघपातेन शक्त्या तं घातयिष्यति।
यतो वो भयमुत्पन्नं ये चान्ये सुरशत्रवः ॥ १० ॥

जिस तारकासुरसे तुम लोगोंको भय हुआ है, उसका अचूक शक्ति अस्त्रसे वध करेगा; और दूसरे जो देवोंके शत्रु है, उनको भी मार डालेगा ॥ १० ॥

सनातनो हि सङ्कल्पः काम इत्यभिधीयते।
रुद्रस्य तेजः प्रस्कन्नमग्नौ निपतितं च तत् ॥ ११ ॥

सनातन संकल्पको ही काम कहते हैं; वह रुद्रका तेज–वीर्य स्खलित होके अग्निमें गिरा हुआ है ॥ ११ ॥

तत्तेजोऽग्निर्महद्भूतं द्वितीयमिव पावकम्।
वधार्थं देवशत्रूणां गङ्गायां जनयिष्यति ॥ १२ ॥

उसही महद् तेजसे अग्निदेव द्वितीय अग्निकी भांति गङ्गाके गर्भसे देवशत्रुओंको मारनेवाला एक महद् पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ १२ ॥

स तु नावाप तं शापं नष्टः स हुतभुक्तदा।
तस्माद्वो भयहृद्देवाः समुत्पत्स्यति पावकिः ॥ १३ ॥

अग्निदेव शापके समयमें छिपे हुए थे, इस ही निमित्त वे शापग्रस्त नहीं हुए। हे देवगण! इसलिये उसहीसे तुम लोगोंके भयको छुडानेवाला पावकनन्दन उत्पन्न होगा ॥ १३ ॥

अन्विष्यतां वै ज्वलनस्तथा चाद्य नियुज्यताम् ।
तारकस्य वधोपायः कथितो वै मयानघाः ॥ १४ ॥

अब तुम लोग अग्निदेवको खोजके इस कार्यमें नियुक्त करो । हे अनघ देवताओं ! यह मैंने तारकासुरके वधका उपाय कहा है ॥ १४ ॥

न हि तेजस्विनां शापास्तेजःसु प्रभवन्ति वै ।
बलान्यतिबलं प्राप्य नबलानि भवन्ति वै ॥ १५ ॥

तेजस्वियोंके शाप तेजस्वी पुरुषोंके उपर प्रभाव नहीं दिखाते; साधारण बलवान् प्रबल पुरुषके समीप बलवान् नहीं हो सकते ॥ १५ ॥

हन्याद्वध्यान्वरदानपि चैव तपस्विनः ।
सङ्कल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽनलः ॥ १६ ॥

तपस्वी पुरुषोंका काम संकल्प या अभिरुचिके नामसे विख्यात है; वह सनातन अग्नि है; वह वर देनेवाले अवध्य पुरुषोंका भी नाश करनेमें समर्थ हैं ॥ १६ ॥

जगत्पतिरनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः ।
हृच्छयः सर्वभूतानां ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभुः ॥ १७ ॥

अग्नि जगत्के पालक, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्वभावन और सब प्राणियोंके हृदयमें शयन करनेवाले हैं, वे रुद्रदेवसे भी जेठे और सर्वशक्तिमान् हैं ॥ १७ ॥

अन्विष्यतां स तु क्षिप्रं तेजोराशिर्हुताशनः ।
स वो मनोगतं कामं देवः संपादयिष्यति ॥ १८ ॥

अब तेजःपुञ्ज अग्निकी शीघ्र खोज करो, वही अग्निदेव तुम लोगोंकी मनकी इच्छा पूरी करेंगे ॥ १८ ॥

एतद्वाक्यमुपश्रुत्य ततो देवा महात्मनः ।
जग्मुः संसिद्धसङ्कल्पाः पर्येषन्तो विभावसुम् ॥ १९ ॥

अनन्तर महानुभाव ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके सङ्कल्प सिद्ध हुए देवताओंने अग्निको खोजनेके लिये प्रस्थान किया ॥ १९ ॥

ततस्त्रैलोक्यमृषयो व्यचिन्वन्त सुरैः सह ।
काङ्क्षन्तो दर्शनं वह्नेः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ २० ॥

ऋषियों और देवताओंने अग्निके दर्शनकी इच्छा करके उन्हें तीनों लोकोंमें खोजना शुरू किया; उन सबका मन उन्हींमें लगा था ॥ २० ॥

परेण तपसा युक्ताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ।
लोकाननुचरन्सिद्धाः सर्व एव भृगूद्वह ।
नष्टमात्मनि संलीनं नाधिजग्मुर्हुताशनम् ॥ २१ ॥

हे भृगुश्रेष्ठ ! परम तपस्यायुक्त, तेजस्वी तथा लोकविख्यात सिद्धगण अग्निको खोजते हुए सब लोकोंमें घूमने लगे । किन्तु जलमें लीन होकर छिपे रहनेसे अग्निदेव नहीं दीख पडते थे, इसीसे देवता उनके पास नहीं पहुंच सके ॥ २१ ॥

ततः संजातसंत्रासानग्नेर्दर्शनलालसान् ।
जलेचरः क्लान्तमनास्तेजसाग्नेः प्रदीपितः ।
उवाच देवान्मण्डूको रसातलतलोत्थितः ॥ २२ ॥

अनन्तर अग्निके तेजसे प्रदीप्त और दुःखितचित्त होके एक जलचर मेढक रसातलसे ऊपर निकलके अग्निके दर्शनकी इच्छा करनेवाले, डरे हुए देवताओंसे बोला ॥ २२ ॥

रसातलतले देवा वसत्यग्निरिति प्रभो ।
संतापादिह संप्राप्तः पावकप्रभवादहम् ॥ २३ ॥

हे देवगण ! अग्निदेव रसातलके तले निवास करते हैं; प्रभो ! मैं उनके उत्तापसे दुःखी होके इस स्थानमें आया हूं ॥ २३ ॥

स संसुप्तो जले देवा भगवान्हव्यवाहनः ।
अपः संसृज्य तेजोभिस्तेन संतापिता वयम् ॥ २४ ॥

हे देवगण ! वह भगवान् हव्यवाहन अपने तेजके सहारे जलका संसर्ग करके उसके बीच सो रहे हैं । हम उनके प्रभावसे सन्तापित हुए हैं ॥ २४ ॥

तस्य दर्शनमिष्टं वो यदि देवा विभावसोः ।
तत्रैनमधिगच्छध्वं कार्यं वो यदि वह्निना ॥ २५ ॥

हे देवताओं ! यदि तुम लोगोंकी इच्छा अग्निदेवका दर्शन करनेकी हो और उनके सहारे तुम्हारा किसी कार्यको सिद्ध करनेका प्रयोजन हो, तो जाओ, उस ही स्थानमें उन्हें पाओगे ॥ २५ ॥

गम्यतां साधयिष्यामो वयं ह्यग्निभयात्सुराः ।
एतावदुक्त्वा मण्डूकस्त्वरितो जलमाविशत् ॥ २६ ॥

हे देववृन्द ! आप जाइये ! हम अग्निके भयसे दुःखित होकर दूसरी जगह जायंगे । मेढक ऐसा कहके शीघ्रही जलमें प्रविष्ट हुआ ॥ २६ ॥

हुताशनस्तु बुबुधे मण्डूकस्याथ पैशुनम् ।
शशाप स तमासाद्य न रसान्वेत्स्यसीति वै ॥ २७ ॥
अग्निने उस समय मेढककी खलता जान ली और उन्होंने उसके पास जाकर शाप दिया, कि 'तुम्हें रसका ज्ञान नहीं होगा' ॥ २७ ॥

तं स संयुज्य शापेन मण्डूकं पावको ययौ ।
अन्यत्र वासाय विभुर्न च देवानदर्शयत् ॥ २८ ॥
सर्वशक्तिमान अग्निदेव मेढकको ऐसा शाप देके शीघ्रही वहांसे दूसरे स्थानमें निवास करनेके लिये चले गये; उन्होंने देवताओंको दर्शन नहीं दिया ॥ २८ ॥

देवास्त्वनुग्रहं चक्रुर्मण्डूकानां भृगूद्वह ।
यत्तच्छृणु महाबाहो गदतो मम सर्वशः ॥ २९ ॥
हे महाबाहो भृगुश्रेष्ठ ! देवताओंने मेढकोंपर जिस भांति कृपा की, मैं वह सब कहता हूं, सुनो ॥ २९ ॥

देवा ऊचुः—

अग्निशापादजिह्वापि रसज्ञानबहिष्कृताः ।
सरस्वतीं बहुविधां यूयमुच्चारयिष्यथ ॥ ३० ॥
देवगण बोले— अग्निके शापसे यद्यपि तुम जिह्वारहित तथा रसज्ञानसे हीन हुए हो, तौ भी तुम लोग हमारी कृपासे अनेक प्रकारके वाक्य बोलोगे ॥ ३० ॥

बिलवासगतांश्चैव निरादानानचेतसः ।
गतासूनपि वः शुष्कान्भूमिः संधारयिष्यति ।
तमोगतायामपि च निशायां विचरिष्यथ ॥ ३१ ॥
बिलवासी होकर रहनेके कारण आहार न मिलनेसे तुम अचेतन, गतप्राण और सूख जानेपर भी पृथ्वी तुम्हें धारण करेगी; तुम लोग घोर अन्धकारसे युक्त रात्रिके समयमें भी विचरोगे ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा तांस्ततो देवाः पुनरेव महीमिमाम् ।
परीयुर्ज्वलनस्यार्थे न चाविन्दन्हुताशनम् ॥ ३२ ॥
देववृन्द मेढकोंसे ऐसा वचन कहके अग्निको खोजनेके निमित्त फिर इस पृथ्वीपर घूमने लगे, किन्तु हुताशनको न देख सके ॥ ३२ ॥

अथ तान्द्विरदः कश्चित्सुरेन्द्रद्विरदोपमः ।
अश्वत्थस्थोऽग्निरित्येवं प्राह देवान्भृगूद्वह ॥ ३३ ॥

हे भृगुनन्दन ! अनन्तर देवेन्द्रके ऐरावत सदृश किसी हाथीने देवताओंसे कहा, कि अग्निदेव अश्वत्थवृक्षमें निवास करते हैं ॥ ३३ ॥

शशाप ज्वलनः सर्वान्द्विरदान्क्रोधमूर्छितः ।
प्रतीपा भवतां जिह्वा भवित्रीति भृगूद्वह ॥ ३४ ॥

तब अग्निने अत्यंत क्रुद्ध होके सब हाथियोंको शाप दिया । हे भृगुवंशधुरन्धर ! हाथीके द्वारा सूचित होनेपर अग्निदेवने उसे शाप दिया, कि तुम लोगोंकी जिह्वा उलटी हो जायगी ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा निःसृतोऽश्वत्थादग्निर्वारणसूचितः ।
प्रविवेश शमीगर्भमथ वह्निः सुषुप्सया ॥ ३५ ॥

हाथियोंको ऐसा शाप देकर हाथीसे सूचित किये गये अग्निदेव अश्वत्थवृक्षसे निकलकर शयन करनेकी इच्छासे शमीवृक्षमें प्रविष्ट हुए ॥ ३५ ॥

अनुग्रहं तु नागानां यं चक्रुः शृणु तं प्रभो ।
देवा भृगुकुलश्रेष्ठ प्रीताः सत्यपराक्रमाः ॥ ३६ ॥

हे प्रभु ! भृगुकुलश्रेष्ठ ! सत्यपराक्रमी देवताओंने प्रीतिपूर्वक जिस प्रकार हाथियोंपर कृपा की थी, उसे सुनो ॥ ३६ ॥

देवा ऊचुः—

प्रतीपया जिह्वयापि सर्वाहारान्करिष्यथ ।
वाचं चोच्चारयिष्यध्वमुच्चैरव्यञ्जिताक्षरम् ।
इत्युक्त्वा पुनरेवाग्निमनुसस्रुर्दिवौकसः ॥ ३७ ॥

देववृन्द बोले— तुम लोग उलटी जीभसे भी सब प्रकारके आहार खाओगे और ऊंचे स्वरसे उच्चारण करोगे; परंतु किसी अक्षरका प्रकाशन नहीं होगा । देवताओंने ऐसा कहके फिर अग्निका अनुसरण किया ॥ ३७ ॥

अश्वत्थान्निःसृतश्चाग्निः शमीगर्भगतस्तदा ।
शुकेन ख्यापितो विप्र तं देवाः समुपाद्रवन् ॥ ३८ ॥

अग्नि भी अश्वत्थवृक्षसे निकलकर शमीगर्भमें आकर बैठे रहे । हे विप्र ! अनन्तर तोतेके मुखसे अग्निके निवासका विषय सुनके देववृन्द उस ही ओर दौडे ॥ ३८ ॥

शशाप शुकमग्निस्तु वाग्विहीनो भविष्यसि ।
जिह्वां चावर्तयामास तस्यापि हुतभुक्तदा ॥ ३९ ॥
तब अग्निदेवने तोतेको शाप दिया कि तुम वाणीसे रहित होगे और अग्निने उसकी भी जिह्वा उलट दी ॥ ३९ ॥

दृष्ट्वा तु ज्वलनं देवाः शुकमूचुर्दयान्विताः ।
भवितासि न त्वमत्यन्तं शकुने नष्टवागिति ॥ ४० ॥
देवताओंने अग्निको देखके दयायुक्त होकर शुकसे कहा, हे शुक ! तुम्हारी वाणी एक-बारगी नष्ट नहीं होगी ॥ ४० ॥

आवृत्तजिह्वस्य सतो वाक्यं कान्तं भविष्यति ।
बालस्येव प्रवृद्धस्य कलमव्यक्तमद्भुतम् ॥ ४१ ॥
जिह्वा ऐंठी रहनेपर भी तुम्हारी वाणी बालककी भाँति बूढेको समझमें न आनेवाली अव्यक्त मधुर, अद्भुत और अत्यन्त मनोहर होगी ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः ।
तदेवायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि ॥ ४२ ॥
शुक पक्षीको ऐसा कहके देवताओंने शमीगर्भमें अग्निदेवको देखके उस शमीवृक्षको ही सब कार्योंके लिये अग्निका पवित्र स्थान किया ॥ ४२ ॥

ततःप्रभृति चाप्यग्निः शमीगर्भेषु दृश्यते ।
उत्पादने तथोपायमनुजग्मुश्च मानवाः ॥ ४३ ॥
तभीसे अग्निदेव शमीगर्भमें दिखायी देने लगे। उस ही समयसे मनुष्योंको शमीकी शाखासे अग्नि उत्पन्न करनेका उपाय मालूम हुआ ॥ ४३ ॥

आपो रसातले यास्तु संसृष्टाश्चित्रभानुना ।
ताः पर्वतप्रस्रवणैरूष्मां मुञ्चन्ति भार्गव ।
पावकेनाधिशयता संतप्तास्तस्य तेजसा ॥ ४४ ॥
हे भार्गव ! रसातलमें जो सब जल अग्निके द्वारा स्पर्शयुक्त हुआ था, जिसमें अग्निदेव सोये थे और जो अग्निके तेजसे उत्तप्त हुआ था, वही जल पर्वतके झरनेके सहारे अपनी गरमी निकालता है ॥ ४४ ॥

ततोऽग्निर्देवता दृष्ट्वा बभूव व्यथितस्तदा ।
किमागमनमित्येवं तानपृच्छत पावकः ॥ ४५ ॥
जो हो, उस समय अग्निदेव देवताओंको देखके दुःखित हुए और उनसे पूछा कि तुम लोग किस निमित्त आये हो ? ॥ ४५ ॥

तमूचुर्विबुधाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ।
त्वां नियोक्ष्यामहे कार्ये तद्भवान्कर्तुमर्हति ।
कृते च तस्मिन्भविता तवापि सुमहान्गुणः ॥ ४६ ॥

उन देवताओं और परमर्षियोंने अग्निसे कहा, कि हम लोग तुम्हें किसी कार्यमें नियुक्त करेंगे, वह तुम्हें करना होगा; उसे करनेसे तुम्हारा भी उत्तम महान् गुण प्रकट होगा ॥ ४६ ॥

अग्निरुवाच—

ब्रूत यद्भवतां कार्यं सर्वं कर्तास्मि तत्सुराः ।
भवतां हि नियोज्योऽहं मा वोऽत्रास्तु विचारणा ॥ ४७ ॥

अग्निदेव बोले– हे देववृन्द ! कहो तुम्हारा कौनसा कार्य है ? मैं उसे पूर्णतया करूंगा । मैं आपका आज्ञा धारक हूं; तुम लोगोंको इस विषयमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४८ ॥

देवा ऊचुः—

असुरस्तारको नाम ब्रह्मणो वरदर्पितः ।
अस्मान्प्रबाधते वीर्याद्वधस्तस्य विधीयताम् ॥ ४८ ॥

देववृन्द बोले– तारक नामक असुर ब्रह्माके वरसे दर्पित होकर, अपने पराक्रमसे हम लोगोंको पीडित करता है; इसलिये तुम उसके वधका कोई उपाय करो ॥ ४८ ॥

इमान्देवगणांस्तात प्रजापतिगणांस्तथा ।
ऋषींश्चापि महाभागान्परित्रायस्व पावक ॥ ४९ ॥

हे तात ! पावक ! इन महाभाग देवताओं, ऋषियों और प्रजापतियोंकी रक्षा करो ॥ ४९ ॥

अपत्यं तेजसा युक्तं प्रवीरं जनय प्रभो ।
यद्भयं नोऽसुरात्तस्मान्नाशयेद्धव्यवाहन ॥ ५० ॥

हे प्रभु ! तेजसे युक्त महावीर पुत्र उत्पन्न करो । हे हव्यवाहन ! उस असुरसे उत्पन्न हमारे भयका जो नाश करेगा ॥ ५० ॥

शप्तानां नो महादेव्या नान्यदस्ति परायणम् ।
अन्यत्र भवतो वीर्यं तस्मात्त्रायस्व नस्ततः ॥ ५१ ॥

हम लोग महादेवी पार्वतीके द्वारा शापयुक्त हुए हैं; इस समय तुम्हारे पराक्रमके अतिरिक्त हमारे लिये और कुछ भी सहारा नहीं है । हे प्रभु ! इसलिये हमारा परित्राण करो ॥५१॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा भगवान्हव्यकव्यभुक् ।
जगामाथ दुराधर्षो गङ्गां भागीरथीं प्रति ॥ ५२ ॥

अनन्तर दुर्द्धर्ष भगवान हव्यकव्य ग्रहण करनेवाले अग्निने कहा, "ऐसा ही होगा" । इतना कहके वे भागीरथी गङ्गाके समीप गये ॥ ५२ ॥

तथा चाप्यभवन्मिश्रो गर्भश्चाप्यभवत्तदा ।
ववृधे स तदा गर्भः कक्षे कृष्णगतिर्यथा ॥ ५३ ॥

गङ्गाके निकट जाके उनके सङ्ग सहवास किया और उसी समय गङ्गाको गर्भ रह गया। तब वनमें सूखे तृणमें रक्खी आग प्रज्वलित होती है, उसी भांति वह गर्भ गङ्गामें बढने लगा ॥५३॥

तेजसा तस्य गर्भस्य गङ्गा विह्वलचेतना ।
संतापमगमत्तीव्रं सा सोढुं न शशाक ह ॥ ५४ ॥

गर्भके उस तेजसे गङ्गा विह्वल तथा अचेत होकर बहुत ही सन्तापित हुई; वह उसे सह न सकी ॥ ५४ ॥

आहिते ज्वलनेनाथ गर्भे तेजःसमन्विते ।
गङ्गायामसुरः कश्चिद्भैरवं नादमुत्सृजत् ॥ ५५ ॥

अग्निके द्वारा गङ्गामें स्थापित किया हुआ वह तेजयुक्त गर्भ बढ रहा था, उसी समय किसी असुरने वहां जोरसे भयङ्कर गर्जना की ॥ ५५ ॥

अबुद्धापपितेनाथ नादेन विपुलेन सा ।
वित्रस्तोद्भ्रान्तनयना गङ्गा विप्लुतलोचना ।
विसंज्ञा नाशकद्गर्भं संधारयितुमात्मना ॥ ५६ ॥

अकस्मात् उत्पन्न हुए उस महान् नादसे गङ्गा डरके सम्भ्रान्तनयन हो गयी और उसके नेत्रोंसे आंसू बहने गये। वह विह्वल, चेतनारहित तथा संज्ञारहित होकर गर्भको और अपने आपको सम्हाल न सकी ॥ ५६ ॥

सा तु तेजःपरीताङ्गी कम्पमाना च जाह्नवी ।
उवाच वचनं विप्र तदा गर्भबलोद्धता ।
न ते शक्तास्मि भगवंस्तेजसोऽस्य विधारणे ॥ ५७ ॥

हे विप्र ! तब गङ्गाके सारे अङ्ग तेजसे परिपूरित होके, गर्भके बलसे आक्रान्त होकर कांपती हुई अग्निदेवसे बोली, हे भगवन् ! मैं आपके इस तेजको धारण करनेमें समर्थ नहीं हूं ॥५७॥

विमूढास्मि कृतानेन तथास्वास्थ्यं कृतं परम् ।
विह्वला चास्मि भगवंस्तेजो नष्टं च मेऽनघ ॥ ५८ ॥

मैं इस तेजसे विमूढ हुई हूं; मैं अत्यत अस्वस्थ हो रही हूं। हे अनघ भगवन् ! मैं विह्वल हुई हूं, मेरी चेतनाशक्ति नष्ट हो रही है ॥ ५८ ॥

धारणे नास्य शक्ताहं गर्भस्य तपतां वर ।
उत्स्रक्ष्येऽहमिमं दुःखान्न तु कामात्कथंचन ॥ ५९ ॥

हे तपनेवालोंमें श्रेष्ठ ! मैं इस तेजको धारण नहीं कर सकती, इसलिये मैं दुःखपूर्वक इसे त्यागती हूं और स्वेच्छानुसार त्यागना नहीं चाहती ॥ ५९ ॥

न चेतसोऽस्ति संस्पर्शो मम देव विभावसो ।
आपदर्थे हि संबन्धः सुसूक्ष्मोऽपि महाद्युते ॥ ६० ॥

हे देव विभावसु ! मेरा कभी मनसे इसके साथ संस्पर्श नहीं है । हे महाद्युति ! आपदके हेतु यह आपके संग अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध हुआ है ॥ ६० ॥

यदत्र गुणसंपन्नमितरं वा हुताशन ।
त्वय्येव तदहं मन्ये धर्माधर्मौ च केवलौ ॥ ६१ ॥

हे हुताशन ! इस विषयमें जो कुछ दोष, गुण अथवा धर्माधर्म होगा, उसे मैं तुम्हारा ही उत्तरदायित्व मानती हूं ॥ ६१ ॥

तामुवाच ततो वह्निर्धार्यतां धार्यतामयम् ।
गर्भो मत्तेजसा युक्तो महागुणफलोदयः ॥ ६२ ॥

अनन्तर हुताशनने उनसे कहा, मेरे तेजसे युक्त इस गर्भको धारण करो, इससे महागुण तथा फल प्राप्त होगा, अतः इसे धारण करो ॥ ६२ ॥

शक्ता ह्यसि महीं कृत्स्नां वोढुं धारयितुं तथा ।
न हि ते किंचिदप्राप्यं मद्रेतोधारणादृते ॥ ६३ ॥

तुम निज शक्तिबलसे इस अखण्ड भूमण्डलको धारण करने तथा उठानेमें समर्थ हो, तो मेरे द्वारा रखा गर्भ धारणके अतिरिक्त तुम्हें और कुछ भी अप्राप्य नहीं है ॥ ६३ ॥

सा वह्निना वार्यमाणा देवैश्चापि सरिद्वरा ।
समुत्ससर्ज तं गर्भं मेरौ गिरिवरे तदा ॥ ६४ ॥

अग्नि और देवताओंसे निवारित होके भी गर्भ धारण करनेमें असमर्थ होनेसे सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाने उस समय पर्वतश्रेष्ठ मेरुके ऊपर उस गर्भको परित्याग किया ॥ ६४ ॥

समर्था धारणे चापि रुद्रतेजःप्रधर्षिता ।
नाशकत्तं तदा गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६५ ॥

वह गर्भ धारण करनेमें समर्थ होनेपर भी रुद्ररूपी अग्निके तेजसे प्रधर्षित होके निज तेजके सहारे गर्भ धारण न कर सकी ॥ ६५ ॥

सा समुत्सृज्य तं दुःखाद्दीप्तवैश्वानरप्रभम् ।
दर्शयामास चाग्निस्तां तदा गङ्गां भृगूद्वह ।
पप्रच्छ सरितां श्रेष्ठां कच्चिद्गर्भः सुखोदयः ॥ ६६ ॥

हे भृगुकुलधुरन्धर ! जब गङ्गाने दुःखसे उस अग्निसदृश प्रभायुक्त प्रदीप्त गर्भको परित्याग करके निवास किया, तब अग्निदेव उस सरिद्वराका दर्शन करके बोले, हे देवि ! गर्भ सुखसे उदित हुआ है न ? ॥ ६६ ॥

कीदृग्वर्णोऽपि वा देवि कीदृग्रूपश्च दृश्यते ।
तेजसा केन वा युक्तः सर्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ६७ ॥

उसका कैसा वर्ण है ? उसका रूप कैसा दीखता है और वह कैसे तेजसे संयुक्त है ? यह सब वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ ६७ ॥

गङ्गोवाच—

जातरूपः स गर्भो वै तेजसा त्वमिवानल ।
सुवर्णो विमलो दीप्तः पर्वतं चावभासयत् ॥ ६८ ॥

गङ्गा बोली– हे अनल ! वह गर्भ सुवर्णवर्ण और तेजमें तुम्हारे सदृश है; विमल सुवर्ण समान उस प्रदीप्त गर्भने पर्वतको प्रकाशित किया है ॥ ६८ ॥

पद्मोत्पलविमिश्राणां ह्रदानामिव शीतलः ।
गन्धोऽस्य स कदम्बानां तुल्यो वै तपतां वर ॥ ६९ ॥

हे तपतांवर ! वह गर्भ कमल और उत्पलसेयुक्त सरोवरकी भांति शीतल है, उसकी सुगन्धि कदंबपुष्पकी भांति है ॥ ६९ ॥

तेजसा तस्य गर्भस्य भास्करस्येव रश्मिभिः ।
यद्द्रव्यं परिसंसृष्टं पृथिव्यां पर्वतेषु वा ।
तत्सर्वं काञ्चनीभूतं समन्तात्प्रत्यदृश्यत ॥ ७० ॥

सूर्यके समान तेजयुक्त उस गर्भकी किरणोंके सहारे पृथ्वी और पर्वतकी जो कुछ वस्तु स्पर्शित हुई हैं, वे सब काञ्चनरूपी दिखाई देती हैं ॥ ७० ॥

पर्यधावत शैलांश्च नदीः प्रस्रवणानि च ।
व्यदीपयत्तेजसा च त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ७१ ॥

वह गर्भ तेजके सहारे स्थावरजङ्गमात्मक त्रिभुवनको प्रदीप्त करते हुए पर्वत, नदी और झरनोंमें दौड रहा है ॥ ७१ ॥

एवंरूपः स भगवान्पुत्रस्ते हव्यवाहन ।
सूर्यवैश्वानरसमः कान्त्या सोम इवापरः ।
एवमुक्त्वा तु सा देवी तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७२ ॥

हे हव्यवाहन ! आपका पुत्र ऐसे ऐश्वर्यसे युक्त है, कि तेजमें सूर्य तथा वैश्वानरके समान और कान्तिमें द्वितीय चन्द्रमा हुआ है । भागीरथी देवी इतना कहके वहीं अन्तर्हित हुई ॥ ७२ ॥

पावकश्चापि तेजस्वी कृत्वा कार्यं दिवौकसाम् ।
जगामेष्टं ततो देशं तदा भार्गवनन्दन ॥ ७३ ॥

हे भृगुनन्दन ! तेजस्वी अग्नि भी उस समय देवताओंके कार्यको सिद्ध करके अभिलषित स्थानमें चले गये ॥ ७३ ॥

एतैः कर्मगुणैर्लोके नाम्नाग्नेः परिगीयते ।
हिरण्यरेता इति वै ऋषिभिर्विबुधैस्तथा ।
पृथिवी च तदा देवी ख्याता वसुमतीति वै ॥ ७४ ॥

इन्हीं सब कर्मों तथा गुणोंसे जगत्में देवताओं और ऋषियोंके द्वारा अग्निका 'हिरण्यरेता' नाम वर्णित हुआ करता है। पृथिवीदेवी भी उसी समयसे अग्निजनित हिरण्य (वसु) धारण करनेसे वसुमती नामसे विख्यात हुई हैं ॥ ७४ ॥

स तु गर्भो महातेजा गाङ्गेयः पावकोद्भवः ।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधेऽद्भुतदर्शनः ॥ ७५ ॥

गङ्गाके गर्भसे गिरके वह अग्निसे उत्पन्न, अद्भुतदर्शन, महातेजस्वी गर्भ दिव्य शरवनको प्राप्त होके वहाँ बढ़ने लगा ॥ ७५ ॥

ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालार्कसदृशद्युतिम् ।
जातस्नेहाश्च तं बालं पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ ७६ ॥

कृत्तिकागणोंने उस प्रभात कालके सूर्यके सदृश तेजःसम्पन्न सन्तानको देखा, वे लोग उस बालक पुत्रको स्नेहवश होकर स्तनका दूध पिलाके पालने लगीं ॥ ७६ ॥

ततः स कार्तिकेयत्वमवाप परमद्युतिः ।
स्कन्नत्वात्स्कन्दतां चापि गुहावासाद्गुहोऽभवत् ॥ ७७ ॥

इसही निमित्त उस परम तेजस्वी बालकका नाम कार्त्तिकेय हुआ। शिवके स्खलित वीर्यसे उत्पन्न होनेसे उनका नाम स्कन्द और गुहामें वास करनेसे गुह नाम हुआ था ॥ ७७ ॥

एवं सुवर्णमुत्पन्नमपत्यं जातवेदसः ।
तत्र जाम्बूनदं श्रेष्ठं देवानामपि भूषणम् ॥ ७८ ॥

इस ही भाँति अग्निका पुत्र सुवर्ण उत्पन्न हुआ। सुवर्ण अनेक भाँतिका होनेपर भी उसके बीच जाम्बूनद नाम स्वर्ण ही सबसे श्रेष्ठ है, वह देवताओंका भूषण है ॥ ७८ ॥

ततःप्रभृति चाप्येतज्जातरूपमुदाहृतम् ।
तत्सुवर्णं स भगवानग्निरीशः प्रजापतिः ॥ ७९ ॥

तभीसे सुवर्ण जातरूप नामसे विख्यात हुआ है; सुवर्ण ही भगवान् अग्नि, ईश और प्रजापति स्वरूप है ॥ ७९ ॥

पवित्राणां पवित्रं हि कनकं द्विजसत्तम ।
अग्नीषोमात्मकं चैव जातरूपमुदाहृतम् ॥ ८० ॥

हे द्विजसत्तम! सोना सब पवित्र वस्तुओंके बीच अत्यन्त पवित्र है, जातरूप अग्नि और सोम रूपसे वर्णित हुआ करता है ॥ ८० ॥

रत्नानामुत्तमं रत्नं भूषणानां तथोत्तमम् ।
पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥ ३६११ ॥

यह सब रत्नोंके बीच उत्तम रत्न तथा समस्त भूषणोंके बीच उत्तम भूषण है; सारी पवित्र वस्तुओंसे पवित्र और सब मङ्गलोंका मङ्गल स्वरूप है ॥ ८१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८४ ॥ ३६११ ॥

: ८५ :

वसिष्ठ उवाच—

अपि चेदं पुरा राम श्रुतं मे ब्रह्मदर्शनम् ।
पितामहस्य यद्वृत्तं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ १ ॥

वसिष्ठ बोले– हे राम ! पहले समयमें जो परमात्मा पितामह ब्रह्माको ब्रह्मदर्शन हुआ था; मैंने वह कथा सुनी है । वह कहता हूं, सुनो ॥ १ ॥

देवस्य महतस्तात वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ।
ऐश्वर्ये वारुणे राम रुद्रस्येशस्य वै प्रभो ॥ २ ॥

हे तात ! सबके ईश्वर और श्रेष्ठ भगवान् रुद्र वरुणका रूप धारण करके वरुणके राज्यपर स्थित थे ॥ २ ॥

आजग्मुर्मुनयः सर्वे देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
यज्ञाङ्गानि च सर्वाणि वषट्कारश्च मूर्तिमान् ॥ ३ ॥
मूर्तिमन्ति च सामानि यजूंषि च सहस्रशः ।
ऋग्वेदश्चागमत्तत्र पदक्रमविभूषितः ॥ ४ ॥

अग्नि आदि देवताओं और मुनियोंने ईश्वर रुद्रदेवके निकट आगमन किया था । यज्ञके सब अङ्ग, मूर्तिमान वषट्कार, सशरीर समस्त साम, सहस्रों यजुर्मन्त्र और पद तथा क्रम विभूषित ऋग्वेदने वहांपर आगमन किया ॥ ३–४ ॥

लक्षणानि स्वराः स्तोभा निरुक्तं स्वरभक्तयः ।
ओङ्कारश्चावसन्नेत्रे निग्रहप्रग्रहौ तथा ॥ ५ ॥

समस्त लक्षण, देवताओंकी स्तुति, निरुक्त, स्वरभक्ति, ओंकार और निग्रह प्रग्रह नाम यज्ञके दो नेत्र, ये सब वहांपर स्थित हुए ॥ ५ ॥

वेदाश्च सोपनिषदो विद्या सावित्र्यथापि च ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च दधार जगवान्शिवः ।
जुहवात्मन्यथात्मानं स्वयमेव तदा प्रभो ॥ ६ ॥
उपनिषदोंके सहित सब वेद और विद्या सावित्री भी आयी थीं; भूत, वर्तमान और भविष्य आदिको भगवान महादेवने धारण किया। उस समय उन्होंने स्वयं ही अपनेको आहुति प्रदान की ॥ ६ ॥

देवपत्न्यश्च कन्याश्च देवानां चैव मातरः ।
आजग्मुः सहितास्तत्र तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ७ ॥
हे भृगुकुलधुरन्धर! देवपत्नियां, देवकन्याएं और देवमातृगण महात्मा वरुण पशुपतिके यज्ञमें आकर वे प्रसन्न थीं; सब कोई मिलकर महादेवके यज्ञमें आयीं ॥ ७ ॥

यज्ञं पशुपतेः प्रीता वरुणस्य महात्मनः ।
स्वयंभुवस्तु ता दृष्ट्वा रेतः समपतद्भुवि ॥ ८ ॥
देवकन्या प्रभृतिको देखके स्वयम्भू ब्रह्माका वीर्य स्खलित होकर पृथ्वीपर गिरा ॥ ८ ॥

तस्य शुक्रस्य निष्पन्दात्पांसून्संगृह्य भूमितः ।
प्रास्यत्पूषा कराभ्यां वै तस्मिन्नेव हुताशने ॥ ९ ॥
पूषाने उनके शुक्रके निस्पन्दवशसे पृथ्वीपरसे दोनों हाथोंसे वीर्यके सहित धूलिकणोंको संग्रह करके उसी अग्निमें डाल दिया ॥ ९ ॥

ततस्तस्मिन्संप्रवृत्ते सत्रे ज्वलितपावके ।
ब्रह्मणो जुह्वतस्तत्र प्रादुर्भावो बभूव ह ॥ १० ॥
उस प्रज्वलित अग्निसे युक्त उस यज्ञके चालू होनेपर होमकर्ता प्रजापतिके द्वारा परम श्रेष्ठ धातुकी उत्पत्ति हुई ॥ १० ॥

स्कन्नमात्रं च तच्छुक्रं स्रुवेण प्रतिगृह्य सः ।
आज्यवन्मन्त्रवच्चापि सोऽजुहोद्भृगुनन्दन ॥ ११ ॥
हे भृगुनन्दन! धातु स्खलित होते ही उन्होंने उसे स्रुवामें लेकर मन्त्र पढके घृतकी भांति उसका होम किया ॥ ११ ॥

ततः संजनयामास भूतग्रामं स वीर्यवान् ।
ततस्तु तेजसस्तस्माज्जज्ञे लोकेषु तैजसम् ॥ १२ ॥
अनन्तर वीर्यवान् भगवान् ब्रह्माने उस तेजसे चार प्रकारके प्राणियोंको उत्पन्न किया। उसके रजोमय अंशहीसे इस लोकमें तैजस प्रवृत्तिप्रधान समस्त जङ्गम प्राणी उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

तमस्तस्मात्सता भाषा व्यापि सत्त्वं तथोभयम् ।
सत्त्वगुणस्तेजसो नित्यं तमस्त्वाकाशमेव च ॥ १३ ॥

उस वीर्यके तम अंशसे तामस– वृक्षादि स्थावरोंकी उत्पत्ति हुई; स्थावर और जङ्गम दोनोंही सत्त्वांशमें सन्निविष्ट रहे । वह सत्त्वही प्रकाशरूपी बुद्धिका नित्यगुण है, सत्त्व ही बुद्धिस्वरूप है, उस बुद्धिसत्त्वसे आकाश आदि सारा जगत् उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

सर्वभूतेष्वथ तथा सत्त्वं तेजस्तथा तमः ।
शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मिंस्तु प्रादुरासंस्त्रयः प्रभो ॥ १४ ॥

सब भूतोंमें सत्त्व अर्थात् प्रकाश वा उत्तम तेज तथा धर्मप्रवृत्ति, और तमोगुण स्थित हैं, वे प्रजापतिके शुक्रसे ही प्रकट हुए है । प्रभो ! अग्निके बीच प्रजापतिका वीर्य होम किये जाने-पर उससे ये तीन गुण प्रकट हुए हैं ॥ १४ ॥

पुरुषा वपुषा युक्ता युक्ताः प्रसवजैर्गुणैः ।
भृगित्येव भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्योऽङ्गिराभवत् ॥ १५ ॥

और उससे निज कारणज गुणोंके सहित तीन शरीरधारी पुरुष उत्पन्न हुए । अग्निज्वाला भृगसे पहले भृगु उत्पन्न हुए, अङ्गारोंसे अङ्गिरा जन्मे ॥ १५ ॥

अङ्गारसंश्रयाच्चैव कविरित्यपरोऽभवत् ।
सह ज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद्भृगुः स्मृतः ॥ १६ ॥

अङ्गारोंकी आश्रित अल्पज्वालासे कवि नाम पुरुष उत्पन्न हुआ । भृगु ज्वालमालाके सहित उत्पन्न हुए थे, इस ही निमित्त भृगु अर्थात् ज्वालाके नामके सहारे उनका भृगु नाम हुआ है ॥ १६ ॥

मरीचिभ्यो मरीचिस्तु मारीचः कश्यपो ह्यभूत् ।
अङ्गारेभ्योऽङ्गिरास्तात वालखिल्याः शिलोच्चयात् ।
अत्रैवात्रेति च विभो जातमत्रिं वदन्त्यपि ॥ १७ ॥

अग्निकी मरीचि अर्थात् किरणोंसे मरीचि उत्पन्न हुए, मरीचिसे कश्यपकी उत्पत्ति हुई । हे तात ! अङ्गारोंसे अङ्गिरा और शिलोंके ढेरसे वालखिल्य मुनि उत्पन्न हुए । अत्र अर्थात् इन कुशोंसे ही अत्रि जन्मे थे, इसलिये पण्डित लोग उन्हें अत्रि कहा करते हैं ॥ १७ ॥

तथा भस्मव्यपोहेभ्यो ब्रह्मर्षिगणसंमिताः ।
वैखानसाः समुत्पन्नास्तपःश्रुतगुणेप्सवः ।
अश्रुतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूपसंमतौ ॥ १८ ॥

भस्म राशियोंसे ब्रह्मर्षियोंसे युक्त तपस्या, शास्त्रज्ञान और सद्गुण पूर्ण वैखानस मुनिवृन्द उत्पन्न हुए । अग्निके आंसूसे रूपसुन्दरतायुक्त दोनों अश्विनीकुमार जन्मे ॥ १८ ॥

×

शेषाः प्रजानां पतयः स्रोतोभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।
ऋषयो लोमकूपेभ्यः स्वेदाच्छन्दो मलात्मकम् ॥ १९ ॥

अवशिष्ट प्रजापतिवृन्द उनके श्रवण आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए । लोम कूपोंसे ऋषि और स्वेदसे मलयुक्त छन्दकी उत्पत्ति हुई ॥ १९ ॥

एतस्मात्कारणादाहुरग्निं सर्वास्तु देवताः ।
ऋषयः श्रुतसंपन्ना वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ २० ॥

शास्त्रज्ञानसे युक्त ऋषि लोग वेदोंकी प्रामाणिकता देखके इस ही निमित्त अग्निको सर्वदेवमय कहा करते हैं ॥ २० ॥

यानि दारूणि ते मासा निर्यासाः पक्षसंज्ञिताः ।
अहोरात्रा मुहूर्तास्तु पित्तं ज्योतिश्च वारुणम् ॥ २१ ॥

यज्ञस्थानमें जो सब समिधाएं थीं तथा उनसे जो रस निकला वे मास, पक्ष, दिन, रात तथा मुहूर्त नामसे विख्यात हुए । वरुणकी ज्योतिको पित्त कहते हैं ॥ २१ ॥

रौद्रं लोहितमित्याहुर्लोहितात्कनकं स्मृतम् ।
तन्मैत्रमिति विज्ञेयं धूमाच्च वसवः स्मृताः ॥ २२ ॥

और अग्निकी ज्योतिको लोहित कहते हैं । ऐसा वर्णित है, कि लोहितसे स्वर्ण उत्पन्न हुआ है । सुवर्णकी अधिष्ठात्री देवता मित्र है, इसलिये इसे मैत्र जानो । अग्निके धूमसे वसुगण उत्पन्न हुए हैं, ऐसा बताया जाता है ॥ २२ ॥

अर्चिषो याश्च ते रुद्रास्तथादित्या महाप्रभाः ।
उद्दिष्टास्ते तथाङ्गारा ये धिष्ण्येषु दिवि स्थिताः ॥ २३ ॥

अग्निकी ज्वालाओंसे एकादश रुद्र और महातेजस्वी द्वादश आदित्य उत्पन्न हुए हैं; यज्ञस्थलमें जो सब अंगार थे, वेही आकाशस्थित ग्रह नक्षत्ररूपसे वर्णित हुए हैं ॥ २३ ॥

आदिनाथश्च लोकस्य तत्परं ब्रह्म तद्ध्रुवम् ।
सर्वकामदमित्याहुस्तत्र हव्यमुदावहत् ॥ २४ ॥

जो जगत्के आदिनाथ हैं, वेही परब्रह्म, वेही अविनाशी तथा सर्वकामनाओंके प्रदाता हैं । उन्हींने आहुतिरूप घृतको धारण किया था ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीन्महादेवो वरुणः परमात्मकः ।
मम सत्रमिदं दिव्यमहं गृहपतिस्त्विह ॥ २५ ॥

अनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर परमात्मक महादेव वरुण बोले, हमारा ही यह दिव्य यज्ञ है, इस समय मैं ही यज्ञका गृहस्थ यजमान हूं ॥ २५ ॥

त्रीणि पूर्वाण्यपत्यानि मम तानि न संशयः ।
इति जानीत खगमा मम यज्ञफलं हि तत् ॥ २६ ॥

पहले जो भृगु, अंगिरा और कवि नायक मेरे तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वे निःसन्देह हमारे ही पुत्र हैं । हे आकाशचारी देवगण ! वह हमारे ही यज्ञका फल है, यह जानो ॥ २६ ॥

अग्निरुवाच—

मदङ्गेभ्यः प्रसूतानि मदाश्रयकृतानि च ।
ममैव तान्यपत्यानि वरुणो ह्यवशात्मकः ॥ २७ ॥

अग्निदेव बोले— पूर्वोक्त तीनों पुत्र मेरे अंगोंसे उत्पन्न हुए हैं और मेरा ही आसरा किये हैं, इसलिये वे मेरे ही पुत्र हैं; वरुणरूपी महादेवका इनपर अधिकार नहीं है ॥ २७ ॥

अथाब्रवील्लोकगुरुर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ममैव तान्यपत्यानि मम शुक्रं हुतं हि तत् ॥ २८ ॥

अनन्तर लोकगुरु, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा बोले, हमारे उस वीर्यके होम करनेपर जो तीन अपत्य उत्पन्न हुए हैं, वे मेरे ही पुत्र हैं ॥ २८ ॥

अहं वक्ता च मन्त्रस्य होता शुक्रस्य चैव ह ।
यस्य बीजं फलं तस्य शुक्रं चेत्कारणं मतम् ॥ २९ ॥

मैं ही मन्त्र बोलनेवाला और अपने वीर्यका होम करनेवाला हूं, इसलिये यदि इनकी उत्पत्तिमें वीर्य ही कारण हो, तो जिसका बीज होता है, उसहीका फल होसकता है ॥ २९ ॥

ततोऽब्रुवन्देवगणाः पितामहमुपेत्य वै ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे शिरोभिरभिवन्द्य च ॥ ३० ॥

अनन्तर देववृन्द पितामहके समीप आके हाथ जोड शिर झुकाके उन्हें प्रणाम करके बोले ॥ ३० ॥

वयं च भगवन्सर्वे जगच्च सचराचरम् ।
तवैव प्रसवाः सर्वे तस्मादग्निर्विभावसुः ।
वरुणश्चेश्वरो देवो लभतां काममीप्सितम् ॥ ३१ ॥

हे भगवन् ! हम सब कोई और स्थावरजंगमात्मक समस्त जगत्— ये सब तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं; इसलिये आप ही हम लोगोंके उत्पत्ति विषयमें कारण हैं; किन्तु विभावसु अग्नि और वरुणरूपी देवेश्वर महादेव अपना अभिलषित फल प्राप्त करें ॥ ३१ ॥

निसर्गाद्वरुणश्चापि ब्रह्मणो यादसां पतिः ।
जग्राह वै भृगुं पूर्वमपत्यं सूर्यवर्चसम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्माके स्वभाव तथा आज्ञाके अनुसार जल जन्तुओंके स्वामी वरुणने सूर्यके समान तेजस्वी जेठे पुत्र भृगुको ग्रहण किया ॥ ३२ ॥

ईश्वरोऽङ्गिरसं चाग्नेरपत्यार्थेऽभ्यकल्पयत् ।
पितामहस्त्वपत्यं वै कविं जग्राह तत्त्ववित् ॥ ३३ ॥

ईश्वरने अङ्गिराको अग्निका पुत्र निश्चित कर दिया और तत्त्ववित् पितामह ब्रह्माने कविको निजपुत्र कहके ग्रहण किया ॥ ३३ ॥

तदा स वारुणः ख्यातो भृगुः प्रसवकर्मकृत् ।
आग्नेयस्त्वङ्गिराः श्रीमान्कविर्ब्राह्मो महायशाः ।
भार्गवाङ्गिरसौ लोके लोकसंतानलक्षणौ ॥ ३४ ॥

तभीसे संतानके कर्तव्यको करनेवाले भृगु वारुण नामसे विख्यात हुए। तेजस्वी श्रीमान् अङ्गिरा आग्नेय नामसे प्रसिद्ध हुए और महायशस्वी कवि ब्राह्म नामसे विख्यात हुए। भृगु और अङ्गिरा इस लोकमें सृष्टिका विस्तार करनेवाले हुए ॥ ३४ ॥

एते विप्रवराः सर्वे प्रजानां पतयस्त्रयः ।
सर्वं संतानमेतेषामिदमित्युपधारय ॥ ३५ ॥

और ये तीनों विप्रश्रेष्ठ प्रजापति हैं, समस्त लोग इनकी संतानें हैं। यह निश्चय जानो कि सब कोई इन्हींके सन्तान हैं ॥ ३५ ॥

भृगोस्तु पुत्रास्तत्रासन्सप्त तुल्या भृगोर्गुणैः ।
च्यवनो वज्रशीर्षश्च शुचिरौर्वस्तथैव च ॥ ३६ ॥
शुक्रो वरेण्यश्च विभुः सवनश्चेति सप्त ते ।
भार्गवा वारुणाः सर्वे येषां वंशे भवानपि ॥ ३७ ॥

च्यवन, वज्रशीर्ष, शुचि, और्व, वरणीय शुक्र, विभु और सवन, ये सातों भृगुके पुत्र हैं, ये सब कोई भृगुके सदृश गुणयुक्त हैं। तुम जिनके वंशमें उत्पन्न हुए हो, वे भार्गवगण भी वारुण हैं ॥ ३६–३७ ॥

अष्टौ चाङ्गिरसः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च वयस्यः शान्तिरेव च ॥ ३८ ॥
घोरो विरूपः संवर्तः सुधन्वा चाष्टमः स्मृतः ।
एतेऽष्टावग्निजाः सर्वे ज्ञाननिष्ठा निरामयाः ॥ ३९ ॥

और बृहस्पति, उतथ्य, वयस्य, शान्ति, घोर, विरूप, संवर्त्त और सुधन्वा ये आठों अङ्गिराके पुत्र हैं; ये सभी ज्ञाननिष्ठ, निरामय और वन्हिज होनेपर भी वारुण कहलाते हैं ॥ ३८–३९ ॥

ब्राह्मणस्य कवेः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः ।
अष्टौ प्रसवजैर्युक्ता गुणैर्ब्रह्मविदः शुभाः ॥ ४० ॥
ब्रह्माके पुत्र कवि हैं, कविके आठ पुत्र हुए, वेही वारुण नामसे वर्णित हुआ करते हैं, ये सब गुणयुक्त, ब्रह्मज्ञ और कल्याणकारी हैं ॥ ४० ॥

कविः काव्यश्च विष्णुश्च बुद्धिमानुशनास्तथा ।
भृगुश्च विरजाश्चैव काशी चोग्रश्च धर्मवित् ॥ ४१ ॥
इनके ये नाम हैं— कवि, काव्य, धृष्णु, बुद्धिमान्, उशना (शुक्राचार्य), भृगु, विरजा, काशी और धर्मज्ञ उग्र— ॥ ४१ ॥

अष्टौ कविसुता ह्येते सर्वमेभिर्जगत्ततम् ।
प्रजापतय एते हि प्रजानां यैरिमाः प्रजाः ॥ ४२ ॥
ये आठों कविके पुत्र हैं, इनसे सारा जगत् व्याप्त है। इन्हींके सहारे प्रजासमूहकी उत्पत्ति हुई है, इस ही निमित्त ये प्रजापति हैं ॥ ४२ ॥

एवमङ्गिरसश्चैव कवेश्च प्रसवान्वयैः ।
भृगोश्च भृगुशार्दूल वंशजैः सततं जगत् ॥ ४३ ॥
हे भृगुश्रेष्ठ ! इस ही प्रकार आङ्गिरा, कवि और भृगुके वंशीय सन्तानसे परम्पराक्रमसे जगत् व्याप्त हुआ है ॥ ४३ ॥

वरुणश्चादितो विप्र जग्राह प्रभुरीश्वरः ।
कविं तात भृगुं चैव तस्मात्तौ वारुणौ स्मृतौ ॥ ४४ ॥
हे विप्र ! तात ! सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता वरुण रूप शिवने पहले कवि और भृगुको ग्रहण किया था, इस ही निमित्त वे दोनों वारुण नामसे विख्यात हुए हैं ॥ ४४ ॥

जग्राहाङ्गिरसं देवः शिखी तस्माद्धुताशनः ।
तस्मादङ्गिरसौ ज्ञेयाः सर्व एव तदन्वयाः ॥ ४५ ॥
ज्वालाओंसे सुशोभित अग्निदेवने अङ्गिराको ग्रहण किया था, इसीसे उनके वंशमें उत्पन्न हुए सन्तानोंको आंगिरस जानो ॥ ४५ ॥

ब्रह्मा पितामहः पूर्वं देवताभिः प्रसादितः ।
इमे नः संतरिष्यन्ति प्रजाभिर्जगदीश्वराः ॥ ४६ ॥
पितामह ब्रह्मा पहले देवताओंके द्वारा इस ही भांति प्रसन्न हुए थे, कि ये जगदीश्वर भृगु आदिके वंशज अपनी संतानोंसे हम लोगोंका संकरसे पूरी रीतिसे उद्धार करेंगे ॥ ४६ ॥

सर्वे प्रजानां पतयः सर्वे चातितपस्विनः ।
त्वत्प्रसादादिमं लोकं तारयिष्यन्ति शाश्वतम् ॥ ४७ ॥

इसलिये ये सब कोई प्रजापति तथा तपस्वी होकर, आपकी कृपासे सब लोकका चिरंतन उद्धार करेंगे ॥ ४७ ॥

तथैव वंशकर्तारस्तव तेजोविवर्धनाः ।
भवेयुर्वेदविदुषः सर्वे वाक्पतयस्तथा ॥ ४८ ॥

और आपके तेजकी वृद्धि करते हुए वेदज्ञ और वाक्पति वंशकर्ता होंगे ॥ ४८ ॥

देवपक्षधराः सौम्याः प्राजापत्या महर्षयः ।
आप्नुवन्ति तपश्चैव ब्रह्मचर्यं परं तथा ॥ ४९ ॥

ये प्राजापत्य महर्षिगण स्वभावके सौम्य प्रियदर्शन और देवताओंके पक्षमें श्रेष्ठ होकर परम तपस्या तथा ब्रह्मचर्य लाभ करेंगे ॥ ४९ ॥

सर्वे हि वयमेते च तवैव प्रसवः प्रभो ।
देवानां ब्राह्मणानां च त्वं हि कर्ता पितामह ॥ ५० ॥

हे प्रभु ! पितामह ! हम और ये लोग सब कोई तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं, आप देवताओं और ब्राह्मणोंके विधाता हैं ॥ ५० ॥

मरीचिमादितः कृत्वा सर्वे चैवाथ भार्गवाः ।
अपत्यानीति संप्रेक्ष्य क्षमयाम पितामह ॥ ५१ ॥

मरीचि प्रभृति समस्त भार्गवगण आपके ही अपत्य हैं, पितामह ! यह देखके हम लोग आपसे अपनी भूलोंके लिये क्षमा चाहते हैं ॥ ५१ ॥

ते त्वनेनैव रूपेण प्रजनिष्यन्ति वै प्रजाः ।
स्थापयिष्यन्ति चात्मानं युगादिनिधने तथा ॥ ५२ ॥

वे लोग इसी रूपसे प्रजा उत्पन्न करेंगे और इस ही प्रकार उत्पत्ति और प्रलयके अन्तरालमें अपने आपको स्थापित करेंगे ॥ ५२ ॥

एवमेतत्पुरा वृत्तं तस्य यज्ञे महात्मनः ।
देवश्रेष्ठस्य लोकादौ वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ॥ ५३ ॥

आदिकालमें सृष्टिके प्रारम्भके समय वारुणी मूर्त्तिधारी देवश्रेष्ठ महात्मा रुद्रके उस यज्ञमें ऐसी ही घटना हुई थी ॥ ५३ ॥

अग्निर्ब्रह्मा पशुपतिः शर्वो रुद्रः प्रजापतिः ।
अग्नेरपत्यमेतद्वै सुवर्णमिति धारणा ॥ ५४ ॥

अग्नि ही ब्रह्मा, महादेव, शर्व, रुद्र और प्रजापतिस्वरूप है । ऐसा निश्चय है, कि यह सुवर्ण अग्निका पुत्र है ॥ ५४ ॥

अग्न्यभावे च कुर्वन्ति वह्निस्थानेषु काञ्चनम् ।
जामदग्न्य प्रमाणज्ञा वेदश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ५५ ॥

प्रमाणज्ञ जामदग्न्य वेदश्रुतिके निदर्शन निबन्धनसे अग्निके अभावमें उसके स्थानमें सुवर्ण स्थापित किया करते हैं ॥ ५५ ॥

कुशस्तम्बे जुहोत्यग्निं सुवर्णं तत्र संस्थितम् ।
हुते प्रीतिकरीमृद्धिं भगवांस्तत्र मन्यते ॥ ५६ ॥

ऐसी जनश्रुति है, कि कुशोंके समूहपर रखे हुए सुवर्णका अग्निमें होम करे; वह होम करनेसे भगवान् हुताशनता देनेवाली समृद्धिसे प्रसन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

तस्मादग्निपराः सर्वा देवता इति शुश्रुम ।
ब्रह्मणो हि प्रसूतोऽग्निरग्नेरपि च काञ्चनम् ॥ ५७ ॥

हमने सुना है, कि समस्त देववृन्द अग्निनिष्ठ हैं । ब्रह्मासे अग्निदेव प्रकट हुए और अग्निसे सुवर्ण उत्पन्न हुआ है ॥ ५७ ॥

तस्माद्ये वै प्रयच्छन्ति सुवर्णं धर्मदर्शिनः ।
देवतास्ते प्रयच्छन्ति समस्ता इति नः श्रुतम् ॥ ५८ ॥

ऐसा सुना गया है, कि जो धर्मदर्शी मनुष्य सुवर्णका दान करते हैं, वे समस्त देवताओंका दान करते हैं ॥ ५८ ॥

तस्य चातमसो लोका गच्छतः परमां गतिम् ।
स्वर्लोके राजराज्येन सोऽभिषिच्येत भार्गव ॥ ५९ ॥

हे भार्गव ! वह परम गति पानेवाला मनुष्य तमरहित लोकोंमें जाता है; स्वर्गलोकमें वह राजाधिराज कुबेरके राज्यमें अभिषिक्त होता है ॥ ५९ ॥

आदित्योदयने प्राप्ते विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
ददाति काञ्चनं यो वै दुःस्वप्नं प्रतिहन्ति सः ॥ ६० ॥

सूर्य उदय होनेके समय जो विधिपूर्वक मन्त्र पढके सोना दान करता है, उसके दुःस्वप्न नष्ट हुआ करते हैं ॥ ६० ॥

ददात्युदितमात्रे यस्तस्य पाप्मा विधूयते ।
मध्याह्ने ददतो रुक्मं हन्ति पापमनागतम् ॥ ६१ ॥

जो भोरके समय सुवर्ण दान करता है, उसके सब पाप नष्ट होते हैं; मध्याह्न कालमें सुवर्ण दान करनेसे दाताके भविष्य पाप नष्ट हुआ करते हैं ॥ ६१ ॥

ददाति पश्चिमां संध्यां यः सुवर्णं धृतव्रतः।
ब्रह्मवाय्वग्निसोमानां सालोक्यमुपयाति सः ॥ ६२ ॥
जो लोग धृतव्रती होकर सायंसन्ध्याके समय सुवर्ण प्रदान करता है, वह ब्रह्मा, वायु, अग्नि और चन्द्रमाके लोकोंमें जाता है ॥ ६२ ॥

सेन्द्रेषु चैव लोकेषु प्रतिष्ठां प्राप्नुते शुभाम्।
इह लोके यशः प्राप्य शान्तपाप्मा प्रमोदते ॥ ६३ ॥
और इन्द्र सहित सभी लोकोंमें उसे शुभ प्रतिष्ठा मिलती है; इस लोकमें यश पाके पापरहित होकर प्रमुदित होता है ॥ ६३ ॥

ततः संपद्यतेऽन्येषु लोकेष्वप्रतिमः सदा।
अनावृतगतिश्चैव कामचारी भवत्युत ॥ ६४ ॥
अनन्तर वह परलोकमें सदा अप्रतिम माना जाता है; वह अनावृत गतिसे युक्त और कामचारी होता है ॥ ६४ ॥

न च क्षरति तेभ्यः स शश्वच्चैवाप्नुते महत्।
सुवर्णमक्षयं दत्त्वा लोकानाप्नोति पुष्कलान् ॥ ६५ ॥
उनका पुण्य कभी क्षीण नहीं होता, वल्कि सर्वत्र महत् शाश्वत स्थान प्राप्त होता है। अक्षय सुवर्ण दान करनेसे मनुष्य अनेक समृद्ध लोकोंको पाता है ॥ ६५ ॥

यस्तु संजनयित्वाग्निमादित्योदयनं प्रति।
दद्याद्वै व्रतमुद्दिश्य सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ६६ ॥
जो सूर्य उदय होनेके समय अग्नि जलाके व्रतके उद्देश्यसे सुवर्ण दान करता है, उसे समस्त इच्छित भोग प्राप्त होते है ॥ ६६ ॥

अग्निरित्येव तत्प्राहुः प्रदानं वै सुखावहम्।
यथेष्टगुणसंपन्नं प्रवर्तकमिति स्मृतम् ॥ ६७ ॥
ऐसा प्राचीन लोग कहा करते हैं, कि सुवर्ण अग्निस्वरूप ही है, इसलिये सूर्योदयके समय सुवर्णदान पूर्ण गुणयुक्त, ज्ञानप्रवर्त्तक और दानरोचक होनेसे सुखावह है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तः स वसिष्ठेन जामदग्न्यः प्रतापवान्।
ददौ सुवर्णं विप्रेभ्यो व्यमुच्यत च किल्बिषात् ॥ ६८ ॥
भीष्म बोले— प्रतापवान् जामदग्न्य रामने वसिष्ठका ऐसा वचन सुनके ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान किया, और उस ही कारणसे वे पापरहित हुए ॥ ६८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं सुवर्णस्य महीपते ।
प्रदानस्य फलं चैव जन्म चाग्न्यमनुत्तमम् ॥ ६९ ॥

हे महाराज युधिष्ठिर ! यह मैंने अग्निसे उत्पन्न सुवर्णके दानका उत्तम फल और सुवर्णकी उत्पत्तिका विषय तुम्हारे समीप वर्णन किया ॥ ६९ ॥

तस्मात्त्वमपि विप्रेभ्यः प्रयच्छ कनकं बहु ।
ददत्सुवर्णं नृपते किल्बिषाद्विप्रमोक्ष्यसि ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥ ३६८१ ॥

इसलिये तुम भी ब्राह्मणोंको बहुतसा सोना दान करो । हे महाराज ! तुम सुवर्ण दान करनेसे पापरहित होगे ॥ ७० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें पचासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥ ३६८१ ॥

: ८६ :

युधिष्ठिर उवाच—

उक्ताः पितामहेनेह सुवर्णस्य विधानतः ।
विस्तरेण प्रदानस्य ये गुणाः श्रुतिलक्षणाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! आपने विधानके अनुसार सुवर्णदानके गुण और श्रुतिसिद्ध लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया ॥ १ ॥

यत्तु कारणमुत्पत्तेः सुवर्णस्येह कीर्तितम् ।
स कथं तारकः प्राप्तो निधनं तद्ब्रवीहि मे ॥ २ ॥

यहां सुवर्णकी उत्पतिका कारण भी कहा; परन्तु वह तारकासुर किस प्रकारसे मारा गया ? मेरे समीप यह विषय वर्णन करिये ॥ २ ॥

उक्तः स देवतानां हि अवध्य इति पार्थिव ।
न च तस्येह ते मृत्युर्विस्तरेण प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥

हे राजन् ! पहले आपने कहा, कि वह देवताओंसे अवध्य था, यहां उसकी मृत्यु शक्य नहीं थी, तब किस प्रकार उसकी मृत्यु हुई ? उसे विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः कुरुकुलोद्वह ।
कार्त्स्न्येन तारकवधं परं कौतूहलं हि मे ॥ ४ ॥

हे कुरुकुलधुरन्धर ! मैं तुम्हारे समीप उस तारकासुरके वधका विषय विस्तारके सहित सुननेकी इच्छा करता हूं, इस विषयमें मुझे बहुत ही कौतूहल हुआ है ॥ ४ ॥

×

भीष्म उवाच—

पिप्लकृत्या राजेन्द्र देवता ऋषयस्तथा ।
कृत्तिकाश्चोदयामासुरपत्यभरणाय वै ॥ ५ ॥

भीष्म बोले– हे राजेन्द्र ! देवताओं और ऋषियोंका सब कार्य विनष्ट होनेकी स्थितिमें आने-पर उन्होंने सन्तानको पालनेके लिये कृत्तिकागणको प्रेरित किया ॥ ५ ॥

न देवतानां काचिद्धि समर्था जातवेदसः ।
एकापि शक्ता तं गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६ ॥

देवताओंके बीच कोई भी देवी अग्निके द्वारा अर्पित उस तेजस्वी गर्भका भरण पोषण करनेमें समर्थ नहीं थी; कृत्तिकागण ही निज तेजके प्रभावसे उस गर्भका भरण पोषण कर सकती थीं ॥ ६ ॥

षण्णां तासां ततः प्रीतः पावको गर्भधारणात् ।
स्वेन तेजोविसर्गेण वीर्येण परमेण च ॥ ७ ॥

अग्निदेव उन छहों कृत्तिकाओंपर अपना परमसुन्दर वीर्ययुक्त तेजके ग्रहणसे गर्भ धारण करनेके कारण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए ॥ ७ ॥

तास्तु षट्कृत्तिका गर्भं पुपुषुर्जातवेदसः ।
षट्सु वर्त्मसु तेजोऽग्नेः सकलं निहितं प्रभो ॥ ८ ॥

वे छहों कृत्तिकाएं जातवेदाके अर्पित गर्भको धारण करने लगीं । प्रभो ! हुताशनका समस्त तेज छः कृत्तिकाओंके गर्भमें जानेसे छः स्थानमें स्थित हुआ था ॥ ८ ॥

ततस्ता वर्धमानस्य कुमारस्य महात्मनः ।
तेजसाभिपरीताङ्ग्यो न क्वचिच्छर्म लेभिरे ॥ ९ ॥

अनन्तर बढनेवाले महानुभाव कुमारका तेज उनके सब अवयवोंमें व्याप्त हुआ, उन्हें किसी स्थानमें भी सुख प्राप्त न हुआ ॥ ९ ॥

ततस्तेजःपरीताङ्ग्यः सर्वाः काल उपस्थिते ।
समं गर्भं सुषुविरे कृत्तिकास्ता नरर्षभ ॥ १० ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! अनन्तर प्रसवका समय उपस्थित होनेपर तेजसे व्याप्त अंगवाली उन कृत्तिकाओंने एक ही समयमें उस गर्भको उत्पन्न किया ॥ १० ॥

ततस्तं षडधिष्ठानं गर्भमेकत्वमागतम् ।
पृथिवी प्रतिजग्राह कान्तीपुरसमीपतः ॥ ११ ॥

प्रसवके अनन्तर वह छः अधिष्ठानोंमें वर्धित किया हुआ गर्भ एकत्र हो गया । सुवर्णके समीपसे उस बालकको पृथ्वीने ग्रहण किया ॥ ११ ॥

स गर्भो दिव्यसंस्थानो दीप्तिमान्पावकप्रभः ।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधे प्रियदर्शनः ॥ १२ ॥

दीप्यमान अग्निके समान प्रकाशित वह दिव्यावयव प्रियदर्शन बालक दिव्य सरकंडेके वनमें वर्द्धित होने लगा ॥ १२ ॥

ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालं वह्निसमद्युतिम् ।
जातस्नेहाश्च सौहार्दात्पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ १३ ॥

कृत्तिकाओंने उस सूर्यसदृश तेजसे युक्त सन्तानको देखा; देखते ही पुत्रस्नेह और सुहृदताके वशमें होकर वे उसे अपने स्तनोंका दूध पिलाके पालने लगीं ॥ १३ ॥

अभवत्कार्त्तिकेयः स त्रैलोक्ये सचराचरे ।
स्कन्नत्वात्स्कन्दतां चाप गुहावासाद्गुहोऽभवत् ॥ १४ ॥

वह बालक कृत्तिकाओंके द्वारा प्रतिपालित होनेपर चराचर तीनों लोकोंके बीच कार्त्तिकेय नामसे विख्यात हुआ । गङ्गाके गर्भसे स्खलित होनेसे स्कन्द और गुहामें वास करनेसे उसका गुह नाम हुआ था ॥ १४ ॥

ततो देवास्त्रयस्त्रिंशद्दिशश्च सदिगीश्वराः ।
रुद्रो धाता च विष्णुश्च यज्ञः पूषार्यमा भगः ॥ १५ ॥

अनन्तर तैंतीस देववृन्द, दिगीश्वरके सहित दसों दिशाएं, रुद्र, धाता, विष्णु, यज्ञ, पूषा, अर्यमा, भग, ॥ १५ ॥

अंशो मित्रश्च साध्याश्च वसवो वासवोऽश्विनौ ।
आपो वायुर्नभश्चन्द्रो नक्षत्राणि ग्रहा रविः ॥ १६ ॥

अंश, मित्र, साध्यगण, वसुगण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार, जल, वायु, आकाश, चन्द्रमा, नक्षत्रगण, सारे ग्रह, सूर्य ॥ १६ ॥

पृथग्भूतानि चान्यानि यानि देवार्पणानि वै ।
आजग्मुस्तत्र तं द्रष्टुं कुमारं ज्वलनात्मजम्
ऋषयस्तुष्टुवुश्चैव गन्धर्वाश्च जगुस्तथा ॥ १७ ॥

और दूसरे अनेक देवताओंके आश्रित प्राणी, सब उस अग्निपुत्र कुमारको देखनेके निमित्त वहां आये । ऋषि लोग स्तुति करने लगे और गन्धर्वोंने गीत गाना आरम्भ किया ॥१७॥

षडाननं कुमारं तं द्विषडक्षं द्विजप्रियम् ।
पीनांसं द्वादशभुजं पावकादित्यवर्चसम् ॥ १८ ॥

ब्राह्मणोंके प्रिय उस कुमारके छः मुख, बारह नेत्र, बारह भुजाएं, मोटे कंधे, तथा अग्नि और सूर्यसदृश तेज था ॥ १८ ॥

शयानं शरगुल्मस्थं दृष्ट्वा देवाः सहर्षिभिः ।
लेभिरे परमं हर्षं मेनिरे चासुरं हतम् ॥ १९ ॥

शरस्तम्भमें सोये हुए कुमारको देखकर महातेजस्वी ऋषियोंके सहित देवता लोग परम हर्षित हुए और उन्होंने तारकासुरको मारा गया समझा ॥ १९ ॥

ततो देवाः प्रियाण्यस्य सर्व एव समाचरन् ।
क्रीडतः क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणांश्च ह ॥ २० ॥

अनन्तर देवताओंने सब ठौरसे कुमारके लिये समस्त प्रियवस्तु ला दिया । जब वह खेलने लगे, तब देवताओंने उन्हें खेलने योग्य अनेक प्रकारके पक्षी दिये ॥ २० ॥

सुपर्णोऽस्य ददौ पत्रं मयूरं चित्रबर्हिणम् ।
राक्षसाश्च ददुस्तस्मै वराहमहिषावुभौ ॥ २१ ॥

और गरुडने विचित्र वर्णवाले पंखोंसे युक्त मयूरको ला दिया, राक्षसोंने वराह और भैंसा ये दो पशु दिये ॥ २१ ॥

कुक्कुटं चाग्निसंकाशं प्रददौ वरुणः स्वयम् ।
चन्द्रमाः प्रददौ मेषमादित्यो रुचिरां प्रभाम् ॥ २२ ॥

वरुणने स्वयं उन्हें अग्निके समान एक मुर्गा दिया । चन्द्रमाने मेढा दिया और सूर्यने उन्हें मनोहर प्रभा दी ॥ २२ ॥

गवां माता च गा देवी ददौ शतसहस्रशः ।
छागमग्निर्गुणोपेतमिला पुष्पफलं बहु ॥ २३ ॥

गौओंकी माता सुरभिने उन्हें एक लाख गौएं दान दीं । अग्निने गुणवान् बकरा दिया और इलाने बहुत सुन्दर फूल तथा फल दिये ॥ २३ ॥

सुधन्वा शकटं चैव रथं चामितकूबरम् ।
वरुणो वारुणान्दिव्यान्भुजंगान्प्रददौ शुभान् ।
सिंहान्सुरेन्द्रो व्याघ्रांश्च द्वीपिनोऽन्यांश्च दंष्ट्रिणः ॥ २४ ॥

सुधन्वाने उन्हें शकट तथा अनेक कूबरयुक्त रथ दिया । वरुणने दिव्य सुन्दर हाथी और शुभ भुजंग दिये; देवराजने सिंह और शार्दूल, तथा द्विपीनने दूसरे अनेक भांतिके हिंसक प्राणी दिये ॥ २४ ॥

श्वापदांश्च बहून्घोरांश्छत्राणि विविधानि च ।
राक्षसासुरसंघाश्च येऽनुजग्मुस्तमीश्वरम् ॥ २५ ॥

अनेक प्रकारके घोर श्वापद और विविध छत्र प्रदान किये । राक्षस तथा असुरगण उस कुमारके अनुगत हुए ॥ २५ ॥

वर्धमानं तु तं दृष्ट्वा प्रार्थयामास तारकः ।
उपायैर्बहुभिर्हन्तुं नाशकच्चापि तं विभुम् ॥ २६ ॥

तारकासुरने उसे बढते हुए देखके अनेक प्रकारके उपायोंसे मारनेकी चेष्टा की; परन्तु वह उस सर्वशक्तिमान् कुमारको मारनेमें समर्थ न हुआ ॥ २६ ॥

सेनापत्येन तं देवाः पूजयित्वा गुहालयम् ।
शशंसुर्विप्रकारं तं तस्मै तारककारितम् ॥ २७ ॥

देवताओंने उस गुहावासीको सेनापतिका पद देके पूजा करके, तारकासुरके उपद्रवके विषय कहे ॥ २७ ॥

स विवृद्धो महावीर्यो देवसेनापतिः प्रभुः ।
जघानामोघया शक्त्या दानवं तारकं गुहः ॥ २८ ॥

अत्यंत पराक्रमी देवसेनापति प्रभु गुहने वर्द्धित होकर तारकासुरको अपनी अमोघ शक्तिसे मार डाला ॥ २८ ॥

तेन तस्मिन्कुमारेण क्रीडता निहतेऽसुरे ।
सुरेन्द्रः स्थापितो राज्ये देवानां पुनरीश्वरः ॥ २९ ॥

जब कुमारने खेल करते हुए उस असुरको मार दिया, तब देवराज इन्द्र फिर देवताओंके राज्यपर स्थापित हुए ॥ २९ ॥

स सेनापतिरेवाथ बभौ स्कन्दः प्रतापवान् ।
ईशो गोप्ता च देवानां प्रियकृच्छंकरस्य च ॥ ३० ॥

अनन्तर प्रतापशाली देवसेनापति स्कन्द देवताओंके नियन्ता तथा रक्षक और शङ्करके प्रियकारी होकर सुशोभित हुए ॥ ३० ॥

हिरण्यमूर्तिर्भगवानेष एव च पावकिः ।
सदा कुमारो देवानां सेनापत्यमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥

भगवान अग्निपुत्र स्कन्द सुवर्णमय विग्रह धारण करते हैं; उन्होंने सदा कुमारावस्थामें रहकर देवसेनापतिका पद पाया था ॥ ३१ ॥

तस्मात्सुवर्णं मङ्गल्यं रत्नमक्षय्यमुत्तमम् ।
सहजं कार्त्तिकेयस्य वह्नेस्तेजः परं मतम् ॥ ३२ ॥

अग्निके परम तेज माने गये तथा कार्त्तिकेयके संग उत्पन्न होनेसे सुवर्ण मंगलकर, श्रेष्ठ और अक्षय रत्न है ॥ ३२ ॥

एवं रामाय कौरव्य वसिष्ठोऽकथयत्पुरा ।
तस्मात्सुवर्णदानाय प्रयतस्व नराधिप ॥ ३३ ॥

हे कुरुनन्दन ! पहले समयमें वसिष्ठ मुनिने परशुरामसे यह कथा कही थी । हे नरनाथ ! इसलिये तुम सुवर्ण दानके लिये सदा यत्नवान रहो ॥ ३३ ॥

रामः सुवर्णं दत्त्वा हि विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ।
त्रिविष्टपे महत्स्थानमवापासुलभं नरैः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ ३७१५ ॥

परशुरामने सुवर्णका दान करनेसे सब पापोंसे मुक्त होके, सुरपुरमें मनुष्योंके लिये अत्यंत दुर्लभ स्थान पाया था ॥ ३४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ ३७१५ ॥

: ८७ :

युधिष्ठिर उवाच—

चातुर्वर्ण्यस्य धर्मात्मन्धर्मः प्रोक्तस्त्वयानघ ।
तथैव मे श्राद्धविधिं कृत्स्नं प्रब्रूहि पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे धर्मात्मन् अनघ राजन् ! आपने जिस प्रकार चारों वर्णोंके धर्म कहे हैं, वैसे ही मेरे निकट श्राद्धकी समस्त विधि वर्णन करिये ॥ १ ॥

वैशंपायन उवाच—

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो भीष्मः शांतनवस्तदा ।
इमं श्राद्धविधिं कृत्स्नं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— शन्तनुपुत्र भीष्म उस समय युधिष्ठिरका ऐसा प्रश्न सुनके श्राद्धकी सब विधि कहने लगे ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

शृणुष्वावहितो राजञ्श्राद्धकल्पमिमं शुभम् ।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयं पितृयज्ञं परंतप ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे परन्तप पृथ्वीनाथ ! तुम सावधान होके इस धन, यश और पुत्रदायक शुभ पितृयज्ञ श्राद्धकर्मकी विधि सुनो ॥ ३ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
पिशाचकिंनराणां च पूज्या वै पितरः सदा ॥ ४ ॥

देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, पिशाच और किन्नर प्रभृति सबके ही लिये पितृगण सदा पूजनीय हैं ॥ ४ ॥

पितॄन्पूज्यादितः पश्चाद्देवान्संतर्पयन्ति वै ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पुरुषः पूजयेत्सदा ॥ ५ ॥

पहले पितरोंकी पूजा करके पीछे सब कोई देवताओंको तृप्त किया करते हैं; इसलिये पुरुषको सदा सब प्रकार प्रयत्नपूर्वक पितरोंकी पूजा करनी योग्य है ॥ ५ ॥

अन्वाहार्यं महाराज पितॄणां श्राद्धमुच्यते ।
तच्चामिषेण विधिना विधिः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! पितरोंकी तृप्तिके निमित्त जो श्राद्ध किया जाता है, उसे अन्वाहार्य कहते हैं, इसलिये आमिष विधिसे उसे पहले करना चाहिये ॥ ६ ॥

सर्वेष्वहःसु प्रीयन्ते कृतैः श्राद्धैः पितामहाः ।
प्रवक्ष्यामि तु ते सर्वांस्तिथ्यां तिथ्यां गुणागुणान् ॥ ७ ॥

सभी दिनोंमें श्राद्ध करनेसे पितामहगण प्रसन्न होते हैं; इस हेतु तुमसे तिथि और आतिथ्यके गुण, दोष तथा समय कहता हूं ॥ ७ ॥

येष्वहःसु कृतैः श्राद्धैर्यत्फलं प्राप्यतेऽनघ ।
तत्सर्वं कीर्तयिष्यामि यथावत्तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

हे पापरहित ! जिन दिनोंमें श्राद्ध करनेसे जो जो सब फल प्राप्त होते हैं, वह सब तुम्हारे समीप पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ ८ ॥

पितॄनर्च्य प्रतिपदि प्राप्नुयात्स्वगृहे स्त्रियः ।
अभिरूपप्रजायिन्यो दर्शनीया बहुप्रजाः ॥ ९ ॥

प्रतिपदा तिथिको पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य निज गृहमें सुन्दरी तथा बहुसन्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्री पाता है ॥ ९ ॥

स्त्रियो द्वितीयां जायन्ते तृतीयायां तु वन्दिनः ।
चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवो भवन्ति बहवो गृहे ॥ १० ॥

द्वितीयाको श्राद्ध करनेसे कन्याएं जन्मती हैं । तृतीया तिथिको पितरोंको पिण्डदान करनेसे मनुष्यको वन्दनीय संतति मिलती है । चतुर्थीको श्राद्ध करनेसे गृहमें अनेक प्रकारके छोटे पशु होते हैं ॥ १० ॥

पञ्चम्यां बहवः पुत्रा जायन्ते कुर्वतां नृप ।
कुर्वाणास्तु नराः षष्ठ्यां भवन्ति द्युतिभागिनः ॥ ११ ॥

हे राजन् ! पञ्चमीको श्राद्ध करनेवालोंके बहुतसे पुत्र जन्मते हैं; षष्ठीमें जो लोग श्राद्ध करते हैं, वे तेजस्वी होते हैं ॥ ११ ॥

कृषिभागी भवेच्छ्राद्धं कुर्वाणः सप्तमीं नृप ।
अष्टम्यां तु प्रकुर्वाणो वाणिज्ये लाभमाप्नुयात् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! सप्तमी तिथिको श्राद्ध करनेवाला कृषिमें लाभ भागी हुआ करता है । अष्टमीको जो श्राद्ध करता है, उसे व्यापारमें लाभ होता है ॥ १२ ॥

नवम्यां कुर्वतः श्राद्धं भवत्येकशफं बहु ।
विवर्धन्ते तु दशमीं गावः श्राद्धानि कुर्वतः ॥ १३ ॥
नवमीको श्राद्ध करनेवालोंको कई भांतिके एक खुरवाले घोडे आदि पशु प्राप्त होते हैं। दशमीको श्राद्ध करनेवालेके घरमें गौएं विशेष रूपसे वर्द्धित होती हैं ॥ १३ ॥

कुप्यभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वन्नेकादशीं नृप ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते तस्य वेश्मनि ॥ १४ ॥
हे राजन् ! एकादशी तिथिको श्राद्ध करनेसे मनुष्य वस्त्रपात्र आदि धनसे युक्त होता और उसके गृहमें ब्रह्मवर्चस्वी पुत्र जन्मते हैं ॥ १४ ॥

द्वादश्यामीहमानस्य नित्यमेव प्रदृश्यते ।
रजतं बहु चित्रं च सुवर्णं च मनोरमम् ॥ १५ ॥
द्वादशीको श्राद्ध करनेवालेके घरमें सदा बहुतसा धन, चांदी तथा मनोहर सुवर्ण दीखता है ॥ १५ ॥

ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठः कुर्वञ्श्राद्धं त्रयोदशीम् ।
अवश्यं तु युवानोऽस्य प्रमीयन्ते नरा गृहे ॥ १६ ॥
जो त्रयोदशी तिथिको श्राद्ध करता है, वह स्वजनोंके बीच श्रेष्ठ हुआ करता है और उसके गृहमें अवश्यही सब युवा पुरुष पञ्चत्वको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

युद्धभागी भवेन्मर्त्यः श्राद्धं कुर्वंश्चतुर्दशीम् ।
अमावास्यां तु निवपन्सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥ १७ ॥
चतुर्दशीको श्राद्ध करनेसे मनुष्य युद्धभागी होता है। अमावस्या तिथिको श्राद्ध करनेसे मनुष्यके सर्वकाम अक्षय प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धकर्मणि तिथ्यः स्युः प्रशस्ता न तथेतराः ॥ १८ ॥
कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीको छोडके दशमीसे लेकर आनेवाली सब तिथियां श्राद्धकर्ममें श्रेष्ठ हैं, अन्य तिथियां वैसी श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ १८ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ १९ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥ ३७३४ ॥
जैसे पहले (शुक्ल) पक्षसे दूसरा (कृष्ण) पक्ष श्रेष्ठ है, वैसे ही श्राद्धकर्मके विषयमें पूर्वाह्णसे अपराह्ण विशेषरूपसे श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सत्तासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८७ ॥ ३७३४ ॥

: ८८ :

युधिष्ठिर उवाच—

किंस्विद्दत्तं पितृभ्यो वै भवत्यक्षयमीश्वर ।
किं हविश्चिररात्राय किमानन्त्याय कल्पते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! पितरोंके उद्देश्यसे कौन वस्तु दान करनेपर अक्षय होती है ? किस वस्तुके दानसे सदाके लिये तथा किसके दानसे अनन्त काल तक तृप्त रहते हैं ? ॥१॥

भीष्म उवाच—

हवींषि श्राद्धकल्पे तु यानि श्राद्धविदो विदुः ।
तानि मे शृणु काम्यानि फलं चैषां युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! श्राद्धवित् पण्डित लोग श्राद्धकल्पमें जिसे हविरूपी जानते हैं, उन काम्यविषयों तथा उनके फल मेरे समीप सुनो ॥ २ ॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैस्तथा ।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते श्राद्धेन पितरो नृप ॥ ३ ॥

हे राजन् ! तिल, व्रीहि, यव, उडद, जल और फलमूलके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरगण एक महीनेतक प्रसन्न हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

वर्धमानतिलं श्राद्धमक्षयं मनुरब्रवीत् ।
सर्वेष्वेव तु भोज्येषु तिलाः प्राधान्यतः स्मृताः ॥ ४ ॥

मनुने कहा है कि जिस श्राद्धमें तिलका प्रमाण अधिक रहता है, वह श्राद्ध अक्षय होता है । श्राद्धके समस्त भोजनकी वस्तुओंके बीच तिल सबसे मुख्य कहा गया है ॥ ४ ॥

द्वौ मासौ तु भवेत्तृप्तिर्मत्स्यैः पितृगणस्य ह ।
त्रीन्मासानाविकेनाहुश्चातुर्मास्यं शशेन तु ॥ ५ ॥

मत्स्यके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरगण दो महीनेतक तृप्त रहते हैं । मेढेके मांससे श्राद्ध करनेपर तीन महीनेतक और शशके मांससे पितरगण चार महीनेतक प्रसन्न हुआ करते हैं ॥ ५ ॥

आजेन मासान्प्रीयन्ते पञ्चैव पितरो नृप ।
वाराहेण तु षण्मासान्सप्त वै शाकुनेन तु ॥ ६ ॥

हे राजन् ! बकरेके मांससे श्राद्ध करनेसे पितर लोग पांच महीनेतक प्रसन्न रहते हैं । वराहके मांससे श्राद्ध करनेपर पितरगण छः महीनेतक और शाकुनमांससे श्राद्ध करनेसे सात महीनेतक तृप्त रहते हैं ॥ ६ ॥

×

मासानष्टौ पार्षतेन रौरवेण नवैव तु ।
गवयस्य तु मांसेन तृप्तिः स्याद्दशमासिकी ॥ ७ ॥

चित्रमृगके मांससे श्राद्ध करनेपर आठ महीने और कृष्णसार मृगके मांससे श्राद्ध करे तो पितरगण प्रसन्न होके नव महीनेतक निवास करते हैं, गवय मांससे श्राद्ध करनेपर पितरोंको दस महीनेकी तृप्ति होती है ॥ ७ ॥

मासानेकादश प्रीतिः पितॄणां माहिषेण तु ।
गव्येन दत्ते श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते ॥ ८ ॥

भैंसेके मांससे श्राद्ध करनेपर पितरोंको ग्यारह महीनेकी तृप्ति हुआ करती है । ऐसा वर्णित है, कि गायके दहीके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरोंकी एक वर्षतक तृप्ति होती है ॥ ८ ॥

यथा गव्यं तथा युक्तं पायसं सर्पिषा सह ।
वाध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ ९ ॥

जैसा गायके दहीका फल है, घृतके सहित पायस भी वैसा ही उपयोगी है । महोक्ष, पक्षि-विशेष वा बकरा विशेषके मांसके द्वारा पितरोंको बारह वर्षकी तृप्ति होती है ॥ ९ ॥

आनन्त्याय भवेद्दत्तं खड्गमांसं पितृक्षये ।
कालशाकं च लौहं चाप्यानन्त्यं छाग उच्यते ॥ १० ॥

पितृयज्ञमें खड्गमांस दिये जानेपर आनन्त्यकी हेतु हुआ करता है । कालशाक, काञ्चन-वृक्षके पुष्प आदि और बकरे आनन्त्य रूपसे वर्णित होते हैं ॥ १० ॥

गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति पितृगीता युधिष्ठिर ।
सनत्कुमारो भगवान्पुरा मय्यभ्यभाषत ॥ ११ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें पितरों द्वारा गाई हुई गाथाका गान विद्वान् लोग करते हैं; पहले समयमें भगवान सनत्कुमारने मेरे समीप यह समस्त गाथा कही थी ॥ ११ ॥

अपि नः कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।
मघासु सर्पिषा युक्तं पायसं दक्षिणायने ॥ १२ ॥

हमारे निज वंशमें कोई ऐसा पुरुष नहीं होगा क्या, जो त्रयोदशीको हम लोगोंका श्राद्ध करके और दक्षिणायनके मघा नक्षत्रको घृतयुक्त पायस दान करेगा ? ॥ १२ ॥

आजेन वापि लौहेन मघास्वेव यतव्रतः ।
हस्तिच्छायासु विधिवत्कर्णव्यजनवीजितम् ॥ १३ ॥

मघा नक्षत्रमें यतव्रती होकर हाथीकी छायामें बैठकर उसके कानरूपी व्यजनसे हवा लेकर अन्नका पायस अथवा लौहशाकसे हमारा विधिपूर्वक श्राद्ध करेगा ? ॥ १३ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यत्रासौ प्रथितो लोकेष्वक्षय्यकरणो वटः ॥ १४ ॥
बहुतसे पुत्रोंके लिये कामना करनी योग्य है, क्योंकि क्या जाने उनमेंसे एक पुत्र भी गयाधाममें जाय, जहांपर लोकोंमें प्रसिद्ध अक्षयवट विख्यात है, जो श्राद्धके फलको अक्षय बनाता है ॥ १४ ॥

आपो मूलं फलं मांसमन्नं वापि पितृक्षये।
यत्किंचिन्मधुसंमिश्रं तदानन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥ ३७४९ ॥
पितरोंकी क्षय तिथिको जल, मूल, फल, मांस और अन्न प्रभृति मधुमिश्रित जो कुछ वस्तु दी जाती है, वही अनन्त-फलजनक रूपसे कल्पित हुआ करती है ॥ १५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अट्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८८ ॥ ३७४९॥

: ८९ :

भीष्म उवाच—
यमस्तु यानि श्राद्धानि प्रोवाच शशबिन्दवे।
तानि मे शृणु काम्यानि नक्षत्रेषु पृथक्पृथक् ॥ १ ॥
भीष्म बोले– यमने शशबिन्दुसे जो सब श्राद्ध विषय कहा था, उस पृथक् पृथक् नक्षत्रोंमें विहित काम्य श्राद्धका विषय मेरे समीप सुनो ॥ १ ॥

श्राद्धं यः कृत्तिकायोगे कुर्वीत सततं नरः।
अग्नीनाधाय सापत्यो यजेत विगतज्वरः ॥ २ ॥
जो मनुष्य कृत्तिका नक्षत्रमें सदा अग्निकी प्रतिष्ठापना करके पुत्रसहित श्राद्ध करता है वह अपत्योंके सहित रोग और शोकरहित होता है ॥ २ ॥

अपत्यकामो रोहिण्यामोजस्कामो मृगोत्तमे।
क्रूरकर्मा ददच्छ्राद्धमार्द्रायां मानवो भवेत् ॥ ३ ॥
पुत्रकामनावाला मनुष्य रोहिणी नक्षत्रमें और तेजका अभिलाषी मनुष्य मृगशिरा नक्षत्रमें श्राद्ध करे। आर्द्रा नक्षत्रमें श्राद्धका दान करनेसे मनुष्य क्रूरकर्मा होता है ॥ ३ ॥

कृषिभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्श्राद्धं पुनर्वसौ।
पुष्टिकामोऽथ पुष्येण श्राद्धमीहेत मानवः ॥ ४ ॥
पुनर्वसु नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य कृषिभागी हुआ करता है। पुष्टिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य पुष्य नक्षत्रमें श्राद्ध करे ॥ ४ ॥

आश्लेषायां ददच्छ्राद्धं वीरान्पुत्रान्प्रजायते ।
ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठो मघासु श्राद्धमावपन् ॥ ५ ॥

जो मनुष्य आश्लेषा नक्षत्रमें श्राद्ध करता है, उसके वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं । मघा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवालेको स्वजनोंके बीच श्रेष्ठता प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

फल्गुनीषु ददच्छ्राद्धं सुभगः श्राद्धदो भवेत् ।
अपत्यभागुत्तरासु हस्तेन फलभाग्भवेत् ॥ ६ ॥

पूर्वाफल्गुनी नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे श्राद्धकर्ता सौभाग्यशाली होता है । उत्तराफल्गुनी नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाला पुत्रवान् हुआ करता है । हस्त नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य अभीष्ट फलका भोगी होता है ॥ ६ ॥

चित्रायां तु ददच्छ्राद्धं लभेद्रूपवतः सुतान् ।
स्वातियोगे पितॄनर्च्य वाणिज्यमुपजीवति ॥ ७ ॥

चित्रा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाला रूपवान् पुत्रोंको पाता है । स्वाती नक्षत्रमें पितरोंकी अर्चना करनेसे पुरुष वाणिज्य उपजीवी होता है ॥ ७ ॥

बहुपुत्रो विशाखासु पित्र्यमीहन्भवेन्नरः ।
अनुराधासु कुर्वाणो राजचक्रं प्रवर्तयेत् ॥ ८ ॥

पुत्रकी चाहवाला मनुष्य विशाखा नक्षत्रमें पितृयज्ञ करनेसे बहुतसे पुत्र पाता है । अनुराधा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य राजमण्डलका प्रवर्तक होता है ॥ ८ ॥

आधिपत्यं व्रजेन्मर्त्यो ज्येष्ठायामपवर्जयन् ।
नरः कुरुकुलश्रेष्ठ श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ९ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! ज्येष्ठा नक्षत्रमें श्रद्धा तथा इन्द्रिय संयमपूर्वक पितृतर्पण करनेसे मनुष्यको आधिपत्य प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

मूले त्वारोग्यमर्च्छेत यशोऽषाढास्वनुत्तमम् ।
उत्तरासु त्वषाढासु वीतशोकश्चरेन्महीम् ॥ १० ॥

मूल नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेसे आरोग्यता प्राप्त होती है । श्रद्धा–दमसे युक्त पूर्वाषाढा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्यको उत्तम यश मिलता है । उत्तराषाढा नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शोकरहित होके पृथ्वीमण्डलपर विचरता है ॥ १० ॥

श्राद्धं त्वभिजिता कुर्वन्विद्यां श्रेष्ठामवाप्नुयात् ।
श्रवणे तु ददच्छ्राद्धं प्रेत्य गच्छेत्परां गतिम् ॥ ११ ॥

उत्तराषाढाके शेषपाद और श्रवणके प्रथम चारों दण्ड, अभिजित् नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवालेको श्रेष्ठ विद्या प्राप्त होती है । श्रवण नक्षत्रमें श्राद्ध दान करनेवालेको मृत्युके पश्चात् परलोकमें सद्गति मिलती है ॥ ११ ॥

राज्यभागी धनिष्ठायां प्राप्नुयान्नापदं नरः ।
नक्षत्रे वारुणे कुर्वन्भिषक्सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

धनिष्ठा नक्षत्रमें पितृयज्ञ करनेवाला मनुष्य सदा निष्कंटक होता है । शतभिषा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे भिषक्‌सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

पूर्वप्रोष्ठपदाः कुर्वन्बहु विन्देदजाविकम् ।
उत्तरास्वथ कुर्वाणो विन्दते गाः सहस्रशः ॥ १३ ॥

पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य बहुतसे बकरे और मेषादि धन पाता है । उत्तराभाद्रपदामें श्राद्ध करनेसे मनुष्यको सहस्रों गौएं मिलती हैं ॥ १३ ॥

बहुरूप्यकृतं वित्तं विन्दते रेवतीं श्रितः ।
अश्वांश्चाश्वयुजे वेत्ति भरणीष्वायुरुत्तमम् ॥ १४ ॥

रेवती नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य सोना चांदीके अतिरिक्त दूसरे नाना प्रकारके धन पाता है । अश्विनी नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे उत्तम घोडे और भरणी नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको उत्तम आयु प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

इमं श्राद्धविधिं श्रुत्वा शशबिन्दुस्तथाकरोत् ।
अक्लेशेनाजयच्चापि महीं सोऽनुशशास ह ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥ ३७६४ ॥

शशबिन्दुने इस श्राद्धविधिको सुनके वैसा ही अनुष्ठान किया और उन्होंने बिना क्लेशके ही पृथ्वीमण्डलको जीतके उसका शासन किया था ॥ १५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८९ ॥ ३७६४ ॥

: ९० :

युधिष्ठिर उवाच—

कीदृशेभ्यः प्रदातव्यं भवेच्छ्राद्धं पितामह ।
द्विजेभ्यः कुरुशार्दूल तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे कुरुकुलश्रेष्ठ पितामह ! कैसे ब्राह्मणोंको दान करनेसे श्राद्ध सिद्ध होता है, उसकी आप मेरे समीप व्याख्या करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित् ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्याय्यमाहुः परीक्षणम् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे महाराज ! दान धर्मके जाननेवाले क्षत्रियको देवकार्यमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनी योग्य नहीं है, किन्तु ऋषियोंने ऐसा कहा है, कि पितृकार्यमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनी न्यायपूर्वक योग्य है ॥ २ ॥

देवताः पूजयन्तीह दैवेनैवेह तेजसा ।
उपेत्य तस्माद्देवेभ्यः सर्वेभ्यो दापयेन्नरः ॥ ३ ॥

देवता अपने दैव तेजसेही इस जगतमें ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं; इसलिये देवताओंके उद्देश्यसे सब ब्राह्मणोंके पास जाकर उन्हें दान देना उचित है ॥ ३ ॥

श्राद्धे त्वथ महाराज परीक्षेद्ब्राह्मणान्बुधः ।
कुलशीलवयोरूपैर्विद्ययाभिजनेन च ॥ ४ ॥

परन्तु विद्वान् मनुष्य श्राद्धके समय कुल, शील, अवस्था, रूप, विद्या और मर्यादाके सहारे ब्राह्मणोंकी परीक्षा करे ॥ ४ ॥

एषामन्ये पङ्क्तिदूषास्तथान्ये पङ्क्तिपावनाः ।
अपाङ्क्तेयास्तु ये राजन्कीर्तयिष्यामि ताञ्शृणु ॥ ५ ॥

हे महाराज ! ब्राह्मणोंके बीच कोई कोई पंक्तिदूषक और कोई पंक्तिपावन हैं; उनमेंसे दुष्कर्म आदिसे जो लोग पांतिबाहर हैं, उनका विषय कहता हूं, सुनो ॥ ५ ॥

कितवो भ्रूणहा यक्ष्मी पशुपालो निराकृतिः ।
ग्रामप्रेष्यो वार्धुषिको गायनः सर्वविक्रयी ॥ ६ ॥

जुआरी, भ्रूणहत्यारा, यक्ष्मरोगग्रस्त, पशुपालक, अध्ययनादिवर्जित, गांवका हरकारा, वार्द्धुषिक अर्थात् वृद्धिके निमित्त धनका प्रयोग करनेवाला, गायक, सर्वविक्रयी, ॥ ६ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
सामुद्रिको राजभृत्यस्तैलिकः कूटकारकः ॥ ७ ॥

दूसरोंका स्थान जलानेवाला, विष देनेवाला, अपनी माताद्वारा पतिके जीवित रहते ही दूसरे पतिसे उत्पन्न किये पुत्रके घर भोजन करनेवाला, सोमविक्रयी, सामुद्रिक, राजसेवक, तेलीका कर्म करनेवाला, झूठी गवाही देनेवाला ॥ ७ ॥

पित्रा विवदमानश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ।
अभिशस्तस्तथा स्तेनः शिल्पं यश्चोपजीवति ॥ ८ ॥

पिताके संग विवाद करनेवाला, जिसके गृहमें उपपति है वैसा पुरुष, कलंकित, चोर, जो पुरुष शिल्पकार्यके सहारे जीवन धारण करता है ॥ ८ ॥

पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक्पारदारिकः ।
अव्रतानामुपाध्यायः काण्डपृष्ठस्तथैव च ॥ ९ ॥

वेषान्तरधारी, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलंपट, व्रतरहित मनुष्योंका उपाध्याय, शस्त्रजीवी ॥ ९ ॥

श्वभिर्यश्च परिक्रामेद्यः शुना दष्ट एव च।
परिवित्तिश्च यश्च स्याद्दुश्चर्मा गुरुतल्पगः।
कुशीलवो देवलको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ॥ १० ॥

जो पुरुष कुत्तेके सहारे मृगया करता है, जिसे कुत्तेने काटा हो, जेठे भाईके कुवारे रहते यदि लहुरा ब्याह करे तो वह परिवेत्ता हुआ करता है, चर्मरोगी, गुरुपत्नीगामी, नटका काम करनेवाला, देवमंदिरमें पूजासे जीविका करनेवाला, कुशीवल और जो पुरुष नक्षत्र निरूपण करके जीविका निर्वाह करता है, येही पांतिसे बाहर हैं ॥ १० ॥

एतानिह विजानीयादपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान्।
शूद्राणामुपदेशं च ये कुर्वन्त्यल्पचेतसः ॥ ११ ॥

जो अल्पबुद्धिवाले ब्राह्मण शूद्रोंको वेदका उपदेश करते हैं, उन्हें और पहले कहे हुए अधम ब्राह्मणोंको पांतिबाहर जानो ॥ ११ ॥

षष्टिं काणः शतं षण्ढः श्वित्री यावत्प्रपश्यति।
पङ्क्त्यां समुपविष्टायां तावद्दूषयते नृप ॥ १२ ॥

हे महाराज ! यदि काना पुरुष ब्राह्मणोंकी पांतिमें बैठे, तो वह साठ ब्राह्मणोंको दूषित करता है; नपुंसक पुरुष सौ ब्राह्मणोंको अपवित्र करता है और सफेद कोढका रोगी पंक्तिमें जहांतक देखता है, उतनी दूरके ब्राह्मणोंको दूषित करता है ॥ १२ ॥

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥ १३ ॥

जो सिरपर पगडी– टोपी रखकर खाते, जो दक्षिणमुख होके भोजन करते तथा जो जूता पहरके खाता है, उनका वह सब भोजन आसुर जानो ॥ १३ ॥

असूयता च यद्दत्तं यच्च श्रद्धाविवर्जितम्।
सर्वं तदसुरेन्द्राय ब्रह्मा भागमकल्पयत् ॥ १४ ॥

जो असूयावशसे दिया जाय और श्रद्धाविवर्जित रूपसे दान किया जाता है, ब्रह्माने असुरेन्द्र बलिके निमित्त उस समस्त भागकी निश्चित कल्पना की है ॥ १४ ॥

श्वानश्च पङ्क्तिदूषाश्च नावेक्षेरन्कथंचन।
तस्मात्परिश्रिते दद्यात्तिलांश्चान्ववकीरयेत् ॥ १५ ॥

कुत्ते और पंक्तिदूषित ब्राह्मण किसी प्रकार श्राद्धको न देखने पावें, इस ही निमित्त आवृत स्थानमें पितरोंके उद्देश्यसे दान करे और वहां सब ओर तिल छींटे ॥ १५ ॥

तिलादाने च क्रव्यादा ये च क्रोधवशा गणाः ।
यातुधानाः पिशाचाश्च विप्रलुम्पन्ति तद्धविः ॥ १६ ॥

जो श्राद्ध बिना तिलके किया जाता है, मांस खानेवाले क्रोधी जीव, राक्षस और पिशाचगण उस श्राद्धके हविको लुप्त किया करते हैं ॥ १६ ॥

यावद्ध्यपङ्क्त्यः पङ्क्त्यां वै भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावत्फलाद्भ्रंशयति दातारं तस्य बालिशम् ॥ १७ ॥

अपांक्तेय ब्राह्मण पांतिके बीच जितने भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको देखता है, वह कर्त्तव्य-विमूढ दाताका उतने परिमाणसे फल भ्रष्ट किया करता है ॥ १७ ॥

इमे तु भरतश्रेष्ठ विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ।
ये त्वतस्तान्प्रवक्ष्यामि परीक्षस्वेह तान्द्विजान् ॥ १८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब जो लोग पंक्तिपावन हैं, उनका विषय कहता हूं; तुम वैसे ब्राह्मणोंकी परीक्षा करना ॥ १८ ॥

वेदविद्याव्रतस्नाता ब्राह्मणाः सर्व एव हि ।
पाङ्क्तेयान्यांस्तु वक्ष्यामि ज्ञेयास्ते पङ्क्तिपावनाः ॥ १९ ॥

वेदस्नात, विद्यास्नात और व्रतस्नात, जो लोग पांक्तेय हैं, उनका विषय कहता हूं, तुम उन्हें पंक्तिपावन जानना ॥ १९ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयानुसंतानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामगः ॥ २० ॥

जो त्रिणाचिकेत मन्त्रका जप करनेवाला; गार्हपत्य, दक्षिण, आवहनीय, सत्य और सर्वाग्नि इन पांच प्रकारके अग्निका अनुष्ठान जाननेवाला, त्रिसुपर्ण नामक बहृचगणके मन्त्रोंका पाठ करनेवाला, जो शिक्षा, कल्प, प्रभृति वेदके षडङ्गवेत्ता है, जो वंशपरम्परासे वेद ज्ञाता और पढाया करता है, उसके वंशमें जो उत्पन्न हुआ हो; जो वेदके छन्दोग शाखाका विद्वान है, जो ज्येष्ठ सामगान करनेमें समर्थ है ॥ २० ॥

मातापित्रोर्यश्च वश्यः श्रोत्रियो दशपूरुषः ।
ऋतुकालाभिगामी च धर्मपत्नीषु यः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नातो विप्रः पङ्क्तिं पुनात्युत ॥ २१ ॥

तथा जो माता पिताके वशीभूत हो, जो दस पीढियोंसे श्रोत्रिय है, जो सदा ऋतुकालमें ही धर्मपत्नीके साथ गमन करता है और जो वेद, विद्या तथा व्रतस्नात है, वह ब्राह्मण ही पांतिको पवित्र किया करता है ॥ २१ ॥

अथर्वशिरसोऽध्येता ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
सत्यवादी धर्मशील: स्वकर्मनिरतश्च यः ॥ २२ ॥

जो अथर्ववेदके ज्ञाता, ब्रह्मचारी, यतव्रती, सत्यवादी, धर्मशील और निजकर्ममें रत हो ॥ २२॥

ये च पुण्येषु तीर्थेषु अभिषेककृतश्रमाः ।
मखेषु च समन्त्रेषु भवन्त्यवभृथाप्लुताः ॥ २३ ॥

जो लोग पुण्यतीर्थोंमें स्नान करनेके लिये श्रम करते हैं, जिन्होंने वेदमंत्रोंके साथ यज्ञोंमें अवभृत स्नान किया है ॥ २३ ॥

अक्रोधना अचपलाः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता ये च श्राद्धेष्वेतान्निमन्त्रयेत् ।
एतेषु दत्तमक्षय्यमेते वै पङ्क्तिपावनाः ॥ २४ ॥

जो लोग क्रोधरहित, चपलतारहित, क्षमाशील, दान्त, जितेन्द्रिय और सब प्राणियोंके हितमें रत हों, उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रण करे। इन लोगोंको दान करनेसे अक्षय फल होता है, इन्हें ही पंक्तिपावन जाने ॥ २४ ॥

इमे परे महाराज विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ।
यतयो मोक्षधर्मज्ञा योगाः सुचरितव्रताः ॥ २५ ॥

हे महाराज ! इनके अतिरिक्त दूसरे भी पंक्तिपावन ब्राह्मण हैं, उन्हें जानना चाहिये । जो लोग मोक्षधर्मके जाननेवाले, यति, योगाचारी और उत्तम रीतिसे व्रतका पालन करते हैं ॥२५॥

ये चेतिहासं प्रयताः श्रावयन्ति द्विजोत्तमान् ।
ये च भाष्यविदः केचि ये च व्याकरणे रताः ॥ २६ ॥

तथा जो लोग संयमी होकर उत्तम द्विजोंको इतिहास सुनाया करते हैं, जो लोग भाष्यवेत्ता और व्याकरणशास्त्रमें रत रहते हैं ॥ २६ ॥

अधीयते पुराणं ये धर्मशास्त्रण्यथापि च ।
अधीत्य च यथान्यायं विधिवत्तत्कारिणः ॥ २७ ॥

जो लोग पुराणशास्त्र तथा धर्मशास्त्रोंका न्यायपूर्वक अध्ययन करते हैं और अध्ययन करके विधिपूर्वक उसका अनुष्ठान करते हैं ॥ २७ ॥

उपपन्नो गुरुकुले सत्यवादी सहस्रदः ।
अग्र्यः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ॥ २८ ॥

जिन्होंने गुरुकुलमें निवास करके वेदाध्ययन किया है, जो सत्यवादी तथा सहस्रदाता हैं, सब वेदशास्त्रोंके पढने– पढानेमें जो लोग अग्रगण्य हैं ॥ २८ ॥

×

यावदेते प्रपश्यन्ति पङ्क्त्यास्तावत्पुनन्त्युत ।
ततो हि पावनात्पङ्क्त्याः पङ्क्तिपावन उच्यते ॥ २९ ॥
ऐसे ब्राह्मण पांतिमें जहांतक देखते हैं, उतने परिमाणसे लोगोंको पवित्र किया करते हैं, इसलिये पंक्तिको पवित्र करनेसे वे लोग पंक्तिपावन नामसे वर्णित हुए हैं ॥ २९ ॥

क्रोशादर्धतृतीयात्तु पावयेदेक एव हि ।
ब्रह्मदेयानुसंतान इति ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३० ॥
ब्रह्मवित् पुरुष ऐसा कहते हैं कि जो लोग वंशपरम्परासे वेद पढाते हैं, वैसे ब्रह्मज्ञानी वंशमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अकेलाही साढे तीन कोसतक स्थान पवित्र किया करता है ॥ ३० ॥

अनृत्विगनुपाध्यायः स चेदग्रासनं व्रजेत् ।
ऋत्विग्भिरननुज्ञातः पङ्क्त्या हरति दुष्कृतम् ॥ ३१ ॥
ऋत्विक् अथवा उपाध्यायके गुणहीन होनेपर भी यदि कोई ऋत्विजोंकी अनुमतीके विना पहले आसनपर बैठे, तो भी वह पंक्तिके दुष्कृतको हरण किया करता है ॥ ३१ ॥

अथ चेद्वेदवित्सर्वैः पङ्क्तिदोषैर्विवर्जितः ।
न च स्यात्पतितो राजन्पङ्क्तिपावन एव सः ॥ ३२ ॥
हे राजन् ! सब प्रकारके पंक्तिदोषोंसे रहित वेद जाननेवाला विप्र यदि पतित न हुआ हो, तो वह पंक्तिपावन ही है ॥ ३२ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन परीक्ष्यामन्त्रयेद्द्विजान् ।
स्वकर्मनिरतान्दान्तान्कुले जातान्बहुश्रुतान् ॥ ३३ ॥
इसलिये सब भांतिसे यत्नपूर्वक परीक्षा करके, निज कर्ममें रत, संयमी, सत्कुलमें उत्पन्न तथा बहुश्रुत ब्राह्मणोंको श्राद्धमें आमन्त्रण करें ॥ ३४ ॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
न प्रीणाति पितॄन्देवान्स्वर्गं च न स गच्छति ॥ ३४ ॥
दैव और पितृकार्यमें जिसका मित्रभोजन ही मुख्य उद्देश्य है, उसके वे श्राद्ध और हविष्य पितरों और देवताओंको तृप्त नहीं करते हैं और वह श्राद्ध करनेवाला स्वर्गमें जानेमें समर्थ नहीं होता ॥ ३४ ॥

यश्च श्राद्धे कुरुते संगतानि न देवयानेन पथा स याति ।
स वै मुक्तः पिप्पलं बन्धनाद्वा स्वर्गाल्लोकाच्च्यवते श्राद्धमित्रः ॥ ३५ ॥
जो श्राद्धके निमित्त बन्धुबान्धवोंके सङ्गमें मिलता है, वह देवयानपथसे गमन नहीं कर सकता; वह श्राद्धको मित्रताका साधन करनेवाला मनुष्य पिपलका फल डंठलसे टूटकर नीचे गिरनेके समान स्वर्गलोकसे च्युत होता है ॥ ३५ ॥

तस्मान्मित्रं श्राद्धकृन्नाद्रियेत दद्यान्मित्रेभ्यः संग्रहार्थं धनानि ।
यं मन्यते नैव शत्रुं न मित्रं तं मध्यस्थं भोजयेद्धव्यकव्ये ॥ ३६ ॥
इसलिये श्राद्ध करनेवाला मनुष्य मित्रको श्राद्धमें आमंत्रित न करे; अन्य समयमें संग्रहके निमित्त मित्रोंको धन देवे । जिसे शत्रु वा मित्र नहीं जाना जाता, हव्यकव्य दानके समय उस मध्यस्थ ब्राह्मणको ही भोजन करावे ॥ ३६ ॥

यथोषरे बीजमुप्तं न रोहेन्न चास्योप्ता प्राप्नुयाद्बीजभागम् ।
एवं श्राद्धं भुक्तमनर्हमाणैर्न चेह नामुत्र फलं ददाति ॥ ३७ ॥
जैसे ऊषरभूमिमें बीज बोनेसे अंकुर नहीं निकलता तथा बोनेवाला जैसे उस बीजका अंश नहीं पा सकता, वैसे ही अयोग्य ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन करानेसे इस लोक तथा परलोकमें भी श्राद्धका फल नहीं मिलता ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणो ह्यनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ ३८ ॥
स्वाध्यायहीन ब्राह्मण तृणकी अग्निकी भांति शान्त और तेजहीन होता है, इसलिये उसे श्राद्धीय दान न करे, क्योंकि भस्ममें कदापि होम नहीं होता ॥ ३८ ॥

संभोजनी नाम पिशाचदक्षिणा सा नैव देवान्न पितॄनुपैति ।
इहैव सा भ्राम्यति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ॥ ३९ ॥
संभोजनी अर्थात् एक दूसरेके यहां श्राद्धमें भोजन करके परस्पर दीयमान दक्षिणाको पिशाचदक्षिणा कहते हैं; वह देवताओंको तथा पितरोंको नहीं मिलती है । जैसे नष्टवत्सा पुण्यहीन गौ गोशालाके भीतर भ्रमण करती है, वैसे ही वह दक्षिणा इस लोकमें ही घूमा करती है ॥ ३९ ॥

यथाग्नौ शान्ते घृतमाजुहोति तन्नैव देवान्न पितॄनुपैति ।
तथा दत्तं नर्तने गायने च यां चानृचे दक्षिणामावृणोति ॥ ४० ॥
जैसे अग्नि बुझ जानेपर उसमें घृतकी आहुति देनेसे उसे देवता अथवा पितर नहीं पाते हैं; नाचने, गानेवाले तथा वेदोंको न जाननेवाले अपात्र ब्राह्मणको जो दान किया जाता है, वह भी वैसा ही निष्फल है ॥ ४० ॥

उभौ हिनस्ति न भुनक्ति चैषा या चानृचे दक्षिणा दीयते वै ।
आघातनी गर्हितैषा पतन्ती तेषां प्रेतान्पातयेद्देवयानात् ॥ ४१ ॥
अपात्र ब्राह्मणको जो दक्षिणा दी जाती है, वह दाताको तथा दान लेनेवालेको तृप्त नहीं करती, परंतु दोनोंकाही नाश करती है; वह आघातिनी, निन्दनीय दक्षिणा दाताके पितरोंको देवयान मार्गसे नीचे गिरा देती है ॥ ४१ ॥

ऋषीणां समयं नित्यं ये चरन्ति युधिष्ठिर ।
निश्चिताः सर्वधर्मज्ञास्तान्देवा ब्राह्मणान्विदुः ॥ ४२ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो लोग सदा ऋषियोंके नियमोंके अनुसार आचरण करते हैं, जो निश्चित-बुद्धि तथा सब धर्मोंके जाननेवाले हैं, उन्हीं पुरुषोंको देवता लोग भी ब्राह्मण मानते हैं ॥४२॥

स्वाध्यायनिष्ठा ऋषयो ज्ञाननिष्ठास्तथैव च ।
तपोनिष्ठाश्च बोद्धव्याः कर्मनिष्ठाश्च भारत ॥ ४३ ॥

हे भारत ! स्वाध्यायनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ और कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको ऋषि जानो ॥४३॥

कव्यानि ज्ञाननिष्ठेभ्यः प्रतिष्ठाप्यानि भारत ।
तत्र ये ब्राह्मणाः केचिन्न निन्दन्ति हि ते वराः ॥ ४४ ॥

हे भारत ! ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणोंको श्राद्धका अन्न प्रदान करना योग्य है। जो लोग ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करते वेही श्रेष्ठ मनुष्य हैं ॥ ४४ ॥

ये तु निन्दन्ति जल्पेषु न ताञ्श्राद्धेषु भोजयेत् ।
ब्राह्मणा निन्दिता राजन्हन्युस्त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ४५ ॥

जो वातचीतके समय ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, श्राद्धमें उन्हें भोजन नहीं करावे। हे महाराज ! ब्राह्मण लोग निन्दित होनेपर वे निन्दा करनेवालेकी तीन पीढियोंका नाश करते हैं ॥ ४५ ॥

वैखानसानां वचनमृषीणां श्रूयते नृप ।
दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।
प्रियान्वा यदि वा द्वेष्यांस्तेषु तच्छ्राद्धमावपेत् ॥ ४६ ॥

हे महाराज ! वैखानस ऋषियोंका यह वचन सुना जाता है, कि वेदपारग ब्राह्मणोंकी दूरसे परीक्षा करे; वे प्रिय हों अथवा अप्रिय ही होवें, श्राद्धकालमें उन्हें भोजन कराना योग्य है ॥ ४६ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां भोजयेदनृचां नरः ।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति भारत ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ ३८११ ॥

हे भारत ! जो मनुष्य दस लाख अपात्र ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह केवल मन्त्र जाननेवाले एक ही ब्राह्मणको भोजन कराके प्रसन्न करनेसे उन सबके फलको पाता है ॥४७॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें नब्बेवां अध्याय समाप्त ॥ ९० ॥ ३८११ ॥

: ९१ :

युधिष्ठिर उवाच—

केन संकल्पितं श्राद्धं कस्मिन्काले किमात्मकम्।
भृग्वङ्गिरसके काले मुनिना कतरेण वा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह! किस महर्षिके द्वारा श्राद्ध सङ्कल्पित हुआ है? किस समय श्राद्ध करना उचित है? श्राद्धका कैसा स्वरूप है? जिस समय भृगु और अंगिराके वंशमें उत्पन्न ऋषियोंके अतिरिक्त और कोई न थे, उस समय किस मुनिके द्वारा श्राद्ध प्रवर्तित हुआ? ॥ १ ॥

कानि श्राद्धेषु वर्ज्यानि तथा मूलफलानि च।
धान्यजातिश्च का वर्ज्या तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

श्राद्धके समय कौन कौनसे कर्म वर्जित हैं? कौन कौनसे फलमूल और धान्य त्यागने योग्य हैं? आप मेरे समीप इस विषयको वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

यथा श्राद्धं संप्रवृत्तं यस्मिन्काले यदात्मकम्।
येन संकल्पितं चैव तन्मे शृणु जनाधिप ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– हे प्रजानाथ! जिस प्रकार श्राद्ध प्रवृत्त हुआ है, जिस समय श्राद्ध करना होता है, श्राद्धका जैसा रूप है, जिसके द्वारा सङ्कल्पित हुआ है, वह वृत्तान्त मेरे समीप सुनो ॥ ३ ॥

स्वायंभुवोऽत्रिः कौरव्य परमर्षिः प्रतापवान्।
तस्य वंशे महाराज दत्तात्रेय इति स्मृतः ॥ ४ ॥

हे कुरुवंशधुरन्धर महाराज! स्वयम्भू ब्रह्माके पुत्र अत्रि नामसे एक प्रतापवान् परमर्षि विख्यात हैं, उनके वंशमें दत्तात्रेय उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

दत्तात्रेयस्य पुत्रोऽभून्निमिर्नाम तपोधनः।
निमेश्चाप्यभवत्पुत्रः श्रीमान्नाम श्रिया वृतः ॥ ५ ॥

दत्तात्रेयके निमि नामक तपस्वी पुत्र हुआ था; निमिके श्रीयुक्त श्रीमान् नामक पुत्र हुआ था ॥ ५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते स कृत्वा दुष्करं तपः।
कालधर्मपरीतात्मा निधनं समुपागतः ॥ ६ ॥

वह एक हजार वर्षोंतक दुष्कर तपस्या करके काल धर्मसे आक्रान्त होकर मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

निमिस्तु कृत्वा शौचानि विधिदृष्टेन कर्मणा ।
संतापमगमत्तीव्रं पुत्रशोकपरायणः ॥ ७ ॥

निमि विधिपूर्वक शौचकार्य करके पुत्रशोकसे युक्त हो बहुत ही सन्तापित हुए ॥ ७ ॥

अथ कृत्वोपहार्याणि चतुर्दश्यां महामतिः ।
तमेव गणयञ्छोकं विरात्रे प्रत्यबुध्यत ॥ ८ ॥

अनन्तर महाबुद्धिमान् निमि चतुर्दशी तिथिमें श्राद्धमें देने योग्य मिष्टान्न और वस्त्र आदि सामग्री लाके पुत्र शोकसे चिन्ता करते करते रात बीतनेपर प्रातःकाल उठे ॥ ८ ॥

तस्यासीत्प्रतिबुद्धस्य शोकेन पिहितात्मनः ।
मनः संहृत्य विषये बुद्धिर्विस्तरगामिनी ॥ ९ ॥

प्रातःकाल उठनेपर वे शोकसे व्यथितहृदय हो गये थे; उनकी बुद्धि बहुत विस्तृत थी; उसने शोकविषयसे अपने मनको हटाया अर्थात् शोकका परित्याग किया ॥ ९ ॥

ततः संचिन्तयामास श्राद्धकल्पं समाहितः ।
यानि तस्यैव भोज्यानि मूलानि च फलानि च ॥ १० ॥

शेषमें वह एकाग्र चित्त होकर श्राद्धविधिका विचार करने लगे । श्राद्धके लिये शास्त्रविहित जो सब फल, मूल, भोज्य थे ॥ १० ॥

उक्तानि यानि चान्यानि यानि चेष्टानि तस्य ह ।
तानि सर्वाणि मनसा विनिश्चित्य तपोधनः ॥ ११ ॥

और दूसरी जो कुछ वस्तुएं उनके पुत्रको प्रिय तथा इष्ट थी, तपोधन निमिने मनही मन सबका निश्चय करके संग्रह किया ॥ ११ ॥

अमावास्यां महाप्राज्ञ विप्रानानाय्य पूजितान् ।
दक्षिणावर्तिकाः सर्वा बृसीः स्वयमथाकरोत् ॥ १२ ॥

उन महाबुद्धिवान् ऋषिने अमावस्या तिथिमें ब्राह्मणोंको बुलाके उनकी पूजा की और स्वयंही प्रदक्षिण रूपसे किये हुए कुशके आसनपर बिठाया ॥ १२ ॥

सप्त विप्रांस्ततो भोज्ये युगपत्समुपानयत् ।
ऋते च लवणं भोज्यं श्यामाकान्नं ददौ प्रभुः ॥ १३ ॥

अनन्तर उन्होंने सात ब्राह्मणोंको एकबारही भोजन करनेके लिये बैठाया और बिना लवणके सांवां अन्न खानेको दिया ॥ १३ ॥

दक्षिणाग्रास्ततो दर्भा विष्टरेषु निवेशिताः ।
पादयोश्चैव विप्राणां ये त्वन्नमुपभुञ्जते ॥ १४ ॥

शेषमें जो सब ब्राह्मण अन्न भोजन कर रहे थे, उनके दोनों चरणोंके नीचे आसनपर अग्रभागमें दहिनी ओर दाभ रक्खी गई ॥ १४ ॥

कृत्वा च दक्षिणाग्रान्वै दर्भान्सुप्रयतः शुचिः ।
प्रददौ श्रीमते पिण्डं नामगोत्रमुदाहरन् ॥ १५ ॥

उन्होंने सावधान और पवित्र होकर दार्भोको अग्रभागमें दहिनी ओर करके नाम तथा गोत्र उच्चारण करके श्रीमान्‌के उद्देश्यसे पिण्ड प्रदान किया ॥ १५ ॥

तत्कृत्वा स मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकरमात्मनः ।
पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत् ॥ १६ ॥

मुनिश्रेष्ठ निमिने धर्मसङ्कर करके अर्थात् वेदमें पितरोंके उद्देश्यसे पिण्डदान धर्म दीख पडता है, इसलोकमें पुत्रके निमित्त पिण्डदान स्वेच्छानुसार कल्पित हुआ है, ऐसा समझके अत्यन्त पश्चात्तापसे परितापित होके चिन्ता करने लगे ॥ १६ ॥

अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयैतदनुष्ठितम् ।
कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति ॥ १७ ॥

उन्होंने सोचा, कि पहले मुनियोंने जिसे कभी नहीं किया, मैंने किस निमित्त उसका अनुष्ठान किया? ब्राह्मण लोग शापके द्वारा मुझे क्यों नहीं भस्म कर डालेंगे? ॥ १७ ॥

ततः संचिन्तयामास वंशकर्तारमात्मनः ।
ध्यातमात्रस्तथा चात्रिराजगाम तपोधनः ॥ १८ ॥

अनन्तर उन्होंने अपने वंशकर्त्ता अत्रिमुनिका ध्यान करना शुरू किया; ध्यान करते ही तपोधन अत्रि वहां आ गये ॥ १८ ॥

अथात्रिस्तं तथा दृष्ट्वा पुत्रशोकेन कर्शितम् ।
भृशमाश्वासयामास वाग्भिरिष्टाभिरव्ययः ॥ १९ ॥

अविनाशी अत्रि निमिको इस प्रकार पुत्रशोकसे दुःखित देखके अभिलषित मधुर वचनके सहारे अत्यन्त ही धीरज देने लगे ॥ १९ ॥

निमे संकल्पितस्तेऽयं पितृयज्ञस्तपोधनः ।
मा ते भूद्भीः पूर्वदृष्टो धर्मोऽयं ब्रह्मणा स्वयम् ॥ २० ॥

उन्होंने कहा, हे निमि! तुम मत डरो, तुम्हारा सङ्कल्पित यह पितृयज्ञ पहले तपोधन स्वयं ब्रह्माके द्वारा धर्मरूपसे देखा गया है ॥ २० ॥

सोऽयं स्वयंभुविहितो धर्मः संकल्पितस्त्वया ।
ऋते स्वयंभुवः कोऽन्यः श्राद्धेयं विधिमाहरेत् ॥ २१ ॥

तुम्हारा यह सङ्कल्पित धर्म स्वयंभूके सहारे उत्तम रीतिसे विहित हुआ है; ब्रह्माके अतिरिक्त और कौन पुरुष श्राद्धसम्बन्धीय यह श्रेष्ठ विधि बना सकता है? ॥ २१ ॥

आख्यास्यामि च ते भूयः श्राद्धेयं विधिमुत्तमम् ।
स्वयंभुविहितं पुत्र तत्कुरुष्व निबोध मे ॥ २२ ॥

मैं तुमसे स्वयम्भू ब्रह्माके द्वारा विहित अत्यंत उत्तम श्राद्धसम्बन्धीय विधिकी व्याख्या करता हूं; हे पुत्र ! इसका विवरण मेरे समीप सुनो और इसके अनुसार श्राद्धका अनुष्ठान करो ॥ २२ ॥

कृत्वाग्निकरणं पूर्वं मन्त्रपूर्वं तपोधन ।
ततोऽर्यम्णे च सोमाय वरुणाय च नित्यशः ॥ २३ ॥

हे तपोधन ! पहले वेदमन्त्र पढके अग्निकरणहोम करके फिर सूर्य, सोम, वरुण ॥ २३ ॥

विश्वेदेवाश्च ये नित्यं पितृभिः सह गोचराः ।
तेभ्यः संकल्पिता भागाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ २४ ॥

और विश्वेदेव, जो कि पितरोंके सङ्ग नित्य विचरते हैं,—इनको उनका भाग सदा अर्पण करे; स्वयम्भूने उनके निमित्त स्वयं सब भाग कल्पित किये हैं ॥ २४ ॥

स्तोतव्या चेह पृथिवी निवापस्येह धारिणी ।
वैष्णवी काश्यपी चेति तथैवेहाक्षयेति च ॥ २५ ॥

निवापधारिणी — श्राद्धकी आधारभूता— पृथ्वीको इस ही समय वैष्णवी, काश्यपी और अक्षया आदि नाम कहके स्तुति करनी होगी ॥ २५ ॥

उदकानयने चैव स्तोतव्यो वरुणो विभुः ।
ततोऽग्निश्चैव सोमश्च आप्याय्याविह तेऽनघ ॥ २६ ॥

जल लानेके लिये भगवान् वरुणकी स्तुति करे । हे पापरहित ! अनन्तर तुम्हें अग्नि और सोमको तुष्ट करना होगा ॥ २६ ॥

देवास्तु पितरो नाम निर्मिता वै स्वयंभुवा ।
ऊष्मपाः सुमहाभागास्तेषां भागाः प्रकल्पिताः ॥ २७ ॥

पितृनामक जो देवगण स्वयम्भूके द्वारा निर्मित हुए हैं और जो सब महाभाग उष्मपगण हैं, उनका भी हिस्सा ब्रह्माने निश्चित किया है ॥ २७ ॥

ते श्राद्धेनार्च्यमाना वै विमुच्यन्ते ह किल्बिषात् ।
सप्तकः पितृवंशस्तु पूर्वदृष्टः स्वयंभुवा ॥ २८ ॥

वे सब श्राद्धके द्वारा पूजित होनेपर नरकादि रूप सब पापोंसे— क्लेशोंसे छूटते हैं । पहले ब्रह्माके द्वारा जिन पितरोंको श्राद्धका अधिकारी कहा है, वे सात हैं ॥ २८ ॥

विश्वे चाग्निमुखा देवाः संख्याताः पूर्वमेव ते ।
तेषां नामानि वक्ष्यामि भागार्हाणां महात्मनाम् ॥ २९ ॥

और अग्नि आदि विश्वेदेवगण पहले ही मैंने कहे हैं, उनका मुख अग्नि है; इस समय यज्ञमें भाग पानेवाले उन महानुभावोंके नामोंको कहता हूं ॥ २९ ॥

सहः कृतिर्विपाप्मा च पुण्यकृत्पावनस्तथा ।
ग्राम्निः क्षेमः समूहश्च दिव्यसानुस्तथैव च ॥ ३० ॥

सह, कृति, विपाप्मा, पुण्यकृत्, पावन, ग्राम्नि, क्षेम, समूह, दिव्यसानु ॥ ३० ॥

विवस्वान्वीर्यवान्ह्रीमान्कीर्तिमान्कृत एव च ।
विपूर्वः सोमपूर्वश्च सूर्यश्रीश्चेति नामतः ॥ ३१ ॥

विवस्वान्, वीर्यवान्, ह्रीमान्, कीर्तिमान्, कृत, विपूर्व, सोमपूर्व, सूर्यश्री ॥ ३१ ॥

सोमपः सूर्यसावित्रो दत्तात्मा पुष्करीयकः ।
उष्णीनाभो नभोदश्च विश्वायुर्दीप्तिरेव च ॥ ३२ ॥

सोमप, सूर्यसावित्र, दत्तात्मा, पुष्करीयक, उष्णीनाभ, नभोद, विश्वायु, दीप्ति ॥ ३२ ॥

चमूहरः सुवेषश्च व्योमारिः शंकरो भवः ।
ईशः कर्ता कृतिर्दक्षो भुवनो दिव्यकर्मकृत् ॥ ३३ ॥

चमूहर, सुरेष, व्योमारि, शङ्कर, भव, हर, ईश, कर्त्ता, कृति, दक्ष, भुवन, दिव्यकर्मकृत् ॥ ३३ ॥

गणितः पञ्चवीर्यश्च आदित्यो रश्मिमांस्तथा ।
सप्तकृत्सोमवर्चाश्च विश्वकृत्कविरेव च ॥ ३४ ॥

गणित, पञ्चवीर्य, आदित्य, रश्मिमान्, सप्तकृत्, सोमवर्चा, विश्वकृत्, कवि ॥ ३४ ॥

अनुगोप्ता सुगोप्ता च नप्ता चेश्वर एव च ।
जितात्मा मुनिवीर्यश्च दीप्तलोमा भयंकरः ॥ ३५ ॥

अनुगोप्ता, सुगोप्ता, नप्ता, ईश्वर, जितात्मा, मुनिवीर्य, दीप्तलोमा, भयंकर ॥ ३५ ॥

अतिकर्मा प्रतीतश्च प्रदाता चांशुमांस्तथा ।
शैलाभः परमक्रोधी धीरोष्णी भूपतिस्तथा ॥ ३६ ॥

अतिकर्मा, प्रतीत, प्रदाता, अंशुमान् शैलाभ, परम क्रोधी, धीरोष्णी, भूपति ॥ ३६ ॥

स्रजी वज्री वरी चैव विश्वेदेवाः सनातनाः ।
कीर्तितास्ते महाभागाः कालस्य गतिगोचराः ॥ ३७ ॥

स्रजी, वज्री, वरी, सनातन विश्वेदेवगण इस प्रकार कालकी गतिके जाननेवाले ये महाभाग कहे गये हैं ॥ ३७ ॥

×

अश्राद्धेयानि धान्यानि कोद्रवाः पुलकास्तथा ।
हिङ्गु द्रव्येषु शाकेषु पलाण्डुं लशुनं तथा ॥ ३८ ॥

इसके अनन्तर जो वस्तु श्राद्धमें अदेय— निषिद्ध हैं, उन्हें कहता हूं। कोदों धान्य और पुलक अर्थात् टूटे हुए चावल, तुच्छ धान्य, हींगसे बनी वस्तु, शाकोंमें प्याज, लहसुन, ॥ ३८ ॥

पलाण्डुः सौभञ्जनकस्तथा गृञ्जनकादयः ।
कूष्माण्डजात्यलावुं च कृष्णं लवणमेव च ॥ ३९ ॥

कन्दर्प, सहिजन, गाजर प्रभृति, कुम्हडा जातीय सब वस्तु, अलाबू, काला नमक ॥ ३९ ॥

ग्राम्यं वाराहमांसं च यच्चैवाप्रोक्षितं भवेत् ।
कृष्णाजाजी विडश्चैव शीतपाकी तथैव च ।
अङ्कुराद्यास्तथा वर्ज्या इह शृङ्गाटकानि च । ॥ ४० ॥

पाले हुए सूअरका मांस और जो कुछ अप्रोक्षित— संस्काररहीन वस्तु हों, काला जीरा, बीडलवण, जो सब अन्न शरदृऋतुमें पकते हैं, सिंघाडा और वंशकरीर प्रभृति अङ्कुर श्राद्धमें वर्जित हैं ॥ ४० ॥

वर्जयेल्लवणं सर्वं तथा जम्बूफलानि च ।
अवक्षुतावरुदितं तथा श्राद्धेषु वर्जयेत् ॥ ४१ ॥

सब प्रकारके नमक और जामुनका फल श्राद्धमें त्यागना चाहिये; श्राद्धके समय छींक तथा आंसूसे दूषित पदार्थ वर्जित हैं ॥ ४१ ॥

निवापे हव्यकव्ये वा गर्हितं च श्वदर्शनम् ।
पितरश्चैव देवाश्च नाभिनन्दन्ति तद्धविः ॥ ४२ ॥

पितरोंके उद्देश्यसे दान कार्य और हव्यकव्यमें सुदर्शन शाक अत्यन्त निन्दनीय है। पितर और देव उसकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ४२ ॥

चण्डालश्वपचौ वर्ज्यौ निवापे समुपस्थिते ।
काषायवासी कुष्ठी वा पतितो ब्रह्महापि वा ॥ ४३ ॥

श्राद्धका समय उपस्थित होनेपर चाण्डाल और श्वपचोंको उस स्थानसे बहुत दूर हटा देवे। श्राद्धका समय उपस्थित होनेपर गेरुआ वस्त्रवाला, संन्यासी, कुष्ठरोगी, पतित, ब्रह्महत्यारा ॥ ४३ ॥

संकीर्णयोनिर्विप्रश्च संबन्धी पतितश्च यः ।
वर्जनीया बुधैरेते निवापे समुपस्थिते ॥ ४४ ॥

संकरयोनिमें जन्मा हुआ ब्राह्मण और धर्मभ्रष्ट आप्त भी, इन सबको पण्डित लोग उस समय वहांपर न आने देवें ॥ ४४ ॥

इत्येवमुक्त्वा भगवान्स्ववंशजमृषिं पुरा ।
पितामहसभां दिव्यां जगामात्रिस्तपोधनः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकनवतितमोऽध्याय ॥ ९१ ॥ ३८५६ ॥

पहले समयमें तपोधन अत्रि भगवान् निजवंशमें उत्पन्न हुए निमिऋषिसे ऐसी कथा कहके ब्रह्माकी दिव्य सभामें चले गये ॥ ४५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें इक्यानबेवां अध्याय समाप्त ॥ ९१ ॥ ३८५६ ॥

: ९२ :

भीष्म उवाच—

तथा विधौ प्रवृत्ते तु सर्वे एव महर्षयः ।
पितृयज्ञानकुर्वन्त विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! विधिके इस प्रकार श्राद्ध करनेमें प्रवृत्त करनेपर सब महर्षिवृन्द विधिदृष्ट कर्मके सहारे पितृयज्ञ करने लगे ॥ १ ॥

ऋषयो धर्मनित्यास्तु कृत्वा निवपनान्युत ।
तर्पणं चाप्यकुर्वन्त तीर्थाम्भोभिर्यतव्रताः ॥ २ ॥

धर्मनिष्ठ और यतव्रती ऋषि लोग श्राद्ध करके तीर्थोंके जलसे पितरोंका तर्पण करते थे ॥२॥

निवापैर्दीयमानैश्च चातुर्वर्ण्येन भारत ।
तर्पिताः पितरो देवास्ते नान्नं जरयन्ति वै ॥ ३ ॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके द्वारा श्राद्धमें अन्न पाके पितर और देवगण तृप्त होके उस समय अन्न पाचन नहीं कर सके ॥ ३ ॥

अजीर्णेनाभिहन्यन्ते ते देवाः पितृभिः सह ।
सोममेवाभ्यपद्यन्त निवापान्नाभिपीडिताः ॥ ४ ॥

पितरोंके सहित देववृन्द प्रतिदिन प्राप्त हुए अन्नके पचानेमें असमर्थ होके अजीर्णसे पीडित ग्रस्त हुए। उस समय वे लोग निवाप— अन्नसे पीडित होकर सोम देवताके समीप गये ॥४॥

तेऽब्रुवन्सोममासाद्य पितरोऽजीर्णपीडिताः ।
निवापान्नेन पीड्यामः श्रेयो नोऽत्र विधीयताम् ॥ ५ ॥

वे अजीर्णसे पीडित पितृगण सोमके निकट जाके बोले, हम श्राद्धके अन्नसे पीडित होरहे हैं, इसलिये जिस प्रकार इस विषयमें हमारा कल्याण हो, आप वैसा ही उपाय करिये ॥ ५॥

तान्सोमः प्रत्युवाचाथ श्रेयश्चेदीप्सितं सुराः ।
स्वयंभूसदनं यात स वः श्रेयो विधास्यति ॥ ६ ॥

अनन्तर सोमने उन लोगोंको उत्तर दिया— हे सुरगण ! यदि तुम लोगोंको कल्याणकी इच्छा हुई हो, तो ब्रह्माके स्थानपर जाओ, वह तुम्हारे कल्याणका उपाय करेंगे ॥ ६ ॥

ते सोमवचनाद्देवाः पितृभिः सह भारत ।
मेरुशृङ्गे समासीनं पितामहमुपागमन् ॥ ७ ॥

हे भारत ! पितरोंके सहित वे सब देवगण सोमका बचन सुनके सुमेरु पर्वतके शिखरपर सुखसे बैठे हुए ब्रह्माके निकट गये ॥ ७ ॥

पितर ऊचुः—

निवापान्नेन भगवन्भृशं पीड्यामहे वयम् ।
प्रसादं कुरु नो देव श्रेयो नः संविधीयताम् ॥ ८ ॥

पितरवृन्द बोले— हे भगवन् ! हम लोग निवाप अन्नसे अत्यन्त पीडित होरहे हैं । हे देव ! इसलिये आप प्रसन्न होके हमारे कल्याणका विधान करिये ॥ ८ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा स्वयंभूरिदमब्रवीत् ।
एष मे पार्श्वतो वह्निर्युष्मच्छ्रेयो विधास्यति ॥ ९ ॥

स्वयंभू ब्रह्मा उन लोगोंका ऐसा वचन सुनके बोले, मेरे निकटमें स्थित यह अग्निदेव तुम्हारे कल्याणका विधान करेंगे ॥ ९ ॥

अग्निरुवाच—

सहितास्तात भोक्ष्यामो निवापे समुपस्थिते ।
जरयिष्यथ चाप्यन्नं मया सार्धं न संशयः ॥ १० ॥

अग्निदेव बोले— पितरोंके उद्देश्यसे अन्न दान उपस्थित होनेपर हम सब कोई मिलके उसे भक्षण करेंगे; हमारे सङ्ग खानेसे तुम लोग अन्नको निःसन्देह पचा सकोगे ॥ १० ॥

एतच्छ्रुत्वा तु पितरस्ततस्ते विज्वराभवन् ।
एतस्मात्कारणाच्चाग्नेः प्राक्तनं दीयते नृप ॥ ११ ॥

पितर लोग अग्निका ऐसा वचन सुनके उस समय चिन्तारहित हुए । हे महाराज ! इस ही निमित्त श्राद्धमें पहले अग्निके निमित्त अन्न दिया जाता है ॥ ११ ॥

निवप्ते चाग्निपूर्वे वै निवापे पुरुषर्षभ ।
न ब्रह्मराक्षसास्तं वै निवापं धर्षयन्त्युत ।
रक्षांसि चापवर्तन्ते स्थिते देवे विभावसौ ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पहले अग्निको— अग्निमें हवन निवाप देनेसे ब्रह्मराक्षसगण उसे नष्ट—दूषित करनेमें समर्थ नहीं होते और अग्निदेवके उपस्थित रहनेपर राक्षसवृन्द वहांसे दूर भागते हैं ॥१२॥

पूर्वं पिण्डं पितुर्दद्यात्ततो दद्यात्पितामहे ।
प्रपितामहाय च तत एष श्राद्धविधिः स्मृतः ॥ १३ ॥

पहले पिताको पिण्ड देवे, फिर पितामहको पिण्ड देना योग्य है, अनन्तर प्रपितामहको पिण्ड प्रदान करे, इस ही प्रकार श्राद्धकी विधि वर्णित हुई है ॥ १३ ॥

ब्रूयाच्छ्राद्धे च सावित्रीं पिण्डे पिण्डे समाहितः ।
सोमायेति च वक्तव्यं तथा पितृमतेति च ॥ १४ ॥

श्राद्धकालमें समाहित होके प्रत्येक पिण्ड देनेके समय गायत्री मन्त्र जपे और " सोमाय पितृमते " इत्यादि वचन कहना योग्य है ॥ १४ ॥

रजस्वला च या नारी व्यङ्गिता कर्णयोश्च या ।
निवापे नोपतिष्ठेत संग्राह्या नान्यवंशजाः ॥ १५ ॥

श्राद्धके समयमें जो स्त्री रजस्वला हो अथवा दोनों कानोंसे बहिरी हो, उसको वहां नहीं ठहरना चाहिये और दूसरे वंशकी स्त्रियोंको पाकके निमित्त श्राद्ध कर्ममें नहीं लेवे ॥ १५ ॥

जलं प्रतरमाणश्च कीर्तयेत पितामहान् ।
नदीमासाद्य कुर्वीत पितॄणां पिण्डतर्पणम् ॥ १६ ॥

जलमें उतरके पितामह आदियोंका नाम उच्चारण करे और किसी नदीके तटपर जाके पितरोंको पिण्ड दे तथा तर्पण करे ॥ १६ ॥

पूर्वं स्ववंशजानां तु कृत्वाद्भिस्तर्पणं पुनः ।
सुहृत्संबन्धिवर्गाणां ततो दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥ १७ ॥

पहले अपने वंशवालोंको जलसे तर्पण करके, फिर सुहृद और सम्बन्धियोंको अञ्जली भरके जल देवे ॥ १७ ॥

कल्माषगोयुगेनाथ युक्तेन तरतो जलम् ।
पितरोऽभिलषन्ते वै नावं चाप्यधिरोहतः ।
सदा नावि जलं तज्ज्ञाः प्रयच्छन्ति समाहिताः ॥ १८ ॥

विचित्र रंगके दो बैलोंसे युक्त गाडीपर बैठकर जो नदीके जलको पार करता है, उसके पितर उसके समीप नावपर बैठकर जल– तर्पणकी अभिलाष किया करते हैं । इसलिये जो लोग इसे जानते हैं, वे सावधान होकर नौकाके सहारे नदी उतरनेके समय सदा पितरोंको जल – तर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

मासार्धे कृष्णपक्षस्य कुर्यान्निवपनानि वै ।
पुष्टिरायुस्तथा वीर्यं श्रीश्चैव पितृवर्तिनः ॥ १९ ॥

अर्द्धमासके कृष्णपक्षकी अमावस्या तिथिमें पितरोंका श्राद्ध करना योग्य है; पितरोंकी भक्तिसे मनुष्यको पुष्टि, आयु, बल और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

पितामहः पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा ।
अङ्गिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः ।
एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः ॥ २० ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! पितामह ब्रह्मा, पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, अंगिरा, क्रतु और महर्षि कश्यप, ये महायोगेश्वर नामसे वर्णित हुए हैं ॥ २० ॥

एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधिः परः ।
प्रेतास्तु पिण्डसंबन्धान्मुच्यन्ते तेन कर्मणा ॥ २१ ॥

ये पितर भी माने गये हैं । हे महाराज ! यही श्राद्धकी श्रेष्ठ विधि है; इस श्राद्ध–पिण्ड कर्मके सहारे परलोकमें गये हुए पितर प्रेतत्वके कष्टसे छूट जाते हैं ॥ २१ ॥

इत्येषा पुरुषश्रेष्ठ श्राद्धोत्पत्तिर्यथागमम् ।
व्यापिता पूर्वनिर्दिष्टा दानं वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥ ३८७८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह निर्दिष्ट श्राद्धकी उत्पत्तिका विषय शास्त्रके अनुसार कहा गया; इसके अनन्तर दानका विषय कहता हूं ॥ २२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ ३८७८ ॥

: ९३ :

युधिष्ठिर उवाच—

द्विजातयो व्रतोपेता हविस्ते यदि भुञ्जते ।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत्पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! जो व्रतयुक्त ब्राह्मण श्राद्ध आदिमें ब्राह्मण यजमानकी इच्छासे हवनीय वस्तु अथवा अन्न भोजन करता है, तो आप इसे कैसा मानते हैं ? अर्थात् इसमें व्रत करनेवाले ब्राह्मणका व्रतलोप होता है अथवा ब्राह्मणकी कामनाभंग गुरुतर है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अवेदोक्तव्रताश्चैव भुञ्जानाः कार्यकारिणः ।
वेदोक्तेषु तु भुञ्जाना व्रतलुप्ता युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! अवेदोक्त व्रतचारी ब्राह्मण लोग ब्राह्मणकी इच्छासे भोजन कर सकते हैं, वे व्रतहीन नहीं होते और जो लोग वेदविहित यज्ञांगभूत व्रताचरण करते हैं, वे किसीकी कामनानुसार श्राद्धमें भोजन करनेसे लुप्तव्रत हुआ करते हैं ॥ २ ॥

पितामहः पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा ।
अङ्गिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः ।
एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः ॥ २० ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! पितामह ब्रह्मा, पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, अंगिरा, क्रतु और महर्षि कश्यप, ये महायोगेश्वर नामसे वर्णित हुए हैं ॥ २० ॥

एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधिः परः ।
प्रेतास्तु पिण्डसंबन्धान्मुच्यन्ते तेन कर्मणा ॥ २१ ॥

ये पितर भी माने गये हैं । हे महाराज ! यही श्राद्धकी श्रेष्ठ विधि है; इस श्राद्ध–पिण्ड कर्मके सहारे परलोकमें गये हुए पितर प्रेतत्वके कष्टसे छूट जाते हैं ॥ २१ ॥

इत्येषा पुरुषश्रेष्ठ श्राद्धोत्पत्तिर्यथागमम् ।
व्यापिता पूर्वनिर्दिष्टा दानं वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥ ३८७८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह निर्दिष्ट श्राद्धकी उत्पत्तिका विषय शास्त्रके अनुसार कहा गया; इसके अनन्तर दानका विषय कहता हूं ॥ २२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें बानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ ३८७८ ॥

: ९३ :

युधिष्ठिर उवाच—

द्विजातयो व्रतोपेता हविस्ते यदि भुञ्जते ।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत्पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! जो व्रतयुक्त ब्राह्मण श्राद्ध आदिमें ब्राह्मण यजमानकी इच्छासे हवनीय वस्तु अथवा अन्न भोजन करता है, तो आप इसे कैसा मानते हैं? अर्थात् इसमें व्रत करनेवाले ब्राह्मणका व्रतलोप होता है अथवा ब्राह्मणकी कामनाभंग गुरुतर है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अवेदोक्तव्रताश्चैव भुञ्जानाः कार्यकारिणः ।
वेदोक्तेषु तु भुञ्जाना व्रतलुप्ता युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! अवेदोक्त व्रतचारी ब्राह्मण लोग ब्राह्मणकी इच्छासे भोजन कर सकते हैं, वे व्रतहीन नहीं होते और जो लोग वेदविहित यज्ञांगभूत व्रताचरण करते हैं, वे किसीकी कामनानुसार श्राद्धमें भोजन करनेसे लुप्तव्रत हुआ करते हैं ॥ २ ॥

देवतातिथिभिः सार्धं पितृभिश्चोपभुञ्जते ।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ ३८९५ ॥

जो लोग देवता और अतिथियों सहित पितरोंको अन्नका भाग देकर भोजन करते हैं, वे पुत्र-पौत्रोंके सहित सुख भोग किया करते हैं और उन्हें श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

महाभारतके अनुशासन पर्वमें तिरानबेवां अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ ३८९५ ॥

: ९४ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति दानानि विविधानि च ।
दातृप्रतिग्रहीत्रोर्वा को विशेषः पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! लोग ब्राह्मणोंको विविध वस्तु दान करते हैं, उन देनेवाले और लेनेवालोंमें क्या विशेषता होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात्तथैवासाधुतो द्विजः ।
गुणवत्यल्पदोषः स्यान्निर्गुणे तु निमज्जति ॥ २ ॥

भीष्म बोले— जो ब्राह्मण साधु वा असाधु पुरुषोंसे प्रतिग्रह लेता है, वह गुणवान पुरुषोंके निकट ग्रहण करनेके हेतु थोडा दोषी होता है और निर्गुण पुरुषके समीप ग्रहण करनेसे पापमें डूबता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृषादर्भेश्च संवादं सप्तर्षीणां च भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! प्राचीन लोग इस विषयमें वृषादर्भि और सप्तर्षियोंके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ३ ॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
विश्वामित्रो जमदग्निः साध्वी चैवाप्यरुन्धती ॥ ४ ॥

कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र और जमदग्नि ये सप्तऋषि हैं और पतिव्रता अरुन्धती भी थी ॥ ४ ॥

सर्वेषामथ तेषां तु गण्डाभूत्कर्मकारिका ।
शूद्रः पशुसखश्चैव भर्ता चास्या बभूव ह ॥ ५ ॥

इन सब लोगोंकी गण्डा नामक एक सेविका थी, पशुसख नामक शूद्र उसका पति हुआ था ॥ ५ ॥

×

भीष्म उवाच—

अन्तरा सायमाशं च प्रातराशं तथैव च ।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥ १० ॥

भीष्म बोले— जो मनुष्य प्रातर्भोजन और सन्ध्याकालके भोजनके अतिरिक्त फिर बीचमें भोजन नहीं करता, वही सदा उपवासी होता है ॥ १० ॥

भार्यां गच्छन्ब्रह्मचारी सदा भवति चैव ह ।
ऋतवादी सदा च स्याद्दानशीलश्च मानवः ॥ ११ ॥

जो ऋतुकालमेंही भार्यागमन करता है, वह ब्रह्मचारी ही कहा जाता है । जो मनुष्य सदा दानशील है, वह सत्यवादीही कहा जाता है ॥ ११ ॥

अभक्षयन्वृथा मांसममांसाशी भवत्युत ।
दानं ददत्पवित्री स्यादस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥ १२ ॥

यज्ञ आदिके अतिरिक्त जो वृथा मांस भक्षण नहीं करता, वह अमांसाशी होता है; जो सदा दान करता है, वह पवित्र होता है । जो दिनको नहीं सोता, वह सदा जाननेवाला कहा जाता है ॥ १२ ॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु नरः सदा ।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य सदा सब भृत्योंके तथा अतिथियोंके भोजन करनेके अनन्तर ही भोजन करता है, जान रखो, कि वही अमृत भोजन किया करता है ॥ १३ ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नाति ब्राह्मणेषु तु यो नरः ।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मण जबतक भोजन नहीं करते तबतक भोजन नहीं करता, वह अपने उस व्रतसे स्वर्गको जीतता है ॥ १४ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह ।
अवशिष्टानि यो भुङ्क्ते तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥

देवताओं, पितरों, भृत्यों और अतिथियोंको भोजन देकर जो शेषमें बचा हुआ अन्न खाता है, धीर लोग उसे ही विघसाशी कहते हैं ॥ १५ ॥

तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणः स्मृताः ।
उपस्थिता ह्यप्सरोभिर्गन्धर्वैश्च जनाधिप ॥ १६ ॥

हे प्रजानाथ ! ब्रह्माके धाममें उन विघसाशी पुरुषोंको अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है, उनके निकट गन्धर्वोंके सहित अप्सरावृन्द सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ १६ ॥

देवतातिथिभिः सार्धं पितृभिश्चोपभुञ्जते ।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ ३८९५ ॥

जो लोग देवता और अतिथियों सहित पितरोंको अन्नका भाग देकर भोजन करते हैं, वे पुत्र-पौत्रोंके सहित सुख भोग किया करते हैं और उन्हें श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

महाभारतके अनुशासन पर्वमें तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ ३८९५ ॥

: ९४ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति दानानि विविधानि च ।
दातृप्रतिग्रहीत्रोर्वा को विशेषः पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! लोग ब्राह्मणोंको विविध वस्तु दान करते हैं, उन देनेवाले और लेनेवालोंमें क्या विशेषता होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात्तथैवासाधुतो द्विजः ।
गुणवत्यल्पदोषः स्यान्निर्गुणे तु निमज्जति ॥ २ ॥

भीष्म बोले— जो ब्राह्मण साधु वा असाधु पुरुषोंसे प्रतिग्रह लेता है, वह गुणवान पुरुषोंके निकट ग्रहण करनेके हेतु थोडा दोषी होता है और निर्गुण पुरुषके समीप ग्रहण करनेसे पापमें डूबता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृषादर्भेश्च संवादं सप्तर्षीणां च भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! प्राचीन लोग इस विषयमें वृषादर्भि और सप्तर्षियोंके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ३ ॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
विश्वामित्रो जमदग्निः साध्वी चैवाप्यरुन्धती ॥ ४ ॥

कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र और जमदग्नि ये सप्तऋषि हैं और पतिव्रता अरुन्धती भी थी ॥ ४ ॥

सर्वेषामथ तेषां तु गण्डाभूत्कर्मकारिका ।
शूद्रः पशुसखश्चैव भर्ता चास्या बभूव ह ॥ ५ ॥

इन सब लोगोंकी गण्डा नामक एक सेविका थी, पशुसख नामक शूद्र उसका पति हुआ था ॥ ५ ॥

×

ते वै सर्वे तपस्यन्तः पुरा चेरुर्महीमिमाम् ।
समाधिनोपशिक्षन्तो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ६ ॥

वे सब कोई समाधिके द्वारा सनातन ब्रह्मलोक पानेके निमित्त इस पृथ्वीमण्डलपर तपस्या करते हुए विचरते थे ॥ ६ ॥

अथाभवदनावृष्टिर्महती कुरुनन्दन ।
कृच्छ्रप्राणोऽभवद्यत्र लोकोऽयं वै क्षुधान्वितः ॥ ७ ॥

हे कुरुनन्दन ! अनन्तर एक समय बहुत काल तक वर्षा न होनेसे अकाल पडा, तो उस समय सब कोई क्षुधातुर होकर अत्यंत कठिनाईसे प्राण धारण करते थे ॥ ७ ॥

कस्मिंश्चिच्च पुरा यज्ञे याज्येन शिबिसूनुना ।
दक्षिणार्थेऽथ ऋत्विग्भ्यो दत्तः पुत्रो निजः किल ॥ ८ ॥

पहले समय किसी यज्ञमें यज्ञकर्ता शिबिराजके पुत्रने ऋत्विजोंको दक्षिणाके रूपमें अपना पुत्रही प्रदान किया था ॥ ८ ॥

तस्मिन्कालेऽथ सोऽल्पायुर्दिष्टान्तमगमत्प्रभो ।
ते तं क्षुधाभिसंतप्ताः परिवार्योपतस्थिरे ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! इस ही समयमें वह अल्पायु होनेसे मर गया; क्षुधासे परिपीडित वे ऋषि उस मृत राजपुत्रको चारों ओरसे घेरकर खडे हो गये ॥ ९ ॥

याज्यात्मजमथो दृष्ट्वा गतासुमृषिसत्तमाः ।
अपचन्त तदा स्थाल्यां क्षुधार्ताः किल भारत ॥ १० ॥

हे भारत ! क्षुधासे आर्त ऋषियोंने उस याजकके राजपुत्रको मरा हुआ देखके उसे स्थालीमें पकाया ॥ १० ॥

निराद्ये मर्त्यलोकेऽस्मिन्नात्मानं ते परीप्सवः ।
कृच्छ्रामापेदिरे वृत्तिमन्नहेतोस्तपस्विनः ॥ ११ ॥

यह मर्त्यलोक अन्नसे रहित होनेपर तपस्वियोंने शरीररक्षाकी इच्छा करके कृच्छ्रवृत्ति अवलम्बन की थी ॥ ११ ॥

अटमानोऽथ तान्मार्गे पचमानान्महीपतिः ।
राजा शैब्यो वृषादर्भिः क्लिश्यमानान्ददर्श ह ॥ १२ ॥

अनन्तर पृथ्वीनाथ शैब्य वृषादर्भिने मार्गमें विचरते हुए उन क्लेशित ऋषियोंको पाक करते देखा ॥ १२ ॥

वृषादर्भिरुवाच—

प्रतिग्रहस्तारयति पुष्टिर्वै प्रतिगृह्णताम् ।
मयि यद्विद्यते वित्तं तच्छृणुध्वं तपोधनाः ॥ १३ ॥

वृषादर्भि बोले– दान लेनेसे पुरुष दुर्भिक्ष और भूखके क्लेशसे छूट जाता है। हे तपस्विगण! इसलिये आप लोग पुष्टिके लिये प्रतिग्रह ग्रहण करिये। मेरे समीप जो धन है, उसे आप लोग मांगिये ॥ १३ ॥

प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानो दद्यामहं वोऽश्वतरीसहस्रम् ।
एकैकशः सवृषाः संप्रसूताः सर्वेषां वै शीघ्रगाः श्वेतलोमाः ॥ १४ ॥

मांगनेवाला ब्राह्मण ही मुझे अत्यन्त प्रिय है; इसलिये मैं आप लोगोंमेंसे प्रत्येकको एक हजार खच्चरियां देता हूं; मैं आप लोगोंको वृषभोंके सहित शीघ्रगामी सफेद रोएंवाली सत्प्रसूत गौएं दान करूंगा ॥ १४ ॥

कुलंभराननडुहः शतंशतान्धुर्याञ्छुभ्रान्सर्वशोऽहं ददानि
पृथ्वीवाहान्पीवरांश्चैव तावदग्र्या गृष्टयो धेनवः सुव्रताश्च ॥ १५ ॥

और एक कुलका भार वहनेमें समर्थ बोझा ढोनेवाले दस हजार श्रेष्ठ बैल सबको देता हूं; पहले ही गाभिन हुई लाल शरीरवाली जवान, श्रेष्ठ स्वभाववाली, उत्तम दुधारू सत्प्रसूता गौएं देता हूं ॥ १५ ॥

वरान्ग्रामान्व्रीहियवं रसांश्च रत्नं चान्यद्दुर्लभं किं ददानि ।
मा स्माभक्ष्ये भावमेवं कुरुध्वं पुष्ट्यर्थं वै किं प्रयच्छाम्यहं वः ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ ग्राम, व्रीहि, यव, रस, रत्न और इसके अतिरिक्त जो सब दुर्लभ वस्तुएं हैं, वे दे सकता हूं; कहिये उनके बीच से क्या दूं? आप लोग इस अभक्ष्य वस्तुमें ऐसा मन न करिये। आप लोगोंकी पुष्टिके निमित्त कौनसी वस्तु दूं ॥ १६ ॥

ऋषय ऊचुः—

राजन्प्रतिग्रहो राज्ञो मध्वास्वादो विषोपमः ।
तज्जानमानः कस्मात्त्वं कुरुषे नः प्रलोभनम् ॥ १७ ॥

ऋषिगण बोले– हे महाराज! राजाओंका प्रतिग्रह मधुरकी भांति ऊपरसे स्वादयुक्त होता है, किन्तु अन्तमें विषके समान भयंकर होता है; तुम उसे जानके भी किस निमित्त हमें लोभ दिखा रहे हो? ॥ १७ ॥

क्षत्रं हि दैवतमिव ब्राह्मणं समुपाश्रितम् ।
अमलो ह्येष तपसा प्रीतः प्रीणाति देवताः ॥ १८ ॥

देवताओंको ब्राह्मणका शरीरका सहारा ही है, वह देवतास्वरूप ब्राह्मण तपस्याके द्वारा शुद्ध और प्रसन्न होनेसे सब देवताओंको प्रसन्न करता है ॥ १८ ॥

अह्नापीह तपो जातु ब्राह्मणस्योपजायते ।
तद्दाव इव निर्दह्यात्प्राप्तो राजप्रतिग्रहः ॥ १९ ॥

ब्राह्मणकी एक दिनमें भी जो तपस्या उपार्जित होती है, कदाचित् प्राप्त हुआ राजप्रतिग्रह दावानलकी भांति उसे नष्ट करता है ॥ १९ ॥

कुशलं सह दानेन राजन्नस्तु सदा तव ।
अर्थिभ्यो दीयतां सर्वमित्युक्त्वा ते ततो ययुः ॥ २० ॥

हे महाराज ! दानके सहित सदा तुम्हारा कुशल होवे, इसलिये तुम याचकोंको सब वस्तु दान करो, ऐसा कहके ऋषियोंने दूसरे मार्गसे गमन किया ॥ २० ॥

अपक्वमेव तन्मांसमभूत्तेषां च धीमताम् ।
अथ हित्वा ययुः सर्वे वनमाहारकाङ्क्षिणः ॥ २१ ॥

वे धीमानगण जो मांस पकाते थे, वह अपक्व ही रहा । अनन्तर वे सब कोई उसे छोडके आहारकी इच्छासे वनमें चले गये ॥ २१ ॥

ततः प्रचोदिता राज्ञा वनं गत्वास्य मन्त्रिणः ।
प्रचीयोदुम्बराणि स्म दानं दातुं प्रचक्रमुः ॥ २२ ॥

अनन्तर राजाके भेजनेपर उनके मन्त्रियोंने वनमें जाके उदुम्बरके फल तोडके उन्हें दानरूपमें देनेका प्रयत्न किया ॥ २२ ॥

उदुम्बराण्यथान्यानि हेमगर्भाण्युपाहरन् ।
भृत्यास्तेषां ततस्तानि प्राग्रहितुमुपाद्रवन् ॥ २३ ॥

मन्त्रियोंने उदुम्बर और दूसरे वृक्षोंके फल लेकर उनमें सुवर्ण मुद्राएं भर दीं; फिर उनके सेवक उन स्वर्णपूरित फलोंको ऋषियोंको देनेके लिये दौडे ॥ २३ ॥

गुरूणीति विदित्वाथ न ग्राह्याण्यत्रिरब्रवीत् ।
न स्म हे मूढविज्ञाना न स्म हे मन्दबुद्धयः ।
हैमानीमानि जानीमः प्रतिबुद्धाः स्म जागृमः ॥ २४ ॥

उन सब भारी होगये हुए फलोंको जानकर अग्राह्य समझकर महर्षि अत्रिने यह वचन कहा, ' हम मूढविज्ञानी तथा मन्दबुद्धि नहीं है; हम जानते हैं कि, ये सब फल सुवर्णमय हैं, इसलिये सावधान होकर जागते हैं ॥ २४ ॥

इह ह्येतदुपादत्तं प्रेत्य स्यात्कटुकोदयम् ।
अप्रतिग्राह्यमेवैतत्प्रेत्य चेह सुखेप्सुना ॥ २५ ॥

इस लोकमें इसे ग्रहण करनेसे परलोकमें हमें बहुत कटु परिणाम भोगना पडेगा । इस लोक तथा परलोकमें जो सुखकी अभिलाष करता है, उसके लिये यह अग्राह्य है । ' ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच—

शतेन निष्कं गणितं सहस्रेण च संमितम् ।
यथा बहु प्रतीच्छन्हि पापिष्ठां लभते गतिम् ॥ २६ ॥

वसिष्ठ बोले— सौ निष्कका दान लेनेसे हजार निष्कोंके दान लेनेका दोष होता है; जिस प्रकार बहुतसा सुवर्ण प्रतिग्रह करनेसे मनुष्यको घोर पापियोंकी गति प्राप्त होती है ॥२६॥

कश्यप उवाच—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
सर्वं तन्नालमेकस्य तस्माद्विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥ २७ ॥

कश्यप बोले— पृथ्वीमें जो सब धान्य, यव, सुवर्ण, पशुवृन्द और स्त्रियां हैं, वे एकको ही मिल जांय, तो भी उसे संतोष नहीं होगा; इसलिये विद्वान् ब्राह्मण शान्तिका अवलम्बन करे ॥ २७ ॥

भरद्वाज उवाच—

उत्पन्नस्य रुरोः शृङ्गं वर्धमानस्य वर्धते ।
प्रार्थना पुरुषस्येव तस्य मात्रा न विद्यते ॥ २८ ॥

भरद्वाज बोले— जैसे उत्पन्न होके बढनेवाले मृगका सींग क्रमसे बढता है, वैसे ही मनुष्यकी लालसा बढती रहती है, उसकी सीमा नहीं है ॥ २८ ॥

गौतम उवाच—

न तल्लोके द्रव्यमस्ति यल्लोकं प्रतिपूरयेत् ।
समुद्रकल्पः पुरुषो न कदाचन पूर्यते ॥ २९ ॥

गौतम बोले— जगत्में ऐसा द्रव्य नहीं है, जो मनुष्यकी आशा परिपूर्ण करे; मनुष्यकी लालसा समुद्रसदृश है, इसलिये वह कभी पूर्ण नहीं होती ॥ २९ ॥

विश्वामित्र उवाच—

कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते ।
अथैनमपरः कामस्तृष्णा विध्यति बाणवत् ॥ ३० ॥

विश्वामित्र बोले— काम्यविषयकी इच्छा करनेवाले मनुष्यकी एक इच्छा पूरी होनेपर, फिर दूसरी पूरी रीतिसे बढती है; इस रीतिसे तृष्णारूपी दुसरा काम बाणकी भांति इस पुरुषको विद्ध करता है ॥ ३० ॥

जमदग्निरुवाच—

प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम् ।
तद्धनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत् ॥ ३१ ॥

जमदग्नि बोले— निश्चय है, कि प्रतिग्रह विषयमें संयम ही तपस्याकी सुरक्षा करता है, धनके लिये लोभ करनेसे ब्राह्मणका वह तपस्यारूपी धन नष्ट होता है ॥ ३१ ॥

अरुन्धत्युवाच—

धर्मार्थं संचयो यो वै द्रव्याणां पक्षसंमतः ।

तपःसंचय एवेह विशिष्टो द्रव्यसंचयात् ॥ ३२ ॥

अरुन्धती बोले— इस लोकमें धर्मके लिये द्रव्य सञ्चय करना कइयोंकोहि सम्मत है; परंतु इस लोकमें द्रव्य संग्रहसे तपस्यासञ्चय करना ही श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

गण्डोवाच—

उग्रादितो भयाद्यस्माद्बिभ्यतीमे ममेश्वराः ।

बलीयांसो दुर्बलवद्बिभेम्यहमतः परम् ॥ ३३ ॥

गण्डाने कहा— मेरे ये मालिक अत्यंत बलवान होके भी जब इस प्रतिग्रहके प्रचण्ड भयसे डर रहे हैं, तब मुझे निर्बलकी भांति इससे अधिक भय है ॥ ३३ ॥

पशुसख उवाच

यद्वै धर्मे परं नास्ति ब्राह्मणास्तद्धनं विदुः ।

विनयार्थं सुविद्वांसमुपासेयं यथातथम् ॥ ३४ ॥

पशुसख बोला— लोभ आदि दोषोंसे धर्म भ्रष्ट होनेपर श्रेष्ठपद नहीं मिलता, ब्राह्मण लोग उस श्रेष्ठपदको ही धन जानते हैं, इसलिये मैं उत्तम शिक्षाके लिये इन विद्वानोंकी उपासना करता हूं ॥ ३४ ॥

ऋषय ऊचुः—

कुशलं सह दानाय तस्मै यस्य प्रजा इमाः ।

फलान्युपधियुक्तानि य एवं नः प्रयच्छसि ॥ ३५ ॥

ऋषियोंने कहा— जिसकी प्रजा छलयुक्त फल दान करनेके लिये आयी है और जो फलके रूपमें सुवर्ण दान कर रहा है, वह राजा दानके साथ कुशल रहे ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्त्वा हेमगर्भाणि हित्वा तानि फलानि ते ।

ऋषयो जग्मुरन्यत्र सर्व एव धृतव्रताः ॥ ३६ ॥

भीष्म बोले— इस प्रकार कहकर अनन्तर वे धृतव्रती ऋषि लोग सुवर्णयुक्त फलोंको त्यागके दुसरी ओर चले गये ॥ ३६ ॥

मन्त्रिणः ऊचुः—

उपधिं शङ्कमानास्ते हित्वेमानि फलानि वै ।

ततोऽन्येनैव गच्छन्ति विदितं तेऽस्तु पार्थिव ॥ ३७ ॥

मन्त्रिगण बोले— हे महाराज ! आपको विदित होवे कि ऋषि लोगोंको फलोंको देखकर ही उनके साथ छल किया जा रहा है, यह संदेह हुआ; इसलिये वे उन फलोंको त्यागके दूसरे मार्गसे चले गये हैं ॥ ३७ ॥

इत्युक्तः स तु भृत्यैस्तैर्वृषादर्भिश्चुकोप ह ।
तेषां संप्रतिकर्तुं च सर्वेषामगमद्गृहम् ॥ ३८ ॥

राजा वृषादर्भि सेवकोंका ऐसा वचन सुनके बहुत ही क्रुद्ध हुए और उनके प्रतिकारके निमित्त निश्चय करके घरपर लौट गये ॥ ३८ ॥

स गत्वाहवनीयेऽग्नौ तीव्रं नियममास्थितः ।
जुहाव संस्कृतां मन्त्रैरेकैकामाहुतिं नृपः ॥ ३९ ॥

उस राजाने आवहनीय अग्निके समीप जाकर तीव्र नियमोंका अवलम्बन करके पवित्र संस्कृत मन्त्रोंके सहारे एक एक आहुति देना शुरू किया ॥ ३९ ॥

तस्मादग्नेः समुत्तस्थौ कृत्या लोकभयंकरी ।
तस्या नाम वृषादर्भिर्यातुधानीत्यथाकरोत् ॥ ४० ॥

उस अग्निसे एक लोकभयङ्करी कृत्या निकली; वृषादर्भिने उसका यातुधानी नाम रखा ॥४०॥

सा कृत्या कालरात्रीव कृताञ्जलिरुपस्थिता ।
वृषादर्भिं नरपतिं किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ ४१ ॥

कालरात्रिकी भांति वह कृत्या हाथ जोडके राजा वृषादर्भिके निकट उपस्थित होके बोली, मैं क्या करूं ? ॥ ४१ ॥

वृषादर्भिरुवाच—

ऋषीणां गच्छ सप्तानामरुन्धत्यास्तथैव च ।
दासीभर्तुश्च दास्याश्च मनसा नाम धारय ॥ ४२ ॥

वृषादर्भि बोले– सप्तर्षियों और अरुन्धतीके निकट जाओ, उनके तथा उनकी दासिपति और दासीके नामका अर्थ मनहीमन निश्चय करो ॥ ४२ ॥

ज्ञात्वा नामानि चैतेषां सर्वानेतान्विनाशय ।
विनष्टेषु यथा स्वैरं गच्छ यत्रेप्सितं तव ॥ ४३ ॥

और इन सबके नामको जानकर सबका ही नाश करो । उनके नष्ट होनेपर जहां तुम्हारी इच्छा हो, वहां जाना ॥ ४३ ॥

सा तथेति प्रतिश्रुत्य यातुधानी स्वरूपिणी ।
जगाम तद्वनं यत्र विचेरुस्ते महर्षयः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥ ३९३९ ॥

यातुधानी स्वरूपिणी वह कृत्या " ऐसा ही करूंगी " इस प्रकार अङ्गीकार करके जिस वनमें वे महर्षिवृन्द विचरते थे, वहां गई ॥ ॥ ४४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें चौरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९४ ॥ ३९३९ ॥

: ९५ :

भीष्म उवाच—

अथात्रिप्रमुखा राजन्वने तस्मिन्महर्षयः ।
व्यचरन्भक्षयन्तो वै मूलानि च फलानि च ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! अनन्तर अत्रि प्रभृति महर्षिगण उस वनमें फलमूल खाते हुए विचरते थे ॥ १ ॥

अथापश्यन्सुपीनांसपाणिपादमुखोदरम् ।
परिव्रजन्तं स्थूलाङ्गं परिव्राजं शुनःसखम् ॥ २ ॥

उस समय उन्होंने मोटे और सुंदर कंधे, हाथ, पैर, मुख और पेट युक्त एक स्थूल शरीरवाले संन्यासीको कुत्तेके सहित भ्रमण करते हुए देखा ॥ २ ॥

अरुन्धती तु तं दृष्ट्वा सर्वाङ्गोपचितं शुभा ।
भवितारो भवन्तो वै नैवमित्यब्रवीदृषीन् ॥ ३ ॥

अरुन्धती उस सर्वाङ्गसुन्दर संन्यासीको देखके ऋषियोंसे बोली, क्या आप लोग ऐसे नहीं होंगे ? ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच—

नैतस्येह यथास्माकमग्निहोत्रमनिर्हुतम् ।
सायं प्रातश्च होतव्यं तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ ४ ॥

वसिष्ठ बोले— हम लोगोंकी तरह इसको चिन्ता नहीं है कि आज अग्निहोत्र नहीं हुआ, सवेरे और सन्ध्याको होम करना चाहिये, इसीलिये यह कुत्तेके सहित इस प्रकार मोटा हुआ है ॥ ४ ॥

अत्रिरुवाच—

नैतस्येह यथास्माकं क्षुधा वीर्यं समाहृतम् ।
कृच्छ्राधीतं प्रनष्टं च तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ ५ ॥

अत्रि बोले— क्षुधासे हम लोगोंका बल जिस प्रकार नष्ट हो रहा है और अत्यन्त कष्टसे पढी हुई वेद विद्या जिस भांति विनष्ट हुई है, इसकी वैसी नहीं हुई है, इसी निमित्त यह इस प्रकार कुत्तेके सहित मोटा हो गया है ॥ ५ ॥

विश्वामित्र उवाच—

नैतस्येह यथास्माकं शश्वच्छास्त्रं जरद्गवः ।
अलसः क्षुत्परो मूर्खस्तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ ६ ॥

विश्वामित्र बोले— हम लोगोंका भूखके कारण सनातन शास्त्रप्रतिपादित धर्म जिस प्रकार जीर्ण हुआ है, वैसी दशा इसकी नहीं है, और यह आलसी, केवल भूख शमनार्थ प्रयत्न करता हुआ और मूर्ख है; इसीसे कुत्तेके सहित मोटा हुआ है ॥ ६ ॥

जमदग्निरुवाच—

नैतस्येह यथास्माकं भक्तमिन्धनमेव च ।
संचिन्त्य वार्षिकं किंचित्तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ ७ ॥

जमदग्नि बोले– हम लोग जिस भांति वार्षिक अन्न और काष्ठकी चिन्ता करते हैं, इसे उस प्रकार कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पडती है, इसीसे यह कुत्तेके सहित ऐसा पुष्ट है ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच—

नैतस्येह यथास्माकं चत्वारश्च सहोदराः ।
देहि देहीति भिक्षन्ति तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ ८ ॥

कश्यप बोले– जैसे हमारे चार भाई प्रतिदिन ' अन्न दो, अन्न दो ' कहकर भोजन मांगते हैं, इसको यह चिन्ता नहीं है; इसीसे यह कुत्तेके सहित पुष्ट है ॥ ८ ॥

भरद्वाज उवाच—

नैतस्येह यथास्माकं ब्रह्मबन्धोरचेतसः ।
शोको भार्यापवादेन तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ ९ ॥

भरद्वाज बोले– हमें भार्याके कलंकित होनेका जैसा शोक हुआ है, इस विचारशून्य ब्राह्मण-बन्धुको वैसी घटना नहीं हुई; इसी लिये यह पुरुष कुत्तेके सहित ऐसा मोटा हुआ है ॥९॥

गौतम उवाच—

नैतस्येह यथास्माकं त्रिकौशेयं हि राङ्कवम् ।
एकैकं वै त्रिवार्षीयं तेन पीवाञ्शुनःसखः ॥ १० ॥

गौतम बोले– हम लोगोंकी तरह कुशकी रस्सीसे गुंथी हुई मेखला और मृगचर्म इसे तीन वर्षतक धारण नहीं करना पडता है, इसीलिये यह पुरुष कुत्तेके सहित ऐसा मोटा हो गया है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच—

अथ दृष्ट्वा परिव्राट्स तान्महर्षीञ्शुनःसखः ।
अभिगम्य यथान्यायं पाणिस्पर्शमथाचरत् ॥ ११ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर उस कुत्तेके सहित आये हुए संन्यासीने उन महर्षियोंको देखके उनके समीप जाकर न्यायपूर्वक हाथसे स्पर्श किया ॥ ११ ॥

परिचर्यां वने तां तु क्षुत्प्रतीघातकारिकाम् ।
अन्योन्येन निवेद्याथ प्रातिष्ठन्त सहैव ते ॥ १२ ॥

और वे परस्पर अपना कुशल समाचार कहते हुए बोले– हम लोग भूक निवारण करनेके लिये इस वनमें विचार रहे हैं; ऐसा कहनेपर वे सब कोई इकट्ठे होकर निवास करने लगे ॥ १२ ॥

×

एकनिश्चयकार्याश्च व्यचरन्त वनानि ते।
आददानाः समुद्धृत्य मूलानि च फलानि च ॥ १३ ॥

वे सब एक ही निश्चय तथा कार्यके अभिलाषी होकर, वनके बीच फलमूलका संग्रह करते हुए विचरनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १३ ॥

कदाचिद्विचरन्तस्ते वृक्षैरविरलैर्वृताम्।
शुचिवारिप्रसन्नोदां ददृशुः पद्मिनीं शुभाम् ॥ १४ ॥

किसी समय उन्होंने विचरते हुए उत्तम सघन वृक्षोंसे पूरित और स्वच्छ, पवित्र जलसे युक्त एक सुन्दर तालाव देखा ॥ १४ ॥

बालादित्यवपुःप्रख्यैः पुष्करैरुपशोभिताम्।
वैदूर्यवर्णसदृशैः पद्मपत्रैरथावृताम् ॥ १५ ॥

वह तालाब प्रातःकालीन सूर्यके सदृश लाल कमलोंसे सुशोभित था और वैदूर्य मणिके वर्ण-सदृश पद्मपत्रोंसे परिपूर्ण था ॥ १५ ॥

नानाविधैश्च विहगैर्जलप्रकरसेविभिः।
एकद्वारामनादेयां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ १६ ॥

अनेक प्रकारके जलचर पक्षियोंसे अलंकृत था, उसमें प्रवेश करनेके लिये एक ही द्वार था, कोई उन कमल तथा तालावके जलको नहीं ले सकते थे, उसमें उतरनेके लिये सुंदर सीढियां थीं और कीचड नहीं था ॥ १६ ॥

वृषादर्भिप्रयुक्ता तु कृत्या विकृतदर्शना।
यातुधानीति विख्याता पद्मिनीं तामरक्षत ॥ १७ ॥

वृषादर्भि राजाके द्वारा भेजी हुई वह भयङ्करी कृत्या जो यातुधानी नामसे विख्यात थी, वह उस तालावकी रक्षा करती थी ॥ १७ ॥

शुनःसखसहायास्तु बिसार्थं ते महर्षयः।
पद्मिनीमभिजग्मुस्ते सर्वे कृत्याभिरक्षिताम् ॥ १८ ॥

शुनसखके सहित वे सब महर्षि लोग मृणालके निमित्त उस कृत्यारक्षित तालावकी ओर गये ॥ १८ ॥

ततस्ते यातुधानीं तां दृष्ट्वा विकृतदर्शनाम्।
स्थितां कमलिनीतीरे कृत्यामूचुर्महर्षयः ॥ १९ ॥

अनन्तर महर्षियोंने तालावके तटपर स्थित अत्यंत विकराल यातुधानी कृत्याको देखके कहा ॥ १९ ॥

एका तिष्ठसि का नु त्वं कस्यार्थे किं प्रयोजनम्।
पद्मिनीतीरमाश्रित्य ब्रूहि त्वं किं चिकीर्षसि ॥ २० ॥

तुम अकेली किसके लिये यहांपर निवास करती हो? तालावके तटको अवलम्बन करके तुम्हारे निवास करनेका क्या प्रयोजन है और तुम क्या करनेकी इच्छा करती हो, उसे कहो ॥ २० ॥

यातुधान्युवाच—

यास्मि सास्म्यनुयोगो मे न कर्तव्यः कथंचन ।
आरक्षित्रीं मां पद्मिन्या वित्त सर्वे तपोधनाः ॥ २१ ॥

यातुधानी बोली— मैं चाहे जो कोई क्यों न होऊं, मुझसे तुम लोगोंको कुछ पूछना न चाहिये । हे तपस्वीवृन्द ! तुम्हें मालूम हो, कि मैं इस तालावकी रक्षामें नियुक्त हूं ॥ २१ ॥

ऋषय ऊचुः—

सर्वे एव क्षुधार्ताः स्म न चान्यत्किंचिदस्ति नः ।
भवत्याः संमते सर्वे गृह्णीमहि बिसान्युत ॥ २२ ॥

ऋषिवृन्द बोले— हम लोग क्षुधासे आर्त्त हैं, हमारे पास खानेके लिये कुछ भी नहीं है; तुम्हारी सम्मति हो, तो हम लोग मृणाल ले लें ॥ २२ ॥

यातुधान्युवाच—

समयेन बिसानीतो गृह्णीध्वं कामकारतः ।
एकैको नाम मे प्रोक्त्वा ततो गृह्णीत माचिरम् ॥ २३ ॥

यातुधानी बोली— तुम लोग एक शर्तपर इच्छानुसार मृणाल ले सकेंगे; एक-एक आकर अपना नाम और अर्थ कहके इसमेंसे मृणाल ग्रहण करो, इसमें देर करना नहीं ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच—

विज्ञाय यातुधानीं तां कृत्यामृषिवधैषिणीम् ।
अत्रिः क्षुधापरीतात्मा ततो वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

भीष्म बोले— अनन्तर क्षुधासे व्याकुलचित्त अत्रिने उस यातुधानी कृत्याको नामका अर्थ जाननेमें समर्थ और ऋषियोंके मारनेकी इच्छा करनेवाली जानके, यह वचन कहा ॥ २४ ॥

अरात्रिरत्रेः सा रात्रिर्यां नाधीते त्रिरद्य वै ।
अरात्रिरत्रिरित्येव नाम मे विद्धि शोभने ॥ २५ ॥

जो इस सारे जगत्को पापसे उबारता है, वेद उसे अत्रि नामसे पुकारता है, इसलिये जो पापसे परित्राण करता है, वह अत्रि है और काम क्रोध आदि शत्रु जिसे अवलम्बन किया करते हैं, उसे अर अर्थात् पाप कहा जाता है, उस पापसे जो बचाता है, वह अरात्रि है, इसलिये जो अरात्रि हो, वही अत्रि है; अद् शब्दका अर्थ मृत्यु है, उससे जो त्राण करता है, उसे भी अत्रि कहा जाता है, इसलिये धर्म भी अत्रिपदवाच्य है, अद्य अर्थात् वर्त्तमान कालमें जो तीन बार अधिगत नहीं होता, अतीत पुत्रादिके अनुत्पत्ति समयमें आगतत्व निबन्धन उत्पत्तिकालमें वर्तमान हेतु और नाश होनेपर अतीतत्वके द्वारा जो जाना नहीं जाता, जिसका इस त्रिबार अधिगम नहीं है, केवल वर्तमान ही है; जो अवस्था हार्दाकाशाख्य जगत्कारणप्राप्ति सर्व पापविनाशिनी है, उसे ही अरात्रि कहते हैं । हे सुन्दरी ! इसलिये जब मैं ही अरात्रि हूं, तब तुम मेरा नाम अत्रि निश्चय करो ॥ २५ ॥

यातुधान्युवाच—

यथोदाहृतमेतत्ते मयि नाम महामुने ।
दुर्धार्यमेतन्मनसा गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ २६ ॥

यातुधानी बोली— हे महामुनि ! तुमने मेरे समीप जो नाम अर्थके साथ कहा है, वह मनमें भी धारण करना बहुत कठिन है । इसलिये तुम जाओ, तालावमें उतरो ॥ २६ ॥

वसिष्ठ उवाच—

वसिष्ठोऽस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासं गृहेष्वपि ।
वरिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम् ॥ २७ ॥

वसिष्ठ बोले— अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, स्वर्ग, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्रगण और श्रुति प्रसिद्ध वसु अर्थात् जिन्हें अवलंबन करके सब कोई वास करते हैं, ये जिसके अधीन होते हैं, वह अणिमा आदि ऐश्वर्यशाली महायोगी हैं, ये सब मेरे वशीभूत हैं, इस ही निमित्त मैं वसिष्ठ और अत्यन्त महान् होनेसे वरिष्ठ तथा सब आश्रमोंके उपजीव्य वास योग्य गृहस्था-श्रममें निवास किया करता हूं, इसलिये वसिष्ठत्व और वास करनेसे मुझे वसिष्ठ जानो, मैं सबका अवलंब हूं, इसलिये देवता लोग मेरी रक्षा करते हैं ॥ २७ ॥

यातुधान्युवाच—

नामनैरुक्तमेतत्ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ २८ ॥

यातुधानी बोली— तुमने जो अपने नामका निरुक्त कहा, उसका अक्षरार्थ अत्यन्त दुःखसे बोध होता है, उसके अक्षरोंका उच्चारण करना भी कठिन है; इसलिये इसकी धारणा नहीं की जा सकती; अच्छा जाओ, तुम तालावमें उतरो ॥ २८ ॥

कश्यप उवाच—

कुलं कुलं च कुपपः कुपयः कश्यपो द्विजः ।
काश्यः काशनिकाशत्वादेतन्मे नाम धारय ॥ २९ ॥

कश्यप बोले— मैं प्रति शरीरमें एक हूं, इसलिये मेरा नाम कश्य है। इस शरीरमें रहनेवाली अश्वरूपी इन्द्रियोंको कश्य कहते हैं, उन इन्द्रियोंका आश्रय होनेसे शरीर भी कश्य है, इस-लिये कश्यकी रक्षा करनेसे मैं कश्यप हूं । और कु अर्थात् पृथ्वीपर जो वृष्टी करता है, उसे कु-पप अर्थात् सूर्य कहा जाता है, वह कु-पप सूर्य अर्थात् द्वादशसूर्य मेरा पुत्र है; इसलिये मैं कुपप हूं, दीप्तिमान होनेसे कश्य और काश पुष्प सदृश केशयुक्त होनेसे सदा तपस्यासे प्रदीप्त हूं; इसलिये काश्य मेरा नाम है, यह तुम धारण करो ॥ २९ ॥

यातुधान्युवाच—

यथोदाहृतमेतत्ते मयि नाम महामुने ।
दुर्धार्यमेतन्मनसा गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ३० ॥

यातुधानी बोली— हे महामुनि ! तुमने मेरे समीप जिस प्रकार अपना नाम कहा, वह मनमें भी धारण नहीं किया जाता; इसलिये जाओ, तालावमें उतरो ॥ ३० ॥

भरद्वाज उवाच—

भरे सुतान्भरे शिष्यान्भरे देवान्भरे द्विजान् ।
भरे भार्यामनव्याजो भरद्वाजोऽस्मि शोभने ॥ ३१ ॥

भरद्वाज बोले— मैं अशिष्य अर्थात् शासन न करने योग्य शत्रुओंको भी करुणासे वशीभूत होके प्रतिपालन करता हूं और असुत अर्थात् उदासीन, दीन हीन लोगोंको प्रतिपालन किया करता हूं; देवताओंको भरण करता और द्विजोंको भी भरण किया करता हूं, भार्या, पुत्र और सेवकोंको दूसरे लोग जिस प्रकार पालते हुए पृथ्वीकी भांति सर्वसह और अन्नप्रद होते हैं, मैं भी वैसा ही हूं । हे सुन्दरि ! इसलिये मैं अनव्या, अर्थात् मायाके द्वारा लोकहितके लिये उत्पन्न होनेसे अनव्याज हूं; इससे तुम मुझे भरद्वाज जानो ॥ ३१ ॥

यातुधान्युवाच—

नामनैरुक्तमेतत्ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ३२ ॥

यातुधानी बोली— तुम्हारे नामका ऐसा निर्वचन तथा अक्षरार्थ कहनेमें अत्यन्त कष्ट होता है, यह धारण नहीं किया जा सकता; इसलिये जाओ, तालावमें उतरो ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच—

गोदमो दमगोऽधूमो दमो दुर्दर्शनश्च ते ।
विद्धि मां गौतमं कृत्ये यातुधानि निबोध मे ॥ ३३ ॥

गौतम बोले— मैं जितेन्द्रिय होनेसे गोपद वाच्य, स्वर्ग और भूमिको वशीभूत करनेसे गोदम तथा धूमरहित अग्नितुल्य होनेसे अधूम हूं, इसलिये तुममें दुर्दर्शन निबंधनसे अदम अर्थात् दूसरेसे दमनीय नहीं हूं । हे यातुधानी कृत्या ! मेरे जन्मते ही मेरी गो अर्थात् किरणके सहारे तम अर्थात् अन्धकार नष्ट हुआ था, इसलिये मेरा नाम गौतम जानो, मैं अग्निकी भांति तुम्हारे लिये दुष्पर्श हूं ॥ ३३ ॥

यातुधान्युवाच—

यथोदाहृतमेतत्ते मयि नाम महामुने ।
नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ३४ ॥

यातुधानी बोली— हे महामुनि ! मेरे समीप तुमने जो नामकी व्याख्या कही, वह धारण करनेके लिये मैं समर्थ नहीं हूं, इसलिये जाओ, तालावमें उतरो ॥ ३४ ॥

विश्वामित्र उवाच—

विश्वेदेवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवां तथा ।
विश्वामित्रमिति ख्यातं यातुधानि निबोध मे ॥ ३५ ॥

विश्वामित्र बोले— ब्रह्माण्डके देवगण मेरे मित्र हैं और मैं गौओं— इन्द्रियोंका तथा जगत्का मित्र हूं । हे यातुधानी ! इसलिये जगत्में मैं विश्वामित्र नामसे विख्यात हूं ॥ ३५ ॥

यातुधान्युवाच—

नामनैरुक्तमेतत्ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ३६ ॥

यातुधानी बोली— तुम्हारे इस नामका निरुक्त और इसका अक्षरार्थ अत्यन्त दुःखसे कहा जाता है, यह धारण करनेके योग्य नहीं है; इसलिये जाओ, तालावमें उतरो ॥ ३६ ॥

जमदग्निरुवाच—

जाजमद्यजजा नाम मृजा माह जिजायिषे ।
जमदग्निरिति ख्यातमतो मां विद्धि शोभने ॥ ३७ ॥

जमदग्नि बोले— यज्ञादिकोंमें जो वारम्वार हवि भक्षण करते हैं, उन्हें याजमान् कहा जाता है । उस याजमान् अर्थात् देवगणका जिसके द्वारा यजन किया जाता है, उसका नाम यज अर्थात् अग्नि जानो । हे सुन्दरि ! उसके आविर्भावमें मैंने जन्म लिया है, इसलिये तुम मुझे जमदग्नि नामसे प्रसिद्ध जानो ॥ ३७ ॥

यातुधान्युवाच—

यथोदाहृतमेतत्ते मयि नाम महामुने ।
नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ३८ ॥

यातुधानी बोली— हे महामुनि ! तुमने जिस प्रकार मेरे समीप अपना नाम कहा, वह धारण करनेके लिये मेरे लिये अत्यंत कठिन है, इसलिये जाओ, तालावमें उतरो ॥ ३८ ॥

अरुन्धत्युवाच—

धरां धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् ।
मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम् ॥ ३९ ॥

अरुन्धती बोली— मैं पतिकी अनुगामिनी होकर धर अर्थात् पर्वत, धरित्री और वसुधा अर्थात् देवगणोंके निवास स्थान स्वर्गमें वास करती हूं, तथा पतिके मनका अनुरोध किया करती हूं, इसलिये मुझे अरुन्धती जानो ॥ ३९ ॥

यातुधान्युवाच—

नामनैरुक्तमेतत्ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ४० ॥

यातुधानी बोली— तुम्हारे नामका निर्वचन और इसका अक्षरार्थ अत्यन्त दुःखसे कहा जाता है, यह धारण करनेके योग्य नहीं है; इसलिये तुम भी जाओ, तालावमें उतरो ॥ ४० ॥

गण्डोवाच—

गण्डं गण्डं गतवती गण्डगण्डेति संज्ञिता।

गण्डगण्डेव गण्डेति विद्धि मानलसंभवे ॥ ४१ ॥

गण्डा बोली— हे अग्निसम्भवे ! मुखके एक स्थानको पण्डित लोग गण्ड कहते हैं, मेरा वह स्थान-कपोल ऊंचा है, इसलिये मुझे गण्डा जानो ॥ ४१ ॥

यातुधान्युवाच—

नामनैरुक्तमेतत्ते दुःखव्याभाषिताक्षरम्।

नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ४२ ॥

यातुधानी बोली— तुम्हारे नामका निरुक्त और अक्षरार्थ अत्यन्त दुःखसे कहा जाता है, यह धारणाके योग्य नहीं है, इसलिये जाओ, तुम भी तालावमें उतरो ॥ ४२ ॥

पशुसख उवाच

सखा सखे यः सख्येयः पशूनां च सखा सदा।

गौणं पशुसखेत्येवं विद्धि मामग्निसंभवे ॥ ४३ ॥

पशुसख बोला— हे अग्निसम्भवे ! मैं पशु अर्थात् जीवोंको देखते ही रक्षा वा रञ्जन किया करता हूं, इसलिये मैं सदा पशुओंका सखा हूं, इस ही गुणके संबंधसे मेरा पशुसख नाम जानो ॥ ४३ ॥

यातुधान्युवाच—

नामनैरुक्तमेतत्ते दुःखव्याभाषिताक्षरम्।

नैतद्धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ४४ ॥

यातुधानी बोली— तुम्हारे नामका निरुक्त और अक्षरार्थ अत्यन्त दुःखसे कहा जाता है, यह धारणा करनेके योग्य नहीं है; इसलिये जाओ, तुम भी तालावमें उतरो ॥ ४४ ॥

शुनःसख उवाच—

एभिरुक्तं यथा नाम नाहं वक्तुमिहोत्सहे।

शुनःसखसखायं मां यातुधान्युपधारय ॥ ४५ ॥

शुनःसख बोले— हे यातुधानी ! इन ऋषि लोगोंने जिस प्रकार अपना अपना नाम कहा, मैं उस भांति कहनेका उत्साह नहीं करता; इसलिये मुझे शुनःसखा अर्थात् धर्मके सखा मुनियोंके सखारूपसे निश्चय करो ॥ ४५ ॥

यातुधान्युवाच—

नाम तेऽव्यक्तमुक्तं वै वाक्यं संदिग्धया गिरा।

तस्मात्सकृदिदानीं त्वं ब्रूहि यन्नाम ते द्विज ॥ ४६ ॥

यातुधानी बोली— तुमने सन्दिग्ध भाषासे निज नामका निर्वचन किया है, हे द्विज ! इसलिये अब एकवार अपना यथार्थ नाम कहो ॥ ४६ ॥

शुनःसख उवाच—

सकृदुक्तं मया नाम न गृहीतं यदा त्वया ।
तस्मात्त्रिदण्डाभिहता गच्छ भस्मेति माचिरम् ॥ ४७ ॥

शुनःसख बोले– मैंने एक बार अपना नाम कहा, उसे यदि तू नहीं समझ सकी, तो इस कारण इस त्रिदण्डकी चोटसे शीघ्र ही जलके राख हो जा ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच—

सा ब्रह्मदण्डकल्पेन तेन मूर्ध्नि हता तदा ।
कृत्या पपात मेदिन्यां भस्मसाच्च जगाम ह ॥ ४८ ॥

यातुधानी कृत्या उस समय ब्रह्मदण्डसदृश त्रिदण्डकी चोट सिरपर लगते ही पृथ्वीपर गिरके उसी समय भस्म होगई ॥ ४८ ॥

शुनःसखश्च हत्वा तां यातुधानीं महाबलाम् ।
भुवि त्रिदण्डं विष्टभ्य शाद्वले समुपाविशत् ॥ ४९ ॥

शुनःसखा भी उस महाबलशालिनी राक्षसी यातुधानीको मारके पृथ्वीपर त्रिदण्ड रखके, स्वयं वहीं घाससे ढंकी हुई भूमिपर बैठ गये ॥ ४९ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे पुष्कराणि बिसानि च ।
यथाकाममुपादाय समुत्तस्थुर्मुदान्विताः ॥ ५० ॥

अनन्तर वे मुनिवृन्द स्वेच्छापूर्वक कमलके फूल और मृणाल लेके हर्षित होकर तालाबसे बाहर निकले ॥ ५० ॥

श्रमेण महता युक्तास्ते बिसानि कलापशः ।
तीरे निक्षिप्य पद्मिन्यास्तर्पणं चक्रुरम्भसा ॥ ५१ ॥

उन्होंने अत्यन्त परिश्रमसे मृणालोंको इकट्ठा करके अलग अलग बोझे बांधे; उन्हें तालाबके तटपर रखकर वे तालाबके जलसे तर्पण करने लगे ॥ ५१ ॥

अथोत्थाय जलात्तस्मात्सर्वे ते वै समागमन् ।
नापश्यंश्चापि ते तानि बिसानि पुरुषर्षभ ॥ ५२ ॥

अनन्तर पुरुषश्रेष्ठ ! वे ऋषिगण जलसे बाहर निकले तो उन्हें एकत्रित किए हुए मृणाल नहीं दिखायी पडे ॥ ५२ ॥

ऋषय ऊचुः—

केन क्षुधाभिभूतानामस्माकं पापकर्मणा ।
नृशंसेनापनीतानि बिसान्याहारकाङ्क्षिणाम् ॥ ५३ ॥

ऋषिगण बोले– हम लोग क्षुधातुर होके खानेकी इच्छासे जो सब मृणाल लाये थे, उन्हें न जाने किस निर्दय मनुष्यने हम पापियोंके मृणाल हर लिये ? ॥ ५३ ॥

ते शङ्कमानास्त्वन्योन्यं पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ।
ते ऊचुः शपथं सर्वे कुर्म इत्यरिकर्शन ॥ ५४ ॥

वे द्विजसत्तमगण आपसमें एक दूसरेपर शङ्कित होके इसी प्रकार पूछने लगे। हे अरिकर्षन! तब उन्होंने निषिद्ध कार्यके अकर्त्तव्यताच्छलसे शपथ करनेके लिये कहा ॥ ५४ ॥

त उक्त्वा बाढमित्येव सर्व एव शुनःसखम् ।
क्षुधार्त्ताः सुपरिश्रान्ताः शपथायोपचक्रमुः ॥ ५५ ॥

वे सब क्षुधार्त और अत्यन्त श्रमयुक्त थे, इसलिये ऐसा ही करेंगे ऐसा शुनःसखाको कहके सब कोई उस समय शपथ करनेको उद्यत हुए ॥ ५५ ॥

अत्रिरुवाच—

स गां स्पृशतु पादेन सूर्यं च प्रतिमेहतु ।
अनध्यायेष्वधीयीत बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ५६ ॥

अत्रि बोले— जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसे पांवसे गौको स्पर्श करने, सूर्यकी ओर मुंह करके पेशाब करने और अनध्यायके समय अध्ययन करनेका पाप लगे ॥ ५६ ॥

वसिष्ठ उवाच—

अनध्यायपरो लोके शुनः स परिकर्षतु ।
परिव्राट्कामवृत्तोऽस्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ५७ ॥
शरणागतं हन्तु मित्रं स्वसुतां चोपजीवतु ।
अर्थान्काङ्क्षतु कीनाशाद्बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ५८ ॥

वसिष्ठ बोले— जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसे लोकके बीच अनध्यायके समय वेद पाठ करने, क्रीडा वा मृगयाके निमित्त कुत्तोंका आकर्षण करने, संन्यासी होके स्वेच्छाचारी होने, शरणागत पुरुषको मारने, शुल्क लेकर अपनी कन्या वेंचके जीवन बिताने, तथा किसानसे धनकी अभिलाषा करनेका पाप लगे ॥ ५७-५८ ॥

कश्यप उवाच—

सर्वत्र सर्वं पणतु न्यासलोपं करोतु च ।
कूटसाक्षित्वमभ्येतु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ५९ ॥

कश्यप बोले— जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसे सब ठौर सब विषयोंमें व्यवहार करने, न्यस्तधन लुप्त करने, और झूठी साक्षी देनेका पाप लगे ॥ ५९ ॥

वृथामांसं समश्नातु वृथादानं करोतु च ।
यातु स्त्रियं दिवा चैव बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६० ॥

तथा उसे मांसाहार करने, वृथा दान करने और दिनमें स्त्री सम्भोग करनेका पाप लगे ॥ ६० ॥

×

भरद्वाज उवाच—

नृशंसस्त्यक्तधर्मास्तु स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
ब्राह्मणं चापि जयतां बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६१ ॥

भरद्वाज बोले– जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसे धर्मत्यागी होकर स्त्रीजाति, कुटुम्बी-जनों और गौवोंके विषयमें निष्ठुर आचरण करने अथवा ब्राह्मणको वादमें पराजित करनेका पाप लगे ॥ ६१ ॥

उपाध्यायमधः कृत्वा ऋचोऽध्येतु यजूंषि च ।
जुहोतु च स कक्षाग्नौ बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६२ ॥

जिसने मृणाल हरण किया है, उसे उपाध्याय—गुरुको अग्राह्य करके ऋक् और यजुर्वेद पढने और तृणयुक्त अग्निमें होम करनेका पाप लगे ॥ ६२ ॥

जमदग्निरुवाच—

पुरीषमुत्सृजत्वप्सु हन्तु गां चापि दोहिनीम् ।
अनृतौ मैथुनं यातु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६३ ॥

जमदग्नि बोले– जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसे जलमें विष्ठा करने, दूध देनेवाली गायको मारने तथा ऋतुकालके अतिरिक्त अन्य समयमें स्त्रीके साथ समागम करनेका पाप लगे ॥ ६३ ॥

द्वेष्यो भार्योपजीवी स्याद्दूरबन्धुश्च वैरवान् ।
अन्योन्यस्यातिथिश्चास्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६४ ॥

जिसने मृणाल हरण किया है, उसे सबके साथ द्वेषी होनेका, भार्याको उपजीव्य करके जीवन बिताने, बन्धुजनोंसे दूर रहने और सदा सबसे वैरयुक्त होनेका और परस्परमें अतिथि होनेका पाप लगे ॥ ६४ ॥

गौतम उवाच—

अधीत्य वेदांस्त्यजतु त्रीनग्नीनपविध्यतु ।
विक्रीणातु तथा सोमं बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६५ ॥

गौतम बोले– जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसे वेदोंको पढके उन्हें त्याग देनेका, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आवहनीय इन तीनों अग्नियोंको परित्याग करनेका और सोम-रसका विक्रय करनेका पाप लगे ॥ ६५ ॥

उदपानप्लवे ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
तस्य सालोक्यतां यातु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६६ ॥

एकमात्र कूएंके जलसे जिस स्थानमें जीवन धारण किया जाता है, वैसे देशमें ब्राह्मण होके भी जो वृषलीपति हुआ करता है, जिसने मृणाल हरण किया है, वह वैसे ब्राह्मणोंकी सदृश-ताको प्राप्त होवे ॥ ६६ ॥

विश्वामित्र उवाच—

जीवतो वै गुरून्भृत्यान्भरन्त्वस्य परे जनाः ।
अगतिर्बहुपुत्रः स्याद्बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६७ ॥

विश्वामित्र बोले— जिस पुरुषने मृणाल हरण किया है, उसके जीवित रहते ही दूसरे लोग उसके गुरुजनों तथा सेवकोंका पालन करें, उसको और जिसकी दुर्गति हुई हो तथा जिसके बहुत पुत्र हों, उसके जो पाप लगता है, वह पाप उसे लगे ॥ ६७ ॥

अशुचिर्ब्रह्मकूटोऽस्तु ऋद्ध्या चैवाप्यहंकृतः ।
कर्षको मत्सरी चास्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६८ ॥

जिसने मृणाल हरण किया है, उसे अपवित्र रहनेका, वेदको मिथ्या माननेका, सम्पत्तिका अहंकार करनेका, ब्राह्मण होते हुए भी खेत जोतनेका तथा मत्सरी होनेका पाप लगे ॥ ६८ ॥

वर्षान्करोतु भृतको राज्ञश्चास्तु पुरोहितः ।
अयाज्यस्य भवेदृत्विग्बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ६९ ॥

जिसने मृणाल हरण किया है, उसे वर्षाकालमें यात्रा करनेका वेतनभोगी सेवक होनेका, राजाका पुरोहित और यज्ञके अनधिकारीसे यज्ञ करानेका पाप लगे ॥ ६९ ॥

अरुन्धत्युवाच—

नित्यं परिवदेच्छ्वश्रूं भर्तुर्भवतु दुर्मनाः ।
एका स्वादु समश्नातु बिसस्तैन्यं करोति या ॥ ७० ॥

अरुन्धती बोली— जो स्त्री मृणाल हरण किये हो, उसे सदा सासकी निंदा करनेका, अपने स्वामीका मन दुखानेका और अकेले ही सुस्वादु वस्तुएं खानेका पाप लगे ॥ ७० ॥

ज्ञातीनां गृहमध्यस्था सक्तूनत्तु दिनक्षये ।
अभाग्यावीरसूरस्तु बिसस्तैन्यं करोति या ॥ ७१ ॥

जिसने मृणाल हरण किया है, उसे स्वजनोंका अनादर करके गृहमें रहनेका, दिन बीतनेपर सत्तू खानेका और अभागा तथा अवीरप्रसविनी जननी होनेका पाप लगे ॥ ७१ ॥

गण्डोवाच—

अनृतं भाषतु सदा साधुभिश्च विरुध्यतु ।
ददातु कन्यां शुल्केन बिसस्तैन्यं करोति या ॥ ७२ ॥

गण्डा बोली—जिसने मृणाल हरण किया है, उसे सर्वदा झूठ बोलनेका, साधु जनोंके सङ्ग विरोध करनेका और शुल्क लेके कन्यादान करनेका पाप लगे ॥ ७२ ॥

साधयित्वा स्वयं प्राशेद्दास्ये जीवतु चैव ह ।
विकर्मणा प्रमीयेत बिसस्तैन्यं करोति या । ॥ ७३ ॥

जिसने मृणाल हरण किया है, उसे अन्न पाक करके स्वयं अकेली भोजन करनेका, दास्यकर्म करके जीवित रहनेका और पापकर्म करके मृत्युको प्राप्त होनेका पाप लगे ॥ ७३ ॥

पशुसख उवाच—

दास्य एव प्रजायेत सोऽप्रसूतिरकिंचनः ।
दैवतेष्वनमस्कारो बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ७४ ॥

पशुसख बोला– जिसने मृणाल हरण किया है, उसे दूसरे जन्ममें दास होकर जन्म लेनेका, सन्तानरहित तथा निर्धन होनेका और देवताओंको नमस्कार न करनेका पाप लगे ॥७४॥

शुनःसख उवाच—

अध्वर्यवे दुहितरं ददातु च्छन्दोगे वा चरितब्रह्मचर्ये ।
आथर्वणं वेदमधीत्य विप्रः स्नायीत यो वै हरते बिसानि ॥ ७५ ॥

शुनःसख बोले– जिसने मृणाल हरण किया है, वह ब्रह्मचर्ययुक्त यजुर्वेद जाननेवाले अथवा सामवेदज्ञ ब्राह्मणको कन्यादान करे और वह ब्राह्मण अथर्ववेद पढ़के ही स्नातक बन जाय॥ ७५॥

ऋषय ऊचुः—

इष्टमेतद्द्विजातीनां योऽयं ते शपथः कृतः ।
त्वया कृतं बिसस्तैन्यं सर्वेषां नः शुनःसख ॥ ७६ ॥

ऋषिगण बोले– हे शुनःसख ! तुमने जो शपथ की है, वह तो ब्राह्मणोंकी ही अभिलषित है; इसलिये तुमने ही हम लोगोंका मृणाल हरण किया है ॥ ७६ ॥

शुनःसख उवाच—

न्यस्तमाद्यमपश्यद्भिर्यदुक्तं कृतकर्मभिः ।
सत्यमेतन्न मिथ्यैतद्बिसस्तैन्यं कृतं मया ॥ ७७ ॥

शुनःसख बोले– आप लोगोंने इस समय न्यस्तधनको न देखके कृतकर्मा होकर जो वचन कहा, वह सत्य है, इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है; मैंने ही मृणाल हरण किया है ॥ ७७ ॥

मया ह्यन्तर्हितानीह बिसानीमानि पश्यत ।
परीक्षार्थं भगवतां कृतमेतन्मयानघाः ।
रक्षणार्थं च सर्वेषां भवतामहमागतः ॥ ७८ ॥

देखिये, ये सब मृणाल मेरे द्वारा लुप्त हुई हैं । हे अनघगण ! मैंने आप लोगोंकी परीक्षाके लिये ऐसा किया है, मैं तुम लोगोंकी रक्षाके लिये इस स्थानमें आया था ॥ ७८ ॥

यातुधानी ह्यतिक्रुद्धा कृत्यैषा वो वधैषिणी ।
वृषादर्भिप्रयुक्तैषा निहता मे तपोधनाः ॥ ७९ ॥

इस अत्यन्त क्रुद्ध यातुधानी कृत्याने आप लोगोंके वधकी इच्छा की थी । हे तपोधनगण ! राजा वृषादर्भिने इसे भेजा था, मैंने उसे मारा है ॥ ७९ ॥

दुष्टा हिंस्यादियं पापा युष्मान्प्रत्यग्निसंभवा ।
तस्मादस्म्यागतो विप्रा वासवं मां निबोधत ॥ ८० ॥

यह दुष्टा हिंसा पापिनी कृत्या आप लोगोंके निमित्त अग्निसे उत्पन्न हुई थी । हे विप्रगण ! इस ही निमित्त मैं यहांपर आया हूं, आप लोग मुझे इन्द्र जानो ॥ ८० ॥

अलोभादक्षया लोकाः प्राप्ता वः सार्वकामिकाः ।
उत्तिष्ठध्वमितः क्षिप्रं तानवाप्नुत वै द्विजाः ॥ ८१ ॥

आप लोगोंने लोभको त्यागनेसे सर्वकामसम्पन्न अक्षय लोकोंको पाया है। हे द्विजगण! इसलिये यहांसे चलिये, आप लोगोंको शीघ्रही वे समस्त लोक प्राप्त होंगे ॥ ८१ ॥

भीष्म उवाच—

ततो महर्षयः प्रीतास्तथेत्युक्त्वा पुरंदरम् ।
सहैव त्रिदशेन्द्रेण सर्वे जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ ८२ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर महर्षिवृन्द प्रसन्न होके इन्द्रसे बोले– "ऐसा ही होवे"। इतना कहके वे सब देवराजके सङ्ग सुरपुरमें गये ॥ ८२ ॥

एवमेते महात्मानो भोगैर्बहुविधैरपि ।
क्षुधा परमया युक्ताश्छन्द्यमाना महात्मभिः ।
नैव लोभं तदा चक्रुस्ततः स्वर्गमवाप्नुवन् ॥ ८३ ॥

इस ही भांति उन महात्माओंने राजाओंके द्वारा अनेक प्रकारके भोगोंसे प्रलोभित होनेपर भी भूखको बहुत ही सहा था, परन्तु उस समय कुछ भी लोभ न किया, इस ही निमित्त उन्होंने स्वर्गलोक पाया ॥ ८३ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु नरो लोभं विवर्जयेत् ।
एष धर्मः परो राजन्नलोभ इति विश्रुतः ॥ ८४ ॥

इसलिये मनुष्य सब अवस्थाओंमें ही लोभका परित्याग करे। हे राजन्! यही परम धर्म है, इसलिये अवश्य ही लोभ त्यागना योग्य है ॥ ८४ ॥

इदं नरः सच्चरितं समवायेषु कीर्तयेत् ।
सुखभागी च भवति न च दुर्गाण्यवाप्नुते ॥ ८५ ॥

मनुष्य इस सच्चरित्र विषयको जनसमाजमें कहनेसे सुखका भागी होता है; वह कभी संकटमें नहीं पडता ॥ ८५ ॥

प्रीयन्ते पितरश्चास्य ऋषयो देवतास्तथा ।
यशोधर्मार्थभागी च भवति प्रेत्य मानवः ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥ ४०२५ ॥

पितर, ऋषि और देववृन्द उसपर प्रसन्न होते हैं; वह मनुष्य यहां यश, धर्म और धनका भागी होता है और मरनेपर स्वर्गलोक पाता है ॥ ८६ ॥

महाभारतके अनुशासन पर्वमें पचानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९५ ॥ ४०२५ ॥

: ९६ :

भीष्म उवाच—

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यद्वृत्तं तीर्थयात्रायां शपथं प्रति तच्छृणु ॥ १ ॥

भीष्म बोले– प्राचीन लोग इस विषयमें यह पुराना इतिहास कहते हैं, तीर्थयात्राके समय शपथके विषयमें जो घटना हुई थी उसे सुनो ॥ १ ॥

पुष्करार्थं कृतं स्तैन्यं पुरा भरतसत्तम ।
राजर्षिभिर्महाराज तथैव च द्विजर्षिभिः ॥ २ ॥

हे भरतसत्तम महाराज ! कमलोंके लिये पहले समयमें राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंने इसी प्रकार चोरी की थी ॥ २ ॥

ऋषयः समेताः पश्चिमे वै प्रभासे समागता मन्त्रममन्त्रयन्त ।
चराम सर्वे पृथिवीं पुण्यतीर्थां तन्नः कार्यं हन्त गच्छाम सर्वे ॥ ३ ॥

पश्चिम प्रदेशमें ऋषियोंने एकत्र होके प्रभास तीर्थमें यह विचार किया कि हम सब लोग पुण्य तीर्थोंसे भरी हुई समस्त पृथ्वीमण्डलकी यात्रा करें । यही हमारा कर्तव्य है; सब एक साथ यात्रा करें ॥ ३ ॥

शुक्रोऽङ्गिराश्चैव कविश्च विद्वांस्तथागस्त्यो नारदपर्वतौ च ।
भृगुर्वसिष्ठः कश्यपो गौतमश्च विश्वामित्रो जमदग्निश्च राजन् ॥ ४ ॥

हे राजन् ! शुक्र, अङ्गिरा, विद्वान् कवि, अगस्त्य, नारद, पर्वत, भृगु, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, ॥ ४ ॥

ऋषिस्तथा गालवोऽथाष्टकश्च भरद्वाजोऽरुन्धती वालखिल्याः ।
शिबिर्दिलीपो नहुषोऽम्बरीषो राजा ययातिर्धुन्धुमारोऽथ पूरुः ॥ ५ ॥

गालव ऋषि, अष्टक, भरद्वाज, अरुन्धती, वालखिल्य मुनिगण, राजा शिबि, दिलीप, नहुष, अम्बरीष, राजा ययाति, धुन्धुमार और पूरु ॥ ५ ॥

जग्मुः पुरस्कृत्य महानुभावं शतक्रतुं वृत्रहणं नरेन्द्र ।
तीर्थानि सर्वाणि परिक्रमन्तो माघ्यां ययुः कौशिकीं पुण्यतीर्थाम् ॥ ६ ॥

आदियोंने महानुभाव वृत्रहन्ता शतक्रतु देवराज इन्द्रको अगाडी करके तीर्थोंमें गमन किया; वे लोग अनेक तीर्थोंमें घूमकर माघी पूर्णिमाके दिन पुण्यतीर्थ कौशिकीमें उपस्थित हुए ॥६॥

सर्वेषु तीर्थेष्वथ धूतपापा जग्मुस्ततो ब्रह्मसरः सुपुण्यम् ।
देवस्य तीर्थे जलमग्निकल्पा विगाह्य ते भुक्तबिसप्रसूनाः ॥ ७ ॥
वहांके तीर्थोंमें स्नान करके अपने पाप धो कर ऋषिगण अत्यंत पवित्र ब्रह्मसर तीर्थमें गये । अनन्तर उन अग्निसदृश तेजस्वी ऋषियोंने देवतीर्थके जलमें स्नान करके कमलके फूलोंका आहार किया ॥ ७ ॥

केचिद्बिसान्यखनंस्तत्र राजन्नन्ये मृणालान्यखनंस्तत्र विप्राः ।
अथापश्यन्पुष्करं ते ह्रियन्तं ह्रदादगस्त्येन समुद्धृतं वै ॥ ८ ॥
हे महाराज! कोई कोई ऋषि वहां कमल खनने लगे, दूसरे ब्राह्मण लोग मृणाल लानेमें प्रवृत्त हुए । अनन्तर अगस्त्यने उस ह्रदसे जितने कमल तोडकर रखे थे, वे सब गायब हुए, यह सबने देखा ॥ ८ ॥

तानाह सर्वानृषिमुख्यानगस्त्यः केनादत्तं पुष्करं मे सुजातम् ।
युष्माञ्शङ्के दीयतां पुष्करं मे न वै भवन्तो हर्तुमर्हन्ति पद्मम् ॥ ९ ॥
अगस्त्यने उन सब ऋषियोंसे पूछा— किसने मेरे सुन्दर कमल लिये हैं? मैं तुम लोगोंपर शङ्का करता हूं, तुम लोग मुझे मेरे कमल दो, कमलोंको हरण करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ९ ॥

शृणोमि कालो हिंसते धर्मवीर्यं सेयं प्राप्ता वर्धते धर्मपीडा ।
पुराधर्मो वर्धते नेह यावत्तावद्गच्छामि परलोकं चिराय ॥ १० ॥
मैंने सुना है, कि काल धर्मबलको विनष्ट करता है, वही काल इस समय उपस्थित हुआ है; अधर्मसे पीडा होती है; जबतक इस लोकमें अधर्मकी वृद्धि नहीं होती है, उतने ही समयके बीच मैं सदाके लिये परलोकमें चला जाऊंगा ॥ १० ॥

पुरा वेदान्ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलाञ्श्रावयन्ति ।
पुरा राजा व्यवहारान्धर्म्यान्पश्यत्यहं परलोकं व्रजामि ॥ ११ ॥
इसके अनन्तर ब्राह्मण लोग गांवके बीच उच्च स्पष्ट स्वरसे शूद्रोंको वेद सुनावेंगे और राजा लोग व्यवहारमें प्रजाके अधर्मको देखेंगे; इसलिये इसके पहले ही मैं परलोकमें जाऊंगा ॥ ११ ॥

पुरावरान्प्रत्यवरान्गरीयसो यावन्नरा नावमंस्यन्ति सर्वे ।
तमोत्तरं यावदिदं न वर्तते तावद्व्रजामि परलोकं चिराय ॥ १२ ॥
जबतक सब उच्चश्रेणीके मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंकी निकृष्ट और मध्यम लोगोंके समान अवज्ञा नहीं करते हैं, तथा जबतक यह जगत् अज्ञान—तमोगुणसे परिपूरित नहीं होता है, उतने ही समयके बीच मैं सदाके लिये परलोकमें जाऊंगा ॥ १२ ॥

पुरा प्रपश्यामि परेण मर्त्यान्बलीयसा दुर्बलान्भुज्यमानान् ।
तस्माद्यास्यामि परलोकं चिराय न ह्युत्सहे द्रष्टुमीदृङ्नृलोके ॥ १३ ॥
इसके बाद बलवान् मनुष्य निर्बल मनुष्योंको अपने उपभोगमें लायेंगे, यह मैं देख रहा हूं, इसलिये मैं सदाके लिये परलोकमें जाऊंगा; इस लोकमें जीवोंकी ऐसी दुर्गति देखनेका मैं उत्साह नहीं करता ॥ १३ ॥

तमाहुरार्ता ऋषयो महर्षिं न ते वयं पुष्करं चोरयामः ।
मिथ्याभिषङ्गो भवता न कार्यः शपाम तीक्ष्णाञ्शपथान्महर्षे ॥ १४ ॥
यह सुनकर ऋषिवृन्द आर्त्त होकर उस महर्षिसे बोले— हे महर्षि ! हमने आपके पुष्कर नहीं लिये हैं, आप हम लोगोंपर निरर्थक कलंक न लगाइये। इसके लिये हम लोग तीव्र शपथ कर सकते हैं ॥ १४ ॥

ते निश्चितास्तत्र महर्षयस्तु संमन्यन्तो धर्ममेवं नरेन्द्र ।
ततोऽशपञ्शपथान्पर्ययेण सहैव ते पार्थिव पुत्रपौत्रैः ॥ १५ ॥
हे पुरुषेन्द्र ! उस समय वे महर्षि निश्चय करके इस धर्मको देखकर पुत्र और पौत्रोंके सहित क्रम-क्रमसे शपथ करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ १५ ॥

भृगुरुवाच—

प्रत्याक्रोशेदिहाक्रुष्टस्ताडितः प्रतिताडयेत् ।
खादेच्च पृष्ठमांसानि यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १६ ॥
भृगु बोले— जिसने आपके कमल चुरा लिये हैं, वह इस लोकमें निन्दित होके दूसरेकी निन्दा करे, ताडित होके दूसरेको मारे और ओढनेवाले वृषभ और ऊंटोंका मांस भक्षण करे ॥१६॥

वसिष्ठ उवाच—

अस्वाध्यायपरो लोके श्वानं च परिकर्षतु ।
पुरे च भिक्षुर्भवतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १७ ॥
वसिष्ठ बोले— जिसने आपके कमल हरण किये हैं, वह लोकके बीच अस्वाध्यायपरायण होके, कुत्तेको साथ लेकर शिकार करे और गांवके बीच भिक्षुक होके रहे ॥ १७ ॥

कश्यप उवाच—

सर्वत्र सर्वं पणतु न्यासे लोभं करोतु च ।
कूटसाक्षित्वमभ्येतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १८ ॥
कश्यप बोले— जिसने आपका कमल हरण किया है, वह सब ठौर समस्त वस्तुओंका पण करके क्रय विक्रय करे, न्यस्त धन लोप करनेका लोभ करे और मिथ्या साक्षी दे ॥१८॥

गौतम उवाच—

जीवत्वहंकृतो बुद्धया विपणत्वधमेन सः ।
कर्षको मत्सरी चास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १९ ॥

गौतम बोले– जिसने आपका कमल हरण किया है, वह अहंकारी बदनीयत और अधम पुरुषके साथ व्यवहार करनेवाला जीवन धारण करे और कर्षक तथा मत्सरी होवे ॥ १९ ॥

अङ्गिरा उवाच—

अशुचिर्ब्रह्मकूटोऽस्तु श्वानं च परिकर्षतु ।
ब्रह्महानिकृतिश्चास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २० ॥

अङ्गिरा बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह अपवित्र तथा कपटी ब्राह्मण होवे, कुत्तेको साथ लेकर शिकार करे, ब्रह्महत्या करके प्रायश्चित्त न करे ॥ २० ॥

धुन्धुमार उवाच—

अकृतज्ञोऽस्तु मित्राणां शूद्रायां तु प्रजायतु ।
एकः संपन्नमश्नातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २१ ॥

धुन्धुमार बोले– जिसने आपका कमल हरण किया है, वह मित्रोंके निकट अकृतज्ञ होवे, शूद्राके गर्भसे संतान उत्पन्न करे और उत्तम रीतिसे बने हुए अन्नको अकेला ही भोजन करे ॥ २१ ॥

पूरुरुवाच—

चिकित्सायां प्रचरतु भार्यया चैव पुष्यतु ।
श्वशुरात्तस्य वृत्तिः स्याद्यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २२ ॥

पूरु बोले– जिसने आपका कमल हरण किया है, वह चिकित्साका व्यवसाय करनेमें प्रवृत्त रहे, भार्याकी कमाईसे पुष्टिलाभ करे और श्वशुरके द्वारा उसकी जीविका चले ॥ २२ ॥

दिलीप उवाच—

उदपानप्लवे ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
तस्य लोकान्स व्रजतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २३ ॥

दिलीप बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह जिस गांवमें एक मात्र कूएंके जलसे जीवन धारण किया जाता है, वैसे गांवमें जो ब्राह्मण शूद्रका पति होके वास करता है, उसे प्राप्त होने योग्य दुःखदायी लोकोंमें जावे ॥ २३ ॥

शुक्र उवाच—

पृष्ठमांसं समश्नातु दिवा गच्छतु मैथुनम् ।
प्रेष्यो भवतु राज्ञश्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २४ ॥

शुक्र बोले– जिसने आपका कमल हर लिया है, वह मांस भक्षण करे, दिनमें मैथुन करे और राजाका प्रेष्य दूत होवे ॥ २४ ॥

×

जमदग्निरुवाच—

अनध्यायेष्वधीयीत मित्रं श्राद्धे च भोजयेत्।
श्राद्धे शूद्रस्य चाश्नीयाद्यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २५ ॥

जमदग्नि बोले– जिसने कमल लिया वह अनध्यायके कालमें पढे, श्राद्धमें मित्रोंको ही भोजन करावे और स्वयं शूद्रके श्राद्धमें भोजन करे ॥ २५ ॥

शिबिरुवाच—

अनाहिताग्निर्म्रियतां यज्ञे विघ्नं करोतु च।
तपस्विभिर्विरुध्येत यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २६ ॥

शिबि बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह अग्निहोत्र किये बिना ही मृत्युके मुखमें पडे, यज्ञके समयमें विघ्न करे और तपस्वियोंके सङ्ग विरोध करे ॥ २६ ॥

ययातिरुवाच—

अनृतौ जटी व्रतिन्यां वै भार्यायां संप्रजायतु।
निराकरोतु वेदांश्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २७ ॥

ययाति बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह व्रती और जटाधारी होके ऋतुकालके अतिरिक्त अन्य समयमें भार्याके द्वारा संन्तान उत्पन्न करे और वेदोंका निरादर करे ॥२७॥

नहुष उवाच—

अतिथिं गृहस्थो नुदतु कामवृत्तोऽस्तु दीक्षितः।
विद्यां प्रयच्छतु भृतो यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २८ ॥

नहुष बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह संन्यासी होके गृहस्थ होवे, यज्ञकी दीक्षा लेकर भी स्वेच्छाचारी बने और वेतन लेके विद्यादान करे ॥ २८ ॥

अम्बरीष उवाच—

नृशंसस्त्यक्तधर्मोऽस्तु स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
ब्राह्मणं चापि जहतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २९ ॥

अम्बरीष बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह धर्मत्यागी होके स्त्री, जाति और गौओंके विषयमें क्रूर होवे तथा ब्रह्महत्या करे ॥ २९ ॥

नारद उवाच—

गूढोऽज्ञानी बहिः शास्त्रं पठतां विस्वरं पदम्।
गरीयसोऽवजानातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३० ॥

नारद बोले– जिसने आपका कमल लिया है, वह कठिन हृदयवाला, अज्ञानी होवे; मर्यादाका उल्लंघन करके शास्त्र पढे; विस्वर-पदयुक्त उच्चारण करे और गुरु जनोंकी अवज्ञा करे ॥ ३० ॥

नाभाग उवाच—

अनृतं भाषतु सदा सद्भिश्चैव विरुध्यतु ।
शुल्केन कन्यां ददतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३१ ॥

नाभाग बोले— जिसने आपका कमल लिया है, वह सदा मिथ्या वचन कहे, साधुओंके सङ्ग विरोध करे और धन लेके कन्या दान करे ॥ ३१ ॥

कविरुवाच—

पदा स गां ताडयतु सूर्यं च प्रति मेहतु ।
शरणागतं च त्यजतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३२ ॥

कवि बोले— जिसने आपका कमल हरण किया है, वह पांवसे गौको मारे, सूर्यकी ओर मुंह करके पेशाब करे और शरणागतका त्याग करे ॥ ३२ ॥

विश्वामित्र उवाच—

करोतु भृतकोऽवर्षां राज्ञश्चास्तु पुरोहितः ।
ऋत्विगस्तु ह्ययाज्यस्य यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३३ ॥

विश्वामित्र बोले— जिसने आपका कमल लिया है, वह धनसे खरीदे जानेपर वर्षा होनेमें बाधा उपस्थित करे, राजाका पुरोहित हो और अयाज्य पुरुषका ऋत्विज होवे ॥ ३३ ॥

पर्वत उवाच—

ग्रामे चाधिकृतः सोऽस्तु खरयानेन गच्छतु ।
शुनः कर्षतु वृत्त्यर्थे यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३४ ॥

पर्वत बोले— जिसने आपका कमल लिया है, वह गांवका मुखिया होके रहे, गधेकी सवारी-पर चले और वृत्तिके निमित्त कुत्तोंको साथ लेकर शिकार खेले ॥ ३४ ॥

भरद्वाज उवाच—

सर्वपापसमादानं नृशंसे चानृते च यत् ।
तत्तस्यास्तु सदा पापं यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३५ ॥

भरद्वाज बोले— जिसने आपका कमल लिया है, नृशंस व्यवहार और झूठ कहनेसे जो पाप होता है, उसे वही पाप सदा प्राप्त होवे ॥ ३५ ॥

अष्टक उवाच—

स राजास्त्वकृतप्रज्ञः कामवृत्तिश्च पापकृत् ।
अधर्मेणानुशास्तूर्वीं यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३६ ॥

अष्टक बोले— जिस राजाने आपका कमल लिया है, वह अकृतप्रज्ञ, कामवृत्तिवाला तथा पापी हो और अधर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करे ॥ ३६ ॥

गालव उवाच—

पापिष्ठेभ्यस्त्वनर्घार्हः स नरोऽस्तु स्वपापकृत्।

दत्त्वा दानं कीर्तयतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३७ ॥

गालव बोले— जिसने आपका कमल लिया है, वह मनुष्य पापियोंसे भी अपूज्य और पापी होवे और दान करके अपने मुखसे उसका बखान करता फिरे ॥ ३७ ॥

अरुन्धत्युवाच—

श्वश्र्वापवादं वदतु भर्तुर्भवतु दुर्मनाः।

एका स्वादु समश्नातु या ते हरति पुष्करम् ॥ ३८ ॥

अरुन्धती बोली— जिस स्त्रीने आपका कमल हरण किया है, वह सासकी निन्दा करे, पतिके अहितकी चिन्ता करती रहे और अकेली स्वादिष्ट वस्तुओंको खाय ॥ ३८ ॥

वालखिल्या ऊचुः—

एकपादेन वृत्त्यर्थं ग्रामद्वारे स तिष्ठतु।

धर्मज्ञस्त्यक्तधर्मोऽस्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३९ ॥

वालखिल्यगण बोले— जिसने आपका कमल लिया है, वह जीविकाके लिये गांवके पथमें एक चरणसे निवास करे और धर्म जाननेवाला होके भी धर्म त्यागे ॥ ३९ ॥

पशुसख उवाच—

अग्निहोत्रमनादृत्य सुखं स्वपतु स द्विजः।

परिव्राट्कामवृत्तोऽस्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ४० ॥

पशुसख बोले— जिसने आपका कमल लिया है, वह ब्राह्मण अग्निहोत्रका अनादर करके सुखसे सोवे और संन्यासी होके भी स्वेच्छाचारी होवे ॥ ४० ॥

सुरभ्युवाच—

बाल्वजेन निदानेन कांस्यं भवतु दोहनम्।

दुह्येत परवत्सेन या ते हरति पुष्करम् ॥ ४१ ॥

सुरभि बोली— जिसने आपका कमल लिया है, वह केश्ज अथवा बल्वज तृणकी रस्सीसे गौवोंको दूहनेके समय पांव बांधके दूसरे बछडेके द्वारा दूध दूहे और कांसेके बर्त्तन उसके दोहने पात्र होवें ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच—

ततस्तु तैः शपथैः शप्यमानैर्नानाविधैर्बहुभिः कौरवेन्द्र।

सहस्राक्षो देवराट् संप्रहृष्टः समीक्ष्य तं कोपनं विप्रमुख्यम् ॥ ४२ ॥

भीष्म बोले— हे कौरवेन्द्र! अनन्तर उन सबके अनेक प्रकारसे शपथ करते रहनेपर सहस्राक्ष देवराज इन्द्र अत्यन्त हर्षित हुए। और उन विप्रश्रेष्ठ अगस्त्यको क्रुद्ध हुआ देख प्रकट हो गये ॥ ४२ ॥

अथाब्रवीन्मघवा प्रत्ययं स्वं समाभाष्य तमृषिं जातरोषम् ।
ब्रह्मर्षिदेवर्षिनृपर्षिमध्ये यत्तन्निबोधेह ममाद्य राजन् ॥ ४३ ॥
हे महाराज ! अनन्तर देवराज उस क्रोधित ऋषिसे ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके बीच अपना अभिप्राय कहने लगे, उसको मुझसे सुनो ॥ ४३ ॥

शक्र उवाच—

अध्वर्यवे दुहितरं ददातु च्छन्दोगे वा चरितब्रह्मचर्ये ।
आथर्वणं वेदमधीत्य विप्रः स्नायेत यः पुष्करमाददाति ॥ ४४ ॥
इन्द्र बोले– जिसने आपका कमल हरण किया है, वह ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण करके यजुर्वेद जाननेवाले तथा सामवेदका अध्ययन करनेवालेको कन्या दान करे और वह अथर्ववेदको पढके स्नातक होवे ॥ ४४ ॥

सर्वान्वेदानधीयीत पुण्यशीलोऽस्तु धार्मिकः ।
ब्रह्मणः सदनं यातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ४५ ॥
जिसने आपका कमल लिया है, वह सब वेदोंको पढे, पुण्यशील तथा धार्मिक हो, और ब्रह्मलोकमें जावे ॥ ४५ ॥

अगस्त्य उवाच—

आशीर्वादस्त्वया प्रोक्तः शपथो बलसूदन ।
दीयतां पुष्करं मह्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४६ ॥
अगस्त्य बोले– हे बलसूदन ! तुमने जो शपथ की है, वह तो आशीर्वाद ही है; इसलिये मुझे मेरे कमल दीजिये, यही सनातन धर्म है ॥ ४६ ॥

इन्द्र उवाच—

न मया भगवँल्लोभाद्धृतं पुष्करमद्य वै ।
धर्मं तु श्रोतुकामेन हृतं न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४७ ॥
इन्द्र बोले– हे भगवन् ! इस समय मैंने लोभसे कमल नहीं लिया है; आप लोगोंसे धर्मकी बातें सुननेके लिये मैंने उन्हें हरण किया था; इसलिये मुझपर तुम्हें क्रोध करना योग्य नहीं है ॥ ४७ ॥

धर्मः श्रुतः समुत्कर्षो धर्मसेतुरनामयः ।
आर्षो वै शाश्वतो नित्यमव्ययोऽयं मया श्रुतः ॥ ४८ ॥
यह ऋषियोंके मुखसे नित्य अविकारी, अनामय, अव्यय और शाश्वत धर्मरूपी तरनेका उपाय मैंने सुना है । इससे धर्मश्रुतिका पूर्ण उत्कर्ष दीखता है ॥ ४८ ॥

तदिदं गृह्यतां विद्वन्पुष्करं मुनिसत्तम ।
अतिक्रमं मे भगवन्क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ ४९ ॥

हे विद्वन् ! मुनिसत्तम ! इसलिये यह अपना कमल लीजिये । हे अनिन्दित भगवन् ! आपको मेरा अपराध क्षमा करना योग्य है ॥ ४९ ॥

इत्युक्तः स महेन्द्रेण तपस्वी कोपनो भृशम् ।
जग्राह पुष्करं धीमान्प्रसन्नश्चाभवन्मुनिः ॥ ५० ॥

अत्यन्त क्रोधी बुद्धिमान् अगस्त्य मुनि महेन्द्रके ऐसा कहनेपर अपना कमल लेके प्रसन्न हुए ॥ ५० ॥

प्रययुस्ते ततो भूयस्तीर्थानि वनगोचराः ।
पुण्यतीर्थेषु च तथा गात्राण्याप्लावयन्ति ते ॥ ५१ ॥

अनन्तर उन वनवासी मुनियोंने फिर तीर्थयात्रा की और पवित्र तीर्थोंमें जाकर स्नान करने लगे ॥ ५१ ॥

आख्यानं य इदं युक्तः पठेत्पर्वणि पर्वणि ।
न मूर्खं जनयेत्पुत्रं न भवेच्च निराकृतिः ॥ ५२ ॥

जो एकाग्रचित्त होके प्रति पर्वमें इस पवित्र कथाका पाठ करता है, वह मूर्ख पुत्रको नहीं जन्म देता है और वह स्वयं किसी अंगसे हीन या विफल मनोरथ नहीं होता है ॥ ५२ ॥

न तमापत्स्पृशेत्काचिन्न ज्वरो न रुजश्च ह ।
विरजाः श्रेयसा युक्तः प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५३ ॥

कोई आपदा उसे स्पर्श नहीं करती, वह व्याधिरहित होता और उसे कोई रोग नहीं होते; वह रजोगुणसे रहित और कल्याणयुक्त होके परलोकमें जाकर स्वर्गलोक पाता है ॥ ५३ ॥

यश्च शास्त्रमनुध्यायेदृषिभिः परिपालितम् ।
स गच्छेद्ब्रह्मणो लोकमव्ययं च नरोत्तम ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥ ४०७९ ॥

जो ऋषियोंके द्वारा सुरक्षित इस शास्त्रको पढता है, वह उत्तम पुरुष अव्यय ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ५४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें छानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९६ ॥ ४०७९ ॥

: ९७ :

युधिष्ठिर उवाच—

यदिदं श्राद्धधर्मेषु दीयते भरतर्षभ ।
छत्रं चोपानहौ चैव केनैतत्संप्रवर्तितम् ।
कथं चैतत्समुत्पन्नं किमर्थं च प्रदीयते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! श्राद्धधर्ममें जो छत्र और पादुकाका दान दिया जाता है, वह किस पुरुषके द्वारा प्रवर्तित हुआ है? यह किस लिये उत्पन्न हुआ और किस निमित्त दिया जाता है ? ॥ १ ॥

न केवलं श्राद्धधर्मे पुण्यकेष्वपि दीयते ।
एतद्विस्तरतो राजञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २ ॥

केवल श्राद्धधर्ममें ही क्यों, अनेक व्रतादि पुण्योत्सवोंके समयमें भी पादुका और छत्रका दान दिया जाता है । हे राजन् ! इसे विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

शृणु राजन्नवहितश्छत्रोपानहविस्तरम् ।
यथैतत्प्रथितं लोके येन चैतत्प्रवर्तितम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– हे महाराज ! छत्र और पादुका जिस प्रकार लोकमें प्रचलित हुआ तथा जिसके द्वारा प्रवर्तित हुआ है, उसे विस्तारपूर्वक कहता हूं, सावधान होके सुनो ॥ ३ ॥

यथा चाक्षय्यतां प्राप्तं पुण्यतां च यथा गतम् ।
सर्वमेतदशेषेण प्रवक्ष्यामि जनाधिप ॥ ४ ॥

हे नरनाथ ! यह दान किस प्रकार अक्षय होता है और पवित्र तथा पुण्यकी प्राप्ति फल माना गया है, उसे मैं पूरी रीतिसे कहता हूं ॥ ४ ॥

इतिहासं पुरावृत्तमिमं शृणु नराधिप ।
जमदग्नेश्च संवादं सूर्यस्य च महात्मनः ॥ ५ ॥

हे प्रजानाथ ! महाप्रभाव दिवाकर– सूर्य और जमदग्निके संवादयुक्त इस पहले कहे हुए इतिहासको सुनो ॥ ५ ॥

पुरा स भगवान्साक्षाद्धनुषाक्रीडत प्रभो ।
संधाय संधाय शरांश्चिक्षेप किल भार्गवः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! पहले समयमें भगवान् भार्गव स्वयं धनुष लेकर क्रीडा करते हुए, बारंबार सन्धान करके बाण चला रहे थे ॥ ६ ॥

तान्क्षिप्तान्रेणुका सर्वांस्तस्येषून्दीप्ततेजसः ।
आनाय्य सा तदा तस्मै प्रादादसकृदच्युत ॥ ७ ॥
रेणुका उस प्रदीप्त तेजसे युक्त चलाये हुए बाणोंको बार बार लाके उन्हें देती थी ॥ ७ ॥

अथ तेन स शब्देन ज्यातलस्य शरस्य च ।
प्रहृष्टः संप्रचिक्षेप सा च प्रत्याजहार तान् ॥ ८ ॥
अनन्तर वे धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टंकार ध्वनि और उस बाणके छूटनेके शब्दसे अत्यन्त हर्षित होते थे; वे बार बार बाण चलाते थे और रेणुका उन बाणोंको फिर दूरसे लाकर दिया करती थी ॥ ८ ॥

ततो मध्याह्नमारूढे ज्येष्ठामूले दिवाकरे ।
स सायकान्द्विजो विध्वा रेणुकामिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
अनन्तर सूर्यके घूमनेवाले नक्षत्रोंके बीच रोहिणी नक्षत्र और जेष्ठाके समसूत्रमें जानेपर मध्याह्नके समय द्विजश्रेष्ठ जमदग्निने शीघ्रगामी बाण चलाकर रेणुकासे कहा ॥ ९ ॥

गच्छानय विशालाक्षि शरानेतान्धनुश्च्युतान् ।
यावदेतान्पुनः सुभ्रु क्षिपामीति जनाधिप ॥ १० ॥
हे विशालनयनी ! जाओ, धनुषसे छूटे हुए इन बाणोंको लाओ । हे सुन्दरि ! मैं फिर इन बाणोंको चलाऊंगा ॥ १० ॥

सा गच्छत्यन्तरा छायां वृक्षमाश्रित्य भामिनी ।
तस्थौ तस्या हि संतप्तं शिरः पादौ तथैव च ॥ ११ ॥
हे प्रजानाथ ! भामिनी रेणुका चलनेके समय सूर्यके धूपसे पांव और शिर झुलसनेपर, वृक्षकी छायामें मुहूर्त भर ठहरी ॥ ११ ॥

स्थिता सा तु मुहूर्तं वै भर्तुः शापभयाच्छुभा ।
ययावानयितुं भूयः सायकानसितेक्षणा ।
प्रत्याजगाम च शरांस्तानादाय यशस्विनी ॥ १२ ॥
वह कज्जलयुक्त नेत्रोंवाली कल्याणी मुहूर्त्तभर खडी रहके पतिके शापभयसे डरकर फिर बाणोंको लानेके निमित्त चली । यशस्विनी रेणुका उन बाणोंको लेकर लौटी ॥ १२ ॥

सा प्रस्विन्ना सुचार्वङ्गी पद्भ्यां दुःखं नियच्छती ।
उपाजगाम भर्तारं भयाद्भर्तुः प्रवेपती ॥ १३ ॥
उसके दोनों पावोंमें फफोले पडनेसे क्लेश पाके वह सुंदरी लौटी और पतिके भयसे कांपती हुई उनके समीप उपस्थित हुई ॥ १३ ॥

स तामृषिस्ततः क्रुद्धो वाक्यमाह शुभाननाम् ।
रेणुके किं चिरेण त्वमागतेति पुनः पुनः ॥ १४ ॥

जमदग्निने क्रुद्ध होके उस उत्तम मुखवाली अपनी पत्नीसे बार बार पूछा– हे रेणुका ! तू किस लिये बहुत देरसे आई ? ॥ १४ ॥

रेणुकोवाच—

शिरस्तावत्प्रदीप्तं मे पादौ चैव तपोधन ।
सूर्यतेजोनिरुद्धाहं वृक्षच्छायामुपाश्रिता ॥ १५ ॥

रेणुका बोली– हे तपोधन ! मेरा सिर और दोनों पांव बहुत परितप्त हुए थे, मैंने सूर्यके तेजसे रुकके वृक्षकी छायाका सहारा लिया था ॥ १५ ॥

एतस्मात्कारणाद्ब्रह्मंश्चिरमेतत्कृतं मया ।
एतज्ज्ञात्वा मम विभो मा क्रुधस्त्वं तपोधन ॥ १६ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस ही निमित्त मैं बहुत देरीमें बाणोंको ले आई । हे विभु तपोधन ! आप ऐसा सुनके मुझपर क्रोध न करिये ॥ १६ ॥

जमदग्निरुवाच—

अद्यैनं दीप्तकिरणं रेणुके तव दुःखदम् ।
शरैर्निपातयिष्यामि सूर्यमस्त्राग्नितेजसा ॥ १७ ॥

जमदग्नि बोले– हे रेणुके ! मैं आज इसही समय तुम्हें दुःख देनेवाले उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यको अपने बाणोंसे अस्त्रानलके सहारे गिरा दूंगा ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच—

स विस्फार्य धनुर्दिव्यं गृहीत्वा च बहूञ्शरान् ।
अतिष्ठत्सूर्यमभितो यतो याति ततोमुखः ॥ १८ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर जमदग्नि दिव्य धनुष खींचके बहुतसे बाण हाथमें लेकर जिधर सूर्य जा रहे थे, उस ही ओर अपना मुंह करके खडे हुए ॥ १८ ॥

अथ तं प्रहरिष्यन्तं सूर्योऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
द्विजरूपेण कौन्तेय किं ते सूर्योऽपराध्यते ॥ १९ ॥

हे कौन्तेय ! सूर्यदेव उन्हें बद्धकवच देखके ब्राह्मण स्वरूप धारण करके उनके समीप आके बोले– सूर्यने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? ॥ १९ ॥

आदत्ते रश्मिभिः सूर्यो दिवि विद्वंस्ततस्ततः ।
रसं स तं वै वर्षासु प्रवर्षति दिवाकरः ॥ २० ॥

हे विद्वन् ! सूर्य आकाशमें निवास करते हुए पृथ्वीपरके रसोंको आकर्षण करता है और वर्षाऋतुमें उन्हीं रसोंको बरसाता है ॥ २० ॥

*

ततोऽन्नं जायते विप्र मनुष्याणां सुखावहम् ।
अन्नं प्राणा इति यथा वेदेषु परिपठ्यते ॥ २१ ॥

हे विप्र ! उस ही रसवर्षासे मनुष्योंको सुखके लिये अन्न उपजता है; अन्नही प्राण है, यह वेदमें वर्णित है ॥ २१ ॥

अथाभ्रेषु निगूढश्च रश्मिभिः परिवारितः ।
सप्त द्वीपानिमान्ब्रह्मन्वर्षेणाभिप्रवर्षति ॥ २२ ॥

ब्रह्मन् ! अनन्तर किरणोंके द्वारा घिरे हुए सूर्य आकाशमें बादलोंमें रहके इस सप्तद्वीपवाली पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है ॥ २२ ॥

ततस्तदोषधीनां च वीरुधां पत्रपुष्पजम् ।
सर्वं वर्षाभिनिर्वृत्तमन्नं संभवति प्रभो ॥ २३ ॥

हे प्रभु ! वही जल औषधि, लता, पत्र और पुष्प आदि उत्पन्न करता है; वर्षाके जलसे सब अन्नरूपसे उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

जातकर्माणि सर्वाणि व्रतोपनयनानि च ।
गोदानानि विवाहाश्च तथा यज्ञसमृद्धयः ॥ २४ ॥

हे भार्गव ! जातकर्म प्रभृति सब कार्य, व्रत, उपनयन, गोदान, विवाह और यज्ञसमृद्धि ॥ २४ ॥

सत्राणि दानानि तथा संयोगा वित्तसंचयाः ।
अन्नतः संप्रवर्तन्ते यथा त्वं वेत्थ भार्गव ॥ २५ ॥

सब यज्ञ, सब भांतिके दान, संयोग और धनसञ्चय, सब विषय जिसे तुम जानते हो, उनमें अन्नसे ही पूरी रीतिसे प्रवृत्ति हुआ करती है ॥ २५ ॥

रमणीयानि यावन्ति यावदारम्भकाणि च ।
सर्वमन्नात्प्रभवति विदितं कीर्तयामि ते ॥ २६ ॥

जो सब उत्तम पदार्थ हैं और जो उत्पादक पदार्थ हैं, वे सब अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, जो आपको पहलेसेही विदित हैं, वह मैं तुमसे कहता हूं ॥ २६ ॥

सर्वं हि वेत्थ विप्र त्वं यदेतत्कीर्तितं मया ।
प्रसादये त्वा विप्रर्षे किं ते सूर्यो निपात्यते ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥ ४१०६ ॥

हे विप्र ! मैंने जो कहा है, तुम वह सब विषय जानते हो । हे ब्रह्मर्षे ! इसलिये मैं तुम्हें प्रार्थनापूर्वक प्रसन्न करता हूं, सूर्यको गिरानेसे तुम्हें कौनसा फल मिलेगा ॥ २७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९७ ॥ ४१०६ ॥

: ९८ :

युधिष्ठिर उवाच—

एवं तदा प्रयाचन्तं भास्करं मुनिसत्तमः ।
जमदग्निर्महातेजाः किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— भगवान् सूर्यके ऐसी याचना करनेपर महातेजस्वी मुनिसत्तम जमदग्निने कौनसा कार्य किया ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

तथा प्रयाचमानस्य मुनिरग्निसमप्रभः ।
जमदग्निः शमं नैव जगाम कुरुनन्दन ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे कुरुनन्दन ! अग्निसदृश प्रभायुक्त वह जमदग्नि मुनि सूर्यके ऐसी प्रार्थना करनेपर भी शान्त न हुए ॥ २ ॥

ततः सूर्यो मधुरया वाचा तमिदमब्रवीत् ।
कृताञ्जलिर्विप्ररूपी प्रणम्येदं विशां पते ॥ ३ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर विप्ररूपधारी सूर्य हाथ जोडकर मुनिको प्रणाम करके मृदुस्वरसे बोले ॥ ३ ॥

चलं निमित्तं विप्रर्षे सदा सूर्यस्य गच्छतः ।
कथं चलं वेत्स्यसि त्वं सदा यान्तं दिवाकरम् ॥ ४ ॥

हे विप्रर्षि ! सूर्य सदा चलता रहता है, इसलिये वह चललक्ष्य है । जब सदा गमनशील सूर्य चललक्ष्य हुआ, तब तुम उसे किस प्रकार विद्ध करोगे ? ॥ ४ ॥

जमदग्निरुवाच—

स्थिरं वापि चलं वापि जाने त्वां ज्ञानचक्षुषा ।
अवश्यं विनयाधानं कार्यमद्य मया तव ॥ ५ ॥

जमदग्नि बोले— हमारा लक्ष्य स्थिर हो या गमनशील, मैं ज्ञाननेत्रसे तुमही सूर्य हो यह जानता हूं; इसलिये आज मैं अवश्य तुम्हें शिक्षा दूंगा और विनययुक्त बनावूंगा ॥ ५ ॥

अपराह्णे निमेषार्धं तिष्ठसि त्वं दिवाकर ।
तत्र वेत्स्यामि सूर्य त्वां न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ६ ॥

हे दिवाकर ! तुम अपराह्णमें अर्द्ध निमेषभर ठहरते हो, उसी समय मैं तुम्हें विद्ध करूंगा । हे भास्कर ! इस विषयमें मुझे कुछ विचार नहीं है ॥ ६ ॥

सूर्य उवाच—

असंशयं मां विप्रर्षे वेत्स्यसे धन्विनां वर ।
अपकारिणं तु मां विद्धि भगवञ्छरणागतम् ॥ ७ ॥

सूर्य बोले— हे धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महर्षे ! तुम मुझे अवश्य ही विद्ध करोगे, इसमें सन्देह नहीं है । हे भगवन् ! यद्यपि मैं तुम्हारा अपराधी हूं, तौभी इस समय मुझे अपना शरणागत जानो ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच—

ततः प्रहस्य भगवाञ्जमदग्निरुवाच तम्।
न भीः सूर्य त्वया कार्या प्रणिपातगतो ह्यसि ॥ ८ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर सूर्यका यह वचन सुनकर भगवान् जमदग्निने हंसके कहा। हे सूर्य! तुम्हें डरना उचित नहीं है, क्योंकि तुम प्रणत हुए हो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणेष्वार्जवं यच्च स्थैर्यं च धरणीतले।
सौम्यतां चैव सोमस्य गाम्भीर्यं वरुणस्य च ॥ ९ ॥

ब्राह्मणोंमें जो सरलता है, पृथ्वीमें जो स्थिरता, चन्द्रमामें जो मनोहरताई, वरुणमें जो गंभीरता ॥ ९ ॥

दीप्तिमग्नेः प्रभां मेरोः प्रतापं तपनस्य च।
एतान्यतिक्रमेद्यो वै स हन्याच्छरणागतम् ॥ १० ॥

अग्निमें जो दीप्ति, सुमेरुमें जो प्रभा और सूर्यमें जो ताप है इन सबको जो मनुष्य अतिक्रम करता है, वही शरणागत पुरुषको मार सकता है ॥ १० ॥

भवेत्स गुरुतल्पी च ब्रह्मघ्न च तथा भवेत्।
सुरापानं च कुर्यात्स यो हन्याच्छरणागतम् ॥ ११ ॥

जो पुरुष शरणमें आये हुएको मारता है, उसे गुरुपत्नी गमन, ब्रह्महत्या और सुरा पानका पाप लगता है ॥ ११ ॥

एतस्य त्वपनीतस्य समाधिं तात चिन्तय।
यथा सुखगमः पन्था भवेत्त्वद्रश्मितापितः ॥ १२ ॥

हे तात! इसलिये इस दुर्नीति– अपराधके विषयके लिये उपाय सोचो; तुम्हारी किरणोंसे तापित मार्गके बीच जिस प्रकार सुखसे लोग चल सके, उसका उपाय कहो ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—

एतावदुक्त्वा स तदा तूष्णीमासीद्भृगूद्वहः।
अथ सूर्यो ददौ तस्मै छत्रोपानहमाशु वै ॥ १३ ॥

भीष्म बोले– भृगुसत्तम जमदग्नि इतना कहके चुप हो गये। अनन्तर सूर्यदेवने उन्हें शीघ्र ही छत्र और पादुका दिया ॥ १३ ॥

सूर्य उवाच—

महर्षे शिरसस्त्राणं छत्रं मद्रश्मिवारणम्।
प्रतिगृह्णीष्व पद्भ्यां च त्राणार्थं चर्मपादुके ॥ १४ ॥

सूर्यने कहा, हे महर्षि! मेरी किरणोंका निवारण करके मस्तककी रक्षा करनेवाला यह छत्र है पैरोंको जलनेसे बचानेके लिये ये चमडेके बने जूते हैं, आप इन्हें ग्रहण कीजिये ॥ १४ ॥

अद्यप्रभृति चैवैतल्लोके संप्रचरिष्यति ।
पुण्यदानेषु सर्वेषु परमक्षय्यमेव च ॥ १५ ॥

आजसे इस लोकमें इनका समस्त पुण्यमय दानोंमें प्रचार होगा और इनका दान उत्तम तथा अक्षय फलकारक होगा ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच—

उपानच्छत्रमेतद्वै सूर्येणेह प्रवर्तितम् ।
पुण्यमेतदभिख्यातं त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १६ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! छत्र और पादुकाका दान सूर्यके द्वारा प्रवर्त्तित हुआ है; तीनों लोकोंमें यह परम पवित्र रूपसे प्रसिद्ध है ॥ १६ ॥

तस्मात्प्रयच्छ विप्रेभ्यश्छत्रोपानहमुत्तमम् ।
धर्मस्ते सुमहान्भावी न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १७ ॥

इसलिये तुम ब्राह्मणोंको उत्तम छत्र और पादुका दान करो; उससे तुम्हें महान् धर्म होगा, इस विषयमें हम लोगोंको विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

छत्रं हि भरतश्रेष्ठ यः प्रदद्याद्‌द्विजातये ।
शुभ्रं शतशलाकं वै स प्रेत्य सुखमेधते ॥ १८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो ब्राह्मणको एक सौ शलाकाओंसे युक्त छाता दान करता है, वह परलोकमें सुखी होता है ॥ १८ ॥

स शक्रलोके वसति पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
अप्सरोभिश्च सततं देवैश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

हे भरतर्षभ ! वह ब्राह्मणों, अप्सराओं और देवताओंसे सदा पूजित होकर इन्द्र लोकमें निवास करता है ॥ १९ ॥

दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ ।
स्नातकाय महाबाहो संशिताय द्विजातये ॥ २० ॥

हे महाबाहो ! जो जिसके पैर जल रहे हों ऐसे अत्यंत कठोर व्रत धारण करनेवाले स्नातक द्विजको जूते पादुका दान करता है ॥ २० ॥

सोऽपि लोकानवाप्नोति दैवतैरभिपूजितान् ।
गोलोके स मुदा युक्तो वसति प्रेत्य भारत ॥ २१ ॥

वह भी देवताओंसे पूजित लोकोंको प्राप्त होता है, तथा वह परलोकमें जाकर प्रीतियुक्त होके गोलोकमें निवास करता है ॥ २१ ॥

एतत्ते भरतश्रेष्ठ मया कार्त्स्न्येन कीर्तितम् ।
छत्रोपानह्दानस्य फलं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥ ४१२८ ॥

हे भरतसत्तम ! यह मैंने विस्तारपूर्वक तुमसे छत्र और पादुकादानका फल कहा है ॥२२॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें अठ्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९८ ॥ ४१२८ ॥

: ९९ :

युधिष्ठिर उवाच—

आरामाणां तडागानां यत्फलं कुरुनन्दन ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! विश्रामस्थान और सरोवरोंके बनानेका जो फल है, उसे मैं आज आपसे सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

सुप्रदर्शा बलवती चित्रधातुविभूषिता ।
उपेता सर्वबीजैश्च श्रेष्ठा भूमिरिहोच्यते ॥ २ ॥

भीष्म बोले– अत्यंत दर्शनीय, वनोंसे युक्त, विचित्र धातुओंसे विभूषित और सब प्रकारके बीजोंसे संपन्न यहांकी भूमि अत्यंत श्रेष्ठ कही जाती है ॥ २ ॥

तस्याः क्षेत्रविशेषं च तडागानां निवेशनम् ।
औदकानि च सर्वाणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३ ॥

उसका क्षेत्र विशेष और तडागोंका निर्माण स्थान, तथा सब जलोंके महत्त्व मैं क्रमशः कहता हूं ॥ ३ ॥

तडागानां च वक्ष्यामि कृतानां चापि ये गुणाः ।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजितो यस्तडागवान् ॥ ४ ॥

बनवाये तालाबोंके हेतु तथा जो गुण हैं, वे मैं सब कहता हूं । जो तलाब बनवाता है, वह तीनों लोकोंमें सर्वत्र पूजित होता है ॥ ४ ॥

अथ वा मित्रसदनं मैत्रं मित्रविवर्धनम् ।
कीर्तिसंजननं श्रेष्ठं तडागानां निवेशनम् ॥ ५ ॥

तालावका निर्माण श्रेष्ठ और कीर्तिजनक है; वह मित्रोंका निवासस्थान, मित्रता करनेवाला और मैत्री बढानेवाला है ॥ ५ ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः
तडागं सुकृतं देशे क्षेत्रमेव महाश्रयम् ॥ ६ ॥

मनीषी लोगोंने तालाबोंको धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंका फल देनेवाला कहा है; तालाब देशमें पुण्यस्वरूप है और पुण्य स्थान तथा महान् आश्रय है ॥ ६ ॥

चतुर्विधानां भूतानां तडागमुपलक्षयेत् ।
तडागानि च सर्वाणि दिशन्ति श्रियमुत्तमाम् ॥ ७ ॥

तालाबोंको चारों प्रकारके प्राणियोंके लिये उपयोगी समझना चाहिये । इस लोकमें जितने तालाब हैं वे सब श्रेष्ठ सम्पत्ति प्रदान करते हैं ॥ ७ ॥

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पितरोरगराक्षसाः ।
स्थावराणि च भूतानि संश्रयन्ति जलाशयम् ॥ ८ ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस और स्थावर भूत– ये सब सरोवरोंका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तस्मात्तांस्ते प्रवक्ष्यामि तडागे ये गुणाः स्मृताः ।
या च तत्र फलावाप्तिर्ऋषिभिः समुदाहृता ॥ ९ ॥

इसलिये सरोवर निर्माण करनेमें जो गुण हैं, उनका मैं तुमसे वर्णन करूंगा; और ऋषियोंने तालाब बनानेसे जिन फलोंकी प्राप्ति कही है, उनका भी वर्णन करूंगा ॥ ९ ॥

वर्षमात्रे तडागे तु सलिलं यस्य तिष्ठति ।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥

जिस तालाबमें एक वर्षतक पानी रहता है, उसका फल मनीषियोंने अग्निहोत्र करनेका पुण्य कहा है ॥ १० ॥

शरत्काले तु सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति ।
गोसहस्रस्य स प्रेत्य लभते फलमुत्तमम् ॥ ११ ॥

जिसके तालाबमें शरत्कालमें पानी रहता है, उसके लिये मरनेके पश्चात् एक हजार गोदानके उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

हेमन्तकाले सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति ।
स वै बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १२ ॥

जिसके तालाबमें हेमन्तकालमें जल रहता है, उसके लिये अनेक विध बहु सुवर्णदक्षिणा युक्त यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

यस्य वै शैशिरे काले तडागे सलिलं भवेत्।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥
जिसके तालाबमें शिशिर कालमें जल रहता है, उसके लिये मनीषियोंने अग्निष्टोम यज्ञके फलकी प्राप्ति कही है ॥ १३ ॥

तडागं सुकृतं यस्य वसन्ते तु महाश्रयम्।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं स समुपाश्नुते ॥ १४ ॥
जिसका तालाब सुकृत होकर देशका भारी आश्रय है, उसे अतिरात्र यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

निदाघकाले पानीयं तडागे यस्य तिष्ठति।
वाजपेयसमं तस्य फलं वै मुनयो विदुः ॥ १५ ॥
जिसके तालाबमें गर्मीके दिनोंमें जल रहता है, उसके लिये मुनियोंने वाजपेय यज्ञके समान फल प्राप्ति बतायी है ॥ १५ ॥

स कुलं तारयेत्सर्वं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति पानीयं साधवश्च नराः सदा ॥ १६ ॥
जिसके बनवाये हुए तडागमें सदा गौएं और साधु लोग पानी पीते हैं, वह अपने सब कुलका उद्धार करता है ॥ १६ ॥

तडागे यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम्।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७ ॥
जिसके तालाबमें प्यासी गौएं पानी पीती हैं और तृपार्त मृग, पक्षी तथा मनुष्य पानी पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ १७ ॥

यत्पिबन्ति जलं तत्र स्नायन्ते विश्रमन्ति च।
तडागदस्य तत्सर्वं प्रेत्यानन्त्याय कल्पते ॥ १८ ॥
लोग उस तालाबमें जो जल पीते हैं, स्नान करते हैं और तटपर विश्राम लेते हैं, वह सारा पुण्य सरोवर निर्माण करनेवालेको परलोकमें अक्षय होकर मिलता है ॥ १८ ॥

दुर्लभं सलिलं तात विशेषेण परत्र वै।
पानीयस्य प्रदानेन प्रीतिर्भवति शाश्वती ॥ १९ ॥
हे तात ! शत्रुओंको ताप देनेवाले राजन् ! परलोकमें जल विशेष करके अत्यंत दुर्लभ है; इसलिये जलदान करनेसे शाश्वत प्रीति प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

तिलान्ददत पानीयं दीपान्ददत जाग्रत ।
ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम् ॥ २० ॥

तिल, पानी और दीप—इनका सावधान होकर दान करो, ज्ञातिबान्धवोंके साथ सदा आनन्दित रहो, कारण यह है कि ये सब मरे हुओंको दुर्लभ हैं ॥ २० ॥

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते ।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद्दातव्यमेव हि ॥ २१ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जलका दान सब प्रकारके दानोंसे अत्यंत श्रेष्ठ है, वह समस्त दानोंसे बढ़कर है; इसलिये उसका दान अवश्य करना चाहिये ॥ २१ ॥

एवमेतत्तडागेषु कीर्तितं फलमुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामपि रोपणे ॥ २२ ॥

इस प्रकार यह तालाब बनवानेका उत्तम फल कहा गया है; अब मैं वृक्ष लगानेका फल पूर्ण-रीतिसे कहूंगा ॥ २२ ॥

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ २३ ॥

स्थावर और भूतोंकी छः जातियां कही गयी हैं— वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, त्वक्सार और तृण जाति ॥ २३ ॥

एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे ।
कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव फलं शुभम् ॥ २४ ॥

ये वृक्षोंकी जातियां हैं; इनके लगानेसे ये गुण बताये गये हैं। मनुष्य लोकमें वृक्ष लगानेसे कीर्ति प्राप्त होती है और मरनेके पश्चात् स्वर्गमें शुभ फल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

लभते नाम लोके च पितृभिश्च महीयते ।
देवलोकगतस्यापि नाम तस्य न नश्यति ॥ २५ ॥

जगतमें नाम विख्यात होता है और वह पितरोंसे भी पूजित होता है; देवलोकमें जानेपर भी उसका नाम नष्ट नहीं होता है ॥ २५ ॥

अतीतानागते चोभे पितृवंशं च भारत ।
तारयेद्वृक्षरोपी च तस्माद्वृक्षान्प्ररोपयेत् ॥ २६ ॥

वृक्ष लगानेवाला मनुष्य अपने पहलेके पूर्वजों और आनेवाली संतानों— इन दोनों वंशोंको भी तार देता है, इसलिये वृक्ष अवश्य लगाने चाहिये ॥ २६ ॥

×

तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः ।
परलोकगतः स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ॥ २७ ॥

जिसके कोई पुत्र नहीं हैं, उसके वृक्ष ही पुत्र होते हैं, इसमें संशय नहीं है। वृक्ष लगानेवाला पुरुष परलोकमें जाकर स्वर्गमें अक्षय लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

पुष्पैः सुरगणान्वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन् ।
छायया चातिथीस्तात पूजयन्ति महीरुहाः ॥ २८ ॥

हे तात ! वृक्ष अपने फूलोंसे देवताओंका, फलोंसे पितरोंका और छायासे अतिथियोंका पूजन करते हैं ॥ २८ ॥

किंनरोरगरक्षांसि देवगन्धर्वमानवाः ।
तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ति महीरुहान् ॥ २९ ॥

किन्नर, नाग, राक्षस, देव, गन्धर्व, मनुष्य और ऋषि लोग भी वृक्षोंका आश्रय लेते हैं ॥ २९ ॥

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ।
वृक्षदं पुत्रवद्वृक्षास्तारयन्ति परत्र च ॥ ३० ॥

इस जगतमें फूल और फलोंसे परिपूर्ण वृक्ष मनुष्योंको तृप्त करते हैं; जो वृक्षका दान करता है, उसे वह वृक्ष परलोकमें पुत्रके समान पार करता है ॥ ३० ॥

तस्मात्तडागे वृक्षा वै रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ।
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ॥ ३१ ॥

इसलिये कल्याणकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको सदा तालावके किनारे वृक्ष लगाने चाहिये। वृक्ष लगाकर उनकी पुत्रोंकी भांति रक्षा करनी चाहिये, कारण कि वे धर्मतः पुत्र माने गये हैं ॥ ३१ ॥

तडागकृद्वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः ।
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

जो तालाव बनवाता है और जो उसके तटपर वृक्ष लगाता है, जो द्विज यज्ञ करता है और दूसरे सत्यवादी हैं— वे सब स्वर्गलोकमें स्थित होते हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात्तडागं कुर्वीत आरामांश्चैव रोपयेत् ।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥ ४१६१ ॥

इसलिये तालाव बनवाये और उसके तटपर बगीचे भी लगावे; अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करे और सदैव सत्य बोले ॥ ३३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९९ ॥ ४१६१ ॥

: 100 :

युधिष्ठिर उवाच—

गार्हस्थ्यं धर्ममखिलं प्रब्रूहि भरतर्षभ ।
ऋद्धिमाप्नोति किं कृत्वा मनुष्य इह पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! राजन् ! आप समस्त गार्हस्थ्यधर्मका वर्णन करिये; मनुष्य क्या करनेसे इस लोकमें समृद्धि पाता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तं जनाधिप ।
वासुदेवस्य संवादं पृथिव्याश्चैव भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भरतकुलतिलक प्रजानाथ ! इस विषयमें मैं तुमसे श्री कृष्ण और पृथ्वीके संवादयुक्त प्राचीन इतिहास कहूंगा ॥ २ ॥

संस्तूय पृथिवीं देवीं वासुदेवः प्रतापवान् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ यदेतत्पृच्छसेऽद्य माम् ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तुमने मुझसे आज जो प्रश्न किया है, प्रतापवान् भगवान् श्रीकृष्णने पृथ्वी-देवीकी यथा योग्य स्तुति करके उनसे यही विषय पूछा था ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच—

गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रित्य मया वा मद्विधेन वा ।
किमवश्यं धरे कार्यं किं वा कृत्वा सुखी भवेत् ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे पृथ्वी ! मैं अथवा मेरे समान पुरुष गृहस्थधर्मको अवलंबन करके नियम-पूर्वक कौनसा कार्य करे तथा क्या करनेसे वह सुखी होगा ? ॥ ४ ॥

पृथिव्युवाच—

ऋषयः पितरो देवा मनुष्याश्चैव माधव ।
इज्याश्चैवार्चनीयाश्च यथा चैवं निबोध मे ॥ ५ ॥

पृथ्वी बोली— हे माधव ! ऋषि, देवता, पितर और मनुष्यवृन्द गृहस्थ पुरुषके लिये अवश्य ही पूजनीय हैं, तथा उनका सत्कार अवश्य करना चाहिये; और यह सब कैसे करना चाहिये, यह मुझसे सुनो ॥ ५ ॥

सदा यज्ञेन देवांश्च आतिथ्येन च मानवान् ।
छन्दतश्च यथानित्यमर्हान्युञ्जीत नित्यशः ।
तेन ह्यृषिगणाः प्रीता भवन्ति मधुसूदन ॥ ६ ॥

हे मधुसूदन ! देवताओंका सदा यज्ञसे मनुष्योंका सदा आतिथ्यके द्वारा और नित्य वेदाध्ययन करके पूजनीय लोगोंका सदा सत्कार तथा सेवा करनी योग्य है । ऐसे कार्यसे ऋषि लोग प्रसन्न होते हैं ॥ ६ ॥

नित्यमग्निं परिचरेदभुक्त्वा बलिकर्म च ।
कुर्यात्तथैव देवा वै प्रीयन्ते मधुसूदन ॥ ७ ॥

सदा अभुक्त रहके पहले ही अग्निहोत्र करे, तथा बलिवैश्वदेव दान कर्म करे, उससे देववृन्द प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितॄणां प्रीतिमाहरन् ॥ ८ ॥

गृहस्थ पुरुष प्रतिदिन पितरोंकी प्रीतिके लिये अन्न, जल अथवा दूध, फल, मूल आदिके सहारे श्राद्ध करे ॥ ८ ॥

सिद्धान्नाद्वैश्वदेवं वै कुर्यादग्नौ यथाविधि ।
अग्नीषोमं वैश्वदेवं धान्वन्तर्यमनन्तरम् ॥ ९ ॥

सिद्ध अन्नके द्वारा विधिपूर्वक वैश्वदेव दान करे और पहले अग्नि और चन्द्रमा अनन्तर धन्वन्तरिके लिये होम करे ॥ ९ ॥

प्रजानां पतये चैव पृथग्घोमो विधीयते ।
तथैव चानुपूर्व्येण बलिकर्म प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

फिर प्रजापतिके निमित्त पृथक् होम करना योग्य है । इसीप्रकार क्रमसे बलि कर्म करना चाहिये ॥ १० ॥

दक्षिणायां यमायेह प्रतीच्यां वरुणाय च ।
सोमाय चाप्युदीच्यां वै वास्तुमध्ये द्विजातये ॥ ११ ॥

दक्षिण दिशामें यमको, पश्चिममें वरुणको, उत्तरमें चन्द्रमाको, वास्तुके बीच द्विजातिको ॥ ११ ॥

धन्वन्तरेः प्रागुदीच्यां प्राच्यां शक्राय माधव ।
मनोर्वै इति च प्राहुर्बलिं द्वारे गृहस्य वै ।
मरुद्भ्यो देवताभ्यश्च बलिमन्तर्गृहे हरेत् ॥ १२ ॥

पूर्वोत्तर भागमें (ईशान कोणमें) धन्वन्तरिको और पूर्व दिशामें इन्द्रको बलि प्रदान करे तथा मनुष्योंके लिये गृहके द्वारपर बलि देनेका विधान है । हे माधव ! मरुद्गण तथा देवताओंको गृहके भीतर बलि प्रदान करे ॥ १२ ॥

तथैव विश्वेदेवेभ्यो बलिमाकाशतो हरेत् ।
निशाचरेभ्यो भूतेभ्यो बलिं नक्तं तथा हरेत् ॥ १३ ॥

विश्वदेवोंके लिये आकाशमें बलि देना योग्य है; निशाचर और भूतगणोंको रात्रिके समयमें बलि दे ॥ १३ ॥

एवं कृत्वा बलिं सम्यग्दद्याद्भिक्षां द्विजातये ।
अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुत्क्षिप्य निक्षिपेत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार बलि प्रदान करके ब्राह्मणको विधिपूर्वक भिक्षा दे । ब्राह्मणकी अनुपस्थितिमें अन्नमेंसे अग्रग्रास निकालकर उसका अग्निमें होम करे ॥ १४ ॥

यदा श्राद्धं पितृभ्यश्च दातुमिच्छेत मानवः ।
तदा पश्चात्प्रकुर्वीत निवृत्ते श्राद्धकर्मणि ॥ १५ ॥

जब मनुष्य पितरोंका श्राद्ध करनेकी इच्छा करता है, तब पहले श्राद्धकर्म पूर्ण करे; उसके अनंतर ॥ १५ ॥

पितॄन्संतर्पयित्वा तु बलिं कुर्याद्विधानतः ।
वैश्वदेवं ततः कुर्यात्पश्चाद्ब्राह्मणवाचनम् ॥ १६ ॥

पितरोंका तर्पण करके विधिपूर्वक बलि वैश्वदेव कर्म करना-चाहिये । अनन्तर ब्राह्मणोंको सत्कार पूर्वक भोजन करावे ॥ १६ ॥

ततोऽन्नेनावशेषेण भोजयेदतिथीनपि ।
अर्चापूर्वं महाराज ततः प्रीणाति मानुषान् ॥ १७ ॥

इसके बाद शेष अन्नादिसे अतिथियोंका सत्कार करके भोजन करावे । हे महाराज ! ऐसा करनेसे गृहस्थ पुरुष मनुष्योंको प्रसन्न करता है ॥ १७ ॥

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १८ ॥

जिसके आनेकी तिथि नियत न हो और जो नित्य अपने घरमें स्थित नहीं रहता, वह अतिथि कहा जाता है ॥ १८ ॥

आचार्यस्य पितुश्चैव सख्युराप्तस्य चातिथेः ।
इदमस्ति गृहे मह्यमिति नित्यं निवेदयेत् ॥ १९ ॥

आचार्य, पिता, मित्र, आप्त पुरुष और अतिथिको 'मेरे गृहमें आज भोजनकी ये वस्तु उपस्थित हैं ' गृहस्थ पुरुष सदा ऐसा निवेदन करे ॥ १९ ॥

ते यद्वदेयुस्तत्कुर्यादिति धर्मो विधीयते ।
गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत् ॥ २० ॥

अनन्तर वे जैसा कहें वैसा ही करे; ऐसा ही धर्मविहित है । हे श्रीकृष्ण ! गृहस्थ पुरुष सदा यज्ञ शिष्ट अन्नकाही भोजन करे ॥ २० ॥

राजर्त्विजं स्नातकं च गुरुं श्वशुरमेव च ।
अर्चयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरोषितान् ॥ २१ ॥

राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु और श्वशुरके ये एक वर्षके बाद घर आवें तो उनकी मधुपर्कसे पूजा करे ॥ २१ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद्भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ २२ ॥

कुत्ते, चाण्डाल और पक्षियोंके लिये सन्ध्या और सवेरे भूमिपर अन्न रखना चाहिये; इसहीका नाम वैश्वदेव है ॥ २२ ॥

एतांस्तु धर्मान्गार्हस्थान्यः कुर्यादनसूयकः ।
स इहर्द्धिं परां प्राप्य प्रेत्य नाके महीयते ॥ २३ ॥

जो मनुष्य असूयारहित होके इन गृहस्थधर्मोंका प्रतिपालन करता है, वह इस लोकमें समृद्धि प्राप्त करके परलोकमें सुरपुरमें महत्त्व प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच—

इति भूमेर्वचः श्रुत्वा वासुदेवः प्रतापवान् ।
तथा चकार सततं त्वमप्येवं समाचर ॥ २४ ॥

भीष्म बोले— प्रतापवान् श्रीकृष्णने पृथ्वीका ऐसा वचन सुनके वैसा ही गृहस्थधर्मका आचरण किया था, इसलिये तुम भी सदा इस प्रकार अनुष्ठान करो ॥ २४ ॥

एवं गृहस्थधर्मं त्वं चेतयानो नराधिप ।
इहलोके यशः प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥ ४१८६ ॥

हे प्रजानाथ ! तुम इस गृहस्थधर्मका अनुष्ठान करनेसे इस लोकमें यश पाके परलोकमें स्वर्ग पाओगे ॥ २५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें सौवां अध्याय समाप्त ॥ १०० ॥ ४१८६ ॥

: 101 :

युधिष्ठिर उवाच—

आलोकदानं नामैतत्कीदृशं भरतर्षभ ।
कथमेतत्समुत्पन्नं फलं चात्र ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतर्षभ ! यह दीपदान नामका कर्म कैसे किया जाता है ? यह किस प्रकार उत्पन्न हुआ और इसका क्या फल है, यह विषय आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मनोः प्रजापतेर्वादं सुवर्णस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! इस विषयमें प्राचीन लोग प्रजापति मनु और सुवर्णके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

तपस्वी कश्चिदभवत्सुवर्णो नाम नामतः ।
वर्णतो हेमवर्णः स सुवर्ण इति पप्रथे ॥ ३ ॥

सुवर्ण नामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी थे, वह रूपमें सुवर्णसदृश होनेसे सुवर्ण नामसे विख्यात हुए थे ॥ ३ ॥

कुलशीलगुणोपेतः स्वाध्याये च परं गतः ।
बहून्स्ववंशप्रभवान्समतीतः स्वकैर्गुणैः ॥ ४ ॥

वे कुल शील, और गुणयुक्त थे; वे स्वशास्त्रोक्त वेदपाठमें पारदर्शी होकर निज गुणोंके सहारे स्ववंशीय अनेक पुरुषोंकी अपेक्षा आगे बढे हुए थे ॥ ४ ॥

स कदाचिन्मनुं विप्रो ददर्शोपससर्प च ।
कुशलप्रश्नमन्योन्यं तौ च तत्र प्रचक्रतुः ॥ ५ ॥

किसी समय उस ब्राह्मणने प्रजापति मनुको देखा और देखते ही उनके समीप उपस्थित हुआ; उस समय उन दोनोंने परस्परमें कुशल प्रश्न किया ॥ ५ ॥

ततस्तौ सिद्धसंकल्पौ मेरौ काञ्चनपर्वते ।
रमणीये शिलापृष्ठे सहितौ संन्यषीदताम् ॥ ६ ॥

अनन्तर वे दोनों सिद्ध संकल्प सुवर्णमय पर्वत सुमेरुके बीच एक रमणीय शिलापर बैठे ॥ ६ ॥

तत्र तौ कथयाञ्चास्तां कथा नानाविधाश्रयाः ।
ब्रह्मर्षिदेवदैत्यानां पुराणानां महात्मनाम् ॥ ७ ॥

उस स्थानमें वे दोनों ब्रह्मर्षियों, देवताओं, दैत्यों और प्राचीन महात्माओंके विषयमें अनेक प्रकारकी कथाएं कहने लगे ॥ ७ ॥

सुवर्णस्त्वब्रवीद्वाक्यं मनुं स्वायंभुवं प्रभुम् ।
हितार्थं सर्वभूतानां प्रश्नं मे वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

सुवर्णने स्वायम्भुव प्रभु मनुसे कहा, हे प्रजानाथ ! आपको सब जीवोंके हितके निमित्त मेरे एक प्रश्नका उत्तर देना योग्य है ॥ ८ ॥

सुमनोभिर्यदिज्यन्ते दैवतानि प्रजेश्वर ।
किमेतत्कथमुत्पन्नं फलयोगं च शंस मे ॥ ९ ॥

मनुष्य लोग जो फूलोंसे देवताओंकी पूजा करते हैं, यह क्या है ? यह किस प्रकार उत्पन्न हुआ है और इसका फल क्या है ? आप मुझसे यह विषय कहिये ॥ ९ ॥

मनुरुवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शुक्रस्य च बलेश्चैव संवादं वै समागमे ॥ १० ॥

मनु बोले— इस विषयमें प्राचीन लोग महानुभाव शुक्र और बलिके मिलनेपर संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ १० ॥

बलेर्वैरोचनस्येह त्रैलोक्यमनुशासतः।
समीपमाजगामाशु शुक्रो भृगुकुलोद्वहः ॥ ११ ॥

विरोचनपुत्र बलि जब त्रिभुवनोंका शासन कर रहे थे, उस समय उनके निकट भृगुकुल-धुरन्धर शुक्राचार्य शीघ्रतासे आये ॥ ११ ॥

तमर्घ्यादिभिरभ्यर्च्य भार्गवं सोऽसुराधिपः।
निषसादासने पश्चाद्विधिवद् भूरिदक्षिणः ॥ १२ ॥

बहुतसी दक्षिणा देनेवाले, दानशील असुरराज बलि विधिपूर्वक अर्घ्य आदिसे भार्गवकी पूजा की; जब वे आसनपर बैठ गये, तब स्वयं भी बैठ गया ॥ १२ ॥

कथेयमभवत्तत्र या त्वया परिकीर्तिता।
सुमनोधूपदीपानां संप्रदाने फलं प्रति ॥ १३ ॥

तब फूल, धूप और दीप दान करनेसे क्या फल मिलता है, तुमने इस विषयमें जैसा प्रश्न किया है, वैसा ही वहांपर प्रश्न हुआ था ॥ १३ ॥

ततः पप्रच्छ दैत्येन्द्रः कवीन्द्रं प्रश्नमुत्तमम्।
सुमनोधूपदीपानां किं फलं ब्रह्मवित्तम।
प्रदानस्य द्विजश्रेष्ठ तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥

अनन्तर दैत्येन्द्रबलिने कविश्रेष्ठ शुक्राचार्यसे यह उत्तम प्रश्न किया। हे ब्रह्मवित् द्विजश्रेष्ठ ! फूल, धूप और दीप दान करनेसे क्या फल होता है ? आप इसे कह सकते हैं ॥ १४ ॥

शुक्र उवाच—

तपः पूर्वं समुत्पन्नं धर्मस्तस्मादनन्तरम्।
एतस्मिन्नन्तरे चैव वीरुदोषध्य एव च ॥ १५ ॥

शुक्र बोले— पहले तप उत्पन्न हुआ है, फिर धर्म प्रकट हुआ; इसके बीचमें लता और औषधियोंकी उत्पत्ति हुई है ॥ १५ ॥

सोमस्यात्मा च बहुधा संभूतः पृथिवीतले।
अमृतं च विषं चैव याश्चान्यास्तुल्यजातयः ॥ १६ ॥

अनेक प्रकारकी सोमलता पृथ्वीपर उत्पन्न हुई। अमृत, विष और दूसरी तुल्य जाति विविध लताओंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १६ ॥

अमृतं मनसः प्रीतिं सद्यः पुष्टिं ददाति च ।
मनो ग्लपयते तीव्रं विषं गन्धेन सर्वशः ॥ १७ ॥

अमृत मनको प्रसन्न करनेवाला तथा सदा सन्तोष–पुष्टि प्रदान करता है और विष अपनी गन्धसे मनको सब प्रकारसे तीव्र ग्लानियुक्त करता है ॥ १७ ॥

अमृतं मङ्गलं विद्धि महद्विषममङ्गलम् ।
ओषध्यो ह्यमृतं सर्वं विषं तेजोऽग्निसंभवम् ॥ १८ ॥

अमृतको मङ्गलमय और विषको महान् अमङ्गलकारी जानना चाहिये । सब औषधियां अमृत और विष अग्निसे उत्पन्न हुआ तेज ही है ॥ १८ ॥

मनो ह्लादयते यस्माच्छ्रियं चापि दधाति ह ।
तस्मात्सुमनसः प्रोक्ता नरैः सुकृतकर्मभिः ॥ १९ ॥

फल मनको प्रसन्न करता है तथा शोभा और श्रीयुक्त करता है, इस ही लिये पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य फूलको सुमन कहा करते हैं ॥ १९ ॥

देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः ।
तस्मात्सुमनसः प्रोक्ता यस्मात्तुष्यन्ति देवताः ॥ २० ॥

जो मनुष्य पवित्र होके देवताओंको फूल दान करता है, देववृन्द उसपर प्रसन्न होते हैं; इस कारण ही फूलोंको सुमनस कहा है ॥ २० ॥

यं यमुद्दिश्य दीयेरन्देवं सुमनसः प्रभो ।
मङ्गलार्थं स तेनास्य प्रीतो भवति दैत्यप ॥ २१ ॥

हे प्रभु दैत्यराज ! जिस जिस देवताके उद्देश्यसे फूल दिये जाते हैं, वह उस पुष्प दानसे दाताके मंगलके निमित्त उसपर प्रसन्न होता है ॥ २१ ॥

ज्ञेयास्तूग्राश्च सौम्याश्च तेजस्विन्यश्च ताः पृथक् ।
ओषध्यो बहुवीर्याश्च बहुरूपास्तथैव च ॥ २२ ॥

उग्रा, सौम्या, तेजस्वीनी, बहुवीर्या और अनेक रूपवाली पृथक् पृथक् औषधियां होती हैं; उनको जानना चाहिये ॥ २२ ॥

यज्ञियानां च वृक्षाणामयज्ञियान्निबोध मे ।
आसुराणि च माल्यानि दैवतेभ्यो हितानि च ॥ २३ ॥

वृक्षोंमें जो यज्ञीय तथा अज्ञिय हैं, वह मुझसे सुनो; और जो सब मालाएं देवताओं तथा जो असुरोंके लिये हितकर हैं, वह भी सुनो ॥ २३ ॥

×

राक्षसानां सुराणां च यक्षाणां च तथा प्रियाः ।
पितॄणां मानुषाणां च कान्तायास्त्वनुपूर्वशः ॥ २४ ॥

राक्षस, नाग, यक्ष, पितर और मनुष्योंके लिये जो ओषधियां प्रिय और मनोहर लगती हैं, उसे विस्तारपूर्वक सुनो ॥ २४ ॥

वन्या ग्राम्याश्चेह तथा कृष्टोप्ताः पर्वताश्रयाः ।
अकण्टकाः कण्टकिन्यो गन्धरूपरसान्विताः ॥ २५ ॥

जो फूल जङ्गली और ग्रामीण हैं, तथा जो भूमि खोदके लगाये गये हैं; जो फूल पर्वतीय, कांटेरहित और कांटेयुक्त हैं; जो सुगन्धि, सुन्दरताई और रसमय हैं, उनका विषय सुनो ॥२५॥

द्विविधो हि स्मृतो गन्ध इष्टोऽनिष्टश्च पुष्पजः ।
इष्टगन्धानि देवानां पुष्पाणीति विभावयेत् ॥ २६ ॥

फूलकी दो प्रकारकी गन्ध होती है– एक इष्ट, दूसरी अनिष्ट। जिनकी सुगन्धि इष्ट हैं, उन्हें ही देवताओंके फूल निश्चय करो ॥ २६ ॥

अकण्टकानां वृक्षाणां श्वेतप्रायाश्च वर्णतः ।
तेषां पुष्पाणि देवानामिष्टानि सततं प्रभो ॥ २७ ॥

हे प्रभु ! कांटेरहित वृक्षोंके फूल जो प्रायः सफेद वर्णके होते हैं, उन वृक्षोंके फूल सदा देवताओंके अभिलषित हैं ॥ २७ ॥

जलजानि च माल्यानि पद्मादीनि च यानि च ।
गन्धर्वनागयक्षेभ्यस्तानि दद्याद्विचक्षणः ॥ २८ ॥

कमल प्रभृति जो सब जलज पुष्प उत्पन्न होते हैं, बुद्धिमान् मनुष्य उन फूलोंको नाग और गन्धर्व यक्षोंको प्रदान करे ॥ २८ ॥

ओषध्यो रक्तपुष्पाश्च कटुकाः कण्टकान्विताः ।
शत्रूणामभिचारार्थमथर्वसु निदर्शिताः ॥ २९ ॥

कटु और कांटेयुक्त औषधियां तथा लाल पुष्प शत्रुओंका अनिष्ट करनेके निमित्त अथर्ववेदमें वर्णित हुए हैं ॥ २९ ॥

तीक्ष्णवीर्यास्तु भूतानां दुरालम्भाः सकण्टकाः ।
रक्तभूयिष्ठवर्णाश्च कृष्णाश्चैवोपहारयेत् ॥ ३० ॥

जिनकी गंध तीव्र हो, जो कांटेयुक्त तथा हाथसे स्पर्श करनेको कठिन हैं, जो अधिक लाल और काले रंगके हैं ऐसे फूल भूतोंको उपहार देवें ॥ ३० ॥

मनोहृदयनन्दिन्यो विमर्दे मधुराश्च याः ।
चारुरूपाः सुमनसो मानुषाणां स्मृता विभो ॥ ३१ ॥
हे प्रभु ! मन और हृदयके आनन्दको बढानेवाले, मलनेमें मधुर, रूप- रंगामें मनोहर फूल मनुष्योंके लिये विहित हैं ॥ ३१ ॥

न तु श्मशानसंभूता न देवायतनोद्भवाः ।
संनयेत्पुष्टियुक्तेषु विवाहेषु रहःसु च ॥ ३२ ॥
विवाहादि पुष्टियुक्त कार्यों और सुरतादि एकान्त कार्योंमें श्मशान और जीर्ण देवस्थानोंमें उत्पन्न हुए पुष्पोंको नहीं लाना चाहिये ॥ ३२ ॥

गिरिसानुरुहाः सौम्या देवानामुपपादयेत् ।
प्रोक्षिताभ्युक्षिताः सौम्या यथायोगं यथास्मृति ॥ ३३ ॥
पर्वतीय वृक्षोंके सुंदर तथा सुगंधित फूलोंको धोके अथवा उनपर जलको छींटकर धर्मशास्त्रके अनुसार यथायोग्य देवताओंको प्रदान करे ॥ ३३ ॥

गन्धेन देवास्तुष्यन्ति दर्शनाद्यक्षराक्षसाः ।
नागाः समुपभोगेन त्रिभिरेतैस्तु मानुषाः ॥ ३४ ॥
देवगण फूलकी सुगन्धिसे प्रसन्न होते हैं, यक्ष और राक्षस फूलको देखनेसे सन्तुष्ट होते हैं। नागगण पूरी रीतिसे फूलोंको उपभोग करनेसे प्रसन्न होते हैं, और मनुष्य लोग सूंघने, देखने और उपभोग इन तीन प्रकारके उपायसे सन्तुष्ट हुआ करते हैं ॥ ३४ ॥

सद्यः प्रीणाति देवान्वै ते प्रीता भावयन्त्युत ।
संकल्पसिद्धा मर्त्यानामीप्सितैश्च मनोरथैः ॥ ३५ ॥
मनुष्य फूल अर्पण करके तत्काल देवताओंको प्रसन्न करता है; इसलिये प्रसन्न होके वे संकल्प-सिद्ध देवता मनुष्योंका मनोरथ ईप्सितके सहारे वर्द्धित करते हैं ॥ ३५ ॥

देवाः प्रीणन्ति सततं मानिता मानयन्ति च ।
अवज्ञातावधूताश्च निर्दहन्त्यधमान्नरान् ॥ ३६ ॥
देववृन्द प्रसन्न और सम्मनित होनेपर मनुष्योंको सदा प्रीतियुक्त करते हैं; वे सम्मानित होनेपर मनुष्योंको सम्मानयुक्त करते हैं; और अवज्ञात तथा अवहेलना करनेपर वे अवज्ञा करनेवाले अधम मनुष्यको निश्चय ही क्रोधाग्निसे जला देते हैं ॥ ३६ ॥

अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूपदानविधौ फलम् ।
धूपांश्च विविधान्साधूनसाधूंश्च निबोध मे ॥ ३७ ॥
अब धूपदानकी विधिका फल मैं कहता हूं। धूप अनेक प्रकारके हैं, उसमें उत्तम और निकृष्ट भी होते हैं उनका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

निर्यासः सरलश्चैव कृत्रिमश्चैव ते त्रयः ।
इष्टानिष्टो भवेद्गन्धस्तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ३८ ॥

गुग्गुलु प्रभृति निर्याससे बने हुए एक प्रकारके धूपको निर्यास कहते हैं। काठ और अग्निके संयोगसे निकाले हुए धूपका नाम सारि है और अष्टगन्ध द्रव्योंसे बने हुए धूपको कृत्रिम कहते हैं, इस प्रभेदके अनुसार धूप तीन प्रकारका है। गन्ध इष्ट और अनिष्ट भेदसे दो प्रकार हैं, उसे मेरे समीप विस्तारपूर्वक सुनो ॥ ३८ ॥

निर्यासाः सल्लकीवर्ज्या देवानां दयितास्तु ते ।
गुग्गुलुः प्रवरस्तेषां सर्वेषामिति निश्चयः ॥ ३९ ॥

सल्लकी नामक वृक्षके रहित निर्यास धूप देवताओंको अत्यंत प्रिय होते हैं; सब निर्यासोंके बीच गुग्गुलु ही श्रेष्ठ करके निश्चित हुआ है ॥ ३९ ॥

अगुरुः सारिणां श्रेष्ठो यक्षराक्षसभोगिनाम् ।
दैत्यानां सल्लकीजश्च काङ्क्षितो यश्च तद्विधः ॥ ४० ॥

यक्ष, राक्षस और भोगियोंके भोगके लिये सारवान वस्तुओंके बीच अगरु ही श्रेष्ठ है। दैत्योंको सल्लकी तथा उसके सदृश दूसरे निर्यास ही अभिलषित हैं ॥ ४० ॥

अथ सर्जरसादीनां गन्धैः पार्थिवदारवैः ।
फाणितासवसंयुक्तैर्मनुष्याणां विधीयते ॥ ४१ ॥

हे राजन्! सर्जरस आदि गन्ध और देवदारुकी सुगन्ध फूली हुई मल्लिकाप्रभृति फूलोंको मकरन्द गन्धके सङ्ग मिलनेपर जो धूप बनता है, वह मनुष्योंके लिये विहित है ॥ ४१ ॥

देवदानवभूतानां सद्यस्तुष्टिकरः स्मृतः ।
येऽन्ये वैहारिकास्ते तु मानुषाणामिति स्मृताः ॥ ४२ ॥

और ऐसा वर्णित है, कि वह देव, दानव तथा भूतोंको उसकाल प्रीतियुक्त करता है। इसके अतिरिक्त जो विहार-- भोगमात्रके उपयुक्त हैं, वे मनुष्योंके लिये विहित हैं ॥ ४२ ॥

य एवोक्ताः सुमनसां प्रदाने गुणहेतवः ।
धूपेष्वपि परिज्ञेयास्त एव प्रीतिवर्धनाः ॥ ४३ ॥

जिन कारणोंसे गुणोंसे फूल दान करना प्रशंसित होता है, उन्हींसे धूप दान भी संतोषजनक हुआ करता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४३ ॥

दीपदाने प्रवक्ष्यामि फलयोगमनुत्तमम् ।
यथा येन यदा चैव प्रदेया यादृशाश्च ते ॥ ४४ ॥

दीपक दान करनेसे जो उत्तम फल मिलता है और जिस समयमें जिसके द्वारा जिस प्रकार जैसा दीपक दान करना चाहिये; वह भी कहता हूं ॥ ४४ ॥

ज्योतिस्तेजः प्रकाशश्चाप्यूर्ध्वगं चापि वर्ण्यते ।
प्रदानं तेजसां तस्मात्तेजो वर्धयते नृणाम् ॥ ४५ ॥

यह भी कहा जाता है, कि दीप ऊर्ध्वगामी तेज है तथा वह कान्ति और कीर्ति प्रदान करता है; दीप या तेज दानसे मनुष्योंके तेजकी वृद्धि होती है ॥ ४५ ॥

अन्धं तमस्तमिस्रं च दक्षिणायनमेव च ।
उत्तरायणमेतस्माज्ज्योतिर्दानं प्रशस्यते ॥ ४६ ॥

अन्धकार और दक्षिणायन अन्धन्तम नामक नरक स्वरूप है; इसके विरुद्ध उत्तरायण प्रकाशमय है, इसलिये उत्तरायण श्रेष्ठ माना गया है; और दीपदानकी प्रशंसा की गयी है ॥ ४६ ॥

यस्मादूर्ध्वगमेतत्तु तमसश्चैव भेषजम् ।
तस्मादूर्ध्वगतेर्दाता भवेदिति विनिश्चयः ॥ ४७ ॥

दीपककी ज्योति उर्ध्वगामिनी और अन्धकाररूपी रोगको दूर करनेकी दवा है, इस ही लिये दीपदान ऊर्ध्वगति प्रदान करती है, इस विषयमें ऐसा ही निश्चय है ॥ ४७ ॥

देवास्तेजस्विनो यस्मात्प्रभावन्तः प्रकाशकाः ।
तामसा राक्षसाश्चेति तस्माद्दीपः प्रदीयते ॥ ४८ ॥

देववृन्द तेजस्वी, कान्तियुक्त और प्रकाशमान होते हैं और राक्षस अन्धकार प्रिय हैं; इसलिये दीपदान करना उचित है ॥ ४८ ॥

आलोकदानाच्चक्षुष्मान्प्रभायुक्तो भवेन्नरः ।
तान्दत्त्वा नोपहिंसेत न हरेन्नोपनाशयेत् ॥ ४९ ॥

मनुष्य दीपदान करनेसे तेजस्वी नेत्रोंसे युक्त और स्वयं प्रभायुक्त होता है, इसलिये दीपदान करके उनके न बुझाये, उठाकर अन्यत्र न ले जाय और नष्ट नहीं करे ॥ ४९ ॥

दीपहर्ता भवेदन्धस्तमोगतिरसुप्रभः ।
दीपप्रदः स्वर्गलोके दीपमाली विराजते ॥ ५० ॥

जो पुरुष दीपक हरता है, वह अन्धा होता है, श्रीहीन होता है, तथा उसकी उत्तम प्रभा नहीं रहती और दीपक दान करनेवाला स्वर्गलोकमें दीपमालाकी भांति विराजता है ॥५०॥

हविषा प्रथमः कल्पो द्वितीयस्त्वौषधीरसैः ।
वसामेदोस्थिनिर्यासैर्न कार्यः पुष्टिमिच्छता ॥ ५१ ॥

घृतसे युक्त दीपक जलाकर दान करना प्रथम श्रेणीका है; तिल, सरसों और औषधियोंके तेलसे जलाकर किया हुआ दीप दान द्वितीय श्रेणीका है। जो मनुष्य पुष्टिकी कामना करता है, उसे उचित है, कि चर्बी, मेद और हड्डियोंसे निकाले हुए तेल और निर्यासके द्वारा कभी दीपक नहीं जलाये ॥ ५१ ॥

गिरिप्रपाते गहने चैत्यस्थाने चतुष्पथे ।
दीपदाता भवेन्नित्यं य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ ५२ ॥

जो अपने ऐश्वर्यकी अभिलाष करता है, उसे पहाडके झरने, वन, देवताओंके मंदिरमें और चौहारोंमें सदा दीप दान करना चाहिये ॥ ५२ ॥

कुलोद्योतो विशुद्धात्मा प्रकाशत्वं च गच्छति ।
ज्योतिषां चैव सालोक्यं दीपदाता नरः सदा ॥ ५३ ॥

दीपदाता सदा कुलप्रदीप, पवित्रचित्त और श्रीसम्पन्न होके प्रकाशित होता और उसे ज्योतिर्गणोंके सदृश लोक प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

बलिकर्मसु वक्ष्यामि गुणान्कर्मफलोदयान् ।
देवयक्षोरगनृणां भूतानामथ रक्षसाम् ॥ ५४ ॥

देव, यक्ष, नाग, मनुष्य, भूत और राक्षसोंके बलिकर्मके विषयमें कर्मफल उदय होनेसे जो उत्कर्षता प्राप्त होती है, उसे कहता हूं ॥ ५४ ॥

येषां नाग्रभुजो विप्रा देवतातिथिबालकाः ।
राक्षसानेव तान्विद्धि निर्वषट्कारमङ्गलान् ॥ ५५ ॥

ब्राह्मण, देवता, अतिथि और बालकवृन्द जिनके गृहमें अगाडी भोजन नहीं करते, उन मुक्त अमांगलिक लोगोंको राक्षस जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

तस्मादग्रं प्रयच्छेत देवेभ्यः प्रतिपूजितम् ।
शिरसा प्रणतश्चापि हरेद्बलिमतन्द्रितः ॥ ५६ ॥

इसलिये देवताओंकी पूजा करके, तथा सावधान और आलस्यरहित होके मस्तक झुकाकर प्रणाम करे और उनको अग्रभाग प्रदान करना योग्य है ॥ ५६ ॥

गृह्या हि देवता नित्यमाशंसन्ति गृहात्सदा ।
बाह्याश्चागन्तवो येऽन्ये यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ५७ ॥

कारण यह है कि, देवता गृहस्थ मनुष्यकी बलिको सदा स्वीकार करते और आशीर्वाद देते हैं; आगन्तुक अतिथि और यक्ष, राक्षस, नाग उसके गृहमें आनेसे शंसित होते हैं ॥५७॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ।
ते प्रीताः प्रीणयन्त्येतानायुषा यशसा धनैः ॥ ५८ ॥

देवता और पितर लोग इस लोकमें दी हुई हव्यकव्य बलिके द्वारा जीवन धारण करते हैं, वे प्रसन्न होके दाताको आयु, यश और धनके सहारे सन्तुष्ट किया करते हैं ॥ ५८ ॥

बलयः सह पुष्पैस्तु देवानामुपहारयेत् ।
दधिद्रप्सयुताः पुण्याः सुगन्धाः प्रियदर्शनाः ॥ ५९ ॥
दही दूध युक्त, पवित्र, सुगन्धित और उत्तम फूलोंसे सुशोभित बलि देवताओंको अर्पण की जाय ॥ ५९ ॥

कार्या रुधिरमांसाढया बलयो यक्षरक्षसाम् ।
सुरासवपुरस्कारा लाजोल्लेपनभूषिताः ॥ ६० ॥
यक्ष और राक्षसोंको रुधिर और मांसयुक्त बलि कोई अर्पित करते हैं; उस सारी बलिको सुरा, आसव और धानका लावासे विभूषित करते हैं ॥ ६० ॥

नागानां दयिता नित्यं पद्मोत्पलविमिश्रिताः ।
तिलान्गुडसुसंपन्नान्भूतानामुपहारयेत् ॥ ६१ ॥
पद्मोत्पलमिश्रित बलि नागोंको प्रिय होती है । गुडयुक्त तिल भूतोंको उपहार देवे ॥ ३१ ॥

अग्रदाताग्रभोगी स्याद्बलवर्णसमन्वितः ।
तस्मादग्रं प्रयच्छेत देवेभ्यः प्रतिपूजितम् ॥ ६२ ॥
जो मनुष्य देवता आदिको पहले बलि अर्पण करके भोजन करता है, वह उत्तम भोगसम्पन्न, बलवान् और वर्णयुक्त होता है; इसलिये देवताओंकी पूजा करके अन्नका अग्रभाग प्रदान करे ॥ ६२ ॥

ज्वलत्यहरहो वेश्म याश्चास्य गृहदेवताः ।
ताः पूज्या भूतिकामेन प्रसृताग्रप्रदायिना ॥ ६३ ॥
गृहकी अधिष्ठात्री देवियां घरको रात दिन प्रकाशित करती रहती हैं, इसलिये ऐश्वर्यकी कामना करनेवाला मनुष्य उन्हें भोजनका प्रथम भाग प्रदान करके उनकी पूजा करे ॥६३॥

इत्येतदसुरेन्द्राय काव्यः प्रोवाच भार्गवः ।
सुवर्णाय मनुः प्राह सुवर्णो नारदाय च ॥ ६४ ॥
भृगुनन्दन शुक्राचार्यने असुरेन्द्र बलिसे यह सब कथा कही थी। मनुने सुवर्णसे, उस सुवर्णने नारदसे कही थी ॥ ६४ ॥

नारदोऽपि मयि प्राह गुणानेतान्महाद्युते ।
त्वमप्येतद्विदित्वेह सर्वमाचर पुत्रक ॥ ६५ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोत्तरशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥ ४२५१ ॥
और नारदने मेरे समीप इन गुणोंके सहित यह सब फलका विषय कहा था । हे महातेजस्वी पुत्र ! तुम भी यह सब मालूम करके ऐसा ही आचरण करो ॥ ६५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ १०१ ॥ ४२५१ ॥

: १०२ :

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुतं मे भरतश्रेष्ठ पुष्पधूपप्रदायिनाम् ।
फलं बलिविधाने च तद्भूयो वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! मैंने फूल, धूप, प्रभृति दान करनेवालोंका फल सुन लिया; अब बलि समर्पण विधानका जो फल है, यह विषय आपको फिर कहना योग्य है ॥ १ ॥

धूपप्रदानस्य फलं प्रदीपस्य तथैव च ।
बलयश्च किमर्थं वै क्षिप्यन्ते गृहमेधिभिः ॥ २ ॥

धूपदान और दीपदानका फल ज्ञात हुआ । किस लिये गृहस्थ लोग बलि दिया करते हैं ? इसे विस्तारपूर्वक वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नहुषं प्रति संवादमगस्त्यस्य भृगोस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– प्राचीन लोग इस विषयमें अगस्त्य, भृगु और नहुषके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ ३ ॥

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः ।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ४ ॥

हे महाराज ! महातपस्वी राजर्षि नहुषने इस लोकमें सुकृत कर्मोंसे देवराज्य पाया था ॥४॥

तत्रापि प्रयतो राजन्नहुषस्त्रिदिवे वसन् ।
मानुषीश्चैव दिव्याश्च कुर्वाणो विविधाः क्रियाः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! वहां स्वर्गमें रहकर भी पवित्र चित्त राजा नहुष दिव्य और मानुष विविध क्रियाएं करते थे ॥ ५ ॥

मानुष्यस्तत्र सर्वाः स्म क्रियास्तस्य महात्मनः ।
प्रवृत्तास्त्रिदिवे राजन्दिव्याश्चैव सनातनाः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! उस महात्मा राजाकी सब मानुषी क्रियाएं तथा दिव्य सनातन क्रियाएं उस स्वर्गके बीच निभने लगीं ॥ ६ ॥

अग्निकार्याणि समिधः कुशाः सुमनसस्तथा ।
बलयश्चान्नलाजाभिर्धूपनं दीपकर्म च ॥ ७ ॥

अग्निकार्य, समिधा, कुशा, पुष्प, अन्न तथा लावाकी बलि, धूपदान तथा दीपदान प्रभृति ॥ ७ ॥

सर्वं तस्य गृहे राज्ञः प्रावर्तत महात्मनः ।
जपयज्ञान्मनोयज्ञांस्त्रिदिवेऽपि चकार सः ॥ ८ ॥

सब कार्य उस महानुभाव राजाके घरमें होने लगे; वह सुरपुरमें भी जपयज्ञ और मनोयज्ञ करते थे ॥ ८ ॥

दैवतान्यर्चयंश्चापि विधिवत्स सुरेश्वरः ।
सर्वाण्येव यथान्यायं यथापूर्वमरिंदम ॥ ९ ॥

हे अरिन्दम ! वे देवताओंके राजा नहुष सभी देवताओंकी विधिपूर्वक पहले जैसी यथोचित् पूजा करते थे ॥ ९ ॥

अथेन्द्रस्य भविष्यत्वादहंकारस्तमाविशत् ।
सर्वाश्चैव क्रियास्तस्य पर्यहीयन्त भूपते ॥ १० ॥

अनन्तर "मैं इन्द्र हूं" ऐसा जानके वह अहङ्कारयुक्त हुआ। हे महाराज ! उसके अभिमान-युक्त होनेपर उसकी सब क्रियाएं नष्ट हुई ॥ १० ॥

स ऋषीन्वाहयामास वरदानमदान्वितः ।
परिहीनक्रियश्चापि दुर्बलत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥

उसने वर पाके मतवाला होकर ऋषियोंको अपनी सवारी ढोनेमें प्रवृत्त किया और क्रियारहित होके अत्यन्त निर्बल होने लगा ॥ ११ ॥

तस्य वाहयतः कालो मुनिमुख्यांस्तपोधनान् ।
अहंकाराभिभूतस्य सुमहानत्यवर्तत ॥ १२ ॥

उसके अहंकारयुक्त होके मुख्य तपस्वी ऋषियोंको अपने वाहनमें जोतते हुए बहुत समय व्यतीत हुआ ॥ १२ ॥

अथ पर्यायशः ऋषीन्वाहनायोपचक्रमे ।
पर्यायश्चाप्यगस्त्यस्य समपद्यत भारत ॥ १३ ॥

हे भारत ! अनन्तर वह पर्यायक्रमसे सब ऋषियोंको सवारी ढोनेके लिये नियुक्त करनेमें उद्यत हुआ; कालक्रमसे अगस्त्य मुनिका समय उपस्थित हुआ ॥ १३ ॥

अथागम्य महातेजा भृगुर्ब्रह्मविदां वरः ।
अगस्त्यमाश्रमस्थं वै समुपेत्येदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भृगु उस समय अगस्त्यके आश्रममें आके यह वचन बोले ॥ १४ ॥

एवं वयमसत्कारं देवेन्द्रस्यास्य दुर्मतेः ।
नहुषस्य किमर्थं वै मर्षयाम महामुने ॥ १५ ॥

हे महामुनि ! हम इस नीचबुद्धि देवेन्द्र नहुषके ऐसे अत्याचारको किस लिये सह रहे हैं ? ॥ १५ ॥

×

अगस्त्य उवाच—

कथमेष मया शक्यः शप्तुं यस्य महामुने ।
वरदेन वरो दत्तो भवतो विदितश्च सः ॥ १६ ॥

अगस्त्य बोले— हे मुनिवर ! वरदाता प्रजापति ब्रह्माने जिसे वर दिया है, मैं उसे किस प्रकार शाप देनेमें समर्थ होऊंगा ? आपसे भी यह जानते हैं ॥ १६ ॥

यो मे दृष्टिपथं गच्छेत्स मे वश्यो भवेदिति ।
इत्यनेन वरो देवाद्याचितो गच्छता दिवम् ॥ १७ ॥

जब वह स्वर्गमें जाने लगा, तब प्रजापतिके समीप इसने यह वर मांगा था, कि ' मैं जिसे देखूं, वह मेरे वशमें हो जाय ॥ १७ ॥

एवं न दग्धः स मया भवता च न संशयः ।
अन्येनाप्यृषिमुख्येन न शप्तो न च पातितः ॥ १८ ॥

इस ही निमित्त इसे मैंने अथवा तुमने दग्ध नहीं किया है । यह निःसंदेह है । तथा अन्य किसी श्रेष्ठ ऋषिने उसे शापित तथा स्वर्गसे च्युत नहीं किया है ॥ १८ ॥

अमृतं चैव पानाय दत्तमस्मै पुरा विभो ।
महात्मने तदर्थं च नास्माभिर्विनिपात्यते ॥ १९ ॥

हे विभो ! महानुभाव पितामहने पहले समयमें इसे पीनेके लिये अमृत दिया था, इस ही निमित्त हम उसे स्वर्गसे नीचे गिरानेमें असमर्थ हुए हैं ॥ १९ ॥

प्रायच्छत वरं देवः प्रजानां दुःखकारकम् ।
द्विजेष्वधर्मयुक्तानि स करोति नराधमः ॥ २० ॥

प्रजापतिने इसे प्रजाजनोंके लिये दुःखकर वर दिया है, इसीसे यह पुरुषाधम ब्राह्मणोंके विषयमें अधर्मयुक्त व्यवहार करता है ॥ २० ॥

अत्र यत्प्राप्तकालं नस्तद्ब्रूहि वदतां वर ।
भवांश्चापि यथा ब्रूयात्कुर्वीमहि तथा वयम् ॥ २१ ॥

हे वक्तृवर ! उस विषयमें हम लोगोंके लिये जो समय उपस्थित हुआ है, आप उसे ही कहिये, आप जैसा कहेंगे, हम निःसन्देह वैसाही करेंगे ॥ २१ ॥

भृगुरुवाच—

पितामहनियोगेन भवन्तमहमागतः ।
प्रतिकर्तुं बलवति नहुषे दर्पमास्थिते ॥ २२ ॥

भृगु बोले— अहंकारसे मोहित बलशाली नहुषके प्रतिकार करनेके लिये मैं पितामह ब्रह्माकी आज्ञानुसार आपके समीप आया हूं ॥ २२ ॥

अद्य हि त्वा सुदुर्बुद्धी रथे योक्ष्यति देवराट्।
अद्यैनमहमुद्वृत्तं करिष्येऽनिन्द्रमोजसा ॥ २३ ॥
वह नीचबुद्धि देवराज आज आपको रथमें नियुक्त करेगा; मैं आज ही इस स्वेच्छाचारीको निज तेजके प्रभावसे इन्द्रपदसे भ्रष्ट करूंगा ॥ २३ ॥

अद्येन्द्रं स्थापयिष्यामि पश्यतस्ते शतक्रतुम्।
संचाल्य पापकर्माणमिन्द्रस्थानात्सुदुर्मतिम् ॥ २४ ॥
मैं आज ही आपके सम्मुखमें उस अत्यन्त नीचबुद्धि पापीको इन्द्रपदसे पृथक् करके शतक्रतुको इन्द्रपदपर स्थापित करूंगा ॥ २४ ॥

अद्य चासौ कुदेवेन्द्रस्त्वां पदा धर्षयिष्यति।
दैवोपहतचित्तत्वादात्मनाशाय मन्दधीः ॥ २५ ॥
आज ही वह मन्दबुद्धि नीच देवराज नहुष दैववशसे अपने ही विनाशके लिये पांवसे तुम्हें प्रधर्षित करेगा ॥ २५ ॥

व्युत्क्रान्तधर्मं तमहं धर्षणामर्षितो भृशम्।
अहिर्भवस्वेति रुषा शप्स्ये पापं द्विजद्रुहम् ॥ २६ ॥
मैं आपके प्रति किये गये अत्याचारसे अत्यन्त क्रोधित होके उस निधर्मी द्विजद्रोही पापीको क्रोधवशसे " सर्प हो जाओ " कहके शाप दूंगा ॥ २६ ॥

तत एनं सुदुर्बुद्धिं धिक्शब्दाभिहतत्विषम्।
धरण्यां पातयिष्यामि प्रेक्षतस्ते महामुने ॥ २७ ॥
हे महामुनि ! अनन्तर चारों ओरसे धिक्शब्दसे श्रीहीन हुए उस अत्यन्त दुर्बुद्धि राजाको आपके सम्मुखमें ही पृथ्वीपर गिरा दूंगा ॥ २७ ॥

नहुषं पापकर्माणमैश्वर्यबलमोहितम्।
यथा च रोचते तुभ्यं तथा कर्तास्म्यहं मुने ॥ २८ ॥
हे मुनि ! ऐश्वर्यबलसे मोहित पापी नहुषको जिस प्रकार करनेके लिये आपकी जैसी रुचि होगी, मैं वैसा ही करूंगा ॥ २८ ॥

एवमुक्तस्तु भृगुणा मैत्रावरुणिरव्ययः।
अगस्त्यः परमप्रीतो बभूव विगतज्वरः ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥ ४२८० ॥

मैत्रावरुणि अविनाशी अगस्त्य मुनि भृगुका ऐसा बचन सुनके परम प्रसन्न और चिन्ता रहित हुए ॥ २९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ दोवां अध्याय समाप्त ॥ १०२ ॥ ४२८० ॥

: १०३ :

युधिष्ठिर उवाच—

कथं स वै विपन्नश्च कथं वै पातितो भुवि ।
कथं चानिन्द्रतां प्राप्तस्तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— राजा नहुष किस प्रकार विपद्ग्रस्त हुए ? किस प्रकार पृथ्वीपर गिराये गये ? किस तरह इन्द्रत्व पदसे भ्रष्ट हुए ? यह विषय आपको वर्णन करना योग्य है ॥१॥

भीष्म उवाच—

एवं तयोः संवदतोः क्रियास्तस्य महात्मनः ।
सर्वा एवाभ्यवर्तन्त या दिव्या याश्च मानुषाः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— अगस्त्य और भृगुके इस प्रकार वार्तालाप करते रहनेपर महात्मा नहुष राजाके घरमें दिव्य और मनुष्य कार्य हो रहे थे ॥ २ ॥

तथैव दीपदानानि सर्वोपकरणानि च ।
बलिकर्म च यच्चान्यदुत्सेकाश्च पृथग्विधाः ।
सर्वास्तस्य समुत्पन्ना देवराज्ञो महात्मनः ॥ ३ ॥

दीपदान, सब सामग्रियोंसे युक्त अन्नदान, बलिकर्म तथा पृथक् पृथक् रीतिसे दूसरे सब स्नान-अभिषेक कार्य प्रवृत्त थे । महानुभाव देवराज नहुषके वे सब कार्य होते थे ॥ ३ ॥

देवलोके नृलोके च सदाचारा बुधैः स्मृताः ।
ते चेद्भवन्ति राजेन्द्र ऋध्यन्ते गृहमेधिनः ।
धूपप्रदानैर्दीपैश्च नमस्कारैस्तथैव च ॥ ४ ॥

देवलोक और मनुष्यलोकमें विद्वानोंने जो सब सदाचार वर्णित किये हैं, हे राजेन्द्र ! यदि वे साधुसम्मत सदाचार गृहस्थके घरमें पूर्ण हो, तो वे गृहस्थ मनुष्य समृद्धियुक्त होते हैं। धूपदान, दीपदान और देवताओंको नमस्कार आदिसे गृहस्थ उन्नतिशील होते हैं ॥ ४ ॥

यथा सिद्धस्य चान्नस्य द्विजायाग्रं प्रदीयते ।
बलयश्च गृहोद्देशे अतः प्रीयन्ति देवताः ॥ ५ ॥

जैसे ब्राह्मणको सिद्धान्नका अग्रभाग प्रदान किया जाता है उसी प्रकार गृहमें देवताओंको अन्न बलि देनेसे देववृन्द प्रसन्न होते हैं ॥ ५ ॥

यथा च गृहिणस्तोषो भवेद्वै बलिकर्मणा ।
तथा शतगुणा प्रीतिर्देवतानां स्म जायते ॥ ६ ॥

बलिकर्म करनेपर गृहस्थ पुरुष जितना सन्तुष्ट होता है, देवताओंको उससे सौ गुनी अधिक प्रीति हुआ करती है ॥ ६ ॥

एवं धूपप्रदानं च दीपदानं च साधवः ।
प्रशंसन्ति नमस्कारैर्युक्तमात्मगुणावहम् ॥ ७ ॥

इसलिये साधु पुरुष अपने लिये लाभदायक नमस्कारयुक्त धूपदान और दीपदानकी प्रशंसा किया करते हैं ॥ ७ ॥

स्नानेनाद्भिश्च यत्कर्म क्रियते वै विपश्चिता ।
नमस्कारप्रयुक्तेन तेन प्रीयन्ति देवताः ।
गृह्याश्च देवताः सर्वाः प्रीयन्ते विधिनार्चिताः ॥ ८ ॥

विद्वान् पुरुष पवित्र जलमें स्नान करके देवता आदिके लिये नमस्कार पूर्वक जो तर्पण आदि कर्म करते हैं, उससे देववृन्द प्रसन्न होते हैं। घरके सब देवता विधिपूर्वक पूजित होनेपर प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥

इत्येतां बुद्धिमास्थाय नहुषः स नरेश्वरः ।
सुरेन्द्रत्वं महत्प्राप्य कृतवानेतदद्भुतम् ॥ ९ ॥

राजा नहुषने इस ही निमित्त ऐसी बुद्धि अवलम्बन करके महत् सुरेन्द्रत्व पाके भी अद्भुत रीतिसे पूर्वोक्त पुण्य कार्योंको चालू रक्खा था ॥ ९ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य भाग्यक्षय उपस्थिते ।
सर्वमेतदवज्ञाय न चकारैतदीदृशम् ॥ १० ॥

कुछ समयके अनन्तर भाग्यक्षयका समय उपस्थित होनेपर, पूर्वोक्त सब कार्योंकी अवहेलना करके वह इस प्रकार पुण्यकर्मोंको नहीं करते थे ॥ १० ॥

ततः स परिहीणोऽभूत्सुरेन्द्रो बलिकर्मतः ।
धूपदीपोदकविधिं न यथावच्चकार ह ।
ततोऽस्य यज्ञविषयो रक्षोभिः पर्यबाध्यत ॥ ११ ॥

अनन्तर वह देवेन्द्र होके बलिकर्मोंसे रहित हुए और धूपदान, दीपदान तथा जलदानकी विधिका यथावत् रीतिसे पालन करनेमें विरक्त रहे; अन्तमें उनके यज्ञस्थानमें राक्षस लोग विचरने लगे ॥ ११ ॥

अथागस्त्यमृषिश्रेष्ठं वाहनायाजुहाव ह ।
द्रुतं सरस्वतीकूलात्स्मयन्निव महाबलः ॥ १२ ॥

अनन्तर उस महाबली राजाने गर्वित होकर मुसकराते हुएसे सरस्वतीके तटसे अगस्त्य महर्षिको सवारी ले चलनेके लिये शीघ्रही बुलाया ॥ १२ ॥

ततो भृगुर्महातेजा मैत्रावरुणिमब्रवीत् ।
निमीलयस्व नयने जटा यावद्विशामि ते ॥ १३ ॥

तब महातेजस्वी भृगु मैत्रावरुणपुत्र अगस्त्यसे बोले— मैं जबतक तुम्हारी जटाके बीच प्रवेश करूं, तबतक तुम अपने नेत्र मूंद रक्खो ॥ १३ ॥

स्थाणुभूतस्य तस्याथ जटाः प्राविशदच्युतः ।
भृगुः स सुमहातेजाः पातनाय नृपस्य ह ॥ १४ ॥

अनन्तर अगस्त्यके पर्वतकी भांति अचलभावसे स्थित होनेपर अच्युत महातेजस्वी भृगुने राजा नहुषको स्वर्गसे च्युत करनेके लिये उनकी जटामें प्रवेश किया ॥ १४ ॥

ततः स देवराट् प्राप्तस्तमृषिं वाहनाय वै ।
ततोऽगस्त्यः सुरपतिं वाक्यमाह विशां पते ॥ १५ ॥

हे नरनाथ ! अनन्तर देवराज नहुषने सवारी ले चलनेके लिये अगस्त्य मुनिको पाया, तब अगस्त्यने सुरपतिसे कहा ॥ १५ ॥

योजयस्वेन्द्र मां क्षिप्रं कं च देशं वहामि ते ।
यत्र वक्ष्यसि तत्र त्वां नयिष्यामि सुराधिप ॥ १६ ॥

हे सुरराज इन्द्र ! मुझे शीघ्र सवारीमें नियुक्त करो और कहो मैं तुम्हें किस स्थानपर ले चलूं ? हे देवराज ! आप जहां कहो, वहां ही मैं आपको ले चलूंगा ॥ १६ ॥

इत्युक्तो नहुषस्तेन योजयामास तं मुनिम् ।
भृगुस्तस्य जटासंस्थो बभूव हृषितो भृशम् ॥ १७ ॥

नहुषने अगस्त्यका वचन सुनके उन्हें सवारीमें नियुक्त किया; यह देख भृगु उनकी जटामें रहके अत्यन्त हर्षित हुए ॥ १७ ॥

न चापि दर्शनं तस्य चकार स भृगुस्तदा ।
वरदानप्रभावज्ञो नहुषस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

वह महानुभाव नहुषके वर पानेका प्रभाव जानते थे, इसलिये उस समय भृगु उनके नेत्रके सामने नहीं हुए ॥ १८ ॥

न चुकोप स चागस्त्यो युक्तोऽपि नहुषेण वै ।
तं तु राजा प्रतोदेन चोदयामास भारत ॥ १९ ॥

नहुषने जब अगस्त्यको सवारीमें नियुक्त किया, तब भी वह उनपर क्रुद्ध नहीं हुए । हे भारत ! राजा नहुषने उन्हें कोडेसे मारकर हांकना शुरू किया ॥ १९ ॥

न चुकोप स धर्मात्मा ततः पादेन देवराट् ।
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः ॥ २० ॥

उसपर भी वह धर्मात्मा क्रुद्ध न हुए, अनन्तर देवराजने क्रुद्ध होके उस समय अगस्त्यके सिरपर बाईं लात मारी ॥ २० ॥

तस्मिञ्शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ।
शशाप बलवत्क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम् ॥ २१ ॥

अगस्त्यके सिरपर लात मारनेसे उनके जटाके भीतर बैठे हुए भृगुने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस पापबुद्धि नहुषको शाप दिया ॥ २१ ॥

भृगुरुवाच—

यस्मात्पदाहनः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ।
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते ॥ २२ ॥

भृगु बोले— रे नीचबुद्धिवाले ! तूने क्रोधके वशमें होकर इस महामुनिके सिरपर लात मारी है, इसलिये शीघ्र ही तू सर्प होकर पृथ्वीपर चला जा ॥ २२ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ।
अदृष्टेनाथ भृगुणा भूतले भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे भरतर्षभ ! उस समय नहुष अगोचर भृगुके द्वारा इस प्रकार शापयुक्त होके सर्प होकर पृथ्वीपर पतित हुए ॥ २३ ॥

भृगुं हि यदि सोऽद्राक्षीन्नहुषः पृथिवीपते ।
न स शक्तोऽभविष्यद्वै पातने तस्य तेजसा ॥ २४ ॥

हे महाराज ! यदि नहुष उस समय भृगुको देख लेते तो वह निज तेजसे उन्हें स्वर्गसे नीचे गिरानेमें समर्थ न होते ॥ २४ ॥

स तु तैस्तैः प्रदानैश्च तपोभिर्नियमैस्तथा ।
पतितोऽपि महाराज भूतले स्मृतिमानभूत् ।
प्रसादयामास भृगुं शापान्तो मे भवेदिति ॥ २५ ॥

हे महाराज ! राजा नहुष पृथ्वीपर गिरके भी पूर्वोक्त अनेक प्रकारके दान प्रदान करने तथा तप—नियमके सहारे अपनी पूर्व जन्मकी स्मृतिशक्तिसे युक्त थे; मुझे मिले हुए शापका अन्त होना चाहिये, ऐसा कहकरके भृगुको प्रसन्न करने लगे ॥ २५ ॥

ततोऽगस्त्यः कृपाविष्टः प्रासादयत तं भृगुम् ।
शापान्तार्थं महाराज स च प्रादात्कृपान्वितः ॥ २६ ॥

हे महाराज ! अनन्तर अगस्त्यने कृपायुक्त होके शापका अन्त करनेके लिये भृगुको प्रसन्न किया; उन्होंने कृपालु होके शापान्तका नियम कह दिया ॥ २६ ॥

भृगुरुवाच—

राजा युधिष्ठिरो नाम भविष्यति कुरूद्वहः ।
स त्वां मोक्षयिता शापादित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ २७ ॥

भृगु बोले— तुम्हारे कुलमें युधिष्ठिर नामक एक कुरू वंशधर राजा होगा, वही तुम्हें शापसे मुक्त करेगा; इतना कहके भृगु अन्तर्द्धान हुए ॥ २७ ॥

अगस्त्योऽपि महातेजाः कृत्वा कार्यं शतक्रतोः ।
स्वमाश्रमपदं प्रायात्पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २८ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य भी शतक्रतु इन्द्रका कार्य पूरा करके द्विजातियोंसे पूजित होके अपने आश्रमपर गये ॥ २८ ॥

नहुषोऽपि त्वया राजंस्तस्माच्छापात्समुद्धृतः ।
जगाम ब्रह्मसदनं पश्यतस्ते जनाधिप ॥ २९ ॥

हे राजन् ! नहुषका तुमने भी उस शापसे उद्धार किया है । हे प्रजानाथ ! नहुष तुम्हारे सम्मुखमें ही ब्रह्मलोकमें गये हैं ॥ २९ ॥

तदा तु पातयित्वा तं नहुषं भूतले भृगुः ।
जगाम ब्रह्मसदनं ब्रह्मणे च न्यवेदयत् ॥ ३० ॥

उस समय भृगु नहुषको पृथ्वीपर गिराके ब्रह्माके स्थानमें गये और उन्हें सब वृत्तान्त सुनाया ॥ ३० ॥

ततः शक्रं समानाय्य देवानाह पितामहः ।
वरदानान्मम सुरा नहुषो राज्यमाप्तवान् ।
स चागस्त्येन क्रुद्धेन भ्रंशितो भूतलं गतः ॥ ३१ ॥

अनन्तर ब्रह्मा देवराजको बुलाके देवताओंसे बोले, हे देवगण ! मेरे वरदानसे नहुषने देवराज्य पाया था; वह क्रुद्ध अगस्त्यके द्वारा भ्रष्ट होके पृथ्वीपर गया है ॥ ३१ ॥

न च शक्यं विना राज्ञा सुरा वर्तयितुं क्वचित् ।
तस्मादयं पुनः शक्रो देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ ३२ ॥

हे देवगण ! राजाके विना किसी स्थानमें कोई वास नहीं कर सकता; इसलिये पाकशासनको तुम लोग फिर देवराज्यपर अभिषिक्त करो ॥ ३२ ॥

एवं संभाषमाणं तु देवाः पार्थ पितामहम् ।
एवमस्त्विति संहृष्टाः प्रत्यूचुस्ते पितामहम् ॥ ३३ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! देवताओंने ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त हर्षित होकर ' एवमस्तु ' कहके उनकी बात स्वीकार की ॥ ३३ ॥

सोऽभिषिक्तो भगवता देवराज्येन वासवः ।
ब्रह्मणा राजशार्दूल यथापूर्वं व्यरोचत ॥ ३४ ॥

हे नृपवर ! इन्द्र भगवान् ब्रह्माके द्वारा देवराज्यपर अभिषिक्त होके पहलेकी भांति विराजमान हुए ॥ ३४ ॥

एवमेतत्पुरावृत्तं नहुषस्य व्यतिक्रमात् ।
स च तैरेव संसिद्धो नहुषः कर्मभिः पुनः ॥ ३५ ॥

पहले नहुषके विषयमें व्यतिक्रम होनेसे ऐसी घटना हुई थी, उन्हें पूर्वोक्त दीपदान आदि पुण्य कर्मोंके सहारे पूरी रीतिसे सिद्धि प्राप्त हुई थी ॥ ३५ ॥

तस्माद्दीपाः प्रदातव्याः सायं वै गृहमेधिभिः ।
दिव्यं चक्षुरवाप्नोति प्रेत्य दीपप्रदायकः ।
पूर्णचन्द्रप्रतीकाशा दीपदाश्च भवन्त्युत ॥ ३६ ॥

इसलिये गृहस्थ पुरुषोंको सन्ध्याके समय दीपदान करना उचित है । दीपदान करनेवाला मनुष्य परलोकमें जाके दिव्यनेत्र पाता है दीपदान करनेवाले मनुष्य पूर्णचन्द्रमाके समान कान्तिमान् होते हैं ॥ ३६ ॥

यावदक्षिनिमेषाणि ज्वलते तावतीः समाः ।
रूपवान्धनवांश्चापि नरो भवति दीपदः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥ ४३१७ ॥

जितने पलकोंके गिरनेतक दीपक जलते हैं, उतने वर्षपर्यन्त दीपदान करनेवाला मनुष्य रूपवान तथा बलवान होता है ॥ ३७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ तीनवां अध्याय समाप्त ॥ १०३ ॥ ४३१७ ॥

: १०४ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मणस्वानि ये मन्दा हरन्ति भरतर्षभ ।
नृशंसकारिणो मूढाः क्व ते गच्छन्ति मानवाः । ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! जो नीचकर्म करनेवाले मन्दबुद्धि मूढ मनुष्य ब्राह्मणका धन हरते हैं, वे किस लोकमें जाते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चण्डालस्य च संवादं क्षत्रबन्धोश्च भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे भारत ! प्राचीन लोग इस विषयमें किसी क्षत्रिय बंधु और चाण्डालके संवादयुक्त पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

*

राजन्य उवाच—

वृद्धरूपोऽसि चण्डाल बालवच्च विचेष्टसे ।
श्वखराणां रजःसेवी कस्मादुद्विजसे गवाम् ॥ ३ ॥

क्षत्रिय बोला– रे चाण्डाल ! तू बूढा होनेपर भी बालककी भांति क्यों चेष्टा करता है ? तू कुत्ते और गधोंकी धूलिसे अवगुंठित होनेवाला होकर किसलिये गौवोंकी धूलिसे इतना व्याकुल होता है ? ॥ ३ ॥

साधुभिर्गर्हितं कर्म चण्डालस्य विधीयते ।
कस्माद्गोरजसा ध्वस्तमपां कुण्डे निषिञ्चसि ॥ ४ ॥

साधु लोग चाण्डालके कार्यको अत्यन्त निन्दित कहते हैं। तू किसलिये गोधूलिसे भरे हुए अपने शरीरको जलकुण्डके बीच धो रहा है ? ॥ ४ ॥

चण्डाल उवाच—

ब्राह्मणस्य गवां राजन्हियतीनां रजः पुरा ।
सोममुद्ध्वंसयामास तं सोमं येऽपिबन्द्विजाः ॥ ५ ॥

चाण्डाल बोला– हे राजन् ! पहले समयमें किसी ब्राह्मणकी गौवें हरी गई थीं; हरकर ले जाती थीं तब उनकी दूध मिश्रित चरणधूलिने सोमरसको दूषित किया था। जिस ब्राह्मणोंने उस सोमरसको पिया ॥ ५ ॥

दीक्षितश्च स राजापि क्षिप्रं नरकमाविशत् ।
सह तैर्याजकैः सर्वैर्ब्रह्मस्वमुपजीव्य तत् ॥ ६ ॥

वे और यज्ञ करनेवाले राजा भी शीघ्रही नरकमें जा पडे उन यज्ञ करानेवाले सब ब्राह्मणोंके सहित राजा ब्राह्मणके धनका उपभोग करके नरकगामी हुए ॥ ६ ॥

येऽपि तत्रापिबन्क्षीरं घृतं दधि च मानवाः ।
ब्राह्मणाः सहराजन्याः सर्वे नरकमाविशन् ॥ ७ ॥

जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा दूसरे मनुष्योंने उस गऊ हरनेवालेके गृहमें घी, दही वा दूध पीया था, वे सब कोई नरकमें डूबे ॥ ७ ॥

जघ्नुस्ताः पयसा पुत्रांस्तथा पौत्रान्विधुन्वतीः ।
पशूनवेक्षमाणाश्च साधुवृत्तेन दंपती ॥ ८ ॥

अपहृत गौवें दूसरे पशुओंको देखकर जब अपने स्वामी और बछडोंको नहीं देखती थीं तब पीडासे कांप रही थीं; वैसी दशामें भी साधुवृत्तीसे दूध देकर जिसने उन्हें हरण किया था, उनके पुत्र, पौत्र और दंपतीको विनष्ट किया ॥ ८ ॥

अहं तत्रावसं राजन्ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
तासां मे रजसा ध्वस्तं भैक्षमासीन्नराधिप ॥ ९ ॥

हे महाराज ! मैं ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर उस गऊ हरनेवाले मनुष्यके गांवमें निवास करता था। हे नरनाथ ! उन्हीं गौओंके दूध और धूलिसे मेरा भिक्षान्न दूषित हुआ था ॥९॥

चण्डालोऽहं ततो राजन्भुक्त्वा तदभवं मृतः ।
ब्रह्मस्वहारी च नृपः सोऽप्रतिष्ठां गतिं ययौ ॥ १० ॥

हे नरनाथ ! मैं चाण्डाल हूं, इसलिये मैंने वही गोरजसे युक्त अन्न खाया था, इसीसे मैं मृतप्राय हुआ और वह ब्राह्मणके धनको हरनेवाला राजा भी नरकगामी हुए ॥ १० ॥

तस्माद्धरेन्न विप्रस्वं कदाचिदपि किंचन ।
ब्रह्मस्वरजसा ध्वस्तं भुक्त्वा मां पश्य यादृशम् ॥ ११ ॥

इसलिये कभी किसी ब्राह्मणका किंचित् भी धन हरना उचित नहीं है। ब्रह्मस्वके रजसे परिपूरित भिक्षान्न खाके मैं जैसा हुआ हूं, उसे प्रत्यक्ष देखिये ॥ ११ ॥

तस्मात्सोमोऽप्यविक्रेयः पुरुषेण विपश्चिता ।
विक्रयं हीह सोमस्य गर्हयन्ति मनीषिणः ॥ १२ ॥

विद्वान् पुरुष कदापि सोमरसका विक्रय न करे; इस लोकमें सोमरस विक्रयकी मनीषिवृन्द विशेष रीतिसे निन्दा किया करते हैं ॥ १२ ॥

ये चैनं क्रीणते राजन्ये च विक्रीणते जनाः ।
ते तु वैवस्वतं प्राप्य रौरवं यान्ति सर्वशः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! जो लोग सोमरस मोल लेते हैं तथा जो मनुष्य उसे बेचते हैं, वे सब कोई यमके समीप पहुंचके रौरव नरकमें पडते हैं ॥ १३ ॥

सोमं तु रजसा ध्वस्तं विक्रीयाद्बुद्धिपूर्वकम् ।
श्रोत्रियो वार्धुषी भूत्वा चिररात्राय नश्यति ।
नरकं त्रिंशतं प्राप्य श्वविष्ठामुपजीवति ॥ १४ ॥

जो वेदवेत्ता ब्राह्मण गौओंके चरणधूलि और दूधसे दूषित सोमको बुद्धिपूर्वक बेचता है और ब्याजपर धन देता है, वह चिरकाल तक नष्ट होता है; वह तीस नरकोंमें पडकर अपनी ही विष्ठा भक्षण करता है ॥ १४ ॥

श्वचर्यामतिमानं च सखिदारेषु विप्लवम् ।
तुलयाधारयद्धर्मो ह्यतिमानोऽतिरिच्यते ॥ १५ ॥

कुत्तोंको पालना, अभिमान और मित्रकी स्त्रीके साथ व्यभिचार, इन तीनोंको तुलादण्डपर रखके धर्मतः तौला जाय तो अभिमानी मनुष्य धर्मको अतिक्रम करनेसे अधिक पापी होता है ॥ १५ ॥

श्वानं वै पापिनं पश्य विवर्णं हरिणं कृशम् ।
अतिमानेन भूतानामिमां गतिमुपागतम् ॥ १६ ॥

देखिये, यह मेरा पापी कुत्ता विवर्ण, सफेद और कृश हो गया है; यह सब प्राणियोंके विषयमें अभिमान रखनेसे ही ऐसी दुर्गतिको प्राप्त हुआ है ॥ १६ ॥

अहं वै विपुले जातः कुले धनसमन्विते ।
अन्यस्मिञ्जन्मनि विभो ज्ञानविज्ञानपारगः ॥ १७ ॥

हे विभु ! मैं दूसरे जन्ममें धनयुक्त बडे कुलमें उत्पन्न होके, ज्ञानविज्ञानसे युक्त हुआ था ॥ १७ ॥

अभवं तत्र जानानो ह्येतान्दोषान्मदात्तदा ।
संरब्ध एव भूतानां पृष्ठमांसान्यभक्षयम् ॥ १८ ॥

उस समय इन दोषोंके विषयको जानके भी मैं अभिमानपूर्वक सब प्राणियोंपर क्रुद्ध होके पशुओंका पृष्ठमांस भक्षण करता था ॥ १८ ॥

सोऽहं तेन च वृत्तेन भोजनेन च तेन वै ।
इमामवस्थां संप्राप्तः पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ १९ ॥

मैं उस ही दुराचार तथा वैसे अभक्ष्य भोजनसे ऐसी अवस्थामें पडा हूं; इसलिये कालके इस उलट फेरको अवलोकन करो ॥ १९ ॥

आदीप्तमिव चैलान्तं भ्रमरैरिव चार्दितम् ।
धावमानं सुसंरब्धं पश्य मां रजसान्वितम् ॥ २० ॥

मुझे तीक्ष्ण मुखवाले भौरोंके झूण्डसे पीडित तथा मानो मेरे कपडोंके छोरमें आग लग गयी हो, मैं रजोगुणसे युक्त, अत्यंत क्रुद्ध हो सब ओर दौड रहा हूं; मेरी अवस्था देखिये ॥२०॥

स्वाध्यायैस्तु महत्पापं तरन्ति गृहमेधिनः ।
दानैः पृथग्विधैश्चापि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २१ ॥

गृहस्थ मनुष्य स्वाध्यायपाठ तथा अनेक प्रकारके दानोंसे महत् पापको दुर करते हैं; जैसा पण्डित लोग कहा करते हैं ॥ २१ ॥

तथा पापकृतं विप्रमाश्रमस्थं महीपते ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तं छन्दांस्युत्तारयन्त्युत ॥ २२ ॥

राजन् ! आश्रममें रहकर सब आसक्तियोंसे मुक्त है वेदोंका पठन करनेवाले पापी ब्राह्मणको भी वेद उद्धार करते हैं ॥ २२ ॥

अहं तु पापयोन्यां वै प्रसूतः क्षत्रियर्षभ ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कथं मुच्येयमित्युत ॥ २३ ॥

हे क्षत्रियश्रेष्ठ भूपाल ! मैं पापयोनिमें उत्पन्न हुआ हूं, मैं निश्चय नहीं कर सकता, कि किस प्रकार मुक्त हो सकूंगा ? ॥ २३ ॥

जातिस्मरत्वं तु मम केनचित्पूर्वकर्मणा ।
शुभेन येन मोक्षं वै प्राप्तुमिच्छाम्यहं नृप ॥ २४ ॥

हे महाराज ! पूर्वजन्मके किये हुए किसी शुभकर्मसे मुझे पूर्वजन्मोंकी बातोंका स्मरण होता है; उस ही निमित्त मोक्षकी अभिलाष किया करता हूं ॥ २४ ॥

त्वमिमं मे प्रपन्नाय संशयं ब्रूहि पृच्छते ।
चण्डालत्वात्कथमहं मुच्येयमिति सत्तम ॥ २५ ॥

हे सत्तम ! आप मुझ शरणागत संशय जिज्ञासु पुरुषके ऊपर कृपा करके बताइये, मैं चाण्डालत्वसे किस प्रकार मुक्त हो सकूंगा ? ॥ २५ ॥

राजन्य उवाच—

चण्डाल प्रतिजानीहि येन मोक्षमवाप्स्यसि ।
ब्राह्मणार्थे त्यजन्प्राणान्गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ २६ ॥

क्षत्रिय बोला— रे चाण्डाल ! तू जिसके सहारे मोक्ष पावेगा, उस उपायको समझ ले । तू ब्राह्मणकी रक्षाके निमित्त प्राण त्यागनेसे अभिलषित गति पावेगा ॥ २६ ॥

दत्त्वा शरीरं क्रव्याद्भ्यो रणाग्नौ द्विजहेतुकम् ।
हुत्वा प्राणान्प्रमोक्षस्ते नान्यथा मोक्षमर्हसि ॥ २७ ॥

ब्राह्मणके निमित्त अपना शरीर युद्धरूपी अग्निमें होमकर कच्चा मांस खानेवाले जीवोंको दान करके प्राण समर्पण करनेसे तुझे मोक्ष प्राप्त होगी, अन्यथा तुझे मोक्ष नहीं मिलेगा ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तः स तदा राजन्ब्रह्मस्वार्थे परंतप ।
हुत्वा रणमुखे प्राणान्गतिमिष्टामवाप ह ॥ २८ ॥

भीष्म बोले— हे शत्रुतापन राजन् ! उस समय चाण्डालने उस क्षत्रियका ऐसा वचन सुनके ब्राह्मणस्वके निमित्त युद्धमें मरके अभिलषित गति पाई थी ॥ २८ ॥

तस्माद्रक्ष्यं त्वया पुत्र ब्रह्मस्वं भरतर्षभ ।
यदीच्छसि महाबाहो शाश्वतीं गतिमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥ ४३४६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ महाबाहो वत्स ! यदि तुम शाश्वती गतिकी इच्छा करते हो, तो सदा ब्राह्मणस्वकी रक्षा करना ॥ २९ ॥

महाभारतके अनुशासन पर्वमें एकसौ चारवां अध्याय समाप्त ॥ १०४ ॥ ४३४६ ॥

: १०५ :

युधिष्ठिर उवाच—

एको लोकः सुकृतिनां सर्वे स्वाहो पितामह ।
उत तत्रापि नानात्वं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! सुकृतशाली मनुष्य एक लोकमें ही निवास करते हैं, अथवा उस स्थानमें भी वे लोग पृथक् पृथक् लोकोंमें वास किया करते हैं ? मेरे समीप आप यह विषय वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

कर्मभिः पार्थ नानात्वं लोकानां यान्ति मानवाः ।
पुण्यान्पुण्यकृतो यान्ति पापान्पापकृतो जनाः ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे पार्थ ! मनुष्य निज कर्मोंके सहारे अनेक प्रकारके लोकोंमें गमन किया करते हैं; पुण्य करनेवाले पुरुष पुण्यलोकोंमें जाते हैं और पापी मनुष्य पापलोकोंमें जाते हैं ॥२॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गौतमस्य मुनेस्तात संवादं वासवस्य च ॥ ३ ॥

हे तात ! प्राचीन लोग इस विषयमें इन्द्र और गौतम मुनिके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणो गौतमः कश्चिन्मृदुर्दान्तो जितेन्द्रियः ।
महावने हस्तिशिशुं परिद्यूनममातृकम् ॥ ४ ॥

गौतम नामके जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाववाले और दमनशील किसी ब्राह्मणने वनके बीच मातारहित तथा अत्यन्त दुःखी एक हाथीके बच्चेको ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा जीवयामास सानुक्रोशो धृतव्रतः ।
स तु दीर्घेण कालेन बभूवातिबलो महान् ॥ ५ ॥

देखकर उन व्रतधारी मुनिने दयायुक्त होके उसे पालके जिलाया । हाथीका बचा बहुत समयके अनन्तर अत्यन्त बलवान और बडा हुआ ॥ ५ ॥

तं प्रभिन्नं महानागं प्रस्रुतं सर्वतो मदम् ।
धृतराष्ट्रस्य रूपेण शक्रो जग्राह हस्तिनम् ॥ ६ ॥

उस महान् हाथीके कुम्भस्थलसे सब ओरसे मदकी धारा बहने लगी । अनन्तर इन्द्रने धृतराष्ट्रका रूप धरके उस हाथीको ले लिया ॥ ६ ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा गौतमः संशितव्रतः ।
अभ्यभाषत राजानं धृतराष्ट्रं महातपाः ॥ ७ ॥

कठोरव्रती महातपस्वी, गौतम उस हाथीको हरते हुए देखके राजा धृतराष्ट्रसे बोले ॥ ७ ॥

मा मे हार्षीर्हस्तिनं पुत्रमेनं दुःखात्पुष्टं धृतराष्ट्राकृतज्ञ ।
मित्रं सतां सप्तपदं वदन्ति मित्रद्रोहो नैव राजन्स्पृशेत्त्वाम् ॥ ८ ॥

हे अकृतज्ञ धृतराष्ट्र ! अत्यन्त कष्टसे पाले हुए मेरे इस पुत्रतुल्य हाथीको मत हरो । हे महाराज ! साधुलोग सात पग साथ चलकर वार्तालाप करनेसे ही मित्रता होती है, ऐसा कहा करते हैं, इसलिये तुम्हें मित्रद्रोहका पाप स्पर्श न करे ॥ ८ ॥

इध्मोदकप्रदातारं शून्यपालकमाश्रमे ।
विनीतमाचार्यकुले सुयुक्तं गुरुकर्मणि ॥ ९ ॥

यह हाथी मुझे काष्ठ और जल ला देता है; जब कोई मेरे आश्रममें नहीं रहता है, तब यही रक्षा करता है; यह आचार्यकुलमें रहकर अत्यन्त विनीत और गुरुके कार्यमें रत रहता है ॥ ९ ॥

शिष्टं दान्तं कृतज्ञं च प्रियं च सततं मम ।
न मे विक्रोशतो राजन्हर्तुमर्हसि कुञ्जरम् ॥ १० ॥

यह शिष्ट, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ और सदा मुझे प्रिय है । हे महाराज ! इसलिये मेरे इस प्रकार चिल्लाते रहनेपर तुम्हें मेरा हाथी हरना उचित नहीं है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

गवां सहस्रं भवते ददामि दासीशतं निष्कशतानि पञ्च ।
अन्यच्च वित्तं विविधं महर्षे किं ब्राह्मणस्येह गजेन कृत्यम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे महर्षि ! मैं आपको एक हजार गौएं, सौ दासियां, पांच सौ स्वर्णमुहर तथा और भी अनेक प्रकारका धन अर्पण करूंगा; आप ब्राह्मण हैं, आपको हाथी लेनेसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

गौतम उवाच—

त्वामेव गावोऽभि भवन्तु राजन्दास्यः सनिष्का विविधं च रत्नम् ।
अन्यच्च वित्तं विविधं नरेन्द्र किं ब्राह्मणस्येह धनेन कृत्यम् ॥ १२ ॥

गौतम बोले— हे नरनाथ महाराज ! गौएं, दासियां और सुवर्णमुहरोंके सहित अनेक प्रकारके रत्न और बहुतसा धन तुम्हारे ही पास रहें; इस लोकमें ब्राह्मणोंको धनसे क्या प्रयोजन है ? ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ब्राह्मणानां हस्तिभिर्नास्ति कृत्यं राजन्यानां नागकुलानि विप्र ।
स्वं वाहनं नयतो नास्त्यधर्मो नागश्रेष्ठाद्गौतमास्मान्निवर्त ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे विप्र ! ब्राह्मणोंका हाथीके सहारे कुछ कार्य नहीं होता; हाथी क्षत्रियोंके ही काम आते हैं; इसलिये अपने वाहनके लिये इसे ले जानेसे मुझे कुछ अधर्म नहीं है । हे गौतम ! इसलिये आप इस श्रेष्ठ हाथीसे निवृत्त हो जाइये ॥ १३ ॥

गौतम उवाच—

यत्र प्रेतो नन्दति पुण्यकर्मा यत्र प्रेतः शोचति पापकर्मा।
वैवस्वतस्य सदने महात्मनस्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १४ ॥

गौतम बोले— हे महात्मन्! जिस स्थानमें पुण्य कर्म करनेवाला मनुष्य आनन्दित होता है और पापी शोक किया करता है, उस ही यमके लोकमें मैं तुमसे यह अपना हाथी लूंगा ॥१४॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ये निष्क्रिया नास्तिकाः श्रद्दधानाः पापात्मान इन्द्रियार्थे निविष्टाः।
यमस्य ते यातनां प्राप्नुयन्ति परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र बोले— जो लोग क्रियारहित, नास्तिक, श्रद्धावर्जित, पापी और इन्द्रियोंके विषयोंमें फंसे हैं, वे ही यमयातना भोगते हैं, परन्तु मैं वहां नहीं जाऊंगा ॥ १५ ॥

गौतम उवाच—

वैवस्वती संयमनी जनानां यत्रानृतं नोच्यते यत्र सत्यम्।
यत्राबला बलिनं यातयन्ति तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १६ ॥

गौतम बोले— यमपुरी सब लोगोंकी संयमनकारिणी है, जहांपर झूठ नहीं कहा जाता, केवल सत्यही विराजता है, जहां निर्बल लोग बलवानोंको दुःख भोग कराते हैं, उस ही स्थानमें मैं तुमसे अपना हाथी लूंगा ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ज्येष्ठां स्वसारं पितरं मातरं च गुरुं यथा मानयन्तश्चरन्ति।
तथाविधानामेष लोको महर्षे परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले— जो अभिमानी मनुष्य जेठी बहिन, पितामाता और गुरुके विषयमें शत्रुवाचरण करते हैं, वैसे लोगोंके लिये यमपुरी बनी है; किन्तु मैं वहां नहीं जाऊंगा ॥ १७ ॥

गौतम उवाच—

मन्दाकिनी वैश्रवणस्य राज्ञो महाभोगा भोगिजनप्रवेश्या।
गन्धर्वयक्षैरप्सरोभिश्च जुष्टा तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १८ ॥

गौतम बोले— कुबेरराज्यमें भोगियोंको प्रविष्ट करानेवाली महाभोगा मन्दाकिनी नदी है, जिसकी गन्धर्व, यक्षगण और अप्सराएं सदा सेवा किया करती हैं; उसी स्थानमें निज फल-स्वरूप हाथीको तुमसे लूंगा ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

अतिथिव्रताः सुव्रता ये जना वै प्रतिश्रयं ददति ब्राह्मणेभ्यः।
शिष्टाशिनः संविभज्याश्रितांश्च मन्दाकिनीं तेऽपि विभूषयन्ति ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले— जो लोग सदा अतिथियोंकी सेवा करके उत्तम व्रती हैं और ब्राह्मणोंको आश्रय देते हैं तथा आश्रितोंको देकर शेषमें अन्नादि भोजन करते हैं; वेही मन्दाकिनीको विभूषित किया करते हैं, किन्तु मैं वहां नहीं जाऊंगा ॥ १९ ॥

गौतम उवाच—

मेरोरग्रे यद्वनं भाति रम्यं सुपुष्पितं किंनरगीतजुष्टम्।
सुदर्शना यत्र जम्बूर्विशाला तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २० ॥

गौतम बोले– सुमेरु पर्वतके अग्रभागमें जो रमणीय उत्तम रीतिसे फूला हुआ, किन्नरीगीतसे युक्त वन विराजमान है और जहांपर सुदर्शन जामुनका विशाल वृक्ष विद्यमान है, उस ही स्थानमें मैं तुमसे अपना फल स्वरूप हाथी लूंगा ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ये ब्राह्मणा मृदवः सत्यशीला बहुश्रुताः सर्वभूताभिरामाः।
येऽधीयन्ते सेतिहासं पुराणं मध्वाहुत्या जुह्वति च द्विजेभ्य ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र बोले– जो ब्राह्मण कोमलस्वभाव, सत्यशील और अनेक शास्त्रोंके जाननेवाले हैं, तथा जो सब प्राणियोंको प्यार करते हैं, जो इतिहासके सहित पुराणोंका अध्ययन करते हैं, मधुर भोजनसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करते हैं ॥ २१ ॥

तथाविधानामेष लोको महर्षे परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र।
यद्विद्यते विदितं स्थानमस्ति तद्ब्रूहि त्वं त्वरितो ह्येष यामि ॥ २२ ॥

हे महर्षि ! वैसे ही लोगोंके लिये ऊपर कहे हुए लोक बने हैं, परन्तु मैं वहां नहीं जाऊंगा। इसलिये यदि आपको मेरे योग्य कोई स्थान माल्रूम हो तो बताइये, मैं वहां जानेके लिये उतावला हूं; देखिये, मैं चला ॥ २२ ॥

गौतम उवाच—

सुपुष्पितं किंनरराजजुष्टं प्रियं वनं नन्दनं नारदस्य।
गन्धर्वाणामप्सरसां च सद्म तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २३ ॥

गौतम बोले– सुन्दर फूलोंसे युक्त, किंनरराजसेवित, देवर्षि नारद, गन्धर्व और अप्सराओंके लिये सदा प्रिय नन्दन नामक एक वन है, वहांपर मैं तुमसे अपना फलस्वरूप हाथी लूंगा ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ये नृत्तगीतकुशला जनाः सदा ह्ययाचमानाः सहिताश्चरन्ति।
तथाविधानामेष लोको महर्षे परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे महर्षि ! जो मनुष्य नृत्य गीत आदि विषयोंमें निपुण, अयाचक और सदा साधु लोगोंके साथ विचरते हैं, यह लोक वैसे ही लोगोंके लिये बना है; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ २४ ॥

×

गौतम उवाच—

यत्रोत्तराः कुरवो भान्ति रम्या देवैः सार्धं मोदमाना नरेन्द्र ।

यत्राग्नियोनाश्च वसन्ति विप्रा ह्ययोनयः पर्वतयोनयश्च ॥ २५ ॥

गौतम बोले— हे नरेन्द्र ! जहांपर मनोहर उत्तरकुरुदेशके निवासी शोभित होते हैं, और वे देवताओंके सङ्ग सुख भोगते हैं, जहां अग्नियोनिज, पर्वतयोनिज प्राणी तथा अयोनिजविप्र निवास किया करते हैं ॥ २५ ॥

यत्र शक्रो वर्षति सर्वकामान्यत्र स्त्रियः कामचाराश्चरन्ति ।

यत्र चेर्ष्या नास्ति नारीनराणां तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २६ ॥

जहांपर इन्द्र अभिलषित विषयोंकी वर्षा करता है; जहां स्त्रियां कामचारिणी होती हैं, जहां नरनारियोंमें परस्पर ईर्षा नहीं है, उसी स्थानमें मैं तुमसे अपना हाथी लूंगा ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ये सर्वभूतेषु निवृत्तकामा अमांसादा न्यस्तदण्डाश्चरन्ति ।

न हिंसन्ति स्थावरं जङ्गमं च भूतानां ये सर्वभूतात्मभूताः ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे महर्षि ! जो लोग सब जीवोंके विषयमें निष्काम हैं, जो मांस भक्षण नहीं करते और किसीको भी दण्ड नहीं देते और विचरते हैं, जो लोग स्थावर—जङ्गम जीवोंकी हिंसा नहीं करते, जो सब जीवोंको अपनी आत्माके समान मानते हैं ॥ २७ ॥

निराशिषो निर्ममा वीतरागा लाभालाभे तुल्यनिन्दाप्रशंसाः ।

तथाविधानामेष लोको महर्षे परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ २८ ॥

जो आशारहित, निर्मम और आसक्तिहीन हैं, जो लाभ, हानि, स्तुति और निन्दाको समान मानते हैं, ऐसे ही लोगोंके लिये यह लोक बना है; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ २८ ॥

गौतम उवाच—

ततः परं भान्ति लोकाः सनातनाः सुपुण्यगन्धा निर्मला वीतशोकाः ।

सोमस्य राज्ञः सदने महात्मनस्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २९ ॥

गौतम बोले— उससे श्रेष्ठ, सनातन, पवित्र, सुगन्धयुक्त, निर्मल तथा शोकवर्जित लोक महात्मा सोमराजके स्थानमें शोभित हैं, वहां ही मैं तुमसे निज फलस्वरूप हाथी लूंगा ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ये दानशीला न प्रतिगृह्णते सदा न चाप्यर्थानाददते परेभ्यः ।

येषामदेयमर्हते नास्ति किंचित्सर्वातिथ्याः सुप्रसादा जनाश्च ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे महर्षि ! जो सदा दानशील मनुष्य प्रतिग्रह नहीं करते तथा दूसरोंसे धन नहीं लेते, पूज्य पुरुषोंके लिये जिनके निकट कुछ भी अदेय नहीं है, जो सबका ही आतिथ्य किया करते हैं; तथा सबके प्रति कृपाभाव रखते हैं ॥ ३० ॥

ये क्षन्तारो नाभिजल्पन्ति चान्यानाच्छादका भूत्वा सततं पुण्यशीलाः ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३१ ॥
जो लोग क्षमाशील हैं और लोगोंके समीप अपने दुःखकी जल्पना नहीं करते, जीवोंके विषयमें आच्छादन स्वरूप होके सदा सबकी रक्षा किया करते हैं, तथा जो लोग पुण्यशील हैं, उन्हींके लिये यह लोक बना है; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ ३१ ॥

गौतम उवाच—
ततः परं भान्ति लोकाः सनातना विरजसो वितमस्का विशोकाः ।
आदित्यस्य सुमहान्तः सुवृत्तास्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३२ ॥
गौतम बोले— हे राजन् ! आदित्यलोकमें उस ही से श्रेष्ठ दूसरे रज और तमोगुणसे रहित शोकहीन सनातन लोक सुशोभित होते हैं, वहां ही मैं तुमसे निज फलस्वरूप हाथी लूंगा ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—
स्वाध्यायशीला गुरुशुश्रूषणे रतास्तपस्विनः सुव्रताः सत्यसंधाः ।
आचार्याणामप्रतिकूलभाषिणो नित्योत्थिता गुरुकर्मस्वचोद्याः ॥ ३३ ॥
धृतराष्ट्र बोले— हे महर्षि ! जो लोग स्वाध्यायशील, गुरुसेवामें रत, तपस्वी, उत्तमव्रती, सत्यप्रतिज्ञ, आचार्योंके प्रतिकूल वचन न कहनेवाले, सदा उद्योगी और गुरुके कार्यमें सर्वदा स्वयं प्रवृत्त रहते हैं ॥ ३३ ॥

तथाविधानामेष लोको महर्षे विशुद्धानां भावितवाङ्मतीनाम् ।
सत्ये स्थितानां वेदविदां महात्मनां परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३४ ॥
वैसेही विशुद्ध भाव, मौन व्रतधारी, सत्यमें स्थित और वेदवेत्ता महात्माओंके लिये यह लोक विहित हुआ है; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ ३४ ॥

गौतम उवाच—
ततः परे भान्ति लोकाः सनातनाः सुपुण्यगन्धा विरजा विशोकाः ।
वरुणस्य राज्ञः सदने महात्मनस्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३५ ॥
गौतम बोले— हे महात्मन् ! उसके अतिरिक्त और भी सनातन लोक महात्मा वरुणराजके स्थानमें विराजमान हैं, वे लोक पवित्र, सुगन्धयुक्त, रजोगुणसे रहित और शोकहीन हैं; उसही स्थानमें मैं तुमसे अपना हाथी लूंगा ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—
चातुर्मास्यैर्ये यजन्ते जनाः सदा तथेष्टीनां दशशतं प्राप्नुवन्ति ।
ये चाग्निहोत्रं जुह्वति श्रद्दधाना यथान्यायं त्रीणि वर्षाणि विप्राः ॥ ३६ ॥
धृतराष्ट्र बोले— जो मनुष्य सदा चातुर्मास्य याग किया करते हैं, जो लोग हजारों इष्टियोंका अनुष्ठान करते हैं; जो ब्राह्मण यथाविधि श्रद्धापूर्वक तीन वर्षोंतक अग्निहोत्र करते हैं ॥ ३६॥

स्वदारिणां धर्मधुरे महात्मनां यथोचिते वर्त्मनि सुस्थितानाम् ।
धर्मात्मनामुद्वहतां गतिं तां परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३७ ॥
जो स्वस्त्रीका भार अच्छी तरह वहन करते हैं, जो लोग शास्त्रोक्त मार्गमें निवास करते हैं, उन्हीं महात्माओंको उक्त लोकमें गति प्राप्त होती है; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ ३७ ॥

गौतम उवाच—
इन्द्रस्य लोका विरजा विशोका दुरन्वयाः काङ्क्षिता मानवानाम् ।
तस्याहं ते भवने भूरितेजसो राजन्निमं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३८ ॥
गौतम बोले— इन्द्रके लोक रजोगुणसे रहित, शोकहीन, दुस्तर और मनुष्योंको अभिलषित है। हे महाराज ! मैं अत्यन्त तेजसे युक्त इन्द्रलोकमें तुमसे अपना हाथी लूंगा ॥ ३८ ॥

शतवर्षजीवी यश्च शूरो मनुष्यो वेदाध्यायी यश्च यज्वाप्रमत्तः ।
एते सर्वे शक्रलोकं व्रजन्ति परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३९ ॥
जो शूर मनुष्य सौ वर्षतक जीवित रहके वेद पढता तथा यज्ञ करता है और दक्ष रहता है वेही इन्द्रलोकमें जाते हैं, किन्तु धृतराष्ट्र उससे भी उत्तम लोकमें जायगा, मैं वहांपर न जाऊंगा ॥ ३९ ॥

गौतम उवाच—
प्राजापत्याः सन्ति लोका महान्तो नाकस्य पृष्ठे पुष्कला वीतशोकाः ।
मनीषिताः सर्वलोकोद्भवानां तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ४० ॥
गौतम बोले— स्वर्गके ऊपर हृष्ट पुष्ट तथा शोकहीन महत् प्राजापत्य लोक वर्त्तमान हैं, वह सबको ही अभिलषित हैं; इसलिये मैं उस ही स्थानमें तुमसे यह हाथी लूंगा ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—
ये राजानो राजसूयाभिषिक्ता धर्मात्मानो रक्षितारः प्रजानाम् ।
ये चाश्वमेधावभृथाप्लुताङ्गास्तेषां लोका धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ४१ ॥
धृतराष्ट्र बोले— जो राजा राजसूय यज्ञमें अभिषिक्त हुए हैं, जो धर्मात्मा प्रजाके रक्षक हैं, तथा अश्वमेध यज्ञमें अवभृत स्नान करके जिनके सारे अंग भींग जाते हैं उन्हीं लोगोंके निमित्त प्राजापत्य लोक विहित है; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ ४१ ॥

गौतम उवाच—
ततः परं भान्ति लोकाः सनातनाः सुपुण्यगन्धा विरजा वीतशोकाः ।
तस्मिन्नहं दुर्लभे त्वाप्रधृष्ये गवां लोके हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ४२ ॥
गौतम बोले— इससे पवित्र, सुगन्धयुक्त, रजोगुणसे रहित, शोकहीन, सनातन गोलोक शोभित हो रहे हैं, उस दुर्लभ तथा दुर्धर्ष गोलोकमें मैं तुमसे अपना हाथी लूंगा ॥ ४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

यो गोसहस्री शतदः समां समां यो गोशती दश दद्याच्च शक्त्या ।

तथा दशभ्यो यश्च दद्यादिहैकां पञ्चभ्यो वा दानशीलस्तथैकाम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले— जो दानशील मनुष्य सहस्र गौओंका स्वामी होकर प्रतिवर्ष सौ गौओंका दान करता है, तथा जो सौ गौओंका स्वामी होकर शक्तिके अनुसार दस गौओंका दान करता है अथवा जो इस लोकमें दस गौओंका स्वामी होकर भी उनमेंसे एक गौका दान करता है, अथवा जो दानशील मनुष्य पांच गौओंमेंसे एक गायका दान करता है, वह गोलोकमें जाता है ॥ ४३ ॥

ये जीर्यन्ते ब्रह्मचर्येण विप्रा ब्राह्मीं वाचं परिरक्षन्ति चैव ।

मनस्विनस्तीर्थयात्रापरायणास्ते तत्र मोदन्ति गवां विमाने ॥ ४४ ॥

तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए बूढे होते हैं, जो लोग सब भांतिसे वेदवाक्यकी रक्षा करते हैं, तथा जो मनस्वी लोग तीर्थयात्रा करनेमेंही तत्पर रहते हैं, वेही गोलोकमें निवास किया करते हैं ॥ ४४ ॥

प्रभासं मानसं पुण्यं पुष्कराणि महत्सरः ।

पुण्यं च नैमिषं तीर्थं बाहुदां करतोयिनीम् ॥ ४५ ॥

प्रभास, पुण्यकारक मानस तीर्थ, पुष्कर नामक महत् सरोवर, पवित्र नैमिष तीर्थ, बाहुदा नदी, करतोया नदी ॥ ४५ ॥

गयां गयशिरश्चैव विपाशां स्थूलवालुकाम् ।

तूष्णींगङ्गां दशगङ्गां महाह्रदमथापि च ॥ ४६ ॥

गया, गयशिर, स्थूलवालुकामय विपाशा, स्तब्ध गङ्गा, दशगंगा, महाह्रद ॥ ४६ ॥

गोमतीं कौशिकीं पाक्षां महात्मानो धृतव्रताः ।

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां ये प्रयान्ति च ॥ ४७ ॥

गोमती, कौशिकी, पाक्षा, सरस्वती, दृषद्वती और यमुना— इन तीर्थोंमें जो सब व्रत करनेवाले महानुभाव मनुष्य जाके स्नान करते हैं ॥ ४७ ॥

तत्र ते दिव्यसंस्थाना दिव्यमाल्यधराः शिवाः ।

प्रयान्ति पुण्यगन्धाढ्या धृतराष्ट्रो न तत्र वै ॥ ४८ ॥

वेही गोलोकमें दिव्य शरीर धारण करके दिव्य मालासे विभूषित और पवित्र गन्धसे युक्त होके निवास करते हैं; किन्तु मैं वहां न जाऊंगा ॥ ४८ ॥

गौतम उवाच—

यत्र शीतभयं नास्ति न चोष्णभयमण्वपि।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न दुःखं न सुखं तथा ॥ ४९ ॥

गौतम बोले— जिस स्थानमें सर्दी और गर्मीका कुछ भी भय नहीं है, जहां भूख और प्यास नहीं लगती, ग्लानि प्राप्त नहीं होती, और सुख-दुःख नहीं होता ॥ ४९ ॥

न द्वेष्यो न प्रियः कश्चिन्न बन्धुर्न रिपुस्तथा।
न जरामरणे चापि न पुण्यं न च पातकम् ॥ ५० ॥

जहांपर कोई द्वेषी वा प्रिय बन्धु, शत्रु, मित्र नहीं है; जहांपर जरा-मृत्यु और पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है ॥ ५० ॥

तस्मिन्विरजसि स्फीते प्रज्ञासत्त्वव्यवस्थिते।
स्वयंभुभवने पुण्ये हस्तिनं मे चलिष्यति ॥ ५१ ॥

उस रजोगुणसे रहित, निर्मल, प्रज्ञानसत्त्वमें स्थित पवित्र स्वयंभूके स्थानमें तुम मुझे हाथी प्रदान करोगे ॥ ५१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

निर्मुक्ताः सर्वसङ्गेभ्यो कृतात्मानो यतव्रताः।
अध्यात्मयोगसंस्थाने युक्ताः स्वर्गगतिं गताः ॥ ५२ ॥

धृतराष्ट्र बोले— जो लोग सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त, कृतकृत्य, यतव्रती, अध्यात्मज्ञान और योग युक्त है, वेही स्वर्गमें गये हैं ॥ ५२ ॥

ते ब्रह्मभवनं पुण्यं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः।
न तत्र धृतराष्ट्रस्ते शक्यो द्रष्टुं महामुने ॥ ५३ ॥

वेही सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष पवित्र ब्रह्मस्थानमें गमन किया करते हैं। हे महामुनि! वहांपर आप मुझे न देखेंगे ॥ ५३ ॥

गौतम उवाच—

रथन्तरं यत्र बृहच्च गीयते यत्र वेदी पुण्डरीकैः स्तृणोति।
यत्रोपयाति हरिभिः सोमपीथी तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ५४ ॥

गौतम बोले— जहांपर रथन्तर और बृहत् सामवेद गाया जाता है, जहां कमल पुष्पोंसे आच्छादित वेदी शोभित हैं, जहांपर सोमपान करनेवाला पुरुष घोडोंके सहारे यात्रा करता है, वहांपर मैं तुमसे अपना हाथी लूंगा ॥ ५४ ॥

बुध्यामि त्वां वृत्रहणं शतक्रतुं व्यतिक्रमन्तं भुवनानि विश्वा।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं कदाचिदकार्षं ते मनसोऽभिषङ्गात् ॥ ५५ ॥

मैं यह जानता हूं, कि तुम वृत्रहन्ता शतक्रतु इन्द्र सब लोकोंमें विचरते हो। मैंने मानसिक आवेशमें आकर कदापि वचनके सहारे तुम्हारा कुछ अपराध तो नहीं किया है? ॥ ५५ ॥

शक्र उवाच—

यस्मादिमं लोकपथं प्रजानामन्वागमं पदवादे गजस्य।

तस्माद्भवान्प्रणतं मानुशास्तु ब्रवीषि यत्तत्करवाणि सर्वम् ॥ ५६ ॥

इन्द्र बोले– मैं देवराज हूं, आपके हाथीके अपहरणके विषयमें प्रजासमूहके दृष्टिसे मैं निन्दित हुआ हूं; इसलिये मैं आपके चरणोंमें प्रणत होता हूं; कहिये आपकी क्या आज्ञा है? आप जो कहेंगे मैं वह सब कार्य पूर्ण करूंगा ॥ ५६ ॥

गौतम उवाच—

श्वेतं करेणुं मम पुत्रनागं यं मेऽहार्षीर्दशवर्षाणि बालम्।

यो मे वने वसतोऽभूद्द्वितीयस्तमेव मे देहि सुरेन्द्र नागम् ॥ ५७ ॥

गौतम बोले– हे सुरेन्द्र! मेरा श्वेतवर्ण दसवर्षीय बालक पुत्रस्वरूप जिस हाथीको तुमने हर लिया है, मेरे अकेले इस वनमें वास करनेपर जो मेरा सहयोगी हुआ है, आप मुझे वही हाथी दीजिये ॥ ५७ ॥

शक्र उवाच—

अयं सुतस्ते द्विजमुख्य नागश्चाघ्रायते त्वामभिवीक्षमाणः।

पादौ च ते नासिकयोपजिघ्रते श्रेयो मम ध्याहि नमश्च तेऽस्तु ॥ ५८ ॥

इन्द्र बोले– हे द्विजवर! यह तुम्हारा पुत्रस्वरूप हाथी तुम्हें देखकर सूंघते हुए आ रहा है, और अपने सूण्डसे तुम्हारे दोनों चरण सूंघता है। इसलिये मेरे कल्याणके लिये चिन्तन करिये, मैं आपको प्रणाम करता हूं ॥ ५८ ॥

गौतम उवाच—

शिवं सदैवेह सुरेन्द्र तुभ्यं ध्यायामि पूजां च सदा प्रयुञ्जे।

ममापि त्वं शक्र शिवं ददस्व त्वया दत्तं प्रतिगृह्णामि नागम् ॥ ५९ ॥

गौतम बोले– हे सुरेन्द्र! मैं सदा ही यहां तुम्हारे कल्याणका चिन्तन करता हूं तथा सर्वदा तुम्हारी पूजा किया करता हूं। हे देवराज! आप भी मेरा कल्याण करिये, आपका दिया हुआ हाथी प्रतिग्रह करता हूं ॥ ५९ ॥

शक्र उवाच—

येषां वेदा निहिता वै गुहायां मनीषिणां सत्त्ववतां महात्मनाम्।

तेषां त्वयैकेन महात्मनास्मि बुद्धस्तस्मात्प्रीतिमांस्तेऽहमद्य ॥ ६० ॥

इन्द्र बोले– जिन सत्त्ववादी महानुभाव मनीषियोंके हृदयाकाशमें वेद स्थित है, उनके बीच आप ही एक मात्र प्रमुख महानुभाव हैं, तुम्हारे द्वारा सावधान होनेसे इस समय मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं ॥ ६० ॥

एह्येहि ब्राह्मण क्षिप्रं सह पुत्रेण हस्तिना ।
प्राप्नुहि त्वं शुभाल्लोकानह्वाय च चिराय च ॥ ६१ ॥

हे विप्रवर ! आप निज पुत्रवत् इस कुञ्जरके सहित सदाके लिये शुभ लोक पानेके अधिकारी होनेके कारण शीघ्र ही चलिये ॥ ६१ ॥

भीष्म उवाच—

स गौतमं पुरस्कृत्य सह पुत्रेण हस्तिना ।
दिवमाचक्रमे वज्री सद्भिः सह दुरासदम् ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०५ ॥ ४४०८ ॥

भीष्म बोले— वज्रधारी इन्द्र पुत्रस्वरूप हाथीके सहित गौतमको आगे करके साधुओंके दुर्गम सुरलोकमें चले गये ॥ ६२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ १०५ ॥ ४४०८ ॥

: १०६ :

युधिष्ठिर उवाच—

दानं बहुविधाकारं शान्तिः सत्यमहिंसता ।
स्वदारतुष्टिश्चोक्ता ते फलं दानस्य चैव यत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! आपने अनेक प्रकारके दानके विषय, शान्ति, सत्य, अहिंसा और निज स्त्रीमें सन्तुष्टि तथा दान करनेसे जो फल होते हैं, उन्हें भी वर्णन किया ॥ १ ॥

पितामहस्य विदितं किमन्यत्र तपोबलात् ।
तपसो यत्परं तेऽद्य तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

तपोबलके अतिरिक्त और दूसरा कौनसा बल आपको विदित है ? तपस्यासे श्रेष्ठ दूसरा उत्कृष्ठ साधन क्या है ? उसे आप वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

तपः प्रचक्षते यावत्तावल्लोका युधिष्ठिर ।
मतं मम तु कौन्तेय तपो नानशनात्परम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! मनुष्य जितनी तपस्या करता है, उसीके अनुसार उसे उत्तम लोक प्राप्त होते हैं; मेरा यह मत है, कि अनशनसे बढके दूसरी तपस्या और कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भगीरथस्य संवादं ब्रह्मणश्च महात्मनः ॥ ४ ॥

प्राचीन लोग इस विषयमें महात्मा ब्रह्मा और भगीरथके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ ४ ॥

अतीत्य सुरलोकं च गवां लोकं च भारत ।
ऋषिलोकं च सोऽगच्छद्भगीरथ इति श्रुतिः ॥ ५ ॥

हे भारत ! मैंने सुना है, कि भगीरथ सुरलोक, गोलोक और ऋषिलोकको अतिक्रम करके ब्रह्माके लोकमें जा पहुंचे ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा स वचः प्राह ब्रह्मा राजन्भगीरथम् ।
कथं भगीरथागास्त्वमिमं देशं दुरासदम् ॥ ६ ॥

राजन् ! ब्रह्माने उस भगीरथको देखके यह वचन कहा— हे भगीरथ ! यहां तुमने किस प्रकार इस दुष्प्राप्य देशमें आगमन किया ? ॥ ६ ॥

न हि देवा न गन्धर्वा न मनुष्या भगीरथ ।
आयान्त्यतप्ततपसः कथं वै त्वमिहागतः ॥ ७ ॥

हे भगीरथ ! देव, गन्धर्व और मनुष्यगण बिना तपस्या किये इस स्थानमें आनेमें समर्थ नहीं होते; इसलिये तुम किस प्रकार यहां आये ? ॥ ७ ॥

भगीरथ उवाच—

निःशङ्कमन्नमददं ब्राह्मणेभ्यः शतं सहस्राणि सदैव दानम् ।
ब्राह्मं व्रतं नित्यमास्थाय विद्धि न त्वेवाहं तस्य फलादिहागाम् ॥ ८ ॥

भगीरथ बोले— हे विद्वन् ! मैंने सदा ब्राह्मव्रतका अवलम्बन करके निःशंक मनसे एक लाख ब्राह्मणोंको अन्नका दान दिया था; परंतु उस दानके फलसे इस स्थानमें मैं नहीं आया हूं, यह आप जान लीजिए ॥ ८ ॥

दशैकरात्रान्दश पञ्चरात्रानेकादशैकादशकान्क्रतूंश्च ।
ज्योतिष्टोमानां च शतं यदिष्टं फलेन तेनापि च नागतोऽहम् ॥ ९ ॥

एक रात्रिमें दस तथा पांच रात्रिसाध्य दस यज्ञ और ग्यारह रात्रिमें सिद्ध होनेवाले ग्यारह यज्ञ तथा एक सौ ज्योतिष्टोम यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, परंतु उसके फलसे भी इस स्थानमें मैं नहीं आया हूं ॥ ९ ॥

×

यच्चावसं जाह्नवीतीरनित्यः शतं समास्तप्यमानस्तपोऽहम् ।
अदां च तत्राश्वतरीसहस्रं नारीपुरं न च तेनाहमागाम् ॥ १० ॥

मैंने जो सौ वर्षोंतक कठिन तपस्या करते सदा गङ्गाके तटपर निवास किया था, और उस ही स्थानमें एक हजार अश्वतरी तथा कन्याओंके भवन प्रदान किये थे, उस पुण्यके फलसे मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ १० ॥

दशायुतानि चाश्वानामयुतानि च विंशतिम् ।
पुष्करेषु द्विजातिभ्यः प्रादां गाश्च सहस्रशः ॥ ११ ॥

पुष्कर तीर्थमें द्विजातियोंको दस अयुत घोडे और बीस अयुत तथा हजारों गौओंका दान किया था ॥ ११ ॥

सुवर्णचन्द्रोडुपधारिणीनां कन्योत्तमानामददं स्रग्विणीनाम् ।
षष्टिं सहस्राणि विभूषितानां जाम्बूनदैराभरणैर्न तेन ॥ १२ ॥

सुवर्णके मनोहर चन्द्रहार धारण करनेवाली, जाम्बूनदके आभूषणोंसे तथा मालाओंसे विभूषित हुई साठ हजार उत्तम कन्याएं दान की थीं, उसके फलसे भी इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ १२ ॥

दशार्बुदान्यददं गोसवेज्यास्वेकैकशो दश गा लोकनाथ ।
समानवत्साः पयसा समन्विताः सुवर्णकांस्योपदुहा न तेन ॥ १३ ॥

हे लोकनाथ ! मैंने गोसव यज्ञमें दूध देनेवाली सौ करोड गौएं दानमें दी थीं; उसमें एक एक ब्राह्मणको दस दस मिली थीं । प्रत्येक गायके साथ समान वर्णके बछडे और सुवर्णमय दोहनपात्र दिये थे; उस यज्ञके फलसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ १३ ॥

आप्तोर्यामेषु नियतमेकैकस्मिन्दशाददम् ।
गृष्टीनां क्षीरदात्रीणां रोहिणीनां न तेन च ॥ १४ ॥

सोमयागमें प्रत्येक ब्राह्मणको उत्तम ब्यायी हुई, दूध देनेवाली रोहिणी जातिकी दस दस गौएं दान की है, परंतु उस पुण्यसे मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ १४ ॥

दोग्ध्रीणां वै गवां चैव प्रयुतानि दशैव ह ।
प्रादां दशगुणं ब्रह्मन्न च तेनाहमागतः ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मन् ! अन्तमें मैंने दस बार दस-दस लाख दुधारू गौएं दान की हैं; मैं उसके फलसे यहांपर नहीं आया हूं ॥ १५ ॥

वाजिनां बाह्लिजातानामयुतान्यददं दश ।
कर्काणां हेममालानां न च तेनाहमागतः ॥ १६ ॥

एक लाख सुवर्ण मालाओंसे युक्त श्वेतवर्ण बाह्लिव घोडे दान किये हैं, उसके फलसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ १६ ॥

कोटीश्च काञ्चनस्याष्टौ प्रादां ब्रह्मन्दश त्वहम् ।
एकैकस्मिन्क्रतौ तेन फलेनाहं न चागतः ॥ १७ ॥
हे ब्रह्मन् ! एक एक यज्ञमें प्रतिदिन अठारह करोड स्वर्णमुद्राओंका मैंने दान किया है, उसके फलसे मैं यहां नहीं आया हूं ॥ १७ ॥

वाजिनां श्यामकर्णानां हरितानां पितामह ।
प्रादां हेमस्रजां ब्रह्मन्कोटीर्दश च सप्त च ॥ १८ ॥
हे पितामह ! हे ब्रह्मन् ! मैंने काले हरे रङ्गवाले स्वर्णमालायुक्त सत्तरह करोड घोडे दानमें दिये हैं ॥ १८ ॥

ईषादन्तान्महाकायान्काञ्चनस्रग्विभूषितान् ।
पत्नीमतः सहस्राणि प्रायच्छं दश सप्त च ॥ १९ ॥
और ईखसदृश दांतयुक्त बडे शरीरवाले, सोनेकी मालासे विभूषित सत्तरह हजार हाथी हाथिनीयोंके साथ दिये हैं ॥ १९ ॥

अलंकृतानां देवेश दिव्यैः कनकभूषणैः ।
रथानां काञ्चनाङ्गानां सहस्राण्यददं दश ।
सप्त चान्यानि युक्तानि वाजिभिः समलंकृतैः ॥ २० ॥
हे देवेश ! सोनेके दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत सुवर्णखचित दस हजार रथ दान किये हैं और वैसे ही अलंकृत घोडोंसे युक्त सात हजार रथ ब्राह्मणोंको दान दिये हैं ॥ २० ॥

दक्षिणावयवाः केचिद्वेदैर्ये संप्रकीर्तिताः ।
वाजपेयेषु दशसु प्रादां तेनापि नाप्यहम् ॥ २१ ॥
इनके सिवाय जो वस्तुएं वेदोंमें दक्षिणाके अंगरूप वर्णित हुई हैं, उन सबको मैंने दश बार वाजपेय यज्ञका अनुष्ठान करके दान किया है; परंतु उसके पुण्यसे मैं यहां नहीं आया हूं ॥ २१ ॥

शक्रतुल्यप्रभावानामिज्यया विक्रमेण च ।
सहस्रं निष्ककण्ठानामददं दक्षिणामहम् ॥ २२ ॥
यज्ञ और विक्रमके सहारे इन्द्रके सदृश प्रभावयुक्त, सोनेकी मुहर गलेमें पहरनेवाले हजारों राजाओंको मैंने दक्षिणामें दान दिया है ॥ २२ ॥

विजित्य नृपतीन्सर्वान्मखैरिष्ट्वा पितामह ।
अष्टभ्यो राजसूयेभ्यो न च तेनाहमागतः ॥ २३ ॥
हे पितामह ! मैंने सब राजाओंको युद्धमें जीतके आठ राजसूय यज्ञ किये थे और उन्हें दानमें दिया था; परन्तु उस हेतुसे भी इस स्थानमें मैं नहीं आया हूं ॥ २३ ॥

स्रोतश्च यावद्गङ्गायाश्छन्नमासीज्जगत्पते ।
दक्षिणाभिः प्रवृत्ताभिर्मम नागां च तत्कृते ॥ २४ ॥
हे जगत्पति ! मेरी दी हुई दक्षिणासे गङ्गाके सब स्रोत परिपूरित– आच्छादित हो गये थे, उस कारणसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ २४ ॥

वाजिनां च सहस्रे द्वे सुवर्णशतभूषिते ।
वरं ग्रामशतं चाहमेकैकस्य त्रिधाददम् ।
तपस्वी नियताहारः शममास्थाय वाग्यतः ॥ २५ ॥
सुवर्णके सैंकडों आभूषणोंसे भूषित दो दो हजार घोडे और एक एक सौ उत्तम गांव मैंने शान्ति तथा मौन अवलंबन करके, नियताहारी और तपस्वी होके हर एक ब्राह्मणको तीन बार दान किये थे ॥ २५ ॥

दीर्घकालं हिमवति गङ्गायाश्च दुरुत्सहाम् ।
मूर्ध्ना धारां महादेवः शिरसा यामधारयत् ।
न तेनाप्यहमागच्छं फलेनेह पितामह ॥ २६ ॥
मैंने हिमालयमें बहुत दिनोंतक तपस्या की थी, जिससे प्रसन्न हुए महादेवने सिरपर गङ्गाकी उस दुरुत्सह धाराको धारण किया था, हे पितामह ! मैं उसके फलसे भी इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ २६ ॥

शम्याक्षेपैरयजं यच्च देवान्सद्यस्कानामयुतैश्चापि यत्तत् ।
त्रयोदशद्वादशाहांश्च देव सपौण्डरीकान्न च तेषां फलेन ॥ २७ ॥
पृथुबुध्न अर्थात् स्थूल और गोलाकार काष्ठदण्ड बलवान् पुरुषके द्वारा फेंके जानेपर जितनी दूरमें गिरता है, जिस यज्ञमें उतने ही परिमाणसे वेदी हुआ करती है, उसे शम्याक्षेप यज्ञ कहते हैं । हे देव ! मैंने अनेक शम्याक्षेप यज्ञ किये, सद्यस्क नामक दस हजार यज्ञोंका अनुष्ठान किया; तथा बारह वा तेरह दिनोंमें पूर्ण होनेवाले याग और पुण्डरीक यज्ञोंसे देवताओंकी पूजा की थी; उसके फलसे भी इस स्थानमें मैं नहीं आया हूं ॥ २७ ॥

अष्टौ सहस्राणि ककुद्मिनामहं शुक्लर्षभाणामददं ब्राह्मणेभ्यः ।
एकैकं वै काञ्चनं शृङ्गमेभ्यः पत्नीश्चैषामददं निष्ककण्ठीः ॥ २८ ॥
मैंने ब्राह्मणोंको आठ हजार ककुद्मी, सोनेके सींगसे युक्त सफेद वृषभ दान किये हैं और उन्हें सोनेके कण्ठेसे युक्त गौएं भी प्रदान की हैं ॥ २८ ॥

हिरण्यरत्ननिचितानददं रत्नपर्वतान् ।
धनधान्यसमृद्धांश्च ग्रामाञ्शतसहस्रशः ॥ २९ ॥
सुवर्ण रत्नोंके ढेर– रत्नोंके पर्वत और धनधान्यसे युक्त सैंकडों–हजारों गांव दान किये हैं ॥ २९ ॥

शतं शतानां गृष्टीनामददं चाप्यतन्द्रितः ।
इष्ट्वानेकैर्महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो न तेन च ॥ ३० ॥

निरालसी होके बहुतेरे महायज्ञोंमें देवताओंकी पूजा करके ब्राह्मणोंको सहस्रों उत्तम ब्यायी हुई गौएं दानमें दीं हैं; उसके फलसे भी मैं यहां नहीं आया हूं ॥ ३० ॥

एकादशाहैरयजं सदक्षिणैर्द्विर्द्वादशाहैरश्वमेधैश्च देव ।
आर्कायणैः षोडशभिश्च ब्रह्मंस्तेषां फलेनेह न चागतोऽस्मि ॥ ३१ ॥

हे देव ! मैंने ग्यारह दिनोंमें तथा चौबीस दिनोंमें होनेवाले दक्षिणायुक्त यज्ञ किये; अनेक अश्वमेध यज्ञ भी किये और सोलह बार आर्कायण नाम यज्ञ किया है । हे ब्रह्मन् ! इनके फलसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ ३१ ॥

निष्कैककण्ठमददं योजनायतं तद्विस्तीर्णं काञ्चनपादपानाम् ।
वनं चूतानां रत्नविभूषितानां न चैव तेषामागतोऽहं फलेन ॥ ३२ ॥

एक योजन लम्बा अत्यन्त चौडा रत्नविभूषित, सुवर्णमय आमके वृक्षोंसे युक्त वन दान किया है, उसके फलसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ ३२ ॥

तुरायणं हि व्रतमप्रधृष्यमक्रोधनोऽकरवं त्रिंशतोऽब्दान् ।
शतं गवामष्ट शतानि चैव दिने दिने ह्यददं ब्राह्मणेभ्यः ॥ ३३ ॥

तीस वर्षोंतक क्रोधहीन रहके मैंने अनभिभवनीय उत्तरायणव्रत किया है, उसमें प्रतिदिन ब्राह्मणोंको नौ सौ गौओंका दान किया है ॥ ३३ ॥

पयस्विनीनामथ रोहिणीनां तथैव चाप्यनडुहां लोकनाथ ।
प्रादां नित्यं ब्राह्मणेभ्यः सुरेश नेहागतस्तेन फलेन चाहम् ॥ ३४ ॥

हे लोकनाथ सुरेश ! मैंने सदा ब्राह्मणोंको बैल और दूध देनेवाली रोहिणी जातिकी गौएं प्रदान की हैं; उसके फलसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ ३४ ॥

त्रिंशदग्निमहं ब्रह्मन्यजं यच्च नित्यदा ।
अष्टाभिः सर्वमेधैश्च नरमेधैश्च सप्तभिः ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैंने प्रतिदिन तीस अग्निका यजन किया है; आठ बार सर्वमेध, सात बार नरमेध ॥ ३५ ॥

दशभिर्विश्वजिद्भिश्च शतैरष्टादशोत्तरैः ।
न चैव तेषां देवेश फलेनाहमिहागतः ॥ ३६ ॥

और एक सौ अट्ठाईस बार विश्वजित् यज्ञ किया है । हे देवेश ! उसके फलसे भी मैं इस स्थानमें नहीं आया हूं ॥ ३६ ॥

सरय्वां बाहुदायां च गङ्गायामथ नैमिषे ।
गवां शतानामयुतमदद‍ं न च तेन वै ॥ ३७ ॥

सरयू, बाहुदा, गङ्गा और नैमिषक्षेत्रमें दस लाख गौ दान किये हैं; उसके फलसे भी इस स्थानमें मैं नहीं आया हूं ॥ ३७ ॥

इन्द्रेण गुप्तं निहितं वै गुहायां यद्भार्गवस्तपसेहाभ्यविन्दत् ।
जाज्वल्यमानमुशनस्तेजसेह तत्साधयामासमहं वरेण्यम् ॥ ३८ ॥

इन्द्रने पहले स्वयं अनशन व्रत करके इसे गुप्त रक्खा था; फिर शुक्राचार्यने तपके द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया; फिर उन्हींके तेजसे इस लोकमें उसका माहात्म्य प्रकाशित हुआ है, मैंने उस सर्वश्रेष्ठ अनशनके व्रतको सिद्ध किया है ॥ ३८ ॥

ततो मे ब्राह्मणास्तुष्टास्तस्मिन्कर्मणि साधिते ।
सहस्रमृषयश्चासन्ये वै तत्र समागताः ।
उक्तस्तैरस्मि गच्छ त्वं ब्रह्मलोकमिति प्रभो ॥ ३९ ॥

मेरे द्वारा वह कार्य सिद्ध होनेपर हजारों ब्राह्मण और ऋषि वहां मेरे पास आ गये और वे सभी मुझपर सन्तुष्ट हुए थे। हे प्रभु! वे लोग मुझसे बोले, 'तुम ब्रह्मलोकमें जाओ' ॥ ३९ ॥

प्रीतेनोक्तः सहस्रेण ब्राह्मणानामहं प्रभो ।
इमं लोकमनुप्राप्तो मा भूत्तेऽत्र विचारणा ॥ ४० ॥

हे भगवन्! प्रसन्न हुए उन हजारों ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे मैं इस स्थानमें आया हूं। इसलिये आप इस विषयकी चर्चा न करिये ॥ ४० ॥

कामं यथावद्विहितं विधात्रा पृष्टेन वाच्यं तु मया यथावत् ।
तपो हि नान्यच्चानशनान्मतं मे नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ ४१ ॥

हे सुरश्रेष्ठ! आप विधाताने जिसका विधिपूर्वक विधान किया है उस अनशन व्रतका मैंने पालन किया और आपने मुझसे पूछा है, इसलिये मुझे भी यथारीतिसे कहना योग्य है। मेरा यही मत है, कि उपवाससे बढके दूसरी कोई तपस्या श्रेष्ठ नहीं है। हे देव! मैं आपको प्रणाम करता हूं, आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तवन्तं तं ब्रह्मा राजानं स्म भगीरथम् ।
पूजयामास पूजार्हं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥ ४४५० ॥

भीष्म बोले— जब राजा भगीरथने यह सब कथा कही, तब प्रजापति ब्रह्माने विधिविहित कार्यसे उस पूजने योग्य राजाकी पूजा की ॥ ४२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ छठा अध्याय समाप्त ॥ १०६ ॥ ४४५० ॥

: १०७ :

युधिष्ठिर उवाच—

शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च वैदिके।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह! शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य शतायु तथा शतवीर्य होके वेदपरायण होता है; परन्तु बाल्य अवस्थामें भी मनुष्य किस कारणसे मृत्युके मुखमें पडते हैं? ॥ १ ॥

आयुष्मान्केन भवति स्वल्पायुर्वापि मानवः।
केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियम् ॥ २ ॥

किस प्रकार मनुष्य आयुष्मान् हुआ करता है और किसलिये अल्पायु होता है? क्या करनेसे उसे कीर्ति प्राप्त होती है और कैसे लक्ष्मी मिलती है? ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण जपैर्होमैस्तथौषधैः।
जन्मना यदि वाचारात्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप, होम, औषध, जन्म और आचार—इन सबके बीच किस कारणसे ऊपर कहे हुए कार्य हो सकते हैं? हे पितामह! मेरे समीप आप वही विषय वर्णन करिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

अत्र ते वर्तयिष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि।
अल्पायुर्येन भवति दीर्घायुर्वापि मानवः ॥ ४ ॥

भीष्म बोले—तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर देता हूं। मनुष्य जिस कारणसे अल्पायु तथा जिस उपायसे दीर्घायु हुआ करता है ॥ ४ ॥

येन वा लभते कीर्तिं येन वा लभते श्रियम्।
यथा च वर्तन्पुरुषः श्रेयसा संप्रयुज्यते ॥ ५ ॥

जिससे वह कीर्त्तिमान् और लक्ष्मीयुक्त होता है तथा जिस प्रकार रहनेसे पुरुषका कल्याण होता है, वह विषय तुमसे कहता हूं ॥ ५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात्कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ ६ ॥

आचारसे ही मनुष्यकी आयु बढती है, आचारहीसे वह लक्ष्मीयुक्त होता है और आचारसेही उसे इस लोक तथा परलोकमें कीर्त्ति प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।
त्रसन्ति यस्माद्भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥ ७ ॥

दुराचारी मनुष्यको इस लोकमें दीर्घायु नहीं मिलती; जिससे जीवोंको भय तथा परिभव प्राप्त होती है, उसे ही महान् दुराचारी कहा जाता है ॥ ७ ॥

तस्मात्कुर्यादिहाचारं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ८ ॥

इस ही लिये यदि मनुष्य अपने हितकी अभिलाप करे, तो इस जगत्‌में वह सदाचरण करे; सदाचरण करनेपर वह पापयुक्त शरीरके भी बुरे लक्षणोंको हर लेता है ॥ ८ ॥

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ।
साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥ ९ ॥

सदाचार ही धर्मका लक्षण है और सच्चरित्रसे ही साधु लोग जाने जाते हैं; जिस प्रकार साधुओंका चरित्र होता है वही सत् आचारका लक्षण है ॥ ९ ॥

अप्यदृष्टं श्रुतं वापि पुरुषं धर्मचारिणम् ।
भूतिकर्माणि कुर्वाणं तं जनाः कुर्वते प्रियम् ॥ १० ॥

सत्कर्म करनेवाले धर्मचारी मनुष्यको विना देखे तथा सुने ही लोक समाजमें सब कोई उससे प्रेम करते हैं ॥ १० ॥

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलङ्घिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ११ ॥

जो लोग नास्तिक, क्रियारहित, गुरु और शास्त्रका वाक्य उल्लंघन करते हैं, जो अधर्मी तथा दुराचारी हैं, वेही क्षीण आयुवाले होते हैं ॥ ११ ॥

विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १२ ॥

जो लोग दुःशील, धर्मकी मर्यादा तोडनेवाले, सदा दूसरे वर्णकी स्त्रियोंके साथ संबंध करते हैं, वे इस लोकमें अल्पायु होके मरनेके अनन्तर नरकमें गमन करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १३ ॥

जो मनुष्य सब शुभ लक्षणोंसे रहित होके भी सदाचारी होता है, जो श्रद्धावान् और असूया-रहित है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ १३ ॥

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥

जो अक्रोधी, सत्यवादी, जीवोंकी हिंसा न करनेवाला, दोष दृष्टिसे रहित और कपटरहित है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ १४ ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १५ ॥

जो मनुष्य ढेलोंको फोडता, तिनके तोडता, नख चबाता, उच्छिष्टभोजी और सदा अस्थिर चित्तवाला होता है, वह इस लोकमें दीर्घायु नहीं पा सकता ॥ १५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां संध्यां कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

ब्राह्म मुहूर्त्तमें सावधान होवे और उस समय धर्म और अर्थका विचार करे; फिर शय्यासे उठके शौच-स्नानके पश्चात् आचमन करके हाथ जोडके प्रातःकालकी सन्ध्याकी उपासना करे ॥ १६ ॥

एवमेवापरां संध्यां समुपासीत वाग्यतः ।
नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ॥ १७ ॥

इसी प्रकार सायंकालमें भी मौन व्रत धारण करके संध्योपासना करे । उदयशील सूर्यको न देखे और अस्त होते हुए भी दिवाकरको न देखना चाहिये ॥ १७ ॥

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तस्मात्तिष्ठेत्सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः ॥ १८ ॥

ऋषि लोगोंने सदा सन्ध्यावन्दन करनेसे ही दीर्घायु प्राप्त की थी; इसलिये प्रातःकाल और सायंकालके समय मौन रहकर संध्या करनी चाहिये ॥ १८ ॥

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः संध्यां न पश्चिमाम् ।
सर्वांस्तान्धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत् ॥ १९ ॥

जो ब्राह्मण प्रातःसंध्या और सायंसन्ध्या नहीं करते, धार्मिक राजा उन सबसे शूद्रके योग्य कार्य करावे ॥ १९ ॥

परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ २० ॥

किसी भी वर्णके पुरुषको कभी भी पराई स्त्रियोंसे गमन करना उचित नहीं है; पुरुषके लिये जैसा परस्त्री गमन आयुका नाशक है, इस लोकमें वैसा आयुको नष्ट करनेवाला और कुछ भी नहीं है ॥ २० ॥

प्रसाधनं च केशानामञ्जनं दन्तधावनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ २१ ॥

केशोंको संवारना, आंखोंमें अञ्जन लगाना, दांत-मुंह धोना और देवताओंकी पूजा करना—ये सब कार्य दिनके पहले प्रहरमें ही करने योग्य है ॥ २१ ॥

×

पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत्कदाचन ।
उदक्यया च संभाषां न कुर्वीत कदाचन ॥ २२ ॥

मलमूत्र न देखे और कदापि उसपर पैर न रक्खे । रजस्वला स्त्रीके सङ्ग कदापि वार्तालाप न करे ॥ २२ ॥

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन ॥ २३ ॥

बोये हुए क्षेत्रमें, गांवके समीप तथा पानीमें मल-मूत्रका त्याग न करे ॥ २३ ॥

प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयाद्वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
प्रस्कन्दयेच्च मनसा भुक्त्वा चाग्निमुपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

प्रतिदिन पूर्वकी ओर मुंह करके चुप होकर भोजन करते समय परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करके भोजन करे । भोजन करके किञ्चित् शेषान्न छोड दे और भोजनके अनन्तर मनही मन अग्निका स्मरण करे ॥ २४ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
धन्यं पश्चान्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः ॥ २५ ॥

परमायु बढनेकी इच्छासे पूर्वकी ओर मुंह करके भोजन करे; यशकी कामनासे दक्षिणकी ओर मुंह करके भोजन करे; धन प्राप्तिकी इच्छासे पश्चिमकी ओर मुंह करके भोजन करना चाहिये और कल्याणकी इच्छावाला मनुष्य उत्तरकी ओर मुंह करके भोजन किया करता है ॥ २५ ॥

नाधितिष्ठेत्तुषाञ्जातु केशभस्मकपालिकाः ।
अन्यस्य चाप्युपस्थानं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ २६ ॥

भूसी, बाल, भस्म और कपालिका आदिके ऊपर कदापि न बैठे; दूसरेके नहाये हुए स्थानका दूरसे ही परित्याग करे ॥ २६ ॥

शान्तिहोमांश्च कुर्वीत सावित्राणि च कारयेत् ।
निषण्णश्चापि खादेत न तु गच्छन्कथंचन ॥ २७ ॥

शान्ति और होम करे, तथा सावित्र-गायत्री मन्त्र जपे; बैठके ही भोजन करे, चलते कदापि न खाये ॥ २७ ॥

मूत्रं न तिष्ठता कार्यं न भस्मनि न गोव्रजे ॥ २८ ॥

खडा होकर पेशाब न करे, भस्म और गोस्थानमें पेशाब नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम् ॥ २९ ॥

भींगे पांवसे युक्त होके भोजन करे, परंतु भींगे पांवसे न सोवे; जो भींगे पैर भोजन करता है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ २९ ॥

त्रीणि तेजांसि नोच्छिष्ट आलभेत कदाचन ।
अग्निं गां ब्राह्मणं चैव तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ३० ॥

भोजन करके हाथ मुंह धोये बिना जूठे रहके अग्नि, गौ और ब्राह्मण इन तीनों तेजस्वियोंको कदापि न छूवे; ऐसे आचरण करनेसे आयु नष्ट नहीं होती ॥ ३० ॥

त्रीणि तेजांसि नोच्छिष्ट उदीक्षेत कदाचन ।
सूर्याचन्द्रमसौ चैव नक्षत्राणि च सर्वशः ॥ ३१ ॥

सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र— इन तीनों तेजस्वियोंको जूठे रहके कदापि न देखना चाहिये ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ ३२ ॥

बूढे पुरुषके सम्मुख आनेपर युवा पुरुषके प्राण ऊपरकी ओर उठते हैं; उठके वृद्धोंका स्वागत और उन्हें प्रणाम करनेसे वेही प्राण फिर निजस्थानमें स्थापित हुआ करते हैं ॥ ३२ ॥

अभिवादयेत वृद्धांश्च आसनं चैव दापयेत् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ ३३ ॥

वृद्धोंको प्रणाम करे और उन्हें स्वयं आसन देवे; हाथ जोडके उनके सामने खडा रहे; जब वह चलने लगे, तो उसके पीछे पीछे कुछ दूरतक चले ॥ ३३ ॥

न चासीतासने भिन्ने भिन्नं कांस्यं च वर्जयेत् ।
नैकवस्त्रेण भोक्तव्यं न नग्नः स्नातुमर्हति ।
स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोऽपि संविशेत् ॥ ३४ ॥

कटे-फटे हुए आसनपर न बैठे, टूटा कांसेका पात्र परित्याग करे; एक ही वस्त्र पहनकर भोजन न करे; वस्त्ररहित होके स्नान करना उचित नहीं है । वस्त्रहीन होके न सोवे, जूठे रहके सोना न चाहिये ॥ ३४ ॥

उच्छिष्टो न स्पृशेच्छीर्षं सर्वे प्राणास्तदाश्रयाः ।
केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ॥ ३५ ॥

जूठे हाथसे सिरका स्पर्श न करे, क्योंकि समस्त प्राण सिरकोही अवलम्बन करके रहते हैं; सिरके बाल ग्रहण न करे, शिरमें प्रहार न करे ॥ ३५ ॥

न पाणिभ्यामुभाभ्यां च कण्डूयेज्जातु वै शिरः ।
न चाभीक्ष्णं शिरः स्नायात्तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ३६ ॥

और दोनों हाथोंसे कदापि सिर न खुजलावे; वार वार शिरपर जल डालके स्नान न करे, इन सब बातोंका पालन करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ३६ ॥

शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदुपस्पृशेत् ।
तिलपिष्टं न चाश्नीयात्तथायुर्विन्दते महत् ॥ ३७ ॥

सिरमें तेल मलके उसी हाथसे दूसरे अंगोंको स्पर्श न करे; तिलके बने हुए पदार्थ न खावे; ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ३७ ॥

नाध्यापयेत्तथोच्छिष्टो नाधीयीत कदाचन ।
वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८ ॥

जूठा रहके कदापि न पढावे और स्वयं भी पढना अनुचित है । दुर्गन्धित वायु चलनेपर मनसे भी ध्यान न करे ॥ ३८ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
आयुरस्य निकृन्तामि प्रजास्तस्याददे तथा ॥ ३९ ॥
य उच्छिष्टः प्रवदति स्वाध्यायं चाधिगच्छति ।
यश्चानध्यायकालेऽपि मोहादभ्यस्यति द्विजः ।
तस्माद्युक्तोऽप्यनध्याये नाधीयीत कदाचन ॥ ४० ॥

प्राचीन इतिहास जाननेवाले पण्डित लोग इस विषयमें यमकी कही हुई गाथा वर्णन करते हैं, ' जो मनुष्य जूठे मुंहसे बोलता और स्वाध्याय पाठ करता है, जो ब्राह्मण अनध्यायके समय मोहवशसे वेदाभ्यास करता है, मैं उसकी आयु नष्ट कर देता हूं तथा उसके पुत्रोंको उससे छीन लेता हूं । " इसलिये सावधान पुरुषको अनध्यायके समय कदापि वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये ॥ ३९-४० ॥

प्रत्यादित्यं प्रत्यनिलं प्रति गां च प्रति द्विजान् ।
ये मेहन्ति च पन्थानं ते भवन्ति गतायुषः ॥ ४१ ॥

सूर्य, अग्नि, गौ और ब्राह्मणके सम्मुख मुंह करके जो लोग पेशाब करते हैं, और जो रास्तेमें मूतते हैं, वे गतायु होते हैं ॥ ४१ ॥

उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ४२ ॥

दिनमें उत्तर की ओर और रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुंह करके मल और मूत्र दोनोंका परित्याग करनेसे आयु नहीं घटती ॥ ४२ ॥

त्रीन्कृशान्नावजानीयाद्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं सर्पं सर्वे ह्याशीविषास्त्रयः ॥ ४३ ॥

जो जीवित रहनेकी इच्छावाले मनुष्य दीर्घायुकी आशा करते हैं, उन्हें उचित है, कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और सर्पको निर्बल जानके भी अवज्ञा न करे, क्योंकि ये तीनों ही बडे जहरीले होते हैं ॥ ४३ ॥

दहत्याशीविषः क्रुद्धो यावत्पश्यति चक्षुषा ।
क्षत्रियोऽपि दहेत्क्रुद्धो यावत्स्पृशति तेजसा ॥ ४४ ॥

क्रोधित सर्प जहांतक आंखोंसे देख सकता है, वहांतक धावा करके काटता है; जब क्षत्रिय क्रुद्ध होता है, तो उस ही समय वह अपनी शक्तिके अनुसार शत्रुको भस्म करता है ॥४४॥

ब्राह्मणस्तु कुलं हन्याद्ध्यानेनावेक्षितेन च ।
तस्मादेतत्त्रयं यत्नादुपसेवेत पण्डितः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण क्रुद्ध होनेपर ध्यान और नेत्रके सहारे तत्क्षण ही अपमान करनेवाले पुरुषका वंशनाश करता है; इसलिये पण्डित लोग यत्नपूर्वक इन तीनोंकी सेवा करें ॥ ४५ ॥

गुरुणा वैरनिर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥ ४६ ॥

हे युधिष्ठिर ! गुरुके साथ कभी शत्रुता नहीं करनी चाहिये; गुरुके क्रुद्ध होनेपर उनको मान देकर मनाकर उन्हें प्रसन्न करना योग्य है ॥ ४६ ॥

सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्तेऽपि वर्तितव्यं गुराविह ।
गुरुनिन्दा दहत्यायुर्मनुष्याणां न संशयः ॥ ४७ ॥

गुरुके मिथ्या बर्ताव करनेपर भी पूरी रीतिसे उनके समीप अच्छा बर्ताव करना उचित है; क्योंकि गुरुनिन्दा निःसन्देह मनुष्योंकी आयु हरती है ॥ ४७ ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरे कार्यं हितैषिणा ॥ ४८ ॥

हितैषी मनुष्य घरसे दूर जाकर पेशाब करे और दूर ही हाथ पैर धोवे; दूर जाके जूठ फेंके ॥ ४८ ॥

नातिकल्यं नातिसायं न च मध्यंदिने स्थिते ।
नाज्ञातैः सह गच्छेत नैको न वृषलैः सह ॥ ४९ ॥

अत्यन्त भोर, सन्ध्या और मध्यान्हके समय कहीं बाहर न जाय; अपरिचित पुरुषोंके सङ्ग यात्रा न करे, अकेले अथवा शूद्रोंके साथ मार्गमें चलना उचित नहीं है ॥ ४९ ॥

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ॥ ५० ॥

ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध, बोझा ढोनेवाले, गर्भिणी स्त्री और निर्बल पुरुषको देखके उन्हें जानेके लिये मार्ग देवे ॥ ५० ॥

प्रदक्षिणं च कुर्वीत परिज्ञातान्वनस्पतीन् ।
चतुष्पथान्प्रकुर्वीत सर्वानेव प्रदक्षिणान् ॥ ५१ ॥

चलते समय परिचित वनस्पतियोंकी प्रदक्षिण करे, समस्त चौराहोंकी प्रदक्षिण करनी उचित है ॥ ५१ ॥

मध्यंदिने निशाकाले मध्यरात्रे च सर्वदा ।
चतुष्पथान्न सेवेत उभे संध्ये तथैव च ॥ ५२ ॥

मध्यान्ह, रात्रि, विशेष करके आधी रात, सन्ध्या और भोरके समय चौराहोंपर न जावे ॥ ५२ ॥

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात्पादं पादेन नाक्रमेत् ॥ ५३ ॥

दूसरेके पहने हुए वस्त्र और जूते न पहने; सदा ब्रह्मचर्यका पालन करे, पांवसे पांवको न दबावे ॥ ५३ ॥

अमावास्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां च सर्वशः ।
अष्टम्यां सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ५४ ॥

दोनों पक्षोंकी अमावस्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी और अष्टमीमें सदा ब्रह्मचारी रहे ॥ ५४ ॥

वृथा मांसं न खादेत पृष्ठमांसं तथैव च ।
आक्रोशं परिवादं च पैशुन्यं च विवर्जयेत् ॥ ५५ ॥

वृथा मांस भक्षण न करे और पृष्ठमांस खानेसे विरत होवे; किसीकी निन्दा, बदनामी और चुगलखोरी नहीं करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम् ॥ ५६ ॥

दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, निष्ठुर वचन न कहे; दूसरोंको नीचा न दिखावे। जिस बातके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, वैसी पापयुक्त अकल्याणकारी बात न कहे, क्योंकि वह पापियोंके लोकमें ले जानेवाली होती है ॥ ५६ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ५७ ॥

जो वाक्यबाण मुखसे बाहर होते हैं, उससे घायल हुआ पुरुष रात दिन शोक करता है; वाक्यरूपी बाण मनुष्योंके मर्मस्थलोंपर चोट करते हैं; इसलिये पण्डित पुरुष वैसे वाक्यबाण रूपी वचन दूसरोंके प्रति कभी न कहे ॥ ५७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ५८ ॥

बाणविद्ध और परशुसे कटा हुआ वन फिर अंकुरित होता है, किन्तु जो मर्मभेदी दुर्वचनसे घाव होता है, वह फिर पूरित नहीं होता ॥ ५८ ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ ५९ ॥

हीन अङ्गवाले, अधिक अङ्गवाले, आयुसे अधिक, विद्याहीन, रूप और धनसे रहित तथा निर्बल पुरुषोंकी निन्दा न करे ॥ ५९ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषस्तम्भाभिमानांश्च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत् ॥ ६० ॥

नास्तिकता, वेदोंकी निन्दा, देवताओंको कोसना, द्वेष, दम्भ, अभिमान तथा कठोरता इन दुर्गुणोंका परित्याग करे ॥ ६० ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम् ॥ ६१ ॥

क्रोधित होकर पुत्र वा शिष्यके सिवा दूसरे किसीको न डंडा मारे, तथा उसे पृथ्वीपर न ही गिरावे; केवल पुत्र और शिष्यको शिक्षाके निमित्त ताडन करनेमें बाधा नहीं है ॥ ६१ ॥

न ब्राह्मणान्परिवदेन्नक्षत्राणि न निर्दिशेत् ।
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयात्तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे और नक्षत्रोंका निर्देश न करे, पक्षसम्बन्धीय तिथि न कहे, तो आयु नहीं घटती ॥ ६२ ॥

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्स्वाध्याये भोजने तथा ॥ ६३ ॥

मलमूत्र त्यागने, मार्गसे आने, वेदपाठ–स्वाध्याय और भोजन करनेके समय पैर धोवे॥६३॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

देवताओंने ब्राह्मणोंके लिये तीन विषयोंको पवित्र रूपसे कल्पना किया है– जिसपर दूषित दृष्टि न पडी हो, जलसे धोया गया हो तथा जो वचनके द्वारा उत्तम हो ॥ ६४ ॥

संयावं कृसरं मांसं शष्कुली पायसं तथा ।
आत्मार्थं न प्रकर्तव्यं देवार्थं तु प्रकल्पयेत् ॥ ६५ ॥

संयाव (घृत– दूधसे बना हुआ पिष्टक), खिचडी, मांस, पूरी और पायस अपने ही लिये न बनावे, और देवताओंके उद्देश्यसे प्रस्तुत करे ॥ ६५ ॥

नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ।
न चाभ्युदितशायी स्यात्प्रायश्चित्ती तथा भवेत् ॥ ६६ ॥

सदा अग्निकी परिचर्या– सेवा करे, प्रतिदिन भिक्षा देवे और मौन होके नित्य दतून करे; सूर्य उदय होनेपर सोता न रहे, सूर्य उदय होनेपर सोनेवाला मनुष्य प्रायश्चित करनेके योग्य होता है ॥ ६६ ॥

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ।
आचार्यमथ वाप्येनं तथायुर्विन्दते महत् ॥ ६७ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल उठके पहले मातापिताको प्रणाम करे; अनन्तर आचार्य और दूसरे गुरुजनोंकी वन्दना करे; तो दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ६७ ॥

वर्जयेद्दन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि नित्यशः ।
भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि पर्वस्वपि वर्जयेत् ॥ ६८ ॥

जो शास्त्रनिषिद्ध काष्ठोंके दतून हैं उन्हें सदा त्याग देवे; वह सदाही त्यागने योग्य हैं । शास्त्रविहित काष्ठसेही दन्तधावन करे, पर्वके दिन उसका भी परित्याग करे ॥ ६८ ॥

उदङ्मुखश्च सततं शौचं कुर्यात्समाहितः ॥ ६९ ॥

उत्तरकी ओर मुख करके सदा समाहित होकर शौचकार्य करे ॥ ६९ ॥

अकृत्वा देवतापूजां नान्यं गच्छेत्कदाचन ।
अन्यत्र तु गुरुं वृद्धं धार्मिकं वा विचक्षणम् ॥ ७० ॥

बिना देवताओंकी पूजा किये कदापि गुरु, वृद्ध, धार्मिक तथा पण्डितोंके अतिरिक्त दूसरे किसीके पास न जावे ॥ ७० ॥

अवलोक्यो न चादर्शो मलिनो बुद्धिमत्तरैः ।
न चाज्ञातां स्त्रियं गच्छेद्गर्भिणीं वा कदाचन ॥ ७१ ॥

अत्यंत बुद्धिमान मनुष्य मलिन आरसीमें अपना मुंह न देखे। अपरिचित और गर्भिणी स्त्रीके निकट कदापि न जावे ॥ ७१ ॥

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च ।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानथ वा दक्षिणाशिराः ॥ ७२ ॥

उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके न सोवे; बुद्धिमान मनुष्य पूर्व और दक्षिणकी ओर सिर करके शयन करे ॥ ७२ ॥

न भग्ने नावदीर्णे वा शयने प्रस्वपेत च ।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक्कदाचन ॥ ७३ ॥

टूटी फटी शय्यामें सोना अनुचित है; अत्यन्त अन्धेरेमें रक्खी हुई शय्यापर न सोवे; किसी दूसरेके साथ और कभी तिरछा होके कदापि खाटपर न सोवे ॥ ७३ ॥

न नग्नः कर्हिचित्स्नायान्न निशायां कदाचन ।
स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः ॥ ७४ ॥

वस्त्रहीन नग्न होके कभी स्नान न करे अथवा रात्रिके समयमें कदापि स्नान न करे; बुद्धिमान मनुष्य स्नान करनेके अनन्तर शरीर मार्जन—मालिश न करे ॥ ७४ ॥

न चानुलिम्पेदस्नात्वा स्नात्वा वासो न निर्धुनेत् ।
आर्द्र एव तु वासांसि नित्यं सेवेत मानवः ।
स्रजश्च नावकर्षेत न बहिर्धारयेत च ॥ ७५ ॥

विनास्नानके चंदन वा अङ्गरागका अनुलेपन विहित नहीं है, स्नानके अनन्तर वस्त्र धोना अनुचित है। मनुष्य सदा भींगे वस्त्रको पहरे, गलेसे स्वयं माला निकालके फेंकना योग्य नहीं है, बाहिरी हिस्सेमें— कपडेके ऊपर— माला न धारण करे ॥ ७५ ॥

रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यं तु पण्डितैः ।
वर्जयित्वा तु कमलं तथा कुवलयं विभो ॥ ७६ ॥

पण्डित लोग कमल और कुवलयके अतिरिक्त दूसरे लाल रङ्गके फूलोंकी माला न पहरे, पण्डितोंको सफेद फूलोंकी माला पहरनी उचित है ॥ ७६ ॥

रक्तं शिरसि धार्यं तु तथा वानेयमित्यपि ।
काञ्चनी चैव या माला न सा दुष्यति कर्हिचित् ।
स्नातस्य वर्णकं नित्यमार्द्रं दद्याद्विशां पते ॥ ७७ ॥

लाल रङ्गके फूल तथा वन्य पुष्पको सिरपर धारण करना योग्य है, काञ्चनकी माला पहरनेमें कदापि कुछ दोष नहीं होता। हे नरनाथ ! स्नात मनुष्यको सदा अपने ललाटपर गीला चन्दन लगाना चाहिये ॥ ७७ ॥

विपर्ययं न कुर्वीत वाससो बुद्धिमान्नरः ।
तथा नान्यधृतं धार्यं न चापदशमेव च ॥ ७८ ॥

बुद्धिमान मनुष्य दोनों वस्त्रोंका उलट फेर न करे, अर्थात् धोतीको दुपट्टा और दुपट्टाको धोती बनाना अनुचित है। दूसरेके पहरे हुए तथा दशाहीन—कोर फटे हुए वस्त्रको पहरना योग्य नहीं है ॥ ७८ ॥

×

अन्यदेव भवेद्वासः शयनीये नरोत्तम ।
अन्यद्रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव हि ॥ ७९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सोनेके लिये स्वतन्त्र वस्त्र होना चाहिये; मार्गमें चलनेके समय पृथक् वस्त्र और देवताओंकी पूजाके समय पृथक् वस्त्र पहरना योग्य है ॥ ७९ ॥

प्रियङ्गुचन्दनाभ्यां च बिल्वेन तगरेण च ।
पृथगेवानुलिम्पेत केसरेण च बुद्धिमान् ॥ ८० ॥

बुद्धिमान् मनुष्य प्रियंगु, रुई, चन्दन, बेल, तगर तथा केसरसे पृथक् पृथक् अनुलेपन करे ॥ ८० ॥

उपवासं च कुर्वीत स्नातः शुचिरलंकृतः ।
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ८१ ॥

स्नात, शुचि और वस्त्र तथा आभूषणोंसे अलंकृत होके उपवास करे, सब पर्वोंमें सदा ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ८१ ॥

नालीढया परिहतं भक्षयीत कदाचन ।
तथा नोद्धृतसाराणि प्रेक्षतां नाप्रदाय च ॥ ८२ ॥

रजस्वलाके हाथसे दूषित हुआ भोजन करना अनुचित है । जिसका सारपदार्थ निकाला गया हो, वैसी वस्तु न खावे और भोजनके समयमें यदि कोई देखता रहे, तो उसे भोजनकी वस्तु बिना दिये भोजन करना विहित नहीं है ॥ ८२ ॥

न संनिकृष्टो मेधावी नाशुचिर्न च सत्सु च ।
प्रतिषिद्धान्न धर्मेषु भक्षान्भुञ्जीत पृष्ठतः ॥ ८३ ॥

साधुओंके सामने तथा अपवित्र मनुष्यके निकट बैठकर मेधावी मनुष्य भोजन न करे; धर्म-शास्त्रोंमें निषिद्ध भोजनको पीठ पीछे छिपाकर न खाय ॥ ८३ ॥

पिप्पलं च वटं चैव शणशाकं तथैव च ।
उदुम्बरं न खादेच्च भवार्थी पुरुषोत्तमः ॥ ८४ ॥

कल्याणकी इच्छा करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष पीपल, बट, शणशाक और उदुम्बर न खावे ॥ ८४ ॥

आजं गव्यं च यन्मांसं मायूरं चैव वर्जयेत् ।
वर्जयेच्छुष्कमांसं च तथा पर्युषितं च यत् ॥ ८५ ॥

बकरीका दूध और मयूरका मांस त्याग देवे; सूखा मांस और बासी अन्न त्यागने योग्य हैं ॥ ८५ ॥

न पाणौ लवणं विद्वान्प्राश्नीयान्न च रात्रिषु ।
दधिसक्तून्न भुञ्जीत वृथामांसं च वर्जयेत् ॥ ८६ ॥

विद्वान् पुरुष हथेलीमें और रात्रिके समय नमक, दही और सत्तू न खाय; वृथा मांस खाना उचित नहीं है ॥ ८६ ॥

बालेन तु न भुञ्जीत परश्राद्धं तथैव च ।

सायं प्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः ॥ ८७ ॥

केशयुक्त अन्न आदि न खाना चाहिये और शत्रुके श्राद्धमें भोजन करना अनुचित है । सदा सवेरे और शामको ही एकचित्त होकर भोजन करे, बीचमें कुछ न खाय ॥ ८७ ॥

वाग्यतो नैकवस्त्रश्च नासंविष्टः कदाचन ।

भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत् ॥ ८८ ॥

भोजनके समय मौन रहिये; एक ही वस्त्र पहरके और बिना बैठे कदापि भोजन न करे; भोजनके पदार्थ भूमिपर रखकर कदापि न खाय; खड़ा होकर तथा बोलते रहकर कभी भोजन नहीं करे ॥ ८८ ॥

तोयपूर्वं प्रदायान्नमतिथिभ्यो विशां पते ।

पश्चाद्भुञ्जीत मेधावी न चाप्यन्यमना नरः ॥ ८९ ॥

हे नरनाथ ! बुद्धिमान् मनुष्य अतिथियोंको पहले जल देके सब अन्न दान करे, अनन्तर एकचित्त होकर स्वयं भोजन करे ॥ ८९ ॥

समानमेकपङ्क्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर ।

विषं हालाहलं भुङ्क्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने ॥ ९० ॥

हे महाराज ! एक पांतमें बैठकर सबको समान भोजन कराना चाहिये; जो अपने सुहृदोंको बिना भोजन कराये स्वयं भोजन करनेमें प्रवृत्त होता है, वह हलाहल विष खाता है ॥ ९० ॥

पानीयं पायसं सर्पिर्दधिसक्तुमधून्यपि ।

निरस्य शेषमेतेषां न प्रदेयं तु कस्यचित् ॥ ९१ ॥

जल, पायस, घी, दही, सत्तू और मधु—इनको छोडकर अन्य भक्ष्य पदार्थोंका अवशिष्ट भाग पुत्रादिके अतिरिक्त दूसरे लोगोंको न देवे ॥ ९१ ॥

भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शङ्कां समाचरेत् ।

दधि चाप्यनुपानं वै न कर्तव्यं भवार्थिना ॥ ९२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! मनुष्य भोजन करते समय भोज्यवस्तु परिपक्व होगी वा नहीं, ऐसी शङ्का न करे; अपना हित चाहनेवालेको भोजनके अन्तमें दही नहीं पीना चाहिये ॥ ९२ ॥

आचम्य चैव हस्तेन परिस्राव्य तथोदकम् ।

अङ्गुष्ठं चरणस्याथ दक्षिणस्यावसेचयेत् ॥ ९३ ॥

आचमन करके भोजनके बाद कुल्ला करके मुंह धोवे और एक हाथसे दाहिने पांवके अंगूठे पर जल डाले ॥ ९३ ॥

पाणिं मूर्ध्नि समाधाय स्पृष्ट्वा चाग्निं समाहितः।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यमवाप्नोति प्रयोगकुशलो नरः ॥ ९४ ॥

सिरपर हाथ रखके अग्निका मनसे स्पर्श करके, जो लोग एकचित्त होते हैं, व्यवहारमें निपुण उस मनुष्यको स्वजनोंके बीच श्रेष्ठता प्राप्त होती है ॥ ९४ ॥

अद्भिः प्राणान्समालभ्य नाभिं पाणितलेन च।
स्पृशंश्चैव प्रतिष्ठेत न चाप्यार्द्रेण पाणिना ॥ ९५ ॥

जलसे प्राण– आंख, नाक आदि इंद्रियों– और नाभिका स्पर्श करे, दोनों हाथोंकी हथेलियोंको धोवे; भींगे हाथसे न बैठ जाय ॥ ९५ ॥

अङ्गुष्ठस्यान्तराले च ब्राह्मं तीर्थमुदाहृतम्।
कनिष्ठिकायाः पश्चात्तु देवतीर्थमिहोच्यते ॥ ९६ ॥

अंगूठेका अन्तराल– मूलस्थान ब्राह्मतीर्थ कहा गया है और कनिष्ठा आदि अंगुलियोंका पश्चाद्भाग (अग्रभाग) देवतीर्थ करके वर्णित हुआ है ॥ ९६ ॥

अङ्गुष्ठस्य च यन्मध्यं प्रदेशिन्याश्च भारत।
तेन पित्र्याणि कुर्वीत स्पृष्ट्वापो न्यायतस्तथा ॥ ९७ ॥

हे भारत ! अंगूठा और तर्जनी अंगुलीके मध्यभाग (जो पितृतीर्थ हैं) के सहारे शास्त्रविधिसे जल स्पर्श करके पितृकार्य करे ॥ ९७ ॥

परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥ ९८ ॥

दूसरोंकी निंदा न करे, कदापि अप्रिय वचन न कहे; मङ्गलकी कामना करनेवाला मनुष्य किसीको क्रोध न दिलाये ॥ ९८ ॥

पतितैस्तु कथां नेच्छेद्दर्शनं चापि वर्जयेत्।
संसर्गं च न गच्छेत तथायुर्विन्दते महत् ॥ ९९ ॥

पतित पुरुषोंके साथ वार्तालापकी इच्छा न करे। उनका दर्शन भी त्यागना चाहिये और उनके साथ संपर्क भी न करे; तो दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ९९ ॥

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत् ॥ १०० ॥

दिनमें मैथुन न करे; कुमारी कन्या, कुलटा और अपनी पत्नी भी ऋतुस्नात न हो तो उसके साथ भी गमन न करे; इन नियमोंका प्रतिपालन करनेसे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ १०० ॥

स्वे स्वे तीर्थे समाचम्य कार्ये समुपकल्पिते ।
त्रिः पीत्वापो द्विः प्रमृज्य कृतशौचो भवेन्नरः ॥ १०१ ॥

कार्यके उपस्थित होनेपर निज निज तीर्थोंमें आचमन करके तीन बार जल पीये और दो बार ओठोंको पोंछ ले– ऐसा करनेसे मनुष्य पवित्र होता है ॥ १०१ ॥

इन्द्रियाणि सकृत्स्पृश्य त्रिरभ्युक्ष्य च मानवः ।
कुर्वीत पित्र्यं दैवं च वेददृष्टेन कर्मणा ॥ १०२ ॥

पुरुष एकबार नेत्र आदि सब इन्द्रियोंको स्पर्श करते हुए तीन बार अपने ऊपर जल छिड़के, फिर वेदविहित कार्यके सहारे दैव और पितृकर्म करे ॥ १०२ ॥

ब्राह्मणार्थे च यच्छौचं तच्च मे शृणु कौरव ।
प्रवृत्तं च हितं चोक्त्वा भोजनाद्यन्तयोस्तथा ॥ १०३ ॥

हे कुरुनन्दन ! ब्राह्मणके लिये जो शौचाचार विहित हुआ है और भोजनके पहले तथा शेषमें जो पवित्र और हितकर करके कहा गया है, वह भी सुनो ॥ १०३ ॥

सर्वशौचेषु ब्राह्मेण तीर्थेन समुपस्पृशेत् ।
निष्ठीव्य तु तथा क्षुत्वा स्पृश्यापो हि शुचिर्भवेत् ॥ १०४ ॥

सब प्रकारके शुद्धिके कार्योंमें ब्राह्मतीर्थसे आचमन करे; थूंकने और छींकनेके पश्चात् जल स्पर्श करके वह पवित्र होता है ॥ १०४ ॥

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि ।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च ॥ १०५ ॥

वृद्ध, स्वजनों और मित्रोंके दरिद्र होनेपर उन्हें निज गृहमें रक्खे; ऐसा करनेसे धन और आयुकी वृद्धि होती है ॥ १०७ ॥

गृहे पारावता धन्याः शुकाश्च सहसारिकाः ।
गृहेष्वेते न पापाय तथा वै तैलपायिकाः ॥ १०६ ॥

कबूतर तथा शुक-सारिका प्रभृति गृहमें रहनेसे समृद्धि हुआ करती है; ये तैलपायिक पक्षियोंकी भांति अनिष्टके कारण नहीं होते, बल्कि अभ्युदयके हेतु होते हैं ॥ १०६ ॥

उद्दीपकाश्च गृध्राश्च कपोता भ्रमरास्तथा ।
निविशेयुर्यदा तत्र शान्तिमेव तदाचरेत् ॥ १०७ ॥

उद्दीपक, गिद्ध, बनके कपोत और भौंर यदि गृहके बीच सहसा प्रविष्ट हों, तो उस समय शान्ति अवलंबन करे ॥ १०७ ॥

अमङ्गल्यानि चैतानि तथाक्रोशो महात्मनाम् ।
महात्मनां च गुह्यानि न वक्तव्यानि कर्हिचित् ॥ १०८ ॥

क्यों कि ये सब अमंगलकारी होते हैं, तथा महात्माओंके विषयमें निन्दा करना भी अकल्याणकारक है; महात्माओंके अत्यन्त गोपनीय विषयको किसी स्थानमें कहना उचित नहीं है ॥ १०८ ॥

अगम्याश्च न गच्छेत राजपत्नीः सखीस्तथा ।
वैद्यानां बालवृद्धानां भृत्यानां च युधिष्ठिर ॥ १०९ ॥

हे युधिष्ठिर ! परायी स्त्रियां अगम्य होनेसे उनके साथ समागम न करे; राजाकी पत्नी और सखियोंके पास भी कभी न जाय । वैद्य, बालक, वृद्ध, सेवक, ॥ १०९ ॥

बन्धूनां ब्राह्मणानां च तथा शारणिकस्य च ।
संबन्धिनां च राजेन्द्र तथायुर्विन्दते महत् ॥ ११० ॥

बन्धु, ब्राह्मण, शरणागत और सम्बन्धियोंकी स्त्रियोंसे रमण करना अनुचित है; हे राजेन्द्र ! इन सब विषयोंको पालन करनेसे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ११० ॥

ब्राह्मणस्थपतिभ्यां च निर्मितं यन्निवेशनम् ।
तदावसेत्सदा प्राज्ञो भवार्थी मनुजेश्वर ॥ १११ ॥

हे नरनाथ ! ब्राह्मणके द्वारा वास्तुपूजनपूर्वक और अच्छे कारीगर द्वारा बनाये गये हुए, कल्याणकी इच्छा करनेवाला विद्वान् मनुष्य सदा उसही गृहमें वास करे ॥ १११ ॥

संध्यायां न स्वपेद्राजन्विद्यां न च समाचरेत् ।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत् ॥ ११२ ॥

हे महाराज ! मेधावी मनुष्य सन्ध्याके समय न सोवे तथा विद्याभ्यास और भोजन न करे; इन नियमोंके पालनेसे मनुष्य दीर्घायु होता है ॥ ११२ ॥

नक्तं न कुर्यात्पित्र्याणि भुक्त्वा चैव प्रसाधनम् ।
पानीयस्य क्रिया नक्तं न कार्या भूतिमिच्छता ॥ ११३ ॥

रात्रिके समय पितृकार्य—श्राद्धकर्म न करे और भोजनके अनन्तर केश संवारना अनुचित है । जो लोग ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं, उन्हें रात्रिमें स्नान आदि जलक्रिया न करनी चाहिये ॥ ११३ ॥

वर्जनीयाश्च वै नित्यं सक्तवो निशि भारत ।
शेषाणि चावदातानि पानीयं चैव भोजने ॥ ११४ ॥

हे भारत ! रातके समय सत्तू खाना सदैव वर्जित है; भोजनके पश्चात् निर्मल शेषान्न और पीनेयोग्य जल आदि पदार्थोंका त्याग करे ॥ ११४ ॥

सौहित्यं च न कर्तव्यं रात्रौ नैव समाचरेत् ।
द्विजच्छेदं न कुर्वीत भुक्त्वा न च समाचरेत् ॥ ११५ ॥

रातमें डटकर भोजन स्वयं न करे तथा दूसरेको भी डटकर भोजन न करावे; भोजन करके दौडे नहीं, और ब्राह्मणोंका बध कभी न करे ॥ ११५ ॥

महाकुलप्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा ।
वयःस्थां च महाप्राज्ञ कन्यामावोढुमर्हति ॥ ११६ ॥

अत्यन्त प्राज्ञ पुरुष महत् कुलमें उत्पन्न हुई, श्रेष्ठ लक्षणयुक्त, यथायोग्य अवस्थावाली कन्याके साथ विवाह करने योग्य होगा ॥ ११६ ॥

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा ।
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ॥ ११७ ॥

हे भारत ! अनन्तर पुत्र उत्पन्न करके, वंश परंपराको स्थापित करते हुए उन्हें ज्ञान और कुलधर्म सिखानेके लिये विद्वान् पुरुषके निकट समर्पण करे ॥ ११७ ॥

कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते ।
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद्भृत्या लभ्याश्च भारत ॥ ११८ ॥

हे भरतनन्दन ! और कन्या उत्पन्न होनेके अनन्तर सद्वंशमें उत्पन्न हुए, बुद्धिशक्तिसे युक्त वरको दान करे; पुत्रोंका भी सत्कुल सम्बन्धमें व्याह करे, उत्तम कुलके कर्मचारियोंको संपादन करे ॥ ११८ ॥

शिरःस्नातोऽथ कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि च ।
नक्षत्रे न च कुर्वीत यस्मिञ्जातो भवेन्नरः ।
न प्रोष्ठपदयोः कार्यं तथाग्नेये च भारत ॥ ११९ ॥

मस्तक परसे स्नान करके देवकार्य और पितृकार्य करना चाहिये । मनुष्य जिस नक्षत्रमें जन्मा है उसमें, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा तथा कृत्तिका नक्षत्रमें भी श्राद्ध न करे ॥ ११९ ॥

दारुणेषु च सर्वेषु प्रत्यहं च विवर्जयेत् ।
ज्योतिषे यानि चोक्तानि तानि सर्वाणि वर्जयेत् ॥ १२० ॥

और स्वाती नक्षत्रमें जोडके नवसे भाग करनेपर जो तारा पञ्चमी होवे, उस प्रत्यरिनक्षत्र तथा दारुण नक्षत्रोंमें देव और पितृकर्म न करे । हे भारत ! ज्योतिष शास्त्रमें जिन नक्षत्रोंमें श्राद्धका निषेध है, उन सबमें देवकार्य और पितृकार्य नहीं करना चाहिये ॥ १२० ॥

प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयेत समाहितः ।
उदङ्मुखो वा राजेन्द्र तथायुर्विन्दते महत् ॥ १२१ ॥

पूर्व या उत्तरकी ओर मुंह करके समाहित होकर क्षौरकार्य करावे । हे राजेन्द्र ! ऐसा आचरण करनेसे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ १२१ ॥

परिवादं न च ब्रूयात्परेषामात्मनस्तथा ।
परिवादो न धर्माय प्रोच्यते भरतर्षभ ॥ १२२ ॥

अपनी तथा दूसरेकी निंदा न करे । हे भरतश्रेष्ठ ! ऐसा वर्णित है, कि निन्दा धर्मका हेतु नहीं हुआ करती है ॥ १२२ ॥

वर्जयेद्व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम ।
समार्षां व्यङ्गिनां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥ १२३ ॥

हे पुरुषोत्तम ! किसी अंगसे हीन अथवा अधिक अंगवाली स्त्री और कन्याको परित्याग करे, जिसके गोत्र और प्रवर अपने समान हो तथा जो माताके कुलमें उत्पन्न हुई हो, उसके साथ विवाह न करे ॥ १२३ ॥

वृद्धां प्रव्रजितां चैव तथैव च पतिव्रताम् ।
तथातिकृष्णवर्णां च वर्णोत्कृष्टां च वर्जयेत् ॥ १२४ ॥

जो बूढी, प्रव्रजिता, पतिव्रता, निकृष्टवर्णा और श्रेष्ठ वर्णवाली स्त्री हो, उसका त्याग करे ॥ १२४ ॥

अयोनिं च वियोनिं च न गच्छेत विचक्षणः ।
पिङ्गलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमावोढुमर्हसि ॥ १२५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य कुलशीलको बिना जाने तथा हीन कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रीके सङ्ग रमण न करे । तुम्हें पिंगल वर्णवाली और कुष्ठ रोगग्रस्त स्त्रीके साथ विवाह करना योग्य नहीं है ॥२५॥

अपस्मारिकुले जातां निहीनां चैव वर्जयेत् ।
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयाणां मनुजेश्वर ॥ १२६ ॥

हे नरनाथ ! अपस्मार युक्त पुरुषके गृहमें जो कन्या उत्पन्न हुई हो, जो कन्या सफेद कोढवाले पुरुषके कुलमें उत्पन्न हुई हो तथा जो कन्या अत्यन्त हीन कुलमें जन्मी हो इन तीनोंको त्याग देवे ॥ १२६ ॥

लक्षणैरन्विता या च प्रशस्ता या च लक्षणैः ।
मनोज्ञा दर्शनीया च तां भवान्वोढुमर्हति ॥ १२७ ॥

जो कन्या सुलक्षणी तथा श्रेष्ठ आचरणोंसे प्रशंसित, मनोहर और दर्शनीय हो, उसके साथ तुम विवाह कर सकते हो ॥ १२७ ॥

महाकुले निवेष्टव्यं सदृशे वा युधिष्ठिर ।
अवरा पतिता चैव न ग्राह्या भूतिमिच्छता ॥ १२८ ॥

हे युधिष्ठिर ! महत् वंश तथा सदृशकुलमें विवाह करना योग्य है; ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला मनुष्य हीनवर्णवाली और पतित स्त्रीको ग्रहण न करे ॥ १२८ ॥

अग्नीनुत्पाद्य यत्नेन क्रियाः सुविहिताश्च याः ।
वेदेषु ब्राह्मणैः प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः समाचरेत् ॥ १२९ ॥

यत्नपूर्वक तीनों अग्नि उत्पन्न करके, ब्राह्मणोंके द्वारा कही हुई जो सब क्रियाएं वेदोंमें वर्णित हुई हैं, उनका अनुष्ठान करे ॥ १२९ ॥

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या दारा रक्ष्याश्च सर्वशः ।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥ १३० ॥

स्त्रियोंके विषयमें ईर्षा न करनी चाहिये, अपनी स्त्री की सब प्रकारसे रक्षा करनी उचित है; ईर्षा करनेसे आयु घटती है, इसलिये ईर्षाको त्यागना उचित है ॥ १३० ॥

अनायुष्यो दिवास्वप्नस्तथाभ्युदितशायिता ।
प्रातर्निशायां च तथा ये चोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै ॥ १३१ ॥

दिनका तथा भोरका सोना आयुको घटाता है; जो लोग प्रातःकाल तथा रात्रिके प्रथम भागमें सोते तथा जूठे रहके निद्रित होते हैं, वे अल्पायु होते हैं ॥ १३१ ॥

पारदार्यमनायुष्यं नापितोच्छिष्टता तथा ।
यत्नतो वै न कर्तव्यमभ्यासश्चैव भारत ॥ १३२ ॥

परनारीसे व्यभिचार करना, क्षौर—हजामत कराके स्नान न करनेसे आयुका ह्रास हुआ करता है। हे भारत! प्रयत्नपूर्वक अपवित्र अवस्थामें अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥१३२॥

संध्यां न भुञ्जेन्न स्नायान्न पुरीषं समुत्सृजेत् ।
प्रयतश्च भवेत्तस्यां न च किंचित्समाचरेत् ॥ १३३ ॥

सन्ध्याके समय भोजन, स्नान और मल विसर्जन नहीं करना चाहिये; उस समय ध्यान-युक्त होवे और दूसरा कुछ कार्य न करे ॥ १३३ ॥

ब्राह्मणान्पूजयेच्चापि तथा स्नात्वा नराधिप ।
देवांश्च प्रणमेत्स्नातो गुरूंश्चाप्यभिवादयेत् ॥ १३४ ॥

हे नरनाथ! स्नान करके ही ब्राह्मणोंकी पूजा करे, व्रती होकर देवताओंको नमस्कार करे, और गुरुजनोंको प्रणाम करे ॥ १३४ ॥

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत्तु दर्शकः ।
अनिमन्त्रिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥ १३५ ॥

हे भारत! विना निमन्त्रित हुए पुरुष कहीं न जावे, परंतु केवल यज्ञ देखनेके लिये जा सकता है; विना बुलाये जानेसे आयु क्षीण होती है ॥ १३५ ॥

×

न चैकेन परिव्राज्यं न गन्तव्यं तथा निशि ।
अनागतायां संध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत् ॥ १३६ ॥

अकेले देशान्तरमें जाना उचित नहीं है और रात्रिके समय यात्रा करना अनुचित है; सन्ध्या होनेके पहले ही गृहमें आके निवास करना चाहिये ॥ १३६ ॥

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् ।
हितं चाप्यहितं वापि न विचार्यं नरर्षभ ॥ १३७ ॥

हे नरर्षभ ! माता, पिता और गुरुजनोंकी आज्ञा माननी उचित है । उनके उपदेशसे चाहे भलाई हो या बुराई होवे, किसी भांति उसमें विचार करना उचित नहीं है ॥ १३७ ॥

धनुर्वेदे च वेदे च यत्नः कार्यो नराधिप ।
हस्तिपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु चैव ह ।
यत्नवान्भव राजेन्द्र यत्नवान्सुखमेधते ॥ १३८ ॥

हे भारत ! क्षत्रियको धनुर्वेद और वेदाध्ययनके लिये प्रयत्न करना चाहिये । राजेन्द्र ! तुम्हें हाथी और घोडोंकी पीठपर चढने और रथ हांकनेके विषयमें प्राविण्य प्राप्त करनेके लिये यत्न करना योग्य है; यत्नवान् मनुष्य सुखी होता है ॥ १३८ ॥

अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च ।
प्रजापालनयुक्तश्च न क्षतिं लभते क्वचित् ॥ १३९ ॥

और वह शत्रुओं, सेवकों तथा स्वजनोंके लिये दुर्धर्ष हुआ करता है । जो प्रजा पालनेमें रत रहता है, उसे कभी हानि नहीं होती ॥ १३९ ॥

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत ।
गन्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप ॥ १४० ॥

हे भरतकुलवर्धन नरनाथ ! तुम्हें तर्कशास्त्र, शब्दशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र और नृत्यगीतादि कला विद्याओंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १४० ॥

पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च ।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते ॥ १४१ ॥

पुराण, इतिहास, आख्यान और महानुभाव मनुष्योंके चरितोंको सदा सुनना उचित है ॥ १४१ ॥

पत्नीं रजस्वलां चैव नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत् ।
स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद्विचक्षणः ॥ १४२ ॥

बुद्धिमान मनुष्य अपनी रजस्वला स्त्रीके निकट न जावे और उसे आवाहन भी न करे; चौथे दिन ऋतुस्नात स्त्रीके निकट रातमें जावे ॥ १४२ ॥

पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान्भवेत्।
एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डितः ॥ १४३ ॥
पांचवें दिनमें गर्भाधान करनेसे कन्याकी उत्पत्ति होती है और छठे दिनमें पुत्र जन्मता है; विद्वान् पुरुष इसही विधिके अनुसार पत्नीके निकट जाय ॥ १४३ ॥

ज्ञातिसंबन्धिमित्राणि पूजनीयानि नित्यशः।
यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
अतऊर्ध्वमरण्यं च सेवितव्यं नराधिप ॥ १४४ ॥
स्वजन, सम्बन्धी और मित्रगण सदा पूजनीय हैं। शक्तिके अनुसार विविध दक्षिणायुक्त यज्ञोंसे देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। हे नरनाथ! इसके अनन्तर गार्हस्थ्यकी समाप्ति करके वानप्रस्थके अनुसार वनमें निवास करना उचित है ॥ १४४ ॥

एष ते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर ॥ १४५ ॥
हे युधिष्ठिर! मैंने तुम्हारे निकट आयुकी वृद्धि करनेवाले लक्षणोंको संक्षेपमें कहा है; अवशिष्ट लक्षणोंको तीनों वेदोंके जाननेवाले पण्डितोंके समीप मालूम करना ॥ १४५ ॥

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद्वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १४६ ॥
आचार कल्याण-ऐश्वर्यका जनक है, आचारही कीर्तिको बढाता है; आचारसे ही आयु बढती है, आचारही बुरे लक्षणोंका नाश करता है ॥ १४६ ॥

आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते ॥ १४७ ॥
सब शास्त्रोंमें आचार ही श्रेष्ठरूपसे वर्णित हुआ है। आचारसे ही धर्म होता है, धर्मसे ही परमायुकी वृद्धि हुआ करती है ॥ १४७ ॥

एतद्यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
अनुकम्पता सर्ववर्णान्ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ १४८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥ ४५९८ ॥

पहले ब्रह्माने सब वर्णोंके लोगोंपर कृपा करके यह यशदायक, आयु बढानेवाला और स्वर्ग सुखकर महत् स्वस्त्ययन कहा है ॥ १४८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ सातवां अध्याय समाप्त ॥ १०७ ॥ ४५९८ ॥

: १०८ :

युधिष्ठिर उवाच—

यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु वर्तेत भरतर्षभ ।
कनिष्ठाश्च यथा ज्येष्ठे वर्तेरंस्तद्ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! बडा भाई छोटे भाईयोंके सङ्ग कैसा व्यवहार करे और छोटे भाईयोंको बडे भाईके साथ कैसा आचरण करना योग्य है ? यह विषय आप मेरे समीप वर्णन करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

ज्येष्ठवत्तात वर्तस्व ज्येष्ठो हि सततं भवान् ।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या चेच्छिष्यस्य भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे तात ! तुम ही अपने भाईयोंमें बडे हो इसलिये तुम ज्येष्ठके अनुरूप सदा व्यवहार करो। हे भारत ! गुरुको अपने शिष्यके प्रति जैसा गौरवपूर्ण व्यवहार होता है, वैसा ही तुम्हें भी अपने भाइयोंके साथ करना चाहिये ॥ २ ॥

न गुरावकृतप्रज्ञे शक्यं शिष्येण वर्तितुम् ।
गुरोर्हि दीर्घदर्शित्वं यत्तच्छिष्यस्य भारत ॥ ३ ॥

अशुद्ध विचारवाले गुरु अथवा बडे भाईके निकट शिष्य वा छोटे भाई उसकी आज्ञामें नहीं रहते; हे भारत ! गुरुके दीर्घदर्शी होनेपर शिष्य भी दीर्घदर्शी होते हैं ॥ ३ ॥

अन्धः स्यादन्धवेलायां जडः स्यादपि वा बुधः ।
परिहारेण तद्ब्रूयाद्यस्तेषां स्याद्व्यतिक्रमः ॥ ४ ॥

बडा भाई अवसर देखके अन्ध, जड और विद्वान् बने– अर्थात् छोटोंसे अपराध हो जाय तो उसे देखते हुए भी न देखे; जाननेपर भी अनजान बने और उनकी अपराध करनेकी वृत्ति दूर हो जाय, ऐसी बात करे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं भिन्नहृदया भेदयेयुः कृतं नराः ।
श्रियाभितप्ताः कौन्तेय भेदकामास्तथारयः ॥ ५ ॥

हे कौन्तेय ! बडा भाई जब प्रत्यक्षरूपसे अपराधका दण्ड देता है, तो उसके छोटे भाईयोंका हृदय विदीर्ण होता है, वे उस दुर्व्यवहारका लोगोंमें प्रचार करते हैं; तब उनके ऐश्वर्यको देखकर जलनेवाले शत्रु उन भाईयोंमें फूट करनेकी इच्छा करते हैं ॥ ५ ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥ ६ ॥

ज्येष्ठ भाई अपनी अच्छी नीतिसे वंशकी वृद्धि करता है; अथवा कुनीतिसे कुलका नाश कर देता है; जहां बडे भाईका विचार दूषित हुआ, वहां वह जिस कुलमें उत्पन्न हुआ है, उस कुलको नष्ट कर देता है ॥ ६ ॥

अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।
अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः ॥ ७ ॥

जो ज्येष्ठ भ्राता होकर कनिष्ठोंको ठगता है, वह जेठा कहलाने योग्य नहीं है, वह अंशभागी नहीं हो सकता; राजाओंको योग्य है, कि वैसे जेठको शासित करें ॥ ७ ॥

निकृती हि नरो लोकान्पापान्गच्छत्यसंशयम् ।
विदुलस्येव तत्पुष्पं मोघं जनयितुः स्मृतम् ॥ ८ ॥

कपट करनेवाला मनुष्य निःसन्देह पापलोकोंमें जाता है; ऐसा वर्णित है, कि वेतवृक्षके पुष्प सदृश पिताका वैसा पुत्र निरर्थक ही है ॥ ८ ॥

सर्वानर्थः कुले यत्र जायते पापपूरुषः ।
अकीर्तिं जनयत्येव कीर्तिमन्तर्दधाति च ॥ ९ ॥

जिस वंशमें पापी मनुष्य जन्म लेता है, वहां वह सब अनर्थोंका कारण होता है; वह अकीर्ति उत्पन्न करके सुयशका लोप करता है ॥ ९ ॥

सर्वे चापि विकर्मस्था भागं नार्हन्ति सोदराः ।
नाप्रदाय कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ १० ॥

कुकर्मी सहोदरगण पैतृक अंश ग्रहण करनेके योग्य नहीं होते; कनिष्ठोंको विना उचित हिस्सा दिये जेठा भाई कदापि पैतृक संपत्तिका भाग ग्रहण न करे ॥ १० ॥

अनुजं हि पितुर्दायो जङ्घाश्रमफलोऽध्वगः ।
स्वयमीहितलब्धं तु नाकामो दातुमर्हति ॥ ११ ॥

पैतृक धनका छोटाभाई भागी है; प्रवासी पुरुष निज जङ्घाश्रमसे धन पैदा करे तो वह उसके परिश्रमका फल है, उसकी इच्छा न हो तो वह उसमेंसे भाईयोंको नहीं दे सकता है ॥ ११ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानामुत्थानमपि चेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ १२ ॥

अविभक्त भाईयोंको भोजनादि तथा धन विभाग एक साथ करना योग्य है; पिता कदापि पुत्रोंको विषम भाग प्रदान न करे ॥ १२ ॥

न ज्येष्ठानवमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपि वा ।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः पश्येत्तथाचरेत् ।
धर्मं हि श्रेय इत्याहुरिति धर्मविदो विदुः ॥ १३ ॥

जेठा भाई चाहे दुष्कृती हो, अथवा सुकृती हो कदापि छोटेको उसकी अवज्ञा न करनी चाहिये । स्त्री अथवा कनिष्ठ भ्राता यदि दुष्कृत कर्म करें, तो भी श्रेष्ठ पुरुष जिस भांति उनका कल्याण हो, वैसा कार्य करे । धर्म जाननेवाले पुरुष धर्म ही कल्याणका श्रेष्ठ साधन कहते हैं ॥ १३ ॥

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान्पिता दश।
दश चैव पितॄन्माता सर्वां वा पृथिवीमपि ॥ १४ ॥
दस आचार्योंसे उपाध्याय श्रेष्ठ है, दस उपाध्यायोंसे पिता श्रेष्ठ है और दस पिताओंसे माता श्रेष्ठ कही गई है, माता सारी पृथ्वीको भी ॥ १४ ॥

गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः।
माता गरीयसी यच्च तेनैतां मन्यते जनः ॥ १५ ॥
अपने गौरवके सहारे अभिभव करती है। इसलिये माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है, माताका गौरव सबसे बढकर होनेसे ही लोग उसको मान्य किया करते हैं ॥ १५ ॥

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत।
स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात्स चैतान्परिपालयेत् ॥ १६ ॥
हे भारत! पिताकी मृत्यु हो जानेपर जेठा भाई पितातुल्य है। वही कनिष्ठ भाइयोंको जीविका देवे और वही उनका प्रतिपालन करे ॥ १६ ॥

कनिष्ठास्तं नमस्येरन्सर्वे छन्दानुवर्तिनः।
तमेव चोपजीवेरन्यथैव पितरं तथा ॥ १७ ॥
छोटे भाई भी बडेकी इच्छानुसार चलकर उसे नमस्कार करें और जेठे भाईको पिता मानकर उसके आश्रयमें जीवनका समय वितावें ॥ १७ ॥

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा ॥ १८ ॥
हे भारत! माता और पिता इस शरीरको उत्पन्न करते हैं और आचार्यके उपदेशसे जो ज्ञानमय जीवन मिलता है, वह सत्य, अजर तथा अमर है ॥ १८ ॥

ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ।
भ्रातुर्भार्या च तद्वत्स्याद्यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टोत्तरशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥ ४६१७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जेठी बहिन भी मातातुल्य है; और जेठे भाईकी भार्या तथा बाल्यावस्थामें जिसके स्तनका दूध पिया गया हो, वह धाय भी माताके समान है ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ १०८ ॥ ४६१७ ॥

: १०९ :

युधिष्ठिर उवाच—

सर्वेषामेव वर्णानां म्लेच्छानां च पितामह ।
उपवासे मतिरियं कारणं च न विद्महे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– सब वर्णों तथा म्लेच्छोंकी भी उपवास करनेकी मति देखता हूं, किन्तु इसका कारण मेरी समझमें नहीं आता ॥ १ ॥

ब्रह्मक्षत्रेण नियमाश्चर्तव्या इति नः श्रुतम् ।
उपवासे कथं तेषां कृत्यमस्ति पितामह ॥ २ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रियोंको नियमाचरण करना चाहिये, यह मैंने सुना है । हे पितामह ! परन्तु उन लोगोंके कार्यकी सिद्धि उपवाससे किस प्रकार सिद्ध होती है, यह नहीं जान पडता है ॥ २ ॥

नियमं चोपवासानां सर्वेषां ब्रूहि पार्थिव ।
अवाप्नोति गतिं कां च उपवासपरायणः । ॥ ३ ॥

हे राजन् ! सब उपवासोंके नियम और विधि कहिये; उपवास करनेवाला मनुष्य किस गतिको प्राप्त करता है ? ॥ ३ ॥

उपवासः परं पुण्यमुपवासः परायणम् ।
उपोष्येह नरश्रेष्ठ किं फलं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥

उपवास परम पुण्य और उपवासही परम आश्रय है । हे नरश्रेष्ठ ! इस लोकमें उपवास करनेसे क्या फल मिलता है ? ॥ ४ ॥

अधर्मान्मुच्यते केन धर्ममाप्नोति वै कथम् ।
स्वर्गं पुण्यं च लभते कथं भरतसत्तम ॥ ५ ॥

किसके सहारे मनुष्य पापसे छुटता है ? हे भरतसत्तम ! मनुष्य किस प्रकार धर्मकी प्राप्ति कर सकता है और वह पुण्य और स्वर्गलोक पाता है ? ॥ ५ ॥

उपोष्य चापि किं तेन प्रदेयं स्यान्नराधिप ।
धर्मेण च सुखानर्थाँल्लँभेद्येन ब्रवीहि तत् ॥ ६ ॥

हे नरनाथ ! उपवास करके किस वस्तुका दान करना चाहिये ? जिस धर्मके सहारे सुख और धन प्राप्त होते हैं, आप उसे वर्णन करिये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं धर्मज्ञं धर्मतत्त्ववित् ।
धर्मपुत्रमिदं वाक्यं भीष्मः शांतनवोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– जब धर्मपुत्र धर्मज्ञ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने ऐसा प्रश्न किया, तब धर्मतत्त्वके जाननेवाले शन्तनुनन्दन भीष्म उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ७ ॥

इदं खलु महाराज श्रुतमासीत्पुरातनम् ।
उपवासविधौ श्रेष्ठा ये गुणा भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भीष्म बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! उपवासके विषयमें जो सब श्रेष्ठ गुण हैं, उस विषयमें मैंने यह पुरातन प्रबन्ध सुना था ॥ ८ ॥

प्राजापत्यं ह्यङ्गिरसं पृष्टवानस्मि भारत ।
यथा मां त्वं तथैवाहं पृष्टवांस्तं तपोधनम् ॥ ९ ॥

हे भारत ! जैसा तुमने मुझसे पूछा है, इस ही भांति मैंने पहले तपोधन अङ्गिरा ऋषिसे प्रश्न किया था ॥ ९ ॥

प्रश्नमेतं मया पृष्टो भगवानग्निसंभवः ।
उपवासविधिं पुण्यमाचष्ट भरतर्षभ ॥ १० ॥

हे भरतसत्तम ! जब मैंने यह प्रश्न पूछा, तब अग्निपुत्र भगवान् अङ्गिरा ऋषिने मुझे उपवास की पवित्र विधि कही ॥ १० ॥

अङ्गिरा उवाच—

ब्रह्मक्षत्रे त्रिरात्रं तु विहितं कुरुनन्दन ।
द्वित्रिरात्रमथैवात्र निर्दिष्टं पुरुषर्षभ ॥ ११ ॥

अङ्गिरा बोले– हे पुरुषश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके लिये त्रिरात्र उपवास विहित है; यहां द्विरात्र और त्रिरात्र भी निर्दिष्ट है ॥ ११ ॥

वैश्यशूद्रौ तु यौ मोहादुपवासं प्रकुर्वते ।
त्रिरात्रं द्वित्रिरात्रं वा तयोः पुष्टिर्न विद्यते ॥ १२ ॥

जो वैश्य और शूद्र मोहके वशमें होकर द्विरात्र अथवा त्रिरात्र उपवास करते हैं, उन्हें उससे कुछ भी फल नहीं मिलता ॥ १२ ॥

चतुर्थभक्तक्षपणं वैश्यशूद्रे विधीयते ।
त्रिरात्रं न तु धर्मज्ञैर्विहितं ब्रह्मवादिभिः ॥ १३ ॥

वैश्य और शूद्रके लिये चौथे समयतकके भोजनका त्याग करनेका विधान है, अर्थात् केवल दो दिन अहोरात्र उपवास कहा गया है; धर्मदर्शी धर्मज्ञ ऋषियोंने वैश्यों और शूद्रोंके लिये त्रिरात्र उपवासकी विधि नहीं कही है ॥ १३ ॥

पञ्चम्यां चैव षष्ठ्यां च पौर्णमास्यां च भारत ।
क्षमावान्रूपसंपन्नः श्रुतवांश्चैव जायते ॥ १४ ॥

हे भारत ! पञ्चमी, षष्ठी और पौर्णमासी तिथिमें मनुष्य उपवास करे तो वह क्षमावान्, रूपवान् और विद्वान् हुआ करता है ॥ १४ ॥

नानपत्यो भवेत्प्राज्ञो दरिद्रो वा कदाचन ।
यजिष्णुः पञ्चमीं षष्ठीं क्षपेद्यो भोजयेद्द्विजान् ॥ १५ ॥

पञ्चमी और षष्ठी तिथिमें यज्ञ करनेवाला जो मनुष्य उपवास करके ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह बुद्धिमान् मनुष्य इसी भांति कदापि पुत्रहीन तथा दरिद्र नहीं होता ॥ १५ ॥

अष्टमीमथ कौन्तेय शुक्लपक्षे चतुर्दशीम् ।
उपोष्य व्याधिरहितो वीर्यवानभिजायते ॥ १६ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! शुक्लपक्षकी अष्टमी और चतुर्दशी तिथिमें उपवास करनेसे मनुष्य व्याधि-रहित तथा वीर्यवान् होता है ॥ १६ ॥

मार्गशीर्षं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत् ।
भोजयेच्च द्विजान्भक्त्या स मुच्येद्व्याधिकिल्बिषैः ॥ १७ ॥

मार्गशीर्ष महीनेमें जो पुरुष दिनमें एक बार भोजन करके महीना व्यतीत करता और भक्ति-पूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह व्याधि तथा पापोंसे छूट जाता है ॥ १७ ॥

सर्वकल्याणसंपूर्णः सर्वौषधिसमन्वितः ।
कृषिभागी बहुधनो बहुपुत्रश्च जायते ॥ १८ ॥

सर्व प्रकारके कल्याणमय साधनोंसे युक्त तथा सर्वौषधियुक्त होता है; वह खेतीकी सुविधासे सम्पन्न तथा अधिक धन और पुत्रोंसे युक्त होता है ॥ १८ ॥

पौषमासं तु कौन्तेय भक्तेनैकेन यः क्षपेत् ।
सुभगो दर्शनीयश्च यशोभागी च जायते ॥ १९ ॥

हे कौन्तेय ! जो दिनमें एक बार खाके पौष महीना बिताता है, वह सौभाग्यसंपन्न, दर्शनीय और यशका भागी होता है ॥ १९ ॥

पितृभक्तो माघमासमेकभक्तेन यः क्षपेत् ।
श्रीमत्कुले ज्ञातिमध्ये स महत्त्वं प्रपद्यते ॥ २० ॥

जो पितृभक्त मनुष्य माघ महीनेभर दिनमें एक बार भोजन करके समय व्यतीत करता है, वह लक्ष्मीयुक्त वंशमें स्वजनोंके बीच महत्त्व पाता है ॥ २० ॥

भगदैवं तु यो मासमेकभक्तेन यः क्षपेत् ।
स्त्रीषु वल्लभतां याति वश्याश्चास्य भवन्ति ताः ॥ २१ ॥

फाल्गुन महीनेभर जो दिनमें एक बार भोजन करके समय बिताता है, वह स्त्रियोंको प्रिय होता है और वे स्त्रियां उसके वंशमें रहती है ॥ २१ ॥

×

चैत्रं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षपेत् ।
सुवर्णमणिमुक्ताढ्ये कुले महति जायते ॥ २२ ॥

जो नियमपूर्वक रहकर दिनमें एक बार भोजन करके चैत्र महीना बिताता है, वह सुवर्ण, मणि और मोतियोंसे युक्त महत्कुलमें जन्मता है ॥ २२ ॥

निस्तरेदेकभक्तेन वैशाखं यो जितेन्द्रियः ।
नरो वा यदि वा नारी ज्ञातीनां श्रेष्ठतां व्रजेत् ॥ २३ ॥

जो जितेन्द्रिय स्त्री अथवा पुरुष दिनमें एक बार भोजन करके वैशाख महिना व्यतीत करता है, उसे स्वजनोंमें श्रेष्ठता प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

ज्येष्ठामूलं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षपेत् ।
ऐश्वर्यमतुलं श्रेष्ठं पुमान्स्त्री वाभिजायते ॥ २४ ॥

ज्येष्ठ महीनेमें दिनमें एक बार भोजन करके समय बितानेवाला पुरुष वा स्त्री उत्तम अतुल ऐश्वर्यको प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

आषाढमेकभक्तेन स्थित्वा मासमतन्द्रितः ।
बहुधान्यो बहुधनो बहुपुत्रश्च जायते ॥ २५ ॥

जो एकाहारी और अतन्द्रित होकर आषाढ महीना व्यतीत करता है, वह अधिक धनधान्य-युक्त तथा बहुतसे पुत्रोंसे युक्त होता है ॥ २५ ॥

श्रावणं नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षपेत् ।
यत्र तत्राभिषेकेण युज्यते ज्ञातिवर्धनः ॥ २६ ॥

जो मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर सदा एक बार भोजन करके श्रावण महिना बिताता है, वह अनेक तीर्थोंमें स्नान करनेके पुण्यसे युक्त होकर अपने कुटुम्बी जनोंकी वृद्धि करता है ॥ २६ ॥

प्रौष्ठपदं तु यो मासमेकाहारो भवेन्नरः ।
धनाढ्यं स्फीतमचलमैश्वर्यं प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥

जो मनुष्य भाद्रपद महीनेमें एकाहारी होके रहता है, वह धनाढ्य होके समृद्धि तथा अचल ऐश्वर्य पाता है ॥ २७ ॥

तथैवाश्वयुजं मासमेकभक्तेन यः क्षपेत् ।
प्रजावान्वाहनाढ्यश्च बहुपुत्रश्च जायते ॥ २८ ॥

और जो मनुष्य एकाहारी होके अश्विन महीना बिताता है, वह प्रजावान्, बहुत पुत्रोंसे युक्त तथा अनेक वाहनोंसे सम्पन्न होता है ॥ २८ ॥

कार्त्तिकं तु नरो मासं यः कुर्यादेकभोजनम् ।
शूरश्च बहुभार्यश्च कीर्तिमांश्चैव जायते ॥ २९ ॥

कार्त्तिक महिनेमें जो मनुष्य एकाहारी होके रहता है, वह शूर, बहुतसी स्त्रियोंसे युक्त और कीर्तिमान् होता है ॥ २९ ॥

इति मासा नरव्याघ्र क्षपतां परिकीर्तिताः ।
तिथीनां नियमा ये तु शृणु तानपि पार्थिव ॥ ३० ॥

हे नरश्रेष्ठ महाराज ! प्रतिमहीनेमें एकाहारी पुरुषोंको जो फल मिलता है, वह कहा गया; अब तिथियोंके जो नियम हैं, उन्हें सुनो ॥ ३० ॥

पक्षे पक्षे गते यस्तु भक्तमश्नाति भारत ।
गवाढ्यो बहुपुत्रश्च दीर्घायुश्च स जायते ॥ ३१ ॥

हे भारत ! पंद्रह पंद्रह दिन बीतनेपर जो भोजन करता है, वह गोधन, बहुतसे पुत्रयुक्त तथा दीर्घायु होता है ॥ ३१ ॥

मासि मासि त्रिरात्राणि कृत्वा वर्षाणि द्वादश ।
गणाधिपत्यं प्राप्नोति निःसपत्नमनाविलम् ॥ ३२ ॥

बारह वर्षोंतक जो प्रतिमास त्रिरात्र व्रत करता है, उसे भगवान् शिवके गणोंका निष्कंटक और निर्मल अधिपत्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

एते तु नियमाः सर्वे कर्तव्याः शरदो दश ।
द्वे चान्ये भरतश्रेष्ठ प्रवृत्तिमनुवर्तता ॥ ३३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! प्रवृत्ति मार्गके वशवर्ती मनुष्यको बारह वर्षोंतक इन नियमोंका प्रतिपालन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

यस्तु प्रातस्तथा सायं भुञ्जानो नान्तरा पिबेत् ।
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य सवेरे और शामको भोजन करता है, बीचमें जल नहीं पीता और सदा अहिंसामें रत होके अग्निमें होम करता है ॥ ३४ ॥

षड्भिः स वर्षैर्नृपते सिध्यते नात्र संशयः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३५ ॥

वह निःसंदेह छः वर्षोंके बीच सिद्ध होता है; राजन् ! वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ ३५ ॥

अधिवासे सोऽप्सरसां नृत्यगीतविनादिते ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभं विमानमधिरोहति ॥ ३६ ॥

वह मनुष्य अप्सराओंके नृत्यगीतकी ध्वनिसे युक्त स्थानमें तपाये हुए सुवर्णसदृश प्रभायुक्त विमानपर चढ़ता है ॥ ३६ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं तु ब्रह्मलोके महीयते ।
तत्क्षयादिह चागम्य माहात्म्यं प्रतिपद्यते ॥ ३७ ॥

और पूरे एक हजार वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें सम्मानित होकर निवास करता है; अन्तमें पुण्यक्षीण होनेपर इस लोकमें आके महानुभावताको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

यस्तु संवत्सरं पूर्णमेकाहारो भवेन्नरः ।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य स फलं समुपाश्नुते ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य पूरे एक वर्ष भरतक एकाहार करता है, वह अतिरात्र यज्ञका फल भोग किया करता है ॥ ३८ ॥

दशवर्षसहस्राणि स्वर्गे च स महीयते ।
तत्क्षयादिह चागम्य माहात्म्यं प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

और दस हजार वर्ष स्वर्गलोकमें निवास करके, पुण्यक्षय होनेपर इस लोकमें आनेपर उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

यस्तु संवत्सरं पूर्णं चतुर्थं भक्तमश्नुते ।
अहिंसानिरतो नित्यं सत्यवाङ्नियतेन्द्रियः ॥ ४० ॥

जो सदा अहिंसामें रत, सत्यवादी, जितेन्द्रिय होके एक वर्षतक दो दो दिनपर भोजन करके रहता है ॥ ४० ॥

वाजपेयस्य यज्ञस्य फलं वै समुपाश्नुते ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि स्वर्गे च स महीयते ॥ ४१ ॥

वह वाजपेय यज्ञका फल भोगता है और तीस हजार वर्ष स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ ४१ ॥

षष्ठे काले तु कौन्तेय नरः संवत्सरं क्षपेत् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ४२ ॥

हे कौन्तेय ! छठे समय अर्थात् तीन-तीन दिनोंपर भोजन करके जो मनुष्य एक वर्षतक समय बिताता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ४२ ॥

चक्रवाकप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ४३ ॥

और वह चक्रवाकों द्वारा चलनेवाले विमानपर चढके स्वर्गमें गमन करता है तथा चालीस हजार वर्षोंतक देवलोकमें परम सुखसे निवास किया करता है ॥ ४३ ॥

अष्टमेन तु भक्तेन जीवन्संवत्सरं नृप ।
गवामयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ४४ ॥

हे महाराज ! जो मनुष्य चार दिनोंपर भोजन करके एक वर्षभर जीवित रहता है, वह गवामय यज्ञका फल पाता है ॥ ४४ ॥

हंससारसयुक्तेन विमानेन स गच्छति ।
पञ्चाशतं सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ४५ ॥

वह हंस सारसयुक्त विमानपर चलता और पचास हजार वर्ष देवलोकमें प्रमुदित हुआ करता है ॥ ४५ ॥

पक्षे पक्षे गते राजन्योऽश्नीयाद्वर्षमेव तु ।
षण्मासानशनं तस्य भगवानङ्गिराब्रवीत् ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि दिवमावसते च सः ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! एक एक पक्ष बीतनेपर दूसरे पक्षमें जो भोजन किया करता है, उसका वर्ष भरके बीच छः महीना अनशन व्रत होता है, ऐसा भगवान् अङ्गिराने कहा है । ऐसा व्रतधारी पुरुष साठ हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ ४६ ॥

वीणानां वल्लकीनां च वेणूनां च विशां पते ।
सुघोषैर्मधुरैः शब्दैः सुप्तः स प्रतिबोध्यते ॥ ४७ ॥

हे नरनाथ ! वह निद्रित होनेपर वीणा, वल्लकी और बांसुरीकी मधुर ध्वनि और घोषके सहारे जागता है ॥ ४७ ॥

संवत्सरमिहैकं तु मासि मासि पिबेत्पयः ।
फलं विश्वजितस्तात प्राप्नोति स नरो नृप ॥ ४८ ॥

हे महाराज ! जो एक वर्ष तक प्रतिमास एक बार केवल जल पीके जीवन धारण करता है, वह विश्वजित् यज्ञका फल पाता है ॥ ४८ ॥

सिंहव्याघ्रप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ।
सप्ततिं च सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ४९ ॥

और सिंहव्याघ्रयुक्त विमानके द्वारा यात्रा करता है तथा सत्तर हजार वर्षोंतक सुरलोकमें प्रमुदित होता है ॥ ४९ ॥

मासादूर्ध्वं नरव्याघ्र नोपवासो विधीयते ।
विधिं त्वनशनस्याहुः पार्थ धर्मविदो जनाः ॥ ५० ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! एक महीनेसे अधिक समयतक उपवास करनेका विधान नहीं है । हे पार्थ ! धर्म जाननेवाले पुरुषोंने अनशनकी यही विधि कही है ॥ ५० ॥

अनार्तो व्याधिरहितो गच्छेदनशनं तु यः ।
पदे पदे यज्ञफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ५१ ॥

जो पुरुष रोग और व्याधिरहित होके अनशन व्रत करता है, उसे निःसन्देह पद पदमें यज्ञका फल मिलता है ॥ ५१ ॥

दिवं हंसप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ।
शतं चाप्सरसः कन्या रमयन्त्यपि तं नरम् ॥ ५२ ॥

वह हंसयुक्त विमानके सहारे सुरलोकमें भ्रमण करता है; सैकड़ों कुमारी अप्सराएं उस पुरुषको प्रमुदित करती हैं ॥ ५२ ॥

आर्तो वा व्याधितो वापि गच्छेदनशनं तु यः ।
शतं वर्षसहस्राणां मोदते दिवि स प्रभो ।
काञ्चीनूपुरशब्देन सुप्तश्चैव प्रबोध्यते ॥ ५३ ॥

आर्त्त अथवा व्याधिग्रस्त मनुष्य भी यदि उपवास करे, तो वह एक लाख वर्षोंतक सुरपुरमें आनन्द भोगता है; निद्रित होके काञ्ची और नूपुरके शब्दसे जाग्रत होता है ॥ ५३ ॥

सहस्रहंससंयुक्ते विमाने सोमवर्चसि ।
स गत्वा स्त्रीशताकीर्णे रमते भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

और सहस्र हंसयुक्त चंद्रमाके समान दिव्य विमानके सहारे गमन करता है। हे भरतश्रेष्ठ ! वह स्वर्गमें जाके सैकड़ों स्त्रियोंसे युक्त उत्तम मनोहर स्थानमें रमण करता है ॥ ५४ ॥

क्षीणस्याप्यायनं दृष्टं क्षतस्य क्षतरोहणम् ।
व्याधितस्यौषधग्रामः क्रुद्धस्य च प्रसादनम् ॥ ५५ ॥

इस जगतमें क्षीण–दुर्बल मनुष्यको पुष्ट होते देखा गया है। घायल पुरुषके घाव भर जाते हुए देखे गये हैं। व्याधियुक्त पुरुषको रोगकी निवृत्तिके लिये परम औषधी प्राप्त होती है; क्रुद्ध पुरुषोंको प्रसन्न भी किया जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखितस्यार्थमानाभ्यां द्रव्याणां प्रतिपादनम् ।
न चैते स्वर्गकामस्य रोचन्ते सुखमेधसः ॥ ५६ ॥

अर्थ और मानके हेतु दुःखित पुरुषको द्रव्य प्राप्त होता है। स्वर्गकी इच्छा करनेवाले और दिव्य सुखके अभिलाषी मनुष्यको इन आप्यायन आदि विषयोंमें अभिरुचि नहीं होती ॥ ५६ ॥

अतः स कामसंयुक्तो विमाने हेमसंनिभे ।
रमते स्त्रीशताकीर्णे पुरुषोऽलंकृतः शुभे ॥ ५७ ॥

इसलिये वह पवित्र पुरुष सकाम और अलंकृत होकर सैकड़ों सुंदर स्त्रियोंसे युक्त सुवर्णसदृश विमानमें विहार किया करता है ॥ ५७ ॥

स्वस्थः सफलसंकल्पः सुखी विगतकल्मषः ।
अनश्नन्देहमुत्सृज्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ५८ ॥
स्वस्थ, सफल–मनोरथ, सुखी और निष्पाप होता है । अनशन व्रत करके देह छोडनेके अनन्तर उसका फल भोगता है ॥ ५८ ॥

बालसूर्यप्रतीकाशे विमाने हेमवर्चसि ।
वैडूर्यमुक्ताखचिते वीणामुरजनादिते ॥ ५९ ॥
वह प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशमान, सुवर्णसदृश प्रभायुक्त, वैडूर्य और मोतियोंसे खचित, वीणा और पखावजकी ध्वनिसे निनादित ॥ ५९ ॥

पताकादीपिकाकीर्णे दिव्यघण्टानिनादिते ।
स्त्रीसहस्रानुचरिते स नरः सुखमेधते ॥ ६० ॥
पताका और दीपकोंसे देखने योग्य, और दिव्य घण्टा शब्दसे परिपूरित, हजारों स्त्रियोंसे भरे हुए विमानमें सुखभोग किया करता है ॥ ६० ॥

यावन्ति रोमकूपाणि तस्य गात्रेषु पाण्डव ।
तावन्त्येव सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ६१ ॥
हे पाण्डव ! उसके शरीरमें जितने रोमकूप रहते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह सुरपुरमें प्रमुदित होके वास करता है ॥ ६१ ॥

नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
न धर्मात्परमो लाभस्तपो नानशनात्परम् ॥ ६२ ॥
वेदसे श्रेष्ठ कोई शास्त्र नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, धर्मसे बढके परम लाभ कुछ भी नहीं है और उपवाससे बढके दूसरी श्रेष्ठ तपस्या कुछ भी नहीं है ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति पावनं दिवि चेह च ।
उपवासैस्तथा तुल्यं तपःकर्म न विद्यते ॥ ६३ ॥
जैसे इस लोक और स्वर्गलोकमें ब्राह्मणोंसे पावन अन्य कोई नहीं है, वैसे ही उपवासके समान तप दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ६३ ॥

उपोष्य विधिवद्देवास्त्रिदिवं प्रतिपेदिरे ।
ऋषयश्च परां सिद्धिमुपवासैरवाप्नुवन् ॥ ६४ ॥
देवताओंने विधिपूर्वक उपवास करके ही त्रिदिवलोक–स्वर्ग पाया है, ऋषियोंको भी उपवाससे परम सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ ६४ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं हि विश्वामित्रेण धीमता ।
क्षान्तमेकेन भक्तेन तेन विप्रत्वमागतः ॥ ६५ ॥

बुद्धिशक्तिसे युक्त विश्वामित्रको एक हजार वर्षोंतक एकाहारी होनेसे क्षमा गुण प्राप्त हुआ था, इसीसे उन्हें ब्राह्मणत्व पद मिला ॥ ६५ ॥

च्यवनो जमदग्निश्च वसिष्ठो गौतमो भृगुः ।
सर्व एव दिवं प्राप्ताः क्षमावन्तो महर्षयः ॥ ६६ ॥

च्यवन, जमदग्नि, वसिष्ठ, गौतम और भृगु प्रभृति क्षमाशील महर्षिवृन्द उपवास करके ही स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ६६ ॥

इदमङ्गिरसा पूर्वं महर्षिभ्यः प्रदर्शितम् ।
यः प्रदर्शयते नित्यं न स दुःखमवाप्नुते ॥ ६७ ॥

पहले समयमें अङ्गिरामुनिने यह अनशनव्रतका महात्म्य महर्षियोंके बीच प्रदर्शित किया था; जो सदा इसका लोगोंमें प्रचार करता है, वह दुःख नहीं पाता ॥ ६७ ॥

इमं तु कौन्तेय यथाक्रमं विधिं प्रवर्तितं ह्यङ्गिरसा महर्षिणा ।
पठेत यो वै शृणुयाच्च नित्यदा न विद्यते तस्य नरस्य किल्बिषम् ॥ ६८ ॥

हे कौन्तेय ! अङ्गिरा महर्षिके द्वारा यह उपवास व्रतकी विधि प्रचलित हुई है; जो मनुष्य सदा इसे पढता वा सुनता है, उसका पाप नष्ट होता है ॥ ६८ ॥

विमुच्यते चापि स सर्वसंकरैर्न चास्य दोषैरभिभूयते मनः ।
वियोनिजानां च विजानते रुतं ध्रुवां च कीर्तिं न लभते नरोत्तमः ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि नवाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०९ ॥ ४६८६ ॥

वह सब प्रकारके पापोंसे छूट जाता है, उसका चित्त दोषोंसे अभिभूत नहीं होता । वह नरश्रेष्ठ दूसरी योनिमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी बोली जान सकता है और निश्चय ही अक्षय कीर्तिका लाभ करता है ॥ ७३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ नवां अध्याय समाप्त ॥ १०९ ॥ ४६८६ ॥

: 110 :

युधिष्ठिर उवाच—

पितामहेन विधिवद्यज्ञाः प्रोक्ता महात्मना ।
गुणाश्चैषां यथातत्त्वं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— महानुभाव ब्रह्माके द्वारा विधिपूर्वक सब यज्ञोंका वर्णन किया गया और इस लोक तथा परलोकमें उनके जो सब गुण हैं, वे भी वर्णित हुए हैं ॥ १ ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं पितामह ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः ॥ २ ॥

परन्तु हे पितामह ! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंके फलको पानेमें समर्थ नहीं होते, क्योंकि यज्ञोंमें बहुतसे उपकरण तथा यज्ञकी अनेक प्रकारकी सामग्री लानी होती है ॥ २ ॥

पार्थिवै राजपुत्रैर्वा शक्याः प्राप्तुं पितामह ।
नार्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः ॥ ३ ॥

हे पितामह ! उन यज्ञोंका फल राजा अथवा राजपुत्र ही पा सकते हैं। धनरहित, गुणहीन, अकेले और सहायता वर्जित मनुष्योंके द्वारा उस प्रकारके यज्ञ नहीं हो सकते ॥ ३ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं सदा भवेत् ।
तुल्यो यज्ञफलैरेतैस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

हे पितामह ! इसलिये जो विधि सदा दरिद्रोंके करने योग्य और इन सब यज्ञफलोंके तुल्य हो, उसे ही मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

इदमङ्गिरसा प्रोक्तमुपवासफलात्मकम् ।
विधिं यज्ञफलैस्तुल्यं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! अङ्गिराने जो उपवासकी विधि कही है वह यज्ञफलोंके सदृश ही है; इसलिये तुम उसे सुनो ॥ ५ ॥

यस्तु कल्यं तथा सायं भुञ्जानो नान्तरा पिबेत् ।
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ६ ॥

जो अहिंसामें रत होके प्रति दिन अग्निमें होम करते हुए, भोर और सन्ध्याके समय भोजन करके उक्त दोनों समयके बीच जल भी नहीं पीता ॥ ६ ॥

षड्भिरेव तु वर्षैः स सिध्यते नात्र संशयः ।
तप्तकाञ्चनवर्णं च विमानं लभते नरः ॥ ७ ॥

वह छः वर्षोंके बीच निःसन्देह सिद्ध होता है; वह मनुष्य तपाये हुए सुवर्णसदृश कान्ति-वाला विमान पाता है ॥ ७ ॥

देवस्त्रीणामधीवासे नृत्यगीतनिनादिते ।
प्राजापत्ये वसेत्पद्मं वर्षाणामग्निसंनिभे ॥ ८ ॥

और देवस्त्रियोंके नृत्यगीत तथा बाजे युक्त अग्निके तुल्य तेजस्वी प्रजापतिके लोकमें एक पद्म वर्षोंतक निवास करता है ॥ ८ ॥

त्रीणि वर्षाणि यः प्राशेत्सततं त्वेकभोजनम् ।
धर्मपत्नीरतो नित्यमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ९ ॥

जो सदा अपनीही धर्मपत्नीमें रत रहके तीन वर्षोंतक क्रमसे दिनमें एक बार भोजन करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ ९ ॥

द्वितीये दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ।
यज्ञं बहुसुवर्णं वा वासवप्रियमाहरेत् ॥ १० ॥

और जो मनुष्य अग्निमें होम करता हुआ एक वर्षतक प्रति दूसरे दिन एक बार भोजन करता है, बहुतसी सुवर्णकी दक्षिणासे युक्त इन्द्रके प्रिय यज्ञका फल पाता है ॥ १० ॥

सत्यवाग्दानशीलश्च ब्रह्मण्यश्चानसूयकः ।
क्षान्तो दान्तो जितक्रोधः स गच्छति परां गतिम् ॥ ११ ॥

वह सत्यवादी, दानशील, ब्रह्मनिष्ठ, अनसूयक, क्षमाशील जितेंद्रिय और जितक्रोध होके परम गति प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशे विमाने हंसलक्षणे ।
द्वे समाप्ते ततः पद्मे सोऽप्सरोभिर्वसेत्सह ॥ १२ ॥

व्रत पूरा होनेपर सफेद मेघोंके समान चमकीले और हंसचिन्हयुक्त विमानमें दो पद्म वर्षों-तक अप्सराओंके सङ्ग निवास करता है ॥ १२ ॥

तृतीये दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १३ ॥

जो सदा अग्निमें होम करते हुए एक वर्षतक तीसरे दिन केवल एक बार भोजन करता है ॥ १३ ॥

अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ॥ १४ ॥

वह अतिरात्र यज्ञका उत्तम फल पाता है; उस मनुष्यको मयूरहंसयुक्त विमान मिलता है ॥ १४ ॥

सप्तर्षीणां सदा लोके सोऽप्सरोभिर्वसेत्सह ।
निवर्तनं च तत्रास्य त्रीणि पद्मानि वै विदुः ॥ १५ ॥

और वह सप्तर्षियोंके लोकमें सदा अप्सराओंके सङ्ग निवास किया करता है; वहां तीन पद्म वर्षोंतक वह निवास करता है, इसे पण्डित लोग जानते हैं ॥ १५ ॥

दिवसे यश्चतुर्थे तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १६ ॥

जो एक वर्षतक अग्निमें होम करता हुआ चौथे दिन एक बार भोजन करता है ॥ १६ ॥

वाजपेयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
इन्द्रकन्याभिरूढं च विमानं लभते नरः ॥ १७ ॥

उसे वाजपेय यज्ञका उत्तम फल मिलता है, और उसे इन्द्रकन्याओंसे अधिरूढ विमान मिलता है ॥ १७ ॥

सागरस्य च पर्यन्ते वासवं लोकमावसेत् ।
देवराजस्य च क्रीडां नित्यकालमवेक्षते ॥ १८ ॥

वह समुद्रके पार इन्द्रलोकमें निवास किया करता है; और सदा देवराजकी क्रीडाओंको अवलोकन करता है ॥ १८ ॥

दिवसे पञ्चमे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १९ ॥

जो एक वर्षतक अग्निमें आहुति देता हुआ पांचवे दिन एक बार भोजन करता है ॥ १९ ॥

अलुब्धः सत्यवादी च ब्रह्मण्यश्चाविहिंसकः ।
अनसूयुरपापस्थो द्वादशाहफलं लभेत् ॥ २० ॥

और लोभरहित, सत्यवादी, ब्रह्मनिष्ठ, हिंसारहित, असूयाशून्य और निष्पाप होता है, वह द्वादशाह यज्ञका फल पाता है ॥ २० ॥

जाम्बूनदमयं दिव्यं विमानं हंसलक्षणम् ।
सूर्यमालासमाभासमारोहेत्पाण्डुरं गृहम् ॥ २१ ॥

स्वर्णमय हंस–चिन्हवाले सूर्य किरण सदृश प्रभासे युक्त पाण्डुरवर्ण सदृश विमान पर आरूढ होता है ॥ २१ ॥

आवर्तनानि चत्वारि तथा पद्मानि द्वादश ।
शराग्निपरिमाणं च तत्रासौ वसते सुखम् ॥ २२ ॥

और इक्यावन पद्म वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुखसे वास करता है ॥ २२ ॥

दिवसे यस्तु षष्ठे वै मुनिः प्राशेत भोजनम् ।
सदा द्वादशमासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ २३ ॥

जो बारह महीनेतक अग्निमें आहुति देते हुए सदा मननशील होके प्रति छठें दिन भोजन करता है ॥ २३ ॥

सदा त्रिषवणस्नायी ब्रह्मचार्यनसूयकः ।
गवामयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ २४ ॥
और सदा त्रिकाल स्नान करनेवाला ब्रह्मचारी और असूयारहित हुआ करता है, वह गवामय यज्ञका उत्तम फल पाता है ॥ २४ ॥

अग्निज्वालासमाभासं हंसबर्हिणसेवितम् ।
शातकुम्भमयं युक्तं साधयेद्यानमुत्तमम् ॥ २५ ॥
अग्निज्वालाके सदृश प्रभायुक्त, हंस और मयुरोंसे युक्त, सुवर्णमय उत्तम विमान वह पाता है ॥ २५ ॥

तथैवाप्सरसामङ्के प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
नूपुराणां निनादेन मेखलानां च निस्वनैः ॥ २६ ॥
और अप्सराओंकी गोदीमें सोके नूपुर और मेखलाकी मधुर ध्वनिसे जाग्रत होता है ॥२६॥

कोटीसहस्रं वर्षाणां त्रीणि कोटिशतानि च ।
पद्मान्यष्टादश तथा पताके द्वे तथैव च ॥ २७ ॥
वह दो पताका (महापद्म), अठारह पद्म, एक हजार तीन सौ करोड ॥ २७ ॥

अयुतानि च पञ्चाशदृक्षचर्मशतस्य च ।
लोम्नां प्रमाणेन समं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २८ ॥
और पचास अयुत वर्षोंतक और सौ रीछोंके चमडोंमें जितने रोएं रहते हैं, उतने वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें सम्मानसे निवास करता है ॥ २८ ॥

दिवसे सप्तमे यस्तु प्राश्नयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ २९ ॥
जो एक वर्षतक अग्निमें आहुति देते हुए सातवें दिन एक बार भोजन करता ॥ २९ ॥

सरस्वतीं गोपयानो ब्रह्मचर्यं समाचरन् ।
सुमनोवर्णकं चैव मधुमांसं च वर्जयेत् ॥ ३० ॥
और वाणीको संयममें रखकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है, तथा फूलोंकी माला, चन्दन, मधु और मांसका परित्याग करता है ॥ ३० ॥

पुरुषो मरुतां लोकमिन्द्रलोकं च गच्छति ।
तत्र तत्र च सिद्धार्थो देवकन्याभिरुह्यते ॥ ३१ ॥
वह पुरुष मरुद्गणोंके तथा इन्द्रके लोकमें जाता है और उन स्थानोंमें पुरुष सिद्धार्थ होके देवकन्याओंसे पूजित होता है ॥ ३१ ॥

फलं बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते नरः ।
संख्यामतिगुणां चापि तेषु लोकेषु मोदते ॥ ३२ ॥

वही मनुष्य बहुतसे सुवर्णकी दक्षिणा दी जानेवाल यज्ञका फल पाता है और वहां असंख्य वर्षोंतक आनन्दपूर्वक निवास किया करता है ॥ ३२ ॥

यस्तु संवत्सरं क्षान्तो भुङ्क्तेऽहन्यष्टमे नरः ।
देवकार्यपरो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ३३ ॥

जो देवकार्यमें रत होकर अग्निमें एक वर्षतक आहुति देता हुआ क्षमाशील होके प्रति आठवें दिन एक बार भोजन करता है ॥ ३३ ॥

पौण्डरीकस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
पद्मवर्णनिभं चैव विमानमधिरोहति ॥ ३४ ॥

वह पौण्डरीक यज्ञका फल पाता है और वह कमलके समान वर्णवाले विमानपर चढता है ॥ ३४ ॥

कृष्णाः कनकगौर्यश्च नार्यः श्यामास्तथापराः ।
वयोरूपविलासिन्यो लभते नात्र संशयः ॥ ३५ ॥

तथा उसे निःसन्देह कृष्णवर्ण, कनक सदृश गौर वर्णवाली, श्यामाङ्गी, युवा सुंदरी स्त्रियां प्राप्त होती हैं ॥ ३५ ॥

यस्तु संवत्सरं भुङ्क्ते नवमे नवमेऽहनि ।
सदा द्वादशमासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ३६ ॥

जो एक वर्षतक प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता हुआ नौ-नौ दिन पर एक बार भोजन करता है ॥ ३६ ॥

अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः
पुण्डरीकप्रकाशं च विमानं लभते नरः ॥ ३७ ॥

वह मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है, और उसे पुण्डरीक सदृश प्रकाशमान विमान मिलता है ॥ ३७ ॥

दीप्तसूर्याग्नितेजोभिर्दिव्यमालाभिरेव च ।
नियते रुद्रकन्याभिः सोऽन्तरिक्षं सनातनम् ॥ ३८ ॥

प्रदीप्त सूर्य और अग्निसदृश तेजस्विनी दिव्य माला धारिणी रुद्रकन्याएं उसे सनातन अन्तरिक्षलोकमें ले जाती हैं ॥ ३८ ॥

अष्टादशसहस्राणि वर्षाणां कल्पमेव च ।
कोटीशतसहस्रं च तेषु लोकेषु मोदते ॥ ३९ ॥

और वह मनुष्य अठारह हजार वर्ष और सौ हजार करोड कल्प तक रुद्रलोकोंमें प्रमुदित होता है ॥ ३९ ॥

यस्तु संवत्सरं भुङ्क्ते दशाहे वै गते गते ।
सदा द्वादशमासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ४० ॥
जो एक वर्षतक अग्निमें होम करता हुआ दस दिन बीतनेपर एक बार भोजन करता है ॥ ४० ॥

ब्रह्मकन्यानिवेशे च सर्वभूतमनोहरे ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४१ ॥
वह सर्वभूत मनोहर ब्रह्मकन्यागणोंके निवास स्थानमें जाकर निःसन्देह एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका उत्तम फल पाता है ॥ ४१ ॥

रूपवत्यश्च तं कन्या रमयन्ति सदा नरम् ।
नीलोत्पलनिभैर्वर्णै रक्तोत्पलनिभैस्तथा ॥ ४२ ॥
नीले और लाल कमलके समान अनेक वर्णवाली रूपवती स्त्रियां उस मनुष्यको प्रतिदिन प्रमुदित करती हैं ॥ ४२ ॥

विमानं मण्डलावर्तमावर्तगहनावृतम् ।
सागरोर्मिप्रतीकाशं साधयेद्यानमुत्तमम् ॥ ४३ ॥
वह मण्डलाकार घूमनेवाला, भंवरके समान चक्कर लगानेवाला, सागरकी लहरोंके समान ऊपर नीचे होनेवाला श्रेष्ठ विमान प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥

विचित्रमणिमालाभिर्नादितं शङ्खपुष्करैः ।
स्फाटिकैर्वज्रसारैश्च स्तम्भैः सुकृतवेदिकम् ।
आरोहति महद्यानं हंससारसवाहनम् ॥ ४४ ॥
विचित्र मणिमालाओंसे विराजित, शंख तथा कमलोंसे युक्त, स्फटिक और हीरोंसे बने हुए स्तम्भ युक्त, और सुंदर रीतिसे बनी हुई वेदोंसे शोभित, हंस–सारसोंके शब्दसे परिपूरित महायानमें चढता है तथा घूमता है ॥ ४४ ॥

एकादशे तु दिवसे यः प्राप्ते प्राशते हविः ।
सदा द्वादशमासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ४५ ॥
जो बारह महीनोंतक अग्निमें आहुति देता हुआ प्रति ग्यारहवें दिन हविष्यान्न भोजन करता है ॥ ४५ ॥

परस्त्रियो नाभिलषेद्वाचाथ मनसापि वा ।
अनृतं च न भाषेत मातापित्रोः कृतेऽपि वा ॥ ४६ ॥
पराई स्त्रीके विषयमें मन और वाणीसे भी अभिलाष नहीं करता है, माता–पिताके लिये भी कदापि झूट नहीं बोलता है ॥ ४६ ॥

अभिगच्छेन्महादेवं विमानस्थं महाबलम् ।
स्वयंभुवं च पश्येत विमानं समुपस्थितम् ॥ ४७ ॥

वह विमानमें स्थित महाबली महादेवके समीप जाता और स्वयम्भू ब्रह्माजीका भेजा हुआ विमान सम्मुख पहुँचा हुआ देखता है ॥ ४७ ॥

कुमार्यः काञ्चनाभासा रूपवत्यो नयन्ति तम् ।
रुद्राणां तमधीवासं दिवि दिव्यं मनोहरम् ॥ ४८ ॥

सुवर्ण आभायुक्त रूपवती कुमारी कन्याएं सुरलोकमें प्रकाशमान मनोहर रुद्रगणोंके स्थानमें उसे ले जाती हैं ॥ ४८ ॥

वर्षाण्यपरिमेयानि युगान्तमपि चावसेत् ।
कोटीशतसहस्रं च दश कोटिशतानि च ॥ ४९ ॥

वह प्रलयकालतक अनन्त समय तक एक लाख एक हजार करोड वर्षोंतक निवास करता है ॥ ४९ ॥

रुद्रं नित्यं प्रणमते देवदानवसंमतम् ।
स तस्मै दर्शनं प्राप्तो दिवसे दिवसे भवेत् ॥ ५० ॥

वहां देव–दानवोंसे सम्मानित भगवान् महादेवको सदा प्रणाम करता है; महादेव उसे प्रतिदिन दर्शन देते हैं ॥ ५० ॥

दिवसे द्वादशे यस्तु प्राप्ते वै प्राशते हविः ।
सदा द्वादशमासान्वै सर्वमेधफलं लभेत् ॥ ५१ ॥

जो एक वर्षतक क्रमसे बारहवें दिन हविष्यान्न ग्रहण करता है, वह सर्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ५१ ॥

आदित्यैर्द्वादशैस्तस्य विमानं संविधीयते ।
मणिमुक्ताप्रवालैश्च महार्हैरुपशोभितम् ॥ ५२ ॥

बारह आदित्योंके समान तेजस्वी विमान उसको दिया जाता है, वह विमान बहुत मूल्यवान् मणि, मोती, प्रवाल मणियोंसे शोभित होता है ॥ ५२ ॥

हंसमालापरिक्षिप्तं नागवीथीसमाकुलम् ।
मयूरैश्चक्रवाकैश्च कूजद्भिरुपशोभितम् ॥ ५३ ॥

हंसपातसे घिरा हुआ और नागश्रेणीसे परिपूर्ण वह विमान कूंजनेवाले मयूर और चक्रवाक पक्षियोंके व्यूहसे शोभायमान, ॥ ५३ ॥

अट्टैर्महद्भिः संयुक्तं ब्रह्मलोके प्रतिष्ठितम् ।
नित्यमावसते राजन्नरनारीसमाकुलम् ।
ऋषिरेवं महाभागस्त्वङ्गिराः प्राह धर्मवित् ॥ ५४ ॥

उत्तम महत् अटारियोंसे युक्त, ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित है; वह नरनारियोंसे नित्य परिपूरित होता है । महाभाग धर्मवित् अंगिरा ऋषिने यह कहा था ॥ ५४ ॥

त्रयोदशे तु दिवसे यः प्राप्ते प्राशते हविः ।
सदा द्वादश मासान्वै देवसत्रफलं लभेत् ॥ ५५ ॥

जो एक वर्षतक सदा तेरहवें दिन हविष्यान्न भोजन करता है, उसे देवसत्रका फल प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

रक्तपद्मोदयं नाम विमानं साधयेन्नरः ।
जातरूपप्रयुक्तं च रत्नसंचयभूषितम् ॥ ५६ ॥

वह मनुष्य सुवर्णसे जटित रत्नोंसे भूषित रक्त पद्मोदय नाम विमान पाता है ॥ ५६ ॥

देवकन्याभिराकीर्णं दिव्याभरणभूषितम् ।
पुण्यगन्धोदयं दिव्यं वायव्यैरुपशोभितम् ॥ ५७ ॥

देवकन्याओंसे परिपूरित, दिव्य आभूषणोंसे भूषित और पवित्र सुगन्धियुक्त वायव्य अस्त्रसे शोभित वह विमान होता है ॥ ५७ ॥

तत्र शङ्कुपताकं च युगान्तं कल्पमेव च ।
अयुतायुतं तथा पद्मं समुद्रं च तथा वसेत् ॥ ५८ ॥

वह वहांपर शंकु पताका युगान्त कल्पअयुतायुक्त पद्म और समुद्र परिमित समयतक निवास करता है ॥ ५८ ॥

गीतगन्धर्वघोषैश्च भेरीपणवनिस्वनैः ।
सदा प्रमुदितस्ताभिर्देवकन्याभिरिड्यते ॥ ५९ ॥

वह देवकन्याओंके गीत और वाद्योंके घोष तथा भेरी- पणव आदिकी ध्वनिसे प्रसन्न होके उनसे पूजित होता है ॥ ५९ ॥

चतुर्दशे तु दिवसे यः पूर्णे प्राशते हविः ।
सदा द्वादश मासान्वै महामेधफलं लभेत् ॥ ६० ॥

बारह महीनेतक जो प्रति चौदहवें दिन हविष्यन्न भोजन करता है, वह महामेघ यज्ञका फल पाता है ॥ ७० ॥

अनिर्देश्यवयोरूपा देवकन्याः स्वलंकृताः ।
मृष्टतप्ताङ्गदधरा विमानैरनुयान्ति तम् ॥ ६१ ॥

अवर्णनीय अवस्था, रूपसम्पन्न, भली भांति अलंकृत, विशुद्ध तपे हुए सुवर्णभूषित पहरनेवाली देवकन्याएं श्रेष्ठ विमानके सहारे उसके निकट सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ ६१ ॥

कलहंसविनिर्घोषैर्नूपुराणां च निस्वनैः ।
काञ्चीनां च समुत्कर्षैस्तत्र तत्र विबोध्यते ॥ ६२ ॥

वह वहांपर कलहंसोंके कलरवों, नूपुरोंकी झनकारों और काञ्चीकी ध्वनियोंसे सावधान हुआ करता है ॥ ६२ ॥

देवकन्यानिवासे च तस्मिन्वसति मानवः ।
जाह्नवीवालुकाकीर्णे पूर्णं संवत्सरं नरः ॥ ६३ ॥

वह मनुष्य गंगाके वालुकणपरिमाणके अनुसार पूर्ण वर्षोंतक देवकन्याओंके उस स्थानमें निवास करता है ॥ ६३ ॥

यस्तु पक्षे गते भुङ्क्ते एकभक्तं जितेन्द्रियः ।
सदा द्वादश मासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ।
राजसूयसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ६४ ॥

जो बारह महीनोंतक अग्निमें आहुति देता हुआ प्रति पन्द्रह दिनके अनन्तर एक बार भोजन करता है, वह सहस्र राजसूय यज्ञका उत्तम फल पाता है ॥ ६४ ॥

यानमारोहते नित्यं हंसबर्हिणसेवितम् ।
मणिमण्डलकैश्चित्रं जातरूपसमावृतम् ॥ ६५ ॥
दिव्याभरणशोभाभिर्वरस्त्रीभिरलंकृतम् ।
एकस्तम्भं चतुर्द्वारं सप्तभौमं सुमङ्गलम् ।
वैजयन्तीसहस्रैश्च शोभितं गीतनिस्वनैः ॥ ६६ ॥

वह सदा हंस–मयूरसेवित, विविध मणिमण्डल मण्डित सुवर्णसे परिपूरित विमानपर आरूढ होता है। दिव्य वस्त्र आभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी स्त्रियां उस विमानको शोभित करती हैं; उस विमानमें एक स्तंभ और चार द्वार होते हैं; सात तल्लोंसे सम्पन्न, उत्तम मङ्गलमय सहस्रों वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित, गीतशब्दसे निनादित वह विमान होता है ॥ ६५–६६ ॥

दिव्यं दिव्यगुणोपेतं विमानमधिरोहति ।
मणिमुक्ताप्रवालैश्च भूषितं वैद्युतप्रभम् ।
वसेद्युगसहस्रं च खड्गकुञ्जरवाहनः ॥ ६७ ॥

मणि मोति, मोती और प्रवालसे भूषित, दिव्य गुणोंसे युक्त बिजलीकी प्रभासदृश विमानमें चढता है; उसमें गेंडे और हाथी जुते जाते हैं; उस दिव्य यानमें सहस्र युगोंतक वास किया करता है ॥ ६७ ॥

×

षोडशे दिवसे यस्तु संप्राप्ते प्राश्नते हविः ।
सदा द्वादश मासान्वै सोमयज्ञफलं लभेत् ॥ ६८ ॥

जो एक वर्षतक अग्नि सोलहवें दिन एकवार हविष्यान्न भोजन करता है, उसे सोमयज्ञका फल मिलता है ॥ ६८ ॥

सोमकन्यानिवासेषु सोऽध्यावसति नित्यदा ।
सोम्यगन्धानुलिप्तश्च कामचारगतिर्भवेत् ॥ ६९ ॥

वह सोमकन्याओंके निवास स्थानमें सदा निवास किया करता है; वह सौम्य गन्धसे अनुलिप्त और कामचारी गतिसे युक्त होता है ॥ ६९ ॥

सुदर्शनाभिर्नारीभिर्मधुराभिस्तथैव च ।
अर्च्यते वै विमानस्थः कामभोगैश्च सेव्यते ॥ ७० ॥

जब वह विमान पर चढता है, तब उत्तम दर्शनीय मीठे वचनवाली स्त्रियां उसकी पूजा करती है, और उसे बहुतसे कामभोगका सेवन कराती हैं ॥ ७० ॥

फलं पद्मशतप्रख्यं महाकल्पं दशाधिकम् ।
आवर्तनानि चत्वारि सागरे वासयत्सौ नरः ॥ ७१ ॥

वह व्रतपरायण मनुष्य सौ पद्म परिमित दस महाकल्प और चारों आवर्त्तन परिमित समयतक सागरमें पुण्यका फल भोग करता है ॥ ७१ ॥

दिवसे सप्तदशमे यः प्राप्ते प्राश्नते हविः ।
सदा द्वादश मासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ७२ ॥

जो एक वर्षतक अग्निमें आहुति देता हुआ सोलह दिन उपवास करके सत्रहवां दिन उपस्थित होनेपर हविष्यान्न भोजन करता है ॥ ७२ ॥

स्थानं वारुणमैन्द्रं च रौद्रं चैवाधिगच्छति ।
मारुतौशनसे चैव ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ७३ ॥

वह वरुण, इन्द्र और रुद्र, मरुत, औशनस अर्थात् शुक्राचार्य तथा ब्रह्माके लोकमें गमन करता है ॥ ७३ ॥

तत्र दैवतकन्याभिरासनेनोपचर्यते ।
भूर्भुवं चापि देवर्षिं विश्वरूपमवेक्षते ॥ ७४ ॥

वहांपर देवकन्याएं आसन देके उसकी पूजा करती हैं; वहां भूलोक, भुवर्लोक और विश्वरूपधारी देवर्षिका वह दर्शन करता है ॥ ७४ ॥

तत्र देवाधिदेवस्य कुमार्यो रमयन्ति तम् ।
द्वात्रिंशद्रूपधारिण्यो मधुराः समलंकृताः ॥ ७५ ॥

वहांपर बत्तीस रूपधारिणी, दर्शनीय, मृदु भली भांति अलंकृत देवाधिदेवकी कुमारियां उसका मनोरंजन करती हैं ॥ ७५ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ यावद्गगने चरतः प्रभो ।
तावच्चरत्यसौ वीरः सुधामृतरसाशनः ॥ ७६ ॥

हे प्रभु ! जबतक आदित्य और चन्द्रमा आकाशमण्डलमें विचरते हैं, तबतक वह धीर पुरुष सुधा तथा देव भोज्य अमृतरसका भोजन करता हुआ वहां निवास किया करता है ॥७६॥

अष्टादशे तु दिवसे प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासान्वै सप्त लोकान्स पश्यति ॥ ७७ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रति अठारहवें दिनमें एकबार भोजन करता है, वह सातों लोकोंका दर्शन किया करता है ॥ ७७ ॥

रथैः सनन्दिघोषैश्च पृष्ठतः सोऽनुगम्यते ।
देवकन्याधिरूढैस्तु भ्राजमानैः स्वलंकृतैः ॥ ७८ ॥

देवकन्याविरूढ, तेजस्वी, उत्तम रीतिसे अलंकृत आनन्दपूर्वक जयघोष करते हुए अनेक रथ उसके पीछे चलते हैं ॥ ७८ ॥

व्याघ्रसिंहप्रयुक्तं च मेघस्वननिनादितम् ।
विमानमुत्तमं दिव्यं सुसुखी ह्यधिरोहति ॥ ७९ ॥

वह अत्यन्त सुखी होके सिंहव्याघ्रयुक्त बादलसदृश शब्दसे परिपूरित उत्तम दिव्य विमानपर चढता है ॥ ७९ ॥

तत्र कल्पसहस्रं स कन्याभिः सह मोदते ।
सुधारसं च भुञ्जीत अमृतोपममुत्तमम् ॥ ८० ॥

वहांपर वह सहस्र कल्पोंतक देव कन्यागणोंके सङ्ग प्रमुदित हुआ करता है और अमृतसदृश उत्तम सुधा रसका पान करता है ॥ ८० ॥

एकोनविंशे दिवसे यो भुङ्क्ते एकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासान्वै सप्त लोकान्स पश्यति ॥ ८१ ॥

जो सदा बारह महीनोंतक उन्नीसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह सप्तलोकोंको देखनेमें समर्थ होता है ॥ ८१ ॥

उत्तमं लभते स्थानमप्सरोगणसेवितम् ।
गन्धर्वैरुपगीतं च विमानं सूर्यवर्चसम् ॥ ८२ ॥

और अप्सराओंसे सेवित उत्तम स्थान पाता है, उसे गन्धर्वोंके गीतोंसे गूंजता हुआ सूर्यवर्चस विमान मिलता है ॥ ८२ ॥

तत्रामरवरस्त्रीभिर्मोदते विगतज्वरः ।
दिव्याम्बरधरः श्रीमानयुतानां शतं समाः ॥ ८३ ॥

वहाँपर वह शोक-रोग रहित, दिव्य वस्त्रधारी तथा श्रीमान् होकर सौ अयुत परिमित समय-तक देवताओंकी स्त्रियोंके सहित प्रमुदित हुआ करता है ॥ ८३ ॥

पूर्णेऽथ दिवसे विंशे यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासांस्तु सत्यवादी धृतव्रतः ॥ ८४ ॥

जो बारह महीनेतक सत्यवादी, धृतव्रती होकर बीसवाँ दिन पूरा होनेपर एक बार भोजन करता है ॥ ८४ ॥

अमांसाशी ब्रह्मचारी सर्वभूतहिते रतः ।
स लोकान्विपुलान्दिव्यानादित्यानामुपाश्नुते ॥ ८५ ॥

तथा मांस नहीं खाता, ब्रह्मचर्यका पालन करता तथा सब जीवोंके हितमें रत रहता, वह आदित्यगणोंके विपुल रमणीय लोकमें सुख भोग किया करता है ॥ ८५ ॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च दिव्यमाल्यानुलेपनैः ।
विमानैः काञ्चनैर्दिव्यैः पृष्ठतश्चानुगम्यते ॥ ८६ ॥

दिव्य माला और अनुलेपन धारी गन्धर्व और अप्सरावृन्दोंसे सेवित सोनेके दिव्य विमान उसके पीछे पीछे चलते हैं ॥ ८६ ॥

एकविंशे तु दिवसे यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम्
सदा द्वादश मासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ८७ ॥

जो एक वर्षतक सदा अग्निमें आहुति देता हुआ इक्कीसवें दिनपर एकबार भोजन करता है ॥ ८७ ॥

लोकमौशनसं दिव्यं शक्रलोकं च गच्छति ।
अश्विनोर्मरुतां चैव सुखेष्वभिरतः सदा ॥ ८८ ॥

वह शुक्रलोक और इन्द्रके दिव्य लोकको पाता है तथा उसे अश्विनी कुमारों और मरुद्गणोंके लोकोंकी प्राप्ति होकर वह सदा सुख भोगता है ॥ ८८ ॥

अनभिज्ञश्च दुःखानां विमानवरमास्थितः ।
सेव्यमानो वरस्त्रीभिः क्रीडत्यमरवत्प्रभुः ॥ ८९ ॥

तथा वह दुःख नहीं जानता है श्रेष्ठ विमानमें बैठके सुखसे सुंदरी स्त्रियोंसे सेवित होकर देवताके समान क्रीडा करता है ॥ ८९ ॥

द्वाविंशे दिवसे प्राप्ते यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ९० ॥

जो एक वर्षतक सदा अग्निमें आहुति देता हुआ बाईसवाँ दिन प्राप्त होनेपर एक बार भोजन करता है ॥ ९० ॥

धृतिमानहिंसानिरतः सत्यवागनसूयकः ।
लोकान्वसूनामाप्नोति दिवाकरसमप्रभः ॥ ९१ ॥

और स्थिरचित्त, अहिंसामें रत, सत्यवादी तथा अनसूयक हुआ करता है, वह सूर्यके सदृश प्रभायुक्त होके वसुलोकोंको पाता है ॥ ९१ ॥

कामचारी सुधाहारो विमानवरमास्थितः ।
रमते देवकन्याभिर्दिव्याभरणभूषितः ॥ ९२ ॥

वह कामचारी, अमृत पीकर रहता है और श्रेष्ठ विमानमें चढकर दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होकर देवकन्याओंके सङ्ग क्रीडा करता है ॥ ९२ ॥

त्रयोविंशे तु दिवसे प्राशेद्यस्त्वेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासांस्तु मिताहारो जितेन्द्रियः ॥ ९३ ॥

जो मिताहारी और जितेन्द्रिय पुरुष बारह महीनोंतक सदा तेईसवें दिन एक बार भोजन करता है ॥ ९३ ॥

वायोरुशनसश्चैव रुद्रलोकं च गच्छति ।
कामचारी कामगमः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ॥ ९४ ॥

वह वायुलोक भार्गवलोक और रुद्रलोकमें गमन किया करता है, वह कामचारी और काम-गामी होकर अप्सराओंसे पूजित होता है ॥ ९४ ॥

अनेकगुणपर्यन्तं विमानवरमास्थितः ।
रमते देवकन्याभिर्दिव्याभरणभूषितः ॥ ९५ ॥

उन लोकोंमें वह आभूषणोंसे विभूषित हो विविध श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त विमानपर चढके देव-कन्याओंके सहित क्रीडा करता है ॥ ९५ ॥

चतुर्विंशे तु दिवसे यः प्राशेदेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासान्वै जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ९६ ॥

जो पुरुष बारह महीनोंतक अग्निमें आहुति देता हुआ चौबीसवां दिन उपस्थित होनेपर एक बार भोजन करता है ॥ ९६ ॥

आदित्यानामधीवासे मोदमानो वसेच्चिरम् ।
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥ ९७ ॥

वह दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके तथा दिव्यगन्धोंसे युक्त होकर आदित्य-गणोंके निवास स्थानमें प्रमुदित होके सदा वास करता है ॥ ९७ ॥

विमाने काञ्चने दिव्ये हंसयुक्ते मनोरमे ।
रमते देवकन्यानां सहस्रैरयुतैस्तथा ॥ ९८ ॥

हंसयुक्त, मनोहर, दिव्य सुवर्णके विमानमें वह सहस्रों और अयुतों देवकन्याओंके सहित क्रीडा करता है ॥ ९८ ॥

पञ्चविंशे तु दिवसे यः प्राश्नात्येकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासांस्तु पुष्कलं यानमारुहेत् ॥ ९९ ॥

जो बारह महीनोंतक सदा पचीसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह पुष्पक विमानमें चढ़ता है ॥ ९९ ॥

सिंहव्याघ्रप्रयुक्तैश्च मेघस्वननिनादितैः ।
रथैः सनन्दिघोषैश्च पृष्ठतः सोऽनुगम्यते ॥ १०० ॥

और सिंहव्याघ्रयुक्त बादलसदृश गर्जनासे निनादित तथा आनन्दवर्धक ध्वनिसे युक्त अनेक रथ उसके पीछे पीछे चलते हैं ॥ १०० ॥

देवकन्यासमारूढै राजतैर्विमलैः शुभैः ।
विमानमुत्तमं दिव्यमास्थाय सुमनोहरम् ॥ १०१ ॥

उन विमल रौप्यमय, मंगलकारी रथोंपर देवकन्याएं आरूढ होती हैं । वह अत्यन्त मनोहर उत्तम दिव्य विमानमें आरूढ होता है ॥ १०१ ॥

तत्र कल्पसहस्रं वै वसते स्त्रीशतावृते ।
सुधारसं चोपजीवन्नमृतोपममुत्तमम् ॥ १०२ ॥

और सैकडों स्त्रियोंसे परिपूरित स्थानमें अमृतसदृश सुधारस पीता हुआ सहस्र कल्पतक निवास करता है ॥ १०२ ॥

षड्विंशे दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासांस्तु नियतो नियताशनः ॥ १०३ ॥

जो एक वर्षतक मन-इन्द्रियोंको संयममें रखकर मिताहारी हो छब्बीसवें दिन एक बार भोजन करता है ॥ १०३ ॥

जितेन्द्रियो वीतरागो जुह्वानो जातवेदसम् ।
स प्राप्नोति महाभागः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ॥ १०४ ॥

जितेन्द्रिय और वीतराग हो प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, वह महाभाग अप्सराओंसे पूजित होता है ॥ १०४ ॥

सप्तानां मरुतां लोकान्वसूनां चापि सोऽश्नुते ।
विमाने स्फाटिके दिव्ये सर्वरत्नैरलंकृते ॥ १०५ ॥

और सब रत्नोंसे अलंकृत दिव्य स्फटिक विमानके द्वारा सप्त मरुत् और अष्ट वसुके लोकोंको उपभोग करता है ॥ १०५ ॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पूज्यमानः प्रमोदते ।
द्वे युगानां सहस्रे तु दिव्ये दिव्येन तेजसा ॥ १०६ ॥

दिव्य तेजसे युक्त होकर देवपरिमाणसे दो हजार दिव्य युगतक गन्धर्व और अप्सराओंसे पूजित होकर प्रमुदित रहता है ॥ १०६ ॥

सप्तविंशे तु दिवसे यः प्राश्नोदेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १०७ ॥

जो हजार महीनोंतक अग्निमें आहुति देता हुआ प्रति सत्ताईसवें दिन सदा एकबार भोजन करता है ॥ १०७ ॥

फलं प्राप्नोति विपुलं देवलोके च पूज्यते ।
अमृताशी वसंस्तत्र स वितृप्तः प्रमोदते ॥ १०८ ॥

वह विपुल फल पाके देवलोकमें पूजित हुआ करता है; वहां अमृताशी होकर वास करता हुआ तृप्त होके प्रमुदित होता है ॥ १०८ ॥

देवर्षिचरितं राजन्राजर्षिभिरधिष्ठितम् ।
अध्यावसति दिव्यात्मा विमानवरमास्थितः ॥ १०९ ॥

हे महाराज ! वह दिव्यशरीरधारी मनुष्य श्रेष्ठ विमानमें चढके राजर्षियोंसे अधिष्ठित देवर्षियोंके चरित्रका श्रवण– मनन करता है ॥ १०९ ॥

स्त्रीभिर्मनोभिरामाभी रममाणो मदोत्कटः ।
युगकल्पसहस्राणि त्रीण्यावसति वै सुखम् ॥ ११० ॥

मनोरमा स्त्रियोंके सहित मदमत्त होके रमण करता हुआ तीन सहस्र युग परिमित कल्पतक सुखसे निवास किया करता है ॥ ११० ॥

योऽष्टाविंशे तु दिवसे प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासांस्तु जितात्मा विजितेन्द्रियः ॥ १११ ॥

जो जितचित्त और जितेन्द्रिय होके बारह महीनोंतक सदा अट्ठाइसवें दिन एकबार भोजन करता है ॥ ११२ ॥

फलं देवर्षिचरितं विपुलं समुपाश्नुते ।
भोगवांस्तेजसा भाति सहस्रांशुरिवामलः ॥ ११२ ॥

वह देवर्षिचरित विपुल फल भोग किया करता है; वह भोगवान् मनुष्य निज तेजके सहारे निर्मल सूर्यकी भांति प्रकाशित होता है ॥ ११२ ॥

सुकुमार्यश्च नार्यस्तं रममाणाः सुवर्चसः ।
पीनस्तनोरुजघना दिव्याभरणभूषिताः ॥ ११३ ॥

पीनस्तन, जांघ और जघन प्रदेशवाली, दिव्य वस्त्र आभूषणोंसे विभूषित, तेजस्विनी, रमण करनेवाली सुकुमारी स्त्रियां ॥ ११३ ॥

रमयन्ति मनः कान्ता विमाने सूर्यसंनिभे ।
सर्वकामगमे दिव्ये कल्पायुतशतं समाः ॥ ११४ ॥

सूर्यसदृश प्रकाशित और सब कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाले मनोरम दिव्य विमानमें एक लाख कल्प परिमित वर्षोंतक उसका मन प्रसन्न करती हैं ॥ ११४ ॥

एकोनत्रिंशे दिवसे यः प्राशेदेकभोजनम् ।
सदा द्वादश मासान्वै सत्यव्रतपरायणः ॥ ११५ ॥

जो सत्यपरायण होके बारह महीनोंतक सदा उन्तीसवें दिन एक बार भोजन करता है ॥ ११५ ॥

तस्य लोकाः शुभा दिव्या देवराजर्षिपूजिताः ।
विमानं चन्द्रशुभ्राभं दिव्यं समधिगच्छति ॥ ११६ ॥

उसे देवर्षि और राजर्षियोंसे पूजित दिव्य पवित्र लोक प्राप्त होते हैं; वह चन्द्रमाकी शुभ्र प्रभाके समान दिव्य विमान प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

जातरूपमयं युक्तं सर्वरत्नविभूषितम् ।
अप्सरोगणसंपूर्णं गन्धर्वैरभिनादितम् ॥ ११७ ॥

सुवर्णमय, संपूर्ण सामग्रियोंसे युक्त, सब रत्नोंसे विभूषित, अप्सराओंसे परिपूर्ण और गन्धर्वोंके मधुर गीतसे निनादित वह विमान रहता है ॥ ११७ ॥

तत्र चैनं शुभा नार्यो दिव्याभरणभूषिताः ।
मनोभिरामा मधुरा रमयन्ति मदोत्कटाः ॥ ११८ ॥

उस विमानमें दिव्याभरणभूषित, मनको प्रसन्न करनेवाली, मदविह्वल, कोमलाङ्गी, पवित्र स्त्रियां उसे आनन्दित करती हैं ॥ ११८ ॥

भोगवांस्तेजस्वी युक्तो वैश्वानरसमप्रभः ।
दिव्यो दिव्येन वपुषा भ्राजन्भ्राज इवामरः ॥ ११९ ॥

वह भोगवान् तेजस्वी, अग्निके समान दीप्तिसम्पन्न, दिव्य मूर्ति धारण करके, देवताओंकी भाँति प्रकाशमान दिव्य पुरुष ॥ ११९ ॥

वसूनां मरुतां चैव साध्यानामश्विनोस्तथा ।
रुद्राणां च तथा लोकान्ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १२० ॥

वसुगण, मरुद्गण, साध्य, अश्विदेव, रुद्रगणके लोक और ब्रह्मलोकमें गमन करता है ॥ १२० ॥

यस्तु मासे गते भुङ्क्ते एकभक्तं शमात्मकः ।
सदा द्वादश मासान्वै ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥ १२१ ॥

जो शमगुणसे युक्त पुरुष एक वर्षतक सदा एक मास बीतनेपर एक बार भोजन करता है, उसे ब्रह्मलोक मिलता है ॥ १२१ ॥

सुधारसकृताहारः श्रीमान्सर्वमनोहरः ।
तेजस्वी वपुषा लक्ष्म्या भ्राजते रश्मिवानिव ॥ १२२ ॥

वह सुधारस पीके श्रीमान् और सर्वजनमनोहर रूप धारण करता है । वह अपने तेज, श्री और शोभासे सूर्यकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ १२२ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः ।
सुखेष्वभिरतो योगी दुःखानामविजानकः ॥ १२३ ॥

वह दिव्य माला, दिव्य वस्त्र, दिव्य गन्धयुक्त, सुखमें रत, भोगी और दुःखोंके अनुभवमें अनभिज्ञ होता है ॥ १२३ ॥

स्वयंप्रभाभिर्नारीभिर्विमानस्थो महीयते ।
रुद्रदेवर्षिकन्याभिः सततं चाभिपूज्यते ॥ १२४ ॥

स्वयं प्रभायुक्त स्त्रियोंके सहित विमानमें बैठकर सम्मानित होता है और रुद्र तथा देवर्षि-कन्याओंके द्वारा सदा सब भाँति पूजित होता है ॥ १२४ ॥

नानाविधसुरूपाभिर्नानारागाभिरेव च ।
नानामधुरभाषाभिर्नानारतिभिरेव च ॥ १२५ ॥

अनेक प्रकारके सुंदर रूप, नाना प्रकारके राग, बहुतसी मधुर भाषण कला और अनेक भाँतिकी रतिचातुरीसे वे स्त्रियाँ शोभित होती हैं ॥ १२५ ॥

विमाने नगराकारे सूर्यवत्सूर्यसंनिभे ।
पृष्ठतः सोमसंकाशे उदक्चैवाभ्रसंनिभे ॥ १२६ ॥

वह विमान नगरके समान विशाल और सूर्यके सदृश सूर्यकी प्रभासे युक्त होता है । उसका पिछला भाग चन्द्रमाके समान, वाम भाग मेघके सदृश ॥ १२६ ॥

×

दक्षिणायां तु रक्ताभे अधस्तान्नीलमण्डले ।
ऊर्ध्वं चित्राभिसङ्काशो नैको वसति पूजितः ॥ १२७ ॥

दक्षिणभाग रक्तवर्ण आभायुक्त, अधःस्थान नीलमण्डलाकार, उपरकाभाग विचित्रसा प्रतीत होता है । विमानमें वह अनेक लोगोंके साथ पूजित होकर निवास करता है ॥ १२७ ॥

यावद्वर्षसहस्रं तु जम्बूद्वीपे प्रवर्षति ।
तावत्संवत्सराः प्रोक्ता ब्रह्मलोकस्य धीमतः ॥ १२८ ॥

सहस्र वर्षोंतक जम्बूद्वीपमें वर्षाकी जितनी बूंद बरसती हैं, उस बुद्धिशक्तिसे युक्त योगीका उतने वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें वास वर्णित है ॥ १२८ ॥

विप्रुषश्चैव यावन्त्यो निपतन्ति नभस्तलात् ।
वर्षासु वर्षतस्तावन्निवसत्यमरप्रभः ॥ १२९ ॥

वर्षाकालमें आकाशसे पृथ्वीपर जितनी जलकी बूंदें गिरती हैं, उतने समयतक वह देवोंके समान तेजस्वी पुरुष सुरपुरमें वास करता है ॥ १२९ ॥

मासोपवासी वर्षैस्तु दशभिः स्वर्गमुत्तमम् ।
महर्षित्वमथासाद्य सशरीरगतिर्भवेत् ॥ १३० ॥

महीनेभर उपवास करके फिर एकतीसवें दिन भोजन करनेवाला मनुष्य दस वर्षतक ऐसे ही कठोर व्रतका प्रतिपालन करता हुआ महर्षित्व पद पाके सशरीरसे ही उत्कृष्ट स्वर्गलोकमें गमन किया करता है ॥ १३० ॥

मुनिर्दान्तो जितक्रोधो जितशिश्नोदरः सदा ।
जुह्वन्नग्नींश्च नियतः सन्ध्योपासनसेविता ॥ १३१ ॥

मननशील, दान्त, क्रोधविजयी, सदा जितशिश्नोदर, तीनों अग्नियोंमें आहुति देनेवाला, सदा सन्ध्या उपासना करनेवाला जो मनुष्य ॥ १३१ ॥

बहुभिर्नियमैरेवं मासमश्नाति यो नरः ।
अभ्रावकाशशीलश्च तस्य वासो निरुच्यते ॥ १३२ ॥

इस प्रकारसे बहुतसे नियमोंके पालन पूर्वक महीनेके शेषमें एक बार भोजन करता है, वह आकाशके समान निर्मल और शीलसम्पन्न होकर वहां वास करता है, ऐसा कहा है ॥ १३२ ॥

दिवं गत्वा शरीरेण स्वेन राजन्यथामरः ।
स्वर्गं पुण्यं यथाकाममुपभुङ्क्ते यथाविधि ॥ १३३ ॥

राजन् ! ऐसे गुणयुक्त पुरुष सशरीर देवताओंकी भांति सुरपुरमें जाके इच्छानुसार पवित्र स्वर्गसुखका उपभोग करता है ॥ १३३ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ यज्ञानां विधिरुत्तमः ।
व्याख्यातो ह्यानुपूर्व्येण उपवासफलात्मकः ॥ १३४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यह तुम्हारे समीप उपवासफलात्मक श्रेष्ठ यज्ञकी विधि विस्तारपूर्वक कही गई ॥ १३४ ॥

दरिद्रैर्मनुजैः पार्थ प्राप्यं यज्ञफलं यथा ।
उपवासमिमं कृत्वा गच्छेच्च परमां गतिम् ।
देवद्विजातिपूजायां रता भरतसत्तम ॥ १३५ ॥

हे पार्थ ! दरिद्र मनुष्य इन्हीं उपवासोंको करके यज्ञका फल पाते हैं तथा हे भरतसत्तम ! देव और द्विजोंकी पूजामें रत हो, जो इन उपवासोंका पालन करता है, वह परम गतिको प्राप्त करता है ॥ १३५ ॥

उपवासविधिस्त्वेष विस्तरेण प्रकीर्तितः ।
नियतेष्वप्रमत्तेषु शौचवत्सु महात्मसु ॥ १३६ ॥

इसीलिये तुम्हारे समीप यह उपवासकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णित हुई । हे भारत ! सदा नियमोंमें रत, अप्रमत्त, पवित्रतायुक्त, महानुभाव, ॥ १३६ ॥

दम्भद्रोहनिवृत्तेषु कृतबुद्धिषु भारत ।
अचलेष्वप्रकम्पेषु मा ते भूदत्र संशयः ॥ १३७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥ ४८२३ ॥

दम्भद्रोहसे रहित, शुद्धबुद्धि, अचल, सावधान महानुभावोंके लिये यह विधि कही गयी है, इस विषयमें तुम्हें सन्देह नहीं करना है ॥ १३७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ दसवां अध्याय समाप्त ॥ ११० ॥ ४८२३ ॥

: १११ :

युधिष्ठिर उवाच—

यद्वरं सर्वतीर्थानां तद्ब्रवीहि पितामह ।
यत्र वै परमं शौचं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! सब तीर्थोंके बीच जो श्रेष्ठ है और जहां जानेसे अत्यंत पवित्रता होती है, उसे आप मेरे निकट वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

सर्वाणि खलु तीर्थानि गुणवन्ति मनीषिणम् ।
यत्तु तीर्थं च शौचं च तन्मे श‍ृणु समाहितः ॥ २ ॥

भीष्म बोले— सब तीर्थ मनीषियोंके लिये गुणकारी— फलदायक होते हैं; उनके बीच जो पवित्र तीर्थ है, उसका वर्णन करता हूं, समाहित होके उसे सुनो ॥ २ ॥

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ ३ ॥

अगाध, विमल, शुद्ध, सत्यजल और धैर्यरूपी ह्रद युक्त मानसतीर्थमें शाश्वत सत्त्वका अवलम्बन करके स्नान करना उचित है ॥ ३ ॥

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्दवं सत्यमार्जवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥ ४ ॥

कामना-याचनाका अभाव, सरलता, सत्य, मार्दव, अहिंसा, सब जीवोंके प्रति दया और शम दम ही इस पवित्र तीर्थके गुण हैं ॥ ४ ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्षमुपभुञ्जते ॥ ५ ॥

जो लोग ममता, अहंकार, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित हैं तथा जो लोग भिक्षान्न भोजन करते हुए जीवन विताते हैं, वेही पवित्र तीर्थस्वरूप हैं ॥ ५ ॥

तत्त्ववित्त्वनहंबुद्धिस्तीर्थं परममुच्यते ।
शौचलक्षणमेतत्ते सर्वत्रैवान्ववेक्षणम् ॥ ६ ॥

अहंकारबुद्धिसे रहित तत्त्ववित् पुरुषश्रेष्ठ तीर्थ कहके वर्णित होता है; सर्वत्र सम दर्शन ही पवित्रताका लक्षण है ॥ ६ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो येषां निर्धौतमात्मनः ।
शौचाशौचे न ते सक्ताः स्वकार्यपरिमार्गिणः ॥ ७ ॥

जिनके चित्तसे रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण निवृत्त हुए हैं, जो लोग बाह्य शौचाशौचमें युक्त नहीं रहते, स्वकार्य निभानेमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ ७ ॥

सर्वत्यागेष्वभिरताः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
शौचेन वृत्तशौचार्थास्ते तीर्थाः शुचयश्च ते ॥ ८ ॥

सर्वस्वके त्यागमें सब भांतिसे अनुरक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और शौचाचारके सहारे जिनमें पवित्रता उत्पन्न हुई है, वेही तीर्थ तथा वेही पवित्र हैं ॥ ८ ॥

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः सबाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ९ ॥

केवल जलसे शरीर धोनेसे स्नान नहीं कहा जाता; जो मन-इंद्रियोंके संयम रूपी जलमें स्नान करता है, उसनेही स्नान किया है; वही बाहर और भीतरसे पवित्र है ॥ ९ ॥

अतीतेष्वनपेक्षा ये प्राप्तेष्वर्थेषु निर्ममाः ।
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा ॥ १० ॥

जो लोग अतीत विषयोंमें अपेक्षा नहीं रखते, प्राप्तविषयमें ममतारहित होते हैं तथा जिन्हें स्पृहा उत्पन्न नहीं होती, वेही परम पवित्र हैं ॥ १० ॥

प्रज्ञानं शौचमेवेह शरीरस्य विशेषतः ।
तथा निष्किंचनत्वं च मनसश्च प्रसन्नता ॥ ११ ॥

इस जगतमें प्रज्ञान ही शरीर शुद्धिका विशेष साधन है और वैसे ही अकिंचनता और मनकी प्रसन्नता शरीरको शुद्ध करते हैं ॥ ११ ॥

वृत्तशौचं मनःशौचं तीर्थशौचं परं हितम् ।
ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं मतम् ॥ १२ ॥

चरित्रशुद्धि, मनःशुद्धि और तीर्थशुद्धि, इन तीनों परम कल्याण करनेवाली शुद्धियोंकी अपेक्षा ज्ञानसे उत्पन्न हुई शुद्धि ही परम पवित्र श्रेष्ठ मानी गई है ॥ १२ ॥

मनसाथ प्रदीपेन ब्रह्मज्ञानबलेन च ।
स्नाता ये मानसे तीर्थे तज्ज्ञाः क्षेत्रज्ञदर्शिनः ॥ १३ ॥

ज्ञान दीपसे निर्मल हुआ मन और ब्रह्मज्ञान बलके सहारे जो लोग मानस तीर्थमें स्नान करते हैं, वेही तज्ञ और क्षेत्रदर्शी हैं ॥ १३ ॥

समारोपितशौचस्तु नित्यं भावसमन्वितः ।
केवलं गुणसंपन्नः शुचिरेव नरः सदा ॥ १४ ॥

जो सदा शौचचारसे सम्पन्न, विशुद्ध भावसे समाहित, और केवल सद्गुणोंसे युक्त है, वह मनुष्य निश्चय ही सदा पवित्र है ॥ १४ ॥

शरीरस्थानि तीर्थानि प्रोक्तान्येतानि भारत ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि शृणु तान्यपि ॥ १५ ॥

हे भारत ! ये सब शरीरस्थ तीर्थ कहे गये हैं; पृथ्वीके बीच जो सब पवित्र तीर्थ हैं, उन्हें भी सुनो ॥ १५ ॥

यथा शरीरस्योद्देशाः शुचयः परिनिर्मिताः ।
तथा पृथिव्या भागाश्च पुण्यानि सलिलानि च ॥ १६ ॥

जैसे शरीरके भिन्न अवयव पवित्र रूपसे निर्मित हुए हैं, वैसे ही पृथ्वीके सब अंश और जल पवित्ररूपसे कहे गये हैं ॥ १६ ॥

प्रार्थनाच्चैव तीर्थस्य स्नानाच्च पितृतर्पणात् ।
धुनन्ति पापं तीर्थेषु पूता यान्ति दिवं सुखम् ॥ १७ ॥

जो लोग तीर्थोंके नाम लेकर प्रार्थना करते, तीर्थोंमें स्नान और पितृतर्पण करते हैं, वे तीर्थोंमें पाप धोके सहजमें ही सुखसे सुरपुरमें गमन किया करते हैं ॥ १७॥

परिग्रहाच्च साधूनां पृथिव्याश्चैव तेजसा ।
अतीव पुण्यास्ते भागाः सलिलस्य च तेजसा ॥ १८ ॥

पृथ्वीके कुछ भाग साधुओंके निवाससे तथा पृथ्वी और जलके तेजके सहारे अत्यंत पवित्र माने गये हैं ॥ १८ ॥

मनसश्च पृथिव्याश्च पुण्यतीर्थास्तथापरे ।
उभयोरेव यः स्नातः स सिद्धिं शीघ्रमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

मनमें और पृथ्वीपर अनेक पुण्यमय तीर्थ हैं; जो इन दोनों तीर्थोंमें स्नान करता है, वह शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

यथा बलं क्रियाहीनं क्रिया वा बलवर्जिता ।
नेह साधयते कार्यं समायुक्तस्तु सिध्यति ॥ २० ॥

जैसे क्रियारहित बल और बलरहित क्रिया इस लोकमें कार्य साधन करनेमें समर्थ नहीं होती; परन्तु दोनोंके मिलनेपर ही कार्य सिद्ध होता है ॥ २० ॥

एवं शरीरशौचेन तीर्थशौचेन चान्वितः ।
ततः सिद्धिमवाप्नोति द्विविधं शौचमुत्तमम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥ ४८४४ ॥

वैसा ही शरीरशुद्धि और तीर्थ शुद्धिसे सम्पन्न मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है; इसलिये दोनों प्रकारकी शुद्धि उत्तम मानी गयी है ॥ २१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ १११ ॥ ४८४४ ॥

११२

युधिष्ठिर उवाच—

पितामह महाबाहो सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रोतुमिच्छामि मर्त्यानां संसारविधिमुत्तमम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सर्वशास्त्रविशारद पितामह ! महाबाहो ! मनुष्योंकी श्रेष्ठ संसारविधि जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

केन वृत्तेन राजेन्द्र वर्तमाना नरा युधि ।
प्राप्नुवन्त्युत्तमं स्वर्गं कथं च नरकं नृप ॥ २ ॥

हे राजेन्द्र! नरपाल! युद्धमें मनुष्योंको किस प्रकार उत्तम व्यवहार करनेसे श्रेष्ठ स्वर्ग अथवा नरक प्राप्त होता है? ॥ २ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।
प्रयान्त्यमुं लोकमितः को वैताननुगच्छति ॥ ३ ॥

मनुष्य काष्ठ और लोष्टसदृश मृत शरीरको त्यागके परलोकमें जाते हैं, तब उस समय कौन उनका अनुगमन किया करता है? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

असावायाति भगवान्बृहस्पतिरुदारधीः ।
पृच्छैनं सुमहाभागमेतद्गुह्यं सनातनम् ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— ये उदार, बुद्धिशक्तियुक्त भगवान् बृहस्पति आरहे हैं, इन्हीं महाभागसे यह सनातन गोपनीय विषय पूछो ॥ ४ ॥

नैतदन्येन शक्यं हि वक्तुं केनचिदद्य वै ।
वक्ता बृहस्पतिसमो न ह्यन्यो विद्यते क्वचित् ॥ ५ ॥

इस समय इनके अतिरिक्त कोई भी यह विषय नहीं कह सकता, बृहस्पतिके समान दूसरा वक्ता कहीं भी विद्यमान नहीं है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तयोः संवदतोरेवं पार्थगाङ्गेययोस्तदा ।
आजगाम विशुद्धात्मा भगवान्स बृहस्पतिः ॥ ६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर और गंगापुत्र भीष्म इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे, उसी समय पवित्र-चित्तवाले भगवान् बृहस्पति आये ॥ ६ ॥

ततो राजा समुत्थाय धृतराष्ट्रपुरोगमः ।
पूजामनुपमां चक्रे सर्वे ते च सभासदः ॥ ७ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको आगे करके खडे हो गये; फिर उन्होंने और उन सब सभासदोंने उनकी अनुपम पूजा की ॥ ७ ॥

ततो धर्मसुतो राजा भगवन्तं बृहस्पतिम् ।
उपगम्य यथान्यायं प्रश्नं पप्रच्छ सुव्रतः ॥ ८ ॥

तब धर्मपुत्र सुव्रत राजा युधिष्ठिर भगवान् बृहस्पतिके निकट जाके न्यायपूर्वक यथार्थ रीतिसे प्रश्न करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सर्वशास्त्रविशारद सर्वधर्मज्ञ भगवन् ! पिता, माता, पुत्र और गुरुके बीच मनुष्यका सहायक कौन है ? ॥ ९ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।
गच्छन्त्यमुत्रलोकं वै क एनमनुगच्छति ॥ १० ॥

लोग काष्ठ और लोष्टसदृश मृत शरीरको परित्याग करके गमन करते हैं, तब परलोकमें कौन उस जीवका अनुगमन किया करता है ? ॥ १० ॥

बृहस्पतिरुवाच—

एकः प्रसूतो राजेन्द्र जन्तुरेको विनश्यति ।
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकश्च दुर्गतिम् ॥ ११ ॥

बृहस्पति बोले— हे राजेन्द्र ! जीव अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है; अकेला ही क्लेशोंसे पार होता और अकेला ही दुःख भोगता है ॥ ११ ॥

असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः ।
ज्ञातिसंबन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ॥ १२ ॥

पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, स्वजन, सम्बन्धी और मित्रोंमेंसे कोई भी इसका सहाय नहीं होता ॥ १२ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।
मुहूर्तमुपतिष्ठन्ति ततो यान्ति पराङ्मुखाः ।
तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति ॥ १३ ॥

लोग उसके काष्ठ और लोष्टसदृश मृत शरीरको फेंककर मुहूर्त भरतक पास रहते हैं और अन्तमें विमुख होकर चले जाते हैं; वे सब उसके शरीरका त्याग करके चले जाते हैं, तब अकेला धर्म ही उसका अनुगमन करता है ॥ १३ ॥

तस्माद्धर्मः सहायार्थे सेवितव्यः सदा नृभिः ।
प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छते स्वर्गतिं पराम् ।
तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकायोपपद्यते ॥ १४ ॥

इसलिये धर्मकी ही मनुष्योंको सहायताके लिये सदा सेवा करनी उचित है। धर्मयुक्त प्राणिको स्वर्गमें श्रेष्ठ गति मिलती है, और अधर्मयुक्त जीव नरकमें गमन किया करता है ॥ १४ ॥

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः ।
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः ॥ १५ ॥
इसलिये पण्डित पुरुष न्यायसे प्राप्त हुए धनसे धर्मकी सेवा करे । अकेला धर्म ही परलोकमें मनुष्योंका सहायक होता है ॥ १५ ॥

लोभान्मोहादनुक्रोशाद्भयाद्वाप्यबहुश्रुतः ।
नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ॥ १६ ॥
अल्प बुद्धिवाला मनुष्य पराये धनके लोभसे मोहित होके लोभ, मोह, दया और भय निबन्धसे न करने योग्य पाप कर्म किया करता है ॥ १६ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ।
एतत्त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ॥ १७ ॥
धर्म, अर्थ और काम ये तीनों जीवितकालके फल हैं; इसलिये अधर्मको त्यागके इन त्रिवर्गोंको प्राप्त करना उचित है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुतं भगवतो वाक्यं धर्मयुक्तं परं हितम् ।
शरीरनिचयं ज्ञातुं बुद्धिस्तु मम जायते ॥ १८ ॥
युधिष्ठिर बोले— आपके समीप मैंने धर्मयुक्त, परम हितकर वचन सुना; अब शरीरकी अवस्था जाननेके लिये अत्यंत अभिलाष हुई है ॥ १८ ॥

मृतं शरीरहितं सूक्ष्ममव्यक्ततां गतम् ।
अचक्षुर्विषयं प्राप्तं कथं धर्मोऽनुगच्छति ॥ १९ ॥
मनुष्य मृत शरीररहित सूक्ष्म रीतिसे अव्यक्तताको प्राप्त होनेसे नेत्रगोचर नहीं होता; तब धर्म किस प्रकार उसका अनुगामी होता है ? ॥ १९ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
बुद्धिरात्मा च सहिता धर्मं पश्यन्ति नित्यदा ॥ २० ॥
बृहस्पति बोले— पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और ज्योति—ये पांच और बुद्धि तथा आत्मा ये सब मिलके इस लोकमें मनुष्यके धर्मको सदा अवलोकन करते हैं ॥ २० ॥

प्राणिनामिह सर्वेषां साक्षिभूतानि चानिशम् ।
एतैश्च सह धर्मोऽपि तं जीवमनुगच्छति ॥ २१ ॥
ये सब सदा इस जगत्के सब प्राणियोंके कर्मोंके साक्षीभूत होते हैं; इन सबके साथ धर्म भी जीवका अनुसरण करता है ॥ २१ ॥

×

त्वगस्थिमांसं शुक्रं च शोणितं च महामते ।
शरीरं वर्जयन्त्येते जीवितेन विवर्जितम् ॥ २२ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! त्वचा, हड्डी, मांस, शुक्र और रुधिर– ये जीवनरहित शरीरको छोड देते हैं ॥ २२ ॥

ततो धर्मसमायुक्तः स जीवः सुखमेधते ।
इह लोके परे चैव किं भूयः कथयामि ते ॥ २३ ॥

अनन्तर धर्मके सहित वह जीव इस लोक और परलोकमें सुख पाता है। पुनर्वार तुमसे और कौनसा विषय कहूं ? ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अनुदर्शितं भगवता यथा धर्मोऽनुगच्छति ।
एतत्तु ज्ञातुमिच्छामि कथं रेतः प्रवर्तते ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर बोले– धर्म जिस भांति जीवका अनुगमन करता है, उसे आपने कहा; अब किस प्रकार वीर्यकी उत्पत्ति होती है ? मैं इसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ २४ ॥

बृहस्पति उवाच—

अन्नमश्नन्ति ये देवाः शरीरस्था नरेश्वर ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनस्तथा ॥ २५ ॥

बृहस्पति बोले– हे नरनाथ ! इस शरीरमें रहनेवाले देवगण– पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि और मनके अधिष्ठाता देवता जो अन्न भक्षण करते हैं ॥ २५ ॥

ततस्तृप्तेषु राजेन्द्र तेषु भूतेषु पञ्चसु ।
मनःषष्ठेषु शुद्धात्मन्रेतः संपद्यते महत् ॥ २६ ॥

और हे शुद्धात्मन् ! उस अन्नसे पांचों भूत और छठवां मन जब तृप्त होते हैं, तब महान् वीर्यकी उत्पत्ति होती है ॥ २६ ॥

ततो गर्भः सम्भवति स्त्रीपुंसोः पार्थ संगमे ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २७ ॥

हे राजन् ! अनन्तर स्त्रीपुरुषोंके संयोगसे गर्भ उत्पन्न हुआ करता है। यह सब तुम्हारे समीप कहा गया, फिर क्या सुननेकी इच्छा है ? ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

आख्यातमेतद्भवता गर्भः संजायते यथा ।
यथा जातस्तु पुरुषः प्रपद्यति तदुच्यताम् ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले– जिस प्रकार गर्भ उत्पन्न होता है, वह आपके द्वारा वर्णित हुआ; अब जिस भांति पुरुषकी उत्पत्ति होती है, उसे कहिये ॥ २८ ॥

बृहस्पति उवाच—

आसन्नमात्रः सततं तैर्भूतैरभिभूयते ।
विप्रमुक्तश्च तैर्भूतैः पुनर्यात्यपरां गतिम् ।
स तु भूतसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव ह ॥ २९ ॥

बृहस्पति बोले— उस वीर्यमें जीव प्रविष्ट होकर जब गर्भमें स्थापित होता है, तब वे पांचों भूत शरीररूपमें परिणत हो उसे सतत बांध देते हैं, फिर उन्हीं भूतोंसे विमुक्त होनेपर वह दूसरी गतिको प्राप्त होता है । शरीरमें भूतोंसे युक्त हुआ वह जीव ही सुख या दुःख प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाशुभम् ।
देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३० ॥

उस समय पञ्चतत्त्वोंमें अधिष्ठित देवता जीवके शुभ या अशुभ कर्मको देखते हैं । फिर कौनसा विषय सुननेकी इच्छा है ? ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच—

त्वगस्थिमांसमुत्सृज्य तैश्च भूतैर्विवर्जितः ।
जीवः स भगवन्क्वस्थः सुखदुःखे समश्नुते ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भगवन् ! त्वचा, हड्डी और मांस युक्त शरीरका परित्याग करनेसे उन पांचों भूतोंके तत्त्वोंसे रहित होकर, वह जीव किस स्थानमें रहके सुख-दुःखका भोग करता है ? ॥ ३१ ॥

बृहस्पति उवाच—

जीवो धर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतस्त्वमागतः ।
स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत ॥ ३२ ॥

बृहस्पति बोले— हे भारत ! धर्मसे संयुक्त जीव शीघ्र ही वीर्यस्वरूप होकर, स्त्रियोंके रजमें प्रविष्ट होकर यथा समयमें उत्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

यमस्य पुरुषैः क्लेशं यमस्य पुरुषैर्वधम् ।
दुःखं संसारचक्रं च नरः क्लेशं च विन्दति ॥ ३३ ॥

यम दूतोंके द्वारा बन्धन तथा क्लेश भोगके, मनुष्य दुःखमय संसारचक्रमें क्लेशोंको भोगता है ॥ ३३ ॥

इहलोके च स प्राणी जन्मप्रभृति पार्थिव ।
स्वकृतं कर्म वै भुङ्क्ते धर्मस्य फलमाश्रितः ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! वह प्राणी इस लोकमें जन्मसेही धर्मके फलका आश्रय करनेसे अपने किये पुण्य कर्मोंका भोग किया करता है ॥ ३४ ॥

यदि धर्मं यथाशक्ति जन्मप्रभृति सेवते ।
तत: स पुरुषो भूत्वा सेवते नित्यदा सुखम् ॥ ३५ ॥

जन्मसे ही यदि शक्तिके अनुसार धर्मकी सेवा करे, तो वह मनुष्य होकर सदा सुख भोग किया करता है ॥ ३५ ॥

अथान्तरा तु धर्मस्य अधर्ममुपसेवते ।
सुखस्यानन्तरं दु:खं स जीवोऽप्यधिगच्छति ॥ ३६

और धर्मके बीच यदि अधर्मका आचरण करे, तो वह जीव सुखके अनन्तर दु:ख भी भोगता है ॥ ३६ ॥

अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गत: ।
महद्दु:खं समासाद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते ॥ ३७ ॥

जो जीव अधर्मयुक्त है, वह यमलोकमें जाके महान् दु:ख भोगके पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्मता है ॥ ३७ ॥

कर्मणा येन येनेह यस्यां योनौ प्रजायते ।
जीवो मोहसमायुक्तस्तन्मे निगदत: शृणु ॥ ३८ ॥

मोहयुक्त जीव इस लोकमें जिस जिस कर्मोंका अनुष्ठान करके जिस योनिमें उत्पन्न हुआ करता है, उसे मैं कहता हूं, सुनो ॥ ३८ ॥

यदेतदुच्यते शास्त्रे सेतिहासे सच्छन्दसि ।
यमस्य विषयं घोरं मर्त्यो लोक: प्रपद्यते ॥ ३९ ॥

शास्त्र, इतिहास और वेदमें यह वर्णित है, कि मर्त्यलोकवासी जीव घोर यमपुरीमें गमन करता है ॥ ३९ ॥

अधीत्य चतुरो वेदान्द्विजो मोहसमन्वित: ।
पतितात्प्रतिगृह्याथ खरयोनौ प्रजायते ॥ ४० ॥

ब्राह्मण यदि चारों वेदोंका अध्ययन करके मोहवश पतित पुरुषसे दान लेगा, तो वह गर्दभ-योनिमें जन्मता है ॥ ४० ॥

खरो जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।
खरो मृतो बलीवर्द: सप्त वर्षाणि जीवति ॥ ४१ ॥

हे भारत ! वह गधा होके पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है, फिर मरकर बलवान बैल होता है; उस योनिमें वह सात वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ ४१ ॥

बलीवर्दो मृतश्चापि जायते ब्रह्मराक्षसः ।
ब्रह्मरक्षस्तु त्रीन्मासांस्ततो जायति ब्राह्मणः ॥ ४२ ॥
जब वह बैलकी योनिमें मरता है, तब वह ब्रह्मराक्षस होता है; ब्रह्मराक्षस होकर तीन महीने जीवित रहके मरनेपर फिर वह ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ४२ ॥

पतितं याजयित्वा तु कृमियोनौ प्रजायते ।
तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ॥ ४३ ॥
पतित पुरुषका याजन करनेसे कृमियोनिमें जन्म हुआ करता है। हे भारत ! वह कृमियोनिमें पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ ४३ ॥

कृमिभावात्प्रमुक्तस्तु ततो जायति गर्दभः ।
गर्दभः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि सूकरः ।
श्वा वर्षमेकं भवति ततो जायति मानवः ॥ ४४ ॥
कृमियोनिसे छुटके गर्दभयोनिमें जन्मता है; गधा होके पांच वर्ष, फिर सुअर होके पांच वर्ष, और एक वर्षतक कुत्ता होके रहता है, अनन्तर मनुष्य योनिमें जन्म लेता है ॥ ४४ ॥

उपाध्यायस्य यः पापं शिष्यः कुर्यादबुद्धिमान् ।
स जीव इह संसारांस्त्रीनाप्नोति न संशयः ॥ ४५ ॥
जो मूर्ख शिष्य अपने अध्यापकका अपराध करता है, वह जीव इस लोकमें तीन योनियोंमें निःसन्देह उत्पन्न होता है ॥ ४५ ॥

प्राक्श्वा भवति राजेन्द्र ततः क्रव्यात्ततः खरः ।
ततः प्रेतः परिक्लिष्टः पश्चाज्जायति ब्राह्मणः ॥ ४६ ॥
हे राजेन्द्र ! वह पहले कुत्ता होता है, जिसके अनन्तर मांसभोजी राक्षस होके जन्मता है, फिर गधा होके उत्पन्न होता है; अनन्तर मरकर प्रेतावस्थामें क्लेश भोगकर पश्चात् ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होता है ॥ ४६ ॥

मनसापि गुरोर्भार्यां यः शिष्यो याति पापकृत् ।
सोऽधमान्याति संसारानधर्मेणेह चेतसा ॥ ४७ ॥
जो पापाचारी शिष्य मनसेभी गुरुपत्नीके साथ गमन करता है, वह मानसिक अधर्मयुक्त आचरणके कारण अधम योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ४७ ॥

श्वयोनौ तु स संभूतस्त्रीणि वर्षाणि जीवति ।
तत्रापि निधनं प्राप्तः कृमियोनौ प्रजायते ॥ ४८ ॥
वह पहले कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न होकर तीन वर्षतक जीवित रहता है; उस योनिमें मरके कृमियोनिमें जन्मता है ॥ ४८ ॥

कृमिभावमनुप्राप्तो वर्षमेकं स जीवति ।
ततस्तु निधनं प्राप्य ब्रह्मयोनौ प्रजायते ॥ ४९ ॥

कृमि होके वह एक वर्षतक जीवित रहता है, अनन्तर मरके ब्राह्मणयोनिमें जन्मता है ॥ ४९ ॥

यदि पुत्रसमं शिष्यं गुरुर्हन्यादकारणे ।
आत्मनः कामकारेण सोऽपि हंसः प्रजायते ॥ ५० ॥

गुरु यदि अपने पुत्रतुल्य शिष्यको बिना कारणसे ही मारता पीटता है, तो वह भी अपनी स्वेच्छाचारिताके कारण हंस होके उत्पन्न हुआ करता है ॥ ५० ॥

पितरं मातरं वापि यस्तु पुत्रोऽवमन्यते ।
सोऽपि राजन्मृतो जन्तुः पूर्वं जायति गर्दभः ॥ ५१ ॥

हे महाराज ! जो पुत्र अपने पितामाताकी अवमानना करता है, वह मरके पहले गर्दभयोनिमें उत्पन्न होता है ॥ ५१ ॥

खरो जीवति मासांस्तु दश श्वा च चतुर्दश ।
बिडालः सप्त मासांस्तु ततो जायति मानवः ॥ ५२ ॥

वह गधा होके दस महीनेतक जीवित रहता है, फिर कुत्ता होकर चौदह महीनोंतक जीता है; अनन्तर बिलाड होकर सात महीना बिताके अन्तमें मनुष्यजन्म पाता है ॥ ५२ ॥

मातापितरमाक्रुश्य सारिकः संप्रजायते ।
ताडयित्वा तु तावेव जायते कच्छपो नृप ॥ ५३ ॥

जो पितामाताकी निन्दा करता है, वह सारिक अर्थात् मैना पक्षी होके उत्पन्न होता है। हे महाराज ! जो पितामाताको मारता है, वह कच्छुआ होके जन्मता है ॥ ५३ ॥

कच्छपो दश वर्षाणि त्रीणि वर्षाणि शल्यकः ।
व्यालो भूत्वा च षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥ ५४ ॥

दस वर्षतक कछुआ रहनेके पश्चात् तीन वर्षतक साही और छः महीनेतक सांप होके जीवित रहता है; अन्तमें मनुष्य होके जन्मता है ॥ ५४ ॥

भर्तृपिण्डमुपाश्नन्यो राजद्विष्टानि सेवते ।
सोऽपि मोहसमापन्नो मृतो जायति वानरः ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य स्वामीका अन्न खाता हुआ भी मोहवश उसके शत्रुओंकी सेवा करता है, वह मरके वानरयोनिमें जन्मता है ॥ ५५ ॥

वानरो दश वर्षाणि त्रीणि वर्षाणि मूषकः ।
श्वा भूत्वा चाथ षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥ ५६ ॥

वानर होके दस वर्ष, चूहा होके पांच वर्षके अनन्तर कुत्ता होके छः मास समय बिताके मरनेपर मनुष्य जन्म पाता है ॥ ५६ ॥

न्यासापहर्ता तु नरो यमस्य विषयं गतः ।
संसाराणां शतं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ॥ ५७ ॥

न्यस्त धन हरनेवाला मनुष्य यमलोकमें जाकर सौ योनियोंमें भ्रमण करके शेषमें कृमियोनिमें जन्मता है ॥ ५७ ॥

तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।
दुष्कृतस्य क्षयं गत्वा ततो जायति मानुषः ॥ ५८ ॥

हे भारत ! वह उस कृमियोनिमें पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है, अनन्तर पाप नष्ट होनेपर मनुष्ययोनिमें जन्मता है ॥ ५८ ॥

असूयको नरश्चापि मृतो जायति शार्ङ्गकः ।
विश्वासहर्ता तु नरो मीनो जायति दुर्मतिः ॥ ५९ ॥

दूसरोंके दोष देखनेवाला मनुष्य मरके मृगयोनिमें जन्मता है । विश्वासघाती, नीचबुद्धि मनुष्य मत्स्ययोनिमें उत्पन्न होता है ॥ ५९ ॥

भूत्वा मीनोऽष्ट वर्षाणि मृगो जायति भारत ।
मृगस्तु चतुरो मासांस्ततश्छागः प्रजायते ॥ ६० ॥

हे भारत ! वह मछली होनेपर आठ वर्षोंतक जीवित रहके मरनेके बाद मृगयोनिमें जन्मता है; मृग होके चार महीनेके अनन्तर बकरेकी योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ६० ॥

छागस्तु निधनं प्राप्य पूर्णे संवत्सरे ततः ।
कीटः संजायते जन्तुस्ततो जायति मानुषः ॥ ६१ ॥

एक वर्ष पूरा होनेपर बकरा मरके कीटयोनिमें जन्मता है; अनन्तर वही जीव फिर मनुष्य-योनि पाता है ॥ ६१ ॥

धान्यान्यवांस्तिलान्माषान्कुलत्थान्सर्षपांश्चणान् ।
कलायानथ मुद्गांश्च गोधूमानतसीस्तथा ॥ ६२ ॥
सस्यस्यान्यस्य हर्ता च मोहाज्जन्तुरचेतनः ।
स जायते महाराज मूषको निरपत्रपः ॥ ६३ ॥

हे महाराज ! जो पुरुष लज्जाका त्याग करके अज्ञान और मोहके वशमें होकर, धान्य, यव, तिल, उडद, कुलथी, सरसों, चना, मटर, मूंग, गेहूं, तीसी वा अन्य अनाजोंकी चोरी करता है, वह मरनेपर मूषिकयोनिमें उत्पन्न हुआ करता है ॥ ६२–६३ ॥

ततः प्रेत्य महाराज पुनर्जायति सूकरः ।
सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप ॥ ६४ ॥

हे महाराज ! अनन्तर वह मरके फिर सूअर होता है; फिर सूअर होके उत्पन्न होते ही रोगके वशमें होकर पञ्चत्वको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिव ।
श्वा भूत्वा पञ्च वर्षाणि ततो जायति मानुषः ॥ ६५ ॥

हे राजन् ! अनन्तर वह निज कर्मवशसे श्वानयोनिमें जन्मता है, कुत्ता होके पांचवर्ष समय बिताके अन्तमें मनुष्य जन्म पाता है ॥ ६५ ॥

परदाराभिमर्शी तु कृत्वा जायति वै वृकः ।
श्वा सृगालस्ततो गृध्रो व्यालः कङ्को बकस्तथा ॥ ६६ ॥

पराई स्त्री गमनका पाप करके मनुष्य क्रमसे भेडिया, कुत्ता, सियार, गिद्ध, सांप, कंक और बगुला होता है ॥ ६६ ॥

भ्रातुर्भार्यां तु दुर्बुद्धिर्यो धर्षयति मोहितः ।
पुंस्कोकिलत्वमाप्नोति सोऽपि संवत्सरं नृप ॥ ६७ ॥

हे महाराज ! जो पापी मोहित होकर भाईकी स्त्रीके साथ बलात्कार करता है, उसे वर्षभरतक कोयलकी योनि प्राप्त होती है ॥ ६७ ॥

सखिभार्यां गुरोर्भार्यां राजभार्यां तथैव च ।
प्रधर्षयित्वा कामात्मो मृतो जायति सूकरः ॥ ६८ ॥

जो पुरुष कामके वशमें होकर मित्रभार्या, गुरुपत्नी और राजभार्या गमन करता है, वह मरनेपर सूअरयोनिमें उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

सूकरः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि श्वाविधः ।
पिपीलकस्तु षण्मासान्कीटः स्यान्मासमेव च ।
एतानासाद्य संसारान्कृमियोनौ प्रजायते ॥ ६९ ॥

सूअर होके पांच वर्ष समय बिताके पांच वर्षोंतक भेडिया होके रहता है । अनन्तर छः महीनोंतक चींटी और एक महीना कीट योनिमें रहता है । इन सभी योनियोंमें रहकर वह फिर कृमियोनिमें जन्मता है ॥ ६९ ॥

तत्र जीवति मासांस्तु कृमियोनौ त्रयोदश ।
ततोऽधर्मक्षयं कृत्वा पुनर्जायति मानुषः ॥ ७० ॥

उस कीटयोनिमें वह तेरह महीनोंतक जीवित रहता है; अन्तमें पापक्षय होनेपर फिर मनुष्य योनिमें जन्मता है ॥ ७० ॥

उपस्थिते विवाहे तु दाने यज्ञेऽपि वाभिभो ।
मोहात्करोति यो विघ्नं स मृतो जायते कृमिः ॥ ७१ ॥

हे भारत ! विवाह, दान अथवा यज्ञके समय जो मनुष्य मोहवशसे उसमें विघ्न करता है, वह मरके कृमियोनिमें जन्मता है ॥ ७१ ॥

कृमिर्जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥ ७२ ॥

हे भारत ! कृमि होके पंद्रह वर्ष जीवित रहता है; अन्तमें पापोंका क्षय करके वह मनुष्य शरीर पाता है ॥ ७२ ॥

पूर्वं दत्त्वा तु यः कन्यां द्वितीये संप्रयच्छति ।
सोऽपि राजन्मृतो जन्तुः कृमियोनौ प्रजायते ॥ ७३ ॥

हे महाराज ! पहले एक पुरुषको कन्या दान करके फिर जो दूसरेको दान करनेकी इच्छा करता है, वह भी मरनेके बाद कृमियोनिमें उत्पन्न हुआ करता है ॥ ७३ ॥

तत्र जीवति वर्षाणि त्रयोदश युधिष्ठिर ।
अधर्मसंक्षये युक्तस्ततो जायति मानुषः ॥ ७४ ॥

हे युधिष्ठिर ! कृमियोनिमें वह तेरह वर्षोंतक जीवित रहता है, अनन्तर पापक्षय होनेपर वह मनुष्ययोनिमें जन्मता है ॥ ७४ ॥

देवकार्यमुपाकृत्य तु पितृकार्यमथापि च ।
अनिर्वाप्य समश्नन्वै ततो जायति वायसः ॥ ७५ ॥

जो पुरुष देवकार्य और पितृकार्य न करके बलिवैश्वदेव किये बिना ही स्वयं भोजन करता है, वह मरनेपर कौएकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७५ ॥

वायसो दश वर्षाणि ततो जायति कुक्कुटः ।
जायते लवकश्चापि मासं तस्मात्तु मानुषः ॥ ७६ ॥

कौआ होके दस वर्ष जीवित रहता है, अनन्तर मुर्गा होता है; उसके बाद एक महीनेतक लवक होके रहता है, अन्तमें मनुष्यशरीर धारण करता है ॥ ७६ ॥

ज्येष्ठं पितृसमं चापि भ्रातरं योऽवमन्यते ।
सोऽपि मृत्युमुपागम्य क्रौञ्चयोनौ प्रजायते ॥ ७७ ॥

जो पुरुष पितासदृश जेठे भाईकी अवमानना करता है, वह मरके क्रौञ्चयोनिमें जन्मता है ॥ ७७ ॥

क्रौञ्चो जीवति मासांस्तु दश द्वौ सप्त पञ्च च ।
ततो निधनमापन्नो मानुषत्वमुपाश्नुते ॥ ७८ ॥

क्रौञ्च होके चौबीस महीना जीवित रहता है, अन्तमें मरके मनुष्यतनु पाता है ॥ ७८ ॥

वृषलो ब्राह्मणीं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ।
तत्रापत्यं समुत्पाद्य ततो जायति मूषकः ॥ ७९ ॥

शूद्र जातिका पुरुष ब्राह्मण जातिकी स्त्रीके साथ समागम करनेसे कृमियोनिमें जन्मता है। उस योनिमें एक ही संतान उत्पन्न करके मरनेपर चूहा होता है ॥ ७९ ॥

×

कृतघ्नस्तु मृतो राजन्यमस्य विषयं गतः।
यमस्य विषये क्रुद्धैर्वधं प्राप्नोति दारुणम् ॥ ८० ॥

हे महाराज! कृतघ्न मनुष्य मरनेके अनन्तर यमपुरीमें जाकर, क्रुद्ध यमदूतोंके द्वारा दारुण पीडा पाता है ॥ ८० ॥

पट्टिसं मुद्गरं शूलमग्निकुम्भं च दारुणम्।
असिपत्रवनं घोरं वालुकां कूटशाल्मलीम् ॥ ८१ ॥

हे भारत! वह यमके स्थानमें पट्टिस, मुद्गर, शूल, दारुण अग्निकुण्ड, तरवारपत्रके वन, घोर वालु और काँटेयुक्त शाल्मली ॥ ८१ ॥

एताश्चान्याश्च बह्वीः स यमस्य विषयं गतः।
यातनाः प्राप्य तत्रोग्रास्ततो वध्यति भारत ॥ ८२ ॥

तथा और भी अनेक प्रकारकी उग्र यातना पाके, अन्तमें वध्य हुआ करता है ॥ ८२ ॥

संसारचक्रमासाद्य कृमियोनौ प्रजायते।
कृमिर्भवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत।
ततो गर्भं समासाद्य तत्रैव म्रियते शिशुः ॥ ८३ ॥

फिर संसारचक्रमें आकर कृमियोनिमें जन्मता है। हे भारत! वह पंद्रह वर्षोंतक कृमि होके रहता है; अनन्तर गर्भमें जाता है, वह गर्भ शिशु अवस्थामें ही नष्ट होता है ॥ ८३ ॥

ततो गर्भशतैर्जन्तुर्बहुभिः संप्रजायते।
संसारांश्च बहून्गत्वा ततस्तिर्यक्प्रजायते ॥ ८४ ॥

फिर सैकडों बार गर्भमें उत्पन्न होके मरता है; बहुतसे जन्म लेनेके बाद वह तिर्यक् योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ८४ ॥

मृतो दुःखमनुप्राप्य बहुवर्षगणानिह।
अपुनर्भावसंयुक्तस्ततः कूर्मः प्रजायते ॥ ८५ ॥

अनन्तर इसमें बहुत वर्षोंतक दुःख अनुभव करके, फिर मनुष्य योनिमें न आकर कूर्मयोनिमें जन्मता है ॥ ८५ ॥

अशस्त्रं पुरुषं हत्वा सशस्त्रः पुरुषाधमः।
अर्थार्थी यदि वा वैरी स मृतो जायते खरः ॥ ८६ ॥

जो शस्त्रधारी अधम पुरुष धनकी इच्छासे अथवा वैरी होकर अशस्त्र मनुष्यको मार डालता है, वह मरनेके अनन्तर खरयोनिमें जन्मता है ॥ ८६ ॥

खरो जीवति वर्षे द्वे ततः शस्त्रेण वध्यते ।
स मृतो मृगयोनौ तु नित्योद्विग्नोऽभिजायते ॥ ८७ ॥

गधा होके दो वर्ष जीवित रहता है, फिर शस्त्रसे उसका वध होता है; फिर मरके मृगयोनिमें जन्म लेता है और सदा उद्विग्न रहता है ॥ ८७ ॥

मृगो वध्यति शस्त्रेण गते संवत्सरे तु सः ।
हतो मृगस्ततो मीनः सोऽपि जालेन वध्यते ॥ ८८ ॥

एक वर्ष बीतनेपर वह मृग शस्त्रसे मारा जाता है, मरके मीनयोनिमें जन्म लेकर वहां जालसे बद्ध होता है ॥ ८८ ॥

मासे चतुर्थे संप्राप्ते श्वापदः संप्रजायते ।
श्वापदो दश वर्षाणि द्वीपी वर्षाणि पञ्च च ॥ ८९ ॥

अनन्तर चौथे महिनेमें मरकर वह श्वापद योनिमें जन्मता है; श्वापद होके दस वर्षोंतक रहकर फिर पांच वर्षोंतक व्याघ्र योनिमें जीवित रहता है ॥ ८९ ॥

ततस्तु निधनं प्राप्तः कालपर्यायचोदितः ।
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥ ९० ॥

अनन्तर पापका क्षय होनेपर कालकी प्रेरणासे मरकर वह फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ ९० ॥

स्त्रियं हत्वा तु दुर्बुद्धिर्यमस्य विषयं गतः ।
बहून्क्लेशान्समासाद्य संसारांश्चैव विंशतिम् ॥ ९१ ॥

हे महाराज ! जो नीचबुद्धिवाला मनुष्य स्त्रीकी हत्या करता है वह यमके स्थानमें जाकर अनेक प्रकारके क्लेश भोगनेपर बीस बार दुःखद योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ९१ ॥

ततः पश्चान्महाराज कृमियोनौ प्रजायते ।
कृमिर्विंशतिवर्षाणि भूत्वा जायति मानुषः ॥ ९२ ॥

हे महाराज ! फिर वह कीटयोनिमें उत्पन्न होता है; बीस वर्षोंतक कृमियोनिमें रहके फिर मनुष्यजन्म पाता है ॥ ९२ ॥

भोजनं चोरयित्वा तु मक्षिका जायते नरः ।
मक्षिकासंघवशगो बहून्मासानभवत्युत ।
ततः पापक्षयं कृत्वा मानुषत्वमवाप्नुते ॥ ९३ ॥

भोजनकी वस्तु हरनेसे मनुष्य मक्खी होके जन्मता है और कई महीनोंतक मक्खियोंके समूहके वशमें रहता है; अनन्तर पाप नष्ट होनेपर मनुष्यत्व पाता है ॥ ९३ ॥

धान्यं हृत्वा तु पुरुषो मशकः संप्रजायते।
तथा पिण्याकसंमिश्रमशनं चोरयेन्नरः।
स जायते बभ्रुसमो दारुणो मूषको नरः ॥ ९४ ॥

धान्यकी चोरी करनेवाला मनुष्य मच्छर होके जन्मता है; तिलमिश्रित भोजनकी वस्तु हरनेसे मनुष्य नेवलेके समान आकारवाला भयानक चूहा होता है ॥ ९४ ॥

लवणं चोरयित्वा तु चीरीवाकः प्रजायते।
दधि हृत्वा बकश्चापि प्लवो मत्स्यानसंस्कृतान् ॥ ९५ ॥

नमककी चोरी करनेवाला चीरीवाक योनिमें उत्पन्न होता है। नीचबुद्धि मनुष्य दही हरनेसे बकपक्षी होता है और असंस्कृत मत्स्य हरनेसे प्लव अर्थात् कारण्डव पक्षी होके जन्मता है ॥९५॥

चोरयित्वा पयश्चापि बलाका संप्रजायते।
यस्तु चोरयते तैलं तैलपायी प्रजायते।
चोरयित्वा तु दुर्बुद्धिर्मधुदंशः प्रजायते ॥ ९६ ॥

दूध चुरानेवाली स्त्री बगुली होती है। जो पुरुष तेल चुराता है, वह मरके तैलपायी योनिमें उत्पन्न होता है; जो दुर्बुद्धि पुरुष मधु हरता है, वह मच्छर होके उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

अयो हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्वायसो जायते नरः।
पायसं चोरयित्वा तु तित्तिरित्वमवाप्नुते ॥ ९७ ॥

लोहा हरनेसे दुर्मति मनुष्य कौएकी योनिमें जन्मता है; पायस हरनेवाला तीतर पक्षी होता है ॥ ९७ ॥

हृत्वा पैष्टमपूपं च कुम्भोलूकः प्रजायते।
फलं वा मूलकं हृत्वा अपूपं वा पिपीलिकः ॥ ९८ ॥

पिष्टमय पूआ हरनेवाला उलूकयोनिमें उत्पन्न हुआ करता है। फल, मूल और अपूप हरनेसे मनुष्य चींटिकी योनिमें जन्मता है ॥ ९८ ॥

कांस्यं हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्हारीतो जायते नरः।
राजतं भाजनं हृत्वा कपोतः संप्रजायते ॥ ९९ ॥

नीचबुद्धि पुरुष कांसा हरनेसे हारीत पक्षी होता है; चांदीके पात्र हरनेवाला कपोतयोनिमें जन्म लेता है ॥ ९९ ॥

हृत्वा तु काञ्चनं भाण्डं कृमियोनौ प्रजायते।
क्रौञ्चः कार्पासिकं हृत्वा मृतो जायति मानवः ॥ १०० ॥

स्वर्णपात्र हरनेवाला मनुष्य कृमियोनिमें जन्मता है। सूती वस्त्रकी चोरी करनेवाला मनुष्य मरनेके अनन्तर क्रौञ्चयोनिमें उत्पन्न होता है ॥ १०० ॥

चोरयित्वा नरः पट्टं त्वाविकं वापि भारत ।
क्षौमं च वस्त्रमादाय शशो जन्तुः प्रजायते ॥ १०१ ॥

हे भारत ! पट्टवस्त्र तथा भेड प्रभृतिके रोमसे बने हुए कम्बल वा दुकूल वस्त्र हरनेसे मनुष्य खरगोश नामक जन्तु होके जन्मता है ॥ १०१ ॥

वर्णान्हृत्वा तु पुरुषो मृतो जायति बर्हिणः ।
हृत्वा रक्तानि वस्त्राणि जायते जीवजीवकः ॥ १०२ ॥

अनेक प्रकारके रंगोंकी चोरी करनेवाला पुरुष मरके मयूर योनिमें जन्मता है । लाल वस्त्र हरनेवाला मनुष्य चकोर पक्षीयोनिमें जन्मता है ॥ १०२ ॥

वर्णकादींस्तथा गन्धांश्चोरयित्वा तु मानवः ।
छुच्छुन्दरित्वमाप्नोति राजँल्लोभपरायणः ॥ १०३ ॥

हे महाराज ! लोभी मनुष्य इस लोकमें वर्णक (रङ्ग) प्रभृति तथा सुगन्धित वस्तु हरनेसे छुछून्दर योनिमें जन्मता है ॥ १०३ ॥

विश्वासेन तु निक्षिप्तं यो निह्नवति मानवः ।
स गतायुर्नरस्तादृङ्मत्स्ययोनौ प्रजायते ॥ १०४ ॥

जो मनुष्य विश्वासपूर्वक रक्खे हुए दूसरेके धनको हडप लेता है, वह मरनेपर मत्स्ययोनिमें जन्मता है ॥ १०४ ॥

मत्स्ययोनिमनुप्राप्य मृतो जायति मानुषः ।
मानुषत्वमनुप्राप्य क्षीणायुरुपपद्यते ॥ १०५ ॥

मत्स्ययोनि पाके मरनेके अनन्तर मनुष्यजन्म पाता है; मनुष्यत्व पाके उसकी आयु कम होती है ॥ १०५ ॥

पापानि तु नरः कृत्वा तिर्यग्जायति भारत ।
न चात्मनः प्रमाणं ते धर्मं जानन्ति किंचन ॥ १०६ ॥

हे भारत ! अनेक प्रकारके पापकर्म करके मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्मते हैं; वहां उन्हें अपने उद्धार करनेवाले धर्मका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता ॥ १०६ ॥

ये पापानि नराः कृत्वा निरस्यन्ति व्रतैः सदा ।
सुखदुःखसमायुक्ता व्याधितास्ते भवन्त्युत ॥ १०७ ॥

जो सब मनुष्य अनेक प्रकारके पापाचरण करके व्रतावलम्बनपूर्वक निवास करते हैं, वे सुख-दुःखसे संयुक्त होके सदा रोगी रहते हैं ॥ १०७ ॥

असंवासाः प्रजायन्ते म्लेच्छाश्चापि न संशयः ।
नराः पापसमाचारा लोभमोहसमन्विताः ॥ १०८ ॥

लोभमोहसे युक्त पापी मनुष्य म्लेच्छतुल्य हैं, वे लोग निःसन्देह सहवासके योग्य नहीं हैं ॥ १०८ ॥

वर्जयन्ति च पापानि जन्मप्रभृति ये नराः ।
अरोगा रूपवन्तस्ते धनिनश्च भवन्त्युत ॥ १०९ ॥

जो मनुष्य जन्मसे ही पाप नहीं करते, वे नीरोग, रूपवान् तथा धनवान् होते हैं ॥१०९॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन कृत्वा पापमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां पत्नीत्वमुपयान्ति ताः ॥ ११० ॥

स्त्रियां भी इन उपरोक्त कार्योंके करनेसे पापग्रस्त होके, इन्हीं जन्तुओंकी भार्या हुआ करती हैं ॥ ११० ॥

परस्वहरणे दोषाः सर्व एव प्रकीर्तिताः ।
एतद्धि लेशमात्रेण कथितं ते मयानघ ।
अपरस्मिन्कथायोगे भूयः श्रोष्यसि भारत ॥ १११ ॥

हे अनघ ! परस्व हरनेसे जो दोष होते हैं, वे सब वर्णित हुए; यह विषय मैंने तुम्हारे समीप संक्षेपमें ही कहा है । हे भारत ! अन्य कथाप्रसंगमें फिर कभी इस विषयको सुनना ॥१११॥

एतन्मया महाराज ब्रह्मणो वदतः पुरा ।
सुरर्षीणां श्रुतं मध्ये पृष्टश्चापि यथातथम् ॥ ११२ ॥

हे महाराज ! मैंने पहले समयमें देवर्षियोंके बीच यह विषय ब्रह्माके मुखसे सुना था और तुम्हारे पूछनेपर उन्हीं सब बातोंका ॥ ११२ ॥

मयापि तव कार्त्स्न्येन यथावदनुवर्णितम् ।
एतच्छ्रुत्वा महाराज धर्मे कुरु मनः सदा ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वादशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११२ ॥ ४९५७ ॥

पूरी रीतिसे मैंने भी वर्णन किया है । हे महाराज ! इसे सुनकर तुम सदा धर्ममें मन स्थिर करो ॥ ११३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ बारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११२ ॥ ४९५७ ॥

: ११३ :

युधिष्ठिर उवाच—

अधर्मस्य गतिर्ब्रह्मन्कथिता मे त्वयानघ।
धर्मस्य तु गतिं श्रोतुमिच्छामि वदतां वर।
कृत्वा कर्माणि पापानि कथं यान्ति शुभां गतिम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे अनघ वक्तृवर महान्! आपने मेरे समीप अधर्मकी गति वर्णन की; अब मैं धर्मकी गति सुननेकी इच्छा करता हूं। मनुष्य पापकर्म करके किस प्रकार उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं? ॥ १ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

कृत्वा पापानि कर्माणि अधर्मवशमागतः।
मनसा विपरीतेन निरयं प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

बृहस्पति बोले— मनुष्य पापकर्म करके अधर्मके वशमें होता है और धर्मके विपरीत मनसे चलनेपर नरकको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥ ३ ॥

जो पुरुष मोहके वशमें होकर अधर्म करके पश्चात्ताप करता है, उसे मनको संयत रखकर फिर पापका सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते।
समाहितेन मनसा विमुच्यति तथा तथा।
भुजंग इव निर्मोकात्पूर्वभुक्ताज्जरान्वितात् ॥ ४ ॥

मनुष्य अपने किये हुए पापोंको जिस प्रकार यथार्थ प्रकट करेगा, वह सावधानचित्त होके उस ही भांति मुक्त होगा। जैसे सर्प पूर्वभुक्त पुरानी केंचुली छोड देता है ॥ ४ ॥

अदत्त्वापि प्रदानानि विविधानि समाहितः।
मनःसमाधिसंयुक्तः सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

एकाग्र चित्तसे सावधान हो विविध दान न देकर ही मनुष्य सद्गति पाता है ॥ ५ ॥

प्रदानानि तु वक्ष्यामि यानि दत्त्वा युधिष्ठिर।
नरः कृत्वाप्यकार्याणि तदा धर्मेण युज्यते ॥ ६ ॥

हे युधिष्ठिर! जो सब उत्कृष्ट दान करना होता है, वह तुमसे कहता हूं; जिसे करनेसे मनुष्य धर्मके सहारे अधर्मसे छूट जाता है ॥ ६ ॥

सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम् ।
पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता । ॥ ७ ॥

सब दानके बीच अन्नदान ही श्रेष्ठ कहा गया है; इसलिये धर्मकी इच्छा करनेवाला सरल भावसे पहले अन्न दान करे ॥ ७ ॥

प्राणा ह्यन्नं मनुष्याणां तस्माज्जन्तुश्च जायते ।
अन्ने प्रतिष्ठिता लोकास्तस्मादन्नं प्रकाशते ॥ ८ ॥

अन्न ही मनुष्योंका प्राण है, अन्नसे ही प्राणीका जन्म होता है, सब लोक अन्नसे प्रतिष्ठित रहते हैं; इस ही निमित्त अन्न प्रशंसनीय है ॥ ८ ॥

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवर्षिपितृमानवाः ।
अन्नस्य हि प्रदानेन स्वर्गमाप्नोति कौशिकः ॥ ९ ॥

देव, ऋषि, पितर और मनुष्यवृन्द अन्नकी ही प्रशंसा किया करते हैं; कौशिकने अन्नदान करके ही स्वर्गलोक पाया है ॥ ९ ॥

न्यायलब्धं प्रदातव्यं द्विजेभ्यो ह्यन्नमुत्तमम् ।
स्वाध्यायसमुपेतेभ्यः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १० ॥

वेद पढनेवाले ब्राह्मणको प्रसन्नचित्तसे न्यायसे प्राप्त हुआ अन्न दान करना चाहिये ॥ १० ॥

यस्य ह्यन्नमुपाश्नन्ति ब्राह्मणानां शता दश ।
हृष्टेन मनसा दत्तं न स तिर्यग्गतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

एक हजार ब्राह्मण जिसके यहां शुद्धचित्तसे दिया हुआ अन्न भोजन करते हैं, उसका तिर्यग् योनिमें जन्म नहीं होता ॥ ११ ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि दश भोज्य नरर्षभ ।
नरोऽधर्मात्प्रमुच्येत पापेष्वभिरतः सदा ॥ १२ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! दस हजार ब्राह्मण जिस सदा योग साधनामें रत मनुष्यके दिये हुए अन्नको भोजन करते हैं, वह पुरुष अधर्मसे छूट जाता है ॥ १२ ॥

भैक्षेणान्नं समाहृत्य विप्रो वेदपुरस्कृतः ।
स्वाध्यायनिरते विप्रे दत्त्वेह सुखमेधते ॥ १३ ॥

जो वेदपाठी ब्राह्मण भीख मांगके स्वाध्याय परायण ब्राह्मणको अन्नदान करता है, वह यहां सुखी होता है ॥ १३ ॥

अहिंसन्ब्राह्मणं नित्यं न्यायेन परिपाल्य च ।
क्षत्रियस्तरसा प्राप्तमन्नं यो वै प्रयच्छति ॥ १४ ॥

जो क्षत्रिय ब्राह्मणके धनमें लोभ न करके सदा न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए बलके सहारे उपार्जित अन्न ॥ १४ ॥

द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यः प्रयतः सुसमाहितः ।
तेनापोहति धर्मात्मा दुष्कृतं कर्म पाण्डव ॥ १५ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको पवित्र और समाहित होकर दान करता है, वह धर्मात्मा उस ही के फलसे सब पापकर्मोंका नाश कर डालता है ॥ १५ ॥

षड्भागपरिशुद्धं च कृषेर्भागमुपार्जितम् ।
वैश्यो दददुद्विजातिभ्यः पापेभ्यः परिमुच्यते ॥ १६ ॥

वैश्य यदि खेतीसे अन्न पैदा करके उसका शुद्ध हुआ छठवां भाग ब्राह्मणको दान करे, तो वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १६ ॥

अवाप्य प्राणसंदेहं कार्कश्येन समार्जितम् ।
अन्नं दत्त्वा द्विजातिभ्यः शूद्रः पापात्प्रमुच्यते ॥ १७ ॥

शूद्र यदि प्राणोंकी परवा न करके अत्यन्त कठिनाईसे प्राप्त किया हुआ अन्न ब्राह्मणोंको दान करता है, तो पापरहित होता है ॥ १७ ॥

औरसेन बलेनान्नमर्जयित्वाविहिंसकः ।
यः प्रयच्छति विप्रेभ्यो न स दुर्गाणि सेवते ॥ १८ ॥

जो अहिंसक मनुष्य निजबलसे अन्न उत्पन्न करके ब्राह्मणोंको दान करता है, उसे कभी संकटका अनुभव नहीं करना पडता ॥ १८ ॥

न्यायेनावाप्तमन्नं तु नरो लोभविवर्जितः ।
द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यो दत्त्वा पापात्प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

मनुष्य लोभरहित होके वेदवृद्ध ब्राह्मणोंको न्यायसे प्राप्त हुआ अन्न दान करनेसे पापोंसे छूट जाता है ॥ १९ ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नरः ।
सतां पन्थानमाश्रित्य सर्वपापात्प्रमुच्यते ॥ २० ॥

इस लोकमें बलकी वृद्धि करनेवाले अन्नका दान करके मनुष्य बलवान् होता है; और सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय करनेसे उसके सब पाप नष्ट होते हैं ॥ २० ॥

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
ते स्म प्राणस्य दातारस्तेभ्यो धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

दातृगणके द्वारा जो मार्ग बना हुआ है, मनीषि लोग उस ही पथसे गमन करते हैं; अन्नदान करनेवाले वेही प्राणदाता हैं, उन्हींसे सनातन धर्म रक्षित हुआ करता है ॥ २१ ॥

×

सर्वावस्थं मनुष्येण न्यायेनान्नमुपार्जितम् ।
कार्यं पात्रगतं नित्यमन्नं हि परमा गतिः ॥ २२ ॥

मनुष्योंको उचित है, कि सब समयमें न्यायसे उपार्जित अन्न ही सत्पात्रोंको दान करें, क्योंकि अन्नही परम गति है ॥ २२ ॥

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो दुर्गं न सेवते ।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्यायपरिवर्जितम् ॥ २३ ॥

अन्नदानके सहारे मनुष्य दुर्गम विषयोंकी सेवा नहीं करता, इसलिये न्यायोपार्जित अन्नदान करना योग्य है ॥ २३ ॥

यतेद्ब्राह्मणपूर्वं हि भोक्तुमन्नं गृही सदा ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यादन्नदानेन मानवः ॥ २४ ॥

गृहस्थ मनुष्य पहले ब्राह्मणको भोजन कराके तब स्वयं अन्न भोजन करनेमें यत्नवान हो जावे; अन्नदानसे मनुष्य प्रत्येक दिनको सफल करे ॥ २४ ॥

भोजयित्वा दशशतं नरो वेदविदां नृप ।
न्यायविद्धर्मविदुषामितिहासविदां तथा ॥ २५ ॥

हे महाराज ! जो मनुष्य न्यायपूर्वक वेद, न्याय, धर्म और इतिहासके वश एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराता है ॥ २५ ॥

न याति नरकं घोरं संसारांश्च न सेवते ।
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चाप्यश्नुते सुखम् ॥ २६ ॥

वह घोर नरकमें नहीं जाता या बार बार संसारमें भ्रमण नहीं करता; इहलोकमें सर्वकाम-युक्त होकर मरनेके बाद वह परलोकमें सुख भोग करता है ॥ २६ ॥

एवं सुखसमायुक्तो रमते विगतज्वरः ।
रूपवान्कीर्तिमांश्चैव धनवांश्चोपपद्यते ॥ २७ ॥

इस प्रकार वह निश्चिन्त होकर सुखका उपभोग करता है और रूपवान्, कीर्त्तिमान् और धनवान् हुआ करता है ॥ २७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातमन्नदानफलं महत् ।
मूलमेतद्धि धर्माणां प्रदानस्य च भारत ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥ ४९८५ ॥

हे भारत ! यह तुम्हारे निकट उत्तम अन्नदानका महत् फल कहा, यही समस्त धर्म और दानका मूल है ॥ २८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ ११३ ॥ ४९८५ ॥

: ११४ :

युधिष्ठिर उवाच—

अहिंसा वैदिकं कर्म ध्यानमिन्द्रियसंयमः ।
तपोऽथ गुरुशुश्रूषा किं श्रेयः पुरुषं प्रति ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— अहिंसा, वैदिक कर्म, ध्यान, इन्द्रियसंयम, तपस्या और गुरुसेवा इन सबके बीच कौनसा कर्म मनुष्यका कल्याणकारी होता है ? ॥ १ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

सर्वाण्येतानि धर्मस्य पृथग्द्वाराणि सर्वशः ।
शृणु संकीर्त्यमानानि षडेव भरतर्षभ ॥ २ ॥

बृहस्पति बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! ये छहों विषयही धर्मसंगत हैं, ये प्रत्येक ही पृथक् पृथक् धर्मके द्वार स्वरूप हैं, इसलिये इनका विषय वर्णन करता हूं, सुनो ॥ २ ॥

हन्त निःश्रेयसं जन्तोरहं वक्ष्याम्यनुत्तमम् ।
अहिंसापाश्रयं धर्मं यः साधयति वै नरः ॥ ३ ॥

मैं मनुष्यके लिये कल्याणके सर्वश्रेष्ठ उपायका वर्णन करता हूं; जो मनुष्य अहिंसायुक्त धर्मका साधन किया करता है ॥ ३ ॥

त्रीन्दोषान्सर्वभूतेषु निधाय पुरुषः सदा ।
कामक्रोधौ च संयम्य ततः सिद्धिमवाप्नुते ॥ ४ ॥

वह पुरुष काम, क्रोध और लोभरूपी तीनों दोषोंको सब भूतोंमें अर्पण करके, और काम-क्रोधका संयम करके सिद्धि लाभ करता है ॥ ४ ॥

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।
आत्मनः सुखमन्विच्छन्न स प्रेत्य सुखी भवेत् ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अपने सुखकी इच्छासे अहिंसक जीवोंको दंडेसे मारता है, वह परलोकमें जाके सुखी नहीं होता ॥ ५ ॥

आत्मोपमश्च भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सब जीवोंके विषयमें आत्मसदृश, दण्डरहित और जितक्रोध है, वह परलोकमें जाके सुखी होता है ॥ ६ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।
देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ७ ॥

जो सब सबकी आत्माको अपनी ही आत्मा मानता है; सब प्राणियोंको आत्मारूपसे तत्त्व-दृष्टिके द्वारा देखते हैं, उन गमनागमनसे रहित ज्ञानीकी गतिका पता लगानेके विषयमें देवता लोग भी मुग्ध होते हैं ॥ ७ ॥

न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो विषय अपने प्रतिकूल हो वह दूसरेके विषयमें सन्धान न करे; संक्षेप रीतिसे यही धर्म है, कामवशसे भिन्न वर्ताव होता है ॥ ८ ॥

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः समाधिमधिगच्छति ॥ ९ ॥

देना और न देना, सुख–दुःख, प्रिय–अप्रिय करनेसे मनुष्यको स्वयं जैसे हर्ष–शोकका अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरोंके लिये समझे अपनी उपमाके द्वारा प्रमाण पाता है॥ ९ ॥

यथा परः प्रक्रमतेऽपरेषु तथापरः प्रक्रमते परस्मिन् ।
एवैव तेऽस्तूपमा जीवलोके यथा धर्मो नैपुणेनोपदिष्टः ॥ १० ॥

अन्य पुरुष दूसरेके विषयमें जैसा व्यवहार करता है अर्थात् हिंसित होकर हिंसा किया करता है और पाले जानेपर पालन करता है; इसलिये जीवोंको पालना चाहिये, हिंसा करनी योग्य नहीं है । जीव लोकमें इस ही उपमादृष्टांतके द्वारा जो धर्म हुआ करता है, वह यहां कौशलपूर्वक उपदिष्ट हुआ है ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा तं सुरगुरुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
दिवमाचक्रमे धीमान्पश्यतामेव नस्तदा ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥ ४९९६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– बुद्धिशक्तिसे युक्त देवगुरु बृहस्पति धर्मराज युधिष्ठिरसे इतनी कथा कहके हम लोगोंके देखते ही स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ११ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ ११४ ॥ ४९९६ ॥

: ११५ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा शरतल्पे पितामहम् ।
पुनरेव महातेजाः पप्रच्छ वदतां वरम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– अनन्तर महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने शरशय्यामें सोये हुए वक्तृवर पितामहसे फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते ।
अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाबुद्धिमान ! वेद प्रमाण दर्शन निबन्धसे ऋषि, ब्राह्मण और देवगण अहिंसालक्षण धर्मकी ही प्रशंसा किया करते हैं ॥ २ ॥

कर्मणा मनुजः कुर्वन्हिंसां पार्थिवसत्तम ।
वाचा च मनसा चैव कथं दुःखात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे राजसत्तम ! बचन, मन और कर्मसे हिंसाका आचरण करनेवाला मनुष्य किस प्रकार उसके दुःखसे मुक्त होता है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

चतुर्विधेयं निर्दिष्टा अहिंसा ब्रह्मवादिभिः ।
एषैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— हे शत्रुसूदन ! ब्रह्मवादी ऋषि लोग अहिंसाको मन, वचन, कर्म और लक्षण भेदसे चार प्रकार कहा करते हैं; उसके बीच एकके व्यक्त होनेसे भी सब भांतिसे अहिंसा नहीं होती ॥ ४ ॥

यथा सर्वश्चतुष्पादस्त्रिभिः पादैर्न तिष्ठति ।
तथैवेयं महीपाल प्रोच्यते कारणैस्त्रिभिः ॥ ५ ॥

हे महाराज ! जैसे चार पैरोंवाला जीव तीन पांवोंसे खडा नहीं रह सकता, वैसे ही यह अहिंसा तीन कारणोंसे ही पालित हुई अहिंसा, अहिंसा कही नहीं जाती ॥ ५ ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ ६ ॥

जैसे पैरसे चलनेवाले जीवोंके क्षुद्र पदचिन्ह हाथीके पदचिन्हमें लीन होते हैं ॥ ६ ॥

एवं लोकेष्वहिंसा तु निर्दिष्टा धर्मतः परा ।
कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसैव च ॥ ७ ॥

वैसे ही इस जगतमें अहिंसामें सब धर्म समाविष्ट हुआ करते हैं; अर्थात् सब धर्मोंके बीच अहिंसा श्रेष्ठरूपसे वर्णित हुई है । जीव वचन, मन और कर्म द्वारा हिंसाके दोषसे लिप्त होता है ॥ ७ ॥

पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचाथ कर्मणा ।
त्रिकारणं तु निर्दिष्टं श्रूयते ब्रह्मवादिभिः ॥ ८ ॥

पहले मनही मन त्याग करना, अनन्तर वचन और कर्मसे परित्याग करना चाहिये, ब्रह्मवादियोंने हिंसाके तीन कारण कहे हैं ॥ ८ ॥

मनोवाचि तथास्वादे दोषा ह्येषु प्रतिष्ठिताः ।
न भक्षयन्त्यतो मांसं तपोयुक्ता मनीषिणः ॥ ९ ॥

मन, वचन और आस्वाद इन तीनोंमें ही हिंसाके सब दोष प्रतिष्ठित हैं । तपयुक्त मनीषि पुरुष इन्हीं कारणोंसे मांस भक्षण नहीं करते ॥ ९ ॥

दोषांस्तु भक्षणे राजन्मांसस्येह निबोध मे ।
पुत्रमांसोपमं जानन्खादते यो विचेतनः ॥ १० ॥

हे राजन् ! अब मेरे निकट यहां मांसभक्षणके दोष सुनो । हे महाराज ! जो अचेत पुरुष जानता हुआ भी पुत्रमांससदृश मांस भक्षण करता है ॥ १० ॥

मातृपितृसमायोगे पुत्रत्वं जायते यथा ।
रसं च प्रति जिह्वायाः प्रज्ञानं जायते तथा ।
तथा शास्त्रेषु नियतं रागो ह्यास्वादिताद्भवेत् ॥ ११ ॥

जैसे सदा पिता और माताके संयोगसे पुत्र जन्मता है, जिह्वामें जिस प्रकार रसका ज्ञान होता है, वैसे ही आस्वादित वस्तुओंसे आसक्ति उत्पन्न होती है, ऐसाही शास्त्रोंमें वर्णित है ॥ ११ ॥

असंस्कृताः संस्कृताश्च लवणालवणास्तथा ।
प्रज्ञायन्ते यथा भावास्तथा चित्तं निरुध्यते ॥ १२ ॥

असंस्कृत-संस्कृत (मसाले आदिसे रहित और सहित) नमकीन अथवा विना लवणके जिस प्रकार मांस भोजनकी वस्तुएं तैयार होती हैं, चित्त भी रुचि भेदके अनुसार उन्हींमें आसक्त होता है ॥ १२ ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गाद्यांस्तन्त्रीशब्दांश्च पुष्कलान् ।
निषेविष्यन्ति वै मन्दा मांसभक्षाः कथं नराः ॥ १३ ॥

मांस भक्षण करनेवाले नीच पुरुष परलोकमें भेरी, शङ्ख, मृदङ्गादिवाद्य तथा तन्त्रीके अत्यन्त मधुर शब्दको किस प्रकार सुनेंगे ? ॥ १३ ॥

अचिन्तितमनुद्दिष्टमसंकल्पितमेव च ।
रसं गृद्ध्याभिभूता वै प्रशंसन्ति फलार्थिनः ।
प्रशंसा ह्येव मांसस्य दोषकर्मफलान्विता ॥ १४ ॥

जो मांसके रसकी आकांक्षासे अभिभूत होते हैं, वे फलार्थी पुरुषही उसकी प्रशंसा किया करते हैं । और वे अचिन्तित, अनिर्दिष्ट और असंकल्पित दुर्गतिको प्राप्त होते हैं । मांसकी प्रशंसा भी दोषकर्मयुक्त होती है ॥ १४ ॥

जीवितं हि परित्यज्य बहवः साधवो जनाः ।
स्वमांसैः परमांसानि परिपाल्य दिवं गताः ॥ १८ ॥

बहुतेरे साधु पुरुष अपना जीवन त्यागके निज मांससे दूसरोंके जीवनकी रक्षा करके स्वर्गमें गये हैं ॥ १८ ॥

एवमेषा महाराज चतुर्भिः कारणैर्वृता ।
अहिंसा तव निर्दिष्टा सर्वधर्मार्थसंहिता ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥ ५०१२ ॥

हे महाराज ! यह तुम्हारे निकट सर्वधर्मानुसंहित, चारों कारणोंसे परिवृत, अहिंसाका विषय कहा गया ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ पंद्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११५ ॥ ५०१२ ॥

: ११६ :

युधिष्ठिर उवाच—

अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया ।
श्राद्धेषु च भवानाह पितॄनामिषकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— अहिंसाको आपने बार बार परम धर्म कहा है, परन्तु यह भी वर्णन किया है, कि श्राद्धमें पितर लोग मांसके अभिलाषी होते हैं ॥ १ ॥

मांसैर्बहुविधैः प्रोक्तस्त्वया श्राद्धविधिः पुरा ।
अहत्वा च कुतो मांसमेवमेतद्विरुध्यते ॥ २ ॥

पहले आपने अनेक प्रकारके मांससे श्राद्धानुष्ठानका विषय कहा है, बिना हिंसाके मांस कहां मिलेगा; इसलिये इस वाक्यके साथ पूर्व वाक्यका विरोध होता है ॥ २ ॥

जातो नः संशयो धर्मे मांसस्य परिवर्जने ।
दोषो भक्षयतः कः स्यात्कश्चाभक्षयतो गुणः ॥ ३ ॥

इसीसे मांसपरित्यागरूपी धर्ममें हम लोगोंको सन्देह उत्पन्न हुआ है; मांस खानेवालोंको क्या दोष होता है ? और न खानेसेही कौनसे लाभ हुआ करते हैं ? ॥ ३ ॥

हत्वा भक्षयतो वापि परेणोपहृतस्य वा ।
हन्याद्वा यः परस्यार्थे क्रीत्वा वा भक्षयेन्नरः ॥ ४ ॥

स्वयं मारके खानेसे अथवा दूसरेके द्वारा दिये हुए मांसका भक्षण करनेसे क्या दोष होता है ? जो दूसरेके खानेके लिये पशु मारता है और जो खरीदकर मांस खाता है, उसको क्या दोष होता है ॥ ४ ॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन कथ्यमानं त्वयानघ ।
निश्चयेन चिकीर्षामि धर्ममेतं सनातनम् ॥ ५ ॥
हे पापरहित ! मैं चाहता हूं कि, इस विषयको आप यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये; मैं इस सनातन धर्मका निश्चयसे पालन करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ५ ॥

कथमायुरवाप्नोति कथं भवति सत्त्ववान् ।
कथमव्यङ्गतामेति लक्षण्यो जायते कथम् ॥ ६ ॥
पुरुषको किस प्रकार परमायु प्राप्त होती है ? किस प्रकार मनुष्य बलवान् हुआ करता है ? किस तरह वह अव्यङ्ग होता है और किस कारणसे लक्षणसम्पन्न होके जन्मता है ? ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच—
मांसस्य भक्षणे राजन्योऽधर्मः कुरुपुंगव ।
तं मे शृणु यथातत्त्वं यश्चास्य विधिरुत्तमः ॥ ७ ॥
भीष्म बोले– हे कुरुश्रेष्ठ महाराज ! मांस भक्षण करनेसे जो अधर्म होता है और इस विषयमें जो श्रेष्ठ विधि है, उसे मेरे निकट यथार्थ रीतिसे सुनो ॥ ७ ॥

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै कृतात्मभिः ॥ ८ ॥
जो लोग सौन्दर्य, अव्यङ्गता, आयु, बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मृति प्राप्त करनेकी कामना करते थे, उन महानुभावोंने हिंसाका त्याग किया था ॥ ८ ॥

ऋषीणामत्र संवादो बहुशः कुरुपुंगव ।
बभूव तेषां तु मतं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
हे कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस विषयमें ऋषियोंके बहुतसे संवाद हैं, इस लिये उन लोगोंका जो मत निश्चित हुआ, उसे सुनो ॥ ९ ॥

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन्मधु मांसं च सममेतद्युधिष्ठिर ॥ १० ॥
हे युधिष्ठिर ! जो यतव्रती होके प्रति महीने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करता है, और जो मद्य और मांसका त्याग करता है, उन दोनोंको समान फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

सप्तर्षयो वालखिल्यास्तथैव च मरीचिपाः ।
अमांसभक्षणं राजन्प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ११ ॥
हे महाराज सप्तर्षि, वालखिल्य मुनि और मरीचिप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) मनीषिवृन्द मांस भक्षण न करनेकी ही प्रशंसा किया करते हैं ॥ ११ ॥

न भक्षयति यो मांसं न हन्यान्न च घातयेत् ।
तं मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

जो मनुष्य मांस भक्षण नहीं करता और पशुओंको नहीं मारता और दूसरेसे ही हिंसा नहीं कराता है, स्वायम्भुव मनुने उसे ही सब प्राणियोंका मित्र कहा है ॥ १२ ॥

अधृष्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
साधूनां संमतो नित्यं भवेन्मांसस्य वर्जनात् ॥ १३ ॥

जो मांसका परित्याग करता है, वह सर्वभूतोंके आदरणीय, सब जीवोंके विश्वसनीय और सदा साधुओंसे सम्मानित होता है ॥ १३ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति ॥ १४ ॥

धर्मात्मा नारद मुनि कहते हैं, कि जो पुरुष दूसरेके मांससे निज मांसकी वृद्धि करनेकी इच्छा करता है, वह सदा दुःखी होता है ॥ १४ ॥

ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्त्येति प्राहैवं स बृहस्पतिः ॥ १५ ॥

बृहस्पति कहते हैं, मद्य पीने और मांस भक्षणसे निवृत्त होना, दान, यज्ञ तथा तपस्याके तुल्य हैं ॥ १५ ॥

मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम ॥ १६ ॥

जो सौ वर्षोंतक प्रति महीने अश्वमेध यज्ञ करता और जो मांस भक्षणसे निवृत्त रहता है, मेरे मतमें वे दोनों ही समान हैं ॥ १६ ॥

सदा यजति सत्रेण सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति मधुमांसस्य वर्जनात् ॥ १७ ॥

मद्य और मांसको त्यागनेसे पुरुष सदा यज्ञ द्वारा यजन करता है, सदा दान करनेका फल पाता और सदा तपस्वी हुआ करता है ॥ १७ ॥

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वयज्ञाश्च भारत ।
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्तते ॥ १८ ॥

हे भारत ! जो पुरुष पहले मांसभक्षण करनेवाला हो और पश्चात् उससे निवृत्त होता है, उससे जो पुण्य फल हुआ करता है, उसे सब वेद और यज्ञ भी प्रदान करनेके लिये समर्थ नहीं है ॥ १८ ॥

×

दुष्करं च रसज्ञेन मांसस्य परिवर्जनम् ।
चर्तुं व्रतमिदं श्रेष्ठं सर्वप्राण्यभयप्रदम् ॥ १९ ॥

मांसके रसका आस्वादन करनेपर मांस परित्याग करना और सब प्राणियोंको अभयप्रद इस अत्यंत श्रेष्ठ अहिंसा व्रतका पालन करना अत्यंत कठिन है ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु यो विद्वान्ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ॥ २० ॥

जो विद्वान् पुरुष सब जीवोंको अभय दक्षिणा दान करता है, वह इस लोकमें निःसन्देह प्राणदाता होता है ॥ २० ॥

एवं वै परमं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ।
प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनीषिवृन्द अहिंसारूप परम धर्मकी प्रशंसा करते हैं । जैसे अपने प्राण मनुष्यको प्रिय हैं, उसी तरह प्राणियोंको अपने प्राण प्रिय हैं ॥ २१ ॥

आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः ।
मृत्युतो भयमस्तीति विदुषां भूतिमिच्छताम् । ॥ २२ ॥

महात्मा बुद्धिमान् मनुष्योंको अपने समान सब प्राणियोंको समझना चाहिये; जब कल्याणके अभिलाषी विद्वानोंको भी मृत्युसे भय है ॥ २२ ॥

किं पुनर्हन्यमानानां तरसा जीवितार्थिनाम् ।
अरोगाणामपापानां पापैर्मांसोपजीविभिः ॥ २३ ॥

तब जीवित रहनेकी इच्छावाले रोगहीन निष्पाप जीवोंको मांसोपजीवी पापी पुरुषोंके द्वारा जो बलपूर्वक मारे जाते हैं, क्यों न भय प्राप्त होगा ? ॥ २३ ॥

तस्माद्विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्जनम् ।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च ॥ २४ ॥

हे महाराज ! इसलिये मांसके परित्यागको ही धर्म, स्वर्ग और सुखका उत्तम स्थान जानो ॥२४॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥ २५ ॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तपस्या है और अहिंसा परम सत्य है; अर्थात् अहिंसासे ही सत्यकी प्रवृत्ति होती है ॥ २५ ॥

न हि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषोऽस्य भक्षणे ॥ २६ ॥

तृण, काष्ठ और पत्थरसे मांस नहीं उत्पन्न होता है, जीवकी हिंसा करनेसे ही मांस प्राप्त होता है; इसीसे उसके भक्षण करनेमें दोष हुआ करता है ॥ २६ ॥

स्वाहास्वधामृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।
क्रव्यादान्राक्षसान्विद्धि जिह्मानृतपरायणान् ॥ २७ ॥

जो स्वाहा और स्वधा मन्त्रोंसे प्रदान किया हुआ अमृत भोजन करते हैं तथा सत्य और सरलताके प्रेमी हैं, वे देवता हैं; और जो कुटिलता तथा असत्य भाषण करनेवाले मांसभक्षण करते हैं, उन्हें राक्षस जानो ॥ २७ ॥

कान्तारेष्वथ घोरेषु दुर्गेषु गहनेषु च ।
रात्रावहनि संध्यासु चत्वरेषु सभासु च ।
अमांसभक्षणे राजन्भयमन्तो न गच्छति ॥ २८ ॥

हे महाराज ! दुर्गम पथ, घोर दुर्ग, गहन वन, रात्रि–दिन और सन्ध्याके समय, चौराहे, सभा आदिमें मांस भक्षण न करनेवाले मनुष्यको दूसरोंके द्वारा भय नहीं होता ॥ २८ ॥

यदि चेत्खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत् ।
घातकः खादकार्थाय तं घातयति वै नरः ॥ २९ ॥

यदि कोई मांस खानेवाला न रहे, तो घातक भी कोई नहीं रहे, खानेवालेके निमित्त ही घातक होता है; मनुष्य मांस–भक्षकके लिये पशुओंका वध किया करता है ॥ २९ ॥

अभक्ष्यमेतदिति वा इति हिंसा निवर्तते ।
खादकार्थमतो हिंसा मृगादीनां प्रवर्तते ॥ ३० ॥

अथवा यह मांस अभक्ष्य है, ऐसा समझकर लोग उसे खाना छोड दें तो पशुओंकी हिंसा बंद होगी; क्योंकि मांस खानेवालोंके लिये ही मृगादिकोंकी हिंसा प्रवर्तित हुई है ॥ ३० ॥

यस्माद्ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते ।
तस्माद्विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ ३१ ॥

हे महातेजस्वी ! हन्यमान जीव हिंसकोंकी आयु ग्रास करता है, इसलिये जो निज उन्नतिकी अभिलाषा करता है, वह मांस भक्षण न करे ॥ ३१ ॥

त्रातारं नाधिगच्छन्ति रौद्राः प्राणिविहिंसकाः ।
उद्वेजनीया भूतानां यथा व्यालमृगास्तथा ॥ ३२ ॥

प्राणिहिंसक रौद्रकर्म करनेवाले मनुष्योंको दूसरे जन्ममें कोई संरक्षक नहीं प्राप्त करते हैं, वे मांसभक्षी जीवोंकी भांति सब जीवोंके ही उद्वेगजनक होते हैं ॥ ३२ ॥

लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च ।
संसर्गाद्वाथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम् ॥ ३३ ॥

लोभसे, बुद्धिके मोहसे, बलवीर्यके लिये अथवा पापियोंके संसर्गसे मनुष्योंकी अधर्ममें रुचि होती है ॥ ३३ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासे वसति यत्रतत्राभिजायते ॥ ३४ ॥
पराये मांससे निज मांसकी वृद्धि करनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य व्याकुल होके निवास करता और जहां तहां जन्म लिया करता है ॥ ३४ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥ ३५ ॥
संयतचित्तवाले श्रेष्ठ महर्षि मांस भक्षणके त्यागको धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला स्वर्गजनक तथा महत् कल्याणमय साधन कहते हैं ॥ ३५ ॥

इदं तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत्पुरा मया।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ॥ ३६ ॥
हे कौन्तेय ! मांसभक्षणसे जो सब दोष होते हैं, पहले समयमें महामुनि मार्कण्डेयके मुखसे मैंने उसे सुना था ॥ ३६ ॥

यो हि खादति मांसानि प्राणिनां जीवितार्थिनाम्।
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ॥ ३७ ॥
जीनेकी इच्छा करनेवाले मृत वा मारे हुए जीवोंका जो पुरुष मांस भक्षण करता है, वह उन प्राणियोंको मारनेवालेके सदृश ही माना जाता है ॥ ३७ ॥

धनेन क्रायको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥ ३८ ॥
खरीदनेवाले धनसे, खानेवाले उपभोगके लिये, कोई वध और बन्धनादिसे पशुओंको मारता है। इस प्रकार यह तीन प्रकारसे प्राणियोंका वध है ॥ ३८ ॥

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमन्येत हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते ॥ ३९ ॥
जो स्वयं मांस भक्षण न करके भक्षकका अनुमोदन करता है, वह भावदोषके कारण पापका दोषी होता है; अथवा जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसक दोषोंसे लिप्त होता है ॥ ३९ ॥

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान्प्राणिनामिह ॥ ४० ॥
जो मनुष्य मांस भक्षण न करके प्राणियोंके विषयमें दयावान् होता है, वह सब जीवोंके अनभिभवनीय, आयुष्मान्, रोगरहित और सुखी हुआ करता है ॥ ४० ॥

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्टः स्यादिति श्रुतिः ॥ ४१ ॥
ऐसा सुना जाता है, कि सुवर्णदान, गोदान और भूमिदानकी अपेक्षा मांसभक्षण न करनेसे उसकी अपेक्षा विशिष्ट धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

अप्रोक्षितं वृथामांसं विधिहीनं न भक्षयेत् ।
भक्षयन्निरयं याति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ४२ ॥
अप्रोक्षित विधिसे रहित वृथा मांस भक्षण न करे; यदि मनुष्य वैसा मांस भक्षण करता है, तो निःसन्देह नरकमें जाता है ॥ ४२ ॥

प्रोक्षिताभ्युक्षितं मांसं तथा ब्राह्मणकाङ्क्षया ।
अल्पदोषमिह ज्ञेयं विपरीते तु लिप्यते ॥ ४३ ॥
प्रोक्षित अथवा अभ्युक्षित अथवा ब्राह्मणोंकी कामनासे यदि मांस भक्षण करे, तो उसमें अल्प दोष जानना चाहिये और यदि इसके विपरीत किया जाय, तो मनुष्य दोषोंसे लिप्त हुआ करता है ॥ ४३ ॥

खादकस्य कृते जन्तुं यो हन्यात्पुरुषाधमः ।
महादोषकरस्तत्र खादको न तु घातकः ॥ ४४ ॥
जो अधम पुरुष खानेवालोंके लिये पशुओंको मारता है, उस विषयमें घातक ही महादोषसे लिप्त होता है, खानेवाले उसकी भांति दोषयुक्त नहीं होते ॥ ४४ ॥

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधो जनः ।
हन्याज्जन्तुं मांसगृध्नी स वै नरकभाङ्नरः ॥ ४५ ॥
जो यज्ञोपनिषद्बोधसे रहित मनुष्य अश्वमेध आदि यज्ञ तथा वेदमें कहे हुए उपायका अवलम्बन करके जीवहिंसा करता है, उस यज्ञच्छलसे मांसका अभिलाषी पुरुष नरकगामी होता है ॥ ४५ ॥

भक्षयित्वा तु यो मांसं पश्चादपि निवर्तते ।
तस्यापि सुमहान्धर्मो यः पापाद्विनिवर्तते ॥ ४६ ॥
जो पहले मांस खाके पश्चात् उसे भक्षण करनेसे विरत होता है, उसे भी महान् धर्मकी प्राप्ति हुआ करती है; क्योंकि वह पापसे निवृत्त होता है ॥ ४६ ॥

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च घातकाः सर्व एव ते ॥ ४७ ॥
जो मनुष्य हत्याके लिये पशु लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है, जो क्रय-विक्रय करता है, पकाता और उपभोक्ता है, ये सब कोई हिंसक ही हैं ॥ ४७ ॥

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम् ।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिश्चितम् ॥ ४८ ॥
इस विषयमें ब्रह्माके द्वारा कथित, पुरातन, ऋषियोंसे सेवित और वेदोंमें निश्चित किया हुआ एक दूसरा प्रमाण कहता हूं ॥ ४८ ॥

प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे फलार्थिभिरभिद्रुते ।
यथोक्तं राजशार्दूल न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥ ४९ ॥
हे नृपश्रेष्ठ ! प्रवृत्तिलक्षणयुक्त धर्ममें रत फलार्थी पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, वह मोक्षके अभिलाषी मनुष्योंका धर्म नहीं है ॥ ४९ ॥

हविर्यत्संस्कृतं मन्त्रैः प्रोक्षिताभ्युक्षितं शुचि ।
वेदोक्तेन प्रमाणेन पितृणां प्रक्रियासु च ।
अतोऽन्यथा वृथामांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत् ॥ ५० ॥
हे भरतश्रेष्ठ ! वेदोक्त प्रमाण और पितरोंके श्राद्धके समयमें जो मांस मन्त्रसे संस्कारयुक्त, प्रोक्षित और अभ्युक्षित होता है, वही पवित्र हविस्वरूप है; इसके विपरीत वृथा मांसको मनुने अभक्ष्य कहा है ॥ ५० ॥

अस्वर्ग्यमयशस्यं च रक्षोवद्भरतर्षभ ।
विधिना हि नराः पूर्वं मांसं राजन्नभक्षयन् ॥ ५१ ॥
हे भरतर्षभ ! मनुष्य अवैध अस्वर्ग्य, अयशस्य तथा राक्षसोंका भक्ष्य जैसा मांस भक्षण न करे, राजन् ! पहले मनुष्य विधिपूर्वक ही मांसका भक्षण करते थे ॥ ५१ ॥

य इच्छेत्पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥ ५२ ॥
जो मनुष्य अपने आपको अत्यंत उपद्रवरहित रखनेकी इच्छा करता है, वह इस जगतमें सब प्रकारसे प्राणियोंके मांसका त्याग करे ॥ ५२ ॥

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ ५३ ॥
सुना जाता है, कि पहले समयमें मनुष्योंके यज्ञमें व्रीहिमय पशुकाही उपयोग होता था; पुण्यलोकपरायण यज्ञ करनेवाले उन्हींके सहारे यज्ञ करते थे ॥ ५३ ॥

ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा ।
अभक्ष्यमिति मांसं स प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ॥ ५४ ॥
हे प्रभो ! पहले समयमें ऋषियोंने चेदिपति वसुसे सन्देहयुक्त होकर प्रश्न किया था । उस समय वसु राजाने अभक्ष्य मांसको भी भक्ष्य करके कहा ॥ ५४ ॥

आकाशान्मेदिनीं प्राप्तस्ततः स पृथिवीपतिः ।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ॥ ५५ ॥

इस अनुचित निर्णयके कारण वह राजा वसु आकाशसे पृथ्वीपर गिरे; फिर पृथ्वीपर भी यही निर्णय देनेके कारण पातालमें प्रविष्ट हुए ॥ ५५ ॥

प्रजानां हितकामेन त्वगस्त्येन महात्मना ।
आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षितास्तपसा मृगाः ॥ ५६ ॥

प्रजाकी हितकामना करनेवाले महाभाग अगस्त्यने तपस्याके सहारे सर्वदैवत, आरण्यक मृगोंको प्रोक्षण किया था ॥ ५६ ॥

क्रिया ह्येवं न हीयन्ते पितृदैवतसंश्रिताः ।
प्रीयन्ते पितरश्चैव न्यायतो मांसतर्पिताः ॥ ५७ ॥

पितर और देवसम्बन्धीय कार्य मांसके द्वारा किये जानेपर निकृष्ट नहीं होते । पितर लोग न्यायपूर्वक मांससे तृप्त होकर प्रीतियुक्त होते हैं ॥ ५७ ॥

इदं तु शृणु राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ ।
अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप ॥ ५८ ॥

हे नरनाथ ! पापरहित राजेन्द्र ! मांस भक्षण न करनेसे सब सुख मिलता है, यह मेरी कही हुई बात सुनो ॥ ५८ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत्सुदारुणम् ।
यश्चैकं वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम ॥ ५९ ॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक दारुण तपस्या करता है और जो मांसका परित्याग किया करता है, मेरे मतमें ये दोनों ही समान हैं ॥ ५९ ॥

कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप ।
वर्जयेत्सर्वमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते ॥ ६० ॥

हे नरनाथ ! शरद् ऋतु शुक्लपक्षमें मद्य और मांसका परित्याग करे, क्योंकि उससे धर्म होता है ॥ ६० ॥

चतुरो वार्षिकान्मासान्यो मांसं परिवर्जयेत् ।
चत्वारि भद्राण्याप्नोति कीर्तिमायुर्यशो बलम् ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य वर्षाके चार महीनोंमें मांसका त्याग करता है, वह कीर्ति, आयु, यश और बल इन चार कल्याणमयी वस्तुओंको प्राप्त करता है ॥ ६१ ॥

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम्।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिश्चितम् ॥ ४८ ॥
इस विषयमें ब्रह्माके द्वारा कथित, पुरातन, ऋषियोंसे सेवित और वेदोंमें निश्चित किया हुआ एक दूसरा प्रमाण कहता हूँ ॥ ४८ ॥

प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे फलार्थिभिरभिद्रुते।
यथोक्तं राजशार्दूल न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥ ४९ ॥
हे नृपश्रेष्ठ! प्रवृत्तिलक्षणयुक्त धर्ममें रत फलार्थी पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, वह मोक्षके अभिलाषी मनुष्योंका धर्म नहीं है ॥ ४९ ॥

हविर्यत्संस्कृतं मन्त्रैः प्रोक्षिताभ्युक्षितं शुचि।
वेदोक्तेन प्रमाणेन पितृणां प्रक्रियासु च।
अतोऽन्यथा वृथामांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत् ॥ ५० ॥
हे भरतश्रेष्ठ! वेदोक्त प्रमाण और पितरोंके श्राद्धके समयमें जो मांस मन्त्रसे संस्कारयुक्त, प्रोक्षित और अभ्युक्षित होता है, वही पवित्र हविस्वरूप है; इसके विपरीत वृथा मांसको मनुने अभक्ष्य कहा है ॥ ५० ॥

अस्वर्ग्यमयशस्यं च रक्षोवद्भरतर्षभ।
विधिना हि नराः पूर्वं मांसं राजन्नभक्षयन् ॥ ५१ ॥
हे भरतर्षभ! मनुष्य अवैध अस्वर्ग्य, अयशस्य तथा राक्षसोंका भक्ष्य जैसा मांस भक्षण न करे, राजन्! पहले मनुष्य विधिपूर्वक ही मांसका भक्षण करते थे ॥ ५१ ॥

य इच्छेत्पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥ ५२ ॥
जो मनुष्य अपने आपको अत्यंत उपद्रवरहित रखनेकी इच्छा करता है, वह इस जगतमें सब प्रकारसे प्राणियोंके मांसका त्याग करे ॥ ५२ ॥

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ ५३ ॥
सुना जाता है, कि पहले समयमें मनुष्योंके यज्ञमें व्रीहिमय पशुकाही उपयोग होता था; पुण्यलोकपरायण यज्ञ करनेवाले उन्हींके सहारे यज्ञ करते थे ॥ ५३ ॥

ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा।
अभक्ष्यमिति मांसं स प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ॥ ५४ ॥
हे प्रभो! पहले समयमें ऋषियोंने चेदिपति वसुसे सन्देहयुक्त होकर प्रश्न किया था। उस समय वसु राजाने अभक्ष्य मांसको भी भक्ष्य करके कहा ॥ ५४ ॥

आकाशान्मेदिनीं प्राप्तस्ततः स पृथिवीपतिः ।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ॥ ५५ ॥

इस अनुचित निर्णयके कारण वह राजा वसु आकाशसे पृथ्वीपर गिरे; फिर पृथ्वीपर भी यही निर्णय देनेके कारण पातालमें प्रविष्ट हुए ॥ ५५ ॥

प्रजानां हितकामेन त्वगस्त्येन महात्मना ।
आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षितास्तपसा मृगाः ॥ ५६ ॥

प्रजाकी हितकामना करनेवाले महाभाग अगस्त्यने तपस्याके सहारे सर्वदैवत, आरण्यक मृगोंका प्रोक्षण किया था ॥ ५६ ॥

क्रिया ह्येवं न हीयन्ते पितृदैवतसंश्रिताः ।
प्रीयन्ते पितरश्चैव न्यायतो मांसतर्पिताः ॥ ५७ ॥

पितर और देवसम्बन्धीय कार्य मांसके द्वारा किये जानेपर निकृष्ट नहीं होते । पितर लोग न्यायपूर्वक मांससे तृप्त होकर प्रीतियुक्त होते हैं ॥ ५७ ॥

इदं तु शृणु राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ ।
अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप ॥ ५८ ॥

हे नरनाथ ! पापरहित राजेन्द्र ! मांस भक्षण न करनेसे सब सुख मिलता है, यह मेरी कही हुई बात सुनो ॥ ५८ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत्सुदारुणम् ।
यश्चैकं वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम ॥ ५९ ॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक दारुण तपस्या करता है और जो मांसका परित्याग किया करता है, मेरे मतमें ये दोनों ही समान हैं ॥ ५९ ॥

कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप ।
वर्जयेत्सर्वमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते ॥ ६० ॥

हे नरनाथ ! शरद् ऋतु शुक्लपक्षमें मद्य और मांसका परित्याग करे, क्योंकि उससे धर्म होता है ॥ ६० ॥

चतुरो वार्षिकान्मासान्यो मांसं परिवर्जयेत् ।
चत्वारि भद्राण्याप्नोति कीर्तिमायुर्यशो बलम् ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य वर्षाके चार महीनोंमें मांसका त्याग करता है, वह कीर्ति, आयु, यश और बल इन चार कल्याणमयी वस्तुओंको प्राप्त करता है ॥ ६१ ॥

अथ वा मासमप्येकं सर्वमांसान्यभक्षयन् ।
अतीत्य सर्वदुःखानि सुखी जीवेन्निरामयः ॥ ६२ ॥

अथवा जो एक महिनेतक सब प्रकारके मांसका भक्षण नहीं करता, वह सब क्लेशोंको अतिक्रम कर निरामय होके परम सुखसे जीवनका समय बिताता है ॥ ६२ ॥

ये वर्जयन्ति मांसानि मासशः पक्षशोऽपि वा ।
तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते ॥ ६३ ॥

जो एक महिना वा एक पक्ष मांस नहीं खाते, उन हिंसानिवृत्त लोगोंके लिये ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है ॥ ६३ ॥

मांसं तु कौमुदं पक्षं वर्जितं पार्थ राजभिः ।
सर्वभूतात्मभूतैस्तैर्विज्ञातार्थपरावरैः ॥ ६४ ॥

हे पार्थ ! जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ सदसत् वस्तुओंको जाना है और सब जीवोंको आत्मस्वरूप जानते हैं, वे राजा लोग अश्विन मासके शुक्लपक्षमें मांस भक्षण नहीं करते थे ॥ ६४ ॥

नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना ।
आयुषा चानरण्येन दिलीपरघुपूरुभिः ॥ ६५ ॥

नाभाग, अम्बरीष, महानुभाव गय, आयु, अनरण्य, दिलीप, रघु, पूरु, ॥ ६५ ॥

कार्तवीर्यानिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृगेण विष्वगश्वेन तथैव शशबिन्दुना ।
युवनाश्वेन च तथा शिबिनौशीनरेण च ॥ ६६ ॥

कार्त्तवीर्य, अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विष्वगश्व, शशबिन्दु, युवनाश्व, शिबि, उशीनर, इन सब राजाओंने शरत्कालके शुक्लपक्षमें मांस भक्षण नहीं किया था ॥ ६६ ॥

श्येनचित्रेण राजेन्द्र सोमकेन वृकेण च ।
रैवतेन रन्तिदेवेन वसुना सृञ्जयेन च ॥ ६७ ॥

हे राजेन्द्र ! श्येनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रन्तिदेव, वसु, सृञ्जय, ॥ ६७ ॥

दुःषन्तेन करूषेण रामालर्कनलैस्तथा ।
विरूपाश्वेन निमिना जनकेन च धीमता ॥ ६८ ॥

दूसरे अन्य नरेश, कृप, भरत, दुःषन्त, करूष, राम, अलर्क, नल, विरूपाश्व, निमि, धीमान् जनक, ॥ ६८ ॥

सिलेन पृथुना चैव वीरसेनेन चैव ह ।
इक्ष्वाकुणा शंभुना च श्वेतेन सगरेण च ॥ ६९ ॥

सिल, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शम्भु, श्वेत, सगर ॥ ६९ ॥

एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ।
शारदं कौमुदं मासं ततस्ते स्वर्गमाप्नुवन् ॥ ७० ॥

पहले समयमें इन सब तथा दूसरे राजा लोग कभी मांस नहीं खाते तथा शरत्कालके शुक्ल-पक्षमें भी उन्होंने मांस त्याग करनेसे ये स्वर्ग लोकमें गये हैं ॥ ७० ॥

ब्रह्मलोके च तिष्ठन्ति ज्वलमानाः श्रियान्विताः ।
उपास्यमाना गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसमन्विताः ॥ ७१ ॥

और श्रीसम्पन्न तथा दीप्यमान होके ब्रह्मलोकमें निवास करते हुए सहस्रों स्त्रियोंसे युक्त होकर गन्धर्वोंसे पूजित हुआ करते हैं ॥ ७१ ॥

तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसालक्षणं शुभम् ।
ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठे वसन्ति ते ॥ ७२ ॥

इसलिये जो महात्मा इस अहिंसाधर्मलक्षणयुक्त उत्तम शुभ धर्मका आचरण करते हैं, वे स्वर्गमें वास किया करते हैं ॥ ७२ ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ।
विशिष्टतां ज्ञातिषु च लभन्ते नात्र संशयः ॥ ७३ ॥

इस लोकमें जो धार्मिक पुरुष जन्मसे ही मधु और मांसका परित्याग करते और मद्य नहीं पीते, वेही सब मुनि माने गये हैं । उन्हें स्वजनोंके बीच विशिष्टता प्राप्त होती है, इस विषयमें सन्देह नहीं है ॥ ७३ ॥

आपन्नश्चापदो मुच्येद्बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
मुच्येत्तथातुरो रोगाद्दुःखान्मुच्येत दुःखितः ॥ ७४ ॥

विपदयुक्त पुरुष आपदोंसे बंधनमें बंधा हुआ बंधनसे, रोगी मनुष्य रोगसे और दुःखित पुरुष दुःखसे छुटकारा पाता है ॥ ७४ ॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेत रूपवांश्च भवेन्नरः ।
बुद्धिमान्वै कुरुश्रेष्ठ प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ७५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! जो मनुष्य मांस भक्षण नहीं करता, उसे तिर्यक्योनि प्राप्त नहीं होती, वह रूपवान् और समृद्धिमान होके महत् यश पाता है ॥ ७५ ॥

एतत्ते कथितं राजन्मांसस्य परिवर्जने ।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च विधानमृषिनिर्मितम् ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥ ५०८८ ॥

हे महाराज ! यह तुम्हारे निकट मांस परित्याग विषयमें प्रवृत्ति और निवृत्तियुक्त ऋषियोंकी कही हुई विधि वर्णित हुई ॥ ७६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ ११६ ॥ ५०८८ ॥

: ११७ :

युधिष्ठिर उवाच—

इमे वै मानवा लोके भृशं मांसस्य गृद्धिनः ।
विसृज्य भक्षान्विविधान्यथा रक्षोगणास्तथा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— जगत्‌के बीच ये मनुष्य अच्छे विविध खाद्य पदार्थ त्यागके महान् राक्षसोंके समान मांसका आस्वाद लेना चाहते हैं ॥ १ ॥

नापूपान्विविधाकारान्शाकानि विविधानि च ।
षाण्डवान्रसयोगांश्च तथेच्छन्ति यथामिषम् ॥ २ ॥

ये लोग जिस प्रकार मांसभक्षणकी अभिलाष किया करते हैं, अनेक प्रकारके अपूप, शाक और रसीली वस्तुओंको भोजन करनेमें वैसी इच्छा नहीं करते ॥ २ ॥

तत्र मे बुद्धिरत्रैव विषये परिमुह्यते ।
न मन्ये रसतः किंचिन्मांसतोऽस्तीह किंचन ॥ ३ ॥

इसलिये इस विषयके विचारनेमें मेरी बुद्धि अत्यन्त मुग्ध होती है। मेरी समझमें यहां मांससे बढके उत्तम रसयुक्त वस्तु और कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

तदिच्छामि गुणाञ्श्रोतुं मांसस्याभक्षणेऽपि वा ।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! मांसके न खानेसे जो लाभ होते तथा भक्षण करनेसे जो दोष होते हैं, उसे भी सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ४ ॥

सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ यथावदिह धर्मतः ।
किं वा भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद्वदस्व मे ॥ ५ ॥

हे धर्मज्ञ ! कौन वस्तु भक्ष्य है और कौनसी अभक्ष्य है, उसे धर्मपूर्वक यथावत् रूपसे कहिये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
न मांसात्परमत्रान्यद्रसतो विद्यते भुवि ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— हे महाबाहो भरतश्रेष्ठ ! तुमने जो कहा वह यथार्थ है; भूलोकमें मांससे बढके परम रसयुक्त और कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥

क्षतक्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरताश्च ये ।
अध्वना कर्शितानां च न मांसाद्विद्यते परम् ॥ ७ ॥

कर्शित, क्षीण, सन्तप्त, ग्राम्य धर्ममें रत और मार्गसे थके हुए मनुष्योंके पक्षमें मांससे बढके श्रेष्ठ भक्ष्य दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

सद्यो वर्धयति प्राणान्पुष्टिमग्र्यां ददाति च ।
न भक्षोऽभ्यधिकः कश्चिन्मांसादस्ति परन्तप ॥ ८ ॥

हे शत्रुतापन ! मांस सदाही बलको बढाता तथा उत्तम पुष्टिका विधान करता है; इसलिये कोई भक्ष्य भी मांससे श्रेष्ठ नहीं है ॥ ८ ॥

विवर्जने तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान्मे निगदतः शृणु ॥ ९ ॥

हे कौरवनन्दन ! मांस न खानेसे जो सब फल मनुष्योंको प्राप्त होते हैं, उसे मैं कहता हूं, सुनो ॥ ९ ॥

स्वमांसं परमांसैर्यो विवर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मान्न नृशंसतरो नरः ॥ १० ॥

जो मनुष्य दूसरेके मांससे निज मांस बढानेकी अभिलाष करता है, उससे बढकर अत्यन्त क्षुद्र तथा निर्दयी पुरुष दूसरा कोई भी नहीं है ॥ १० ॥

न हि प्राणात्प्रियतरं लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद्दयां नरः कुर्याद्यथात्मनि तथा परे ॥ ११ ॥

जगत्के बीच अपने प्राणसे अधिक प्रिय वस्तु और कुछ भी विद्यमान नहीं है; इसलिये जिस प्रकार मनुष्य अपने ऊपर दयाकी अभिलाषा करता है, दूसरोंके विषयमें भी उसी भांति दया करे ॥ ११ ॥

शुक्राच्च तात संभूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तु महान्दोषो वधेन सह कल्पते ॥ १२ ॥

हे तात ! वीर्यसे मांस उत्पन्न होता है, इस विषयमें सन्देह नहीं है; इसलिये उसे भक्षण करनेसे प्राणीकी हिंसा करनेके कारण महान् दोष होता है ॥ १२ ॥

अहिंसालक्षणो धर्म इति वेदविदो विदुः ।
यदहिंस्रं भवेत्कर्म तत्कुर्यादात्मवान्नरः ॥ १३ ॥

वेदज्ञ पुरुष अहिंसाको ही धर्मका लक्षण जानते हैं; जो कर्म अहिंसायुक्त हो, आत्मवान् पुरुष उसे ही करे ॥ १३ ॥

पितृदैवतयज्ञेषु प्रोक्षितं हविरुच्यते ।
विधिना वेददृष्टेन तद्भुक्त्वेह न दुष्यति ॥ १४ ॥

पितृयज्ञ और देवयज्ञमें प्रोक्षित मांसही हविरूपसे वर्णित हुए है । इस लोकमें वेदविहित विधिके अनुसार मांस भक्षण करनेसे दोष नहीं होता ॥ १४ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तानां राक्षसो विधिरुच्यते ॥ १५ ॥

ऐसी श्रुति है, कि " यज्ञके लिये पशुवृन्द उत्पन्न हुए हैं । " वेदविधिसे अन्यथा आचरणमें प्रवृत्त मनुष्योंके अनुष्ठानको राक्षसधर्म कहते हैं ॥ १५ ॥

क्षत्रियाणां तु यो दृष्टो विधिस्तमपि मे शृणु ।
वीर्येणोपार्जितं मांसं यथा खादन्न दुष्यति ॥ १६ ॥

क्षत्रियोंकी जो विधि दीख पडती है, उसे भी मुझसे सुनो । क्षत्रिय बाहुबलसे प्राप्त हुए मांसको भक्षण करनेसे दोषयुक्त नहीं होता ॥ १६ ॥

आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षिताः सर्वशो मृगाः ।
अगस्त्येन पुरा राजन्मृगया येन पूज्यते ॥ १७ ॥

हे महाराज ! पहले समयमें अगस्त्य मुनिके द्वारा सर्व देवताओंके उद्देश्यसे जङ्गली पशु सब प्रकारसे प्रोक्षित हुए, इसहीसे मृगया प्रशंसनीय हुआ करती है ॥ १७ ॥

नात्मानमपरित्यज्य मृगया नाम विद्यते ।
समतामुपसंगम्य रूपं हन्यान्नवा नृप ॥ १८ ॥

अपने प्राणकी आशाको विना त्यागे मृगया नहीं होती । हिंसक पशुओंसे अपने प्राणनाशकी सम्भावना रहती है, इसलिये प्राणपणसे होनेवाली मृगया दोषका कारण नहीं है; समतायुक्त होके मनुष्य मृगयामें पशुओंको मारता है अथवा पशुओंके द्वारा मारा जाता है ॥ १८ ॥

अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत ।
लिप्यन्ते न हि दोषेण न चैतत्पातकं विदुः ॥ १९ ॥

हे भारत ! इस ही लिये समस्त राजर्षि लोग मृगयाके निमित्त जाते हैं, इसमें वे पापसे लिप्त नहीं होते और मृगयाको पाप नहीं समझते ॥ १९ ॥

न हि तत्परमं किंचिदिह लोके परत्र च ।
यत्सर्वेष्विह लोकेषु दया कौरवनन्दन ॥ २० ॥

हे कौरवनन्दन ! सब जीवोंके विषयमें दया करनेके सदृश श्रेष्ठ धर्म इस लोक और परलोकमें दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ २० ॥

न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः ।
दयावतामिमे लोकाः परे चापि तपस्विनाम् ॥ २१ ॥

दयावान् मनुष्योंको इस लोकमें कदापि भय नहीं होता, दयावान् तपस्वियोंकी इस लोक और परलोकमें जय होती है ॥ २१ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥ २२ ॥
हमने सुना है, कि जो दयावान् होके सब जीवोंको अभयदान करता है, सब प्राणी भी उसे अभय प्रदान करते हैं ॥ २२ ॥

क्षतं च स्खलितं चैव पतितं क्लिष्टमाहतम् ।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च ॥ २३ ॥
घायल, लडखडाता हुआ, पतित, क्लेशित और आहत पुरुषकी सम-विषम अवस्थामें सब प्राणी रक्षा किया करते हैं ॥ २३ ॥

नैनं व्यालमृगा घ्नन्ति न पिशाचा न राक्षसाः ।
मुच्यन्ते भयकालेषु मोक्षयन्ति च ये परान् ॥ २४ ॥
जो लोग भयके समयमें दूसरोंको छुडाते और मुक्त करते हैं, उन्हें हिंसक जीव, पिशाच और राक्षस भी नहीं मारते ॥ २४ ॥

प्राणदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ।
न ह्यात्मनः प्रियतरः कश्चिदस्तीति निश्चितम् ॥ २५ ॥
प्राणदानसे बढके परम दान न हुआ और न होगा । यह निश्चय है, कि अपने आत्मासे अधिक प्रिय और कुछ भी नहीं है ॥ २५ ॥

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायति वेपथुः ॥ २६ ॥
हे भारत ! मरना सब जीवोंको ही अनभिलषित है; मृत्युके समय सदा सभी प्राणियोंका शरीर शीघ्रही कांप उठता है ॥ २६ ॥

जातिजन्मजरादुःखे नित्यं संसारसागरे ।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च ॥ २७ ॥
सब जीव सदा गर्भवास जन्म और जरा आदिके दुःखके सहारे इस संसार-सागरमें परिभ्रमण करते हैं और मरनेके भयसे उद्विग्न होते हैं ॥ २७ ॥

गर्भवासेषु पच्यन्ते क्षाराम्लकटुकै रसैः ।
मूत्रश्लेष्मपुरीषाणां स्पर्शैश्च भृशदारुणैः ॥ २८ ॥
सब प्राणी गर्भवासके समय मूत्र, श्लेष्म और पुरीषमें रहकर खारे, खट्टे और कडवे रसोंसे जिनका स्पर्श अत्यंत कठोर है, पच्यमान हुआ करते हैं, जिस कारण उन्हें अत्यंत कष्ट होता है ॥ २८ ॥

जाताश्चाप्यवशास्तत्र छिद्यमानाः पुनः पुनः ।
पाट्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः ॥ २९ ॥
मांसलोभी जीव जन्म लेके भी उस समय अवश तथा विवश रहनेसे बार बार काटे और छांटे जाते हैं; यह प्रत्यक्ष दीख पडता है ॥ २९ ॥

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः ॥ ३० ॥
वे लोग अनेक योनियोंमें जन्म लेके फिर कुम्भीपाक नरकमें पकाये जाते हैं; वे आक्रान्त तथा म्रियमाण होके बार बार भ्रमण करते हैं ॥ ३० ॥

नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह ।
तस्मात्प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान्भवेत् ॥ ३१ ॥
पृथ्वीपर खोजनेसे आत्मासे अधिक प्रिय पदार्थ और कुछ भी नहीं देखा जाता; इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको अपनी आत्मा समझे ॥ ३१ ॥

सर्वमांसानि यो राजन्यावज्जीवं न भक्षयेत् ।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥ ३२ ॥
हे महाराज ! जो जीवनभर किसी भी प्राणीका मांस भक्षण नहीं करता, उसे निःसन्देह सुरपुरमें उत्तम महत् स्थान प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि तैर्भूतैरिति मे नास्ति संशयः ॥ ३३ ॥
जो लोग जीनेकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंका मांस भक्षण करते हैं, वे उन्हीं प्राणियोंके द्वारा भक्षित होते हैं, इस विषयमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३३ ॥

मां स भक्षयते यस्माद्भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वमतो बुध्यस्व भारत ॥ ३४ ॥
हे भारत ! जब कि वह मुझे भक्षण करता है, तब मैं भी उसे भक्षण करूंगा; 'मांस' शब्दका यही मांसत्व है— इसे ही मांस शब्दका मतितार्थ समझो ॥ ३४ ॥

घातको वध्यते नित्यं तथा वध्येत बन्धकः ।
आक्रोष्टाक्रुश्यते राजन्द्वेष्टा द्वेष्यत्वमाप्नुते ॥ ३५ ॥
हे राजन् ! घातक सदा ही वध्य होता है, अनन्तर बन्धनकर्ता पुरुष भी वध्य हुआ करता है; दूसरोंकी निन्दा करनेवाला पुरुष सदाही दूसरोंके क्रोधका पात्र होता है और द्वेष करनेवालेको द्वेष्यत्व प्राप्त हुआ करता है ॥ ३५ ॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ३६ ॥

जो जिस जिस शरीरसे जैसा कर्म करता है, वह उस ही शरीरसे उन कर्मोंके फलोंको भोगता है ॥ ३६ ॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ ३७ ॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है ॥ ३७ ॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं बलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ।
अहिंसा परमं सत्यमहिंसा परमं श्रुतम् ॥ ३८ ॥

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम बल है, अहिंसा परम मित्र है, अहिंसा परम सुख है, अहिंसा परम सत्य है और अहिंसा परम श्रुत है ॥ ३८ ॥

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥ ३९ ॥

सब यज्ञोंमें जो दान किया जाता है, सब तीर्थोंके स्नान तथा सब दानोंके फल—सब मिलकर भी अहिंसाके सदृश नहीं है ॥ ३९ ॥

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता ॥ ४० ॥

अहिंसक मनुष्यकी तपस्या अक्षय होती है, अहिंसक पुरुष सदा ही यज्ञ करता और हिंसा-रहित मनुष्य सब जीवोंके माता पिताके सदृश है ॥ ४० ॥

एतत्फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुंगव ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमिह सर्वकालैरपि ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥ ५१२९ ॥

हे कुरुपुङ्गव ! यह मैंने अहिंसाका फल कहा; इसकी अपेक्षा और भी अधिक फल है; अहिंसासे होनेवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११७ ॥ ५१२९ ॥

: ११८ :

युधिष्ठिर उवाच—

अकामाश्च सकामाश्च हता येऽस्मिन्महाहवे ।
कां योनिं प्रतिपन्नास्ते तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! जो वीर इच्छा अथवा अनिच्छासे इस महायुद्धमें मारे गये हैं, उन्हें कौनसी योनि प्राप्त हुई है ? यह मुझे कहिये ॥ १ ॥

दुःखं प्राणपरित्यागः पुरुषाणां महामृधे ।
जानासि तत्त्वं धर्मज्ञ प्राणत्यागं सुदुष्करम् ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञ ! महायुद्धमें मनुष्योंका प्राण त्यागना अत्यन्त दुःखकर है; प्राणोंका त्याग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, इस तत्त्वको मैं जानता हूं ॥ २ ॥

समृद्धे वासमृद्धे वा शुभे वा यदि वाशुभे ।
कारणं तत्र मे ब्रूहि सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ३ ॥

समृद्धि वा अवनति, शुभ वा अशुभ समयमें प्राण परित्याग करना अत्यन्त दुष्कर है, उसे आप जानते हैं; इसलिये उस विषयका कारण मेरे समीप वर्णन करिये । मैं आपको सर्वज्ञ जानता हूं ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

समृद्धे वासमृद्धे वा शुभे वा यदि वाशुभे ।
संसारेऽस्मिन्समाजाताः प्राणिनः पृथिवीपते ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— हे पृथ्वीपति ! इस संसारमें आये हुए प्राणि समृद्ध अथवा असमृद्ध, शुभ वा अशुभ परिस्थितिमें ही प्रसन्न रहते हैं ॥ ४ ॥

निरता येन भावेन तत्र मे शृणु कारणम् ।
सम्यक्चायमनुप्रश्नस्त्वयोक्तश्च युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

कोई भी मरना नहीं चाहते । मेरे समीप उसका कारण सुनो; युधिष्ठिर ! तुमने यह उत्तम प्रश्न किया है ॥ ५ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तमिदं नृप ।
द्वैपायनस्य संवादं कीटस्य च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! इस विषयमें द्वैपायन व्यास और कीटके संवादयुक्त पुराना इतिहास कहता हूं ॥ ६ ॥

ब्रह्मभूतश्चरन्विप्रः कृष्णद्वैपायनः पुरा ।
ददर्श कीटं धावन्तं शीघ्रं शकटवर्त्मनि ॥ ७ ॥

पहले समयमें ब्रह्मस्वरूप विप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन विचर रहे थे, उस समय उन्होंने गाडीके मार्गमें शीघ्रताके सहित दौडते हुए एक कीटको देखा ॥ ७ ॥

गतिज्ञः सर्वभूतानां रुतज्ञश्च शरीरिणाम् ।
सर्वज्ञः सर्वतो दृष्ट्वा कीटं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

सब प्राणियोंकी गतिके ज्ञाता और शरीरधारी सब भूतोंकी भाषा जाननेवाले सर्वज्ञ वेदव्यासने उस समय कीटको देखकर यह वचन कहा ॥ ८ ॥

कीट संत्रस्तरूपोऽसि त्वरितश्चैव लक्ष्यसे ।
क्व धावसि तदाचक्ष्व कुतस्ते भयमागतम् ॥ ९ ॥

हे कीट ! तुम अत्यन्त भयभीत और उतावले दीख पडते हो, तुम दौडके कहां जाओगे ? तुम्हें किससे भय हुआ है ? ॥ ९ ॥

कीट उवाच—

शकटस्यास्य महतो घोषं श्रुत्वा भयं मम ।
आगतं वै महाबुद्धे स्वन एष हि दारुणः ।
श्रूयते न स मां हन्यादिति तस्मादपाक्रमे ॥ १० ॥

कीट बोला— हे महाबुद्धिमान् ! इस आनेवाली बहुत बडी गाडी शब्द सुनके मुझे भय हुआ है; वह आवाज अत्यन्त भयंकर है । जब यह आवाज सुनता हूं, तब यह मुझे कुचल न डाले, ऐसा संशय उत्पन्न होता है, इसीलिये इस स्थानसे शीघ्र भाग जाता हूं ॥ १० ॥

श्वसतां च शृणोम्येवं गोपुत्राणां प्रतोद्यताम् ।
वहतां सुमहाभारं संनिकर्षे स्वनं प्रभो ।
नृणां च संवाहयतां श्रूयते विविधः स्वनः ॥ ११ ॥

गाडीके बैल बहुत भारी बोझा ढोते हुए हांफते हैं और उन्हें जोरसे हकाला जाता है। हे प्रभो ! मुझे उनकी आवाज बहुत निकट सुनायी देती है । गाडीपर बैठे हुए मनुष्योंके भी अनेक प्रकारके शब्द कानोंमें पडते हैं ॥ ११ ॥

सोढुमस्मद्विधेनैष न शक्यः कीटयोनिना ।
तस्मादपक्रमाम्येष भयादस्मात्सुदारुणात् ॥ १२ ॥

मेरे सदृश कीटयोनिमें उत्पन्न हुए जीवको ऐसे शब्दको सुनना अशक्य प्राय है, इस ही निमित्त अत्यन्त दारुण भयसे इस स्थानको छोडके भाग जाता हूं ॥ १२ ॥

दुःखं हि मृत्युर्भूतानां जीवितं च सुदुर्लभम् ।
अतो भीतः पलायामि गच्छेयं नासुखं सुखात् ॥ १३ ॥

जीवोंको मृत्युसे ही दुःख है, अपना जीवन सबको अत्यन्त दुर्लभ लगता है, इसीलिये मैं डरके भागता हूं और सुख छोडके दुःखमें नहीं पड जाऊं ॥ १३ ॥

×

भीष्म उवाच—

इत्युक्तः स तु तं प्राह कुतः कीट सुखं तव ।
मरणं ते सुखं मन्ये तिर्यग्योनौ हि वर्तसे ॥ १४ ॥

भीष्म बोले— व्यासदेवने कीटका ऐसा वचन सुनके उससे कहा, हे कीट! किस प्रकार तुम्हें सुख होता है? तुम तिर्यग्योनिमें रहते हो, इससे तुझे मरणही सुख है, ऐसा मुझे दीखता है ॥ १४ ॥

शब्दं स्पर्शं रसं गन्धं भोगांश्चोच्चावचान्बहून् ।
नाभिजानासि कीट त्वं श्रेयो मरणमेव ते ॥ १५ ॥

तुम शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध और अनेक भांतिकी भोज्यवस्तुओंको भोगना नहीं जानते । हे कीट! इसलिये तुम्हारा मरनाही कल्याणकारी है ॥ १५ ॥

कीट उवाच—

सर्वत्र निरतो जीव इतीहापि सुखं मम ।
चेतयामि महाप्राज्ञ तस्मादिच्छामि जीवितुम् ॥ १६ ॥

कीट बोला— हे महाप्राज्ञ! जीव सब ठौर सुखमें रत रहता है, इसलिये इस योनिमें भी मुझे सुख है, ऐसा मानकर ही मैं जीवित रहनेकी अभिलाष करता हूं ॥ १६ ॥

इहापि विषयः सर्वो यथादेहं प्रवर्तितः ।
मानुषास्तिर्यगाश्चैव पृथग्भोगा विशेषतः ॥ १७ ॥

यहां भी इस शरीरमें भी देहके अनुसार सब विषय उपलब्ध हुए हैं, मनुष्यों और तिर्यग् जीवोंके भोग पृथक् पृथक् हैं ॥ १७ ॥

अहमासं मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः पुरा ।
अब्रह्मण्यो नृशंसश्च कदर्यो वृद्धिजीवनः ॥ १८ ॥

हे प्रभु! मैं पहले जन्ममें अधिक धनवाला शूद्र जातीय मनुष्य था, मैं ब्राह्मणोंके प्रति आदर नहीं रखता था; मैं क्रूर, कंजूस और व्याज लेता था ॥ १८ ॥

वाक्तीक्ष्णो निकृतिप्रज्ञो मोष्टा विश्वस्य सर्वशः ।
मिथःकृतोऽपनिधनः परस्वहरणे रतः ॥ १९ ॥

मैं तीक्ष्णवादी, बुद्धिसे लोगोंको ठगानेवाला और सब भांतिसे लोगोंका द्वेषी था । परस्परमें छल करके परधन हरनेमें रत रहता था ॥ १९ ॥

भृत्यातिथिजनश्चापि गृहे पर्युषितो मया ।
मात्सर्यात्स्वादुकामेन नृशंसेन बुभूषता ॥ २० ॥

गृहके बीच सेवकों और अतिथियोंको परित्याग करके स्वयं पहले भोजन करता और मत्सरतासे स्वाद लेनेकी इच्छासे तथा निर्दयी होकर अकेला भोजन करनेकी इच्छा करता था ॥ २० ॥

देवार्थं पितृयज्ञार्थमन्नं श्रद्धाकृतं मया ।
न दत्तमर्थकामेन देयमन्नं पुनाति ह ॥ २१ ॥

धनसंग्रह करनेकी इच्छासे मैं देव और पितृयज्ञके लिये श्रद्धापूर्वक अन्न प्रदान नहीं करता था; पहले देने योग्य अन्नदान करनेकी इच्छा करके भी फिर उससे विमुख रहता था ॥२१॥

गुप्तं शरणमाश्रित्य भयेषु शरणागताः ।
अकस्मान्मो भयात्त्यक्ता न च त्राताभयैषिणः ॥ २२ ॥

गुप्तभावसे जो लोग शरणागत होनेके लिये मेरा आसरा करते और जो लोग डरके मेरे शरणागत होते थे, मैं अकस्मात उन्हें परित्याग करता था और जो लोग अभय प्रार्थना करते थे, उनका परित्राण नहीं करता था ॥ २२ ॥

धनं धान्यं प्रियान्दारान्यानं वासस्तथाद्भुतम् ।
श्रियं दृष्ट्वा मनुष्याणामसूयामि निरर्थकम् ॥ २३ ॥

दूसरोंके धन, धान्य, सुंदरी स्त्री, सवारियाँ, अद्भुत वस्त्र और सम्पत्ति देखके मैं निरर्थक डाह करता था ॥ २३ ॥

ईर्ष्युः परसुखं दृष्ट्वा आत्मनाप्यबुभूषकः ।
त्रिवर्गहन्ता चान्येषामात्मकामानुवर्तकः ॥ २४ ॥

मैं दूसरे लोगोंके सुखको देखनेसे ही ईर्षा करता था। दूसरोंका उत्कर्ष हो यह मैं नहीं चाहता था; दूसरोंके धर्म, अर्थ और काम नष्ट करता था और अपनी इच्छाके अनुसार वर्तन करता था ॥ २४ ॥

नृशंसगुणभूयिष्ठं पुरा कर्म कृतं मया ।
स्मृत्वा तदनुतप्येऽहं त्यक्त्वा प्रियमिवात्मजम् ॥ २५ ॥

पूर्व जन्ममें मैंने निर्दयतायुक्त बहुतसे कर्म किये थे; जिस प्रकार अपने प्यारे पुत्रको परित्याग करनेसे दुःख होता है, मैं इस समय उन कर्मोंको स्मरण करके उसी भांति पश्चात्ताप करता हूं ॥ २५ ॥

शुभानामपि जानामि कृतानां कर्मणां फलम् ।
माता च पूजिता वृद्धा ब्राह्मणश्चार्चितो मया ॥ २६ ॥

मैंने जो कुछ सत्कर्म किये थे, उसका भी फल मैं जानता हूं; मैंने अपनी बूढी जननीकी सेवा की थी तथा ब्राह्मणका भी मैंने सत्कार किया था ॥ २६ ॥

सकृज्जातिगुणोपेतः संगत्या गृहमागतः ।
अतिथिः पूजितो ब्रह्मंस्तेन मां नाजहात्स्मृतिः ॥ २७ ॥

ब्रह्मन् ! एकबार जाति-गुणोंसे युक्त कोई अतिथि सङ्गतिक्रमसे मेरे गृहपर आया था, उनकी पूजा की थी, इसही लिये पूर्वजन्मकी स्मरणशक्तिने मुझे परित्याग नहीं किया ॥ २७ ॥

कर्मणा तेन चैवाहं सुखाशामिह लक्षये ।
तच्छ्रोतुमहमिच्छामि त्वत्तः श्रेयस्तपोधन ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥ ५१५७ ॥

तपोधन ! मैं उसही शुभ-पुण्य कर्मके सहारे भविष्यमें सुख पानेकी आशा करता हूं; लिये आपके समीप उस कल्याणके विषयको सुननेकी अभिलाष करता हूं ॥ २८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११८ ॥ ५१५७ ॥

: ११९ :

यास उवाच—

शुभेन कर्मणा यद्वै तिर्यग्योनौ न मुह्यसे ।
ममैव कीट तत्कर्म येन त्वं न प्रमुह्यसे ॥ १ ॥

ासदेव बोले- हे कीट ! तू जो तिर्यक्‌योनिमें जन्म लेके शुभकर्मके सहारे मोहित नहीं ता है, वह मेरा ही कार्य है; मेरे दर्शनसे ही तुम्हें मोह नहीं होता है ॥ १ ॥

अहं हि दर्शनादेव तारयामि तपोबलात् ।
तपोबलाद्धि बलवद्बलमन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥

तपोबलसे केवल दर्शनमात्रसे तेरा उद्धार करूंगा, तपोबलसे श्रेष्ठ बल और कुछ भी नहीं ॥ २ ॥

जानामि पापैः स्वकृतैर्गतं त्वां कीट कीटताम् ।
अवाप्स्यसि परं धर्मं धर्मस्थो यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

ोट ! मैं जानता हूं कि तू अपने किये हुए पापकर्मोंसे कीटानुकीट हुआ है; यदि तुम र्मके प्रति श्रद्धा रखते है, तो फिर तुम्हें श्रेष्ठ धर्म प्राप्त होगा ॥ ३ ॥

कर्म भूमिकृतं देवा भुञ्जते तिर्यगाश्च ये ।
धर्मादपि मनुष्येषु कामोऽर्थश्च यथा गुणैः ॥ ४ ॥

व, मनुष्य और तिर्यक् प्रभृति सब कोई कर्मभूमिमें अपने किये हुए कर्मोंका फल भोग केया करते हैं । मनुष्योंका धर्म और अर्थ कामकी सिद्धिके लिये ही अपनाया जाता है ॥४॥

वाग्बुद्धिपाणिपादैश्चाप्युपेतस्य विपश्चितः ।
किं हीयते मनुष्यस्य मन्दस्यापि हि जीवतः ॥ ५ ॥

वाणी, बुद्धि तथा हाथ–पांवसे रहित विद्वान् अथवा मूर्ख जो जीवित रहता है, उसे कौनसी वस्तु त्यागेगी ? वह तो सभी पुरुषार्थोंसे स्वयं ही परित्यक्त है ॥ ५ ॥

जीवन्हि कुरुते पूजां विप्राग्र्यः शशिसूर्ययोः ।
ब्रुवन्नपि कथां पुण्यां तत्र कीट त्वमेष्यसि ॥ ६ ॥

हे कीट ! एक श्रेष्ठ विप्र जीवित रहके सूर्य और चन्द्रमाकी पूजा करते और उत्तम पवित्र कथाएं कहा करते हैं, तू उन्हींके यहां जन्मोगे ॥ ६ ॥

गुणभूतानि भूतानि तत्र त्वमुपभोक्ष्यसे ।
तत्र तेऽहं विनेष्यामि ब्रह्मत्वं यत्र चेच्छसि ॥ ७ ॥

तू ब्राह्मणत्व पानेसे अनासक्त भावसे कर्मोंका फल भोगेगा और सब जीवोंको परित्याग करेगा; तब मैं तुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश करूंगा, और जहां चाहोगे वहीं पहुंचा दूंगा ॥७॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य कीटो वर्त्मन्यतिष्ठत ।
तमृषिं द्रष्टुमगमत्सर्वास्वन्यासु योनिषु ॥ ८ ॥

वह कीट ' ऐसा ही हो, ' यह वचन कहके मार्गमें ही स्थित हुआ, अन्य सारी योनियोंमें भ्रमण करनेपर वह उन महर्षिका दर्शन करनेके लिये गया ॥ ८ ॥

श्वाविद्गोधावराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
श्वपाकवैश्यशूद्राणां क्षत्रियाणां च योनिषु ॥ ९ ॥

वह शाही, गोधा, वराह, मृग, पक्षी, चाण्डाल, वैश्य और शूद्र जातीय होकर क्षत्रिय जातिमें उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

स कीटत्वेवमाभाष्य ऋषिणा सत्यवादिना ।
प्रतिस्मृत्याथ जग्राह पादौ मूर्ध्ना कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

वह कीट उन सत्यवादी महर्षिके द्वारा उपदिष्ट होके इसी प्रकार उन्नतिशील हुआ था उसकी याद करके उस क्षत्रियने दोनों हाथ जोडकर उनके चरणोंमें अपना मस्तक रख दिया ॥१०॥

कीट उवाच—

इदं तदतुलं स्थानमीप्सितं दशभिर्गुणैः ।
यदहं प्राप्य कीटत्वमागतो राजपुत्रताम् ॥ ११ ॥

कीट बोला– मैंने दस जन्मोंमें यह अभिलषित अतुल पद पाया है, क्योंकि मैं कीटत्व प्राप्त करके राजपुत्र हुआ हूं ॥ ११ ॥

वहन्ति मामतिबला: कुञ्जरा हेममालिन: ।
स्यन्दनेषु च काम्बोजा युक्ता: परमवाजिन: ॥ १२ ॥
मैं सुवर्णमालाओंसे युक्त अत्यन्त बलवान हाथियोंपर चढता हूं । मेरे रथोंमें काम्बोज देशीय उत्तम घोडे जोते जाते हैं ॥ १२ ॥

उष्ट्राश्वतरयुक्तानि यानानि च वहन्ति माम् ।
सबान्धव: सहामात्यश्चाश्नामि पिशितौदनम् ॥ १३ ॥
ऊंट और खच्चरोंसे जुती हुई गाडियां मुझे ले चलती हैं; मैं बान्धवों और मंत्रियोंके साथ मांस-भात भक्षण करता हूं ॥ १३ ॥

गृहेषु सुनिवासेषु सुखेषु शयनेषु च ।
वरार्घ्येषु महाभाग स्वपामीह सुपूजित: ॥ १४ ॥
हे महाभाग ! मैं अपने उत्तम निवासोंमें महामूल्यवान् सुखद चन्दनयुक्त शय्याओंपर उत्तम रीतिसे पूजित होकर यहां सुखसे सोता हूं ॥ १४ ॥

सर्वेष्वपररात्रेषु सूतमागधवन्दिन: ।
स्तुवन्ति मां यथा देवं महेन्द्रं प्रियवादिन: ॥ १५ ॥
जिस प्रकार प्रिय वचन बोलनेवाले देव इन्द्रकी स्तुति करते हैं, वैसे ही रातके पिछले पहरोंमें सूत, मागध और वन्दीजन मेरी स्तुति किया करते हैं ॥ १५ ॥

प्रसादात्सत्यसंधस्य भवतोऽमिततेजस: ।
यदहं कीटतां प्राप्य संप्राप्तो राजपुत्रताम् ॥ १६ ॥
आप अत्यन्त तेजस्वी और सत्यप्रतिज्ञ हैं, आपके कृपा प्रसादसे मैंने कीट होके भी राजपुत्रत्व पाया है ॥ १६ ॥

नमस्तेऽस्तु महाप्राज्ञ किं करोमि प्रशाधि माम् ।
त्वत्तपोबलनिर्दिष्टमिदं ह्यधिगतं मया ॥ १७ ॥
हे महाप्राज्ञ ! इसलिये मैं आपको प्रणाम करता हूं; कहिये कौनसा कार्य करूं ? मैंने आपके तपोबलके सहारे यह राजपद पाया है ॥ १७ ॥

व्यास उवाच—

अर्चितोऽहं त्वया राजन्वाग्भिरद्य यदृच्छया ।
अद्य ते कीटतां प्राप्य स्मृतिर्जाताजुगुप्सिता ॥ १८ ॥
व्यासदेव बोले– हे राजन् ! आज मैं तुम्हारी वाणीसे अच्छी तरहसे स्तुत हुआ हूं; आज भी तुम्हें कीटत्वकी विदित स्मृतिशक्ति उत्पन्न हुई है ॥ १८ ॥

न तु नाशोऽस्ति पापस्य यत्त्वयोपचितं पुरा ।
शूद्रेणार्थप्रधानेन नृशंसेनाततायिना ॥ १९ ॥

पहले तुमने अत्यन्त आततायी, धनी और नृशंस शूद्र होके जिन पापोंका संचय किया था, उसका विनाश नहीं हुआ है ॥ १९ ॥

मम ते दर्शनं प्राप्तं तच्चैव सुकृतं पुरा ।
तिर्यग्योनौ स्म जातेन मम चाप्यर्चनात्तथा ॥ २० ॥

तुमने जो तिर्यक्‌योनिमें जन्म लेकर मेरा दर्शन किया था, उस ही सुकृतके सहारे तुम क्षत्रिय हुए हैं और आज जो तुमने मेरी पूजा की है ॥ २० ॥

इतस्त्वं राजपुत्रत्वाद्ब्राह्मण्यं समवाप्स्यसि ।
गोब्राह्मणकृते प्राणान्हुत्वात्मीयान्रणाजिरे ॥ २१ ॥

इस कारण तुम क्षत्रिय योनिके पश्चात् ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे । तुम रणभूमिमें गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके निमित्त अपने प्राणोंको अर्पण करोगे ॥ २१ ॥

राजपुत्रसुखं प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान् ।
अथ मोदिष्यसे स्वर्गे ब्रह्मभूतोऽव्ययः सुखी ॥ २२ ॥

हे राजपुत्र ! अनन्तर ब्राह्मण होकर तुम सहजमें ही विपुल दक्षिणावाले यज्ञ पूरा करके स्वर्गलोकमें सुख भोगोगे; फिर अव्यय ब्रह्ममय होके प्रमुदित होगे ॥ २२ ॥

तिर्यग्योन्याः शूद्रतामभ्युपैति शूद्रो वैश्यत्वं क्षत्रियत्वं च वैश्यः ।
वृत्तश्लाघी क्षत्रियो ब्राह्मणत्वं स्वर्गं पुण्यं ब्राह्मणः साधुवृत्तः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥ ५१९० ॥

तिर्यक्‌योनिसे शूद्रत्व प्राप्त होता है, शूद्रत्वसे वैश्यत्व और वैश्यत्वसे क्षत्रियत्व प्राप्त हुआ करता है; साधुवृत्त क्षत्रिय ब्राह्मणत्व पाता है और सत्स्वभाव सुशील ब्राह्मणको पुण्यमय स्वर्गलोक मिलता है ॥ २३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ ११९ ॥ ५१९० ॥

---

३ १२० ३

भीष्म उवाच—

क्षत्रधर्ममनुप्राप्तः स्मरन्नेव स वीर्यवान् ।
त्यक्त्वा स कीटतां राजंश्चचार विपुलं तपः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे महाराज ! कीटयोनिका त्याग करके अपने पूर्व जन्मका वृत्तान्त स्मरण करनेवाला वह जीव क्षत्रिय होकर वीर्यवान् हुआ; और विपुल तपस्या करने लगा ॥ १ ॥

तस्य धर्मार्थविदुषो दृष्ट्वा तद्विपुलं तपः ।
आजगाम द्विजश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ २ ॥

उस धर्मार्थवेत्ताकी वैसी महत् तपस्या देखकर उस समय द्विजश्रेष्ठ श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास उसके समीप आये ॥ २ ॥

व्यास उवाच—

क्षात्रं चैव व्रतं कीट भूतानां परिपालनम् ।
क्षात्रं चैव व्रतं ध्यायंस्ततो विप्रत्वमेष्यसि ॥ ३ ॥

व्यासदेव बोले— हे कीट ! सब प्राणियोंका प्रतिपालन करना क्षात्रधर्म है, इसलिये क्षत्रिय-धर्मको ध्यान- चिंतन करके मरनेपर तुम्हें विप्रत्व प्राप्त होगा ॥ ३ ॥

पाहि सर्वाः प्रजाः सम्यक्शुभाशुभविदात्मवान् ।
शुभैः संविभजन्कामैरशुभानां च पावनैः ॥ ४ ॥

तुम शुभाशुभवेत्ता और आत्मवान् होकर पूरी रीतिसे प्रजाका पालन करो । पवित्र शुभ कार्योंसे अशुभ कर्मोंका परिमार्जन करो ॥ ४ ॥

आत्मवान्भव सुप्रीतः स्वधर्माचरणे रतः ।
क्षात्रीं तनुं समुत्सृज्य ततो विप्रत्वमेष्यसि ॥ ५ ॥

स्वधर्माचरणमें रत रहके आत्मवान् तथा प्रसन्न रहो; अनन्तर क्षत्रियशरीर त्यागनेपर ब्राह्मणत्व पाओगे ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

सोऽथारण्यमभिप्रेत्य पुनरेव युधिष्ठिर ।
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रजा धर्मेण पाल्य च ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! वह कीट महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनका वचन सुनके धर्मपूर्वक प्रजा पालन करने लगा और फिर वनमें जाकर ॥ ६ ॥

अचिरेणैव कालेन कीटः पार्थिवसत्तम ।
प्रजापालनधर्मेण प्रेत्य विप्रत्वमागतः ॥ ७ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! थोडेही कालमें मरकर प्रजा पालन रूप धर्मके प्रभावसे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा पुनरेव महायशाः ।
आजगाम महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ८ ॥

अनन्तर महायशस्वी महाप्राज्ञ श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास मुनि उस समय उसे ब्राह्मण हुआ देखकर फिर उसके निकट आये ॥ ८ ॥

व्यास उवाच—

भो भो विप्रर्षभ श्रीमन्मा व्यथिष्ठाः कथंचन ।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत्पापयोनिषु ।
उपपद्याति धर्मज्ञ यथाधर्मं यथागमम् ॥ ९ ॥

वेदव्यास बोले— हे श्रीमान् विप्रवर! तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। शुभ कर्म करनेवाला शुभयोनिमें और पापाचरण करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है। मनुष्य जैसा धर्मका आचरण करता है, उसके अनुसार उसे फल प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

तस्मान्मृत्युभयात्कीट मा व्यथिष्ठाः कथंचन ।
धर्मलोपाद्भयं ते स्यात्तस्माद्धर्मं चरोत्तमम् ॥ १० ॥

अतः तुझे मृत्युभयसे व्यथित होना योग्य नहीं है। यदि तुम्हें धर्मके लोपका भय हो, तो उत्तम धर्माचरण करो ॥ १० ॥

कीट उवाच—

सुखात्सुखतरं प्राप्तो भगवंस्त्वत्कृते ह्यहम् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य पाप्मा नष्ट इहाद्य मे ॥ ११ ॥

कीट बोला— हे भगवन्! आपकी ही कृपासे मैंने सुखसे भी अधिक सुख पाया है; धर्ममूलक सम्पत्तियोंको पानेसे अब मेरा पाप नष्ट हुआ है ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच—

भगवद्वचनात्कीटो ब्राह्मण्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
अकरोत्पृथिवीं राजन्यज्ञयूपशताङ्किताम् ।
ततः सालोक्यमगमद्ब्रह्मणो ब्रह्मवित्तमः ॥ १२ ॥

भीष्म बोले— हे महाराज! कीटने भगवान् व्यासदेवके वचनानुसार दुर्लभ ब्राह्मणत्व पाके पृथ्वीको सैकड़ों यज्ञयूपोंसे अङ्कित किया। अनन्तर उस ब्रह्मवित्तम कीटने ब्रह्मसालोक्य प्राप्त किया ॥ १२ ॥

अवाप च परं कीटः पार्थ ब्रह्म सनातनम् ।
स्वकर्मफलनिर्वृत्तं व्यासस्य वचनात्तदा ॥ १३ ॥

व्यासदेवके कहनेके अनुसार उस समय स्वधर्मका पालन करके, उसीके फलके अनुसार परम सनातन ब्रह्मपद पाया ॥ १३ ॥

तेऽपि यस्मात्स्वभावेन हताः क्षत्रियपुंगवाः ।
संप्राप्तास्ते गतिं पुण्यां तस्मान्मा शोच पुत्रक ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥ ५२०४ ॥

हे तात! जो सब श्रेष्ठ क्षत्रिय युद्धमें मारे गये हैं, उन्होंने भी पवित्र गति पाई है, इसलिये तुम शोक मत करो ॥ १४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ बीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२० ॥ ५२०४ ॥

×

: १२१ :

युधिष्ठिर उवाच—

विद्या तपश्च दानं च किमेतेषां विशिष्यते ।
पृच्छामि त्वा सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे साधुश्रेष्ठ पितामह ! विद्या, तपस्या और दान, इन तीनोंके बीच श्रेष्ठ क्या है ? यह मैं आपसे पूछता हूं, इस विषयको आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मैत्रेयस्य च संवादं कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ २ ॥

भीष्म बोले— इस विषयमें प्राचीन लोग मैत्रेय और श्रीकृष्णद्वैपायनके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

कृष्णद्वैपायनो राजन्नज्ञातचरितं चरन् ।
वाराणस्यामुपातिष्ठन्मैत्रेयं स्वैरिणीकुले ॥ ३ ॥

हे महाराज ! श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास मुनि अज्ञातरूपसे विचरते हुए काशीपुरीमें मुनिमण्डलीके बीच मैत्रेयमुनिके समीप उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

तमुपस्थितमासीनं ज्ञात्वा स मुनिसत्तमम् ।
अर्चित्वा भोजयामास मैत्रेयोऽशनमुत्तमम् ॥ ४ ॥

मुनिसत्तम मैत्रेयने उन्हें समागत और समासीन जानकर उनकी पूजा की और उत्तम भोजन कराया ॥ ४ ॥

तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा गुणवत्सार्वकामिकम् ।
प्रतिष्ठमानोऽस्मयत प्रीतः कृष्णो महामनाः ॥ ५ ॥

महामना वेदव्यास मुनि उस श्रेष्ठ, सुगन्धियुक्त, सार्वकामिक, उत्तम अन्न भोजन करके प्रसन्न हुए और प्रस्थान करते समय मुस्कराये ॥ ५ ॥

तमुत्स्मयन्तं संप्रेक्ष्य मैत्रेयः कृष्णमब्रवीत् ।
कारणं ब्रूहि धर्मात्मन्योऽस्मयिष्ठाः कुतश्च ते ।
तपस्विनो धृतिमतः प्रमोदः समुपागतः ॥ ६ ॥

मैत्रेय ऋषि उस श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको विस्मययुक्त जानके बोले, हे धर्मात्मन् ! आप किस निमित्त विस्मित हुए हैं ? उसका कारण कहिये। आप तपस्वी और धृतिमान् हैं, तब आपको किस लिये प्रमोद हुआ ? ॥ ६ ॥

एतत्पृच्छामि ते विद्वन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
आत्मनश्च तपोभाग्यं महाभाग्यं तथैव च ॥ ७ ॥

हे विद्वन् ! मैं आपको अभिवादन और प्रणाम करके पूछता हूं, कि यह आपका तपोभाग्य तथा सुखभाग्य है ? ॥ ७ ॥

पृथगाचरतस्तात पृथगात्मनि चात्मनोः ।
अल्पान्तरमहं मन्ये विशिष्टमपि वा त्वया ॥ ८ ॥

क्योंकि आश्चर्यदर्शनके अतिरिक्त विस्मय नहीं होता । उपाधिपरिच्छिन्न जीव और अनुपाधिक ब्रह्म पृथक् आचरण करनेपर भी जीवन्मुक्त और मुक्तामुक्त उभयात्मक आत्माकी अपेक्षा मैं आत्माको अल्पान्तर जानता हूं, क्योंकि आप मेरा भाग्य देखकर विस्मित हुए हैं; इसलिये मैं आपकी अपेक्षा आत्माको अल्पान्तर रूपसे अनुमान करता हूं और मित्रवंशसे आपको विशिष्ट समझता हूं ॥ ८ ॥

व्यास उवाच—

अतिच्छेदातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः ।
असत्यं वेदवचनं कस्माद्वेदोऽनृतं वदेत् ॥ ९ ॥

व्यासदेव बोले— मशकके समुद्र शोषणसदृश अत्यन्त अशक्य विषय अतिच्छेद और अतिवादके द्वारा यह विस्मय पूरी रीतिसे उत्पन्न हुआ है; यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि वेदवचन सत्य नहीं है ? वेद किसलिये मिथ्या कहेगा ? ॥ ९ ॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम् ।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत् ।
इदानीं चैव नः कृत्यं पुरस्ताच्च परं स्मृतम् ॥ १० ॥

वेद मनुष्यके लिये इन तीनों विषयोंको उत्तम व्रत कहते हैं, किसीसे द्रोह न करना, दान देना और दूसरोंसे सत्य वचन कहना । इस समय इसे ही करना चाहिये और पहले भी ऐसा ही कहा गया था ॥ १० ॥

अल्पोऽपि तादृशो दायो भवत्युत महाफलः ।
तृषिताय च यद्दत्तं हृदयेनानसूयता ॥ ११ ॥

अवश्य कर्तव्य दान अल्प होनेपर भी महाफलजनक हुआ करता है । तुमने असूयारहित हृदयसे भूखे-प्यासे पुरुषको अन्न-जलका दान किया है ॥ ११ ॥

तृषितस्तृषिताय त्वं दत्त्वैतदशनं मम ।
अजैषीर्महतो लोकान्महायज्ञैरिवाभिभो ।
अतो दानपवित्रेण प्रीतोऽस्मि तपसैव च ॥ १२ ॥

तुमने हे सर्वश्रेष्ठ ! मैं तृषित था, मुझ भूखे-प्यासेको यह अन्न-जल दान किया है, इसलिये महायज्ञके सहारे जिन लोकोंको जय किया जाता है, तुमने इस पुण्यके सहारे उन महत् लोकोंको जय किया है; इसीलिये मैं तुम्हारे पवित्र दान और तपस्यासे प्रसन्न हुआ हूं ॥१२॥

पुण्यस्यैव हि ते गन्धः पुण्यस्यैव च दर्शनम् ।
पुण्यश्च वाति गन्धस्ते मन्ये कर्मविधानतः ॥ १३ ॥

तुम्हारा गन्ध पुण्यसे ही है, तुम्हारा दर्शन भी पुण्यकाही दर्शन है; तुम्हारे शरीरसे पुण्यकी ही सुगन्ध फैलती है; यह दान-पुण्य कर्मकाही फल मैं मानता हूं ॥ १३ ॥

अधिकं मार्जनात्तात तथैवाप्यनुलेपनात् ।
शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत् ॥ १४ ॥

हे तात ! तीर्थ स्नान और वेदव्रत समाप्त करनेकी अपेक्षा दान सबसे अत्यन्त पवित्र है । सब पवित्र विषयोंके बीच दान ही परम शुभ है ॥ १४ ॥

यानीमान्युत्तमानीह वेदोक्तानि प्रशंससि ।
तेषां श्रेष्ठतमं दानमिति मे नास्ति संशयः ॥ १५ ॥

तुम जिन उत्तम वेदोक्त विधानोंकी प्रशंसा करते हो, उन सबसे दान ही श्रेष्ठतम है, इस विषयमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥ १६ ॥

दाताओंने जो मार्ग बनाया है, मनीषी लोग उस ही मार्गसे गमन किया करते हैं; वेही प्राणदाता हैं, उन्हींमें ही धर्म प्रतिष्ठित हैं ॥ १६ ॥

यथा वेदाः स्वधीताश्च यथा चेन्द्रियसंयमः ।
सर्वत्यागो यथा चेह तथा दानमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

उत्तम रीतिसे पढा हुआ वेद जिस प्रकार श्रेष्ठ है, इन्द्रिय संयम और सर्वस्वका त्याग जैसा विशिष्ट है, इस जगत्में दान भी उसी भांति अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥

त्वं हि तात सुखादेव सुखमेष्यसि शोभनम् ।
सुखात्सुखतरप्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः ॥ १८ ॥

हे तात ! तुम सहजमें ही इससे भी उत्तम सुख पावोगे; बुद्धिमान् मनुष्य दान करके अधिकाधिक सुख पाता है ॥ १८ ॥

ततः प्रत्यक्षमेवेदमुपलब्धमसंशयम् ।
श्रीमन्तमाप्नुवन्त्यर्था दानं यज्ञास्तथा सुखम् ॥ १९ ॥

हमारे प्रत्यक्षमें निःसन्देह यह बात है कि, धन मिलनेपर अर्थ, दान और समस्त यज्ञोंके फल आप जैसे श्रीमान् पुरुषको सुखसे प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

सुखादेव परं दुःखं दुःखादन्यत्परं सुखम् ।
दृश्यते हि महाप्राज्ञ नियतं वै स्वभावतः ॥ २० ॥

हे महाप्राज्ञ ! सुखके अनन्तर दुःख और दुःखके बाद सुख सदा दिखाई देते हैं। सुख और दुःख मनुष्यके स्वभावके अनुसार नियत हैं ॥ २० ॥

त्रिविधानीह वृत्तानि नरस्याहुर्मनीषिणः ।
पुण्यमन्यत्पापमन्यन्न पुण्यं न च पापकम् ॥ २१ ॥

इस जगतमें पण्डित लोग मनुष्यके तीन प्रकारके आचरण वर्णन करते हैं; पुण्यमय, पापमय और पुण्य-पाप दोनोंसे रहित ॥ २१ ॥

न वृत्तं मन्यतेऽन्यस्य मन्यतेऽन्यस्य पापकम् ।
तथा स्वकर्मनिर्वृत्तं न पुण्यं न च पापकम् ॥ २२ ॥

स्वकर्मसे निर्वृत्त पुण्य-पापकी भांति ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका पुण्यपाप नहीं गिना जाता, उसे अपने कर्मजनित पुण्य तथा पापकी प्राप्ति होती ही नहीं है ॥ २२ ॥

रमस्वैधस्व मोदस्व देहि चैव यजस्व च ।
न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥ ५२२७ ॥

तुम स्वधर्ममें आनन्दपूर्वक रत रहो, तुम्हारी सदा उन्नति हो, तुम आनन्दित रहो, दान और यज्ञ करो; विद्वान् तथा तपस्वी तुम्हारा पराभव करनेमें समर्थ न होंगे ॥ २३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२१ ॥ ५२२७ ॥

: १२२ :

भीष्म उवाच—

एवमुक्तः प्रत्युवाच मैत्रेयः कर्मपूजकः ।
अत्यन्तं श्रीमति कुले जातः प्राज्ञो बहुश्रुतः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अत्यन्त श्रीसम्पन्न कुलमें उत्पन्न बुद्धिमान, बहुदर्शी, कर्मकी प्रशंसा करनेवाले मैत्रेय ऋषिने ऐसा वचन सुनके उत्तर दिया ॥ १ ॥

असंशयं महाप्राज्ञ यथैवात्थ तथैव तत् ।
अनुज्ञातस्तु भवता किंचिद्ब्रूयामहं विभो ॥ २ ॥

हे महाप्राज्ञ ! आपने जैसा कहा, वह निःसन्देह वैसा ही है। हे विभु ! परन्तु मैं आपकी अनुमतिसे कुछ कहनेकी इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

व्यास उवाच—

यद्यदिच्छसि मैत्रेय यावद्यावद्यथा तथा ।
ब्रूहि तावन्महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ ३ ॥

व्यासदेव बोले– हे महाप्राज्ञ मैत्रेय ! आप जिस विषयको जहांतक कहनेकी इच्छा करते हैं, उसे यथार्थ रीतिसे कहिये, मैं तुम्हारा वचन सुननेकी अभिलाष करता हूं ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच—

निर्दोषं निर्मलं चैवं वचनं दानसंहितम् ।
विद्यातपोभ्यां हि भवान्भावितात्मा न संशयः ॥ ४ ॥

मैत्रेय बोले– आपके दानसम्बन्धीय वचन निर्दोष और निर्मल हैं; आपने विद्या और तपस्यासे निःसन्देह अपनेको परम पवित्र बनाया है ॥ ४ ॥

भवतो भावितात्मत्वाद्दायोऽयं सुमहान्मम ।
भूयो बुद्ध्यानुपश्यामि सुसमृद्धतपा इव ॥ ५ ॥

आप पवित्रचित्त हैं, मुझे आपके दर्शनसे यह अत्यंत लाभ मिला है; मैं फिर सुसमृद्ध तपस्या-युक्तकी भांति न्यायबुद्धिसे आलोचना करके प्रत्यक्ष देखता हूं ॥ ५ ॥

अपि मे दर्शनादेव भवतोऽभ्युदयो महान् ।
मन्ये भवत्प्रसादोऽयं तद्धि कर्म स्वभावतः ॥ ६ ॥

आपके दर्शनसेही मेरा महान् अभ्युदय हो सकता है। ये जो स्वाभाविक कार्य होता है, उसे मैं आपकी कृपासे ही हुआ समझता हूं ॥ ६ ॥

तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद्ब्राह्मण्यकारणम् ।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः ॥ ७ ॥

तपस्या, शास्त्रज्ञान और विशुद्ध ब्राह्मणकुलमें जन्म ये ब्राह्मणत्वके कारण माने गये हैं; इन तीनों गुणोंसे समुदित होनेपर पुरुष द्विज हुआ करता है ॥ ७ ॥

तस्मिंस्तृप्ते च तृप्यन्ते पितरो दैवतानि च ।
न हि श्रुतवतां किंचिदधिकं ब्राह्मणादृते ॥ ८ ॥

ऐसे ब्राह्मणके तृप्त होनेपर पितर और देववृन्द तृप्त होते हैं, शास्त्रज्ञानयुक्त विद्वानोंके लिये ब्राह्मणसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है ॥ ८ ॥

यथा हि सुकृते क्षेत्रे फलं विन्दति मानवः ।
एवं दत्त्वा श्रुतवति फलं दाता समश्नुते ॥ ९ ॥

जैसे मनुष्य उत्तम रीतिसे जोतकर तैयार किये हुए खेतमें बीज डालनेपर उसका फल प्राप्त करता है, वैसे ही दाता शास्त्रसम्पन्न ब्राह्मणको दान करनेसे उसका फल भोग किया करता है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणश्चेन्न विद्येत श्रुतवृत्तोपसंहितः ।
प्रतिग्रहीता दानस्य मोघं स्याद्धनिनां धनम् ॥ १० ॥

शास्त्रज्ञान और सुचरित्रयुक्त जो ब्राह्मण दानका प्रतिग्रहीता है, यदि वह विद्यमान न रहे, तो धनियोंका धन निरर्थक हो जायगा ॥ १० ॥

अदन्ह्यविद्वान्हन्त्यन्नमद्यमानं च हन्ति तम् ।
तं च हन्यति यस्यान्नं स हत्वा हन्यतेऽबुधः ॥ ११ ॥

अविद्वान् पुरुषके अन्नभक्षण करनेसे उस अन्नका नाश होता है और अद्यमान अन्न भी उसे नष्ट करता है। जो जिसके अन्न दानको नष्ट करता है, वह मूर्ख पुरुष स्वयं नष्ट होता है ॥ ११ ॥

प्रभुर्ह्यन्नमदन्विद्वान्पुनर्जनयतीश्वरः ।
स चान्नाज्जायते तस्मात्सूक्ष्म एव व्यतिक्रमः ॥ १२ ॥

तेजस्वी विद्वान् ब्राह्मण ही यदि अन्न भोजन करता है, तो वह अन्नको उत्पन्न करता है और वह स्वयं अन्नसे उत्पन्न होता है; यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्बोध है ॥ १२ ॥

यदेव ददतः पुण्यं तदेव प्रतिगृह्णतः ।
न ह्येकचक्रं वर्तेत इत्येवमृषयो विदुः ॥ १३ ॥

दाताको जैसा पुण्य होता है, प्रतिग्रहीताको भी उस ही प्रकार पुण्य हुआ करता है; एक पहियेसे गाडी नहीं चलती। ऋषियोंने ऐसा कहा है, कि दाता और प्रतिग्रहीता दोनों ही लोकतन्त्र निभाते हैं ॥ १३ ॥

यत्र वै ब्राह्मणाः सन्ति श्रुतवृत्तोपसंहिताः ।
तत्र दानफलं पुण्यमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ १४ ॥

शास्त्रज्ञान और सुचरित्रयुक्त ब्राह्मण जिस स्थानमें निवास करते हैं, उसी स्थानमें पवित्र दानका फल इस लोक और परलोकमें भोग किया जाता है ॥ १४ ॥

ये योनिशुद्धाः सततं तपस्यभिरता भृशम् ।
दानाध्ययनसंपन्नास्ते वै पूज्यतमाः सदा ॥ १५ ॥

जो ब्राह्मण शुद्धकुलमें उत्पन्न होके सदा तपस्या करनेमें रत रहते हैं और जो दान परायण तथा अध्ययनयुक्त हैं, वे सदा पूजने योग्य हैं ॥ १५ ॥

तैर्हि सद्भिः कृतः पन्थाश्चेतयानो न मुह्यते ।
ते हि स्वर्गस्य नेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२२ ॥ ५२४३ ॥

उन साधुओंने जो पथ तय्यार किया है, उस ही मार्गसे गमन करनेपर मनुष्य मुग्ध नहीं होता; वे लोग स्वर्गमार्गके प्रदर्शक और सनातन यज्ञवाहक हैं ॥ १६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२२ ॥ ५२४३ ॥

: १२३ :

भीष्म उवाच—

एवमुक्तः स भगवान्मैत्रेयं प्रत्यभाषत ।
दिष्ट्यैवं त्वं विजानासि दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी ।
लोको ह्ययं गुणानेव भूयिष्ठं स्म प्रशंसति ॥ १ ॥

भीष्म बोले— मैत्रेयका ऐसा वचन सुनके भगवान् वेदव्यासने इस प्रकार उत्तर दिया, कि भाग्यसे ही तुम ऐसे ज्ञानवान् होकर ऐसी बातोंको जानते हो, भाग्यसे ही तुम्हें ऐसी बुद्धि प्राप्ति हुई है । लोग उत्तम गुणवाले पुरुषोंकी भली भांति प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

रूपमानवयोमानश्रीमानाश्चाप्यसंशयम् ।
दिष्ट्या नाभिभवन्ति त्वां दैवस्तेऽयमनुग्रहः ।
यत्ते भृशतरं दानाद्वर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ २ ॥

भाग्यसे ही रूप, अवस्था और संपत्तिने तुम्हें अभिभव नहीं किया, यह तुम्हारे ऊपर दैवकी कृपा है, इसमें संशय नहीं है । दानसे बढके जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु है, उसे तुम्हारे समीप कहता हूं, सुनो ॥ २ ॥

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित्प्रवृत्तयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

इस लोकमें जो सब आगमशास्त्र तथा जो कुछ प्रवृत्तियां हैं, वे वेदको अगाडी करके यथारीतिसे प्रवृत्त हुए हैं ॥ ३ ॥

अहं दानं प्रशंसामि भवानपि तपःश्रुते ।
तपः पवित्रं वेदस्य तपः स्वर्गस्य साधनम् ॥ ४ ॥

मैं दानकी प्रशंसा करता हूं, आप तपस्या और ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं; तपस्या ही पवित्र और तपस्या ही वेद तथा स्वर्गकी साधन है ॥ ४ ॥

तपसा महदाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम्।
तपसैव चापनुदेद्यच्चान्यदपि दुष्कृतम् ॥ ५ ॥
मैंने ऐसा सुना है, कि तपस्या और विद्यासे मनुष्यको महान् पद मिलता है, जितने दुष्कृत हैं, वह तपस्यासे उन्हें नष्ट कर सकता है ॥ ५ ॥

यद्यद्धि किंचित्संधाय पुरुषस्तप्यते तपः।
सर्वमेतदवाप्नोति ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ ६ ॥
जिस किस उद्देश्यकी इच्छासे पुरुष तपस्या करता है, वह सब वेदोंका ज्ञाता ब्राह्मण तपस्या और विद्याके सहारे पाता है ॥ ६ ॥

दुरन्वयं दुष्प्रधृष्यं दुरापं दुरतिक्रमम्।
सर्वं वै तपसाभ्येति तपो हि बलवत्तरम् ॥ ७ ॥
जिससे संबंध रखना कठिन है, दुष्प्रधर्ष्य, दुष्प्राप्य और दुरतिक्रम जो कुछ विषय है, वह सब तपस्यासे प्राप्त होता है, इसलिये तपस्या ही सबसे बलवान् है ॥ ७ ॥

सुरापोऽसंमतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसा तरते सर्वमेनसश्च प्रमुच्यते ॥ ८ ॥
सुरा पीनेवाला, परधनहारी, भ्रूणहत्यारा और गुरुकी शय्यापर सोनेवाला पापी मनुष्य तपस्याके सहारे सब पापोंसे उत्तीर्ण होता तथा समस्त पापोंसे मुक्त हुआ करता है ॥ ८ ॥

सर्वविद्यस्तु चक्षुष्मानपि यादृशतादृशः।
तपस्विनौ च तावाहुस्ताभ्यां कार्यं सदा नमः ॥ ९ ॥
जो सर्वज्ञ होकर ज्ञाननेत्रसे सब विषयोंको अवलोकन करता है और जो तपस्वी चाहे जैसा हो, उन दोनोंको नेत्रवान् कहते हैं; उन्हें सदा नमस्कार करना उचित है ॥ ९ ॥

सर्वे पूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
दानप्रदाः सुखं प्रेत्य प्राप्नुवन्तीह च श्रियम् ॥ १० ॥
शास्त्रज्ञानयुक्त तथा तपस्वी मनुष्य सबके ही पूजनीय हैं; दान देनेवाले मनुष्य इसलोकमें श्रीसम्पन्न होकर परलोकमें सुख पाते हैं ॥ १० ॥

इमं च ब्रह्मलोकं च लोकं च बलवत्तरम्।
अन्नदानैः सुकृतिनः प्रतिपद्यन्ति लौकिकाः ॥ ११ ॥
जो लोग यहांपर सुकृत कर्म करते हैं, वे अन्नदानके सहारे इस लोकमें सुखी होकर, ब्रह्मलोक तथा बलवत्तर लोकोंको पाते हैं ॥ ११ ॥

×

पूजिताः पूजयन्त्येतान्मानिता मानयन्ति च ।
अदाता यत्र यत्रैति सर्वतः संप्रणुद्यते ॥ १२ ॥
दाता स्वयं पूजित और सम्मानित होकर दूसरोंका पूजन और सम्मान करते हैं; अदाता पुरुष जिस जिस स्थानोंमें जाता है, उन्हीं स्थानोंमें सब भांतिसे अवमानित होता है ॥ १२ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च लभते यस्य यादृशम् ।
यदेवोर्ध्वं यदवाक्च त्वं लोकानभियास्यसि ॥ १३ ॥
चाहे दान करता हो, वा चाहे दान न करता हो, जिसका जैसा कर्म है, वह वैसा ही फल पाता है । चाहे ऊपरके लोकमें रहता हो, चाहे अधोभागमें ही होवे, तुम निजलोकमें ही जाओगे ॥ १३ ॥

प्राप्स्यसे त्वन्नपानानि यानि दास्यसि कानिचित् ।
मेधाव्यसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ॥ १४ ॥
तुम जो कुछ देओगे, उसके अनुसार तुमको अन्न पानेकी सामग्री मिलेगी । तुम मेधावी, सद्वंशमें उत्पन्न, शास्त्रज्ञानसंपन्न और दयालु हो ॥ १४ ॥

कौमारदारव्रतवान्मैत्रेय निरतो भव ।
एतद्गृहाण प्रथमं प्रशस्तं गृहमेधिनाम् ॥ १५ ॥
हे मैत्रेय ! तुम कौमार ब्रह्मचारी और व्रतवान् हो, इसलिये धर्मपालनमें रत रहो; गृहस्थोंका यह उत्तम और प्रमुख धर्म ग्रहण करो ॥ १५ ॥

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता ।
यस्मिन्नेवं कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते ॥ १६ ॥
जिस कुलमें पति अपनी भार्यासे प्रसन्न रहता है और भार्या अपने पतिसे सन्तुष्ट रहती है, उसी वंशमें कल्याण विद्यमान रहता है ॥ १६ ॥

अद्भिर्गात्रान्मलमिव तमोऽग्निप्रभया यथा ।
दानेन तपसा चैव सर्वपापमपोह्यते ॥ १७ ॥
जैसे जलसे शरीरका मल धुल जाता है और अग्निके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो जाता है, वैसे ही दान और तपस्यासे सब पाप नष्ट हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि मैत्रेय गृहान्साधु व्रजाम्यहम् ।
एतन्मनसि कर्तव्यं श्रेय एवं भविष्यति ॥ १८ ॥
हे मैत्रेय ! तुम्हारी स्वस्ति होवे, मैं सावधानीसे निजस्थानपर जाता हूं । मेरे इस कथनको मनमें रखना; ऐसा करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १८ ॥

तं प्रणम्याथ मैत्रेयः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
स्वस्ति प्राप्नोतु भगवानित्युवाच कृताञ्जलिः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥ ५२६२ ॥

अनन्तर मैत्रेयने प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की और हाथ जोडके बोले– कि "आपको स्वस्ति प्राप्त होवे।" ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२३ ॥ ५२६२ ॥

: १२४ :

युधिष्ठिर उवाच—

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्वधर्मभृतां वर ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तस्तं मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्वधर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ पितामह ! मैं आपके समीप सती स्त्रियोंके सदाचारका स्वरूप सुननेकी इच्छा करता हूं, इसलिये आप मेरे समीप इस विषयको वर्णन करिये ॥१॥

भीष्म उवाच—

सर्वज्ञां सर्वधर्मज्ञां देवलोके मनस्विनीम् ।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्म बोले– सुमना नाम्नी कैकयराजकी पुत्रीने देवलोकमें सर्वज्ञा, सब धर्मोंको जाननेवाली मनस्विनी शाण्डिलीसे प्रश्न किया ॥ २ ॥

केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा ।
विधूय सर्वपापानि देवलोकं त्वमागता ॥ ३ ॥

हे कल्याणि ! तुम कैसे चरित्र और कैसे आचारके प्रभावसे सब पापोंका नाश करके देवलोकमें आई हो ? ॥ ३ ॥

हुताशनशिखेव त्वं ज्वलमाना स्वतेजसा ।
सुता ताराधिपस्येव प्रभया दिवमागता ॥ ४ ॥

तुम अग्निकी ज्वालाकी भांति निज तेजसे प्रज्वलित होती हो और ताराधिप चन्द्रमाकी पुत्री-सदृश अपनी प्रभासे द्युलोकमें आई हो ॥ ४ ॥

अरजांसि च वस्त्राणि धारयन्ती गतक्लमा ।
विमानस्था शुभे भासि सहस्रगुणमोजसा ॥ ५ ॥

तुमने निर्मल श्वेतवस्त्र धारण किये हैं और परिश्रम रहित होकर विमानमें बैठी हो; अपने तेजके द्वारा मंगलमयी तुम्हें सहस्रगुनी शोभा प्राप्त हुई है ॥ ५ ॥

न ह्यल्पेन तपसा दानेन नियमेन वा ।
इमं लोकमनुप्राप्ता तस्मात्तत्त्वं वदस्व मे ॥ ६ ॥

तुम अल्प तपस्या, दान और नियमोंका पालन करके इस लोकमें नहीं आई हो; इसलिये मुझे तुम अपनी साधनाका यथार्थ वृत्तान्त कहो ॥ ६ ॥

इति पृष्टा सुमनया मधुरं चारुहासिनी ।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

चारुहासिनी शाण्डिलीने सुमनाका ऐसा मधुर वाणीमें प्रश्न सुनके नम्रतापूर्ण इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ७ ॥

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी ।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता ॥ ८ ॥

मैं गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाली तथा वल्कलधारिणी नहीं हूं, मैंने सिर नहीं मुडाया अथवा जटाएं नहीं रखायीं; यह तप करके मैंने स्वर्गलोक नहीं पाया ॥ ८ ॥

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥ ९ ॥

मैंने सदा सावधान रहके अपने पतिको मुंहसे कभी अहितकर वा कठोर वचन नहीं कहे हैं ॥ ९ ॥

देवतानां पितृणां च ब्राह्मणानां च पूजने ।
अप्रमत्ता सदायुक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी ॥ १० ॥

मैं देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंकी पूजामें सदा सावधान रहती; सास-ससुरकी सेवा करने तथा आज्ञामें सदा नियुक्त रहती थी ॥ १० ॥

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारे न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ॥ ११ ॥

चुगलीके कार्यमें कभी प्रवृत्त नहीं होती थी और न यह मुझे अभिमत है; घरके बाहर कदापि निवास नहीं करती थी और बहुत समयतक किसीके साथ वार्तालाप भी नहीं करती थी ॥ ११ ॥

असद्वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा ॥ १२ ॥

एकान्तमें या सबके सामने किसीसे परिहास नहीं किया अथवा किसी कार्यसे किसीका अहित भी नहीं किया; मैं ऐसे कार्योंमें कभी प्रवृत्त नहीं होती थी ॥ १२ ॥

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ॥ १३ ॥

कार्यके निमित्त घरसे निकलके फिर जब मेरे पति गृहपर आते थे, तब उन्हें आसनपर बैठाके एकाग्रचित्त होकर उनकी पूजा करती थी ॥ १३ ॥

यच्च नाभिजानाति यद्भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम् ॥ १४ ॥

मेरे पति जिस अन्नको उत्तम नहीं समझते थे और जिसको पसंद नहीं करते थे, वैसी सब भक्ष्य या लेह्य वस्तुओंको मैं परित्याग करती थी ॥ १४ ॥

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित्कार्यमेव तु ।
प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च ॥ १५ ॥

परिवारके निमित्त जो कुछ वस्तु लाई जाती तथा जो कुछ कर्त्तव्यकार्य रहता था, भोरके समय उठके मैं स्वयं उन कार्योंको करती तथा दूसरोंसे कराती थी ॥ १५ ॥

प्रवासं यदि मे भर्ता याति कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता सदा ॥ १६ ॥

किसी कार्यसे यदि मेरे पति विदेशमें जाते थे, तो उस समय मैं संयत होके नाना प्रकारके माङ्गलिक कार्य करती रहती थी ॥ १६ ॥

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ॥ १७ ॥

पतिके विदेश जानेपर मैं अञ्जन, महावर, मांगलिक स्नान, मालाधारण, उबटन और प्रसाधनको पसंद नहीं करती थी ॥ १७ ॥

नोत्थापयामि भर्तारं सुखसुप्तमहं सदा ।
आतुरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः ॥ १८ ॥

पतिके सुखसे शयन करनेपर मैं आवश्यक कार्य रहनेपर भी उन्हें कभी नहीं जगाती थी, उससे मेरा मन सन्तुष्ट रहता था ॥ १८ ॥

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थे च सर्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसंमृष्टनिवेशना ॥ १९ ॥

कुटुम्बके पालन-पोषणके निमित्त स्वामीको मैं कभी तंग नहीं करती थी, गोपनीय विषयोंको सदा गुप्त रखती और सदा घर आंगनको साफ रखती थी ॥ १९ ॥

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते ॥ २० ॥

जो स्त्री सावधान होकर इस धर्मपद्धतिको पालन करती है, वह स्त्रियोंके बीच अरुन्धतीकी भांति आदरणीय होकर, स्वर्गलोकमें विशेष प्रतिष्ठित होकर निवास किया करती है ॥२०॥

भीष्म उवाच—

एतदाख्याय सा देवी सुमनायै तपस्विनी ।
पतिधर्मं महाभागा जगामादर्शनं तदा ॥ २१ ॥

भीष्म बोले— महाभागा तपस्विनी शाण्डिली देवी सुमनासे यह पतिधर्म कहके उस समय अन्तर्द्धान हुई ॥ २१ ॥

यश्चेदं पाण्डवाख्यानं पठेत्पर्वणि पर्वणि ।
स देवलोकं संप्राप्य नन्दने सुसुखं वसेत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥ ५२८४ ॥

हे पाण्डव ! जो प्रतिपर्वमें इस आख्यानका पाठ करता है, वह देवलोक पाके नन्दनकाननमें सुखी हुआ करता है ॥ २२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ चौबीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२४ ॥ ५२८४ ॥

: १२५ :

युधिष्ठिर उवाच—

साम्नो वापि प्रदाने वा ज्यायः किं भवतो मतम् ।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! साम और दान इन दोनोंमेंसे आपके मतमें कौनसा श्रेष्ठ है ? इन दोनोंके बीच जो उत्तम हो, आप उसे ही कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

साम्ना प्रसाद्यते कश्चिद्दानेन च तथापरः ।
पुरुषः प्रकृतिं ज्ञात्वा तयोरेकतरं भजेत् ॥ २ ॥

भीष्म बोले— कोई मनुष्य सान्त्वनावाक्यसे प्रसन्न होता है और कोई दानसे प्रसन्न हुआ करता है; इसलिये पुरुषप्रकृतिको मालूम करके दोनोंमेंसे एककी सेवा करे ॥ २ ॥

गुणांस्तु शृणु मे राजन्सान्त्वस्य भरतर्षभ ।
दारुणान्यपि भूतानि सान्त्वेनाराधयेद्यथा ॥ ३ ॥

हे राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! भयंकर प्राणीको भी जिस प्रकार मनुष्य सामसे वशमें कर सकता है, उस साम्यवादके समस्त गुण मेरे समीप सुनो ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गृहीत्वा रक्षसा मुक्तो द्विजातिः कानने यथा ॥ ४ ॥

किसी वनमें एक ब्राह्मण राक्षस द्वारा पकडे जानेपर जिस प्रकार छूटा था, इस विषयमें प्राचीन लोग उस ही पुरातन इतिहासको कहा करते हैं ॥ ४ ॥

कश्चित्तु बुद्धिसंपन्नो ब्राह्मणो विजने वने ।
गृहीतः कृच्छ्रमापन्नो रक्षसा भक्षयिष्यता ॥ ५ ॥
एक बुद्धिमान् ब्राह्मणको निर्जन वनके बीच किसी राक्षसने उसे खानेकी इच्छासे पकड लिया, तब ब्राह्मण बडे क्लेशमें पड गया ॥ ५ ॥

स बुद्धिश्रुतसंपन्नस्तं दृष्ट्वातीव भीषणम् ।
सामैवास्मिन्प्रयुयुजे न मुमोह न विव्यथे ॥ ६ ॥
उस बुद्धिशक्तिसे युक्त, शास्त्रज्ञाननिपुण ब्राह्मणने अत्यन्त भयङ्कर राक्षसको देखके मोहित वा व्यथित न होकर, उसके विषयमें सामनीतिका ही प्रयोग किया ॥ ६ ॥

रक्षस्तु वाचा संपूज्य प्रश्नं पप्रच्छ तं द्विजम् ।
मोक्ष्यसे ब्रूहि मे प्रश्नं केनास्मि हरिणः कृशः ॥ ७ ॥
राक्षसने उस ब्राह्मणके वचनकी प्रशंसा करके उसे एक प्रश्न पूछा और कहा— मेरे प्रश्नका उत्तर देनेसे तुम्हें छुटकारा मिलेगा । कहो, मैं किस कारणसे पाण्डुवर्ण तथा कृश हुआ हूं? ॥ ७ ॥

मुहूर्तमथ संचिन्त्य ब्राह्मणस्तस्य रक्षसः ।
आभिर्गाथाभिरव्यग्रः प्रश्नं प्रतिजगाद ह ॥ ८ ॥
अनन्तर ब्राह्मणने मुहूर्त भर सोचके अव्यग्रभावसे इन गाथाओंके सहारे निशाचरके प्रश्नका उत्तर दिया ॥ ८ ॥

विदेशस्थो विलोकस्थो विना नूनं सुहृज्जनैः ।
विषयानतुलान्भुङ्क्षे तेनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥
तुम सुहृदोंसे अलग रहकर परदेशमें रहनेवाले लोगोंके साथ विपुल विषयोंको भोगते हो, इस ही निमित्त पाण्डुवर्ण तथा कृश हुए हो ॥ ९ ॥

नूनं मित्राणि ते रक्षः साधूपचरितान्यपि ।
स्वदोषादपरज्यन्ते तेनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥
हे निशाचर ! तुम्हारे मित्रगण उत्तम रीतिसे सेवित होनेपर भी निज स्वभाव दोषसे तुम्हारे विषयमें विरक्त हुए हैं, इस ही लिये तुम पाण्डुवर्ण वा कृशित होते हो ॥ १० ॥

धनैश्वर्याधिकाः स्तब्धास्त्वद्गुणैः परमावराः ।
अवजानन्ति नूनं त्वां तेनासि हरिणः कृशः ॥ ११ ॥
समान अथवा अधिक धन ऐश्वर्ययुक्त तथा तुम्हारे गुणोंकी अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट वे मूर्ख लोग तुम्हारी अवज्ञा करते हैं, इसीसे तुम पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥ ११ ॥

गुणवान्विगुणानन्यान्नूनं पश्यसि सत्कृतान् ।
प्राज्ञोऽप्राज्ञान्विनीतात्मा तेनासि हरिणः कृशः ॥ १२ ॥
तुम गुणवान्, प्राज्ञ और विनीतचित्त होनेपर भी सम्मान नहीं पाते और गुणहीन तथा मूढ व्यक्तियोंको सम्मानित होते देखते हो, इसीसे पीले और कृश होते हो ॥ १२ ॥

अवृत्त्या क्लिश्यमानोऽपि वृत्त्युपायान्विगर्हयन् ।
माहात्म्याद्व्यथसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ १३ ॥
तुम जीवन वृत्तिके विना क्लेशित होके भी वृत्तिप्राप्तिकी निन्दा करते हुए महानुभावताके कारण दुःखित होनेसे पीले और दुबले हुए हो ॥ १३ ॥

संपीड्यात्मानमार्यत्वात्त्वया कश्चिदुपस्कृतः ।
जितं त्वां मन्यते साधो तेनासि हरिणः कृशः ॥ १४ ॥
हे साधु ! सज्जनताके वशमें होकर स्वयंको कष्ट देकर तुम किसीका उपकार करते हो, तो वह तुम्हें पराजित समझता है, इसीसे तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ १४ ॥

क्लिश्यमानान्विमार्गेषु कामक्रोधावृतात्मनः ।
मन्ये नु ध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ १५ ॥
कामक्रोधके वशमें रहनेवाले पुरुष कुपथमें पडके क्लेश पाते हैं, तुम उनके निमित्त सोच करते हो, इसीसे पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ १५ ॥

प्राज्ञैः संभावितो नूनं नप्राज्ञैरुपसंहितः ।
ह्रीयमाणश्च दुर्वृत्तैस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ १६ ॥
तुम निश्चितही बुद्धिमानोंसे सम्मानके योग्य हो, अज्ञानी लोग तुम्हारी हंसी उडाते हैं; दुर्वृत्त लोगोंसे तिरस्कृत और क्रोधित होनेसे पीले और दुबले हुए हो ॥ १६ ॥

नूनं मित्रमुखः शत्रुः कश्चिदार्यवदाचरन् ।
वञ्चयित्वा गतस्त्वां वै तेनासि हरिणः कृशः ॥ १७ ॥
मुंहसे मित्रताकी बातें करनेवाले शत्रुने साधुकी भांति आचरण करके तुम्हें ठगा है, इसीसे तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ १७ ॥

प्रकाशार्थगतिर्नूनं रहस्यकुशलः कृती ।
तज्ज्ञैर्न पूज्यसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ १८ ॥
तुम प्रकाशार्थ गति (अर्थकी कार्यपद्धति) और रहस्य विषयमें निपुण तथा कुशल होनेपर भी गुणज्ञ पुरुषोंसे पूजित नहीं होते, इसी निमित्त पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ १८ ॥

असत्स्वभिनिविष्टेषु ब्रुवतो मुक्तसंशयम् ।
गुणास्ते न विराजन्ते तेनासि हरिणः कृशः ॥ १९ ॥

दुष्ट दुराग्रही पुरुषोंके निकट तुम्हारे संशयरहित होकर विषयोंके कहनेपर भी तुम्हारे गुणोंका विकास वहां नहीं हुआ, उसीसे तुम पाण्डुबर्ण और कृश हुए हो ॥ १९ ॥

धनबुद्धिश्रुतैर्हीनः केवलं तेजसान्वितः ।
महत्प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २० ॥

तुम धन, बुद्धि और शास्त्रज्ञानसे रहित होके केवल शारीरिक शक्तिसे ही महत्पदकी इच्छा करते हो, उसीसे तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ २० ॥

तपःप्रणिहितात्मानं मन्ये त्वारण्यकाङ्क्षिणम् ।
बन्धुवर्गो न गृह्णाति तेनासि हरिणः कृशः ॥ २१ ॥

मैं तुम्हें तपस्याके सहारे प्रणिहितचित्त और वनवासका अभिलाषी जानता हूं, किंतु तुम्हारे बान्धवगण इस बातको पसंद नहीं करते हैं, इसीसे तुम पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥२१॥

नूनमर्थवतां मध्ये तव वाक्यमनुत्तमम् ।
न भाति कालेऽभिहितं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २२ ॥

निश्चयसे धनवान् पुरुषोंके बीच यथासमयमें कहा हुआ तुम्हारा उत्तम वचन उन्हें पसंद नहीं हुआ होगा, इस ही निमित्त तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ २२ ॥

दृढपूर्वश्रुतं मूर्खं कुपितं हृदयप्रियम् ।
अनुनेतुं न शक्नोषि तेनासि हरिणः कृशः ॥ २३ ॥

पहलेका दृढ निश्चयवाला प्रिय व्यक्ति उसकी मूर्खतासे तुमपर क्रोधित हुआ होगा, और तुम उसे विनयपूर्वक शान्त करनेमें समर्थ नहीं हुए, इसीसे तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥२३॥

नूनमासंजयित्वा ते कृत्ये कस्मिंश्चिदीप्सिते ।
कश्चिदर्थयतेऽत्यर्थं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २४ ॥

निश्चय ही किसी ईप्सित कार्यमें कोई तुम्हें आसक्त करके सदा तुम्हारेसे अपना स्वार्थ सिद्ध करना इच्छिता है, इस ही हेतु तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ २४ ॥

नूनं त्वा स्वगुणापेक्षं पूजयानं सुहृद्ध्रुवम् ।
मदार्थ इति जानाति तेनासि हरिणः कृशः ॥ २५ ॥

निश्चय ही अपने गुणोंकी अपेक्षा अधिक गुणवान् होनेसे तुम पूजित होते हो, परन्तु तुम्हारा मित्र यह सब उसके प्रभावसे हो रहा है, ऐसे मानता है, इस ही निमित्त तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ २५ ॥

×

अन्तर्गतमभिप्रायं न नूनं लज्जयेच्छसि ।
विवक्तुं प्राप्तिशैथिल्यात्तेनासि हरिणः कृशः ॥ २६ ॥

भीतरी अभिप्राय रहनेपर भी निश्चय ही तुम लज्जावश वह प्रकट करनेकी इच्छा नहीं करते, कारण कि तुम्हें अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके विषयमें संशय है, इसीलिये पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ २६ ॥

नानाबुद्धिरुचील्लोँके मनुष्यान्नूनमिच्छसि ।
ग्रहीतुं स्वगुणैः सर्वांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ २७ ॥

निश्चय ही जगत्में अनेक प्रकारकी बुद्धि और रुचियुक्त मनुष्योंको तुम निज गुणोंके सहारे वशमें करनेकी इच्छा करते हो, बोध होता है, इस ही हेतु तुम कृश तथा पाण्डुवर्ण हुए हो ॥ २७ ।

अविद्वान्भीरुरल्पार्थो विद्याविक्रमदानजम् ।
यशः प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २८ ॥

तुम अविद्वान् और भीरु और अल्प धनवाले होके विद्या पराक्रम युक्त कीर्ति तथा दानसे यशकी इच्छा करते हो, इस ही निमित्त पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ २८ ॥

चिराभिलषितं किंचित्फलमप्राप्तमेव ते ।
कृतमन्यैरपहृतं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २९ ॥

तुमने किसी चिराभिलषित फलको नहीं पाया और अन्य पुरुष उसे हर ले गये है, इस ही कारण तुम पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥ २९ ॥

नूनमात्मकृतं दोषमपश्यन्किंचिदात्मनि ।
अकारणेऽभिशस्तोऽसि तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३० ॥

बोध होता है, तुम अपने किये हुए दोषोंको न देख सकते और दूसरे लोग अकारण ही तुम्हें कोसते हैं, इसलिये तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ ३० ॥

सुहृदामप्रमत्तानामप्रमोक्ष्यार्थहानिजम् ।
दुःखमर्थगुणैर्हीनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३१ ॥

तुमने सुहृदों और आर्त्त पुरुषोंकी पीडा तथा दुःख दूर नहीं किया, तुम स्वयंको भी अत्यन्त अर्थहीन और गुणरहित पाते हो, इस ही लिये पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ ३१ ॥

साधून्गृहस्थान्दृष्ट्वा च तथासाधून्वनेचरान् ।
मुक्तांश्चावसथे सक्तांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३२ ॥

तुम साधुओंको गृहस्थ, दुष्टोंको वनवासी और मुक्त पुरुषोंको आश्रममें आसक्त देखके पाण्डु-वर्ण तथा कृश होते हो ॥ ३२ ॥

धर्म्यमर्थं च काले च देशे चाभिहितं वचः ।
न प्रतिष्ठति ते नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३३ ॥

लोग तुम्हारे यथा समयमें अभिहित धर्म, अर्थ और कामयुक्त वचनमें विश्वास नहीं करते मालूम होता है, इस ही लिये तुम पाण्डुवर्ण और कृश होते हो ॥ ३३ ॥

दत्तानकुशलैरर्थान्मनीषी संजिजीविषुः ।
प्राप्य वर्तयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३४ ॥

तुम मनीषी तथा जिज्ञासु होकर भी अज्ञानी लोगोंके द्वारा दिये हुए धनको लेके उसीपर जीविका निर्वाह करते हो, बोध होता है, इस ही निमित्त तुम पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥ ३४॥

पापान्विवर्धतो दृष्ट्वा कल्याणांश्चावसीदतः ।
ध्रुवं मृगयसे योग्यं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३५ ॥

मालूम होता है, कि पापी मनुष्योंको आगे बढते और कल्याणकारी पुण्यात्माओंके दुःख अनुभव करते देखकर तुम सदा इस परिस्थितीकी निन्दा किया करते हो, इसही लिये पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥ ३५ ॥

परस्परविरुद्धानां प्रियं नूनं चिकीर्षसि ।
सुहृदामविरोधेन तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३६ ॥

तुम सुहृदोंके अनुरोधसे परस्पर विरुद्ध पुरुषोंके प्रियकार्यको करनेकी इच्छा किया करते हो, बोध होता है, इस ही निमित्त पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥ ३६ ॥

श्रोत्रियांश्च विकर्मस्थान्प्राज्ञांश्चाप्यजितेन्द्रियान् ।
मन्येऽनुध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३७ ॥

तुम श्रोत्रिय पुरुषोंको वेदविरुद्ध कर्ममें रत और ज्ञानियोंको अजितेन्द्रिय देखकर तुम चिन्तित रहते हो, मालूम होता है, इस ही निमित्त पाण्डुवर्ण और कृश हुए हो ॥ ३७ ॥

एवं संपूजितं रक्षो विप्रं तं प्रत्यपूजयत् ।
सखायमकरोच्चैनं संयोज्यार्थैर्मुमोच ह ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥ ५३२२ ॥

इसही प्रकार राक्षसने अत्यन्त पूजित होकर उस ब्राह्मणकी पूजा करके उसके सङ्ग मित्रता की और बहुतसा धन देके उसे बिदा किया ॥ ३८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ पचीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२५ ॥ ५३२२ ॥

: १२६ :

युधिष्ठिर उवाच—

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
आगमैर्बहुभिः स्फीतो भवान्नः प्रथितः कुले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सर्वशास्त्रविशारद महाप्राज्ञ पितामह! आप हमारे इस विख्यातवंशमें अनेक प्रकारके आगमोंके ज्ञानसे युक्त हैं ॥ १ ॥

त्वत्तो धर्मार्थसंयुक्तमायत्यां च सुखोदयम् ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य श्रोतुमिच्छाम्यरिंदम ॥ २ ॥

हे अरिंदमन! आपके समीप उत्तरकालमें सुखदायक और जगत्के लिये आश्चर्यस्वरूप धर्मार्थ-युक्त वचन सुननेकी अभिलाष करता हूं ॥ २ ॥

अयं च कालः संप्राप्तो दुर्लभज्ञातिबान्धवः ।
शास्ता च न हि नः कश्चित्त्वामृते भरतर्षभ ॥ ३ ॥

स्वजनों और बान्धवोंके लिये यह दुर्लभ समय प्राप्त हुआ है। हे भरतश्रेष्ठ! आपके अतिरिक्त हम लोगोंके लिये दूसरा कोई भी उपदेष्टा नहीं है ॥ ३ ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
वक्तुमर्हसि नः प्रश्नं यत्त्वां पृच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥

हे पापरहित! मैं भाइयोंके सहित यदि आपका कृपापात्र होऊं, तो हे राजन्! मैं जो प्रश्न पूछता हूं उसका आपको उत्तर देना उचित है ॥ ४ ॥

अयं नारायणः श्रीमान्सर्वपार्थिवसंमतः ।
भवन्तं बहुमानेन प्रश्रयेण च सेवते ॥ ५ ॥

ये सब राजाओंके सम्मानजनक श्रीमान् भगवान् नारायण श्रीकृष्ण आपका बहुमान और विनयके सहित सेवा करते हैं ॥ ५ ॥

अस्य चैव समक्षं त्वं पार्थिवानां च सर्वशः ।
भ्रातॄणां च प्रियार्थं मे स्नेहाद्भाषितुमर्हसि ॥ ६ ॥

इनके और सब राजाओंके सम्मुख मेरे और भ्रातृगणोंकी प्रीतिके निमित्त आप इस विषयको स्नेहपूर्वक वर्णन करिये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा स्नेहादागतसंभ्रमः ।
भीष्मो भागीरथीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— गङ्गानन्दन भीष्मने युधिष्ठिरका यह वचन सुनके प्रीतिपूर्वक सम्भ्रमयुक्त होकर यह वक्ष्यमाण वचन कहा ॥ ७ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि कथामतिमनोरमाम् ।
अस्य विष्णोः पुरा राजन्प्रभावोऽयं मया श्रुतः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! पहले समयमें मैंने इन भगवान् विष्णुका जो प्रभाव सुना था, वह अत्यन्त मनोहर कथा तुम्हारे समीप कहूंगा ॥ ८ ॥

यश्च गोवृषभाङ्कस्य प्रभावस्तं च मे शृणु ।
रुद्राण्याः संशयो यश्च दंपत्योस्तं च मे शृणु ॥ ९ ॥

वृषभध्वज महादेवका जैसा प्रभाव सुना है उसे और रुद्राणीको जिस प्रकार संशय हुआ था, तब शिव और पार्वतीमें जो संवाद हुआ था, वह कथा भी मेरे समीप सुनो ॥ ९ ॥

व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम् ।
दीक्षितं चागतौ द्रष्टुमुभौ नारदपर्वतौ ॥ १० ॥

पहले समयमें धर्मात्मा श्रीकृष्ण दीक्षा लेकर बारह वर्षोंका व्रताचरण कर रहे थे; उस समय उनका दर्शन करनेके लिये नारद और पर्वत ऋषि वहां आये ॥ १० ॥

कृष्णद्वैपायनश्चैव धौम्यश्च जपतां वरः ।
देवलः काश्यपश्चैव हस्तिकाश्यप एव च ॥ ११ ॥

और श्रीकृष्णद्वैपायन, जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्य, देवल, काश्यप, हस्तिकाश्यप ॥ ११ ॥

अपरे ऋषयः सन्तो दीक्षादमसमन्विताः ।
शिष्यैरनुगताः सर्वे देवकल्पैस्तपोधनैः ॥ १२ ॥

और दूसरे बहुतेरे दीक्षादमयुक्त साधु महर्षिगण अपने देवोपम, तपस्वी शिष्योंके सहित उनका दर्शन करनेके लिये वहां आये ॥ १२ ॥

तेषामातिथिसत्कारमर्चनीयं कुलोचितम् ।
देवकीतनयः प्रीतो देवकल्पमकल्पयत् ॥ १३ ॥

देवकीपुत्र श्रीकृष्णने उन लोगोंके आनेसे प्रसन्न होकर अतिथियोंका देवतुल्य पूजनीय यथायोग्य कुलके अनुसार सत्कार किया ॥ १३ ॥

हरितेषु सुवर्णेषु बर्हिष्केषु नवेषु च ।
उपोपविविशुः प्रीता विष्टरेषु महर्षयः ॥ १४ ॥

महर्षिगण हरे और सुवर्ण वर्ण बर्हिनिर्मित नवीन आसनोंपर प्रसन्नतापूर्वक श्रीकृष्णके समीप बैठे ॥ १४ ॥

कथाश्चक्रुस्ततस्ते तु मधुरा धर्मसंहिताः ।
राजर्षीणां सुराणां च ये वसन्ति तपोधनाः ॥ १५ ॥

अनन्तर वे राजर्षि लोग, देवताओं और वहां रहनेवाले तपस्वियोंके विषयमें धर्मयुक्त मधुर कथाएं कहने लगे ॥ १५ ॥

ततो नारायणं तेजो व्रतचर्येन्धनोत्थितम् ।
वक्त्रादग्निःसृतस्य कृष्णस्य वह्निरद्भुतकर्मणः ॥ १६ ॥
अनन्तर अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्णके मुखमण्डलसे व्रतचर्यारूपी इन्धनके सहारे भगवान् नारायणका तेज अग्नि रूपमें प्रकट होकर ॥ १६ ॥

सोऽग्निर्ददाह तं शैलं सद्रुमं सलताक्षुपम् ।
सपक्षिमृगसंघातं सश्वापदसरीसृपम् ॥ १७ ॥
वृक्ष, लता, क्षुद्र तरु, पक्षी, मृग संघ, श्वापद और सरीसृपोंके सहित उस पर्वतको जलाने लगा ॥ १७ ॥

मृगैश्च विविधाकारैर्हाहाभूतमचेतनम् ।
शिखरं तस्य शैलस्य मथितं दीप्तदर्शनम् ॥ १८ ॥
अनेक प्रकारके मृगसमूह हाहाकार करते हुए अचेत हुए; उस पर्वतका शिखरस्थान मथित होकर प्रज्वलित दीखने लगा ॥ १८ ॥

स तु वह्निर्महाज्वालो दग्ध्वा सर्वमशेषतः ।
विष्णोः समीपमागम्य पादौ शिष्यवदस्पृशत् ॥ १९ ॥
उस महाज्वालायुक्त अग्निने निःशेष रूपसे सबको जलाकर भगवान् विष्णुके निकट आके शिष्यकी भाँति उनके दोनों चरणोंको स्पर्श किया ॥ १९ ॥

ततो विष्णुर्वनं दृष्ट्वा निर्दग्धमरिकर्शनः ।
सौम्यैर्दृष्टिनिपातैस्तत्पुनः प्रकृतिमानयत् ॥ २० ॥
शत्रुनाशन नारायणने उस पर्वतको निःशेष रीतिसे दग्ध हुआ देखकर सौम्यदृष्टिके सहारे फिर उसे प्रकृतिस्थ— पहलेके समान हराभरा किया ॥ २० ॥

तथैव स गिरिर्भूयः प्रपुष्पितलताद्रुमः ।
सपक्षिगणसंघुष्टः सश्वापदसरीसृपः ॥ २१ ॥
वह पर्वत पहलेकी भाँति वृक्ष, लता, पुष्प और पक्षियोंके शब्द और श्वापद सरीसृपोंसे परिपूरित हुआ ॥ २१ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च दृष्ट्वा मुनिगणास्तदा ।
विस्मिता हृष्टरोमाश्च बभूवास्राविलेक्षणाः ॥ २२ ॥
मुनिगण उस समय उस अद्भुत और अचिन्त्य व्यापारको देखकर विस्मित और रोमाञ्चित हुए और वे आनन्दसे अश्रुपूरित नेत्रयुक्त हुए ॥ २२ ॥

ततो नारायणो दृष्ट्वा तानृषीन्विस्मयान्वितान् ।
प्रश्रितं मधुरं स्निग्धं पप्रच्छ वदतां वरः ॥ २३ ॥

अनन्तर वक्तृवर नारायण उन ऋषियोंको विस्मित देखकर विनयपूर्वक नम्र, मधुर तथा स्निग्ध वचन बोले ॥ २३ ॥

किमस्य ऋषिपूगस्य त्यक्तसङ्गस्य नित्यशः ।
निर्ममस्यागमवतो विस्मयः समुपागतः ॥ २४ ॥

सदा आसक्ति और ममतारहित, वेद जाननेवाले ऋषियोंको किस निमित्त विस्मय उपस्थित हुआ है ? ॥ २४ ॥

एतं मे संशयं सर्वं याथातथ्यमनिन्दिताः ।
ऋषयो वक्तुमर्हन्ति निश्चितार्थं तपोधनाः ॥ २५ ॥

हे तपोधनगण ! आप लोग सब कोई अनिन्दित ऋषि हैं, इसलिये आप लोगोंको मेरे इस संशयका निश्चित अर्थ कहना उचित है ॥ २५ ॥

ऋषय ऊचुः—

भवान्विसृजते लोकान्भवान्संहरते पुनः ।
भवाञ्शीतं भवानुष्णं भवानेव प्रवर्षति ॥ २६ ॥

ऋषिगण बोले— हे मधुसूदन ! आपने ही सब लोकोंकी सृष्टि की है, फिर आपही सबका संहार करते हैं, तुम्हीं शीत हो, तुम ही उष्ण हो और तुम ही वर्षा करते हो ॥ २६ ॥

पृथिव्यां यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तेषां पिता त्वं माता च प्रभुः प्रभव एव च ॥ २७ ॥

पृथिवीपर जो सब स्थावरजङ्गम जीव हैं, आप ही उनके पिता, माता, प्रभु और प्रभव हो ॥ २७ ॥

एतन्नो विस्मयकरं प्रशंस मधुसूदन ।
त्वमेवार्हसि कल्याण वक्तुं वह्नेर्विनिर्गमम् ॥ २८ ॥

हे कल्याणरूप मधुसूदन ! इससे जिस हेतु तुम्हारे मुखसे अग्नि निकलनेसे हम लोगोंको विस्मययुक्त सन्देह हुआ है, तुम ही उस सन्देहके विषयको कह सकते हो ॥ २८ ॥

ततो विगतसंत्रासा वयमप्यरिकर्षण ।
यच्छ्रुतं यच्च दृष्टं नस्तत्प्रवक्ष्यामहे हरे ॥ २९ ॥

हे हरि ! हे अरिकर्षण ! अनन्तर हम लोग भयरहित होके हमने जो आश्चर्यमय देखा तथा सुना है, वह सब कहेंगे ॥ २९ ॥

वासुदेव उवाच—

एतत्तद्वैष्णवं तेजो मम वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो येनायं मथितो गिरिः ॥ ३० ॥

वासुदेव बोले— मेरे शरीरसे जो यह वैष्णव तेज निकला था, यह प्रलयकालकी अग्निसदृश आभायुक्त था, जिसके सहारे यह महापर्वत मथित हुआ ॥ ३० ॥

ऋषयश्चार्तिमापन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
भवन्तो व्यथिताश्चासन्देवकल्पास्तपोधनाः ॥ ३१ ॥

और क्रोधविजयी, जितेन्द्रिय, देवतुल्य, तपस्वी ज्ञानयुक्त आप लोग भी उसीसे पीडित तथा व्यथित हुए थे ॥ ३१ ॥

व्रतचर्यापरीतस्य तपस्विव्रतसेवया ।
मम वह्निः समुद्भूतो न वै व्यथितुमर्हथ ॥ ३२ ॥

तपस्विव्रतसेवन तथा व्रताचरणयुक्त होनेसे मेरे शरीरसे अग्नि प्रकट हुई थी; इसलिये आप लोग व्यथित न होवें ॥ ३२ ॥

व्रतं चर्तुमिहायातस्त्वहं गिरिमिमं शुभम् ।
पुत्रं चात्मसमं वीर्ये तपसा स्रष्टुमागतः ॥ ३३ ॥

मैं व्रताचरण करनेके लिये इस पवित्र पर्वतपर आके वीर्यबलसे अपने सदृश पुत्र पानेके लिये तपस्या कर रहा हूं ॥ ३३ ॥

ततो ममात्मा यो देहे सोऽग्निर्भूत्वा विनिःसृतः ।
गतश्च वरदं द्रष्टुं सर्वलोकपितामहम् ॥ ३४ ॥

अनन्तर मेरे देहमें स्थित जो आत्मा है, वही अग्निरूपसे निकलकर सर्वलोकपितामह वरद देवका दर्शन करनेके लिये गया था ॥ ३४ ॥

तेन चात्मानुशिष्टो मे पुत्रत्वे मुनिसत्तमाः ।
तेजसोऽर्धेन पुत्रस्ते भवितेति वृषध्वजः ॥ ३५ ॥

हे मुनिसत्तमगण ! उन्होंने मेरे प्राणको यह संदेश देकर भेजा है कि प्रत्यक्ष वृषभध्वज शिव अपने तेजके आधे भागसे तुम्हारा पुत्र होंगे ॥ ३५ ॥

सोऽयं वह्निरुपागम्य पादमूले ममान्तिकम् ।
शिष्यवत्परिचर्यार्थं शान्तः प्रकृतिमागतः ॥ ३६ ॥

यह वही अग्निरूपी प्राण मेरे पास लौटकर परिचर्याके निमित्त शिष्यकी भांति मेरे चरणमूलपर पहुंचके शान्त और प्रकृतिको प्राप्त हुआ है ॥ ३६ ॥

एतदस्य रहस्यं वः पद्मनाभस्य धीमतः।
मया प्रेम्णा समाख्यातं न भीः कार्या तपोधनाः ॥ ३७ ॥
हे तपोधनगण! यह बुद्धिमान् पद्मनाभका रहस्यविषय मैंने आप लोगोंके समीप प्रेमपूर्वक वर्णन किया है, इसलिये आप लोग भय न करिये ॥ ३७ ॥

सर्वत्र गतिरव्यग्रा भवतां दीर्घदर्शिनाः।
तपस्विव्रतसंदीप्ता ज्ञानविज्ञानशोभिताः ॥ ३८ ॥
आप लोगोंकी गति सर्वत्र है; आप लोग दूरदर्शी हैं, इसलिये वह गति अव्यग्र है। आप तपस्या व्रतका आचरण करनेसे देदीप्यमान हैं और आप लोगोंकी शोभा ज्ञान और विज्ञानसे बढ़ती है ॥ ३८ ॥

यच्छ्रुतं यच्च वो दृष्टं दिवि वा यदि वा भुवि।
आश्चर्यं परमं किंचित्तद्भवन्तो ब्रुवन्तु मे ॥ ३९ ॥
इसलिये आप लोगोंने द्युलोक वा भूलोकमें जो परम आश्चर्य सुना वा देखा हो, उसे मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ३९ ॥

तस्यामृतनिकाशस्य वाङ्मधोरस्ति मे स्पृहा।
भवद्भिः कथितस्येह तपोवननिवासिभिः ॥ ४० ॥
आप लोग तपोवननिवासी महर्षि हैं, आप लोगोंके कहे हुए अमृततदृश वचन-मधु आस्वादन करनेकी मुझे अभिलाष हुई है ॥ ४० ॥

यद्यप्यहमदृष्टं वा दिव्यमद्भुतदर्शनम्।
दिवि वा भुवि वा किंचित्पश्याम्यमलदर्शनाः ॥ ४१ ॥
हे निर्मलदर्शन तपस्विवृन्द! यदि मैं द्युलोक अथवा भूलोकमें आप लोगोंके अतिरिक्त कोई अद्भुतदर्शन दिव्य विषय देखूं ॥ ४१ ॥

प्रकृतिः सा मम परा न क्वचित्प्रतिहन्यते।
न चात्मगतमैश्वर्यमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४२ ॥
तो वह मेरी परम प्रकृति-सर्वज्ञता है, वह सर्वत्र अप्रतिहत है; मुझमें जो ऐश्वर्य है वह मुझे आश्चर्यरूप नहीं लगता ॥ ४२ ॥

श्रद्धेयः कथितो ह्यर्थः सज्जनश्रवणं गतः।
चिरं तिष्ठति मेदिन्यां शैले लेख्यमिवार्पितम् ॥ ४३ ॥
श्रद्धापूर्वक कहा हुआ विषय सज्जनोंके श्रवणगोचर होनेपर पर्वतमें अर्पित लेख्यकी भाँति पृथ्वीमण्डलपर सदा स्थिति करता है ॥ ४३ ॥

×

तदहं सज्जनमुखान्निःसृतं तत्समागमे ।
कथयिष्याम्यहरहर्बुद्धिदीपकरं नृणाम् ॥ ४४ ॥

इसलिये मैं आप सज्जनोंके मुखसे निकले हुए वचनको मनुष्योंकी बुद्धि उद्दीपनकारी मानकर उसे सत्पुरुषोंके समाजमें वर्णन करूंगा ॥ ४४ ॥

ततो मुनिगणाः सर्वे प्रश्रिताः कृष्णसंनिधौ ।
नेत्रैः पद्मदलप्रख्यैरपश्यन्त जनार्दनम् ॥ ४५ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णके निकट बैठे हुए ऋषि विनीतभाव होकर कमलसदृश खिले हुए नेत्रोंसे उन्हें देखने लगे ॥ ४५ ॥

वर्धयन्तस्तथैवान्ये पूजयन्तस्तथापरे ।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तुवन्तो मधुसूदनम् ॥ ४६ ॥

कोई मधुसूदनकी प्रशंसा करनेमें प्रवृत्त हुए, कोई पूजा करने लगे; कितने ही ऋङ्मन्त्र-विभूषित वचनसे स्तुति करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो मुनिगणाः सर्वे नारदं देवदर्शनम् ।
तदा नियोजयामासुर्वचने वाक्यकोविदम् ॥ ४७ ॥

अनन्तर मुनियोंने उस समय वाक्यकोविद नारद मुनिको भगवानकी बातका उत्तर देनेके लिये नियुक्त किया ॥ ४७ ॥

यदाश्चर्यमचिन्त्यं च गिरौ हिमवति प्रभो ।
अनुभूतं मुनिगणैस्तीर्थयात्रापरायणैः ॥ ४८ ॥

हे प्रभो ! तीर्थयात्रामें रत मुनियोंने हिमालयमें जिस अचिन्त्य आश्चर्यका अनुभव किया है ॥ ४८ ॥

तद्भवानृषिसंघस्य हितार्थं सर्वचोदितः ।
यथादृष्टं हृषीकेशे सर्वमाख्यातुमर्हति ॥ ४९ ॥

ऋषियोंके हितके निमित्त हृषीकेशके निकट वह सब जिस प्रकार देखा गया था, उसे आदिसे अन्ततक वर्णन करो ॥ ४९ ॥

एवमुक्तः स मुनिभिर्नारदो भगवानृषिः ।
कथयामास देवर्षिः पूर्ववृत्तां कथां शुभाम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥ ५३७२ ॥

देवर्षि नारदमुनिने उन मुनियोंका वचन सुनके पहले समयका शुभ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ ५० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२६ ॥ ५३७२ ॥

: १२७ :

भीष्म उवाच—

ततो नारायणसुहृन्नारदो भगवानृषिः ।
शंकरस्योमया सार्धं संवादं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्म बोले– अनन्तर नारायणके सुहृद् भगवान् नारद ऋषि उमाके सङ्ग महादेवका जो वार्तालाप हुआ था, उसे कहने लगे ॥ १ ॥

तपश्चचार धर्मात्मा वृषभाङ्कः सुरेश्वरः ।
पुण्ये गिरौ हिमवति सिद्धचारणसेविते ॥ २ ॥
नानौषधियुते रम्ये नानापुष्पसमाकुले ।
अप्सरोगणसंकीर्णे भूतसंघनिषेविते ॥ ३ ॥

चारणोंसे सेवित, अनेक प्रकारकी ओषधियोंसे सम्पन्न, भांति भांतिके पुष्पोंसे युक्त, अप्सराओं और भूतोंसे परिपूरित रमणीय पवित्र हिमालय पर्वतपर धर्मात्मा देवताओंके ईश्वर वृषभध्वज शंकरने तपस्या की थी ॥ २–३ ॥

तत्र देवो मुदा युक्तो भूतसंघशतैर्वृतः ।
नानारूपैर्विरूपैश्च दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ ४ ॥

महादेव उस स्थानमें सैकडों भूतसमूहोंके बीच घिरके हर्षित थे, उन भूतोंके रूप नाना-प्रकारके और विकृत थे; किन्हींके रूप दिव्य तथा अद्भुत थे ॥ ४ ॥

सिंहव्याघ्रगजप्रख्यैः सर्वजातिसमन्वितैः ।
क्रोष्टुकद्वीपिवदनैर्ऋक्षर्षभमुखैस्तथा ॥ ५ ॥

कोई सिंह, व्याघ्र, गजराजोंके सदृश थे; उनमें सभी जातियोंके प्राणी सम्मिलित थे; कितनेही भूतोंके मुख सियार, चीता, रिछ और बैलोंके समान थे ॥ ५ ॥

उलूकवदनैर्भीमैः श्येनभासमुखैस्तथा ।
नानावर्णमृगप्रख्यैः सर्वजातिसमन्वयैः ।
किंनरैर्देवगन्धर्वैर्यक्षभूतगणैस्तथा ॥ ६ ॥

कोई उलूकानन, कोई भयङ्कर बाजपेयपक्षीकी भांति मुखयुक्त थे; कितनेही अनेक प्रकारके वर्णवाले हरिणोंके समान मुखवाले थे; वे सभी जातियोंसे युक्त थे । बहुतसे किन्नर, देव, गन्धर्व, यक्ष और भूतोंके गणोंने उन्हें घेर लिया था ॥ ६ ॥

दिव्यपुष्पसमाकीर्णं दिव्यमालाविभूषितम् ।
दिव्यचन्दनसंयुक्तं दिव्यधूपेन धूपितम् ।
तत्सदो वृषभाङ्कस्य दिव्यवादित्रनादितम् ॥ ७ ॥

भगवान् शंकरकी वह सभा दिव्य पुष्पोंसे परिपूरित, दिव्य मालाओंसे विभूषित और दिव्य चन्दनयुक्त, दिव्य धूपसे धूपित थी; वहां दिव्य वाद्योंकी ध्वनि हो रहा थी ॥ ७ ॥

मृदङ्गपणवोद्घुष्टं शङ्खभेरीनिनादितम् ।
नृत्यद्भिर्भूतसंघैश्च बर्हिणैश्च समन्ततः ॥ ८ ॥
मृदङ्ग, ढोल, शंख तथा भेरी आदि दिव्य बाजोंके शब्द सब ओर व्याप्त हो रहा था; चारों ओर नाचते हुए भूत समुदाय और मयूर उसकी शोभा बढाते थे ॥ ८ ॥

प्रनृत्ताप्सरसं दिव्यं दिव्यस्त्रीगणसेवितम् ।
दृष्टिकान्तमनिर्देश्यं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ ९ ॥
वहांपर अप्सरायें नृत्य कर रही थीं, वह दिव्य सभा दिव्य स्त्रियोंके समुदायसे सेवित, अत्यन्त दर्शनीय, अनिर्वचनीय, अलौकिक और अद्भुत थी ॥ ९ ॥

स गिरिस्तपसा तस्य भूतेशस्य व्यरोचत ॥ १० ॥
वह पर्वत भूतपति महादेवकी तपस्यासे सुशोभित हुआ था ॥ १० ॥

स्वाध्यायपरमैर्विप्रैर्ब्रह्मघोषैर्विनादितः ।
षट्पदैरुपगीतैश्च माधवाप्रतिमो गिरिः ॥ ११ ॥
स्वाध्यायपाठमें रत ब्राह्मणोंके वेदध्वनिसे वह निनादित हुआ था । हे माधव ! वह अप्रतिम पर्वत भ्रमरोंके गूंजनसे शोभित हो रहा था ॥ ११ ॥

तं महोत्सवसंकाशं भीमरूपधरं पुनः ।
दृष्ट्वा मुनिगणस्यासीत्परा प्रीतिर्जनार्दन ॥ १२ ॥
हे जनार्दन ! वह स्थान अत्यंत भयंकर होनेपर भी महोत्सवके सम्पन्नसा लगता था; उसे देखकर मुनियोंके मनमें परम प्रीति उत्पन्न हुई ॥ १२ ॥

मुनयश्च महाभागाः सिद्धाश्चैवोर्ध्वरेतसः ।
मरुतो वसवः साध्या विश्वेदेवाः सनातनाः ॥ १३ ॥
महाभाग मुनिगण, ऊर्ध्वरेता सिद्धगण, मरुत्, वसु, साध्य, सनातन विश्वेदेवगण, ॥१३॥

यक्षा नागाः पिशाचाश्च लोकपाला हुताशनाः ।
भावाश्च सर्वे न्यग्भूतास्तत्रैवासन्समागताः ॥ १४ ॥
यक्ष, नाग, पिशाचगण, सब लोकपाल, अग्नि और भाव–रस सब विनीत होकर वहांपर उपस्थित थे ॥ १४ ॥

ऋतवः सर्वपुष्पैश्च व्यकिरन्त महाद्भुतैः ।
ओषध्यो ज्वलमानाश्च द्योतयन्ति स्म तद्वनम् ॥ १५ ॥
सब समयके छहों ऋतुएं सब प्रकारके अत्यंत अद्भुत पुष्प बिखेर रही थीं; ओषधियां प्रज्वलित होकर उस वनको प्रकाशित करती थीं ॥ १५ ॥

विहगाश्च मुदा युक्ताः प्रानृत्यन्व्यनदंश्च ह ।
गिरिपृष्ठेषु रम्येषु व्याहरन्तो जनप्रियाः ॥ १६ ॥

पक्षिसमूह हर्षित होके नाचते और गाते थे, रमणीय पर्वतके शिखरोंपर जनप्रिय पक्षीवृन्द विचर रहे थे ॥ १६ ॥

तत्र देवो गिरितटे दिव्यधातुविभूषिते ।
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो महामनाः ॥ १७ ॥

उस दिव्य धातुओंसे विभूषित गिरिपर महामना महादेव पर्यङ्कपर बैठे हुएकी भाँति विराजमान थे ॥ १७ ॥

व्याघ्रचर्माम्बरधरः सिंहचर्मोत्तरच्छदः ।
व्यालयज्ञोपवीती च लोहिताङ्गदभूषणः ॥ १८ ॥

उस समय वे व्याघ्रचर्मको वस्त्रके रूपमें तथा सिंहचर्मको उत्तरीय वस्त्र जैसे धारण करते थे; उनके गलेमें सर्पमय यज्ञोपवीत था; वे लालरंगके बाजूबंदसे भूषित थे ॥ १८ ॥

हरिश्मश्रुर्जटी भीमो भयकर्ता सुरद्विषाम् ।
अभयः सर्वभूतानां भक्तानां वृषभध्वजः ॥ १९ ॥

उनकी मूंछ काली थी और मस्तकपर जटाजूट था; वे भीमस्वरूप रुद्र देवद्वेषियोंको भयभीत करते थे; सब जीवोंके अभयदाता, भक्तोंको भयसे परित्राण करनेवाले वृषभध्वज भगवान् शंकर उस स्थानमें विराजमान थे ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा तमृषयः सर्वे शिरोभिरवनीं गताः ।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः क्षान्ता विगतकल्मषाः ॥ २० ॥

सभी महर्षियोंने उन्हें देखकर पृथ्वीपर सिर रखकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया, वे लोग सब पापोंसे मुक्त, क्षमाशील और कल्मष रहित थे ॥ २० ॥

तस्य भूतपतेः स्थानं भीमरूपधरं बभौ ।
अप्रधृष्यतरं चैव महोरगसमाकुलम् ॥ २१ ॥

उस समय भूतपतिका वह भयानक स्थान अत्यंत शोभित हुआ; वह उस समय अत्यन्त दुर्धर्ष और बडे सर्पोंसे परिपूर्ण हो गया ॥ २१ ॥

क्षणेनैवाभवत्सर्वमद्भुतं मधुसूदन ।
तत्सदो वृषभाङ्कस्य भीमरूपधरं बभौ ॥ २२ ॥

हे मधुसूदन ! क्षणभरके बीच उस स्थानमें आश्चर्य दीख पडा; वह वृषभध्वजकी सभा भयंकर रूप धारण करके शोभित होने लगी ॥ २२ ॥

तत्सभ्ययाच्छैलसुता भूतस्त्रीगणसंवृता ।
हरतुल्याम्बरधरा समानव्रतचारिणी ॥ २३ ॥

भगवान् शिवके समान वस्त्र धारण की हुई, उन्हींकी भांति उत्तम व्रतका आचरण करनेवाली शैलनन्दिनीने भूत भामिनियोंके बीच घिरकर उनके समीप आगमन किया ॥ २३ ॥

बिभ्रती कलशं रौक्मं सर्वतीर्थजलोद्भवम् ।
गिरिस्रवाभिः पुण्याभिः सर्वतोऽनुगता शुभा ॥ २४ ॥

वह उस समय सब तीर्थोंके जलसे युक्त सुवर्णकलश धारण करके उस पर्वतसे गिरनेवाली पुण्यमयी नदियोंसे चारों ओरसे घिरकर शोभित होने लगी ॥ २४ ॥

पुष्पवृष्ट्याभिवर्षन्ती गन्धैर्बहुविधैस्तथा ।
सेवन्ती हिमवत्पार्श्वं हरपार्श्वमुपागमत् ॥ २५ ॥

उन्होंने अनेक प्रकारकी सुगन्ध और फूलोंकी वर्षा करती हुई हिमवत्पार्श्वसेवापूर्वक हरके पार्श्वमें आगमन किया ॥ २५ ॥

ततः स्मयन्ती पाणिभ्यां नर्मार्थं चारुदर्शना ।
हरनेत्रे शुभे देवी सहसा सा समावृणोत् ॥ २६ ॥

अनन्तर उस चारुदर्शना देवीने हंसकर कौतुकके निमित्त अपने दोनों हाथोंसे सहसा महादेवके दोनों उत्तम नेत्र मूंद लिये ॥ २६ ॥

संवृताभ्यां तु नेत्राभ्यां तमोभूतमचेतनम् ।
निर्होमं निर्वषट्कारं तत्सदः सहसाभवत् ॥ २७ ॥

महादेवके दोनों नेत्र आच्छादित होते ही सहसा सारी सभा अन्धकारमय और अचेतन हुई और निर्होम तथा वषट्काररहित होगयी ॥ २७ ॥

जनश्च विमनाः सर्वो भयत्राससमन्वितः ।
निमीलिते भूतपतौ नष्टसूर्य इवाभवत् ॥ २८ ॥

सब लोग मलिन मन और भयसे त्रासित हुए; महादेवके नेत्र बंद होनेपर मानो सूर्य नष्ट हो गया है ऐसी स्थिति हो गयी ॥ २८ ॥

ततो वितिमिरो लोकः क्षणेन समपद्यत ।
ज्वाला च महती दीप्ता ललाटात्तस्य निःसृता ॥ २९ ॥

अनन्तर क्षणभरके बीच सब लोक अन्धकाररहित हुए, महादेवके ललाटसे महत् प्रदीप्त ज्वाला निकली ॥ २९ ॥

तृतीयं चास्य संभूतं नेत्रमादित्यसंनिभम् ।
युगान्तसदृशं दीप्तं येनासौ मथितो गिरिः ॥ ३० ॥

और प्रलयकालके प्रज्वलित सूर्यके समान उनका तीसरा नेत्र प्रकट हुआ, जिसके सहारे वह

ततो गिरिसुता दृष्ट्वा दीप्ताग्निसदृशेक्षणम् ।
हरं प्रणम्य शिरसा ददर्शायतलोचना ॥ ३१ ॥

अनन्तर प्रदीप्त अग्निसदृश तीसरे नेत्रसे युक्त महादेवको देख विशालनयनी शैलाधिराजपुत्रीने सिर झुकाके प्रणाम किया और उनकी ओर विस्मित दृष्टिसे देखा ॥ ३१ ॥

दह्यमाने वने तस्मिन्ससालसरलद्रुमे ।
सचन्दनवने रम्ये दिव्यौषधिविदीपिते ॥ ३२ ॥

साल और सरल वृक्षोंसे युक्त, रमणीय चन्दनवन और दिव्य औषधियोंसे प्रकाशमान वह वन सब ओरसे जल रहा था ॥ ३२ ॥

मृगयूथैर्द्रुतैर्भीतैर्हरपार्श्वमुपागतैः ।
शरणं चाप्यविन्दद्भिस्तत्सदः संकुलं बभौ ॥ ३३ ॥

मृगगण भयभीत होके दौडे और किसी स्थानमें ठहरनेका आश्रय न पाकर महादेवके निकट उपस्थित हुए, वह सभा सन्नाटायुक्त होके शोभित होने लगी ॥ ३३ ॥

ततो नभःस्पृशज्वालो विद्युल्लोलार्चिरुज्ज्वलः ।
द्वादशादित्यसदृशो युगान्ताग्निरिवापरः ॥ ३४ ॥

अनन्तर गगनस्पर्शी ज्वालामालायुक्त तडिल्लता सदृश चञ्चल हुई वह आग बारह सूर्योंके समान प्रकाशित होकर द्वितीय प्रलयाग्निकी भांति दीखती थी ॥ ३४ ॥

क्षणेन तेन दग्धः स हिमवानभवन्नगः ।
सधातुशिखराभोगो दीनदग्धवनौषधिः ॥ ३५ ॥

उस आगसे क्षण भरके बीच हिमालय पर्वत निःशेष होकर जल गया। धातु, विशाल शिखर, झरने, वन और सब ओषधियां जलकर भस्म हो गई ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा मथितं शैलं शैलराजसुता ततः ।
भगवन्तं प्रपन्ना सा साञ्जलिप्रग्रहा स्थिता ॥ ३६ ॥

अनन्तर गिरिराज पुत्री उस पर्वतको भस्म हुआ देखकर हाथ जोडके भगवानकी शरणमें गई ॥ ३६ ॥

उमां शर्वस्तदा दृष्ट्वा स्त्रीभावागतमार्दवाम् ।
पितुर्दैन्यमनिच्छन्तीं प्रीत्यापश्यत्ततो गिरिम् ॥ ३७ ॥

महादेवने उस समय उमाको स्त्रीस्वभावसुलभ मार्दवशालिनी और पिताकी विपद् देखनेकी अनभिलाषिणी देखकर प्रीतिपूर्वक दृष्टिसे हिमालयकी ओर देखा ॥ ३७ ॥

ततोऽभवत्पुनः सर्वः प्रकृतिस्थः सुदर्शनः ।
प्रहृष्टविहगश्चैव प्रपुष्पितवनद्रुमः ॥ ३८ ॥

अनन्तर क्षणभरके बीच हिमालय पर्वत पहली स्थितिमें आ गया और दर्शनीय हुआ; पक्षि-समूह प्रमुदित और वनके वृक्ष उत्तम पुष्पोंसे युक्त हुए ॥ ३८ ॥

प्रकृतिस्थं गिरिं दृष्ट्वा प्रीता देवी महेश्वरम् ।
उवाच सर्वभूतानां पतिं पतिमनिन्दिता ॥ ३९ ॥

अनिन्दिता उमाने उस समय हिमवानको पूर्व प्रकृतिस्थ देखकर प्रसन्न होके सर्वलोकप्रभु निजपति महादेवसे कहा ॥ ३९ ॥

भगवन्सर्वभूतेश शूलपाणे महाव्रत ।
संशयो मे महाञ्जातस्तं मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४० ॥

हे सर्वभूतेश महाव्रती शूलधारी भगवन् ! मुझे अत्यन्तही सन्देह हुआ है, इसलिये आप उस विषयको वर्णन करिये ॥ ४० ॥

किमर्थं ते ललाटे वै तृतीयं नेत्रमुत्थितम् ।
किमर्थं च गिरिर्दग्धः सपक्षिगणकाननः ॥ ४१ ॥

हे देव ! किसलिये आपके ललाटमें तीसरा नेत्र प्रकट हुआ ? किस निमित्त पक्षियों और वनोंके सहित पर्वत भस्म हुआ ? ॥ ४१ ॥

किमर्थं च पुनर्देव प्रकृतिस्थः क्षणात्कृतः ।
तथैव द्रुमसंछन्नः कृतोऽयं ते महेश्वर ॥ ४२ ॥

हे देव ! फिर किस हेतु क्षणभरमें आपने मेरे पिताको प्रकृतिस्थ और हे महेश्वर ! पहलेकी भांति वृक्षोंसे परिपूरित किया ? ॥ ४२ ॥

महेश्वर उवाच—

नेत्रे मे संवृते देवि त्वया बाल्यादनिन्दिते ।
नष्टालोकस्ततो लोकः क्षणेन समपद्यत ॥ ४३ ॥

महेश्वर बोले— हे अनिन्दिते देवि ! तुमने जो बालस्वभावसे मेरे नेत्रोंको मूंद लिया, उससे क्षणभरके बीच सब लोक प्रकाशरहित हुए ॥ ४३ ॥

नष्टादित्ये तथा लोके तमोभूते नगात्मजे ।
तृतीयं लोचनं दीप्तं सृष्टं ते रक्षता प्रजाः ॥ ४४ ॥

हे नगनन्दिनि ! जब सब लोक आदित्यरहित होनेसे तमोमय हुए, तब मैंने प्रजासमूहकी रक्षा करनेके लिये अपना तीसरा प्रदीप्त नेत्र प्रकट किया ॥ ४४ ॥

तस्य चाक्ष्णो महत्तेजो येनायं मथितो गिरिः ।
त्वत्प्रियार्थं च मे देवि प्रकृतिस्थः क्षणात्कृतः ॥ ४५ ॥

उस ही नेत्रके महत् तेजसे यह पर्वत मथित हुआ । हे देवि ! तुम्हारी प्रीतिके निमित्त मैंने क्षणभरमें शैलराजको प्रकृतिस्थ किया ॥ ४५ ॥

उमोवाच—

भगवन्केन ते वक्त्रं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम् ।
पूर्वं तथैव श्रीकान्तमुत्तरं पश्चिमं तथा ॥ ४६ ॥

उमा बोली– हे भगवन् आपका पूर्व दिशावाला मुख चन्द्रमासदृश शोभायुक्त और प्रियदर्शन है; उत्तर और पश्चिम दिशाके मुख भी पूर्वके समान श्री कान्तिसे युक्त हैं ॥ ४६ ॥

दक्षिणं च मुखं रौद्रं केनोर्ध्वं कपिला जटाः ।
केन कण्ठश्च ते नीलो बर्हिबर्हनिभः कृतः ॥ ४७ ॥

परंतु दक्षिण दिशावाला मुख अत्यंत भयंकर है; यह किस कारण है ? किस हेतु आपके सिरपर कपिलवर्णकी जटाजूट हुई ? किसलिये आपका कण्ठ मोरकी पांखके समान नीलवर्ण हुआ ? ॥ ४७ ॥

हस्ते चैतत्पिनाकं ते सततं केन तिष्ठति ।
जटिलो ब्रह्मचारी च किमर्थमसि नित्यदा ॥ ४८ ॥

हे देव ! किसलिये आप हाथमें सदा पिनाक धनुष्य धारण किया करते हैं ? तुम सदा जटिल और ब्रह्मचारी किसलिये रहते हो ? ॥ ४८ ॥

एतं मे संशयं सर्वं वद भूतपतेऽनघ ।
सधर्मचारिणी चाहं भक्ता चेति वृषध्वज ॥ ४९ ॥

हे अनघ भूतपते ! हे वृषभध्वज ! मैं आपकी सहधर्मचारिणी तथा आपके विषयमें भक्तिमती हूं, इसलिये आपको मेरे सन्देहके विषयोंको विधिपूर्वक वर्णन करना उचित है ॥ ४९ ॥

एवमुक्तः स भगवाञ्छैलपुत्र्या पिनाकधृक् ।
तस्या धृत्या च बुद्ध्या च प्रीतिमानभवत्प्रभुः ॥ ५० ॥

भगवान् पिनाकपाणी शैलराज पुत्रीका ऐसा वचन सुनके उसके धैर्य और बुद्धिसे अत्यंत प्रसन्न हुए ॥ ५० ॥

ततस्तामब्रवीद्देवः सुभगे श्रूयतामिति ।
हेतुभिर्यैर्ममैतानि रूपाणि रुचिरानने ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥ ५४२३ ॥

अनन्तर वे देव उससे बोले, हे सुमुखि सुभगे ! जिन कारणोंसे मेरे ये सब रूप हुए हैं, उन्हें सुनो ॥ ५१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२७ ॥ ५४२३ ॥

×

: १२८ :

महेश्वर उवाच—

तिलोत्तमा नाम पुरा ब्रह्मणा योषिदुत्तमा ।
तिलं तिलं समुद्धृत्य रत्नानां निर्मिता शुभा ॥ १ ॥

श्रीमहेश्वर बोले– पहले समयमें ब्रह्माने तिलोत्तमा नामकी एक उत्तम नारीकी उत्पत्ति की थी; सब रत्नोंका तिल–तिलभर सार भाग निकालकर वह शुभाङ्गी निर्मित हुई थी ॥१॥

साभ्यगच्छत मां देवि रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
प्रदक्षिणं लोभयन्ती मां शुभे रुचिरानना ॥ २ ॥

हे देवि! शुभे! भूलोकमें अप्रतिम सुन्दरताई युक्त वह सुमुखि मुझे प्रलोभित करती हुई मेरी प्रदक्षिण करनेके लिये आयी ॥ २ ॥

यतो यतः सा सुदती मामुपाधावदन्तिके ।
ततस्ततो मुखं चारु मम देवि विनिर्गतम् ॥ ३ ॥

वह उत्तम दाँतोंवाली सुन्दरी जिस जिस दिशामें मेरी परिक्रमा करती हुई गयी, उस ही दिशाकी ओर मेरा मनोहर मुख प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

तां दिदृक्षुरहं योगाच्चतुर्मूर्तित्वमागतः ।
चतुर्मुखश्च संवृत्तो दर्शयन्योगमात्मनः ॥ ४ ॥

उसे देखनेके लिये अभिलाषी होकर मैं योगबलसे चतुर्मूर्ति एवं चार मुखवाला हो गया; इस प्रकार मैंने अपने उत्कृष्ट योगका दर्शन कराया ॥ ४ ॥

पूर्वेण वदनेनाहमिन्द्रत्वमनुशास्मि ह ।
उत्तरेण त्वया सार्धं रमाम्यहमनिन्दिते ॥ ५ ॥

मैं पूर्व दिशावाले वदनसे इन्द्रपदका अनुशासन करता हूं । हे अनिन्दिते ! उत्तर मुखसे तुम्हारे सङ्ग क्रीडा करता हूं ॥ ५ ॥

पश्चिमं मे मुखं सौम्यं सर्वप्राणिसुखावहम् ।
दक्षिणं भीमसंकाशं रौद्रं संहरति प्रजाः ॥ ६ ॥

मेरा पश्चिम मुख अत्यन्त प्रियदर्शन है, यह सब प्राणियोंको सुखी करता है और दक्षिण मुख अत्यन्त भयङ्कर तथा रौद्र होकर प्रजाका संहार किया करता है ॥ ६ ॥

जटिलो ब्रह्मचारी च लोकानां हितकाम्यया ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं पिनाकं मे करे स्थितम् ॥ ७ ॥

मैं सब लोकोंकी हितकामनासे जटिल और ब्रह्मचारी हुआ हूं । देवकार्यसिद्धिके निमित्त मैंने हाथमें पिनाक धारण किया है ॥ ७ ॥

इन्द्रेण च पुरा वज्रं क्षिप्तं श्रीकाङ्क्षिणा मम ।
दग्ध्वा कण्ठं तु तद्यातं तेन श्रीकण्ठता मम ॥ ८ ॥

पहले समय इन्द्रने मेरी श्री प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरे ऊपर वज्र चलाया था, उस वज्रने मेरा कण्ठ जला दिया, उसीसे मैं श्रीकण्ठ हुआ हूं ॥ ८ ॥

उमोवाच—

वाहनेषु प्रभूतेषु श्रीमत्स्वन्येषु सत्सु ते ।
कथं गोवृषभो देव वाहनत्वमुपागतः ॥ ९ ॥

उमा बोली— इस स्थानमें दूसरे श्रीमान् वाहनोंके रहते हुए भी वृषभ आपका वाहन क्योंकर हुआ ? ॥ ९ ॥

महेश्वर उवाच—

सुरभीं ससृजे ब्रह्मामृतधेनुं पयोमुचम् ।
सा सृष्टा बहुधा जाता क्षरमाणा पयोऽमृतम् ॥ १० ॥

महादेव बोले— ब्रह्माने दूध देनेवाली अमृतधेनु सुरभीको उत्पन्न किया, वह मेघके समान दूधकी वर्षा करती थी; सुरभी उत्पन्न होकर दूधरूपी अमृत प्रदान करती हुई अनेक रूपोंमें प्रकट हुई ॥ १० ॥

तस्या वत्समुखोत्सृष्टः फेनो मद्गात्रमागतः ।
ततो दग्धा मया गावो नानावर्णत्वमागताः ॥ ११ ॥

उसके बछडेके मुखसे निकला हुआ फेन मेरे शरीरपर गिरा । अनन्तर मेरे रोषसे दग्ध हुई गौवें अनेक वर्णकी हो गई ॥ ११ ॥

ततोऽहं लोकगुरुणा शमं नीतोऽर्थवेदिना ।
वृषं चैमं ध्वजार्थं मे ददौ वाहनमेव च ॥ १२ ॥

अन्तमें अर्थवेत्ता लोकगुरु ब्रह्माने मुझे शान्त किया और उन्होंने मुझे ध्वजचिन्ह तथा वाहनके रूपमें यह वृषभ प्रदान किया ॥ १२ ॥

उमोवाच—

निवासा बहुरूपास्ते विश्वरूपगुणान्विताः ।
तांश्च संत्यज्य भगवञ्श्मशाने रमसे कथम् ॥ १३ ॥

उमा बोली— हे भगवन् ! विश्वरूप सम्पन्न सब भांतिके गुणोंसे युक्त अनेक प्रकारके निवास स्थान हैं, उन सबको परित्याग करके आप श्मशान–भूमिमें किसलिये रमते हैं ? ॥ १३ ॥

केशास्थिकलिले भीमे कपालघटसंकुले ।
गृध्रगोमायुकलिले चिताग्निशतसंकुले ॥ १४ ॥

केश और हड्डीसे परिपूरित, भयङ्कर कपाल और घटसंकुल, बहुतेरे गिद्ध सियारोंसे सेवित, सैकडों चितानलयुक्त, ॥ १४ ॥

अशुचौ मांसकलिले वसाशोणितकर्दमे ।
विनिकीर्णामिषचये शिवानादविनादिते ॥ १५ ॥
अपवित्र मांस, चर्बी, रुधिर और बिखरी हुई अन्त्रावली की कीचसे भरे, सियारोंके शब्दसे निनादित श्मशानमें क्यों रहते हैं ? ॥ १५ ॥

महेश्वर उवाच—
मेध्यान्वेषी महीं कृत्स्नां विचरामि निशास्वहम् ।
न च मेध्यतरं किंचिच्छ्मशानादिह विद्यते ॥ १६ ॥
महादेव बोले— मैं पवित्र स्थान खोजते हुए इस पृथ्वीमण्डलपर निशाओंमें भ्रमण करता हूं, परन्तु श्मशानसे बढके उत्तम पवित्रतर स्थान यहां और कुछ भी नहीं है ॥ १६ ॥

तेन मे सर्ववासानां श्मशाने रमते मनः ।
न्यग्रोधशाखासंछन्ने निर्भुक्तस्रग्विभूषिते ॥ १७ ॥
इस ही निमित्त समस्त निवासस्थानोंके बीच बरगदकी डालियोंसे आच्छादित और विच्छिन्न पुष्पमालाओंसे विभूषित श्मशानमें मेरा मन रत होता है ॥ १७ ॥

तत्र चैव रमन्ते मे भूतसंघाः शुभानने ।
न च भूतगणैर्देवि विनाहं वस्तुमुत्सहे ॥ १८ ॥
हे शुभानने ! ये सब मेरे भूतगण उस श्मशानमें ही क्रीडा करते हैं । हे देवि ! भूतगणोंके विना मैं कहीं भी निवास करनेका उत्साह नहीं करता ॥ १८ ॥

एष वासो हि मे मेध्यः स्वर्गीयश्च मतो हि मे ।
पुण्यः परमकश्चैव मेध्यकामैरुपास्यते ॥ १९ ॥
मेरा यह श्मशानवास ही मैंने पवित्र और स्वर्गीय माना है; पवित्रताकी अभिलाष करनेवाले इस परम पवित्र स्थानकी उपासना किया करते हैं ॥ १९ ॥

उमोवाच—
भगवन्सर्वभूतेश सर्वधर्मभृतां वर ।
पिनाकपाणे वरद संशयो मे महानयम् ॥ २० ॥
उमा बोली— हे सर्वधर्मभृतांवर ! सर्वभूतेश ! वरद ! पिनाकपाणि भगवन् ! मेरे मनमें यह एक महान् संशय है ॥ २० ॥

अयं मुनिगणः सर्वस्तपस्तप इति प्रभो ।
तपोन्वेषकरो लोके भ्रमते विविधाकृतिः ॥ २१ ॥
हे प्रभो ! यह मुनियोंका समुदाय सदैव तपस्यामें रत होकर तपस्वीका वेष धारण करके अनेक आकृतिके लोग जगत्के बीच भ्रमण करते हैं ॥ २१ ॥

अस्य चैवर्षिसंघस्य मम च प्रियकाम्यया ।
एतं ममेह संदेहं वक्तुमर्हस्यरिंदम ॥ २२ ॥

हे अरिन्दम ! इन ऋषियोंकी तथा मेरी प्रिय कामनासे आपको मेरा यह अद्भुत् सन्देह दूर करना उचित है ॥ २२ ॥

धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः कथं चाचरितुं नरैः ।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ वद मे प्रभो ॥ २३ ॥

प्रभो ! धर्मका क्या लक्षण है और जो मनुष्य धर्मज्ञ नहीं हैं, वे किस प्रकार धर्माचरण करनेमें समर्थ होंगे ? हे धर्मज्ञ ! आप इसे ही मेरे समीप वर्णन करिये ॥ २३ ॥

नारद उवाच—

ततो मुनिगणः सर्वस्तां देवीं प्रत्यपूजयत् ।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तवैश्चार्थविदां वर ॥ २४ ॥

नारद मुनि बोले— हे अर्थशास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ ! अनन्तर उन समग्र मुनियोंने ऋग्विभूषित वाक्यों और स्तोत्रोंसे उमादेवीकी स्तुति की ॥ २४ ॥

महेश्वर उवाच—

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ॥ २५ ॥

महादेव बोले— अहिंसा, सत्यवचन, सब जीवोंके विषयमें दया, शम और शक्तिके अनुसार दान गृहस्थ-आश्रमका श्रेष्ठ धर्म है ॥ २५ ॥

परदारेष्वसंकल्पो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम् ।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥ २६ ॥

पराई स्त्रियोंमें आसक्त न होना, धरोहर और स्त्रीकी रक्षा करनी, बिना दिये किसीकी वस्तु न लेना, और मधु मांसको परित्याग करना— ॥ २६ ॥

एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः ।
देहिभिर्धर्मपरमैः कर्तव्यो धर्मसंचयः ॥ २७ ॥

ये पाँच प्रकारके धर्म अनेक शाखायुक्त तथा सुखदायक हैं; धर्मपरायण मनुष्योंको शरीर-साध्य धर्माचरण करना योग्य है ॥ २७ ॥

उमोवाच—

भगवन्संशयं पृष्टस्तं मे व्याख्यातुमर्हसि ।
चातुर्वर्ण्यस्य यो धर्मः स्वे स्वे वर्णे गुणावहः ॥ २८ ॥

उमा बोली— हे भगवन्! मैं आपसे सन्देहका एक और विषय पूछती हूं। चारों वर्णोंके बीच जो धर्म अपने अपने वर्णके लिये सुखदायक है, उसे आप मेरे समीप वर्णन करिये ॥२८॥

ब्राह्मणे कीदृशो धर्मः क्षत्रिये कीदृशो भवेत् ।
वैश्ये किंलक्षणो धर्मः शूद्रे किंलक्षणो भवेत् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणका धर्म कैसा है और क्षत्रिय किस प्रकार धर्माचरण करेगा? वैश्यके धर्मलक्षण क्या हैं और शूद्रोंका कैसा धर्म है? ॥ २९ ॥

महेश्वर उवाच—

न्यायतस्ते महाभागे संशयः समुदीरितः ।
भूमिदेवा महाभागाः सदा लोके द्विजातयः ॥ ३० ॥

श्रीमहेश्वर बोले— हे महाभागे! तुमने न्यायपूर्वक यह संशयका विषय पूछा है; महाभाग ब्राह्मण जगत्के बीच सदा भूमिदेव कहके विख्यात हैं ॥ ३० ॥

उपवासः सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणोंके लिये हर समयमें निःसन्देह उपवास ही धर्म है; धर्मार्थके लिये उत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

तस्य धर्मक्रिया देवि व्रतचर्या च न्यायतः ।
तथोपनयनं चैव द्विजायैवोपपद्यते ॥ ३२ ॥

हे देवि! उसे धर्मका अनुष्ठान और न्यायपूर्वक व्रतका आचरण करना चाहिये। फिर उपनयनसंस्कार उसके लिये आवश्यक है, जिससे वह द्विज होता है ॥ ३२ ॥

गुरुदैवतपूजार्थं स्वाध्यायाभ्यसनात्मकः ।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसंभवः ॥ ३३ ॥

गुरु और देवताओंकी पूजा तथा स्वाध्याय और अभ्यास-धर्म ब्राह्मणको अवश्य करना चाहिये; धर्मपरायण पुरुषोंको पुण्यप्रद धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ ३३ ॥

उमोवाच—

भगवन्संशयो मेऽत्र तं मे व्याख्यातुमर्हसि ।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं हि नैपुण्येन प्रकीर्तय ॥ ३४ ॥

उमा बोली— हे भगवन्! यहां मुझे कुछ सन्देह है, आपही उसे दूर करनेके योग्य हैं; इसलिये चारों वर्णोंके धर्म आप निपुण भावसे वर्णन करिये ॥ ३४ ॥

महेश्वर उवाच—

रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम् ।
व्रतचर्यापरो धर्मो गुरुपादप्रसादनम् ॥ ३५ ॥

महेश्वर बोले— धर्मका रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रतका पालन, व्रतोंका तत्परतापूर्वक आचरण तथा गुरुचरणोंकी आराधना करना, यह धर्म है ॥ ३५ ॥

भैक्षचर्यापरो धर्मो धर्मो नित्योपवासिता ।
नित्यस्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा ॥ ३६ ॥
भैक्ष्यचर्या (भिक्षा माँगना) तथा सदा उपवास करते रहना परम धर्म है, सदा स्वाध्यायपाठ और ब्रह्मचर्य व्रत करना, ब्राह्मणोंका धर्म है ॥ ३६ ॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः ।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि ॥ ३७ ॥
ब्राह्मण अपने गुरुकी अनुमतिसे समावर्त्तन संस्कार करके विधिपूर्वक अनुरूप भार्या परिग्रह करे ॥ ३७ ॥

शूद्रान्नवर्जनं धर्मस्तथा सत्पथसेवनम् ।
धर्मो नित्योपवासित्वं ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ३८ ॥
ब्राह्मणके लिये शूद्रान्नत्याग, सन्मार्गसेवन, उपवास और ब्रह्मचर्य धर्म हैं ॥ ३८ ॥

आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः ।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक्शुचिः ॥ ३९ ॥
गृहस्थ मनुष्य आहिताग्नि, अध्ययनशील, सदा होम करनेवाला, संयतेन्द्रिय, विघसाशी, मिताहारी, सत्यवादी और पवित्र होवे ॥ ३९ ॥

अतिथिव्रतता धर्मो धर्मस्त्रेताग्निधारणम् ।
इष्टीश्च पशुबन्धांश्च विधिपूर्वं समाचरेत् ॥ ४० ॥
अतिथिसेवा करना गृहस्थका धर्म है । दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय अग्निको धारण करना उसका धर्म है । सब यज्ञों और यज्ञोंमें पशुबन्धन कार्यको वह विधिपूर्वक करे ॥ ४० ॥

यज्ञश्च परमो धर्मस्तथाहिंसा च देहिषु ।
अपूर्वभोजनं धर्मो विघसाशित्वमेव च ॥ ४१ ॥
यज्ञ करना और जीवोंकी अहिंसा उसका परम धर्म है; पहले भोजन न करना तथा विघसाशी होना– सभी कुटुंबजनोंका भोजन करानेके बाद अवशिष्ट अन्न भोजन करना– यह भी उसका धर्म है ॥ ४१ ॥

भुक्ते परिजने पश्चाद्भोजनं धर्म उच्यते ।
ब्राह्मणस्य गृहस्थस्य श्रोत्रियस्य विशेषतः ॥ ४२ ॥
परिजनोंके भोजन करनेके अनन्तर पश्चात् भोजन करना धर्म कहके वर्णित हुआ है, गृहस्थों वा विशेष करके श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको अवश्यही यह धर्माचरण करना चाहिये ॥ ४२ ॥

दंपत्योः समशीलत्वं धर्मश्च गृहमेधिनाम्।
गृह्याणां चैव देवानां नित्यं पुष्पबलिक्रिया ॥ ४३ ॥

पति और पत्नीका समान स्वभाव होना, यह गृहस्थका धर्म है। गृहदेवताओंकी सदा पुष्प आदिसे पूजा करनी तथा उन्हें अन्नकी बलि समर्पित करना योग्य है ॥ ४३ ॥

नित्योपलेपनं धर्मस्तथा नित्योपवासिता।
सुसंमृष्टोपलिप्ते च साज्यधूमोद्गमे गृहे ॥ ४४ ॥

सदा घर लीपना और उपवास करना धर्म कहा गया है। उत्तम रीतिसे लिपे पुते गृहमें घृतयुक्त आहुति करके उसका धुआं फैलाना चाहिये ॥ ४४ ॥

एष द्विजजने धर्मो गार्हस्थ्यो लोकधारणः।
द्विजातीनां सतां नित्यं सदैवैष प्रवर्तते ॥ ४५ ॥

यह संसारकी रक्षा करनेवाला ब्राह्मणोंका गृहस्थ-धर्म कहा गया है; साधु ब्राह्मण सदा इस धर्मके पालनमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ४५ ॥

यस्तु क्षत्रगतो देवि त्वया धर्म उदीरितः।
तमहं ते प्रवक्ष्यामि तं मे शृणु समाहिता ॥ ४६ ॥

हे देवि ! तुमने क्षत्रियधर्मके विषयमें जो प्रश्न किया है, मैं तुमसे उसका विवरण कहता हूं, सावधान होके सुनो ॥ ४६ ॥

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ ४७ ॥

क्षत्रियोंके लिये प्रजापालन प्रथम धर्म स्मृत हुआ है। प्रजाकी आयके छठे भागका उपभोग करनेवाला राजा धर्मयुक्त होता है ॥ ४७ ॥

प्रजाः पालयते यो हि धर्मेण मनुजाधिपः।
तस्य धर्मार्जिता लोकाः प्रजापालनसंचिताः ॥ ४८ ॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन करता है, उसे प्रजापालनरूपी सञ्चित धर्मसे पुण्यलोक प्राप्त होते हैं ॥ ४८ ॥

तत्र राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥ ४९ ॥

राजाका परम धर्म है—इन्द्रियदमन, स्वशाखोक्त वेदपाठ, अग्निहोत्र, दान और अध्ययन ॥ ४९ ॥

यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ॥ ५० ॥

यज्ञोपवीतधारण, यज्ञ करना, धार्मिक कार्योंका अनुष्ठान, सेवकोंका भरणपोषण और आरम्भ किये हुए कर्मको सफल बनाना ॥ ५० ॥

सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः ।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥ ५१ ॥

दण्डविषयमें पूरी रीतिसे मर्यादाकी रक्षा करनी, वेदोक्त यज्ञ कर्मोंका आचरण, व्यवहारमें न्याय और सत्य वचनमें रति— ये सभी क्षत्रियके धर्म ही हैं ॥ ५१ ॥

आर्तहस्तप्रदो राजा प्रेत्य चेह महीयते ।
गोब्राह्मणार्थे विक्रान्तः संग्रामे निधनं गतः ।
अश्वमेधजिताँल्लोकानाप्नोति त्रिदिवालये ॥ ५२ ॥

प्रीतिपूर्वक दुःखियोंको हाथसे मदद करनेवाला क्षत्रिय राजा इसलोक और परलोकमें पूजित होता है; गौओं और ब्राह्मणोंको संकटसे बचानेके निमित्त युद्ध करके पराक्रम दिखाकर संग्राममें मरनेवाला क्षत्रिय स्वर्गमें अश्वमेध यज्ञ करनेसे जीते हुए लोकोंको प्राप्त करता है ॥५२॥

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥ ५३ ॥

सदा पशुओंको पालना और कृषिकर्म करना वैश्योंका धर्म है। अग्निहोत्र, दान, अध्ययन, ॥ ५३ ॥

वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः ।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥ ५४ ॥

वाणिज्य-व्यापार, सत्पथमें स्थिति, अतिथिसेवा, प्रशम, दम, ब्राह्मणोंका स्वागत और त्याग करना वैश्योंका सनातन धर्म है ॥ ५४ ॥

तिलान्गन्धान्रसांश्चैव विक्रीणीत वै क्वचित् ।
वणिक्पथमुपासीनो वैश्यः सत्पथमाश्रितः ॥ ५५ ॥

सन्मार्गमें स्थित वैश्य वाणिज्यकार्यमें नियुक्त होकर तिल, सुगन्ध और रस न बेचे ॥५५॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः ।
शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु ॥ ५६ ॥

सब प्रकारसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य— इस त्रिवर्गका शक्तिके अनुसार यथायोग्य अतिथि-सत्कार कर तीनों वर्णोंकी सदा सेवा करनी ही शूद्रोंका परम धर्म है ॥ ५६ ॥

स शूद्रः संशिततपाः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
शुश्रूषन्नतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत् ॥ ५७ ॥

जो शूद्र संशितव्रती, सत्यमें रत और जितेन्द्रिय होकर उपस्थित अतिथिकी सेवा करता है, वह महान् तपका सञ्चय करता है ॥ ५७ ॥

×

त्यक्तहिंसः शुभाचारो देवताद्विजपूजकः ।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः संप्रयुज्येत बुद्धिमान् ॥ ५८ ॥

हिंसाका त्याग करके देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाला सदाचारी बुद्धिमान् शूद्र धर्मका अभिलषित फल पाता है ॥ ५८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं चातुर्वर्ण्यस्य शोभने ।
एकैकस्येह सुभगे किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥ ५४८२ ॥

हे सुन्दरि ! हे सुभगे ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समीप एकेक करके चारों वर्णोंके धर्म कहे और अब क्या सुननेकी इच्छा करती हो ? ॥ ५९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ अठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२८ ॥ ५४८२ ॥

: १२९ :

उमोवाच—

उक्तास्त्वया पृथग्धर्माश्चातुर्वर्ण्यहिताः शुभाः ।
सर्वव्यापी तु यो धर्मो भगवंस्तं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

उमा बोली— हे भगवन् ! आपने चारों वर्णोंके हितकर तथा शुभकर पृथक् पृथक् धर्म कहे; अब जो धर्म सर्वव्यापी हो, उसे ही मेरे समीप वर्णन करिये ॥ १ ॥

महेश्वर उवाच—

ब्राह्मणा लोकसारेण सृष्टा धात्रा गुणार्थिना ।
लोकांस्तारयितुं कृत्स्नान्मर्त्येषु क्षितिदेवताः ॥ २ ॥

महेश्वर बोले— गुणाभिलाषी विधाता ब्रह्माने सब लोगोंका उद्धार करनेके निमित्त मनुष्योंके बीच भूदेव ब्राह्मणोंको सर्वलोकोंके सारतत्त्वोंसे बनाया है ॥ २ ॥

तेषामिमं प्रवक्ष्यामि धर्मकर्मफलोदयम् ।
ब्राह्मणेषु हि यो धर्मः स धर्मः परमो मतः ॥ ३ ॥

उनके धर्मकर्म और उनके फलोंका वर्णन करता हूं । ब्राह्मणोंमें जो धर्म होता है, वही परम धर्म है ॥ ३ ॥

इमे तु लोकधर्मार्थं त्रयः सृष्टाः स्वयंभुवा ।
पृथिव्याः सर्जने नित्यं सृष्टास्तानपि मे शृणु ॥ ४ ॥

ब्रह्माने इस जगत्की धारणाके लिये तीन प्रकारके धर्म कहे हैं; पृथ्वीकी सृष्टिके समय इन नित्य तीन धर्मोंको प्रकट किया था, उसे सुनो ॥ ४ ॥

वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः ।
शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः ॥ ५ ॥

वेदोक्त परम धर्म, स्मृति शास्त्रोंमें वर्णित धर्म और शिष्टाचार—ये तीनों धर्म ही सनातन कहे गये हैं ॥ ५ ॥

त्रैविद्यो ब्राह्मणो विद्वान्न चाध्ययनजीवनः ।
त्रिकर्मा त्रिपरिक्रान्तो मैत्र एष स्मृतो द्विजः ॥ ६ ॥

तीनों वेदोंका ज्ञाता और विद्वान्, पढने—पढानेका कार्य करके जीविका न चलानेवाला, दान, धर्म और यजन, इन तीनों कर्मोंसे युक्त, त्रिपरिक्रान्त अर्थात् काम, क्रोध और लोभ इन तीनों दोषोंको परित्याग करनेवाला और सर्वभूतोंमें समदर्शी पुरुषको ही ब्राह्मण कहा जाता है ॥ ६ ॥

षडिमानि तु कर्माणि प्रोवाच भुवनेश्वरः ।
वृत्त्यर्थं ब्राह्मणानां वै शृणु तानि समाहिता ॥ ७ ॥

लोकेश्वर प्रजापतिने ब्राह्मणोंकी जीविकाके निमित्त ये छः कर्मोंको विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उनका वर्णन ध्यान देकर सुनो ॥ ७ ॥

यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ ।
अध्यापनमधीतं च षट्कर्मा धर्मभाग्द्विजः ॥ ८ ॥

यजन—याजन, दान—प्रतिग्रह, अध्ययन और अध्यापन, इन षट् कर्मोंको करनेवाला ब्राह्मण धर्मभागी होता है ॥ ८ ॥

नित्यस्वाध्यायता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः ।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि ॥ ९ ॥

सदा स्वाध्यायपाठ करना ब्राह्मणका मुख्य धर्म है और यज्ञोंको करना सनातन धर्म है; अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक उत्तम दान करना, प्रशस्त धर्म है ॥ ९ ॥

अयं तु परमो धर्मः प्रवृत्तः सत्सु नित्यशः ।
गृहस्थता विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान् ॥ १० ॥

साधुओंमें नित्य प्रवृत्त यही परम धर्म है। शुद्धाचरणवाले गृहस्थोंको इससे महान् धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा सत्यवागनसूयकः ।
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता सुसंमृष्टनिवेशनः ॥ ११ ॥

जो पंच यज्ञ करनेवाला, शुद्धचित्त, सत्यवादी, असूयारहित, दाता, ब्राह्मणोंका सम्मानकर्ता, उत्तम स्वच्छ गृहमें निवास करनेवाला, ॥ ११ ॥

अमानी च सदाजिह्मः स्निग्धवाणीप्रदस्तथा ।
अतिथ्यभ्यागतरतिः शेषान्नकृतभोजनः ॥ १२ ॥

अभिमानहीन, सदा सरल भाववाला और स्निग्ध वचन कहनेवाला, अतिथि तथा अभ्यागतोंके विषयमें अनुरक्त रहता तथा शेषमें बचे हुए अन्नको भोजन करता है ॥ १२ ॥

पाद्यमर्घ्यं यथान्यायमासनं शयनं तथा ।
दीपं प्रतिश्रयं चापि यो ददाति स धार्मिकः ॥ १३ ॥

और जो पुरुष अतिथिको यथा शास्त्रके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, आसन, शय्या, दीपक और गृह प्रदान करता है, वही धार्मिक है ॥ १३ ॥

प्रातरुत्थाय चाचम्य भोजनेनोपमन्त्र्य च ।
सत्कृत्यानुव्रजेद्यश्च तस्य धर्मः सनातनः ॥ १४ ॥

जो प्रातःकालमें उठनेपर आचमन करके भोजनके निमित्त ब्राह्मणको निमन्त्रण करता और उसको संमानपूर्वक भोजन करानेके बाद कुछ दूरतक उसके पीछे जाता है, उससे सनातन धर्मका पालन होता है ॥ १४ ॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति दिवानिशम् ।
शूद्रधर्मः समाख्यातस्त्रिवर्णपरिचारणम् ॥ १५ ॥

सब भांतिसे अतिथिसत्कार और शक्तिके अनुसार तीनों वर्णोंका रातदिन सेवन करना शूद्र गृहस्थका प्रधान धर्म कहा गया है ॥ १५ ॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते ।
तमहं कीर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम् ॥ १६ ॥

गृहस्थोंके विषयमें प्रवृत्तिलक्षणयुक्त धर्म विहित है; वह सब प्राणियोंके लिये हितकारी और शुभ है; उस धर्मका मैं वर्णन करता हूं ॥ १६ ॥

दातव्यमसकृच्छक्त्या यष्टव्यमसकृत्तथा ।
पुष्टिकर्मविधानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १७ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार बार बार यज्ञ तथा दान करना चाहिये और पुष्टिकार्यका विधान करना उचित है ॥ १७ ॥

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम् ।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः ॥ १८ ॥

मनुष्य धर्मसे धन पैदा करे; धर्मसे प्राप्त हुए धनके तीन भाग करे; मनुष्य यत्नपूर्वक धर्मार्थके हेतु कर्म करे ॥ १८ ॥

एकेनांशेन धर्मार्थश्चर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्धयेत् ॥ १९ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला मनुष्य एक अंश धनके सहारे धर्मकी सिद्धि करे, एक भागसे कामभोग करे और एक हिस्सेको बढाना चाहिये ॥ १९ ॥

निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्ष इति स्मृतः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे देवि तत्त्वतः ॥ २० ॥

हे देवि ! इससे भिन्न निवृत्तिलक्षण धर्महो मोक्ष कहा गया है; उसका स्वरूप मैं यथार्थ रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ २० ॥

सर्वभूतदया धर्मो न चैकग्रामवासिता ।
आशापाशविमोक्षश्च शस्यते मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥ २१ ॥

मोक्षकी आकांक्षावाले पुरुषोंके लिये सब जीवोंपर दया करनी चाहिये, सदा एक गांवमें वास नहीं करना और आशापाशसे रहित होना ही श्रेष्ठ धर्म है ॥ २१ ॥

न कुण्ड्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने ।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये ॥ २२ ॥

मोक्षार्थी मनुष्य गृह, जल, वस्त्र, आसन, त्रिदण्ड, शय्या, अग्नि और रक्षकके स्थानमें आसक्त न होवे ॥ २२ ॥

अध्यात्मगतचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः ।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च ॥ २३ ॥

मुमुक्षुको अध्यात्म ज्ञानमें ही सतत चित्त लगाना चाहिये; उसीका चिंतन और मनन करके उसमें ही रत होना चाहिये । उसहीमें तत्पर होकर योग और समाधिमें सदा अनुरक्त रहे ॥ २३ ॥

वृक्षमूलशयो नित्यं शून्यागारनिवेशनः ।
नदीपुलिनशायी च नदीतीररतिश्च यः ॥ २४ ॥

वृक्षके मूलमें निवास करनेवाला, सूने स्थान-घर, नदी किनारे तथा नदीके तटपर रहनेवाला जो ॥ २४ ॥

विमुक्तः सर्वसङ्गेषु स्नेहबन्धेषु च द्विजः ।
आत्मन्येवात्मनो भावं समासज्याटति द्विजः ॥ २५ ॥

ब्राह्मण सर्व आसक्ति तथा स्नेहबंधनसे रहित है, वह आत्मामें ही निज भावसे समासक्त होवें ॥ २५ ॥

स्थाणुभूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा ।
परिव्रजति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥
मोक्ष–दृष्ट कर्मके सहारे स्थाणुस्वरूपसे निराहारी होके रहें। जो योगी होके परिव्रज्या करता है, उसे सनातन धर्मका मोक्षरूप धर्म प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

न चैकत्र चिरासक्तो न चैकग्रामगोचरः ।
युक्त ह्यटति निर्मुक्तो न चैकपुलिनेशयः ॥ २७ ॥
संन्यासी एक स्थानमें आसक्त न होवे, एक गांवमें सदा वास न करे और एक ही किनारेपर सदा शयन न करे; योगयुक्त संन्यासी निर्मुक्त होकर भ्रमण करे ॥ २७ ॥

एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम् ।
यो मार्गमनुयातीमं पदं तस्य च विद्यते ॥ २८ ॥
यही मोक्षवित् साधुओंका वेदोक्त सत्पथस्वरूप धर्म है; जो इस पथका अनुगामी होता है, उसको ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥

चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचरकृतोदकाः ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥ २९ ॥
कुटीचक, कृतोदक, हंस और परमहंस भेदसे चार प्रकारके संन्यासी हैं, जो पहलेके पीछे कहे गये हैं, वे उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । कुटीचक और कृतोदक, ये दोनों ही दण्ड धारण करते हैं, उनके बीच पहले कहे हुए भिक्षु गृहमें निवास करते हैं, दूसरे तीर्थोंमें पर्यटन किया करते हैं; तीसरे पुरुष संन्यासाश्रम धर्ममें रत रहते हैं, और चौथे पुरुष निस्त्रैगुण्यपथमें विचरते हैं ॥ २९ ॥

अतः परतरं नास्ति नाधरं न तिरोऽग्रतः ।
अदुःखमसुखं सौम्यमजरामरमव्ययम् ॥ ३० ॥
परमहंसाश्रमसे बढके सुखदुःखहीन, प्रियदर्शन, अजर, अमर और अव्यय आश्रम दूसरा नहीं है, यह किसीसे निकृष्ट नहीं है, यही सब भयोंसे मुक्त करनेवाला आश्रम है ॥ ३० ॥

उमोवाच—
गार्हस्थ्यो मोक्षधर्मश्च सज्जनाचरितस्त्वया ।
भाषितो मर्त्यलोकस्य मार्गः श्रेयस्करो महान् ॥ ३१ ॥
उमा बोली– गार्हस्थ्य और सज्जनोंसे आचरित मोक्षधर्म, जो मर्त्यलोकका महान् कल्याण करनेवाले पथ हैं, उन्हें आपने वर्णन किया ॥ ३१ ॥

ऋषिधर्मं तु धर्मज्ञ श्रोतुमिच्छाम्यनुत्तमम् ।
स्पृहा भवति मे नित्यं तपोवननिवासिषु ॥ ३२ ॥

हे धर्मज्ञ ! इसके अनन्तर मैं अत्यंत उत्तम ऋषिधर्म सुननेकी इच्छा करती हूं, तपोवननिवासी ऋषियोंके प्रति सदा मेरे मनमें प्रेम रहता है ॥ ३२ ॥

आज्यधूमोद्भवो गन्धो रुणद्धीव तपोवनम् ।
तं दृष्ट्वा मे मनः प्रीतं महेश्वर सदा भवेत् ॥ ३३ ॥

हे महेश्वर ! घृतके धूएंसे प्रकट हुई सुगन्धसे परिपूरित तपोवनको देखनेसे मेरा मन सदा प्रसन्न होता है ॥ ३३ ॥

एतं मे संशयं देव मुनिधर्मकृतं विभो ।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञ देवदेव वदस्व मे ।
निखिलेन मया पृष्टं महादेव यथातथम् ॥ ३४ ॥

हे प्रभु ! हे सब धर्मार्थतत्त्वज्ञ देवेश ! मुनिधर्मविषयमें मुझे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है । हे महादेव ! इसलिये मैंने जो विषय पूछा है, आप यथार्थ रीतिसे उसे वर्णन करिये ॥ ३४ ॥

महेश्वर उवाच—

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि मुनिधर्ममनुत्तमम् ।
यं कृत्वा मुनयो यान्ति सिद्धिं स्वतपसा शुभे ॥ ३५ ॥

श्रीमहेश्वर बोले— हे शुभे ! संन्यासी मुनिगण जैसा आचरण करके निज तपस्याके सहारे सिद्धि लाभ करते हैं, मैं तुम्हारे समीप वह उत्तम मुनिधर्म कहता हूं ॥ ३५ ॥

फेनपानामृषीणां यो धर्मो धर्मविदां सदा ।
तं मे शृणु महाभागे धर्मज्ञे धर्ममादितः ॥ ३६ ॥

हे धर्म जाननेवाली महाभागे ! धर्मवेत्ता फेनप साधु ऋषियोंका जो नित्य धर्म है, उसे ही तुम मेरे समीप पहले सुनो ॥ ३६ ॥

उञ्छन्ति सततं तस्मिन्ब्राह्मं फेनोत्करं शुभम् ।
अमृतं ब्रह्मणा पीतं मधुरं प्रसृतं दिवि ॥ ३७ ॥

पहले ब्रह्माने यज्ञ करते समय जिस मधुर रसका पान किया और जो स्वर्गमें फैला हुआ है, वह अमृत ब्राह्म है; उसके शुभ फेनका जो पान करते हैं, वे फेनप हैं ॥ ३७ ॥

एष तेषां विशुद्धानां फेनपानां तपोधने ।
धर्मचर्याकृतो मार्गो वालखिल्यगणे शृणु ॥ ३८ ॥

हे तपस्विनि ! यह उन्हीं पवित्र फेनपायी ऋषियोंके धर्मचर्याका मार्ग कहा गया, अब वालखिल्यगणका धर्म सुनो ॥ ३८ ॥

बालखिल्यास्तपःसिद्धा मुनयः सूर्यमण्डले ।
उञ्छमुञ्छन्ति धर्मज्ञाः शाकुनीं वृत्तिमास्थिताः ॥ ३९ ॥
धर्मज्ञ तपःसिद्ध बालखिल्य मुनिगण सूर्यमण्डलमें पक्षियोंकी भाँति एक एक दाना लेकर जीवन निर्वाह करके उञ्छवृत्तिसे निवास करते हैं ॥ ३९ ॥

मृगनिर्मोकवसनाश्चीरवल्कलवाससः ।
निर्द्वन्द्वाः सत्पथं प्राप्ता बालखिल्यास्तपोधनाः ॥ ४० ॥
वे मृगचर्म, चीर अथवा वल्कलवस्त्र पहरते हैं; तपस्वी बालखिल्य मुनिगण निर्द्वन्द्व होकर सत्पथको अवलम्बन किया करते हैं ॥ ४० ॥

अङ्गुष्ठपर्वमात्रास्ते स्वेष्वङ्गेषु व्यवस्थिताः ।
तपश्चरणमीहन्ते तेषां धर्मफलं महत् ॥ ४१ ॥
वे लोग अंगूठेके सिरेके बराबर होकर निज निज धर्ममें निवास कर रहे हैं और तपश्चरणकी चेष्टा किया करते हैं, उनका धर्मफल अत्यन्त महान् है ॥ ४१ ॥

ते सुरैः समतां यान्ति सुरकार्यार्थसिद्धये ।
द्योतयन्तो दिशः सर्वास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ ४२ ॥
सुरकार्यसिद्धिके निमित्त वे देवताओंके समान रूप धारण करते हैं और वे लोग तपस्याके सहारे पापकर्मोंको जलाकर दशों दिशाओंको प्रकाशित किया करते हैं ॥ ४२ ॥

ये त्वन्ये शुद्धमनसो दयाधर्मपरायणाः ।
सन्तश्चक्रचराः पुण्याः सोमलोकचराश्च ये ॥ ४३ ॥
कुछ दूसरे शुद्धचित्तवाले दयाधर्मपरायण पुण्यात्मा संत निवासस्थानसे रहित होकर चक्रकी भाँति घूमते हैं और कुछ चन्द्रलोकमें विचरण किया करते हैं ॥ ४३ ॥

पितृलोकसमीपस्थास्त उञ्छन्ति यथाविधि ।
संप्रक्षालाश्मकुट्टाश्च दन्तोलूखलिनस्तथा ॥ ४४ ॥
कुछ पितृलोकके निकट निवास करते हैं । ये सब यथाविधि उञ्छवृत्तिसे रहते हैं । कोई लोग भली भाँति पात्रोंको धोते, दूसरे दिनके लिये कुछ भी सञ्चय करके नहीं रखते, वे सम्प्रक्षाल, कोई अश्मकुट्ट और कोई दन्तोलूखलिक हैं ॥ ४४ ॥

सोमपानां च देवानामूष्मपाणां तथैव च ।
उञ्छन्ति ये समीपस्थाः स्वदारनियतेन्द्रियाः ॥ ४५ ॥
वे सब कोई सोमप (चन्द्रमाकी किरणोंका पान करनेवाले) और ऊष्मप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) मुनिजण देवताओंके निकटवर्ती होके सस्त्रीक और नियतेन्द्रिय होकर उञ्छवृत्ति अवलम्बन किया करते हैं ॥ ४५ ॥

तेषामग्निपरिष्यन्दः पितृदेवार्चनं तथा।
यज्ञानां चापि पञ्चानां यजनं धर्म उच्यते ॥ ४६ ॥

अग्निपरिचर्या, पितरों तथा देवताओंकी पूजा और पञ्चयज्ञ करना उनका धर्म कहा गया है ॥ ४६ ॥

एष चक्रचरैर्देवि देवलोकचरैर्द्विजैः।
ऋषिधर्मः सदा चीर्णो योऽन्यस्तमपि मे शृणु ॥ ४७ ॥

हे देवि! चक्रकी भाँति भ्रमण करनेवाले देवलोक निवासी द्विजोंके द्वारा यह ऋषिधर्म सदा आचरित हुआ करता है; इसके अतिरिक्त और जो दूसरा धर्म है, वह भी मेरे समीप सुनो ॥ ४७ ॥

सर्वेष्वेवार्षिधर्मेषु जेय आत्मा जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ ततः पश्चाज्जेतव्याविति मे मतिः ॥ ४८ ॥

सबको ऋषिधर्ममें जितेन्द्रिय होकर आत्मज्ञान साधन करना योग्य है; अनन्तर काम-क्रोधको भी जीतना चाहिये, ऐसा मेरा मत है ॥ ४८ ॥

अग्निहोत्रपरिस्पन्दो धर्मरात्रिसमासनम्।
सोमयज्ञाभ्यनुज्ञानं पञ्चमी यज्ञदक्षिणा ॥ ४९ ॥

अग्निहोत्रका सम्पादन, सनातन धर्मका अनुष्ठान, सोमयज्ञ, यज्ञविधिका ज्ञान और यज्ञमें दक्षिणा देना— ऋषिके लिये ये पाँच कर्म आवश्यक है ॥ ४९ ॥

नित्यं यज्ञक्रिया धर्मः पितृदेवार्चने रतिः।
सर्वातिथ्यं च कर्तव्यमन्नेनोञ्छार्जितेन वै ॥ ५० ॥

सदा यज्ञकार्य और धर्मका पालन, पितरों और देवताओंकी पूजामें अनुराग और उञ्छ वृत्तिसे प्राप्त हुए अन्नके सहारे सब प्रकार अतिथियोंकी सेवा ही ऋषियोंका परम कर्तव्य है ॥५०॥

निवृत्तिरुपभोगस्य गोरसानां च वै रतिः।
स्थण्डिले शयनं योगः शाकपर्णनिषेवणम् ॥ ५१ ॥

सब प्रकारके विषयोंके उपभोगमें निवृत्ति, गोरसके आहारमें प्रीति, स्थण्डिलपर शयन, योगका अभ्यास, शाकपत्तेका सेवन ॥ ५१ ॥

फलमूलाशनं वायुरापः शैवलभक्षणम्।
ऋषीणां नियमा ह्येते यैर्जयन्त्यजितां गतिम् ॥ ५२ ॥

फलमूलके भोजन, वायु, जल और शैवाल भक्षण— ये ऋषियोंके नियम हैं, इन्हींके सहारे वे लोग अजित गतिको जय किया करते हैं ॥ ५२ ॥

×

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभैक्षके ॥ ५३ ॥

धूआं, अग्नि और मूसल ध्वनिसे रहित समय, सब लोगोंके भोजन करने और पात्र संचार-रहित होने तथा भिक्षुगणके चले जानेपर भी ॥ ५३ ॥

अतिथिं काङ्क्षमाणो वै शेषान्नकृतभोजनः ।
सत्यधर्मरतिः क्षान्तो मुनिधर्मेण युज्यते ॥ ५४ ॥

जो अतिथि–कामना करता और शेष अन्न भोजन किया करता है, वही सत्यधर्ममें रत, शान्त, क्षमाशील पुरुष मुनिधर्मयुक्त होता है ॥ ५४ ॥

न स्तम्भी न च मानी यो न प्रमत्तो न विस्मितः ।
मित्रामित्रसमो मैत्रो यः स धर्मविदुत्तमः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥ ५५२७ ॥

जडता और अभिमानयुक्त न होवे, प्रमत्त तथा विस्मित न होना चाहिये; मित्रशत्रुमें समदर्शी और सर्वभूतोंमें दयावान् पुरुष ही धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ऋषि है ॥ ५५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२९॥ ५५२७ ॥

: 130 :

उमोवाच—

देशेषु रमणीयेषु गिरीणां निर्झरेषु च ।
स्रवन्तीनां च कुञ्जेषु पर्वतोपवनेषु च ॥ १ ॥
देशेषु च विचित्रेषु फलवत्सु समाहिताः ।
मूलवत्सु च देशेषु वसन्ति नियतव्रताः ॥ २ ॥

उमा बोली— पर्वतोंके रमणीय स्थानों, झरनों, नदियोंके तटवर्ती कुञ्जों, पहाडों, उप वनोंमें, फलयुक्त पवित्र स्थानों और मूलविशिष्ट मध्यदेशमें उत्तम रीतिसे समाहित सदा व्रत करनेवाले मुनिगण निवास किया करते हैं ॥ १–२ ॥

तेषामपि विधिं पुण्यं श्रोतुमिच्छामि शंकर ।
वानप्रस्थेषु देवेश स्वशरीरोपजीविषु ॥ ३ ॥

हे शङ्कर ! हे देवेश ! स्वशरीरोपजीवी वानप्रस्थधर्मी उन लोगोंके पवित्र कर्तव्य मैं सुननेकी इच्छा करती हूं ॥ ३ ॥

महेश्वर उवाच—

वानप्रस्थेषु यो धर्मस्तं मे शृणु समाहिता ।
श्रुत्वा चैकमना देवि धर्मबुद्धिपरा भव ॥ ४ ॥

महेश्वर बोले– हे देवि ! सावधान होके वानप्रस्थोंका धर्म सुनो और एकाग्रचित्तसे सुनके तुम्हें धर्मबुद्धिपरायण होना योग्य है ॥ ४ ॥

संसिद्धैर्नियतैः सद्भिर्वनवासमुपागतैः ।
वानप्रस्थैरिदं कर्म कर्तव्यं शृणु यादृशम् ॥ ५ ॥

इंद्रियदमनके द्वारा पूरी रीतिसे सिद्ध हुए वनवासी साधु वानप्रस्थ पुरुषोंको जैसा कर्म करना चाहिये, उसे कहता हूं ॥ ५ ॥

त्रिकालमभिषेकार्थः पितृदेवार्चनं क्रिया ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्द इष्टिहोमविधिस्तथा ॥ ६ ॥

सबेरे, मध्यान्ह और सन्ध्या, इन तीनों समयमें स्नान, पितरों और देवताओंकी पूजा, अग्निहोत्र, इष्टि और होमका अनुष्ठान विधिवत् करना चाहिये ॥ ६ ॥

नीवारग्रहणं चैव फलमूलनिषेवणम् ।
इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थं च निषेवणम् ॥ ७ ॥

नीवार (तिन्नीका चावल) ग्रहण और फलमूलका सेवन, चिकनाईके लिये इंगुद और एरण्डका तेल मलना और सेवन करना कर्त्तव्यरूपसे निर्दिष्ट हुआ है ॥ ७ ॥

योगचर्याकृतैः सिद्धैः कामक्रोधविवर्जनम् ।
वीरशय्यामुपासद्भिर्वीरस्थानोपसेविभिः ॥ ८ ॥

योगचर्यासे उसमें सिद्धि प्राप्त करनी, कामक्रोधको त्यागना, वीरासनसे बैठकर वीरस्थान और महारण्यमें निवास करना चाहिये ॥ ८ ॥

युक्तैर्योगवहैः सद्भिर्ग्रीष्मे पञ्चतपैस्तथा ।
मण्डूकयोगनियतैर्यथान्यायनिषेविभिः ॥ ९ ॥

एकाग्रचित्त होकर योगरत रहना चाहिये; साधु वानप्रस्थको ग्रीष्म कालमें पञ्चाग्नि सेवन करना आवश्यक है; और हठ योगमें ख्यात मण्डूक योगका अभ्यास करे; किसी भी वस्तुका न्यायोचित सेवन करे ॥ ९ ॥

वीरासनगतैर्नित्यं स्थण्डिले शयनैस्तथा ।
शीतयोगोऽग्नियोगश्च चर्तव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ १० ॥

सदोपवेशन रूप वीरासनसे बैठना और स्थण्डिलपर शयन करना चाहिये । धर्मबुद्धियुक्त मनुष्य शीतजल और अग्निसे योगयुक्त होके वर्तमान रहे ॥ १० ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शैवालोत्तरभोजनैः ।
अश्मकुट्टैस्तथा दान्तैः संप्रक्षालैस्तथापरैः ॥ ११ ॥

जल या वायु पीकर रहे; सेवारका भोजन करें; पत्थरसे अन्न या फलको कूंचकर खांय अथवा दांतोंसे चबाकर भक्षण करें; सम्प्रक्षालके नियमसे रहें ॥ ११ ॥

चीरवल्कलसंवीतैर्मृगचर्मनिवासिभिः ।
कार्या यात्रा यथाकालं यथाधर्मं यथाविधि ॥ १२ ॥

तथा चीर और वल्कल पहनें और मृगचर्मसे अपने अङ्गोंको आच्छादित करें; यथासमयमें विधिपूर्वक यथायोग्य धर्मयात्रा करें ॥ १२ ॥

वननित्यैर्वनचरैर्वनपैर्वनगोचरैः ।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः ॥ १३ ॥

वानप्रस्थको वनके बीच सदा निवास करना, वनमें विचरना, वनस्थ होना, वनके मार्गपर चलना और वनको गुरुकी भांति पाके वहांपर वास करना चाहिये ॥ १३ ॥

तेषां होमक्रिया धर्मः पञ्चयज्ञनिषेवणम्
नागपञ्चमयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम् ॥ १४ ॥

उन लोगोंके लिये होमकर्म और पञ्चमहायज्ञोंका सेवन धर्म है; वेदोक्त नागपञ्चमयज्ञभागका अनुपालन करना उन्हें योग्य है ॥ १४ ॥

अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम् ।
पौर्णमास्यां तु यो यज्ञो नित्ययज्ञस्तथैव च ॥ १५ ॥

अष्टमी तिथिको होनेवाले अष्टका यज्ञमें तत्पर रहना, चातुर्मास्य व्रतमें सेवित रहना, पौर्णमास प्रभृति सब यज्ञ तथा नित्य यज्ञ वानप्रस्थीओं धर्मरूपसे विहित हैं ॥ १५ ॥

विमुक्ता दारसंयोगैर्विमुक्ताः सर्वसंकरैः ।
विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने ॥ १६ ॥

दारपरिग्रहसे रहित होकर, सब सङ्करोंसे तथा सब पापोंसे दूर रहकर वानप्रस्थ मुनिगण वनमें विचरते हैं ॥ १६ ॥

स्रुग्भाण्डपरमा नित्यं त्रेताग्निशरणाः सदा ।
सन्तः सत्पथनित्या ये ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १७ ॥

जो लोग सदा स्रुग्भाण्ड सञ्चयमें रत रहते, जो गृहमें तीनों अग्नियोंकी शरण लेकर उन्हींकी सेवामें रहते हैं और जो सब साधु लोग सदा सत्पथमें निवास करते हैं, वेही परम गति पाते हैं ॥ १७ ॥

ब्रह्मलोकं महापुण्यं सोमलोकं च शाश्वतम् ।
गच्छन्ति मुनयः सिद्धा ऋषिधर्मव्यपाश्रयात् ॥ १८ ॥

सत्यधर्मावलम्बी सिद्ध मुनिगण महापवित्र ब्रह्मलोक और शाश्वत सोमलोकमें गमन किया करते हैं ॥ १८ ॥

एष धर्मो मया देवि वानप्रस्थाश्रितः शुभः ।
विस्तरेणार्थसंपन्नो यथास्थूलमुदाहृतः ॥ १९ ॥

हे शुभे देवि ! मैंने वानप्रस्थाश्रित धर्म जो स्थूलरूपसे सम्पन्न होता है, उसे विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ॥ १९ ॥

उमोवाच—

भगवन्देवदेवेश सर्वभूतनमस्कृत ।
यो धर्मो मुनिसंघस्य सिद्धिवादेषु तं वद ॥ २० ॥

उमा बोली—हे सर्वलोकनमस्कृत देवोंके देव भगवन् ! जो धर्म मुनियोंकी सिद्धिके सम्बन्धमें है उसे वर्णन करिये ॥ २० ॥

सिद्धिवादेषु संसिद्धास्तथा वननिवासिनः ।
स्वैरिणो दारसंयुक्तास्तेषां धर्मः कथं स्मृतः ॥ २१ ॥

जो लोग सिद्धवादमें सुसिद्ध वनवासी स्वेच्छाचारी और कदाचित् दारपरिग्रहकारी हैं, उनका धर्म किस प्रकार स्मृत हुआ करता है ? ॥ २१ ॥

महेश्वर उवाच—

स्वैरिणस्तापसा देवि सर्वे दारविहारिणः ।
तेषां मौण्ड्यं कषायश्च वासरात्रिश्च कारणम् ॥ २२ ॥

महादेव बोले— सब वानप्रस्थ तपस्यामें रत रहते हैं; कुछ यथेष्ट आचरण किया करते हैं, वे सिरका मुण्डन तथा गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं; जो लोग दारपरिग्रह करके विहार करते हैं, वे रात्रिको आश्रममें ही ठहरते हैं ॥ २२ ॥

त्रिकालमभिषेकश्च होत्रं त्वृषिकृतं महत् ।
समाधिः सत्पथस्थानं यथोदितनिषेवणम् ॥ २३ ॥

प्रातः, मध्यान्ह और सन्ध्याके समय स्नान, ऋषिकृत् महत् अग्निहोत्र, समाधि, सत्पथमें निवास और यथायोग्य शास्त्रोक्त कार्योंको पूरा करना ही वनवासी मुनियोंका धर्म है ॥ २३ ॥

ये च ते पूर्वकथिता धर्मा वननिवासिनाम् ।
यदि सेवन्ति धर्मांस्तानाप्नुवन्ति तपःफलम् ॥ २४ ॥

पहले जो तुम्हारे निकट सब वनवासियोंके धर्म वर्णित हुए हैं, वही यदि वे इन धर्मोंका सेवन करें, तो उन्हें तपस्याका महत् फल मिलता है ॥ २४ ॥

ये च दंपतिधर्माणः स्वदारनियतेन्द्रियाः ।
चरन्ति विधिदृष्टं तद्दृतुकालाभिगामिनः ॥ २५ ॥

जो लोग निज स्त्रीमें रत और नियतेन्द्रिय होकर ऋतुकालयोग्य दम्पतिधर्मके अनुसार आचरण करते हैं ॥ २५ ॥

तेषामृषिकृतो धर्मो धर्मिणामुपपद्यते ।
न कामकाराक्तामोऽन्यः संसेव्यो धर्मदर्शिभिः ॥ २६ ॥

उन धार्मिकोंका ऋषियोंके द्वारा आचरित धर्म सिद्ध होता है। धर्मदर्शी मनुष्योंको स्वेच्छाचारी होकर कामसेवन करना योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

सर्वभूतेषु यः सम्यग्ददात्यभयदक्षिणाम् ।
हिंसारोषविमुक्तात्मा स वै धर्मेण युज्यते ॥ २७ ॥

जो मनुष्य हिंसारहित चित्तसे सब जीवोंको भली भांति अभयदक्षिणा दान करता है, वही धार्मिक है ॥ २७ ॥

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः ।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते ॥ २८ ॥

जो सब प्राणियोंके विषयमें दयावान् है, सब जीवोंके सम्बन्धमें सरलता प्रकाशित करता और सर्वभूतोंको आत्मरूप भावसे जानता है; वही धार्मिक है ॥ २८ ॥

सर्ववेदेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे एते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २९ ॥

सब वेदोंको पढके निष्णात होना और सर्वभूतोंमें सरलता प्रदर्शित करनी ये दोनों एक समान माने जाते हैं, अथवा सरलताका महत्त्व अधिक श्रेष्ठ है ॥ २९ ॥

आर्जवं धर्म इत्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते ।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते ॥ ३० ॥

सरलताको धर्म कहते हैं और कुटिलताको अधर्म कहा जाता है; मनुष्य इस लोकमें सरलतायुक्त होनेसे धार्मिक होता है ॥ ३० ॥

आर्जवो भुवने नित्यं वसत्यमरसंनिधौ ।
तस्मादार्जवनित्यः स्याद्य इच्छेद्धर्ममात्मनः ॥ ३१ ॥

जो जगत्में सदा सरलतामें रत रहता है, वह देवताओंके समीप निवास करता है; इसलिये जो अपने धर्मके फलकी इच्छा करता है, वह सरलतायुक्त होवे ॥ ३१ ॥

क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूतोऽविहिंसकः ।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते ॥ ३२ ॥

क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोध जीतनेवाला, धर्मज्ञ, अहिंसक और नित्य धर्ममें चित्त लगानेवाला मनुष्य धर्मयुक्त हुआ करता है ॥ ३२ ॥

व्यपेततन्द्रो धर्मात्मा शक्त्या सत्पथमाश्रितः ।
चारित्रपरमो बुद्धो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३३ ॥

जो धर्मात्मा मनुष्य आलस्यरहित होके शक्तिके अनुसार सत्पथको अवलम्बन करता और निज चरित्रकी उत्तम रीतिसे रक्षा करता है, वह बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मस्वरूप लाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ ३३ ॥

उमोवाच—

आश्रमाभिरता देव तापसा ये तपोधनाः ।
दीप्तिमन्तः कया चैव चर्यया च भवन्ति ते ॥ ३४ ॥

उमा बोली— हे देव ! जो सब तपोधन तपस्वीवृन्द आश्रमधर्ममें अनुरक्त हैं, वे कैसे आचरणसे दीप्तिमान्, तपस्वी होते हैं ? ॥ ३४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च निर्धना वा महाधनाः ।
कर्मणा केन भगवन्प्राप्नुवन्ति महाफलम् ॥ ३५ ॥

हे भगवन् ! निर्धन या महाधनी, राजा और राजपुत्रगण किन कर्मोंके सहारे महाफल पाते हैं ? ॥ ३५ ॥

नित्यं स्थानमुपागम्य दिव्यचन्दनरूपिताः ।
केन वा कर्मणा देव भवन्ति वनगोचराः ॥ ३६ ॥

हे देव ! वे वनवासी लोग किस कर्मसे नित्य दिव्य स्थानको पाकर दिव्य चन्दनसे भूषित होते हैं ? ॥ ३६ ॥

एतं मे संशयं देव तपश्चर्यागतं शुभम् ।
शंस सर्वमशेषेण त्र्यक्ष त्रिपुरनाशन ॥ ३७ ॥

हे देव ! हे त्रिपुरनाशन त्रिलोचन ! इस तपश्चर्याके आश्रित शुभ फलके विषयमें मेरा यही सन्देह है, इस सारे संदेहका आप विस्तारपूर्वक उत्तर दीजिये ॥ ३७ ॥

महेश्वर उवाच—

उपवासव्रतैर्दान्ता अहिंस्राः सत्यवादिनः ।
संसिद्धाः प्रेत्य गन्धर्वैः सह मोदन्त्यनामयाः ॥ ३८ ॥

महादेव बोले— उपवासव्रतसे अहिंसारत, सत्यवादी, दमनशील मनुष्य सम्यक्सिद्ध होके परलोकमें अनामय होकर गन्धर्वोंके सहित आनन्द भोग किया करते हैं ॥ ३८ ॥

मण्डूकयोगशयनो यथास्थानं यथाविधि ।
दीक्षां चरति धर्मात्मा स नागैः सह मोदते ॥ ३९ ॥

जो धर्मात्मा मनुष्य यथा रीतिसे विधिपूर्वक मण्डूकयोगशय्यामें शयन करके दीक्षा आचरण करता है, वह नागलोकमें नागोंके साथ सुख भोगता है ॥ ३९ ॥

शष्पं मृगमुखोत्सृष्टं यो मृगैः सह सेवते ।
दीक्षितो वै मुदा युक्तः स गच्छत्यमरावतीम् ॥ ४० ॥

जो दीक्षित और समाहित होके मृगगणोंके सहित मृगके द्वारा उत्सृष्ट शस्योंको आनन्दपूर्वक सेवन करता है, वह अमरावती पुरीमें गमन किया करता है ॥ ४० ॥

शैवालं शीर्णपर्णं वा तद्व्रतो यो निषेवते ।
शीतयोगवहो नित्यं स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

जो व्रतधारी मुनि शैवाल अथवा जीर्ण–शीर्ण सूखे पत्तोंको खाके तपस्या करता है और सदा जाड़ेमें शीतका कष्ट सहन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा फलमूलाशनोऽपि वा ।
यक्षेष्वैश्वर्यमाधाय मोदतेऽप्सरसां गणैः ॥ ४२ ॥

वायु, जल, फल और मूल खाकर रहनेवाला योगी यमलोकमें ऐश्वर्य लाभ करके अप्सराओंके सहित आनन्द करता है ॥ ४२ ॥

अग्नियोगवहो ग्रीष्मे विधिदृष्टेन कर्मणा ।
चीर्त्वा द्वादश वर्षाणि राजा भवति पार्थिवः ॥ ४३ ॥

ग्रीष्मकालमें विधिविहित कर्मोंके सहारे बारह वर्षोंतक पञ्चतपा करनेसे मनुष्य भूलोकका राजा होता है ॥ ४३ ॥

आहारनियमं कृत्वा मुनिर्द्वादशवार्षिकम् ।
मरुं संसाध्य यत्नेन राजा भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

बारह वर्षोंतक मौनावलम्बनपूर्वक आहारका नियम करके यत्नके सहित मरुसाधन अर्थात् जल पर्यन्त परित्याग करनेसे मनुष्य पृथ्वीपति राजा होता है ॥ ४४ ॥

स्थण्डिले शुद्धमाकाशं परिगृह्य समन्ततः ।
प्रविश्य च मुदा युक्तो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४५ ॥

स्थण्डिलमें विना आसनके बैठकर शुद्ध आकाशमें हर्षपूर्वक जो प्रसन्नतापूर्वक द्वादश वार्षिकी दीक्षा ग्रहण करता है, वह स्वर्ग लोकका सुख भोगता है ॥ ४५ ॥

स्थण्डिलस्य फलान्याहुर्यानानि शयनानि च ।
गृहाणि च महार्हाणि चन्द्रशुभ्राणि भामिनि ॥ ४६ ॥

हे भामिनी ! वेदीपर शयन करनेसे यान, शय्या और चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल महामूल्य गृह ये फल कहे गये हैं ॥ ४६ ॥

आत्मानमुपजीवन्यो नियतो नियताशनः ।
देहं वानशने त्यक्त्वा स स्वर्गं समुपाश्नुते ॥ ४७ ॥

जो सदा अपने ही सहारे जीवन बिताता हुआ नियताहारी होकर अथवा अनशन व्रतके सहारे देह परित्याग करता है, वह स्वर्गभोग किया करता है ॥ ४७ ॥

आत्मानमुपजीवन्यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्यक्त्वा महार्णवे देहं वारुणं लोकमश्नुते ॥ ४८ ॥

अपने ही सहारे जीवन बिताता हुआ द्वादशवार्षिकी दीक्षा ग्रहण करके महार्णवमें शरीर परित्याग करनेवाला वरुणलोकमें सुख भोगता है ॥ ४८ ॥

आत्मानमुपजीवन्यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
अश्मना चरणौ भित्त्वा गुह्यकेषु स मोदते ॥ ४९ ॥

जो आत्मोपजीवी पुरुष द्वादशवार्षिकी दीक्षा अवलम्बन करता है और पाषाणके द्वारा दोनों चरण भेदता है, वह गुह्यक लोकमें प्रमुदित होता है ॥ ४९ ॥

साधयित्वात्मनात्मानं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
चीर्त्वा द्वादश वर्षाणि दीक्षामेकां मनोगताम् ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति देवैश्च सह मोदते ॥ ५० ॥

जो लोग निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह होकर आत्माके सहारे आत्मसाधन करके द्वादशवार्षिकी इस मनोहर दीक्षाको अवलम्बन करके स्वर्गलोक पाता है, वह देवताओंके सङ्ग आनन्द भोग करता है ॥ ५० ॥

आत्मानमुपजीवन्यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
हुत्वाग्नौ देहमुत्सृज्य वह्निलोके महीयते ॥ ५१ ॥

जो आत्मोपजीवी पुरुष द्वादशवार्षिकी दीक्षा ग्रहण करके अग्निमें देह परित्याग करता है, वह अग्निलोकमें निवास किया करता है ॥ ५१ ॥

यस्तु देवि यथान्यायं दीक्षितो नियतो द्विजः ।
आत्मन्यात्मानमाधाय निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ ५२ ॥

हे देवि ! जो द्विज यथारीतिसे दीक्षित और संयत होकर आत्मामें आत्मसाधन करते हुए निर्द्वन्द्व निष्परिग्रह होता है ॥ ५२ ॥

×

चीर्त्वा द्वादश वर्षाणि दीक्षामेकां मनोगताम्।
अरणीसहितं स्कन्धे बद्ध्वा गच्छत्यनावृतः ॥ ५३ ॥

और बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका अनुष्ठान करके अरणीके सहित अग्निको वृक्षकी डालीमें बांधकर अर्थात् अग्निका परित्याग कर अनावृत होकर यात्रा करता है ॥ ५३ ॥

वीराध्वानमना नित्यं वीरासनरतस्तथा।
वीरस्थायी च सततं स वीरगतिमाप्नुयात् ॥ ५४ ॥

सदा वीरपथसे गमन करनेका निश्चय करता है, वीरासन पर बैठता है और वीरके समान खडा होता है, उसे वीरगति प्राप्त होती है ॥ ५४ ॥

स शक्रलोकगो नित्यं सर्वकामपुरस्कृतः।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णो दिव्यचन्दनभूषितः।
सुखं वसति धर्मात्मा दिवि देवगणैः सह ॥ ५५ ॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर सदा सर्व कामनाओंसे परिपूर्ण होता है और उसके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होती है तथा वह दिव्य चन्दनसे विभूषित होता है; वह धर्मात्मा देवलोकमें देवताओंके सहित सुखसे निवास करता है ॥ ५५ ॥

वीरलोकगतो वीरो वीरयोगवहः सदा।
सत्त्वस्थः सर्वमुत्सृज्य दीक्षितो नियतः शुचिः।
वीराध्वानं प्रपद्येद्यस्तस्य लोकाः सनातनाः ॥ ५६ ॥

वीरलोकमें गया हुआ वीर पुरुष वीरयोगको धारण करनेवाला हुआ करता है। जो सत्त्वगुणी होकर सब वस्तुओंको त्यागके सदा नियत पवित्र रहके दीक्षित होता और वीरपथसे गमन करता है, उसे सनातन लोक मिलते हैं ॥ ५६ ॥

कामगेन विमानेन स वै चरति च्छन्दतः।
शक्रलोकगतः श्रीमान्मोदते च निरामयः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥ ५५९४ ॥

वह कामगामी विमानपर बैठकर स्वच्छन्द विचरता तथा वह श्रीमान् मनुष्य निरामय होके इन्द्रलोकमें जाकर प्रमुदित होता है ॥ ५७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ तिसवां अध्याय समाप्त ॥ १३० ॥ ५५९४ ॥

: १२१ :

उमोवाच—

भगवन्भगनेत्रघ्न पूष्णो दन्तनिपातन ।

दक्षक्रतुहर त्र्यक्ष संशयो मे महानयम् ॥ १ ॥

उमा बोली— हे भगनेत्रनाशी पूषानेत्र विनाशन दक्षयज्ञविध्वंसी त्रिलोचन भगवन् ! मुझे महान् सन्देह है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयंभुवा ।

केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम् ॥ २ ॥

भगवान् ब्रह्माने पहले चारों वर्णोंकी सृष्टि की है । उनके बीच वैश्य किसके परिणामसे शूद्रत्व पाता है ? ॥ २ ॥

वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेत् ।

प्रतिलोमः कथं देव शक्यो धर्मो निषेवितुम् ॥ ३ ॥

क्षत्रिय किस कर्मसे वैश्य होता है और ब्राह्मण किस कर्मसे क्षत्रिय होता है ? हे देव ! प्रतिलोमगत धर्म किस प्रकार सेवित होता है ? ॥ ३ ॥

केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनौ प्रजायते ।

क्षत्रियः शूद्रतामेति केन वा कर्मणा विभो ॥ ४ ॥

हे विभु ! ब्राह्मण किस कर्मके सहारे शूद्रयोनिमें जन्मता है और क्षत्रिय कैसे कर्मके द्वारा शूद्रत्व लाभ करता है ? ॥ ४ ॥

एतं मे संशयं देव वद भूतपतेऽनघ ।

त्रयो वर्णाः प्रकृत्येह कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयुः ॥ ५ ॥

हे भूतपति अनघ देव ! आप मेरे इस सन्देहको दूर करिये । इस लोकमें शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय— इन तीनों वर्णोंके लोग किस प्रकार स्वभावतः ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर सकते हैं ? ॥५॥

महेश्वर उवाच—

ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद्ब्राह्मणः शुभे ।

क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः ॥ ६ ॥

महादेव बोले— हे देवि ! ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुष्प्राप्य है । मेरे विचारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण नैसर्गिक—स्वभाव सिद्ध हैं ॥ ६ ॥

कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद्भ्रश्यति वै द्विजः ।

ज्येष्ठं वर्णमनुप्राप्य तस्माद्रक्षेत वै द्विजः ॥ ७ ॥

यहां द्विज दुष्कृत कर्मोंसे अपने स्थानसे भ्रष्ट होता है, इसलिये द्विजको श्रेष्ठ वर्णमें जन्म पाकर सदा अपनी रक्षा करनी उचित है ॥ ७ ॥

स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति ।
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयाय गच्छति ॥ ८ ॥

क्षत्रिय अथवा वैश्य ब्राह्मणधर्ममें स्थित रहके यदि ब्राह्मणत्वका अनुसरण करता है, तो उसे ब्रह्मत्व प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते ।
ब्राह्मण्यात्स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते ॥ ९ ॥

जो ब्राह्मण ब्राह्मणत्वका परित्याग करके क्षत्रिधर्मकी सेवा करता है, वह ब्राह्मणत्वसे परिभ्रष्ट होकर क्षत्रिययोनिमें उत्पन्न हुआ करता है ॥ ९ ॥

वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा ॥ १० ॥

जो अल्पबुद्धि ब्राह्मण दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाके लोभ–मोहके वशमें होके सदा वैश्यका कर्म करता है ॥ १० ॥

स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात् ।
स्वधर्मात्प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते ॥ ११ ॥

उसे वैश्यत्व प्राप्त होता है और यदि वैश्य शूद्रके कर्मको करता है तो वह भी शूद्रत्वको प्राप्त होता है । शूद्रके कर्म करके निज धर्मसे भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण शूद्रत्व लाभ करता है ॥ ११ ॥

तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः ।
ब्रह्मलोकपरिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते ॥ १२ ॥

ब्राह्मण शूद्र कर्म करनेके कारण वर्णभ्रष्ट होकर सर्वबहिष्कृत होता है तथा नरकगामी होता है । अनन्तर ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे परिभ्रष्ट होकर शूद्रयोनिमें जन्म लेता है ॥ १२ ॥

क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणि ।
स्वानि कर्माण्यपाहाय शूद्रकर्माणि सेवते ॥ १३ ॥

हे महाभागे धर्मचारिणि ! क्षत्रिय अथवा वैश्य यदि अपने कर्मको त्यागके शूद्रका कर्म करता है ॥ १३ ॥

स्वस्थानात्स परिभ्रष्टो वर्णसंकरतां गतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः ॥ १४ ॥

तो वह निज जातिसे च्युत होकर वर्णसङ्कर होता है और वह शूद्रकी योनिमें जन्म पाता है । वैसा ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य शूद्रत्वको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यस्तु शुद्धः स्वधर्मेण ज्ञानविज्ञानवाञ्शुचिः ।
धर्मज्ञो धर्मनिरतः स धर्मफलमश्नुते ॥ १५ ॥

जो निज धर्मके पालनसे शुद्ध है, जो ज्ञान विज्ञानयुक्त, पवित्र, धर्मज्ञ और सदा धर्ममें रत है, वही धर्मके फलका भोग करता है ॥ १५ ॥

इदं चैवापरं देवि ब्रह्मणा समुदीरितम् ।
अध्यात्मं नैष्ठिकं सद्भिर्धर्मकामैर्निषेव्यते ॥ १६ ॥

हे देवि! ब्रह्माने और एक यह बात कही है। धर्मकी इच्छा करनेवाले साधु पुरुषोंको नैष्ठिक अध्यात्म विषयका ही अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १६ ॥

उग्रान्नं गर्हितं देवि गणान्नं श्राद्धसूतकम् ।
घुष्टान्नं नैव भोक्तव्यं शूद्रान्नं नैव कर्हिचित् ॥ १७ ॥

हे देवि! उग्र स्वभाववाले मनुष्यका अन्न अत्यन्त निन्दनीय है। समुदायका, श्राद्धका, सूतकका, दुष्ट मनुष्यका तथा शूद्रका अन्न कदापि भोजन न करे ॥ १७ ॥

शूद्रान्नं गर्हितं देवि देवदेवैर्महात्मभिः ।
पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणमिति मे मतिः ॥ १८ ॥

हे देवि! महानुभाव देवगण तथा महात्मा पुरुष शूद्रान्नको सदा निन्दित मानते हैं; इस विषयमें पितामहके मुखका कहा हुआ वचन प्रमाण है, यह मेरा विश्वास है ॥ १८ ॥

शूद्रान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेत वै ।
आहिताग्निस्तथा यज्वा स शूद्रगतिभाग्भवेत् ॥ १९ ॥

जो आहिताग्नि और याज्ञिक ब्राह्मण भी पेटमें शूद्रका अन्न लिये मर जाता है, उसे शूद्रगति प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

तेन शूद्रान्नशेषेण ब्रह्मस्थानादपाकृतः ।
ब्राह्मणः शूद्रतामेति नास्ति तत्र विचारणा ॥ २० ॥

अवशिष्ट शूद्रान्न जठरमें रहनेसे ब्राह्मण ब्रह्मस्थानसे च्युत होकर शूद्रत्वको पाता है, इस विषयमें कुछ भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

यस्यान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेत वै ।
तां तां योनिं व्रजेद्विप्रो यस्यान्नमुपजीवति ॥ २१ ॥

जिसका अवशिष्ट अन्न जठरमें विद्यमान रहनेसे ब्राह्मण प्राण परित्याग करता है, वह जिसके अन्नको उपजीव्य करता था, उसही योनिको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मणत्वं शुभं प्राप्य दुर्लभं योऽवमन्यते ।
अभोज्यान्नानि चाश्नाति स द्विजत्वात्पतेत वै ॥ २२ ॥

जो शुभ और दुर्लभ पवित्र ब्राह्मणत्व पाके उसकी अवज्ञा करता है तथा अभोज्य अन्न भोजन करता है, वह ब्राह्मणत्वसे पतित होता है ॥ २२ ॥

सुरापो ब्रह्महा क्षुद्रश्चौरो भग्नव्रतोऽशुचिः ।
स्वाध्यायवर्जितः पापो लुब्धो नैकृतिकः शठः ॥ २३ ॥

सुरा पीनेवाला, ब्रह्मघाती, नीच, चोर, भग्नव्रती, अपवित्र, स्वाध्यायरहित, पापाचारी, लोभी, शठतायुक्त, शठ ॥ २३ ॥

अव्रती वृषलीभर्ता कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
निहीनसेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः ॥ २४ ॥

अव्रती, शूद्रजातिकी स्त्रीका पति, कुण्डाशी अर्थात् जो पुरुष पाकपात्रमें भोजन करता है, सोमरस बेचनेवाला और नीचकी सेवा करनेवाला ब्राह्मण ब्राह्मणयोनिसे पतित होता है ॥ २४ ॥

गुरुतल्पी गुरुद्वेषी गुरुकुत्सारतिश्च यः ।
ब्रह्मद्विट्चापि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः ॥ २५ ॥

गुरुशय्यागामी, गुरुके विषयमें द्वेष करनेवाला और गुरुकी निन्दा करनेमें अनुरक्त ब्राह्मण ब्रह्मवित तथा ब्रह्मवित्तम होनेपर भी ब्रह्मयोनिसे पतित होता है ॥ २५ ॥

एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा ।
शूद्रो ब्राह्मणतां गच्छेद्वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् ॥ २६ ॥

हे देवि ! इन्हीं पवित्र कार्यों और पवित्र आचरणोंसे शूद्र भी ब्राह्मण हुआ करता है और वैश्य भी क्षत्रियत्व पाता है ॥ २६ ॥

शूद्रकर्माणि सर्वाणि यथान्यायं यथाविधि ।
शुश्रूषां परिचर्यां च ज्येष्ठे वर्णे प्रयत्नतः ।
कुर्यादविमनाः शूद्रः सततं सत्पथे स्थितः ॥ २७ ॥

शूद्र सदा सत्पथमें निवास करता हुआ खिन्नचित्त न होकर न्याय तथा विधिपूर्वक यत्नके सहित ज्येष्ठ वर्णकी सेवा तथा टहल करे; यही शूद्रोंका निर्दिष्ट कर्म है ॥ २७ ॥

दैवतद्विजसत्कर्ता सर्वातिथ्यकृतव्रतः ।
ऋतुकालाभिगामी च नियतो नियताशनः ॥ २८ ॥

देवताओं और मित्रोंका सम्मान करे; सबका आतिथ्य करनेमें व्रतयुक्त होवे; ऋतुकालमें भार्यागामी रहे; नियमपूर्वक रहकर सदा नियमित भोजन करे ॥ २८ ॥

चौक्षश्चौक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः ।
वृथामांसान्यभुञ्जानः शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति ॥ २९ ॥

स्वयं मनोहर और मनोहर लोगोंका अन्वेषी होवे तथा शेषान्न का ही भोजन करे और मांस न खाय । ऐसा शूद्र वैश्ययोनिमें जन्म प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

सत्यवागनहंवादी निर्द्वन्द्वः शमकोविदः
यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः ॥ ३० ॥

सत्यवादी, अहङ्काररहित, निर्द्वन्द्व, शमयुक्त, स्वाध्यायरत और पवित्र होकर जो वैश्य यज्ञके द्वारा देवार्चना करता है ॥ ३० ॥

दान्तो ब्राह्मणसत्कर्ता सर्ववर्णबुभूषकः ।
गृहस्थव्रतमातिष्ठन्द्विकालकृतभोजनः ॥ ३१ ॥

जो जितेन्द्रिय ब्राह्मणोंका सम्मान करके सब वर्णोंको भूषित किया करता है और जो गृहस्थ-व्रत अवलम्बन करके दोही समय भोजन करता है, ॥ ३१ ॥

शेषाशी विजिताहारो निष्कामो निरहंवदः ।
अग्निहोत्रमुपासंश्च जुह्वानश्च यथाविधि ॥ ३२ ॥

जो शेषान्नभोजी, नियताहारी, निष्काम और अहङ्काररहित है, जो अग्निहोत्रकी उपासना करते हुए विधिपूर्वक आहुति प्रदान करता है, ॥ ३२ ॥

सर्वातिथ्यमुपातिष्ठञ्शेषान्नकृतभोजनः ।
त्रेताग्निमन्त्रविहितो वैश्यो भवति वै यदि ।
स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते ॥ ३३ ॥

सबका आतिथ्य किया करता, बचा हुआ अन्न भोजन करता और दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्निकी परिचर्यामें सावधान रहता है, वह वैश्य पवित्र और महत् क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

स वैश्यः क्षत्रियो जातो जन्मप्रभृति संस्कृतः ।
उपनीतो व्रतपरो द्विजो भवति सत्कृतः ॥ ३४ ॥

क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुआ वह वैश्य जन्मसे ही क्षत्रियके योग्य संस्कारसे युक्त हो उपनयनके बाद ब्रह्मचर्य व्रत तत्पर होकर सम्मानित द्विज होता है ॥ ३४ ॥

ददाति यजते यज्ञैः संस्कृतैराप्तदक्षिणैः ।
अधीते स्वर्गमन्विच्छंस्त्रेताग्निशरणः सदा ॥ ३५ ॥

वह दान करता है और समृद्ध पर्याप्तदक्षिणावाले यज्ञोंके सहारे याग किया करता है और वेदोंका अध्ययन करके स्वर्गकी इच्छा रखकर सदा तीनों अग्नियोंके शरणापन्न होकर उनकी आराधना करता है ॥ ३५ ॥

आर्तहस्तप्रदो नित्यं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
सत्यः सत्यानि कुरुते नित्यं यः सुखदर्शनः ॥ ३६ ॥

आर्त्त पुरुषोंको हाथका सहारा देता है, धर्मके अनुसार प्रजापालन किया करता है, स्वयं सुखदर्शन तथा सत्यवादी होके सत्य कार्योंको सदा निभाता है ॥ ३६ ॥

धर्मदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासकः ।
यन्त्रितः कार्यकरणे षड्भागकृतलक्षणः ॥ ३७ ॥

धर्मके अनुसार दण्ड देता है, दण्डका त्याग नहीं करता है और धर्मकार्योंका अनुशासन करता है, कार्य और कारणके द्वारा बन्धित होके प्रजासे राजग्राह्य छठवां भाग ग्रहण करता है ॥ ३७ ॥

ग्राम्यधर्मान्न सेवेत स्वच्छन्देनार्थकोविदः ।
ऋतुकाले तु धर्मात्मा पत्नीं सेवेत नित्यदा ॥ ३८ ॥

यह अर्थशास्त्र जाननेवाला धर्मात्मा राजा स्वच्छन्दतापूर्वक ग्राम्यधर्मका सेवन न करे और ऋतुकालमें ही सदा भार्याके समीप शयन करे ॥ ३८ ॥

सर्वोपवासी नियतः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
बर्हिष्कान्तरिते नित्यं शयानोऽग्निगृहे सदा ॥ ३९ ॥

सब उपवास करे, नियमपूर्वक रहे, सदा स्वाध्यायमें रत रहे, पवित्र कर्मसे युक्त हो, अग्नि-गृहमें सदा कुशकी चटाईपर शयन करे ॥ ३९ ॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य कुर्वाणः सुमनाः सदा ।
शूद्राणां चान्नकामानां नित्यं सिद्धमिति ब्रुवन् ॥ ४० ॥

प्रसन्नचित्तसे धर्मार्थकामके अनुसार सबका आतिथ्य करे, अन्न चाहनेवाले शूद्रोंको भी सदा तुम्हारे लिये अन्न तैयार है, यह कहे ॥ ४० ॥

स्वार्थाद्वा यदि वा कामान्न किंचिदुपलक्षयेत् ।
पितृदेवातिथिकृते साधनं कुरुते च यः ॥ ४१ ॥

स्वार्थ या कामना वश होकर किसी वस्तुका प्रदर्शन न करे । जो पितरों, देवताओं और अतिथियोंके सत्कारके लिये उपाय विधान करता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय है ॥ ४१ ॥

स्ववेश्मनि यथान्यायमुपास्ते भैक्षमेव च ।
त्रिकालमग्निहोत्रं च जुह्वानो वै यथाविधि ॥ ४२ ॥

वह निज गृहमें यथा रीतिसे भोजन करे, तीनों कालोंमें विधिपूर्वक अग्निहोत्रमें आहुति प्रदान किया करता रहे ॥ ४२ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय रणे चाभिमुखो हतः ।
त्रेताग्निमन्त्रपूतं वा समाविश्य द्विजो भवेत् ॥ ४३ ॥

वह धर्ममें रत हो तीनों अग्नियोंकी मन्त्रपूर्वक उपासना करके पवित्र चित्त हो, गो-ब्राह्मणोंके हितके निमित्त संग्राममें शत्रुका सामना करते हुए मारा जाय तो ब्राह्मणयोनिमें जन्मता है ॥ ४३ ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः संस्कृतो वेदपारगः ।
विप्रो भवति धर्मात्मा क्षत्रियः स्वेन कर्मणा ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ज्ञानविज्ञान संपन्न तथा संस्कारयुक्त वेदपारग धर्मात्मा क्षत्रिय निज कर्मोंके सहारे ब्राह्मण होता है ॥ ४४ ॥

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः ।
शूद्रोऽप्यागमसंपन्नो द्विजो भवति संस्कृतः ॥ ४५ ॥

हे देवि ! इन कर्मफलोंके द्वारा न्यून जातिकुलमें उत्पन्न हुआ शूद्र भी, शास्त्रसम्पन्न और संस्कारयुक्त ब्राह्मण होता है ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसङ्करभोजनः ।
ब्राह्मण्यं पुण्यमुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः ॥ ४६ ॥

और ब्राह्मण भी दुराचारी तथा सब सङ्कर जातिवालोंका अन्न भोजन करनेसे ब्राह्मणत्वके पुण्यका परित्याग करके शूद्र हुआ करता है ॥ ४६ ॥

कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः ।
शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत्स्वयम् ॥ ४७ ॥

हे देवि ! पवित्र कर्मोंके सहारे शुद्धचित्तवाला जितेन्द्रिय शूद्र भी द्विजकी भांति सम्मानित–सेव्य होता है, यह साक्षात् ब्रह्माका कहना है ॥ ४७ ॥

स्वभावकर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति ।
विशुद्धः स द्विजातिर्वै विज्ञेय इति मे मतिः ॥ ४८ ॥

तथा मेरे मतसे पवित्र स्वभाव और पवित्र कर्म करनेवाले शूद्रको द्विजातियोंसे भी श्रेष्ठ जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥ ४९ ॥

ब्राह्मणत्वके विषयमें योनि कारण नहीं है; संस्कार, शास्त्रज्ञान और सन्तति भी कारण नहीं है; केवल पवित्र चरित्रही कारण है ॥ ४९ ॥

×

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते ।
वृत्ते स्थितश्च सुश्रोणि ब्राह्मणत्वं निगच्छति ॥ ५० ॥

हे सुश्रोणि ! जगत्में चरित्रसेही यह सब ब्राह्मणवर्ग अपने पदपर प्रतिष्ठित है; उत्तम चरित्र-युक्त शूद्रकोभी ब्राह्मणत्व मिल सकता है ॥ ५० ॥

ब्राह्मः स्वभावः कल्याणि समः सर्वत्र मे मतिः ।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः ॥ ५१ ॥

हे कल्याणि ! ब्रह्मका स्वभाव सर्वत्रही सम है, ऐसा मुझे दीखता है । निर्गुण और निर्मल ब्रह्मका ज्ञान जिसमें निवास करता है, वही ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मण है ॥ ५१ ॥

एते योनिफला देवि स्थानभागनिदर्शकाः ।
स्वयं च वरदेनोक्ता ब्रह्मणा सृजता प्रजाः ॥ ५२ ॥

हे देवि ! प्रजाकी सृष्टि करनेवाले वरदाता ब्रह्माने स्वयं इस स्थानमें भागनिदर्शक योनि-फलोंका वर्णन किया है ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणो हि महत्क्षेत्रं लोके चरति पादवत् ।
यत्तत्र बीजं वपति सा कृषिः पारलौकिकी ॥ ५३ ॥

जगत्में सबकी गतिस्वरूप ब्राह्मण लोग महान् क्षेत्रस्वरूप पैरोंसे युक्त हो विचरण किया करते हैं; उस क्षेत्रमें जो बीज डाला जाता है, वह परलोकमें जीविकाका साधनरूप सफल होता है ॥ ५३ ॥

मिताशिना सदा भाव्यं सत्पथालम्बिना सदा ।
ब्राह्ममार्गमतिक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता ॥ ५४ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण सदा नियमित आहार करे तथा सत्पथावलम्बी होवे और जो अपने कल्याणकी कामना करता है, उसे ब्रह्मपथ अवलम्बन करके समय बिताना चाहिये ॥ ५४ ॥

संहिताध्यायिना भाव्यं गृहे वै गृहमेधिना ।
नित्यं स्वाध्याययुक्तेन दानाध्ययनजीविना ॥ ५५ ॥

गृहस्थ ब्राह्मणको गृहमें संहिताका अध्ययन करना योग्य है; सदा स्वाध्यायरत होकर, दान और अध्ययन करके जीवन बिताना चाहिये ॥ ५५ ॥

एवंभूतो हि यो विप्रः सततं सत्पथे स्थितः ।
आहिताग्निरधीयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार जो विप्र सदा सत्पथमें स्थित रहता है और आहिताग्नि होकर अध्ययन करता है, वह ब्रह्मस्वरूप लाभ करनेमें समर्थ हुआ करता है ॥ ५६ ॥

ब्राह्मण्यमेव संप्राप्य रक्षितव्यं यतात्मभिः ।
योनिप्रतिग्रहादानैः कर्मभिश्च शुचिस्मिते ॥ ५७ ॥

हे शुचिस्मिते ! ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे ब्राह्मणत्वको लाभ करके यतचित्त होकर योनि, प्रतिग्रह आदान और उत्तम कर्मोंसे उसकी रक्षा करें ॥ ५७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद्द्विजः ।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमाप्नुते ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥ ५६५२ ॥

शूद्र जिस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है और ब्राह्मण धर्मच्युत होकर जिस भांति शूद्रत्वको पाता है; मैंने इस गोपनीय विषयको तुम्हारे समीप वर्णन किया ॥ ५८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ एकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२१ ॥ ५६५२ ॥

: १२२ :

उमोवाच—

भगवन्सर्वभूतेश सुरासुरनमस्कृत ।
धर्माधर्मे नृणां देव ब्रूहि मे संशयं विभो ॥ १ ॥

उमा बोली— हे सुरासुरनमस्कृत ! सर्वभूतेश ! देव भगवन् ! हे विभु ! मनुष्योंका धर्म और अधर्म वर्णन करिये; जिससे इस विषयमें मेरा सन्देह दूर होगा ॥ १ ॥

कर्मणा मनसा वाचा त्रिविधं हि नरः सदा ।
बध्यते बन्धनैः पाशैर्मुच्यतेऽप्यथ वा पुनः ॥ २ ॥

मनुष्य बचन, मन और कर्महेतु त्रिविध बन्धनपाशसे बद्ध होता है, अथवा फिर उससे मुक्त हुआ करता है ॥ २ ॥

केन शीलेन वा देव कर्मणा कीदृशेन वा
समाचारैर्गुणैर्वाक्यैः स्वर्गं यान्तीह मानवाः ॥ ३ ॥

हे देव ! मनुष्य लोग इसलोकमें किस भांतिके चरित्र, कैसे कर्म और किन सदाचारों, वचनों तथा गुणोंके सहारे स्वर्गमें गमन करते हैं ? ॥ ३ ॥

महेश्वर उवाच—

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे सत्यनित्ये दमे रते ।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्धनः ॥ ४ ॥

महादेव बोले— हे धर्मार्थतत्वको जाननेवाली, धर्म और दममें रत देवि ! तुमने जो प्रश्न किया, वह सब प्राणियोंके लिये हितकर और बुद्धिवर्द्धन है, इसलिये उसका उत्तर सुनो ॥४॥

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिप्साविवर्जिताः ।
नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः ॥ ५ ॥

सत्यधर्ममें रत, सर्वइच्छाविवर्जित जो सब साधुजन है, जिन लोगोंका सन्देह छुटा है, वे धर्म अथवा अधर्मसे बद्ध नहीं होते ॥ ५ ॥

प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः समदर्शिनः ।
वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः सर्वबन्धनैः ॥ ६ ॥

प्रलय और उत्पत्तिके तत्वोंको जाननेवाले, सर्वज्ञ, समदर्शी, रागरहित पुरुष सब बन्धनोंसे मुक्त होते हैं ॥ ६ ॥

कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन ।
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चिद्बध्यन्ते ते न कर्मभिः ॥ ७ ॥

जो लोग वचन, मन और कर्मसे किसीकोभी हिंसा नहीं करते हैं, तथा मनहीमन किसी विषयमें भी आसक्त नहीं होते, वे कर्मोंसे बद्ध नहीं होते ॥ ७ ॥

प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः ।
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ॥ ८ ॥

जो किसीके प्राणोंकी हत्यासे दूर रहते हैं और जो लोग शीलवन्त तथा दयावान् हैं, वे शत्रुमित्रको समान जाननेवाले दमनशील पुरुष कर्मबन्धनोंसे छूट जाते हैं ॥ ८ ॥

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९ ॥

जो लोग सर्वभूतोंमें दयावान्, सब प्राणियोंके विश्वासपात्र और हिंसावृत्तिसे रहित हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें गमन किया करते हैं ॥ ९ ॥

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः ।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १० ॥

जो लोग सदा परधनमें ममतारहित, परस्त्रीसे विरत रहते और धर्मसे प्राप्त हुए धनकाही उपभोग करते हैं, वे सब मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ १० ॥

मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये ।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ११ ॥

जो मनुष्य परस्त्रीके विषयमें मातृवत्, स्वसृवत् और दुहितृवत् व्यवहार करते हैं, वे भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ११ ॥

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं संतुष्टाः स्वधनेन च ।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १२ ॥

जो लोग सदा चोरीकार्यसे विरत रहते हैं, निजधनसे सन्तुष्ट और स्ववीर्यभाग्य उपजीव्य करके जीवन बिताते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ १२ ॥

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १३ ॥

जो लोग निज स्त्रीमें रत तथा ऋतुकालमें गमन करनेवाले हैं और जो लोग ग्राम्यसुख नहीं भोगते, वे सब मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ १३ ॥

परदारेषु ये नित्यं चारित्रावृतलोचनाः ।
यतेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १४ ॥

जो लोग सदा पराई स्त्रीके विषयमें सदाचारके सहारे अपने नेत्रोंको बंद किये रखते हैं, वे संयतेन्द्रिय और शीलपरायण मनुष्य स्वर्गमें गमन किया करते हैं ॥ १४ ॥

एष देवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा नरैः ।
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः ॥ १५ ॥

मनुष्योंको सदा इस देवताओंका बनाये हुए मार्गका सेवन करना चाहिये; यह राग और द्वेषको दूर करनेका मार्ग विद्वान् मण्डलीको सदा सेवनीय है ॥ १५ ॥

दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः ।
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः ।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः ॥ १६ ॥

दान, धर्म, तप, शील, शौच और दयायुक्त यह पथ जीविकाके निमित्त तथा धर्महेतुसे मनुष्यको सदा सेवनीय है; जो लोग स्वर्गवासकी अभिलाष करते हैं, उन्हें उक्तपथके अतिरिक्त सेवन करने योग्य इससे अधिक श्रेष्ठ मार्ग नहीं है ॥ १६ ॥

उमोवाच—

वाचाथ बध्यते येन मुच्यतेऽप्यथ वा पुनः ।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ ॥ १७ ॥

उमा बोली— हे अनघ भूतनाथ ! देव ! कौनसे वचनोंके सहारे अथवा उनसे कौनसे कर्मोंके द्वारा मनुष्य बद्ध होता है, या उसीसे मुक्त होता है ? आप मेरे समीप उन कर्मोंका वर्णन करिये ॥ १७ ॥

महेश्वर उवाच—

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १८ ॥

महादेव बोले— अपने लिये अथवा दूसरोंके निमित्त या परिहासके छलसे भी जो लोग इस लोकमें मिथ्या नहीं कहते, वे सब मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ १८ ॥

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १९ ॥

जीविकाके निमित्त अथवा धर्मके लिये या स्वेच्छापूर्वक जो लोग मिथ्या वचन नहीं कहते वे सब पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ १९ ॥

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २० ॥

जो लोग मृदु, बाधारहित, मधुर और निष्पाप भाषण स्वागतपूर्वक करते हैं, वेही मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २० ॥

कटुकां ये न भाषन्ते परुषां निष्ठुरां गिरम्।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २१ ॥

जो लोग निष्ठुर, अप्रिय और कडवे वचन नहीं कहते, जो पिशुनतारहित तथा साधु हैं, वे सब मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २१ ॥

पिशुनां ये न भाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतां मैत्रीं प्रभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २२ ॥

जो लोग मित्रोंमें फूट डालनेवाले चुगलीयुक्त वचन नहीं कहते, सत्य तथा हितकर बात कहा करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २२ ॥

वर्जयन्ति सदा सूच्यं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २३ ॥

जो लोग दूसरोंसे कठोरवचन और द्रोह करना छोड देते हैं तथा जो सब जीवोंमें समदर्शी और जितेन्द्रिय हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ २३ ॥

शठप्रलापाद्विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २४ ॥

जो लोग असत्प्रलापसे विरत रहते, विरुद्ध कार्योंको नहीं करते और प्रिय—सौम्य वचन कहा करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २४ ॥

न क्रोधाद्व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम् ।
शान्त्वं वदन्ति क्रुद्धापि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २५ ॥

जो लोग क्रोधपूर्वक हृदयविदारक वचन नहीं कहते, क्रुद्ध होके भी शान्त वाणी बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २५ ॥

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः ।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीया मृषा बुधैः ॥ २६ ॥

हे देवि ! मनुष्योंको इस ही प्रकार वाक्यजनित धर्म सदा सेवन करना योग्य है; इसलिये विद्वान् मनुष्योंको सदा शुभकर और सत्यफलप्रद वचन बोलना चाहिये और मिथ्या वचन कदापि न कहना चाहिये ॥ २६ ॥

उमोवाच—

मनसा बध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा ।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृक् ॥ २७ ॥

उमा बोली— हे महाभाग ! देवोंके देव पिनाकधारी ! पुरुष मनही मन जिन कर्मोंको करके बद्ध होता है, आप मेरे निकट उसे वर्णन करिये ॥ २७ ॥

महेश्वर उवाच—

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा ।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु ॥ २८ ॥

महादेव बोले— हे कल्याणि ! इस लोकमें मनुष्य सदा मानसधर्मोंसे संयुक्त होकर स्वर्गमें गमन करते हैं, उसे मैं कहता हूं, सुनो ॥ २८ ॥

दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततराकृतिः ।
बध्यते मानवो येन शृणु चान्यच्छुभानने ॥ २९ ॥

हे शुभानने ! दुष्ट विचार मनमें आनेसे मनुष्यके कार्य भी दूषित होते हैं; जिन कर्मोंसे मनुष्य बद्ध होता है, उसे सुनो ॥ २९ ॥

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं वीक्ष्य ये नराः ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३० ॥

यदि जनरहित वनके बीच पडा हुआ पराया धन दीख पडे, उस समय जो मनुष्य उसे हरनेके लिये मनसे भी कामना-हिंसा नहीं करते, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३० ॥

ग्रामे गृहे वा यद्‌द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम् ।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३१ ॥

ग्राम, गृह वा निर्जन वनमें जो धन रहता है, जो लोग उसे कभी अभिनन्दन नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३१ ॥

तथैव परदारान्ये कामवृत्तान्रहोगतान् ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार जो लोग एकान्तमें स्थित कामासक्त पराई स्त्रियोंकी मनसे भी कामना नहीं करते, वे सब मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३२ ॥

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः ।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३३ ॥

जो मनुष्य शत्रु वा मित्रको देखकर समान भावसे और मैत्रीसे वार्त्ता करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३३ ॥

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः ।
स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३४ ॥

जो लोग शास्त्रज्ञ, दयावान्, पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ हैं और निज धनसे सन्तुष्ट रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३४ ॥

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रचित्तपराः सदा ।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३५ ॥

जिनका कोई वैरी नहीं है, जो लोग किसी कार्यको करके आसक्तियुक्त नहीं होते, जिनके चित्तमें सदा मित्रभाव रहता है, तथा जो सब जीवोंमें दयावान् हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३५ ॥

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः ।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३६ ॥

जो लोग श्रद्धावान्, दयावान्, मनोज्ञ और मनोज्ञजनप्रिय तथा हर एक धर्मों और अधर्मोंको जाननेवाले हैं, वे सब मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३६ ॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३७ ॥

हे देवि ! जो मनुष्य शुभाशुभ कर्मोंके फलसंचयके विषयमें परिणामके ज्ञाता हैं, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३७ ॥

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः सदा ।
समतां समनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३८ ॥

जो लोग सदा न्यायशील, गुणयुक्त, देव-द्विजपरायण और सदा समान भावको प्राप्त हैं, वे सब मनुष्य स्वर्गमें गमन करते हैं ॥ ३८ ॥

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः ।
स्वर्गमार्गोपगा भूयः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ३९ ॥

हे देवि ! शुभकर्मोंके फलोंसे जो स्वर्गलोकके मार्गमें स्थित हैं, उन्हें मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया । अब फिर तुम कौनसा विषय सुननेकी इच्छा करती हो ? ॥ ३९ ॥

उमोवाच—

महान्मे संशयः कश्चिन्मर्त्यान्प्रति महेश्वर ।
तस्मात्त्वं नैपुणेनाद्य ममाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ ४० ॥

उमा बोली— हे महेश्वर ! मनुष्योंके विषयमें मुझे एक महान् सन्देह है, इसलिये आप मेरे समीप निपुण भावसे उस सन्दिग्ध विषयकी व्याख्या करिये ॥ ४० ॥

केनायुर्लभते दीर्घं कर्मणा पुरुषः प्रभो ।
तपसा वापि देवेश केनायुर्लभते महत् ॥ ४१ ॥

हे प्रभु ! मनुष्यको किस कर्मोंसे दीर्घायु प्राप्त होती है ? हे देवेश ! किस तपस्यासे महत् परमायु मिलती है ? ॥ ४१ ॥

क्षीणायुः केन भवति कर्मणा भुवि मानवः ।
विपाकं कर्मणां देव वक्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ ४२ ॥

भूमण्डलमें मनुष्य किस कर्मोंसे क्षीणायु हुआ करता है ? हे अनिन्दित देव ! आपको कर्मोंका विपाक वर्णन करना उचित है ॥ ४२ ॥

अपरे च महाभोगा मन्दभोगास्तथापरे ।
अकुलीनास्तथा चान्ये कुलीनाश्च तथापरे ॥ ४३ ॥

कोई कोई महाभाग्यशाली और कोई मन्दभागी हुआ करते हैं, कोई कुलीन और कोई अकुलीन होते हैं ॥ ४३ ॥

दुर्दर्शाः केचिदाभान्ति नराः काष्ठमया इव ।
प्रियदर्शास्तथा चान्ये दर्शनादेव मानवाः ॥ ४४ ॥

कोई कोई मनुष्य दुर्दशापन्न होकर मानो काष्ठमय रूपसे मालूम होते हैं, उनकी ओर देखना कठिन होता है; कोई दर्शन होते ही मन प्रसन्न करते हैं, उनकी ओर देखना प्रिय लगता है ॥ ४४ ॥

×

कुप्रज्ञाः केचिदाभान्ति केचिदाभान्ति पण्डिताः ।
महाप्रज्ञास्तथैवान्ये ज्ञानविज्ञानदर्शिनः ॥ ४५ ॥

कोई देखते ही दुर्बुद्धिरूपसे मालूम होते हैं । कोई महाबुद्धिमान् पण्डित और कोई ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न महापंडित दीखते हैं ॥ ४५ ॥

अल्पाबाधास्तथा केचिन्महाबाधास्तथापरे ।
दृश्यन्ते पुरुषा देव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ ४६ ॥

कोई अल्प बाधायुक्त हैं, कितने ही महापीडाग्रस्त दिखाई देते हैं । हे देव ! पुरुषोंमें ऐसी विशेषता किसलिये दिखाई देती है ? उसे आपको यथार्थ वर्णन करना उचित है ॥ ४६ ॥

महेश्वर उवाच—

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि देवि कर्मफलोदयम् ।
मर्त्यलोके नराः सर्वे येन स्वं भुञ्जते फलम् ॥ ४७ ॥

महादेव बोले— हे देवि ! अच्छा, मैं तुमसे कर्मफलोदय कहता हूं; मर्त्यलोकमें सब मनुष्य जिसके सहारे निज कर्मफल भोगते हैं, उसे सुनो ॥ ४७ ॥

प्राणातिपाती यो रौद्रो दण्डहस्तोद्यतस्तथा ।
नित्यमुद्यतदण्डश्च हन्ति भूतगणान्नरः ॥ ४८ ॥

हे देवि ! जो पुरुष प्राणवध करनेमें सदा दण्डहस्त होकर भयङ्कर भावसे उद्यत रहता है और सदा शस्त्र उठाये प्राणियोंको मारता है ॥ ४८ ॥

निर्दयः सर्वभूतानां नित्यमुद्वेगकारकः ।
अपि कीटपिपीलानामशरण्यः सुनिर्घृणः ॥ ४९ ॥

और जो मनुष्य निर्दयी तथा सर्व भूतोंको उद्वेगमें डालता है; कीट, चींटी प्रभृतिके भी अशरण्य तथा अत्यन्त क्रूर है ॥ ४९ ॥

एवंभूतो नरो देवि निरयं प्रतिपद्यते ।
विपरीतस्तु धर्मात्मा रूपवानभिजायते ॥ ५० ॥

ऐसा मनुष्य नरकमें डूबता है और इसके विपरीत पुरुष धर्मात्मा तथा रूपवान् होकर जन्मता है ॥ ५० ॥

निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः ।
यातनां निरये रौद्रां स कृच्छ्रां लभते नरः ॥ ५१ ॥

हिंसक मनुष्य नरकमें जाता है और अहिंसक पुरुष स्वर्गमें गमन करता करता है । नरकमें पडके मनुष्य घोर कष्टयुक्त यातना भोग करता है ॥ ५१ ॥

अथ चेन्निरयात्तस्मात्समुत्तरति कर्हिचित् ।
मानुष्यं लभते चापि हीनायुस्तत्र जायते ॥ ५२ ॥

जो कोई मनुष्य कदाचित् उस नरकसे छुटकारा पाता है, तो वह मनुष्यजन्म पाके वहां हीनायु हुआ करता है ॥ ५२ ॥

पापेन कर्मणा देवि बद्धो हिंसारतिर्नरः ।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते ॥ ५३ ॥

हे देवि ! पाप कर्मसे बद्ध हुआ हिंसामें रत मनुष्य सर्व भूतोंका अप्रिय तथा अल्पायु होके जन्मता है ॥ ५३ ॥

यस्तु शुक्लाभिजातीयः प्राणिघातविवर्जकः ।
निक्षिप्तदण्डो निर्दण्डो न हिनस्ति कदाचन ॥ ५४ ॥

जो पवित्र वंशमें जन्म ग्रहण करता है, प्राणिहिंसावर्जित है, वह शस्त्ररहित और दण्डहीन होकर कदापि हिंसा नहीं करता ॥ ५४ ॥

न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते ।
सर्वभूतेषु सस्नेहो यथात्मनि तथापरे ॥ ५५ ॥

न मारता है, मारनेकी आज्ञा नहीं देता और मारनेवालेका अनुमोदन करनेमें विरत रहता है, सब जीवोंके विषयमें स्नेहवान् हुआ करता है, और अपने समान दूसरेको भी जानता है ॥ ५५ ॥

ईदृशः पुरुषोत्कर्षो देवि देवत्वमश्नुते ।
उपपन्नान्सुखान्भोगानुपाश्नाति मुदा युतः ॥ ५६ ॥

हे देवि ! ऐसा श्रेष्ठ पुरुष देवत्वको प्राप्त करता है, वह हर्षित होकर उपपन्न सुखभोगोंको उपभोग किया करता है ॥ ५६ ॥

अथ चेन्मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते ।
तत्र दीर्घायुरुत्पन्नः स नरः सुखमेधते ॥ ५७ ॥

अनन्तर यदि कदाचित् वह मनुष्यलोकमें जन्म लेता है, तो दीर्घायु होकर सुख भोग किया करता है ॥ ५७ ॥

एवं दीर्घायुषां मार्गः सुवृत्तानां सुकर्मणाम् ।
प्राणिहिंसाविमोक्षेण ब्रह्मणा समुदीरितः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥ ५७१० ॥

दीर्घायु, सच्चरित्र, सुकर्मशील मनुष्योंका प्राणिहिंसाविमोक्षवशसे यह पथ ब्रह्माके द्वारा वर्णित हुआ है ॥ ५८ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३२ ॥ ५७१० ॥

: १३३ :

उमोवाच—

किंशीलाः किंसमाचाराः पुरुषाः कैश्च कर्मभिः ।
स्वर्गं समभिपद्यन्ते संप्रदानेन केन वा ॥ १ ॥

उमा बोलीं– मनुष्य कैसे स्वभाव, शील, किस प्रकारके आचार और व्यवहारसे युक्त होकर किन कर्मों तथा कैसे दानके सहारे स्वर्गलोक पाते हैं ? ॥ १ ॥

महेश्वर उवाच—

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता दीनान्धकृपणादिषु ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानां वाससां च प्रदायकः ॥ २ ॥

महादेव बोले– हे देवि ! जो मनुष्य दाता है और ब्राह्मणोंका सम्मान करता है; दीन, अन्ध और कृपण आदिको भक्ष्य, भोज्य, अन्न, पान, वस्त्र, तथा भूषण प्रदान करता है ॥ २ ॥

प्रतिश्रयान्सभाः कूपान्प्रपाः पुष्करिणीस्तथा ।
नैत्यकानि च सर्वाणि किमिच्छकमतीव च ॥ ३ ॥

निवासस्थान, धर्मशाला, कूप, प्याऊ, तलाई आदि तैयार कराता है और नित्य प्रयोजनीय वस्तुओं तथा जो मनुष्य जिस वस्तुके लिये प्रार्थना करता उसे उसका दान करता है ॥३॥

आसनं शयनं यानं धनं रत्नं गृहांस्तथा ।
सस्यजातानि सर्वाणि गाः क्षेत्राण्यथ योषितः ॥ ४ ॥

आसन, शय्या, सवारी, धन, रत्न, गृह, सब प्रकारके सस्य, गौ, खेत, स्त्रीप्रभृतिका ॥४॥

सुप्रतीतमना नित्यं यः प्रयच्छति मानवः ।
एवंभूतो मृतो देवि देवलोकेऽभिजायते ॥ ५ ॥

जो मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर सदा प्रदान करता है, देवि ! ऐसा मनुष्य मरनेके बाद देवलोकमें जन्म लेता है ॥ ५ ॥

तत्रोष्य सुचिरं कालं भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।
सहाप्सरोभिर्मुदितो रमित्वा नन्दनादिषु ॥ ६ ॥

वह वहांपर बहुत समयतक उत्तम भोगोंको भोग करते हुए अप्सराओंके सङ्ग प्रमुदित होकर नन्दन प्रभृति वनोंमें क्रीडा करता है ॥ ६ ॥

तस्मात्स्वर्गाच्च्युतो लोकान्मानुषेषूपजायते ।
महाभोगे कुले देवि धनधान्यसमाचिते ॥ ७ ॥

हे देवि ! स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर वह पुरुष मनुष्यलोकमें धनधान्ययुक्त होकर महाकुलमें जन्मता है ॥ ७ ॥

तत्र कामगुणैः सर्वैः समुपेतो मुदा युतः ।
महाभोगो महाकोशो धनी भवति मानवः ॥ ८ ॥

वहां समस्त कामगुणयुक्त और हर्षित होकर वह महाभोग मनुष्य महाकोषसम्पन्न तथा धनवान् होता है ॥ ८ ॥

एते देवि महाभोगाः प्राणिनो दानशीलिनः ।
ब्रह्मणा वै पुरा प्रोक्ताः सर्वस्य प्रियदर्शनाः ॥ ९ ॥

ब्रह्माने पहले ही कहा है, कि ये दानशील महान् भोगोंसे युक्त प्राणिगण सबको ही प्रिय-दर्शन होते हैं ॥ ९ ॥

अपरे मानवा देवि प्रदानकृपणा द्विजैः ।
याचिता न प्रयच्छन्ति विद्यमानेऽप्यबुद्धयः ॥ १० ॥

हे देवि ! दूसरे निर्बुद्धि मनुष्य दान विषयमें कृपण होकर द्विजोंको मांगनेपर धन विद्यमान रहते भी दान नहीं करते ॥ १० ॥

दीनान्धकृपणान्दृष्ट्वा भिक्षुकानतिथीनपि ।
याच्यमाना निवर्तन्ते जिह्वालोभसमन्विताः ॥ ११ ॥

वे जिह्वालोभयुक्त होकर दीन, अन्ध, कृपण, भिक्षुक और अतिथियोंको मांगनेपर भी अन्न देनेसे विमुख हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

न धनानि न वासांसि न भोगान्न च काञ्चनम् ।
न गावो नान्नविकृतिं प्रयच्छन्ति कदाचन ॥ १२ ॥

वे लोग धन, वस्त्र, भोग्यवस्तु, सुवर्ण, गौ तथा अन्नकी नाना प्रकारकी वस्तुएं कदाचित् किञ्चिन्मात्र प्रदान नहीं करते ॥ १२ ॥

अप्रवृत्तास्तु ये लुब्धा नास्तिका दानवर्जिताः ।
एवंभूता नरा देवि निरयं यान्त्यबुद्धयः ॥ १३ ॥

वे लोग दान विषयमें निवृत्त, लोभी, नास्तिक तथा दानरहित होते हैं । हे देवि ! ऐसे अल्पबुद्धिवाले मनुष्य नरकमें गमन करते हैं ॥ १३ ॥

ते चेन्मनुष्यतां यान्ति यदा कालस्य पर्ययात् ।
धनरिक्ते कुले जन्म लभन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ १४ ॥

कालक्रमसे जब उन्हें फिर मनुष्यत्व प्राप्त होता है, तब वे अल्पबुद्धि मनुष्य धनहीन कुलमें जन्मते हैं ॥ १४ ॥

क्षुत्पिपासापरीताश्च सर्वभोगबहिष्कृताः ।
निराशाः सर्वभोगेभ्यो जीवन्त्यधमजीविकाम् ॥ १५ ॥
क्षुधा-प्यासके युक्त, सब भोगोंसे पृथक् और सब भोगोंसे निराश होकर अधम-
आहारे जीवित रहते हैं ॥ १५ ॥

अल्पभोगकुले जाता अल्पभोगरता नराः ।
अनेन कर्मणा देवि भवन्त्यधनिनो नराः ॥ १६ ॥
इन्हीं पापकर्मोंसे मनुष्य अल्पभोगयुक्त कुलमें जन्मते और अल्पभोगमें रत तथा
ा करते हैं ॥ १६ ॥

अपरे स्तम्भिनो नित्यं मानिनः पापतो रताः ।
आसनार्हस्य ये पीठं न प्रयच्छन्त्यचेतसः ॥ १७ ॥
नके सिवा दूसरे मनुष्य धनगर्वसे अभिमानी, स्तम्भित और पापरत होते हैं, वे
देने योग्य माननीय पुरुषोंको आसन प्रदान नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

मार्गार्हस्य च ये मार्गं न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः ।
पाद्यार्हस्य च ये पाद्यं न ददत्यल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥
मनुष्य पथप्रदानके योग्य पुरुषोंको मार्ग नहीं देते; ये तुच्छबुद्धि पुरुष पाद्य
मनुष्योंको पाद्य प्रदान नहीं करते ॥ १८ ॥

अर्घार्हान्न च सत्कारैरर्चयन्ति यथाविधि ।
अर्घ्यमाचमनीयं वा न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः ॥ १९ ॥
योग्य पुरुषोंका सत्कार करके विधिपूर्वक पूजा नहीं करते अथवा वे मूर्ख मनुष्य
उनको अर्घ्य या आचमनके लिये जल नहीं देते हैं ॥ १९ ॥

गुरुं चाभिगतं प्रेम्णा गुरुवन्न बुभूषते ।
अभिमानप्रवृत्तेन लोभेन समवस्थिताः ॥ २० ॥
॥ हुआ देखकर प्रीतिपूर्वक उसके सङ्ग गुरुयोग्य व्यवहार नहीं करते, अभिमान
े परिपूरित हुआ करते हैं ॥ २० ॥

संमान्यांश्चावमन्यन्ते वृद्धान्परिभवन्ति च ।
एवंविधा नरा देवि सर्वे निरयगामिनः ॥ २१ ॥
ोगोंकी अवज्ञा करते और वृद्धोंका तिरस्कार किया करते हैं, हे देवि ! ऐसा
सारे मनुष्य नरकगामी होते हैं ॥ २१ ॥

ते वै यदि नरास्तस्मान्निरयादुत्तरन्ति वै ।
वर्षपूगैस्ततो जन्म लभन्ते कुत्सिते कुले ॥ २२ ॥
वे मनुष्य अनेक वर्षोंके अनन्तर कदाचित् महानरकसे बाहिर होकर अत्यन्त निन्दित नीच कुलमें जन्मते हैं ॥ २२ ॥

श्वपाकपुल्कसादीनां कुत्सितानामचेतसाम् ।
कुलेषु तेषु जायन्ते गुरुवृद्धापचायिनः ॥ २३ ॥
जो लोग गुरु और वृद्ध लोगोंकी अवज्ञा करते हैं, वे चाण्डाल, पुल्कस प्रभृति निर्बुद्धि लोगोंके निन्दित कुलमें उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ २३ ॥

न स्तम्भी न च मानी यो देवताद्विजपूजकः ।
लोकपूज्यो नमस्कर्ता प्रश्रितो मधुरं वदन् ॥ २४ ॥
जो अभिमानी तथा अहंकारी नहीं है और देव ब्राह्मणोंकी पूजा करता है, वह लोगोंके बीच पूज्य माना जाता है। जो गुरुजनोंको नमस्कार करता और विनययुक्त होके मधुरवचन कहता है ॥ २४ ॥

सर्ववर्णप्रियकरः सर्वभूतहितः सदा ।
अद्वेषी सुमुखः श्लक्ष्णः स्निग्धवाणीप्रदः सदा ॥ २५ ॥
वह सब वर्णोंको प्रिय तथा सदा सर्वभूतोंका हितकरनेवाला है। द्वेष न करनेवाला, सुमुखशाली, अत्यन्त मृदुभाषी और जो स्नेहभरा वचन कहता है ॥ २५ ॥

स्वागतेनैव सर्वेषां भूतानामविहिंसकः ।
यथार्हसत्क्रियापूर्वमर्चयन्नुपतिष्ठति ॥ २६ ॥
जो स्वागतप्रश्नसे कोमल वचन बोलता है, किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करता, अतिथियोंकी यथायोग्य सत्कारसे पूजा करता है ॥ २६ ॥

मार्गार्हाय ददन्मार्गं गुरुं गुरुवदर्चयन् ।
अतिथिप्रग्रहरतस्तथाभ्यागतपूजकः ॥ २७ ॥
पथप्रदान करने योग्य पुरुषको पथ देता है, बडे लोगोंकी गुरुकी भांति पूजा किया करता है; जो अतिथिसेवामें अनुरक्त रहता और अभ्यागतोंकी पूजा करता है ॥ २७ ॥

एवंभूतो नरो देवि स्वर्गतिं प्रतिपद्यते ।
ततो मानुषतां प्राप्य विशिष्टकुलजो भवेत् ॥ २८ ॥
हे देवि ! ऐसा मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है। अनन्तर मनुष्यत्व पाके श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ॥ २८ ॥

तत्रासौ विपुलैर्भोगैः सर्वरत्नसमायुतः ।
यथार्हदाता चार्हेषु धर्मचर्यापरो भवेत् ॥ २९ ॥
वहांपर वही पुरुष सब रत्नोंसे युक्त विपुल भोगोंके द्वारा पूज्य पुरुषोंको यथायोग्य दान करता और धर्मचर्यापरायण होता है ॥ २९ ॥

संमतः सर्वभूतानां सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्वकर्मफलमाप्नोति स्वयमेव नरः सदा ॥ ३० ॥
मनुष्य सदाही सब प्राणियोंको मान्य और सब लोगोंके पूज्य होकर सदा स्वयं स्वकर्मका फल पाता है ॥ ३० ॥

उदात्तकुलजातीय उदात्ताभिजनः सदा ।
एष धर्मो मया प्रोक्तो विधात्रा स्वयमीरितः ॥ ३१ ॥
ऐसा मनुष्य श्रेष्ठ कुलमें जन्मता और सदा उत्तम महत् कुल और जातिको प्रकाशित किया करता है । मैंने जो यह धर्म विषय कहा है, इसे स्वयं विधाताने वर्णन किया था ॥ ३१ ॥

यस्तु रौद्रसमाचारः सर्वसत्त्वभयंकरः ।
हस्ताभ्यां यदि वा पद्भ्यां रज्ज्वा दण्डेन वा पुनः ॥ ३२ ॥
जिस मनुष्यका व्यवहार अत्यन्त भयङ्कर है, जिसको देखते ही सब प्राणी भयभीत होते हैं, जो हाथ, पांव, रस्सी वा दण्ड ॥ ३२ ॥

लोष्टैः स्तम्भैरुपायैर्वा जन्तून्बाधति शोभने ।
हिंसार्थं निकृतिप्रज्ञः प्रोद्वेजयति चैव ह ॥ ३३ ॥
लोष्ट, स्तम्भ अथवा दूसरे किसी उपायसे प्राणियोंको मारनेके लिये दौडता है, हे शोभने ! जिसकी बुद्धिवृत्ति हिंसाके निमित्त निकृष्ट पथमें भ्रमण करती है, जो सब जीवोंको व्याकुल करता है ॥ ३३ ॥

उपक्रामति जन्तूंश्च उद्वेगजननः सदा ।
एवंशीलसमाचारो निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥
सदा प्राणियोंको उद्वेगजनक होकर उन्हें आक्रमण करता है, ऐसे व्यवहारोंसे युक्त पुरुष नरकमें गमन किया करता है ॥ ३४ ॥

स चेन्मानुषतां गच्छेद्यदि कालस्य पर्ययात् ।
बह्वाबाधपरिक्लिष्टे सोऽधमे जायते कुले ॥ ३५ ॥
कालक्रमसे वह पुरुष मानुषत्व पाके अनेक प्रकारकी बाधा और क्लेशोंसे युक्त और अधम वंशमें उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

लोकद्वेष्योऽधमः पुंसां स्वयं कर्मकृतैः फलैः ।
एष देवि मनुष्येषु बोद्धव्यो ज्ञातिबन्धुषु ॥ ३६ ॥

जगत्में द्वेषी मनुष्य सब पुरुषोंसे अधम है। हे देवि! यह जान रखो कि, अपने किये हुए कर्मोंसेही मनुष्य स्वजनों तथा बान्धव प्रभृतिके बीच अधम हुआ करता है ॥ ३६ ॥

अपरः सर्वभूतानि दयावाननुपश्यति ।
मैत्रदृष्टिः पितृसमो निर्वैरो नियतेन्द्रियः ॥ ३७ ॥

इसके विपरीत जो सब जीवोंके प्रति दयावान् होता है, सबको मित्र मानता है, सबके ऊपर पितासमान प्रेम करता है, शत्रुतारहित, नियतेन्द्रिय ॥ ३७ ॥

नोद्वेजयति भूतानि न विहिंसयते तथा ।
हस्तपादैः सुनियतैर्विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ॥ ३८ ॥

जो जीवोंको व्याकुल तथा दुःखित नहीं करता; और भूतोंका घात नहीं करता; उत्तम नियमित हाथ पांवके सहारे सब प्राणियोंका विश्वासपात्र होता है ॥ ३८ ॥

न रज्ज्वा न च दण्डेन न लोष्टैर्नायुधेन च ।
उद्वेजयति भूतानि श्लक्ष्णकर्मा दयापरः ॥ ३९ ॥

मृदुकर्म करनेवाला दयावान् मनुष्य रस्सी, दण्ड, लोष्ट वा शस्त्रोंसे जीवोंको उद्वेगयुक्त नहीं करता ॥ ३९ ॥

एवंशीलसमाचारः स्वर्गे समुपजायते ।
तत्रासौ भवने दिव्ये मुदा वसति देववत् ॥ ४० ॥

ऐसे स्वभाव और व्यवहारसे युक्त पुरुष स्वर्गलोकमें जाकर सुरपुरके दिव्य स्थानोंमें देवताओंकी भांति निवास किया करता है ॥ ४० ॥

स चेत्कर्मक्षयान्मर्त्यो मनुष्येषूपजायते ।
अल्पाबाधो निरीतीकः स जातः सुखमेधते ॥ ४१ ॥

वह मनुष्य पुण्य कर्मोंका क्षय होनेपर मनुष्यलोकमें जन्म लेकर, अल्प बाधायुक्त और भयमुक्त होकर सुखसमृद्धि भोग किया करता है ॥ ४१ ॥

सुखभागी निरायासो निरुद्वेगः सदा नरः ।
एष देवि सतां मार्गो बाधा यत्र न विद्यते ॥ ४२ ॥

वह सुखभागी, निरायास और सदा निरुद्वेगयुक्त होता है। हे देवि! यही साधु पुरुषोंका पथ है, इसमें कुछ भी बाधा नहीं है ॥ ४२ ॥

×

उमोवाच—

इमे मनुष्या दृश्यन्ते ऊहापोहविशारदाः ।

ज्ञानविज्ञानसंपन्नाः प्रज्ञावन्तोऽर्थकोविदाः

दुष्प्रज्ञाश्चापरे देव ज्ञानविज्ञानवर्जिताः ॥ ४३ ॥

उमा बोली— इनमें कुछ सिद्धान्त विशारद, ज्ञानविज्ञानयुक्त, बुद्धिमान् और अर्थज्ञ मनुष्य दीख पडते हैं । हे देव ! कुछ दूसरे लोग दुर्बुद्धि और ज्ञान–विज्ञानसे रहित दिखाई देते हैं ॥ ४३ ॥

केन कर्मविपाकेन प्रज्ञावान्पुरुषो भवेत् ।

अल्पप्रज्ञो विरूपाक्ष कथं भवति मानवः ।

एतं मे संशयं छिन्धि सर्वधर्मविदां वर ॥ ४४ ॥

हे विरूपाक्ष ! किन विशेष कर्मोंके फलसे मनुष्य प्रज्ञावान् होता है ? और किस प्रकार अल्पबुद्धि हुआ करता है ? हे सर्वधर्मज्ञश्रेष्ठ ! आप मेरा यह सन्देह दूर करिये ॥ ४४ ॥

जात्यन्धाश्चापरे देव रोगार्ताश्चापरे तथा ।

नराः क्लीबाश्च दृश्यन्ते कारणं ब्रूहि तत्र वै ॥ ४५ ॥

हे देव ! मनुष्योंके बीच कोई कोई अन्धे ही उत्पन्न होते हैं, कितने ही रोगी और कितने ही क्लीव दीखते हैं; इस विषयका कारण वर्णन करिये ॥ ४५ ॥

महेश्वर उवाच—

ब्राह्मणान्वेदविदुषः सिद्धान्धर्मविदस्तथा ।

परिपृच्छन्त्यहरहः कुशलाकुशलं तथा ॥ ४६ ॥

महादेव बोले— जो निपुण लोग सिद्ध, वेद जाननेवाले धर्मज्ञ बुद्धिमान् ब्राह्मणोंको प्रतिदिन उनकी कुशल पूछते हैं ॥ ४६ ॥

वर्जयन्त्यशुभं कर्म सेवमानाः शुभं तथा ।

लभन्ते स्वर्गतिं नित्यमिह लोके सुखं तथा ॥ ४७ ॥

और सदा शुभ कर्मकी सेवा करते हुए अशुभ कर्मोंको परित्याग किया करते हैं; वे लोग इस लोकमें सुख भोगकर स्वर्गगति प्राप्त करते हैं ॥ ४७ ॥

स चेन्मानुषतां याति मेधावी तत्र जायते ।

श्रुतं प्रज्ञानुगं चास्य कल्याणमुपजायते ॥ ४८ ॥

यदि वह फिर मनुष्यजन्म पाता तो बुद्धिमान् होता है और शास्त्र उसकी बुद्धिका अनुसरण करता है और वह कल्याण प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

परदारेषु ये मूढाश्चक्षुर्दुष्टं प्रयुञ्जते ।
तेन दुष्टस्वभावेन जात्यन्धास्ते भवन्ति ह ॥ ४९ ॥

जो महामूढ मनुष्य पराई स्त्रियोंकी ओर दोषभरी दृष्टि डालते हैं, वे उस ही दुष्ट स्वभावसे जन्मान्ध होते हैं ॥ ४९ ॥

मनसा तु प्रदुष्टेन नग्नां पश्यन्ति ये स्त्रियम् ।
रोगार्तास्ते भवन्तीह नरा दुष्कृतकर्मिणः ॥ ५० ॥

जो लोग दुष्टचित्तसे नङ्गी स्त्रीको देखते हैं, वे पापी मनुष्य इस लोकमें रोगार्त हुआ करते हैं ॥ ५० ॥

ये तु मूढा दुराचारा वियोनौ मैथुने रताः ।
पुरुषेषु सुदुष्प्रज्ञाः क्लीबत्वमुपयान्ति ते ॥ ५१ ॥

जो सब दुर्बुद्धि, दुराचारी, मूढ मनुष्य विरुद्धयोनियों और पुरुषोंसे मैथुन करनेमें रत होते हैं, वे नपुंसक हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥

पशूंश्च ये बन्धयन्ति ये चैव गुरुतल्पगाः ।
प्रकीर्णमैथुना ये च क्लीबा जायन्ति ते नराः ॥ ५२ ॥

जो लोग पशुओंको बद्ध कराते, जो गुरुकी शय्यापर गमन करते और जो लोग वर्णसंकर जातिकी स्त्रियोंसे समागम करते हैं, वे सब मनुष्य नपुंसक हुआ करते हैं ॥ ५२ ॥

उमोवाच—

सावद्यं किं तु वै कर्म निरवद्यं तथैव च ।
श्रेयः कुर्वन्नवाप्नोति मानवो देवसत्तम ॥ ५३ ॥

उमा बोली— हे देवसत्तम ! कैसे कर्म बुरे और कौनसे निर्दोष-उत्तम हैं ? किन कर्मोंके करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है ? ॥ ५३ ॥

महेश्वर उवाच—

श्रेयांसं मार्गमातिष्ठन्सदा यः पृच्छते द्विजान् ।
धर्मान्वेषी गुणाकाङ्क्षी स स्वर्गं समुपाश्नुते ॥ ५४ ॥

महादेव बोले— जो कल्याणयुक्त पथकी खोज करता हुआ उस विषयमें ब्राह्मणोंसे प्रश्न करता है, जो धर्मान्वेषी और गुणका अभिलाषी है, वह स्वर्ग भोग करता है ॥ ५४ ॥

यदि मानुषतां देवि कदाचित्स निगच्छति ।
मेधावी धारणायुक्तः प्राज्ञस्तत्राभिजायते ॥ ५५ ॥

हे देवि ! ऐसा मनुष्य यदि कदाचित् मनुष्यत्व लाभ करे, तो वह मेधावी, धारणाशक्तिसे युक्त और बुद्धिमान् होके उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

एष देवि सतां धर्मो धर्मान्यो भूतिकारकः ।
नृणां हितार्थाय तव मया वै समुदाहृतः ॥ ५६ ॥

हे देवि ! इसे ही साधुओंका कल्याणयुक्त धर्म जानना चाहिये; मनुष्योंके हितके निमित्त मैंने तुम्हारे समीप इस धर्मको वर्णन किया है ॥ ५६ ॥

उमोवाच—

अपरे स्वल्पविज्ञाना धर्मविद्वेषिणो नराः ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो नेच्छन्ति परिसर्पितुम् ॥ ५७ ॥

उमा बोली– कितने ही अल्पविज्ञानयुक्त धर्मद्वेषी मनुष्य वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके समीप जानेकी इच्छा नहीं करते ॥ ५७ ॥

व्रतवन्तो नराः केचिच्छ्रद्धादमपरायणाः ।
अव्रता भ्रष्टनियमास्तथान्ये राक्षसोपमाः ॥ ५८ ॥

कोई कोई मनुष्य व्रतधारी, श्रद्धालु और जितेन्द्रिय होते हैं। कोई कोई व्रतहीन, कोई भ्रष्ट नियमवाले और कोई राक्षसके सदृश हैं ॥ ५८ ॥

यज्वानश्च तथैवान्ये निर्होमाश्च तथापरे ।
केन कर्मविपाकेन भवन्तीह वदस्व मे ॥ ५९ ॥

कोई विधिपूर्वक यज्ञ करते हैं, कितने ही होमरहित हैं; इसलिये कैसे कर्मविपाकके सहारे इस लोकमें मनुष्यगण ऐसे नैमित्तिक धर्मोंसे आक्रान्त हुआ करते हैं ? आप मेरे समीप इस विषयको वर्णन करिये ॥ ५९ ॥

महेश्वर उवाच—

आगमाल्लोकधर्माणां मर्यादाः पूर्वनिर्मिताः ।
प्रामाण्येनानुवर्तन्ते दृश्यन्ते हि दृढव्रताः ॥ ६० ॥

महादेव बोले– आगम शास्त्रोंमें लोगोंके धर्मकर्म और समस्त मर्यादा पहलेसे ही वर्णित हैं; दृढव्रती मनुष्य शास्त्रोंके प्रमाणका अनुसरण करते हुए दीखते हैं ॥ ६० ॥

अधर्मं धर्ममित्याहुर्ये च मोहवशं गताः ।
अव्रता नष्टमर्यादास्ते प्रोक्ता ब्रह्मराक्षसाः ॥ ६१ ॥

जो लोग मोहके वशीभूत होते हैं, वे अधर्मको ही धर्म कहते हैं; वेही अव्रती, मर्यादाभ्रष्ट और ब्रह्मराक्षस कहाते हैं ॥ ६१ ॥

ते चेत्कालकृतोद्योगात्संभवन्तीह मानुषाः ।
निर्होमा निर्वषट्कारास्ते भवन्ति नराधमाः ॥ ६२ ॥

वे मनुष्य समयके अनुसार इस लोकमें मनुष्य होकर उत्पन्न होके, होम तथा वषट्कारसे रहित तथा नराधम हुआ करते हैं ॥ ६२ ॥

एष देवि मया सर्वः संशयच्छेदनाय ते ।
कुशलाकुशलो नृणां व्याख्यातो धर्मसागरः ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥ ५७७३ ॥

हे देवि ! मैंने तुम्हारा सन्देह दूर करनेके लिये मनुष्योंके हिताहितयुक्त समस्त धर्मसागर वर्णन किया है ॥ ६३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३३ ॥ ५७७३ ॥

: १३४ :

महेश्वर उवाच—

परावरज्ञे धर्मज्ञे तपोवननिवासिनि ।
साध्वि सुभ्रु सुकेशान्ते हिमवत्पर्वतात्मजे ॥ १ ॥

महादेव बोले— हे भूत–भविष्यको जाननेवाली, धर्म जाननेवाली, तपोवननिवासिनी, साध्वि, उत्तम भौंओं और केशोंवाली, हिमपर्वतात्मजा ! ॥ १ ॥

दक्षे शमदमोपेते निर्ममे धर्मचारिणि ।
पृच्छामि त्वां वरारोहे पृष्टा वद ममेप्सितम् ॥ २ ॥

हे दक्षे ! शम–दमयुक्त, ममतारहित, धर्मचारिणी वरारोहे ! मैं तुमसे प्रश्न करता हूं; तुम पूछनेपर मेरे अभिलषित विषयको वर्णन करो ॥ २ ॥

सावित्री ब्रह्मणः साध्वी कौशिकस्य शची सती ।
मार्तण्डजस्य धूमोर्णा ऋद्धिर्वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥

ब्रह्माकी साध्वी भार्या सावित्री, इन्द्रकी पत्नी सती शची, मार्तण्डजकी भार्या धूमोर्णा, कुबेरकी पत्नी ऋद्धि, ॥ ३ ॥

वरुणस्य तथा गौरी सूर्यस्य च सुवर्चला ।
रोहिणी शशिनः साध्वी स्वाहा चैव विभावसोः ॥ ४ ॥

वरुणकी भार्या गौरी, सूर्यकी पत्नी सुवर्चला, चन्द्रमाकी साध्वी पत्नी रोहिणी, अग्निकी भार्या स्वाहा ॥ ४ ॥

अदितिः कश्यपस्याथ सर्वास्ताः पतिदेवताः ।
पृष्टाश्चोपासिताश्चैव तास्त्वया देवि नित्यशः ॥ ५ ॥

और कश्यपकी पत्नी अदिति, ये सभी स्त्रियां पतिव्रता देवियां हैं । हे देवि ! इन पतिव्रताओंसे तुमने सदा धर्मके विषयमें प्रश्न किया है और उनका सहवास किया है ॥ ५ ॥

तेन त्वां परिपृच्छामि धर्मज्ञे धर्मवादिनि ।
स्त्रीधर्मं श्रोतुमिच्छामि त्वयोदाहृतमादितः ॥ ६ ॥

हे धर्मवादिनी ! धर्मज्ञे ! इस ही निमित्त मैं तुमसे यह विषय पूछता हूं, तुम पहले स्त्रीधर्मका वर्णन करो, तुम्हारे मुखसे उसे आद्योपान्त मैं सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ६ ॥

सहधर्मचरी मे त्वं समशीला समव्रता ।
समानसारवीर्या च तपस्तीव्रं कृतं च ते ।
त्वया ह्युक्तो विशेषेण प्रमाणत्वमुपैष्यति ॥ ७ ॥

तुम मेरी सहधर्मिणी, समशीला और समव्रतधारिणी हो; तुम्हारा प्रभाव तथा बल मेरे समान है और तुमने तीव्र तपस्या भी की है, इसलिये तुम जो स्त्रीधर्म कहोगी वह विशेष रीतिसे प्रमाणस्वरूप हुआ करेगा ॥ ७ ॥

स्त्रियश्चैव विशेषेण स्त्रीजनस्य गतिः सदा ।
गौर्गां गच्छति सुश्रोणि लोकेष्वेषा स्थितिः सदा । ॥ ८ ॥

स्त्रियां ही विशेष करके स्त्रियोंके लिये सदा परमगति हैं, हे सुश्रोणि ! यह स्थिति परंपरा-क्रमसे सदा भूलोकमें प्रचलित है ॥ ८ ॥

मम चार्धं शरीरस्य मम चार्धाद्विनिःसृता ।
सुरकार्यकरी च त्वं लोकसंतानकारिणी ॥ ९ ॥

मेरा आधा शरीर मेरे अर्द्धशरीरसे बना है; तुम लोक संततिका विस्तारकारिणी होकर, सुरकार्य सिद्ध किया करती हो ॥ ९ ॥

तव सर्वः सुविदितः स्त्रीधर्मः शाश्वतः शुभे ।
तस्मादशेषतो ब्रूहि स्त्रीधर्मं विस्तरेण मे ॥ १० ॥

हे शुभे ! उस शाश्वत स्त्रीधर्मका तुम्हें भलीभांति ज्ञान है; इसलिये उत्तम रीतिसे विस्तार-पूर्वक तुम निजधर्मका वर्णन करो ॥ १० ॥

उमोवाच—

भगवन्सर्वभूतेश भूतभव्यभवोद्भव ।
त्वत्प्रभावादियं देव वाक्चैव प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

उमा बोली— हे सर्वभूतेश भूतभव्यभवोद्भव भगवन् ! देव ! तुम्हारी कृपा प्रभावसे ही मेरी यह वाणी प्रतिभा सम्पन्न होती है ॥ ११ ॥

इमास्तु नद्यो देवेश सर्वतीर्थोदकैर्युताः ।
उपस्पर्शनहेतोस्त्वा समीपस्था उपासते ॥ १२ ॥

हे देवेश ! ये सब नदियां तीर्थोंके जलसे युक्त होके तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करनेके लिये तुम्हारे समीप उपस्थित हुई हैं ॥ १२ ॥

एताभिः सह संमन्त्र्य प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
प्रभवन्योऽनहंवादी स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

इसलिये मैं इनके सङ्ग विचार करके क्रमशः विस्तारपूर्वक सब विषयोंको कहूंगी । हे भगवन् ! जो व्यक्ति समर्थ होकर भी अनहंवादी है, वही पुरुष कहाता है ॥ १३ ॥

स्त्री च भूतेश सततं स्त्रियमेवानुधावति ।
मया संमानिताश्चैव भविष्यन्ति सरिद्वराः ॥ १४ ॥

हे भूतेश ! स्त्री सदा स्त्रीका ही अनुसरण किया करती है । मेरे ऐसा कहनेसे ये श्रेष्ठ नदियां मेरे द्वारा सम्मानित होंगी ॥ १४ ॥

एषा सरस्वती पुण्या नदीनामुत्तमा नदी ।
प्रथमा सर्वसरितां नदी सागरगामिनी ॥ १५ ॥

यह नदियोंमें उत्तम पुण्यसलिला समुद्रगामिनी सरस्वती समस्त सरिताओंमें मुख्य मानी जाती है ॥ १५ ॥

विपाशा च वितस्ता च चन्द्रभागा इरावती ।
शतद्रुर्देविका सिन्धुः कौशिकी गोतमी तथा ॥ १६ ॥

विपाशा, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती, शतद्रू, देविका, सिन्धु, कौशिकी, गोतमी ॥१६॥

तथा देवनदी चेयं सर्वतीर्थाभिसंवृता ।
गगनाद्गां गता देवी गङ्गा सर्वसरिद्वरा ॥ १७ ॥

और सब तीर्थोंसे घिरी हुई सब नदियोंमें श्रेष्ठ देवनदी गङ्गादेवी जो आकाशसे पृथ्वी पर आई हैं, ये सब यहां विराजमान हैं ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा देवदेवस्य पत्नी धर्मभृतां वरा ।
स्मितपूर्वमिवाभाष्य सर्वास्ताः सरितस्तदा ॥ १८ ॥
अपृच्छद्देवमहिषी स्त्रीधर्मं धर्मवत्सला ।
स्त्रीधर्मकुशलास्ता वै गङ्गाद्याः सरितां वराः ॥ १९ ॥

धर्मचारिणी देवाधिदेव महादेवकी पत्नी, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, धर्मवत्सला, देवमहिषी, उमाने इतनी कथा कहके हंसकर उन स्त्रीधर्म जाननेवाली नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गा प्रभृतिको संबोधित करके स्त्रीधर्म विषयमें प्रश्न पूछा ॥ १८-१९ ॥

अयं भगवता दत्तः प्रश्नः स्त्रीधर्मसंश्रितः ।
तं तु संमन्त्र्य युष्माभिर्वक्तुमिच्छामि शंकरे ॥ २० ॥

ये भगवान् शिवने स्त्रीधर्म सम्बन्धीय प्रश्न किया है, मैं तुम लोगोंके सङ्ग परामर्श करके भगवान् शंकरके समीप यह विषय कहनेकी अभिलाषा करती हूं ॥ २० ॥

न ह्येकसाध्यं पश्यामि विज्ञानं भुवि कस्यचित् ।
दिवि वा सागरगमास्तेन वो मानयाम्यहम् ॥ २१ ॥
हे सागरगामिनी नदियो ! भूमण्डल अथवा स्वर्गलोकमें कोई विज्ञान एक व्यक्तिग्राह्य नहीं दीखता, इस ही निमित्त मैं तुम्हारी सम्माननाके साथ सलाह करती हूं ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच—
एवं सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः पृष्टाः पुण्यतमाः शिवाः ।
ततो देवनदी गङ्गा नियुक्ता प्रतिपूज्य ताम् ॥ २२ ॥
भीष्म बोले– इसही प्रकार जब उमाने उन कल्याणदायिनी परम पवित्र श्रेष्ठ नदियोंसे यह प्रश्न किया, तब देवनदी गङ्गा प्रत्युत्तर देनेमें सम्मानपूर्वक नियुक्त हुई ॥ २२ ॥

बह्वीभिर्बुद्धिभिः स्फीता स्त्रीधर्मज्ञा शुचिस्मिता ।
शैलराजसुतां देवीं पुण्या पापापहां शिवाम् ॥ २३ ॥
बुद्ध्या विनयसंपन्ना सर्वज्ञानविशारदा ।
सस्मितं बहुबुद्ध्याढ्या गङ्गा वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
अनेक भांतिकी बुद्धिसे युक्त, स्त्रीधर्मको जाननेवाली शुचिस्मिता, पुण्यमयी, पापको दूर करनेवाली, बुद्धिके सहित विनयसम्पन्न, सर्वज्ञान विशारदा, बहुबुद्धिशालिनी गङ्गा शैलराज–पुत्रीकी पूजा करके मुसकुराकर बोली ॥ २३–२४ ॥

धन्याः स्मोऽनुगृहीताः स्मो देवि धर्मपरायणा ।
या त्वं सर्वजगन्मान्या नदीर्मानयसेऽनघे ॥ २५ ॥
हे धर्मपरायणे देवि ! अनघे ! हम सब कोई धन्या और अनुग्रहकी पात्री हुई हैं; क्योंकि तुम समस्त जगत्की माननीय होकर भी नदीस्वरूपिणी हमारी सम्मानना करती हो ॥२५॥

प्रभवन्पृच्छते यो हि संमानयति वा पुनः ।
नूनं जनमदुष्टात्मा पण्डिताख्यां स गच्छति ॥ २६ ॥
जो समर्थ होकर भी दूसरोंसे पूछता और उन्हें सम्मानित करता है, तथा जिसके मनमें दुष्टता नहीं होती, मेरे मतसे वह धर्मज्ञ पण्डित कहे जाने योग्य है ॥ २६ ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नानूहापोहविशारदान् ।
प्रवक्तॄन्पृच्छते योऽन्यान्स वै ना पदमर्च्छति ॥ २७ ॥
जो ज्ञानविज्ञानयुक्त, ऊहापोहविशारद प्रवक्ताओं तथा अन्यान्य पुरुषोंसे पूंछके कार्य करता है, वह कदापि आपद्ग्रस्त नहीं होता ॥ २७ ॥

अन्यथा बहुबुद्ध्याढ्यो वाक्यं वदति संसदि ।
अन्यथैव ह्यहंमानी दुर्बलं वदते वचः ॥ २८ ॥

अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य सभाके बीच और तरहकी बात करता है और अहंवादी मनुष्य और ही तरहकी दुर्बल बातें कहा करता है ॥ २८ ॥

दिव्यज्ञाने दिवि श्रेष्ठे दिव्यपुण्ये सदोत्थिते ।
त्वमेवार्हसि नो देवि स्त्रीधर्ममनुशासितुम् ॥ २९ ॥

हे दिव्य ज्ञानयुक्त, द्युलोकमें मुख्य दिव्य पुण्योंसे सम्पन्न देवि ! तुमही हमारे निकट स्त्रीधर्मका उपदेश करने योग्य हो ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच—

ततः स्माराधिता देवी गङ्गया बहुभिर्गुणैः ।
प्राह सर्वमशेषेण स्त्रीधर्मं सुरसुन्दरी ॥ ३० ॥

अनन्तर सुरसुन्दरी देवी पार्वती गङ्गाके द्वारा अनेक प्रकारके गुणोंसे प्रशंसित होकर पूरी रीतिसे स्त्रीधर्म विषयोंको कहनेके लिये उद्यत हुई ॥ ३० ॥

स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रतिभाति यथाविधि ।
तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव प्रथितो भवेत् ॥ ३१ ॥

स्त्रीधर्म मुझे जिस प्रकार विधिपूर्वक मालूम है, उसे मैं कहती हूं, वह उसही प्रकार प्रख्यात होगा। सावधान होके सुनो ॥ ३१ ॥

स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः ।
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः ॥ ३२ ॥

विवाहके समय पहले बान्धवोंके द्वारा यह स्त्रीधर्म कन्यासे विहित हुआ है, जब वह अग्निके समीप पतिकी सहधर्मचारिणी होती है ॥ ३२ ॥

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥ ३३ ॥

जो उत्तम स्वभाव तथा श्रेष्ठ वचनवाली, सुशीला, सुखदर्शना, अपने पतिके सिवा दूसरे पुरुषमें मन न लगानेवाली और पतिके समक्ष सदा प्रसन्न मुखवाली है, वही धर्मचारिणी है ॥ ३३ ॥

सा भवेद्धर्मपरमा सा भवेद्धर्मभागिनी ।
देववत्सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति ॥ ३४ ॥

जो साध्वी स्त्री अपने पतिको देवके सदृश जानती है, वही धर्मपरायणा और धर्मके फलकी भागिनी होती है ॥ ३४ ॥

×

शुश्रूषां परिचारं च देववद्या करोति च ।

नान्यभावा ह्यविमनाः सुव्रता सुखदर्शना ॥ ३५ ॥

जो देवके समान पतिकी सेवा और परिचर्या करनेवाली, पतिके सिवा दूसरेसे प्रेम नहीं करती, कभी खिन्न नहीं रहती, उत्तम व्रतका पालन करती और जिसके दर्शनमात्रसे पतिको प्रसन्नता होती है ॥ ३५ ॥

पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते ।

या साध्वी नियताचारा सा भवेद्धर्मचारिणी ॥ ३६ ॥

सदा पुत्रके मुखसदृश पतिका मुख देखनेवाली और नियताचारी साध्वी स्त्री है, वह धर्मचारिणी होती है ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा दंपतिधर्मं वै सहधर्मकृतं शुभम् ।

अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥ ३७ ॥

पति–पत्नीको एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिये, यह शुभ दम्पतिधर्म सुनके जो नारी अनन्यचित्तवाली तथा प्रसन्नमुखी है, वही धर्मचारिणी हुआ करती है ॥ ३७ ॥

परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा वा क्रूरचक्षुषा ।

सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता ॥ ३८ ॥

पतिके निष्ठुर वचन कहने और क्रुद्ध नेत्रसे देखनेपर भी जो नारी स्वामीके संमुख प्रसन्न मुख होके स्थित रहती है, वही स्त्री पतिव्रता है ॥ ३८ ॥

न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्नो या निरीक्षते ।

भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद्धर्मचारिणी ॥ ३९ ॥

जो सुंदरी स्त्री पतिके सिवा चन्द्र, सूर्य तथा पुरुष नामधारी वृक्षोंकी ओर भी नहीं देखती, वह पतिव्रता वरारोहा स्त्री धर्मचारिणी होती है ॥ ३९ ॥

दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम् ।

पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४० ॥

जो स्त्री दरिद्र, रोगी, दीन वा पथसे थके हुए पतिकी पुत्रकी भांति सेवा करती है, वह धर्मफलकी भागिनी होती है ॥ ४० ॥

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत् ।

पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४१ ॥

जो नारी सावधान और गृहकार्योंमें दक्ष हो, जो पुत्रवती हो, पतिसे प्रेम करती तथा पतिको अपने प्राण समझती हो, वही धर्मभागिनी है ॥ ४१ ॥

शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यपरिमना सदा ।
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४२ ॥
जो नारी सदा प्रसन्नचित्तसे सदा पतिकी सेवा टहल करती है, जो विनयवती और अनन्यमना होकर बर्ताव करती है, वह नारी धर्मभागिनी है ॥ ४२ ॥

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा ।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४३ ॥
जिसके हृदयमें पतिके विषयमें जैसी प्रीति होती है, वैसी कामभोग, ऐश्वर्य और सुखके लिये भी अभिलाषा नहीं होती, वह नारी धर्मभागिनी होती है ॥ ४३ ॥

कल्योत्थानरता नित्यं गुरुशुश्रूषणे रता ।
सुसंमृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना ॥ ४४ ॥
भोरके समय उठनेका जिसे सदा अनुराग है, बड़ोंकी सेवा शुश्रूषा करनेमें जिसका मन लगता है, जो गृहको उत्तम रीतिसे साफ रखती और गोमयसे लीपती है ॥ ४४ ॥

अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा ।
देवतातिथिभृत्यानां निरुप्य पतिना सह ॥ ४५ ॥
जो सदा अग्निकार्योंमें तत्पर रहती, देवताओंको सदा पुष्प बलि प्रदान करती, पतिके सहित देवताओं, अतिथियों और सेवकोंको यथा रीतिसे दान करके ॥ ४५ ॥

शेषान्नमुपभुञ्जाना यथान्यायं यथाविधि ।
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते ॥ ४६ ॥
न्याय और विधिपूर्वक शेषान्न भोजन करती है, जिसके परिजन सदा हृष्ट, पुष्ट, सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रहते हैं, वह नारी धर्मभागिनी होती है ॥ ४६ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ तोषयन्ती गुणान्विता ।
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना ॥ ४७ ॥
जो उत्तम गुणवती सती सास-ससुरकी चरणवन्दना तथा सेवा करती और मातापिताके विषयमें भी सदा भक्ति किया करती है, वही तपस्विनी है ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणान्दुर्बलानाथान्दीनान्धकृपणांस्तथा ।
बिभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी ॥ ४८ ॥
जो नारी ब्राह्मण, दुर्बल, अनाथ, दीन, अन्धे और कृपापात्रोंको अन्न देकर प्रतिपालन करती है, वह पतिव्रतभागिनी होती है ॥ ४८ ॥

व्रतं चरति या नित्यं दुश्चरं लघुसत्त्वया।
पतिचित्ता पतिहिता सा पतिव्रतभागिनी ॥ ४९ ॥

जो अल्पप्राण होके भी सदा दुष्कर व्रतका आचरण करती है, तथा जो पतिमें चित्त लगाती है और पतिकी हितकारिणी है, वही पतिव्रतभागिनी होती है ॥ ४९ ॥

पुण्यमेतत्तपश्चैव स्वर्गश्चैष सनातनः।
या नारी भर्तृपरमा भवेद्भर्तृव्रता शिवा ॥ ५० ॥

जो नारी पतिको परम श्रेष्ठ जानती है, जो कल्याणी सती पतिव्रता होती है, उसके लिये पतिकी सेवा ही पुण्य है, पतिसेवा ही तपस्या और वही सनातन स्वर्ग है ॥ ५० ॥

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ॥ ५१ ॥

स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है, पति ही बन्धु और पति ही उनकी गति है; नारीके लिये पतिके समान दूसरा कोई सहारा नहीं है; और न दूसरा कोई देवता है ॥ ५१ ॥

पतिप्रसादः स्वर्गो वा तुल्यो नार्या न वा भवेत्।
अहं स्वर्गं न हीच्छेयं त्वय्यप्रीते महेश्वर ॥ ५२ ॥

स्त्रियोंके विषयमें पतिकी प्रसन्नता और स्वर्गवास समान नहीं होसकता। हे देव महेश्वर! तुम्हारे अप्रसन्न रहते मैं स्वर्गवासकी अभिलाषा नहीं करती ॥ ५२ ॥

यद्यकार्यमधर्मं वा यदि वा प्राणनाशनम्।
पतिर्ब्रूयाद्दरिद्रो वा व्याधितो वा कथंचन ॥ ५३ ॥
आपन्नो रिपुसंस्थो वा ब्रह्मशापार्दितोऽपि वा।
आपद्धर्माननुप्रेक्ष्य तत्कार्यमविशङ्कया ॥ ५४ ॥

पति यदि दरिद्र, किसी प्रकारकी व्याधिसे ग्रस्त, दुःखी, शत्रुके वशीभूत अथवा ब्रह्मशापयुक्त होके भी किसी अकार्य, अधर्म अथवा प्राणनाश करनेकी भी आज्ञा करे, उसे भी आपद्धर्म अवलोकन करके निःशङ्क भावसे करना योग्य है ॥ ५३-५४ ॥

एष देव मया प्रोक्तः स्त्रीधर्मो वचनात्तव।
या त्वेवंभाविनी नारी सा भवेद्धर्मभागिनी ॥ ५५ ॥

हे देव! यह मैंने तुम्हारी आज्ञासे स्त्रीधर्मका वर्णन किया है; जो नारी इन आचरणोंसे युक्त हो, वह पतिव्रत धर्मके फलकी भागिनी होती है ॥ ५५ ॥

भीष्म उवाच—

इत्युक्तः स तु देवेशः प्रतिपूज्य गिरेः सुताम्।
लोकान्विसर्जयामास सर्वैरनुचरैः सह ॥ ५६ ॥

भीष्म बोले— देवेश्वर महादेवने ऐसी कथा सुनके गिरिराजकुमारी पार्वतीका समादर करते हुए, अनुचरोंके सहित सब लोगोंको विदा किया ॥ ५६ ॥

ततो यथुर्भूतगणाः सरितश्च यथागतम् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव प्रणम्य शिरसा भवम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥ ५८३० ॥

अनन्तर भूतगणों, नदियों, गन्धर्वों और अप्सराओंने सिर झुकाके महादेवको प्रणाम करके अपने अपने स्थानोंको गमन किया ॥ ५७ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ चौंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३४ ॥ ५८३० ॥

: १३५ :

वैशंपायन उवाच—

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः ।
युधिष्ठिरः शांतनवं पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— युधिष्ठिरने अशेष रीतिसे सब धर्म कर्मों और पवित्र विषयोंको सुननेके अनन्तर शान्तनुनन्दनसे फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥

इस जगतमें एक ही देव कौन है और एक ही परम आश्रयस्थान कौन है ? मनुष्यवृन्द किस देव वा किस परम आश्रयकी स्तुति तथा पूजा करते हुए इस लोकमें शुभलाभ करते हैं ? ॥ २ ॥

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥ ३ ॥

सब धर्मोंके बीच कौनसा धर्म परम श्रेष्ठ रूपसे आपको सम्मत है ? किसका जप करनेसे जीव संसाररूपी बन्धनसे छूटता है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥ ४ ॥

भीष्म बोले— पुरुष सदा तत्पर होके जगत्के स्वामी, देवोंके प्रभु, अनन्त तथा श्रेष्ठ पुरुषोत्तमकी सहस्र नामोंसे स्तुति करे ॥ ४ ॥

तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायन्स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥ ५ ॥

उस ही अव्यय पुरुषकी नित्य भक्तिपूर्वक पूजा करे, यजमान मनुष्य उसीका ध्यान करे, उसीका स्तवन करे तथा उसीको ही नमस्कार करे ॥ ५ ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
उस जन्म-मृत्यु आदि छः विकारोंसे रहित सर्वलोकोंके महेश्वर, लोकाध्यक्ष नारायण विष्णुकी सदा स्तुति करनेसे मनुष्य सब दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्य, सर्वधर्मज्ञ, सर्वलोककीर्तिवर्धन, लोकनाथ, महद्भूत और सर्वभूतोंकी उत्पत्तिके कारण नारायणकी स्तुति करे ॥ ७ ॥

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥ ८ ॥
यह धर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ और यही मुझे अभिमत है; मनुष्य कमलनयन भगवान् वासुदेवका सदा भक्तिपूर्वक गुणसंकीर्तन करते हुए स्तुतियोंसे अर्चन करे ॥ ८ ॥

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
जो परम महान् तेज, जो परम महान् तप, जो परम महत् ब्रह्म तथा जो परम आश्रय है ॥९॥

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥
सब पवित्र पदार्थोंके बीच पवित्र, जो सब मङ्गलोंका मङ्गल, जो देवताओंका देवता और भूतोंका अव्यय पिता है ॥ १० ॥

यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥ ११ ॥
जिससे आदि युगमें सब प्राणी उत्पन्न होके, युगक्षयमें जिसमें फिर लीन लीन होते हैं ॥११॥

तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते ।
विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥ १२ ॥
हे पृथ्वीनाथ ! उस लोकप्रधान, जगन्नाथ भगवान् विष्णुके पाप और संसार भयको दूर करनेवाले सहस्रनामोंको मुझसे सुनो । महानुभाव नारायणके जो नाम ॥ १२ ॥

यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥ १३ ॥
गुणके कारण विख्यात हैं तथा ऋषियोंके द्वारा गाये गये हैं, वे सब नाम चतुर्वर्ग फलप्राप्तिके हेतु हैं; उन्हीं नामोंका वर्णन करता हूं ॥ १३ ॥

विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
भूतकृद् भूतभृद्भावो भूतात्मा भूतभावनः ॥ १४ ॥

वह विश्वकी सृष्टि करके उसमें अनुप्रविष्ट है; इन्हींसे विश्व, सर्वव्यापी, वषट्कार यज्ञस्वरूप, भूत, भविष्य और वर्तमानकालके प्रभु, संपूर्ण भूतोंकी रचना करनेवाले, संपूर्ण भूतोंका पालन करनेवाले, भावस्वरूप, संपूर्ण भूतोंके आत्मा, भूतोंका उत्पादक, ॥ १४ ॥

पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥ १५ ॥

पवित्रात्मा, परमात्मा, मुक्त पुरुषोंकी परमगति, अव्यय, शरीरमें शयन करनेवाला, सब कुछ देखनेवाला, द्रष्टा, कभी क्षीण न होनेवाले, ॥ १५ ॥

योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः ।
नारसिंहवपुः श्रीमान्केशवः पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥

मनके सहित ज्ञानेन्द्रियोंको संयत करके क्षेत्रज्ञ और परमात्माके एकत्वभावना योगसे प्राप्य, योगवित् जनोंका नेता, प्रकृति और पुरुषका नियन्ता, नरसिंहवपु, श्रीमान्, लम्बे केशोंसे युक्त–त्रिमूर्तिरूप, क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम, ॥ १६ ॥

सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।
संभवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥ १७ ॥

कारणरूपसे अनुगत, प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाले, तीनों गुणोंसे परे कल्याणस्वरूप, स्थिर, भूतादिकोंके आदिकारण, अविनाशी निधिरूप, धर्मस्थापन करनेके लिये प्रतियुगमें उत्पन्न होनेवाले, सब भोक्ता पुरुषोंको फल देनेवाला, प्रपञ्चजगत्के अधिष्ठान रूपसे भर्ता, जगदुत्पत्तिके कारण, सर्वशक्तिमान्, सबका नियन्ता, ॥ १७ ॥

स्वयंभूः शंभुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः ।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः ॥ १८ ॥

स्वयं उत्पन्न होनेवाले, भक्तोंके सुखका विधान करनेवाले, अदितिके पुत्र, कमलके समान नेत्रवाले, मेरे भक्त विनष्ट न हों इत्यादि वेद रूप महान् घोषवाले, जन्म और विनाशसे रहित, अनन्त रूपसे जगत्को धारण करनेवाले, कर्म और कर्मफलोंका विधान करनेवाले विरञ्चि– ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, ॥ १८ ॥

अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रभृति शास्त्रीय प्रमाणोंसे, उसे जाना नहीं जाता, इन्द्रियोंका स्वामी, जगत्कारण पद्म उसके नाभीमें विद्यमान है, अमरणधर्मविशिष्ट देवताओंका ईश्वर, जगत्की रचना करनेवाले, मननशील, प्रजापति मनुरूप, प्रलयके समय जगत्का नाश करनेवाले, अत्यन्त स्थूल, स्थिरत्वयुक्त और निश्चय, ॥ १९ ॥

अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मङ्गलं परम् ॥ २० ॥

मनके सहित वचनसे अथवा बलपूर्वक उसे ग्रहण नहीं किया जाता, सब समयमें स्थायी रहनेवाले, देखते ही सबका मन हरता अथवा कृष्णवर्ण, लाल नेत्रोंवाले, प्रलयकालमें विश्व-संसारका नाश करनेवाला, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणोंसे युक्त, ऊर्ध्व, अध और मध्यभेदसे तीनों धाम दिशाओंके आश्रय रूप, पवित्र करनेवाले, परम मङ्गल, ॥ २० ॥

ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः ।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

सर्व भूतोंका नियन्ता, सबका प्राणदाता, सब प्राणियोंका जीवन स्वरूप, सबसे अत्यन्त बडे, अत्यन्त प्रशस्त, सारी प्रजाओंके स्वामी, विरञ्चिस्वरूपसे अथवा हिरण्मयान्तर्वर्ती, पृथिवीका कारण अर्थात् पृथिवीको गर्भमें रखनेवाले, लक्ष्मीके पति, मधु नामक दैत्यको मारनेवाले, ॥ २१ ॥

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः ।
अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥ २२ ॥

अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्योंसे युक्त, शूरवीरतासे युक्त, शार्ङ्गधनुष रखनेवाले, अत्यंत बुद्धिमान्, वि अर्थात् गरुडपक्षिके द्वारा गमन करनेवाला, जगत्को आक्रमण करनेवाला, सर्वोत्तम, शत्रुओंसे दुराक्रमणीय, प्राणियोंके पुण्य पाप—जनित सब कर्मोंको जाननेवाले, पुरुष प्रयत्नस्वरूप, निज महिमामें प्रतिष्ठित, ॥ २२ ॥

सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः ।
अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥ २३ ॥

देवोंका स्वामी, दुःख नाश करनेवाले, सुखस्वरूप, विश्वही उसका वीर्यस्वरूप कार्य है, प्रजाकी उत्पत्तिका कारण, दिनकी भाँति प्रकाशरूप, अखण्ड कालरूप, नाग स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, अपने भक्तोंको देखनेवाले, ॥ २३ ॥

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः ।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥ २४ ॥

जन्मरहित, ईश्वरोंका भी ईश्वर, नित्य निष्पन्नरूप, सबके सिद्धिरूप, सर्वभूतोंका आदि कारण, निज रूपसे च्युत नहीं होनेवाले, समस्त कामनाओंकी वर्षा करता है, इस ही लिये वृष अर्थात् धर्म और वराह अवतार रूपसे कपि, उसका स्वरूप बुद्धिसे जाना नहीं जाता, सब सम्बन्धोंसे पृथक् असङ्ग पुरुष तथा सब योगोंसे प्राप्त होनेवाला, ॥ २४ ॥

वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मा संमितः समः ।
अमोघः पुण्डरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः ॥ २५ ॥

सब भूतोंमें वास करता है, सङ्ग आदि क्लेशोंसे उसका मन दूषित नहीं होता— श्रेष्ठ मनवाला, सत्यरूप, सर्वत्र समभावसे रहनेवाला आत्मा, समान आकारवाला, सब समयमें विकाररहित, सत्यसङ्कल्प होनेवाले, कमलके समान नेत्रवाला, उसके सब कर्म धर्ममय हैं, धर्म और अर्थके लिये शरीर ग्रहण करनेवाले, ॥ २५ ॥

रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः ।
अमृतः शाश्वतः स्थाणुर्वरारोहो महातपाः ॥ २६ ॥

पापियोंको रुलानेवाला, सहस्रशीर्षा पुरुष, सब लोकोंको धारण करनेवाला, विश्वका आदि-कारण, पवित्र कीर्तिवाला, उसकी मृत्यु नहीं होती, सब समय और सब स्थानोंमें रहनेवाला स्थिर रहनेवाला, उसमें आरोहण करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसे पानेसे पुनरावृत्ति नहीं होती, महान् तप करनेवाला, ॥ २६ ॥

सर्वगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः ।
वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित्कविः ॥ २७ ॥

कारणरूप सर्वत्र व्याप्त, हरएक विषयोंको जाननेवाला तथा प्रकाशमान, दैत्य सेनाको सब दिशाओंमें भगाई देनेवाले, दुष्ट जनोंको मारनेवाला, ज्ञानदीपस्वरूप, अर्थ और पाठक्रमसे वह वेदोंको जानता है, वह सर्वावयवसम्पन्न है, वेदाङ्गस्वरूप, वेद लाभ करनेवाले, अति-क्रान्तदर्शी, ॥ २७ ॥

लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः ।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ॥ २८ ॥

सब लोकोंके अधिपति, इन्द्र आदि देवताओंका अधिपति, धर्मका अध्यक्ष, कार्यरूपसे कृत और कारणरूपसे अकृत, सृष्टिके प्रारम्भमें पृथक् पृथक् चतुर्विध ब्रह्मा दक्षादिरूपोंवाले, चार व्यूह बनानेवाले, चार दाढोंवाले नृसिंहरूप, चार हाथवाला ॥ २८ ॥

×

भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः ।
अनघो विजयो जेता विश्वयोनिः पुनर्वसुः ॥ २९ ॥
अत्यन्त दीप्तिमान्, प्राणोंके अन्नरूप, भोजनकर्ता, सहनशील, हिरण्यगर्भरूपसे जगत्के आदिकालमें जन्म लेनेवाले, निष्पाप, ज्ञान वैराग्य प्रभृति ऐश्वर्योंके द्वारा जययुक्त, जीतनेवाला, और विश्वका आदि कारण, बार बार अवतार लेनेवाला, ॥ २९ ॥

उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः ।
अतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥ ३० ॥
इन्द्रके पास रहनेवाला, वामनरूप धारण करनेवाला, ऊंचा, सफल, अत्यंत पवित्र, अत्यंत बलशाली, इन्द्रसे भी अधिक श्रेष्ठ, सबका संग्रह करनेवाला, सृष्टिका उत्पत्तिकर्ता, एक रूपसे जन्मादिरहित, प्रजा समूहको निज निज अधिकारमें नियमित करनेवाला, नियमन करनेवाला, ॥ ३० ॥

वेद्यो वैद्यः सदायोगी वीरहा माधवो मधुः ।
अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः ॥ ३१ ॥
सब विद्याओंका अध्ययन करनेवाला, जानने योग्य तथा सब रोगोंका निवारण करनेवाला, योग करनेवाला, असुर योद्धाओंको मारनेवाला, भगवद्विद्याका ईश्वर, वसन्तकी भांति प्रीतिपद, इन्द्रियोंके अगोचर, अत्यन्त कुशल, बहुत उत्साह रखनेवाला, अधिक बलवान्, ॥ ३१ ॥

महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः ।
अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक् ॥ ३२ ॥
महान् बुद्धिमान्, महान् वीर्यवाला, महान् समर्थ, महान् तेजस्वी, यह है, वह है, इत्यादि रूपसे उसका निरूपण नहीं होता, ऐश्वर्यवान्, जिसके स्वरूपका माप न किया जा सके, मेरु पर्वतोंको धारण करनेवाला, ॥ ३२ ॥

महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः ।
अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदां पतिः ॥ ३३ ॥
महान् धनुर्धारी, पृथ्वीका पोषण करनेवाला, जिसके पास लक्ष्मी निवास करती है, साधुओंका आश्रय, किसीसे प्रतिबन्धित नहीं हुआ, देवताओंको आनन्दित करनेवाला, इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला, और वेदवाणीको जाननेवालोंका पति, ॥ ३३ ॥

मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः ।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥ ३४ ॥
किरणोंसे युक्त, दमन करनेवाला, प्राणस्वरूप, सुंदर पंखोंवाला, सर्पोंमें श्रेष्ठ शेषरूप, सुवर्णकी भांति प्रकाशमान नाभिवाला, नरनारायण रूपसे सुंदर तप करनेवाला, कमलके समान सुंदर नाभिवाला, सब प्रजाओंका पति, ॥ ३४ ॥

अमृत्युः सर्वदृक्सिंहः संधाता संधिमान्स्थिरः ।
अजो दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा ॥ ३५ ॥

अविनाशी, सर्वत्र दृष्टिवाला, हनन करनेवाला, जोड़नेवाला, सन्धि करनेवाला, स्थिर, जन्म न लेनेवाला, शत्रुओंको जो असह्य होता है, सबका अनुशासन करनेवाला, शास्त्रप्रसिद्ध विराट देहधारी, देवताओंके शत्रुओंको मारनेवाला, ॥ ३५ ॥

गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ॥ ३६ ॥

सब विद्याओंके उपदेष्टा, उपदेष्टा पुरुषोंके बीच श्रेष्ठ, सबके आश्रय, सत्य स्वरूप, अप्रतिहत सामर्थ्ययुक्त, मुंदे हुए नेत्रोंवाला, नित्य–प्रबुद्धस्वरूप, वैजयन्ती माला धारण करनेवाला, वाक्यके अधिपति, जिनकी बुद्धि उदार है, ॥ ३६ ॥

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः ।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७ ॥

प्रमुख–अग्रतक ले जानेवाला, ग्रामका नेतृत्व करनेवाला, अत्यंत कान्तिवाला, प्रमाणोंके आश्रयसे किया जानेवाला तर्क, जगत् चलानेवाला, प्राणियोंसे चेष्टा करानेवाला, हजार सिरवाला, विश्वके आत्मा, हजार आंखोंवाला, हजार पैरोंवाला, ॥ ३७ ॥

आवर्तनो निवृत्तात्मा संवृतः संप्रमर्दनः ।
अहः संवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥ ३८ ॥

संसार चक्रको घुमानेवाला, संसार बन्धनसे नित्य मुक्त आत्मावाला, योगमायासे परिपूरित रहनेवाला, सब ओरसे मर्दन करनेवाला, सूर्यरूपसे दिनका प्रवर्तक, संवर्तक अग्निरूपसे देवताओंका हवि होता है, अपार्थिव, अनन्त अथवा वराहरूपसे भूभार धारण करनेवाला, ॥ ३८ ॥

सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग्विश्वभुग्विभुः ।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः ॥ ३९ ॥

जिसका प्रसाद अति उत्तम है, प्रसन्न चित्तवाला, विश्वको धारण करनेवाला, विश्वका पालन करनेवाला, सर्व व्यापी, सत्कर्म–सत्कार करनेवाला, पूजित पुरुषोंसे भी पूजनीय, न्याय-कार्यसे दूसरोंका कार्य सिद्ध करनेवाला, संहारसमयमें प्राणियोंको हरण करनेवाला, प्रलय-कालमें नारा अर्थात् जल ही उसका अयन अर्थात् आश्रय था, सनातन परमात्मा, ॥ ३९ ॥

असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृच्छुचिः ।
सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः ॥ ४० ॥

जिसकी संख्यासे गिनती नहीं होती, जिसका स्वरूप अज्ञात है, सबसे उत्कृष्ट, श्रेष्ठ बनाने-वाला, परम शुद्ध, इच्छित अर्थको सिद्ध करनेवाला, सिद्धसङ्कल्पवाला, फल देनेवाला, त्रैवर्णिक फल साधन करनेवाला, ॥ ४० ॥

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥ ४१ ॥

धर्मयुक्त द्वादश अह अर्थात् दिवस विशिष्ट, अभिलषित विषय दान करनेवाला, चरण संक्रमणसे जगत्को वेष्टन कर रहा है, धर्म ही उसका सोपान होनेसे, धर्म उसके उदरमें विद्यमान है, भक्तोंके किये हुए अल्प विषयोंकी भी वृद्धि करता है, बढनेवाला, पृथक् पृथक् रहनेवाला, वेदोंके तात्पर्यका सागर, ॥ ४१ ॥

सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥ ४२ ॥

अति सुंदर भुजाओंवाला, किसीसे जो पकडा नहीं जा सकता, उत्तम वक्ता, महेन्द्र, धन देनेवाला, धनरूप, अनेक रूपधारी, बडे बडे रूपवाला, किरणोंसे व्याप्त, सबको प्रकाशित करनेवाला, ॥ ४२ ॥

ओजस्तेजो द्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुर्भास्करद्युतिः ॥ ४३ ॥

प्राण और बल, शोभाको धारण करनेवाला, प्रकाशरूप, विशेष तपानेवाला, सिद्धसे सम्पन्न, स्पष्ट अक्षरवाला, मन्त्रके द्वारा बोधित मन्त्रस्वरूप, चन्द्रमाकी किरणोंके समान आनन्द देनेवाला, सूर्यके तेजके समान तेजवाला, ॥ ४३ ॥

अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥ ४४ ॥

समुद्र मथके चन्द्रमाको उत्पन्न करनेवाला, दीप्तिमान्, शशसदृश अनेक प्रकार लक्षणोंसे युक्त, सुरेश्वर, संसाररोग निवर्तक, जगत्में सेतुरूपी, जिसके धर्म ज्ञानादि पराक्रम मिथ्या नहीं है, ॥ ४४ ॥

भूतभव्यभवन्नाथः पवनः पावनोऽनिलः ।
कामहा कामकृत्कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः ॥ ४५ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमानके पति, वायुरूप, पवित्र करनेवाला, अग्निस्वरूप, भक्तोंको अपना रूप प्रदान करके उनके कामका विनाश करनेवाला, कामनाओंको पूर्ण करनेवाला, अत्यन्त रूपवान्, मुमुक्षुजनोंका काम्य, कामना की हुई वस्तुएं देनेवाला, दिव्यरूप, ॥ ४५ ॥

युगादिकृद्युगावर्तो नैकमायो महाशनः ।
अदृश्यो व्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनन्तजित् ॥ ४६ ॥

युगादिका आरम्भ करनेवाला, चारों युगोंको घुमानेवाला, अनकों मायाओंको धारण करनेवाला, सबको ग्रास लेनेवाला, समस्त ज्ञानेंद्रियोंसे अज्ञेय, व्यक्तस्वरूप, युद्धमें सहस्रों शत्रुओंको जीतनेवाला, समस्त भूतोंको जीतनेवाला, ॥ ४६ ॥

इष्टो विशिष्टः शिष्टेष्टः शिखण्डी नहुषो वृषः ।
क्रोधहा क्रोधकृत्कर्ता विश्वबाहुर्महीधरः ॥ ४७ ॥

परमानन्दस्वरूप युक्त अथवा यज्ञसे पूजित, सर्वान्तर्यामी सर्वाङ्ग रूप, शिष्टोंका इष्ट, मयूर-पूंछसे युक्त, मायासे भूतोंको बद्ध करनेवाला, अभिलषित विषयोंकी वर्षा करनेवाला, क्रोधको विनष्ट करनेवाला, दुष्टोंके विषयमें क्रोध करता है, कार्यमात्रके कर्तृत्व युक्त, सब ओर बाहुओं-वाला, पृथ्वीको धारण करनेवाला, ॥ ४७ ॥

अच्युतः प्रथितः प्राणः प्राणदो वासवानुजः ।
अपां निधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥ ४८ ॥

अपनी स्वरूपशक्तिसे कभी च्युत न होनेवाला, प्रसिद्ध, विश्वका प्राण, प्राणोंको देनेवाला, इन्द्रके अनुजन्मा, जलनिधि, सब भूतोंका आधार, प्रमाद न करनेवाला, निज महिमामें स्थित, ॥ ४८ ॥

स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः ।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरंदरः ॥ ४९ ॥

अमृतरूपसे बहनेवाला, धर्मको धारण करनेवाला, जगत्का भार उठाता है, अभिलषित पदार्थोंका दान करनेवाला, सारे वायुओंको चलानेवाला, सबको बसानेवाला और उनको प्रकाशित करनेवाला, चन्द्र और सूर्यरूपसे संपूर्ण जगतको प्रकाशित करनेवाला, सबके आदिदेव, शत्रुओंके नगरोंका ध्वंस करनेवाला, ॥ ४९ ॥

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥ ५० ॥

शोकादिसे रहित, तारण करनेवाला, तारक, पराक्रमयुक्त, शूरकी सन्तान, जीवोंके ईश्वर, सबके अनुकूल, सैंकडों बार अवतार लेनेवाला, हाथमें पद्म धारण करनेवाले, कमलके समान नेत्रबाला, ॥ ५० ॥

पद्मनाभोऽरविन्दाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।
महर्द्धिऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ॥ ५१ ॥

कमलके समान सुंदर नाभिवाला, कमलके समान आंखोंवाला, हृदयरूप पद्मके मध्यमें रहनेवाला, अन्नरूपसे शरीर पोषण करनेवाला, महान् समृद्धिवाला, सिद्धसे सम्पन्न, पुरातन स्वरूप, विशाल नेत्रोंवाला, गरुडके चिह्नसे युक्त ध्वजावाला, ॥ ५१ ॥

अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान्समितिंजयः ॥ ५२ ॥

जिसकी कोई उपमा नहीं है, शरीरके बीच प्रत्यगात्मरूपसे प्रकाशमान, उससे सब कोई डरते हैं, समयको जाननेवाला, यज्ञोंमें हविका भाग हरण करनेवाला, सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे युक्त, लक्ष्मी जिसके पास रहती है, समरविजयी, ॥ ५२ ॥

विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः ।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥ ५३ ॥

विनाश रहित, मत्स्यरूप धारण करनेवाला, भक्तोंका अन्वेषणीय, निमित्त उपादान, दोनों कारणरूप, रज्जुसे बद्ध होनेसे उदरमें उस चिन्हको धारण करनेवाला, सब कुछ सहन करनेवाला, पृथ्वीको धारण करनेवाला, परम भाग्यवान्, अत्यन्त वेगवान्, सर्वसंहर्ता, ॥ ५३ ॥

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः ।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ॥ ५४ ॥

संसार उत्पादक, शत्रुओंको क्षुब्ध करनेवाला, प्रकाशमान्, जगत्‌रूपी विभूति उसके उदरमें विद्यमान् है, परम श्रेष्ठ ईश्वर, सबका आदि साधन, जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण, सबकी रचना करनेवाला, भुवनोंकी विशेष रचना करनेवाला, दुर्विज्ञेय, स्वरूप संवरण करनेवाला, ॥ ५४ ॥

व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः ।
परर्द्धिः परमः स्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः ॥ ५५ ॥

संवित्—ज्ञानरूप, सबको व्यवस्थापूर्वक रचनेवाला, उसमें सबकी सम्यक् स्थिति है, भक्तोंको स्थान दान करनेवाले, अनेक कर्मके कर्तृत्वयुक्त होनेपर भी स्वरूपसे निश्चल, परम ऐश्वर्यशाली, सर्वोत्कृष्ट, स्वप्रकाश ज्ञानरूपसे स्पष्ट, परमानन्दरूप, पूर्णत्वयुक्त, जिनका दर्शन शुभ है, ॥ ५५ ॥

रामो विरामो विरतो मार्गो नेयो नयोऽनयः ।
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्मविदुत्तमः ॥ ५६ ॥

उसमें योगिजन रमण करते हैं, उसमें जगत्‌का विराम होता है, रजोगुण तथा तमोगुणसे रहित, पथप्रदर्शक, भक्तजन उसे निज हृदयमें ले जा सकते हैं, नीतिसे चलनेवाला, स्वतंत्र, युद्ध, दान, सत्य और दया विषयमें वीर, शक्तिमान् पुरुषोंके बीच श्रेष्ठ, धर्मका वर्णन करनेवाला, धर्मज्ञोंके बीच श्रेष्ठ, ॥ ५६ ॥

वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ॥ ५७ ॥
परमधाम स्वरूप, विश्व शरीरमें शयन करनेवाला, विश्वका प्राण, प्राण देनेवाला, प्रकृष्टरूपसे स्तवनीय, व्यापक, सुवर्ण जिसके अन्दर है, शत्रुओंको मारनेवाला, व्यापक, गन्धका वहन करनेवाला, इन्द्रियजनित ज्ञान उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, ॥ ५७ ॥

ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः।
उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः ॥ ५८ ॥
ऋतु अर्थात् कालरूपसे लक्षित, सुंदर रूपवाला, समयरूप, अपनी श्रेष्ठ महिमामें स्थित, मुमुक्षुजनोंसे ग्रहण किये जानेवाला, भयंकर, वर्षका स्वरूप, दक्षतासे कर्म करनेवाला, सबको विश्राम देनेवाला, और सब कार्योंमें कुशल, ॥ ५८ ॥

विस्तारः स्थावरः स्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम्।
अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ॥ ५९ ॥
समस्त लोकोंके विस्तारके स्थान, सर्वत्र स्थितिशील, स्थिर, सबका प्रमाणरूप, अविनाशी बीज, प्रार्थनीय, प्रयोजनरहित, महान् कोशवाला, सुखरूप महान् भोगवाला, महान् धनवाला, ॥ ५९ ॥

अनिर्विण्णः स्थविष्ठो भूर्धर्मयूपो महामखः।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षामः समीहनः ॥ ६० ॥
उदासीनता रहित, अत्यन्त स्थूल, सत्तारूपसे धर्मस्तम्भ सदृश, महान् यज्ञस्वरूप, नक्षत्रोंका केन्द्र, नक्षत्ररूप, समर्थ, समस्त जगत्के निवास स्थान, उसकी सब चेष्टा पूर्ण रीतिसे सिद्ध होती है, ॥ ६० ॥

यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥ ६१ ॥
यज्ञस्वरूप, पूज्य, सबसे अधिक पूज्य, यज्ञ, सत्रयाग स्वरूप, साधुओंकी गति, सम्पूर्ण देखनेवाला, जिनकी आत्मा मुक्त है, सब जाननेवाला, उत्तम ज्ञानरूप, ॥ ६१ ॥

सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत्।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥ ६२ ॥
उत्तम व्रत करनेवाला, सुन्दर मुखवाला, सूक्ष्म–विरल, उत्तम शब्दरूप, सुख देनेवाला, परममित्र, मनोहर, क्रोधको जीतनेवाला, विक्रमशालिनी बाहुओंवाला, शत्रुको नष्ट करनेवाला, ॥ ६२ ॥

स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत्।
वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥ ६३ ॥

प्राणियोंको सुलानेवाला, स्वतन्त्र, सर्वव्यापी, नाना प्रकारसे रूपोंमें स्थित, अनेक कर्म करनेवाला, सबके निवासस्थान, भक्तोंके विषयमें स्नेहवान्, वत्सोंका पालन करनेवाला, रत्नोंको गर्भमें धारण करनेवाला, धनोंका स्वामी, ॥ ६३ ॥

धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम्।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥ ६४ ॥

धर्मकी रक्षा करनेवाला, धर्म करनेवाला, धर्मोंको धारण करनेवाला, सत्यस्वरूप, स्थूलरूप, विनाशी, अविनाशी, ज्ञातृरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानरूप है; हजारों किरणोंवाला, रचना करनेवाला, जिन्होंने सब लक्षण बनाये हैं, ॥ ६४ ॥

गभस्तिनेमिः सत्त्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥ ६५ ॥

जिससे प्रकाश किरण निकलते हैं, समस्त प्राणियोंमें स्थित, अत्यन्त विक्रमशील, भूतोंके महान् ईश्वर, सबके आदिदेव, महान् ईश्वर, देवोंका स्वामी, देवोंके श्रेष्ठ भरण-पोषण कर्ता, ॥ ६५ ॥

उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः।
शरीरभूतभृद्भोक्ता कपीन्द्रो भूरिदक्षिणः ॥ ६६ ॥

सबसे श्रेष्ठ, पृथ्वीका-गौओंका-वाणीका स्वामी, रक्षाकर्ता, ज्ञानसेही जो जाना जाता है, सबसे प्राचीन, शरीररूप भूतगणको धारण करता है, भोक्ता, कपियोंके स्वामी रामचन्द्ररूप, विपुल दक्षिणा देनेवाला, ॥ ६६ ॥

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः।
विनयो जयः सत्यसंधो दाशार्हः सात्वतां पतिः ॥ ६७ ॥

सोमरस पान करनेवाला, अमृत पीनेवाला, औषधियोंका पोषण करनेवाला चन्द्रमारूप, अनेक पुरुषोंको जीतनेवाला, पुरुषोंमें श्रेष्ठ, विशेष नीतिसंपन्न, सबको जीतनेवाला, सत्य संकल्पवाला, दाशार्हवंशमें उत्पन्न होनेवाले, यादवोंका प्रभु, ॥ ६७ ॥

जीवो विनयिता साक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः।
अम्भोनिधिरनन्तात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ॥ ६८ ॥

प्राण धारण करनेवाला, विनयशील लोगोंको प्रेमसे देखनेवाला, मुक्तिदाता, अतुलित पराक्रमवाला, जलनिधि, अनन्त आत्मावाला, समुद्रमें सोनेवाला, भूतोंका अन्त करनेवाला, ॥ ६८ ॥

अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः ।
आनन्दो नन्दनो नन्दः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥ ६९ ॥

जन्म न लेनेवाला—सबमें गति उत्पन्न करनेवाला, महापूज्य, स्वभावसे सिद्ध, शत्रुको जीतनेवाला, आनन्दित करनेवाला, आनन्द स्वरूप, सबको प्रसन्न करनेवाला, स्वयं समृद्धि संपन्न, सत्य धर्मवाला, तीन प्रकारके पराक्रम करनेवाला, ॥ ६९ ॥

महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः ।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतान्तकृत् ॥ ७० ॥

महर्षि कपिलाचार्य, सबके सब कर्मोंको जाननेवाला, पृथ्वीके पति, त्रिलोकीरूप तीन पैरोंवाला, देवोंके अध्यक्ष, महान् शृंगवाला, सिद्धान्तकर्ता, ॥ ७० ॥

महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी ।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥ ७१ ॥

लोकोत्तर वराह, गऊ चरानेवाला, सेनाके सहित भली भांति शत्रुयुद्धमें गमन करनेवाला, स्वर्णमय केयूरधारी, परम रहस्यरूप, गम्भीर स्वभाववाला, दुष्प्रवेश, इन्द्रियोंका अग्राह्य, चक्र और गदाको धारण करनेवाला, ॥ ७१ ॥

वेधाः स्वाङ्गोऽजितः कृष्णो दृढः संकर्षणोऽच्युतः ।
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ॥ ७२ ॥

विधान करनेवाला, स्वयं ही अङ्ग बननेवाला, शत्रुगण उसे जीत नहीं सकते, कृष्णवर्ण, सुदृढ, पूर्ण रीतिसे भक्तोंका दुःख कर्षण करता है, अपने स्थानसे च्युत न होनेवाला, जलका देवता, वरुणका प्रकाश, संसारवृक्षको छेदन करता अथवा भक्तजनोंका कल्पतरु, कमलके समान नेत्रवाला, उन्नतचित्त, ॥ ७२ ॥

भगवान्भगहा नन्दी वनमाली हलायुधः ।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ॥ ७३ ॥

समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यविशिष्ट है, शत्रुके ऐश्वर्यको नष्ट करनेवाला, नित्यसुखी, वनमाला धारण करनेवाला, हल जिसका शस्त्र है, अदितिका अपत्य, सूर्यमण्डलान्तर्गत ज्योतिरूप, सहन करनेवाला, गति करनेमें सर्वश्रेष्ठ, ॥ ७३ ॥

सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः ।
दिवःस्पृक्सर्वदृग्व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥ ७४ ॥

सुंदर धनुषवाला, उसका परशु शत्रुओंको खण्ड खण्ड करता है, विरोधियोंके विषयमें भयंकर, धनदाता, स्वर्गका स्पर्श करनेवाला, सर्वत्र दृष्टिवाला, वेदव्यास रूप, विद्याका पति, जननीसे जन्म नहीं लेनेवाला, ॥ ७४ ॥

×

त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक् ।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्तिः परायणम् ॥ ७५ ॥

वेदव्रतसमाख्यात नामक तीनों साम उसके प्रतिपादक हैं, वह ब्रह्मवित् रूपसे सामगान करता है, सामवेद स्वरूप, परमानन्द रूप, अच्युतानन्द गोविन्द इत्यादि नामोंके उच्चारण करनेसे रोग नष्ट होता है, संसारतारक विद्याका उपदेशक—परम वैद्य, मोक्षके हेतु संन्यास किया करता है, वस्तुओंका यथास्थान सम्यक् न्यास करनेवाला, शान्तिका उपदेश करनेवाला, शान्ति धारण करनेवाला, निष्ठा रखनेवाला, परम शान्ति स्वरूप, परम स्थान, ॥ ७५ ॥

शुभाङ्गः शान्तिदः स्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः ।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ॥ ७६ ॥

सुंदर शरीरवाला, शांति देनेवाला, सब भूतोंका उत्पादक, पृथ्वीतलमें आनंद फैलानेवाला, प्रलयकालमें जलमें शयन करनेवाला, गौवोंका हितकारी, पृथिव्यादिका पति, रक्षण करनेवाला, धर्महो उसका नेत्र है, धर्म ही उसे प्रिय है, ॥ ७६ ॥

अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः ।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतां वरः ॥ ७७ ॥

धर्मसे विमुख न होनेवाला, विषयोंसे उसका चित्त निवृत्त हुआ है, जगत्को संक्षिप्त करनेवाला, रक्षा करनेवाला, कल्याण करनेवाला, वक्षस्थलमें श्रीवत्सका आभूषण धारण करनेवाला, श्रीलक्ष्मीके वासस्थान, लक्ष्मीका पति, श्रीमानोंमें श्रेष्ठ, ॥ ७७ ॥

श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः ।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः ॥ ७८ ॥

श्री देनेवाला, लक्ष्मीके नाथ, जिसके पास लक्ष्मी निवास करती है, श्रियोंके आधार, कर्मके अनुसार श्रीप्रदान करनेवाला, श्रीको धारण करनेवाला, धन देनेवाला, कल्याणरूप, सब श्रियोंसे युक्त, तीनों लोकोंके आश्रय ॥ ७८ ॥

स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः ।
विजितात्मा विधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशयः ॥ ७९ ॥

उत्तम आँखोंवाला, सुन्दर अङ्गयुक्त, अपरिमित आनन्द स्वरूप, आनन्दित करनेवाला, नक्षत्र गणोंके ईश्वर, मनको जीतनेवाला, कोई उसके सङ्ग विग्रह करनेमें समर्थ नहीं है, सच्ची कीर्तिवाला, संशय रहित, ॥ ७९ ॥

उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः शाश्वतः स्थिरः ।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोकनाशनः ॥ ८० ॥

सबसे उत्कृष्ट, सब ओरसे देखनेवाला, जिसका दूसरा कोई स्वामी नहीं है, जो सब कालमें है, अचञ्चल, भूमिपर शयन करनेवाला, सबको भूषित करनेवाला, विभूतियोंसे युक्त, शोकरहित, शोक नष्ट करनेवाला, ॥ ८० ॥

अर्चिष्मानर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः ॥ ८१ ॥

दीप्तिमान्, सबसे पूजित, कुम्भकी भांति उसमें सब प्रतिष्ठित है, परिशुद्ध आत्मावाला, पापोंका नाश करनेवाला, किसीसे प्रतिबन्धित नहीं हुआ, जिसके विरुद्ध कोई रथी नहीं है, श्रेष्ठ धनवाला, परम पराक्रमी, ॥ ८१ ॥

कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ॥ ८२ ॥

कालनेमि नाम असुरको मारनेवाला, अत्यंत शूरवीर, शूरवीर, शूरकुलमें उत्पन्न, जीवोंके ईश्वर, तीनों लोकोंका आत्मा, तीनों लोकोंका ईश्वर, सुंदर केशोंसे युक्त, केशी नाम दानवको मारनेवाला, दुःखों—पापोंको हरनेवाला, ॥ ८२ ॥

कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः ।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनंजयः ॥ ८३ ॥

कामका, देव भक्तोंकी वाञ्छा पूरण करनेवाला, धर्मसे अविरोधी कामका धारण करनेवाला, अत्यन्त रूपवान्, समस्त वेद और शास्त्रोंको रचनेवाला, जिसका शरीर दूसरोंके लिये निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता, द्युलोक और भूलोकमें व्याप्त, वीर, अपरिच्छिन्न, धन जीतनेवाला, ॥ ८३ ॥

ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ।
ब्रह्मविद्ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ॥ ८४ ॥

ब्राह्मणोंके हितकारी, ज्ञानका प्रचार करनेवाला, सृष्टिकर्त्ता ज्ञानी, आत्मसंवेद्य ज्ञानस्वरूप, सबसे बडा, ज्ञान बढानेवाला, वेद तथा वेदके अर्थको यथावत् जाननेवाला, ब्राह्मणरूप, ब्रह्मतत्त्वयुक्त ज्ञानी, वेदोंको जाननेवाला, ब्राह्मणोंके प्रिय अथवा ब्राह्मण इसके प्रिय, ॥ ८४ ॥

महाक्रमो महाकर्मा महातेजा महोरगः ।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ॥ ८५ ॥

महान् आक्रमणवाला, महान् कर्म करनेवाला, महान् तेजस्वी, वासुकि स्वरूप बडा सर्प, महान् यज्ञ स्वरूप, महान् यज्ञानुष्ठान करनेवाला, महान् यज्ञस्वरूप, महान् हविवाला, ॥ ८५ ॥

स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः ।
पूर्णः पूरयिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ॥ ८६ ॥

स्तुतियोग्य, स्तुतिसे प्रसन्न होनेवाला, गुणप्रतिपादक शब्दरूप, गुणकीर्तन क्रियारूप, स्तुति-कर्ता, जिसको रण प्रिय है, सर्वत्र परिपूर्ण, पूर्ण करनेवाला, पुण्य स्वरूप, पुण्यमयी कीर्तिवाला, निरोग, ॥ ८६ ॥

मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः ।
वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः ॥ ८७ ॥

मनके समान वेगवाला, विद्याओंके कर्ता– तारणके साधनोंका कर्ता, सुवर्णरूप वीर्यवाला, धनदाता, मोक्षरूप महान् धन देनेवाला, वसुदेवके पुत्र, सबके हृदयमें निवास करनेवाला, श्रेष्ठ मनवाला, हवि स्वरूप, ॥ ८७ ॥

सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परायणः ।
शूरसेनो यदुश्रेष्ठः सन्निवासः सुयामुनः ॥ ८८ ॥

श्रेष्ठ गतिवाला, सर्वत्र श्रेष्ठ कृतिवाला, सर्वोपशान्त अधिष्ठान रूप, बहुत प्रकारसे ऐश्वर्य युक्त, साधु भक्तोंके अभीष्ट, शूर सेनासे युक्त, यदुवंशियोंमें प्रधान, साधुओंका आश्रय, यमुनाके उत्तम तटपर गोपालोंने उसे परिवेष्टन किया था, जिनका परिवार उत्तम है, ॥ ८८ ॥

भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः ।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥ ८९ ॥

उसमें सर्वभूत निवास करते हैं, विशुद्ध सत्त्वमें अधिष्ठित, सब प्राण प्रभृतिका उत्तम आश्रय, उसके शक्ति सम्पदकी सीमा नहीं है, गर्व नष्ट करनेवाला, धार्मिकोंका गौरव बढानेवाला, नित्य आनन्दित, बडी कठिनतासे हृदयमें धारण होनेवाले, अपराजित, ॥ ८९ ॥

विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ॥ ९० ॥

विश्व जिनकी मूर्ति है, महान् मूर्तिवाले, तेजोमयी मूर्तिवाले, जिनकी मूर्ति नहीं है– निराकार, अनेकों मूर्तियां धारण करनेवाला, अप्रकट स्वरूप, सैंकडों मूर्तियांवाला, सैंकडों मुखोवाला, ॥ ९० ॥

एको नैकः सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ९१ ॥

स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदरहित, मायाके द्वारे बहुरूप, उससे सोम उत्पन्न होता है, इसलिये यज्ञरूप, सुख अथवा ब्रह्म स्वरूप, विचार्य होनेसे स्वतः सिद्ध, बिस्तार करनेवाला, उत्तम आश्रयरूप, लोकोंका–प्राणियोंका परम बन्धु, लोकोंका नाथ, मधुकुलमें उत्पन्न, भक्तोंके प्रति स्नेहयुक्त; ॥ ९१ ॥

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ॥ ९२ ॥

हिरण्यमय पुरुषरूप सुवर्णके समान शरीरवाला, सुंदर अंगवाला, चन्दनके लेप और बाजूबंदसे विभूषित, धर्मरक्षाके हेतु वीर असुरोंको मारनेवाला, उसके समान कोई नहीं है, अवर्णनीय, तेजस्वी आशावाला, निजरूपसे विचलित नहीं होता, प्राणी रूप, ॥ ९२ ॥

अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृक् ।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥ ९३ ॥

यज्ञमें जिनको अभिमान नहीं है, दूसरोंको मान देनेवाला, माननीय, सब लोकोंका स्वामी, तीनों लोकोंको धारण करनेवाला, सुन्दर उत्तम बुद्धिवाला, उत्पन्न होनेवाला, कृतार्थ, सत्य बुद्धिवाला, पृथ्वीको धारण करनेवाला, ॥ ९३ ॥

तेजो वृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहोऽव्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ॥ ९४ ॥

तेजरूप, वर्षा करनेवाला, कान्तिको धारण करनेवाला, सर्व शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, भक्तोंके द्वारा उपहृत पूजा प्रकर्षरूपसे ग्रहण करनेवाला, सबका निग्रह करनेवाला, अव्यग्र, चतुःशृङ्ग मन्त्रवर्ण, गदनाम श्रीकृष्णका भ्राता है, उससे पहले जन्म लेनेवाला, ॥ ९४ ॥

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥ ९५ ॥

चार मूर्तियोंवाला, चार भुजाओंवाला, चार व्यूह बनानेवाला, चार गति जो जानता है, चार अवस्थाओंमें जिसका आत्मा रहता है, मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्तस्वरूप, चारों आश्रमके धर्मरूप; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप; चारों वेदोंके अर्थको जाननेवाला, जिनका एक ही पाद विश्वरूपसे स्थित है, ॥ ९५ ॥

समावर्तो निवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः ।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥ ९६ ॥

संसारचक्रको पूर्ण रीतिसे घुमानेवाला, विषयोंसे उसका चित्त निवृत्त है, दुर्जय, जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, जिसकी प्राप्ति करना कठिन है, कठिनतासे जानने योग्य, अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त, जिसका निवास अन्तःकरणमें होना कठिन है, दुष्टोंको मारनेवाला, ॥ ९६ ॥

शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः ।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥ ९७ ॥

शुभाङ्ग, लोकोंके सारको ग्रहण करनेवाला, उत्तम धागेके समान जो सूत्रात्मा है, उक्त तन्तुकी वृद्धि करनेवाले, इन्द्रके समान कर्मवाला, महान् कर्म करनेवाला, जिसने सब कर्म किये हैं, चतुर्विध पुरुषार्थ प्रापणको उसका आगमन पर्याप्त है– जिन्होंने शास्त्र रचे हैं, ॥९७॥

उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः ।
अर्को वाजसनः शृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ॥ ९८ ॥

जगत् उत्पन्न करनेवाला, जगत्में अत्यन्त सौन्दर्यशाली, आर्द्रभाव-दयासे युक्त, रत्न सदृश सुंदर नाभिवाला, सुंदर नेत्रयुक्त, अर्चनीय, अन्नदान करनेवाला, सींगयुक्त, जयशील, सर्व-वित्, जयी, ॥ ९८ ॥

सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः ।
महाह्रदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥ ९९ ॥

उसके अवयव सुवर्णयुक्त हैं, क्षोभित न होनेवाला, वाणीके पतियोंके स्वामी, महान् सरोवरके समान, महान् रथवाला, महाभूत स्वरूप, महानिधि, ॥ ९९ ॥

कुमुदः कुंदरः कुन्दः पर्जन्यः पवनोऽनिलः ।
अमृतांशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥ १०० ॥

भूमण्डलमें आनन्द फैलानेवाला, कुन्दपुष्पकी भांति शुद्ध, कुन्ददामकृत कौतुक रूप, मेघकी भांति कामनाओंकी वर्षा करनेवाला, पवित्र करनेवाला, जिसका निवासस्थान नहीं है, अमृतका भोग करनेवाला, मरणसे रहित शरीरवाला, सर्वज्ञ, सब ओर मुखवाला, ॥१००॥

सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ॥ १०१ ॥

नायगान नृत्यादिसे सहजहीमें प्राप्त होनेवाला , सुव्रत, सिद्ध, शत्रुजित्, शत्रुतापन, सब भूतोंको नीचे रोक रखता है, आकाशसे भी ऊपर विराजमान, प्रपञ्चरूपसे विस्तीर्ण है, चाणूरनामक आंध्रदेशीय कंसके मल्लका नाश करनेवाला, ॥ १०१ ॥

सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः ।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद्भयनाशनः ॥ १०२ ॥

अनन्त किरणोंवाला, काली, कराली, मनो जवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचिनामी सप्तजिह्वा विशिष्ट अग्निस्वरूप, सात दीप्तियोंवाला, सात घोडेवाले सूर्यरूप, मूर्तिरहित, निष्पाप, अचिन्त्य, दुष्टोंको भयभीत करनेवाला, भय दूर करनेवाला, ॥१०२॥

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥ १०३ ॥

अत्यंत सूक्ष्म, वृद्धिशील, कृश, स्थूल, गुणोंको बढानेवाला, परमार्थ, महान्, कोई उसे धारण नहीं कर सकता, स्वमहिमामें प्रतिष्ठित, उत्तम मुखवाला, उसका प्रथम वंश है, अपने वंशरूप प्रपंचको बढानेवाला, ॥ १०३ ॥

भारभृत्कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः ।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥ १०४ ॥

अनन्त रूपसे पृथ्वीका भार धारण करनेवाला, प्रख्यात, वर्णित; चित्तवृत्ति निरोध करनेवाला, योगीजनोंके ईश्वर, सब कामनाएं देनेवाला, संसाररूपी वनमें विचरनेवाले जीवोंके विश्राम-स्थान, भक्त विरोधियोंको खेदित करनेवाला, प्रलयकालमें प्रजासमूहका नाश करनेवाला, उसके उत्तम छन्द संसारवृक्षके पत्ते हैं, वायुको चलानेवाला, ॥ १०४ ॥

धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः ।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमो यमः ॥ १०५ ॥

धनुर्द्धर, धनुषके गुणदोषोंका जाननेवाला, दमनकारी, दमन करनेवाला, दण्डके फल दम्यनिष्ठ, अपराजित, समस्त शत्रुओंको सहन करनेवाला, सबको नियुक्त करनेवाला, नियमरूप रहनेवाला, नियमन करनेवाला, ॥ १०५ ॥

सत्त्ववान्सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः ।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत्प्रीतिवर्धनः ॥ १०६ ॥

बलवान्, प्राधान्य रूपसे सत्त्व गुणमें स्थित है, सत्य स्वरूप, सत्य धर्ममें रत, पुरुषार्थकांक्षी पुरुषोंका अभिप्रेत, जिसमें सब समा जाता है, प्रिय वस्तुके योग्य, पूज्य, प्रियकृत्, प्रीतिवर्द्धन, ॥ १०६ ॥

विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग्विभुः ।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥ १०७ ॥

वह आकाशमें गमन करता है, द्युतिशील, सुंदर दीप्तिवाला, आहुतियोंको भोगनेवाला, व्यापक, रसोंको ग्रहण करनेवाला, विविध प्रकारसे प्रकाशित, शोभाको जन्म देनेवाला, जगत्की सृष्टिकर्त्ता, सूर्यरूप नेत्रोंवाला, ॥ १०७ ॥

अनन्तो हुतभुग्भोक्ता सुखदो नैकदोऽग्रजः ।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतम् ॥ १०८ ॥

उसका अन्त नहीं है, अग्निरूपसे हवनीय घृतादि भोजन करता है, प्रकृतिका कार्यदर्शी, सुख देनेवाला, अनेकबार बहुतेरे स्थानोंमें विविध भक्तोंको धन देता है, सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला, निर्वेदशून्य, साधुओंके विषयमें क्षमा प्रदर्शित करनेवाला, सब लोकोंके आधार-आश्रय, अत्यन्त आश्चर्य ॥ १०८ ॥

सनात्सनातनतमः कपिलः कपिरव्ययः ।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत्स्वस्ति स्वस्तिभुक्स्वस्तिदक्षिणः ॥ १०९ ॥

कालरूप सदासे रहनेवाला, अत्यंत सनातन, यद्यपि कपिलरूप-वडवानलरूप अपनी किरणोंसे जलको पीते हैं- सूर्य, जिसमें परिवर्तन नहीं होता; मंगल देनेवाला, कल्याण करनेवाला, परमानंद रूप, भक्तजनोंका मङ्गल पालन करता है, कल्याण करनेमें समर्थ, शीघ्र मंगल करनेवाला, ॥ १०९ ॥

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः ।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥ ११० ॥

क्रूर भावोंसे रहित, कुण्डल धारण करनेवाला, चक्र धारण करनेवाला, पराक्रमी, उत्कृष्ट शासनवाला, वचनसे उसका वर्णन नहीं होसकता, वेदोंके शब्दोंसे जिसका वर्णन होता है, संसारतापनाशक-शान्त, रात्रि करनेवाला, ॥ ११० ॥

अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणां वरः ।
विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥ १११ ॥

अक्रूर, मनोहर, शीघ्रकारी, शक्तिमान्, क्षमा करनेवालोंमें श्रेष्ठ, विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ, भयरहित, जिसका श्रवण और कीर्तन पुण्यकारक है, ॥ १११ ॥

उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः ।
वीरहा रक्षणः सन्तो जीवनः पर्यवस्थितः ॥ ११२ ॥

संसारसे उत्तीर्ण करनेवाला, पापोंको नाश करनेवाला, पुण्यकर्म करनेवाला, दुःस्वप्नोंको नष्ट करनेवाला, संसारकी विविधगति हरनेवाला, रक्षा करनेवाला, विद्या विनय वृद्धिके निमित्त वर्तमान- सन्तरूप, जीवित रखनेवाला, विश्वव्यापक, ॥ ११२ ॥

अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः ।
चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥ ११३ ॥

अनन्तरूप, अपरिमित शोभा, संपत्तिवाला, क्रोधिको जीतनेवाला, भयको नष्ट करनेवाला, समवेत कर्मानुसार फल देनेवाला, गम्भीरचित्त, विविधफल दान करनेवाला, विशेष रूपसे आदेश करनेवाला, वेदरूपसे आदेशकर्ता, ॥ ११३ ॥

अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥ ११४ ॥

अनादि, अस्तित्व और ज्ञानवान्, शोभारूप, उत्तम योद्धा, सुंदर भुजबन्धवाला, उत्पन्न करनेवाला, जन्म लेनेवाले जीवके उत्पत्तिके मूल कारण, भयका हेतु, अत्यंत पराक्रम युक्त, ॥ ११४ ॥

आधारनिलयो धाता पुष्पहासः प्रजागरः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ॥ ११५ ॥

भौतिकाश्रय महाभूतोंका आधार, विश्वको धारण करनेवाला, पुष्पकी भांति आनन्दजनक हास्यवाला, प्रकृष्ट जागरणविशिष्ट, सबसे ऊपर रहनेवाला, सन्मार्गका आचरण करनेवाला, प्राणद, ॐकार स्वरूप, व्यवहार करनेवाला, ॥ ११५ ॥

प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणकृत्प्राणजीवनः ।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥ ११६ ॥

प्रमाण स्वरूप, जीवोंका अवलम्ब, प्राणकृत्, प्राणियोंको जीवित रखनेवाला, अबाधित सत्य-स्वरूप, तत्त्ववित्, एकात्मा, जन्म, मृत्यु, जरा इनका अतिक्रमण करनेवाला, ॥ ११६ ॥

भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः ।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ॥ ११७ ॥

भूलोक भुवर्लोक और स्वर्ग लोकमें कल्पवृक्षकी भांति अभीष्टप्रद, सत्ता-ज्ञान-आत्मबलके प्रभावसे तारण करनेवाला, तारक, सबको उत्पन्न करनेवाला, पितामहका पिता, पूज्य-यज्ञ-स्वरूप, यज्ञोंका स्वामी, यजमान रूप, यज्ञरूप अङ्गोंवाला, यज्ञोंका वहन करनेवाला, ॥ ११७ ॥

यज्ञभृद्यज्ञकृद्यज्ञी यज्ञभुग्यज्ञसाधनः ।
यज्ञान्तकृद्यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥ ११८ ॥

यज्ञको धारण करनेवाला, यज्ञ करनेवाला, यज्ञोंकी पूर्ति करनेवाला, यज्ञका भोग करनेवाला, यज्ञ जिसकी प्राप्तिका साधन है, यज्ञको समाप्त करनेवाला, यज्ञका गुप्त ज्ञान, अन्न, भोक्ता, ॥ ११८ ॥

आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ।
देवकीनन्दनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥ ११९ ॥

स्वयं उत्पत्तिका स्थान, स्वयं होनेवाला, विशेष रूपसे खोदनेवाला, सामगायन करनेवाला, देवकीनन्दन, सब भूतोंका उत्पादक, पृथ्वीका स्वामी, पापनाशन, ॥ ११९ ॥

×

शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः ।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥ १२० ॥

शङ्ख धारण करनेवाला, नन्दकनाम खड्गधारी, चक्री, शार्ङ्ग धनुषधारी, गदाधर, जिनके हाथमें चक्र है, क्षोभित न होनेवाला, प्रहार करनेवाले, सब आयुध जिसके पास हैं, ॥१२०॥

इतीदं कीर्तनीयस्य केशवस्य महात्मनः ।
नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥ १२१ ॥

इस प्रकार यह कीर्त्तनीय महात्मा केशवके दिव्य सहस्रनाम अशेष रूपसे वर्णन कर दिया ॥ १२१ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किंचित्सोऽमुत्रेह च मानवः ॥ १२२ ॥

जो मनुष्य सदा इसे सुनता है और इसका कीर्तन करता है, उसे इस लोक अथवा परलोकमें कुछ भी अशुभ प्राप्त नहीं होता ॥ १२२ ॥

वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥ १२३ ॥

ब्राह्मण इसे पाठ करनेसे वेदान्तपारदर्शी होता है, क्षत्रियको युद्धमें विजय प्राप्त होती है, वैश्य धनसम्पन्न होता है और शूद्रको सुख मिलता है ॥ १२३ ॥

धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात्कामी प्रजार्थी चाप्नुयात्प्रजाः ॥ १२४ ॥

धर्मकी इच्छावाला मनुष्य धर्मका लाभ करता है, अर्थकी इच्छावाला पुरुष अर्थका लाभ करता है। कामीजनोंको भोग प्राप्त होता है और संतानकी इच्छावाला संतान प्राप्त करता है ॥ १२४ ॥

भक्तिमान्यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत्प्रकीर्तयेत् ॥ १२५ ॥

जो भक्तिमान् पुरुष सदा प्रातःकालमें उठके पवित्र और तद्गतचित्त होकर वासुदेवका यह सहस्रनामका पाठ करता है ॥ १२५ ॥

यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च ।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयश्चाप्नोत्यनुत्तमम् ॥ १२६ ॥

उसे विपुल यश, स्वजनोंके निकट प्रधानता, अचला लक्ष्मी और उत्तम कल्याण प्राप्त होता है ॥ १२६ ॥

न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति ।
भवत्यरोगो द्युतिमान्बलरूपगुणान्वितः ॥ १२७ ॥

उसे किसी स्थानमें भय नहीं होता; वह वीर्य और तेज लाभ करता है। आरोग्यवान्, द्युतिमान् बलरूपसे युक्त और सर्वगुणसम्पन्न होता है ॥ १२७ ॥

रोगार्तो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतश्च मुच्येतापन्न आपदः ॥ १२८ ॥

रोगार्त्त पुरुष इसे सुननेसे रोगरहित होता है और बंधनमें पडा हुआ मनुष्य बन्धनसे छूट जाता है। भयभीत मनुष्य भयसे और विपद्ग्रस्त आपदोंसे मुक्त हुआ करता है ॥१२८॥

दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥ १२९ ॥

मनुष्य भक्तियुक्त होकर सदा पुरुषोत्तम भगवानका इन्हीं सहस्रनामोंके सहारे स्तव करनेसे शीघ्रही संकटोंसे छूटता है ॥ १२९ ॥

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥ १३० ॥

और वासुदेवका आश्रय करने और वासुदेवपरायण होनेसे सब पापोंसे रहित तथा पवित्र-चित्त होकर ब्रह्मपद पाता है ॥ १३० ॥

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं वाप्युपजायते ॥ १३१ ॥

वासुदेवके भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता है और न उन्हें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिका भय होता है ॥ १३१ ॥

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ॥ १३२ ॥

जो पुरुष श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इस स्तवका पाठ करता है, वह आत्मसुख, क्षमा, श्री, धृति, स्मृति और कीर्त्तियुक्त होता है ॥ १३२ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥ १३३ ॥

पुरुषोत्तममें भक्तियुक्त पुण्यवान् पुरुषोंको क्रोध, मत्सर, लोभ और अशुभ बुद्धि नहीं होती ॥ १३३ ॥

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥ १३४ ॥

स्वर्ग, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रोंके सहित आकाशमण्डल, सब दिशाएं, पृथ्वी तथा महासमुद्र —ये सब महानुभाव वासुदेवके प्रभावसे धारण किये गये हैं ॥ १३४ ॥

ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥ १३५ ॥

सुर-असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और उरगोंके सहित सचराचर जगत् श्रीकृष्णके वशवर्ती होकर विद्यमान है ॥ १३५ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥ १३६ ॥

इन्द्रियां, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, शरीर, जीव, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सभी वासुदेवमय हैं, ऐसा कहते हैं ॥ १३६ ॥

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥ १३७ ॥

सब शास्त्रोंमें आचार ही प्रथम माना जाता है, आचारसे धर्मकी उत्पत्ति हुआ करती है और अच्युत वासुदेव ही धर्मके प्रभु हैं ॥ १३७ ॥

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥ १३८ ॥

ऋषि, पितर, देवता, पञ्च महाभूत, सब धातु और स्थावरजंगमात्मक यह जगत्— यह सब नारायणसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १३८ ॥

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पानि कर्म च ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥ १३९ ॥

योग, ज्ञान, सांख्ययोग, सब विद्याएं, शिल्प, कर्म, वेद, शास्त्र, समस्त विज्ञान— ये सब जनार्दनसे प्रकट हुए हैं ॥ १३९ ॥

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥ १४० ॥

भूतात्मा अव्यय एकमात्र विष्णु ही महद्भूत और अनेक रूपसे पृथक् भूत हैं, वही विश्वभुक् त्रिभुवनमें व्यापक होके भोग कर रहा है ॥ १४० ॥

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।
पठेद्य इच्छेत्पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥ १४१ ॥

जो मनुष्य कल्याण तथा सुखलाभकी इच्छा करता है, वह वेदव्यासके कहे हुए भगवान् विष्णुका इस स्तोत्रका पाठ करे ॥ १४१ ॥

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३५ ॥ ५९७२ ॥

जो लोग जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके कारण, जन्मरहित, कमलनयन, विश्वेश्वर देवका भजन करते हैं, उनका कदापि पराभव नहीं होता ॥ १४२ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३५ ॥ ५९७२ ॥

: १३६ :

युधिष्ठिर उवाच—

के पूज्याः के नमस्कार्याः कथं वर्तेत केषु च ।
किमाचारः कीदृशेषु पितामह न रिष्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पितामह ! पूज्य कौन हैं ? किनको नमस्कार करना चाहिये ? किनके सङ्ग कैसा व्यवहार करना योग्य होता है ? कैसे पुरुषोंके साथ कैसा आचार करनेसे मनुष्यको हानिकर नहीं होता ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

ब्राह्मणानां परिभवः सादयेदपि देवताः ।
ब्राह्मणानां नमस्कर्ता युधिष्ठिर न रिष्यते ॥ २ ॥

भीष्म बोले— हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंका अपमान करनेसे देववृन्द भी दुःखित होते हैं, ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेवाला पुरुष पीडित नहीं होता ॥ २ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत् ।
ते हि लोकानिमान्सर्वान्धारयन्ति मनीषिणः ॥ ३ ॥

ब्राह्मण ही पूज्य हैं, वेही नमस्कारके योग्य हैं, उनके समीप पुत्रकी भांति बर्ताव करे; वे मनीषि ब्राह्मण इन सब लोकोंको धारण करते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतवः ।
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये ॥ ४ ॥

ब्राह्मण सब जगत्‌के लिये महान् धर्मसेतु स्वरूप हैं । वे धनका परित्याग करके प्रसन्न होते हैं और वाक्यसंयममें रत रहते हैं ॥ ४ ॥

रमणीयाश्च भूतानां निधनं च धृतव्रताः ।
प्रणेतारश्च लोकानां शास्त्राणां च यशस्विनः ॥ ५ ॥

वे सब भूतोंके लिये रमणीय, श्रेष्ठ निधि, दृढव्रती, लोगोंके नेता, शास्त्रोंके प्रणेता और यशस्वी हैं ॥ ५ ॥

तपो येषां धनं नित्यं वाक्चैव विपुलं बलम् ।
प्रभवश्चापि धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ६ ॥

तपस्या ही उनका सदा धन और वाणी ही उनका श्रेष्ठ बल है; वे सूक्ष्मदर्शी धर्मज्ञ ब्राह्मण धर्मोंकी उत्पत्तिके कारण हैं ॥ ६ ॥

धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृतैर्धर्मसेतवः ।
याजुपाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ॥ ७ ॥

धर्मकी कामना करनेवाले वे सदा पुण्य कर्मोंसे धर्ममें स्थित रहते हैं, वे ही धर्मसेतुस्वरूप हैं, उन्हींका सम्यक् रीतिसे अवलम्बन करके चार प्रकारकी सब प्रजा जीवन व्यतीत करती है ॥ ७ ॥

पन्थानः सर्वनेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ।
पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुरं सदा ॥ ८ ॥

सनातन यज्ञवाहक ब्राह्मण लोग सबके नेता और मार्गप्रदर्शक हैं, वेही पितृपितामह सम्बन्धीय गुरुतर भारोंको सदा वहन करते हैं ॥ ८ ॥

धुरि ये नावसीदन्ति विषमे सद्गवा इव ।
पितृदेवातिथिमुखा हव्यकव्याग्रभोजिनः ॥ ९ ॥

उत्तम बैल जैसे बोझ ढोनेमें आलस्य नहीं करता, वैसे ही वे धर्मका विषम भार उठानेमें कष्टका अनुभव नहीं करते; ब्राह्मण ही पितर, देवता और अतिथियोंके मुखस्वरूप हैं और हव्यकव्यका अग्रभाग भोजन करते हैं ॥ ९ ॥

भोजनादेव ये लोकांस्त्रायन्ते महतो भयात् ।
दीपाः सर्वस्य लोकस्य चक्षुश्चक्षुष्मतामपि ॥ १० ॥

और वे भोजनमात्रसे ही तीनों लोकोंको महत् भयसे परित्राण किया करते हैं; वेही सब लोकोंके दीपस्वरूप, वेही नेत्रवान् मनुष्योंके नेत्रस्वरूप हैं ॥ १० ॥

सर्वशिल्पादिनिधयो निपुणाः सूक्ष्मदर्शिनः ।
गतिज्ञाः सर्वभूतानामध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥ ११ ॥

वे समस्त शिल्पादि कलाओंका निधि हैं, वेही निपुण, सूक्ष्मदर्शी, सब भूतोंकी गतिके ज्ञाता और अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

आदिमध्यावसानानां ज्ञातारश्छिन्नसंशयाः
परावरविशेषज्ञा गन्तारः परमां गतिम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण आदि, मध्य और अन्तके ज्ञाता हैं, उनके सब सन्देह दूर हुए हैं; वे भूत-भविष्यके विशेषज्ञ हैं और वेही परमगति पाते हैं ॥ १२ ॥

विमुक्ता धुतपाप्मानो निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
मानार्हा मानिता नित्यं ज्ञानविद्भिर्महात्मभिः ॥ १३ ॥

वे लोग विमुक्त, पापरहित, निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह, मानार्ह और विद्वान् महात्माओंके द्वारा सदा सम्मानित होते हैं ॥ १३ ॥

चन्दने मलपङ्के च भोजनेऽभोजने समाः
समं येषां दुकूलं च शाणक्षौमाजिनानि च ॥ १४ ॥

वे चन्दन और मलपङ्कको समान जानते हैं, भोजन और उपवासमें समान दृष्टि रखते हैं, उनके लिये सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र और मृगाजिन समान हैं ॥ १४ ॥

तिष्ठेयुरप्यभुञ्जाना बहूनि दिवसान्यपि ।
शोषयेयुश्च गात्राणि स्वाध्यायैः संयतेन्द्रियाः ॥ १५ ॥

बहुत दिनोंतक बिना भोजन किये वे रह सकते हैं; वे संयतेन्द्रिय होकर स्वशाखोक्त वेदपाठ करते हुए शरीर सुखाया करते हैं ॥ १५ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
लोकानन्यान्सृजेयुश्च लोकपालांश्च कोपिताः ॥ १६ ॥

ब्राह्मण अपने तपसे जो देवता नहीं हैं, उसे देवता बना सकते हैं और देवताको भी देवत्वसे भ्रष्ट करनेमें समर्थ हैं; तथा क्रुद्ध होनेपर दूसरे लोकों या लोकपालोंको उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १६ ॥

अपेयः सागरो येषामभिशापान्महात्मनाम् ।
येषां कोपाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ॥ १७ ॥

उन्हीं महात्माओंके शापसे समुद्र भी अपेय हुआ है, उनकी कोपाग्नि आजतक भी दण्डकारण्यमें शान्त नहीं हुई ॥ १७ ॥

देवानामपि ये देवाः कारणं कारणस्य च ।
प्रमाणस्य प्रमाणं च कस्तानभिभवेद्बुधः ॥ १८ ॥

वे देवताओंके भी देवता, कारणके भी कारण और प्रमाणके भी प्रमाण स्वरूप हैं; कौन ज्ञानवान् मनुष्य उन ब्राह्मणोंका अपमान करेगा ? ॥ १८ ॥

येषां वृद्धश्च बालश्च सर्वः संमानमर्हति ।
तपोविद्याविशेषात्तु मानयन्ति परस्परम् ॥ १९ ॥

उनके बीच वृद्ध, बालक सभी संमानके योग्य हैं; तप, विद्या विशेषके सहारे वे लोग परस्परमें संमान प्रदर्शित किया करते हैं ॥ १९ ॥

अविद्वान्ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत् ।
विद्वान्भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसंनिभः ॥ २० ॥

अविद्वान् ब्राह्मण भी देवस्वरूप और महत् पवित्र पात्र माना गया है, विद्वान् ब्राह्मण तो उससे अधिक देवतुल्य और पूर्णसमुद्र सदृश गुणयुक्त है ॥ २० ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ २१ ॥

जिस प्रकार संस्कृत या असंस्कृत अग्नि महान् देवता ही है, उसी प्रकार अविद्वान् अथवा ब्राह्मण भी महान् देवतास्वरूप है ॥ २१ ॥

श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हविर्यज्ञेषु च वहन्भूय एवाभिशोभते ॥ २२ ॥

तेजस्वी अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होती, विधिपूर्वक हविर्यज्ञ और गृहके बीच विशेष रूपसे शोभित होती है ॥ २२ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥ ५९९५ ॥

ब्राह्मण यदि सदा अनिष्ट कार्योंमें भी वर्तमान रहे, तो भी सब भांतिसे माननीय है, उसे परम श्रेष्ठ देवता जानो ॥ २३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३६ ॥ ५९९५ ॥

---

१३७ :

युधिष्ठिर उवाच—

कां तु ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा जनाधिप।
कं वा कर्मोदयं मत्वा तानर्चसि महामते ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महाप्राज्ञ नरनाथ ! किस प्रकारके फलको देखके तथा कैसे कर्मोदयको जानकर आप उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पवनस्य च संवादमर्जुनस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्म बोले– हे भारत ! प्राचीन लोग इस विषयमें वायुदेवता और कार्तवीर्य अर्जुनके संवाद-युक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

सहस्रभुजभृच्छ्रीमान्कार्तवीर्योऽभवत्प्रभुः।
अस्य लोकस्य सर्वस्य माहिष्मत्यां महाबलः ॥ ३ ॥

माहिष्मती नगरीमें सहस्रभुजयुक्त महाबली श्रीमान् कार्तवीर्य अर्जुन नामवाला राजा समस्त जगत्का शासन करता था ॥ ३ ॥

स तु रत्नाकरवतीं सद्वीपां सागराम्बराम्।
शशास सर्वां पृथिवीं हैहयः सत्यविक्रमः ॥ ४ ॥

उस हैहयवंशीय सत्यपराक्रमी वीरने रत्नाकरवती ससागराम्बरा सद्वीपा समस्त पृथ्वी मण्डलको शासित किया था ॥ ४ ॥

स्ववित्तं तेन दत्तं तु दत्तात्रेयाय कारणे।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य विनयं श्रुतमेव च ॥ ५ ॥
आराधयामास च तं कृतवीर्यात्मजो मुनिम्।
न्यमन्त्रयत संहृष्टो द्विजश्च वरैस्त्रिभिः ॥ ६ ॥

उन्होंने किसी कारणसे दत्तात्रेय मुनिको अपना सारा धन प्रदान किया था, उस कृतवीर्यात्मज अर्जुनने क्षत्रियधर्मका अनुसरण करके, विनय और शास्त्रविधिके अनुसार उस मुनिकी आराधना की थी। मुनिवरने प्रसन्न होकर उसे तीन वर मांगनेको कहा ॥ ५–६ ॥

स वरैश्छन्दितस्तेन नृपो वचनमब्रवीत्।
सहस्रबाहुर्भूयां वै चमूमध्ये गृहेऽन्यथा ॥ ७ ॥

राजा मुनिके समीप तीन वर पानेकी बात सुनके बोला, युद्धके बीच मेरी हजार भुजा होवें और गृहमें मेरी दोही बाँहें रहें ॥ ७ ॥

अस्य बाहुसहस्रं तु पश्यन्तां सैनिका रणे ।
विक्रमेण महीं कृत्स्नां जयेयं विपुलव्रत ।
तां च धर्मेण संप्राप्य पालयेयमतन्द्रितः ॥ ८ ॥

युद्धमें सब सैनिक मेरी एक हजार भुजाएं अवलोकन करें । हे श्रेष्ठ व्रतवाले मुनि ! मैं अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीमण्डलको जीत लूं और धर्मपूर्वक उसे पाकर आलस्यरहित होके पालन करूं ॥ ८ ॥

चतुर्थं तु वरं याचे त्वामहं द्विजसत्तम ।
तं ममानुग्रहकृते दातुमर्हस्यनिन्दित ।
अनुशासन्तु मां सन्तो मिथ्यावृत्तं तदाश्रयम् ॥ ९ ॥

हे द्विजसत्तम ! मैं इन तीन वरोंके सिवा आपके समीप और एक चौथा वर पानेके लिये प्रार्थना करता हूं । हे अनिंदित ! आप मुझपर कृपा करके उसे भी प्रदान करें; यदि मैं आपके आश्रयमें रहके कभी असत्य मार्गका आश्रय लूं तो साधुगण मुझे अनुशासित करें ॥९॥

इत्युक्तः स द्विजः प्राह तथास्त्विति नराधिपम् ।
एवं समभवंस्तस्य वरास्ते दीप्ततेजसः ॥ १० ॥

श्रेष्ठ मुनिने राजाका ऐसा वचन सुनके उसे तथास्तु कहके वर दिया । इस ही प्रकार उस अत्यंत तेजस्वी राजाके लिये वे सब वर सफल हुए ॥ १० ॥

ततः स रथमास्थाय ज्वलनार्कसमद्युतिः ।
अब्रवीद्वीर्यसंमोहात्को न्वस्ति सदृशो मया ।
वीर्यधैर्ययशःशौचैर्विक्रमेणौजसापि वा ॥ ११ ॥

अनन्तर वह राजा सूर्य और अग्निसदृश तेजस्वी रथपर चढकर वीर्य–संमोहके वशमें होकर कहने लगा, " वीर्य, धैर्य, यश, शौर्य, पराक्रम और तेजमें मेरे समान कौन है ?" ॥११॥

तद्वाक्यान्ते चान्तरिक्षे वागुवाचाशरीरिणी ।
न त्वं मूढ विजानीषे ब्राह्मणं क्षत्रियाद्वरम् ।
सहितो ब्राह्मणेनेह क्षत्रियो रक्षति प्रजाः ॥ १२ ॥

उसका वचन समाप्त होनेपर ही आकाशमें अशरीरिणी आकाशवाणी हुई । ' रे मूढ ! क्या तू नहीं जानता, कि ब्राह्मण क्षत्रियसे श्रेष्ठ है; क्षत्रिय ब्राह्मणके सङ्ग मिलकर इस लोकमें प्रजाकी रक्षा करता है ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच—

कुर्यां भूतानि तुष्टोऽहं क्रुद्धो नाशं तथा नये ।
कर्मणा मनसा वाचा न मत्तोऽस्ति वरो द्विजः ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—मैं सन्तुष्ट होनेपर सब भूतोंकी सृष्टि कर सकता हूं और क्रुद्ध होनेपर सबको विनष्ट करनेमें समर्थ हूं; इसलिये वचन, मन और कर्मसे मेरी अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ नहीं है ॥ १३ ॥

पूर्वो ब्रह्मोत्तरो वादो द्वितीयः क्षत्रियोत्तरः ।
त्वयोक्तौ यौ तु तौ हेतू विशेषस्त्वत्र दृश्यते ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंका प्राधान्यवाद पूर्वपक्ष और क्षत्रियोंका आधिक्यवाक्य सिद्धान्तपक्ष है; तुमने ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको हेतुयुक्त कहा है, किन्तु उस विषयमें यह विशेष अन्तर दीखता है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणाः संश्रिताः क्षत्रं न क्षत्रं ब्राह्मणाश्रितम् ।
श्रितान्ब्रह्मोपधा विप्राः खादन्ति क्षत्रियान्भुवि ॥ १५ ॥

ब्राह्मण लोग क्षत्रियोंका आसरा किया करते हैं, परन्तु क्षत्रिय ब्राह्मणका आसरा नहीं करता; ब्राह्मण वेदाध्ययन छलनिबन्धनसे इस जगत्में क्षत्रियोंके सहारे भोजन किया करते हैं ॥ १५ ॥

क्षत्रियेष्वाश्रितो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।
क्षत्राद्वृत्तिर्ब्राह्मणानां तैः कथं ब्राह्मणो वरः ॥ १६ ॥

प्रजासमूहके पालनका धर्म क्षत्रियोंके आश्रित है, क्षत्रियोंसे ब्राह्मणकी जीविका हुआ करती है, तब क्षत्रियोंसे ब्राह्मण किस प्रकार श्रेष्ठ हो सकता है ? ॥ १६ ॥

सर्वभूतप्रधानांस्तान्भैक्षवृत्तीनहं सदा ।
आत्मसंभावितान्विप्रान्स्थापयाम्यात्मनो वशे ॥ १७ ॥

मैं सब प्राणियोंकी अपेक्षा उन प्रधान, भिक्षावृत्तिशाली और अपनेको सबसे उत्तम माननेवाले ब्राह्मणोंको अपने अधीनमें स्थापित करूंगा ॥ १७ ॥

कथितं ह्यनया सत्यं गायत्र्या कन्यया दिवि ।
विजेष्याम्यवशान्सर्वान्ब्राह्मणांश्चर्मवाससः ॥ १८ ॥

सुरलोकमें स्थित इस गायत्री कन्याने सत्य वचन ही कहा है; मैं अवश तथा अजिनवस्त्रधारी ब्राह्मणोंको जीत लूंगा ॥ १८ ॥

न च मां च्यावयेद्राष्ट्रात्त्रिषु लोकेषु कश्चन ।
देवो वा मानुषो वापि तस्माज्ज्येष्ठो द्विजादहम् ॥ १९ ॥

तीनों लोकोंके बीच ऐसा कोई देवता वा मनुष्य नहीं है, जो मुझे राज्यसे च्युत कर सके, इसलिये मैं ब्राह्मणसे अवश्यही श्रेष्ठ हूं ॥ १९ ॥

अद्य ब्रह्मोत्तरं लोकं करिष्ये क्षत्रियोत्तरम् ।
न हि मे संयुगे कश्चित्सोढुमुत्सहते बलम् ॥ २० ॥
आज मैं ब्राह्मणप्रधान लोकको क्षत्रियप्रधान करूंगा, क्योंकि युद्धके बीच मेरे बलको सहनेमें किसीका भी उत्साह नहीं है ॥ २० ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा वित्रस्ताभून्निशाचरी ।
अथैनमन्तरिक्षस्थस्ततो वायुरभाषत ॥ २१ ॥
अर्जुनका यह वचन सुनके निशाचरी भयभीत हुई । अनन्तर आकाशमें स्थित वायुने कहा ॥ २१ ॥

त्यजैनं कलुषं भावं ब्राह्मणेभ्यो नमस्कुरु ।
एतेषां कुर्वतः पापं राष्ट्रक्षोभो हि ते भवेत् ॥ २२ ॥
यह दूषितभाव परित्याग करके ब्राह्मणोंको नमस्कार करो; ब्राह्मणोंके विषयमें पापाचरण करनेसे तेरे राज्यमें क्षोभ उत्पन्न होगा ॥ २२ ॥

अथ वा त्वां महीपाल शमयिष्यन्ति वै द्विजाः ।
निरसिष्यन्ति वा राष्ट्राद्धतोत्साहं महाबलाः ॥ २३ ॥
अथवा हे महीपाल ! महान् बलवान् ब्राह्मण लोगही तुम्हें शान्त करेंगे; वे तुम्हें उत्साहरहित करके राज्यसे बाहर निकाल देंगे ॥ २३ ॥

तं राजा कस्त्वमित्याह ततस्तं प्राह मारुतः ।
वायुर्वै देवदूतोऽस्मि हितं त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २४ ॥
यह सुनकर राजाने उनसे पूछा, तुम कौन हो ? वायुने कहा— मैं देवदूत पवन हूं और तुमसे हितकर वचन कहता हूं ॥ २४ ॥

अर्जुन उवाच—
अहो त्वयाद्य विप्रेषु भक्तिरागः प्रदर्शितः ।
यादृशं पृथिवी भूतं तादृशं ब्रूहि वै द्विजम् ॥ २५ ॥
अर्जुन बोले— क्याही आश्चर्य है ! इस समय तुम ब्राह्मणोंके विषयमें भक्ति और अनुराग प्रदर्शित करते हैं; ब्राह्मणको पृथ्वीके सदृश क्षमाशील कहते हो, तो ऐसे द्विजको बताइये ॥ २५ ॥

वायोर्वा सदृशं किंचिद्ब्रूहि त्वं ब्राह्मणोत्तमम् ।
अपां वै सदृशं ब्रूहि सूर्यस्य नभसोऽपि वा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥ ६०२१ ॥

अथवा कोई वायुके सदृश वा जलके समान, किंवा सूर्य अथवा आकाशके सदृश श्रेष्ठ ब्राह्मण हो, तो उसे बताइये ॥ २६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३७ ॥ ६०२१ ॥

: १३८ :

वायुरुवाच—

शृणु मूढ गुणान्कांश्चिद्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
ये त्वया कीर्तिता राजंस्तेभ्योऽथ ब्राह्मणो वरः ॥ १ ॥

वायु बोले— हे मूढ ! महानुभाव ब्राह्मणोंके कुछ गुणोंको सुनो । हे महाराज ! तुमने जिनका नाम लिया, ब्राह्मण उनसे भी श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

त्यक्त्वा महीत्वं भूमिस्तु स्पर्धयाङ्गनृपस्य तु ।
नाशं जगाम तां विप्रो व्यष्टम्भयत कश्यपः ॥ २ ॥

पृथ्वी अङ्गराजके सङ्ग स्पर्द्धा करके अपने रूपका परित्याग करके अदृश्य हुई थी, तब विप्रवर कश्यपने उस पृथ्वीको रोक रक्खा था ॥ २ ॥

अक्षया ब्राह्मणा राजन्दिवि चेह च नित्यदा ।
अपिबत्तेजसा ह्यापः स्वयमेवाङ्गिराः पुरा ॥ ३ ॥

महाराज ! ब्राह्मण लोग इस लोक और सुरलोकमें भी सदा अक्षय हैं । पहले समयमें अङ्गिराने निज तेजके प्रभावसे समस्त जलका पान किया था ॥ ३ ॥

स ताः पिबन्क्षीरमिव नातृप्यत महातपाः ।
अपूरयन्महौघेन महीं सर्वां च पार्थिव ॥ ४ ॥

वह महातपस्वी क्षीरकी भांति पृथ्वीके सारेजलको पीके भी तृप्त नहीं हुए । हे पार्थिव ! फिर उन्होंने महान् प्रवाह बहाकर समस्त पृथ्वीमण्डलको परिपूरित किया था ॥ ४ ॥

तस्मिन्नहं च क्रुद्धे वै जगत्त्यक्त्वा ततो गतः ।
व्यतिष्ठमग्निहोत्रे च चिरमङ्गिरसो भयात् ॥ ५ ॥

उनके क्रुद्ध होनेपर मैंने भी जगत् छोडके गमन किया और अङ्गिराके भयसे बहुत समयतक अग्निहोत्रमें निवास किया था ॥ ५ ॥

अभिशप्तश्च भगवान्गौतमेन पुरंदरः ।
अहल्यां कामयानो वै धर्मार्थं च न हिंसितः ॥ ६ ॥

और भगवान् इन्द्र अहल्याकी कामना करके गौतमके द्वारा अभिशप्त हो गये थे; धर्मकी रक्षाके लिये हिंसित नहीं हुए ॥ ६ ॥

तथा समुद्रो नृपते पूर्णो मृष्टेन वारिणा ।
ब्राह्मणैरभिशप्तः सँल्लवणोदः कृतो विभो ॥ ७ ॥

हे राजन् ! विभो ! समुद्र मीठे जलसे युक्त प्रकट हुआ था, वह ब्राह्मणोंके शापसे खारा पानीवाला हुआ है ॥ ७ ॥

सुवर्णवर्णो निर्धूमः संहतोर्ध्वशिखः कविः ।
क्रुद्धेनाङ्गिरसा शप्तो गुणैरेतैर्विवर्जितः ॥ ८ ॥

सुवर्णवर्ण निर्धूमयुक्त उर्ध्वशिख कवि हुताशन क्रुद्ध अंगिराके द्वारा अभिशापित होकर पूर्वोक्त गुणोंसे रहित हुए थे ॥ ८ ॥

मरुतश्चूर्णितान्पश्य येऽहसन्त महोदधिम् ।
सुवर्णधारिणा नित्यमवशप्ता द्विजातिना ॥ ९ ॥

हे राजन् ! देखिये, सगरके पुत्रगण, जिन्होंने महोदधिकी उपासना की थी, वे सब उत्तम ब्राह्मणवर्णधारी द्विजाति कपिलके द्वारा अभिशापयुक्त होकर दग्ध हुए हैं ॥ ९ ॥

समो न त्वं द्विजातिभ्यः श्रेष्ठं विद्धि नराधिप ।
गर्भस्थान्ब्राह्मणान्सम्यङ्नमस्यति किल प्रभुः ॥ १० ॥

हे नरनाथ ! तुम ब्राह्मणोंके सदृश–तुल्य नहीं हो, तुम अपने कल्याणकी चिन्ता करो; भगवान् गर्भस्थ ब्राह्मणोंको भी सदा नमस्कार करता है ॥ १० ॥

दण्डकानां महद्राज्यं ब्राह्मणेन विनाशितम् ।
तालजङ्घं महत्क्षत्रमौर्वेणैकेन नाशितम् ॥ ११ ॥

दण्डक राजाओंका महान् राज्य ब्राह्मणके द्वारा नष्ट हुआ; तालजङ्घ नामक महान् क्षत्रिय वंशको अकेले और्वने नष्ट किया ॥ ११ ॥

त्वया च विपुलं राज्यं बलं धर्मः श्रुतं तथा ।
दत्तात्रेयप्रसादेन प्राप्तं परमदुर्लभम् ॥ १२ ॥

तुम्हें भी दत्तात्रेय मुनिकी कृपासे परम दुर्लभ विपुल राज्य, बल, धर्म और शास्त्रज्ञान प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

अग्निं त्वं यजसे नित्यं कस्मादर्जुन ब्राह्मणम् ।
स हि सर्वस्य लोकस्य हव्यवाट्किं न वेत्सि तम् ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! तुम ब्राह्मणरूपी अग्निदेवकी किस निमित्त सदा पूजा–यजन करते हो ? वेही सब लोकोंके हव्य कव्यको वहन करते हैं, क्या तुम उन्हें नहीं जानते ? ॥ १३ ॥

अथ वा ब्राह्मणश्रेष्ठमनु भूतानुपालकम् ।
कर्तारं जीवलोकस्य कस्माज्जानन्विमुह्यसे ॥ १४ ॥

अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रत्येक भूत–प्राणीके पालनकर्त्ता है, इसलिये ब्राह्मणको जीवलोकका कर्त्ता जानके भी तुम क्यों मोहित होते हो ? ॥ १४ ॥

तथा प्रजापतिर्ब्रह्मा अव्यक्तः प्रभवाव्ययः ।
येनेदं निखिलं विश्वं जनितं स्थावरं चरम् ॥ १५ ॥

अव्यक्त और अव्यय प्रभु पितामह ब्रह्मा जिन्होंने इस स्थावर—जङ्गममय निखिल विश्वकी सृष्टि की है, वेही ब्राह्मण हैं ॥ १५ ॥

अण्डजातं तु ब्रह्माणं केचिदिच्छन्त्यपण्डिताः ।
अण्डाद्भिन्नाद्बभुः शैला दिशोऽम्भः पृथिवी दिवम् ॥ १६ ॥

कुछ मूर्ख मनुष्य ब्रह्माको अण्डसे उत्पन्न हुए मानते हैं; फूटे हुए अण्डसे पर्वत, दिङ्मण्डल, जल, पृथ्वी और आकाशकी उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥

द्रष्टव्यं नैतदेवं हि कथं ज्यायस्तमो हि सः ।
स्मृतमाकाशमण्डं तु तस्माज्जातः पितामहः ॥ १७ ॥

यह द्रष्टव्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा तम होकर किस प्रकार जन्म ले सकते हैं ? आकाश अण्डरूपसे स्मृत हुआ है, पितामह उसही आकाशसे प्रकट हुए हैं ॥ १७ ॥

तिष्ठेत्कथमिति ब्रूहि न किंचिद्धि तदा भवेत् ।
अहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोगतः प्रभुः ॥ १८ ॥

उस समय कुछ भी आधार नहीं था, इसलिये ब्रह्माने वहां किस भांति निवास किया ? उसे वर्णन करो, ऐसा कहोगे तो—उत्तरमें कहेंगे, हे राजन् ! सर्वतेजगत प्रभु अहङ्कार नामसे अभिहित होते हैं ॥ १८ ॥

नास्त्यण्डमस्ति तु ब्रह्मा स राजँल्लोकभावनः ।
इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद्वायुस्तमब्रवीत् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥ ६०४० ॥

हे राजन् ! अण्ड नामकी कोई वस्तु नहीं है, परंतु ब्रह्माका अस्तित्व है, कारण कि वेही जगत्के विधाता—उत्पादक हैं । उस समय इतनी कथा सुनके राजा अर्जुन चुप होगये; अनन्तर फिर वायु उनसे कहने लगे ॥ १९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३८ ॥ ६०४० ॥

: १३९ :

वायुरुवाच—

इमां भूमिं ब्राह्मणेभ्यो दित्सुर्वै दक्षिणां पुरा ।
अङ्गो नाम नृपो राजंस्ततश्चिन्तां मही ययौ ॥ १ ॥

वायु बोले— हे महाराज ! पहले समयमें अङ्ग नामक राजाने ब्राह्मणोंको दक्षिणा स्वरूपमें इस पृथ्वीको दान करनेकी इच्छा की; यह जानकर पृथ्वी चिंतित हुई ॥ १ ॥

धारणीं सर्वभूतानामयं प्राप्य वरो नृपः ।
कथमिच्छति मां दातुं द्विजेभ्यो ब्रह्मणः सुताम् ॥ २ ॥

उस समय पृथ्वीने सोचा, कि मैं सब प्राणियोंको धारण करनेवाली और ब्रह्माकी पुत्री हूं; तब यह राजा मुझे पाके किस निमित्त ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये अभिलाषी हुआ है ? ॥ २ ॥

साहं त्यक्त्वा गमिष्यामि भूमित्वं ब्रह्मणः पदम् ।
अयं सराष्ट्रो नृपतिर्मा भूदिति ततोऽगमत् ॥ ३ ॥

जो हो, मैं भूमित्वका परित्याग करके ब्रह्मलोकमें चली जाऊंगी, इस कारण यह राजा राज्य-हीन हो जायगा; ऐसा विचार करके पृथ्वी चली गई ॥ ३ ॥

ततस्तां कश्यपो दृष्ट्वा व्रजन्तीं पृथिवीं तदा ।
प्रविवेश महीं सद्यो मुक्त्वात्मानं समाहितः ॥ ४ ॥

अनन्तर कश्यप ऋषिने पृथ्वीको जाती हुई देखके उसही समय योगबलसे अपना शरीर परित्याग करके इस स्थूल महीदेहमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥

रुद्धा सा सर्वतो जज्ञे तृणौषधिसमन्विता ।
धर्मोत्तरा नष्टभया भूमिरासीत्ततो नृप ॥ ५ ॥

हे राजन् ! तब पृथ्वी तृण–ओषधियोंसे युक्त तथा सब भांतिसे समृद्धिसम्पन्न हुई । अनन्तर पृथ्वीपर धर्मकी प्रधानता हुई और सब भय नष्ट हुआ ॥ ५ ॥

एवं वर्षसहस्राणि दिव्यानि विपुलव्रतः ।
त्रिंशतं कश्यपो राजन्भूमिरासीदतन्द्रितः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! इस ही प्रकार देवपरिमाणसे तीस हजार वर्षोंतक विपुल व्रतधारी तथा सावधान वृत्तिवाले कश्यप पृथ्वीके रूपमें रहे ॥ ६ ॥

अथागम्य महाराज नमस्कृत्य च कश्यपम् ।
पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! अनन्तर पृथ्वीने ब्रह्मलोकसे आके महात्मा कश्यपको नमस्कार किया और उस समय महानुभाव कश्यपकी कन्या होनेसे काश्यपी नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ ७ ॥

एष राजन्नीदृशो वै ब्राह्मणः कश्यपोऽभवत् ।
अन्यं प्रब्रूहि चापि त्वं कश्यपात्क्षत्रियं वरम् ॥ ८ ॥

हे राजन् ! कश्यप ब्राह्मण थे और ऐसे पराक्रमी थे; कोई दूसरा क्षत्रिय कश्यपसे श्रेष्ठ है तो तुम ही बताओ ॥ ८ ॥

तूष्णीं बभूव नृपतिः पवनस्त्वब्रवीत्पुनः ।
शृणु राजन्नुतथ्यस्य जातस्याङ्गिरसे कुले ॥ ९ ॥

इतनी कथा सुनके राजा चुप हो रहा । फिर पवन बोले, हे राजन् ! आङ्गिरस कुलमें उत्पन्न उतथ्यका वृत्तान्त सुनो ॥ ९ ॥

भद्रा सोमस्य दुहिता रूपेण परमा मता ।
तस्यास्तुल्यं पतिं सोम उतथ्यं समपश्यत ॥ १० ॥

सोमकी कन्या भद्रा परम रूपवती मानी जाती थी; सोमने उतथ्यको उसके योग्य पति जाना था ॥ १० ॥

सा च तीव्रं तपस्तेपे महाभागा यशस्विनी ।
उतथ्यं तु महाभागं तत्कृतेऽवरयत्तदा ॥ ११ ॥

उस महाभागा यशस्विनीने महात्मा उतथ्यको पति रूपमें स्वीकार करके उनको प्राप्त करनेके लिये घोर तपस्या की ॥ ११ ॥

तत आहूय सोतथ्यं ददावत्र यशस्विनीम् ।
भार्यार्थे स च जग्राह विधिवद्भूरिदक्षिणः ॥ १२ ॥

अनन्तर सोमके पिता अत्रिने उतथ्यको बुलाकर वह यशस्विनी कन्या दान की; बहुत दक्षिणा देनेवाले उतथ्यने भी उसे भार्या रूपसे विधिपूर्वक ग्रहण किया ॥ १२ ॥

तां त्वकामयत श्रीमान्वरुणः पूर्वमेव ह ।
स चागम्य वनप्रस्थं यमुनायां जहार ताम् ॥ १३ ॥

श्रीमान् वरुणने पहलेसे ही उस कामिनीके लिये कामना की थी, इसलिये उन्होंने वनमें स्थित आश्रमके पास आकर यमुनाके तटपर उसका अपहरण किया ॥ १३ ॥

जलेश्वरस्तु हृत्वा तामनयत्स्वपुरं प्रति ।
परमाद्भुतसंकाशं षट्सहस्रशतह्रदम् ॥ १४ ॥

जलोंके स्वामी वरुणने उसको हरकर अपने अत्यंत अद्भुत नगरीमें लाया; उसमें छः हजार बिजलियां प्रकाशित हो रही थीं ॥ १४ ॥

न हि रम्यतरं किंचित्तस्मादन्यत्पुरोत्तमम् ।
प्रासादैरप्सरोभिश्च दिव्यैः कामैश्च शोभितम् ।
तत्र देवस्तया सार्धं रेमे राजञ्जलेश्वरः ॥ १५ ॥

वरुणपुरीसे बढके और कोई दूसरा अत्यंत रमणीय और श्रेष्ठ नगर नहीं है; वह अनंत प्रासाद, अप्सराओं और दिव्यकामोंसे शोभित था । हे राजन् ! जलेश्वर उस पुरीके बीच उतथ्यभार्याके सङ्ग क्रीडा करने लगे ॥ १५ ॥

×

अथाख्यातमुतथ्याय ततः पत्न्यवमर्दनम् ॥ १६ ॥

अनन्तर नारदने उतथ्यसे उसकी भार्या हरनेका और उसके साथ बलात्कार करनेका वृत्तान्त कहा ॥ १६ ॥

तच्छ्रुत्वा नारदात्सर्वमुतथ्यो नारदं तदा ।
प्रोवाच गच्छ ब्रूहि त्वं वरुणं परुषं वचः ।
मद्वाक्यान्मुञ्च मे भार्यां कस्माद्वा हृतवानसि ॥ १७ ॥

उतथ्य नारदके मुखसे ऐसा समाचार सुनके उस समय उनसे बोले, आप वरुणके निकट जाके उससे मेरा यह कठोर संदेश कहिये, कि मेरे वचनके अनुसार मेरी भार्याको छोड दो, तुमने क्यों उसे हरण किया ? ॥ १७ ॥

लोकपालोऽसि लोकानां न लोकस्य विलोपकः ।
सोमेन दत्ता भार्या मे त्वया चापहृताद्य वै ॥ १८ ॥

तुम लोगोंके लिये लोकपाल हो, लोकोंके विलोपकारी नहीं हो; सोमने मुझे अपनी कन्या भार्याके स्वरूपमें दी है, तुमने आज उसे क्यों हरण किया ? ॥ १८ ॥

इत्युक्तो वचनात्तस्य नारदेन जलेश्वरः ।
मुञ्च भार्यामुतथ्यस्येत्यथ तं वरुणोऽब्रवीत् ।
ममैषा सुप्रिया भार्या नैनामुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ १९ ॥

उतथ्यका यह सब वचन नारदमुनिने जलेश्वरको सुनाया और जब नारदने कहा, तुम उतथ्यकी भार्याको छोड दीजिये; तब वरुण उनसे बोले, यह मेरी भी अत्यन्त प्यारी भार्या है, मैं इसे परित्याग नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

इत्युक्तो वरुणेनाथ नारदः प्राप्य तं मुनिम् ।
उतथ्यमब्रवीद्वाक्यं नातिहृष्टमना इव ॥ २० ॥

जब वरुणने ऐसा वचन कहा, तब नारद उतथ्य मुनिके निकट आके खिन्न वदनसे बोले ॥ २० ॥

गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽस्मि वरुणेन महामुने ।
न प्रयच्छति ते भार्यां यत्ते कार्यं कुरुष्व तत् ॥ २१ ॥

हे महामुनि ! वरुणने मुझे गर्दनमें हाथ लगाकर ढकेल दिया है; वह तुम्हारी भार्याको नहीं दे रहे हैं; अब तुम्हें जो करना हो, वह करो ॥ २१ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्राज्वलदङ्गिराः ।
अपिबत्तेजसा वारि विष्टभ्य सुमहातपाः ॥ २२ ॥

महातपस्वी उतथ्य मुनि नारदका वचन सुनके क्रुद्ध और प्रज्वलित हुए और निज तेज-प्रभावसे सारे जलको विष्टम्भनपूर्वक पीने लगे ॥ २२ ॥

पीयमाने तु सर्वस्मिंस्तोये वै सलिलेश्वरः ।
सुहृद्भिः क्षिप्यमाणोऽपि नैवामुञ्चत तां तदा ॥ २३ ॥

जब सब जल पीया जाने लगा, उस समय सुहृदोंसे तिरस्कृत होकर भी जलेश्वरने उनकी भार्या छोड नहीं दी ॥ २३ ॥

ततः क्रुद्धोऽब्रवीद् भूमिमुतथ्यो ब्राह्मणोत्तमः ।
दर्शयस्व स्थलं भद्रे षट्सहस्रशतह्रदम् ॥ २४ ॥

अनन्तर द्विजवर उतथ्य क्रुद्ध होकर भूमिसे बोले, हे भद्रे ! छः हजार ह्रद–बिजलियां विशिष्ट स्थल मुझे दिखाओ ॥ २४ ॥

ततस्तदिरिणं जातं समुद्रश्चापसर्पितः ।
तस्माद्देशान्नदीं चैव प्रोवाचासौ द्विजोत्तमः ॥ २५ ॥

अनन्तर समुद्रके सूखने या खिसक जानेके कारण वहांका सारा स्थान ऊसर हो गया । उस ब्राह्मणश्रेष्ठने उस देशसे निकलकर बहनेवाली सरस्वती नदीसे कहा ॥ २५ ॥

अदृश्या गच्छ भीरु त्वं सरस्वति मरुं प्रति ।
अपुण्य एष भवतु देशस्त्यक्तस्त्वया शुभे ॥ २६ ॥

हे भीरु सरस्वती ! तुम अदृश्य होकर मरु प्रदेशमें जाओ । हे शुभे ! तुमसे परित्यक्त होके यह देश पुण्यहीन हो जाय ॥ २६ ॥

तस्मिन्संचूर्णिते देशे भद्रामादाय वारिपः ।
अददाच्छरणं गत्वा भार्यामाङ्गिरसाय वै ॥ २७ ॥

अनन्तर उस देशके पूरी रीतिसे सूखनेपर वरुण भद्राको लेकर उतथ्य मुनिके शरणागत हुए और उन्होंने आङ्गिरसको उनकी भार्या प्रत्यर्पण की ॥ २७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां भार्यामुतथ्यः सुमना भवत् ।
मुमोच च जगद्दुःखाद्वरुणं चैव हैहय ॥ २८ ॥

हे हैहय ! उतथ्य अपनी भार्या पाके प्रसन्न हुए और जगत् और वरुणको जलके दुःखसे मुक्त कर दिया ॥ २८ ॥

ततः स लब्ध्वा तां भार्यां वरुणं प्राह धर्मवित् ।
उतथ्यः सुमहातेजा यत्तच्छृणु नराधिप ॥ २९ ॥

हे नराधिप ! महातेजस्वी धर्मज्ञ उतथ्यने अपनी भार्या पाके वरुणसे जो वचन कहा, वह सुनो ॥ २९ ॥

मयैषा तपसा प्राप्ता क्रोशतस्ते जलाधिप ।
इत्युक्त्वा तामुपादाय स्वमेव भवनं ययौ । ॥ ३० ॥

"हे जलाधिप ! तुम्हारे आक्रोश प्रकाश करनेपर भी मैंने अपनी इस पत्नीको तपस्याके द्वारा पाया है," ऐसा वचन कहके वह अपनी भार्या लेकर निजगृहपर गये ॥ ३० ॥

एष राजन्नीदृशो वै उतथ्यो ब्राह्मणर्षभः ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमुतथ्यात्क्षत्रियं वरम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥ ६०७१ ॥

हे राजन् ! वह उतथ्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। यह मैं तुमसे कहता हूं; उतथ्यकी अपेक्षा कौन क्षत्रिय श्रेष्ठ है ? तुम उसे बताओ ॥ ३१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ उनतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३९ ॥ ६०७१ ॥

: १४० :

भीष्म उवाच—

इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद्वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन्नगस्त्यस्य माहात्म्यं ब्राह्मणस्य ह ॥ १ ॥

भीष्म बोले– वह राजा इतनी कथा सुनके चुप होरहा। अनन्तर वायुने कहा, हे महाराज! द्विजश्रेष्ठ अगस्त्यका माहात्म्य सुनो ॥ १ ॥

असुरैर्निर्जिता देवा निरुत्साहाश्च ते कृताः ।
यज्ञाश्चैषां हृताः सर्वे पितृभ्यश्च स्वधा तथा ॥ २ ॥

असुरोंने देवताओंको पराजित करके उनका उत्साह नष्ट किया। उनका यज्ञभाग और पितरोंका स्वधा मन्त्रके द्वारा प्रदत्त कव्यादि भी हृत हुआ था ॥ २ ॥

कर्मेज्या मानवानां च दानवैर्हैहयर्षभ ।
भ्रष्टैश्वर्यास्ततो देवाश्चेरुः पृथ्वीमिति श्रुतिः ॥ ३ ॥

हे हैहयश्रेष्ठ ! ऐसी जनश्रुति है, कि मनुष्योंका यज्ञकर्म नष्ट होनेसे देवगण ऐश्वर्यभ्रष्ट होकर इस पृथ्वीतलमें विचरते थे ॥ ३ ॥

ततः कदाचित्ते राजन्दीप्तमादित्यवर्चसम् ।
ददृशुस्तेजसा युक्तमगस्त्यं विपुलव्रतम् ॥ ४ ॥

हे महाराज ! अनन्तर किसी समय उन देवताओंने आदित्यसदृश तेजसे युक्त तपस्वी, प्रदीप्त और विपुलव्रती अगस्त्यको देखा ॥ ४ ॥

अभिवाद्य च तं देवा दृष्ट्वा च यशसा वृतम् ।
इदमूचुर्महात्मानं वाक्यं काले जनाधिप ॥ ५ ॥

हे नरनाथ ! वे लोग उस महात्मा यशस्वी अगस्त्यको प्रणाम करके समय पर यह वचन बोले ॥ ५ ॥

दानवैर्युधि भग्नाः स्म तथैश्वर्याच्च भ्रंशिताः ।
तदस्मान्नो भयात्तीव्रात्त्राहि त्वं मुनिपुंगव ॥ ६ ॥

हे मुनिपुङ्गव ! हम लोग युद्धमें दानवोंके द्वारा पराजित तथा ऐश्वर्यभ्रष्ट हुए हैं, इसलिये आप हमें इस तीव्र भयसे परित्राण करिये ॥ ६ ॥

इत्युक्तः स तदा देवैरगस्त्यः कुपितोऽभवत् ।
प्रजज्वाल च तेजस्वी कालाग्निरिव संक्षये ॥ ७ ॥

अगस्त्य देवताओंका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त कुपित हुए और वे तेजस्वी प्रलयकालकी कालाग्निसदृश प्रज्वलित होगये ॥ ७ ॥

तेन दीप्तांशुजालेन निर्दग्धा दानवास्तदा ।
अन्तरिक्षान्महाराज व्यपतन्त सहस्रशः ॥ ८ ॥

हे महाराज ! उस समय सहस्रों दानवगण उस प्रदीप्त किरणजालसे दग्ध होकर आकाशसे पृथ्वीपर गिरे ॥ ८ ॥

दह्यमानास्तु ते दैत्यास्तस्यागस्त्यस्य तेजसा ।
उभौ लोकौ परित्यज्य ययुः काष्ठां स्म दक्षिणाम् ॥ ९ ॥

दैत्यगण अगस्त्यके तेजसे दह्यमान होकर भूलोक और स्वर्गलोक परित्याग करके दक्षिण दिशामें चले गये ॥ ९ ॥

बलिस्तु यजते यज्ञमश्वमेधं महीं गतः ।
येऽन्ये स्वस्था महीस्थाश्च ते न दग्धा महासुराः ॥ १० ॥

बलि उस समय पृथ्वीतलमें अश्वमेध यज्ञ कर रहा था, इसीसे वह और उसके अतिरिक्त जो सब दैत्य स्वर्ग तथा पृथ्वीतलमें थे, वे भस्म नहीं हुए ॥ १० ॥

ततो लोकाः पुनः प्राप्ताः सुरैः शान्तं च तद्रजः ।
अथैनमब्रुवन्देवा भूमिष्ठानसुराञ्जहि ॥ ११ ॥

अनन्तर रज–अन्धकार शान्त होनेपर देवताओंके द्वारा सब लोक फिर व्याप्त हुए, तब देवताओंने फिर अगस्त्यसे कहा, आप पृथ्वीपर रहनेवाले असुरोंका नाश करिये ॥ ११ ॥

इत्युक्त आह देवान्स न शक्नोमि महीगतान् ।
दग्धुं तपो हि क्षीयेन्मे धक्ष्यामीति च पार्थिव ॥ १२ ॥

हे राजन् ! अगस्त्य देवताओंका ऐसा वचन सुनके उनसे बोले, मैं भूमिस्थ दानवोंको जलानेमें समर्थ नहीं हूं, क्योंकि उससे मेरी तपस्या नष्ट होनेकी सम्भावना है; मैं केवल उनका नाश ही करूंगा ॥ १२ ॥

एवं दग्धा भगवता दानवाः स्वेन तेजसा ।
अगस्त्येन तदा राजंस्तपसा भावितात्मना ॥ १३ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार पवित्रचित्तवाले भगवान् अगस्त्यने निज तप और तेजके सहारे दानवोंको जलाया था ॥ १३ ॥

ईदृशश्चाप्यगस्त्यो हि कथितस्ते मयानघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमगस्त्यात्क्षत्रियं परम् ॥ १४ ॥

हे अनघ ! अगस्त्य ऐसे ही तपस्वी ब्राह्मण थे, यह मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया । यह मैं कहता हूं; अब तुमही बताओ अगस्त्यकी अपेक्षा किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको जानते हो ? ॥ १४ ॥

इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद्वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन्वसिष्ठस्य मुख्यं कर्म यशस्विनः ॥ १५ ॥

राजा ऐसा प्रश्न सुनके चुपही रहा । अनन्तर वायु बोले, हे राजन् ! यशस्वी वसिष्ठके मुख्य कर्म सुनो ॥ १५ ॥

आदित्याः सत्रमासन्त सरो वै मानसं प्रति ।
वसिष्ठं मनसा गत्वा श्रुत्वा तत्रास्य गोचरम् ॥ १६ ॥

देवताओंने वसिष्ठका निवासस्थान जानके मन ही मन उनकी शरण जाकर मान सरोवरके तटपर जाके यज्ञ आरम्भ किया ॥ १६ ॥

यजमानांस्तु तान्दृष्ट्वा व्यग्रान्दीक्षानुकर्शितान् ।
हन्तुमिच्छन्ति शैलाभाः खलिनो नाम दानवाः ॥ १७ ॥

पर्वतसदृश शरीरवाले खलि नामक दानवोंने देवताओंको यजमान कार्यमें व्यग्र और यज्ञ-दीक्षासे कृश देखकर उनका वध करनेकी इच्छा की ॥ १७ ॥

अदूरात्तु ततस्तेषां ब्रह्मदत्तवरं सरः ।
हताः हता वै ते तत्र जीवन्त्याप्लुत्य दानवाः ॥ १८ ॥

उन लोगोंके निकटमें ही ब्रह्माके द्वारा वरदान प्राप्त हुआ मानसरोवर था, दानवगण हताहत होके उस सरोवरमें स्नान करते ही जीवित होते थे ॥ १८ ॥

ते प्रगृह्य महाघोरान्पर्वतान्परिघान्द्रुमान् ।
विक्षोभयन्तः सलिलमुत्थिताः शतयोजनम् ॥ १९ ॥

वे महाघोर पर्वत, परिघ और वृक्षोंको लेकर सरोवरके जलको सौ योजन ऊंचे आन्दोलित करते थे ॥ १९ ॥

अभ्यद्रवन्त देवांस्ते सहस्राणि दशैव ह ।
ततस्तैरर्दिता देवाः शरणं वासवं ययुः ॥ २० ॥

अनन्तर दस हजार दानवोंने देवताओंको पीडित किया; वे भागकर देवराज इन्द्रके शरणागत हुए ॥ २० ॥

स च तैर्व्यथितः शक्रो वसिष्ठं शरणं ययौ ।
ततोऽभयं ददौ तेभ्यो वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ २१ ॥

देवराज इन्द्र भी दैत्योंसे अत्यंत पीडित होकर वसिष्ठकी शरणमें गये । अनन्तर भगवान् वसिष्ठ ऋषिने उनको अभय दिया ॥ २१ ॥

तथा तान्दुःखिताञ्जानन्नानृशंस्यपरो मुनिः ।
अयत्नेनादहत्सर्वान्खलिनः स्वेन तेजसा ॥ २२ ॥

दयापरायण मुनिने उस समय देवताओंको दुःखित जानके निज तेज प्रभावसे सहजहीमें उन खलि नामक दानवोंको जला दिया ॥ २२ ॥

कैलासं प्रस्थितां चापि नदीं गङ्गां महातपाः ।
आनयत्तत्सरो दिव्यं तया भिन्नं च तत्सरः ॥ २३ ॥

महातपस्वी वसिष्ठ कैलासपर्वतकी ओर चलनेवाली गङ्गा नदीको उस दिव्य सरोवरमें ले आये, गंगाने उसमें आते ही उस सरोवरका बांध तोड दिया ॥ २३ ॥

सरो भिन्नं तया नद्या सरयूः सा ततोऽभवत् ।
हताश्च खलिनो यत्र स देशः खलिनोऽभवत् ॥ २४ ॥

गंगासे सरोवरका छेदन होनेपर जो प्रवाह निकला, वही सरयू नदीके नामसे ख्यात हुआ; जिस स्थानमें खलि दानवगण मारे गये, उस देशका खलिन नाम हुआ ॥ २४ ॥

एवं सेन्द्रा वसिष्ठेन रक्षितास्त्रिदिवौकसः ।
ब्रह्मदत्तवराश्चैव हता दैत्या महात्मना ॥ २५ ॥

इस प्रकार इन्द्रके सहित सब देवताओंकी महात्मा वसिष्ठ मुनिने रक्षा की और ब्रह्माके द्वारा वर प्राप्त हुए दैत्योंका भी नाश किया ॥ २५ ॥

एतत्कर्म वसिष्ठस्य कथितं हि मयानघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं वसिष्ठात्क्षत्रियं वरम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥ ६०९७ ॥

हे अनघ ! यह मैंने तुमसे वसिष्ठका माहात्म्य कहा; ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, यह कहता हूं । तुम ही कहो, क्या वसिष्ठसे कोई क्षत्रिय श्रेष्ठ है ? ॥ २६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४० ॥ ६०९७ ॥

: १४१ :

भीष्म उवाच—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद्वायुस्तमब्रवीत् ।
शृणु मे हैहयश्रेष्ठ कर्मात्रेः सुमहात्मनः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— कार्तवीर्य अर्जुनने इतनी कथा सुनके मौनावलम्बन किया था । अनन्तर वायु उससे कहने लगे । हे हैहयश्रेष्ठ ! मेरे समीप महात्मा अत्रिका कर्म सुनो ॥ १ ॥

घोरे तमस्ययुध्यन्त सहिता देवदानवाः ।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ २ ॥

देवता और दानवगण घोर अन्धकारके बीच इकट्ठे होकर एक दूसरेके साथ युद्ध करते थे, उस युद्धमें राहुने अपने बाणोंसे सूर्य और चन्द्रमाको विद्ध किया ॥ २ ॥

अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्ते स्म दानवैः ।
देवा नृपतिशार्दूल सहैव बलिभिस्तदा ॥ ३ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! अनन्तर अन्धकारसे ग्रस्त देवगण उस समय एक साथ ही बलवान् दानवोंसे मारे जाने लगे ॥ ३ ॥

असुरैर्वध्यमानास्ते क्षीणप्राणा दिवौकसः ।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं महावने ॥ ४ ॥

देवताओंने असुरदलसे वध्यमान तथा क्षीणबल होकर तपस्वी अत्रि नाम ब्राह्मणको महान् वनमें तपस्या करते देखा ॥ ४ ॥

अथैनमब्रुवन्देवाः शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम् ।
असुरैरिषुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविमावुभौ ॥ ५ ॥

अनन्तर देवगण उस क्रोधरहित जितेन्द्रिय अत्रिसे बोले, सूर्य और चन्द्रमाको दानवोंने अपने बाणोंसे विद्ध किया है ॥ ५ ॥

वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तमसावृते ।
नाधिगच्छाम शान्तिं च भयात्त्रायस्व नः प्रभो ॥ ६ ॥

हम लोग भी अन्धकारयुक्त स्थानमें शत्रुओंके द्वारा मारे जा रहे हैं, हमें शान्ति नहीं मिलती है । हे प्रभु ! इसलिये आप हम लोगोंको भयसे परित्राण करिये ॥ ६ ॥

कथं रक्षामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव ।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहा चैव नो भव ॥ ७ ॥

ऋषिने कहा, मैं किस प्रकार आप लोगोंकी रक्षा करूं ? देवगण बोले, आप अन्धकारनाशक चन्द्रमा और सूर्य होकर हमारे दानव शत्रुओंका नाश करिये ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तदात्रिस्तु सोमवत्प्रियदर्शनः ।
अपश्यत्सौम्यभावं च सूर्यस्य प्रतिदर्शनम् ॥ ८ ॥

अत्रि देवताओंका ऐसा वचन सुनके उस समय प्रियदर्शन चन्द्रमा हुए और सौम्यभावसे सूर्यकी भांति दूसरी मूर्ति दीखने लगे और उन्होंने देवताओंकी ओर देखा ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ९ ॥

हे महाराज ! उस समय अत्रिने सूर्य और चन्द्रमाको प्रभायुक्त न देखकर निज तेजसे रणभूमिमें प्रकाश फैलाया ॥ ९ ॥

जगद्वितिमिरं चापि प्रदीप्तमकरोत्तदा ।
व्यजयच्छत्रुसंघांश्च देवानां स्वेन तेजसा ॥ १० ॥

जगत्को अन्धकाररहित और प्रकाशमान कर दिया । उन्होंने निज तेजके सहारे देवताओंके शत्रुओंको पराजित किया ॥ १० ॥

अत्रिणा दह्यमानांस्तान्दृष्ट्वा देवा महासुरान् ।
पराक्रमैस्तेऽपि तदा व्यत्यघ्नन्नत्रिरक्षिताः ॥ ११ ॥

देवगणोंने महान् असुरोंको अत्रिके द्वारा दग्ध होते देखकर, आप भी उनसे रक्षित होकर, दानवोंको पराक्रम करके मार डाला ॥ ११ ॥

उद्भासितश्च सविता देवास्त्राता हतासुराः ।
अत्रिणा त्वथ सोमत्वं कृतमुत्तमतेजसा ॥ १२ ॥

अत्रिने सूर्यको तेजस्वी किया, देवताओंका परित्राण किया और दानवगणोंको नष्ट किया । इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी अत्रिने उत्तम कार्य किया ॥ १२ ॥

×

अद्वितीयेन मुनिना जपता चर्मवाससा ।
फलभक्षेण राजर्षे पश्य कर्मात्रिणा कृतम् ॥ १३ ॥
हे राजर्षि ! अद्वितीय जपपरायण, मृगचर्मधारी, फलाहार करनेवाले अत्रि मुनिने जो कार्य किया था, उसे अवलोकन करो ॥ १३ ॥

तस्यापि विस्तरेणोक्तं कर्मात्रेः सुमहात्मनः ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमत्रितः क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥
मैंने श्रेष्ठ महात्मा अत्रिके कार्यको विस्तारपूर्वक कहा; अब मैं कहता हूं, कि तुम्हीं बताओ अत्रिसे भी कौन क्षत्रिय श्रेष्ठ है ? ॥ १४ ॥

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद्वायुस्तमब्रवीत् ।
शृणु राजन्महत्कर्म च्यवनस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
अर्जुन ऐसा वचन सुनके चुप होरहा । अनन्तर वायु उसे बोले, हे राजन् ! अब महात्मा च्यवनका महत् कर्म सुनो ॥ १४ ॥

अश्विनोः प्रतिसंश्रुत्य च्यवनः पाकशासनम् ।
प्रोवाच सहितं देवैः सोमपावश्विनौ कुरु ॥ १६ ॥
च्यवन मुनि दोनों अश्विनीकुमारोंके निकट उन्हें सोमपान करानेकी प्रतिज्ञा करके इन्द्रसे बोले, इन दोनों वैद्योंको देवताओंके सहित सोमपान कराओ ॥ १६ ॥

इन्द्र उवाच—
अस्माभिर्वर्जितावेतौ भवेतां सोमपौ कथम् ।
देवैर्न संमितावेतौ तस्मान्मैवं वदस्व नः ॥ १७ ॥
इन्द्र बोले– हमने इन्हें परित्याग किया है, इसलिये ये लोग किस प्रकार सोमपान कर सकते हैं ? देववृन्द इनकी प्रशंसा नहीं करते, इसलिये आप हमसे ऐसा वचन न कहिये ॥ १७ ॥

अश्विभ्यां सह नेच्छामः पातुं सोमं महाव्रत ।
पिबन्त्वन्ये यथाकामं नाहं पातुमिहोत्सहे ॥ १८ ॥
हे महाव्रत विप्रवर ! हम लोग दोनों अश्विनीकुमारोंके सहित सोमपान करनेकी इच्छा नहीं करते । अन्य देवताओंकी इच्छा हो, तो वे पीयें; किन्तु मैं इनके संग सोमपान करनेका उत्साह नहीं करता ॥ १८ ॥

च्यवन उवाच—
न चेत्करिष्यसि वचो मयोक्तं बलसूदन ।
मया प्रमथितः सद्यः सोमं पास्यसि वै मखे ॥ १९ ॥
च्यवन बोले– हे बलसूदन ! यदि तुम मेरी कही हुई बात न मानोगे, तो यज्ञमें मेरे द्वारा तुम्हारा अभिमान नष्ट कर दिया जायगा और उस ही समय तुम सोमपान करोगे ॥ १९ ॥

ततः कर्म समारब्धं हिताय सहसाश्विनोः ।
च्यवनेन ततो मन्त्रैरभिभूताः सुराभवन् ॥ २० ॥

अनन्तर अश्विनीकुमारोंके हितके निमित्त च्यवनने सहसा यज्ञकर्म आरम्भ किया । उनके मन्त्रसे देववृन्द विचलित हुए ॥ २० ॥

तत्तु कर्म समारब्धं दृष्ट्वेन्द्रः क्रोधमूर्छितः ।
उद्यम्य विपुलं शैलं च्यवनं समुपाद्रवत् ।
तथा वज्रेण भगवानमर्षाकुललोचनः ॥ २१ ॥

इन्द्र उस यज्ञ कर्मको आरम्भ हुआ देखके अत्यंत क्रोधित हुए और वज्रके सहित विपुल हाथमें एक बडा पर्वत उठाके वे च्यवनकी ओर दौडे, तब उनके नेत्र अमर्षसे भरे हुए थे ॥२१॥

तमापतन्तं दृष्ट्वैव च्यवनस्तपसान्वितः ।
अद्भिः सिक्त्वास्तम्भयत्तं सवज्रं सहपर्वतम् ॥ २२ ॥

तपस्वी भगवान् च्यवनने इन्द्रको आते हुए देखकर जल छिडकके वज्र और पर्वतके सहित उन्हें स्तम्भित कर दिया ॥ २२ ॥

अथेन्द्रस्य महाघोरं सोऽसृजच्छत्रुमेव हि ।
मदं मन्त्राहुतिमयं व्यादितास्यं महामुनिः ॥ २३ ॥

महामुनि च्यवनने अग्निमें मन्त्राहुति डालकर एक मुख फैलाये हुए महाघोर मद नामक पुरुषको इन्द्रका शत्रु बनाके उत्पन्न किया ॥ २३ ॥

तस्य दन्तसहस्रं तु बभूव शतयोजनम् ।
द्वियोजनशतास्तस्य दंष्ट्राः परमदारुणाः ।
हनुस्तस्याभवद्भूमावेकश्चास्यास्पृशद्दिवम् ॥ २४ ॥

उसके सहस्र दांत सौ योजन लम्बे थे और उसकी परम दारुण दाढें दो सौ योजन लंबी थी । उसका एक ओठ भूमि और दूसरा आकाशमण्डलमें जा लगा ॥ २४ ॥

जिह्वामूले स्थितास्तस्य सर्वे देवाः सवासवाः ।
तिमेरास्यमनुप्राप्ता यथा मत्स्या महार्णवे ॥ २५ ॥

जैसे महासागरमें सब मछलियां तिमि नामक महान् मत्स्यके मुखमें समा जाती हैं, वैसे ही इन्द्रके सहित सब देवता उसके जिह्वामूलमें स्थित हुए ॥ २५ ॥

ते संमन्त्र्य ततो देवा मदस्यास्यगतास्तदा ।
अब्रुवन्सहिताः शक्रं प्रणमास्मै द्विजातये ।
अश्विभ्यां सह सोमं च पिबामो विगतज्वराः ॥ २६ ॥

अनन्तर मदके मुखमें पडे हुए देवताओंने आपसमें विचार करके देवराजसे कहा, इस द्विजवरको प्रणाम करो; हम लोग प्रसन्न होकर दोनों अश्विनीकुमारोंके संग सोमपान करेंगे ॥ २६ ॥

ततः स प्रणतः शक्रश्चकार च्यवनस्य तत् ।
च्यवनः कृतवांस्तौ चाप्यश्विनौ सोमपीथिनौ ॥ २७ ॥

अनन्तर इन्द्रने प्रणत होके च्यवनका वचन प्रतिपालन किया; च्यवन मुनिने अश्विनी-कुमारोंको सोमपान कराया ॥ २७ ॥

ततः प्रत्याहरत्कर्म मदं च व्यभजन्मुनिः ।
अक्षेषु मृगयायां च पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ २८ ॥

अनन्तर मुनिश्रेष्ठ वीर्यवान् च्यवनने वह अपना यज्ञकर्म समाप्त किया और जूआ, मृगया, मद्यपान तथा स्त्रियोंमें मदको बांट दिया ॥ २८ ॥

एतैर्दोषैर्नरो राजन्क्षयं याति न संशयः ।
तस्मादेतान्नरो नित्यं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! मनुष्यका निःसंदेह इन्हीं दोषोंसे नाश होता है, इसलिये मनुष्य इन दोषोंको एकबारगी परित्याग करे ॥ २९ ॥

एतत्ते च्यवनस्यापि कर्म राजन्प्रकीर्तितम् ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं च्यवनात्क्षत्रियं वरम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥ ६१२७ ॥

हे महाराज ! यह च्यवनके कर्म तुम्हारे समीप वर्णित हुए । मैं कहता हूं ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं; तथा तुम ही कहो, क्या च्यवन ब्राह्मणसे क्षत्रिय श्रेष्ठ है ? ॥ ३० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ एकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४१ ॥ ६१२७ ॥

: १४२ :

भीष्म उवाच—

तूष्णीमासीदर्जुनस्तु पवनस्त्वब्रवीत्पुनः ।
शृणु मे ब्राह्मणेष्वेव मुख्यं कर्म जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्म बोले— अर्जुनके चुप हो रहनेपर पवनने उससे फिर कहा, हे जननाथ ! ब्राह्मणोंके जो मुख्य कर्म हैं, वह सब मेरे मुखसे सुनो ॥ १ ॥

मदस्यास्यमनुप्राप्ता यदा सेन्द्रा दिवौकसः ।
तदेयं च्यवनेनेह हृता तेषां वसुंधरा ॥ २ ॥

जब इन्द्रादि सब देवता मदके मुखके भीतर चले गये थे, तब च्यवनने उनकी भूमि हरण की थी ॥ २ ॥

उभौ लोकौ हृतौ मत्वा ते देवा दुःखिताभवन् ।
शोकार्ताश्च महात्मानं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ ३ ॥

दोनों लोकोंका हरण हुआ यह जानकर वे देवगण अत्यन्त दुःखित हो गये और शोकार्त्त होकर महात्मा ब्रह्माके शरणागत हुए ॥ ३ ॥

देवा ऊचुः—

मदास्यव्यतिषिक्तानामस्माकं लोकपूजित ।
च्यवनेन हृता भूमिः कपैश्चापि दिवं प्रभो ॥ ४ ॥

देवगण बोले— हे लोकपूजित प्रभो ! जब हम लोग मदके मुखके भीतर थे, उस समयमें च्यवन मुनिने हमारी भूमि हर ली थी और कप नामक दानवोंने स्वर्गलोक हर लिया ॥४॥

ब्रह्मोवाच—

गच्छध्वं शरणं विप्रानाशु सेन्द्रा दिवौकसः ।
प्रसाद्य तानुभौ लोकाववाप्स्यथ यथा पुरा ॥ ५ ॥

ब्रह्मा बोले— हे इन्द्रसहित देवगण ! तुम लोग शीघ्रही ब्राह्मणोंकी शरणमें जाओ, उन्हें प्रसन्न करनेसे पहलेकी भांति तुम लोग दोनों लोकोंको पाओगे ॥ ५ ॥

ते ययुः शरणं विप्रांस्त ऊचुः कान्जयामहे ।
इत्युक्तास्ते द्विजान्प्राहुर्जयतेह कपानिति ।
भूगतान्हि विजेतारो वयमित्येव पार्थिव ॥ ६ ॥

अनन्तर सब देवता ब्राह्मणोंके शरणागत हुए । ब्राह्मणगण बोले— हम किनको जय करें ? देववृन्द ब्राह्मणोंका ऐसा वचन सुनके उनसे बोले— इस समय आप लोग कप नामक दैत्योंको जीतिये । द्विजगण बोले— हे राजन् ! हम दैत्योंको भूमिपर जीतनेमें समर्थ हैं ॥ ६ ॥

ततः कर्म समारब्धं ब्राह्मणैः कपनाशनम् ।
तच्छ्रुत्वा प्रेषितो दूतो ब्राह्मणेभ्यो धनी कपैः ॥ ७ ॥

अनन्तर ब्राह्मणोंने कपनाशक कर्म आरम्भ किया। कपगणने यह वृत्तान्त सुनके धनी नामक दूतको उनके समीप भेजा ॥ ७ ॥

स च तान्ब्राह्मणानाह धनी कपवचो यथा ।
भवद्भिः सदृशाः सर्वे कपाः किमिह वर्तते ॥ ८ ॥

धनी उस समय उन ब्राह्मणोंसे कपोंका कहा हुआ वचन कहने लगा । समस्त कपगण आप लोगोंके सदृश हैं, इसलिये इस समय यह क्या होरहा है ? ॥ ८ ॥

सर्वे वेदविदः प्राज्ञाः सर्वे च क्रतुयाजिनः ।
सर्वे सत्यव्रताश्चैव सर्वे तुल्या महर्षिभिः ॥ ९ ॥
वे सभी वेद जाननेवाले प्राज्ञ हैं, सभी यज्ञ करनेवाले, सब कोई सत्यव्रती और सभी महर्षियोंके तुल्य हैं ॥ ९ ॥

श्रीश्चैव रमते तेषु धारयन्ति श्रियं च ते ।
वृथा दारान्न गच्छन्ति वृथामांसं न भुञ्जते ॥ १० ॥
उनमें सदा श्री निवास करती है, वे भी श्रीको धारण करते हैं, वृथा स्त्रीगमन नहीं करते, वृथा मांस भक्षण नहीं करते ॥ १० ॥

दीप्तमग्निं जुह्वति च गुरूणां वचने स्थिताः ।
सर्वे च नियतात्मानो बालानां संविभागिनः ॥ ११ ॥
जलती हुई अग्निमें होम करते हैं, गुरुजनोंके वचनके वशीभूत रहते हैं, वे सभी नियत-चित्तवाले हैं, बालकोंको खानेकी वस्तु विभाग करके देते हैं ॥ ११ ॥

उपेत्य शकटैर्यान्ति न सेवन्ति रजस्वलाम् ।
अभुक्तवत्सु नाश्नन्ति दिवा चैव न शेरते ॥ १२ ॥
वे लोग निकट आकर धीरे धीरे गमन करते हैं, रजस्वला स्त्रीका सेवन नहीं करते, जो भूखे हैं उनके भोजन करनेसे पहले भोजन नहीं करते, और दिनमें शयन नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्गुणैर्युक्तान्कथं कपान् ।
विजेष्यथ निवर्तध्वं निवृत्तानां शुभं हि वः ॥ १३ ॥
इन सब गुणों तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे गुणोंसे युक्त कपगणको तुम क्यों जय करना चाहते हैं ? इस कार्यसे निवृत्त हो जाओ, निवृत्त होनेसे तुम्हारा मङ्गल होगा ॥ १३ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः—

कपान्वयं विजेष्यामो ये देवास्ते वयं स्मृताः ।
तस्माद्वध्याः कपास्माकं धनिन्याहि यथागतम् ॥ १४ ॥
ब्राह्मणोंने कहा— हम लोग देवद्रोही कपगणको जीतेंगे, देवताओंके सहित हम लोग अभिन्न-भावसे रहते हैं, इसलिये कपगण हमारे वध्य हैं । हे धनी ! तुम जिस स्थानसे आये हो, वहांही जाओ ॥ १४ ॥

धनी गत्वा कपानाह न वो विप्राः प्रियंकराः ।
गृहीत्वास्त्राण्यतो विप्रान्कपाः सर्वे समाद्रवन् ॥ १५ ॥
धनी कपगणके समीप जाके बोला, ब्राह्मण लोग हमारा प्रिय करनेको तैय्यार नहीं हैं। ऐसा सुनकर कपगण अस्त्र-शस्त्र लेकर ब्राह्मणोंकी ओर दौडे ॥ १५ ॥

समुदग्रध्वजान्दृष्ट्वा कपान्सर्वे द्विजातयः ।
व्यसृजञ्ज्वलितानग्नीन्कपानां प्राणनाशनान् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणोंने कपगणको ऊंची ध्वजाके सहित आक्रमणके लिये आते देखकर, उनके प्राणनाशके निमित्त जलती हुई अग्नि चलाई ॥ १६ ॥

ब्रह्मसृष्टा हव्यभुजः कपान्भुक्त्वा सनातनाः ।
नभसीव यथाभ्राणि व्यराजन्त नराधिप ।
प्रशशंसुर्द्विजांश्चैव ब्रह्माणं च यशस्विनम् ॥ १७ ॥

हे नरनाथ ! ब्राह्मणोंकी चलाई हुई सनातन अग्नि कपगणका नाश करके आकाशमण्डलमें बादलोंकी भांति विराजमान हुई । समस्त देवता, यशस्वी ब्रह्मा तथा द्विजगणोंकी प्रशंसा करने लगे ॥ १७ ॥

तेषां तेजस्तथा वीर्यं देवानां ववृधे ततः ।
अवाप्नुवंश्चामरत्वं त्रिषु लोकेषु पूजितम् ॥ १८ ॥

अनन्तर देवताओंके तेज और वीर्यकी वृद्धि हुई और उन्होंने तीनों लोकोंमें पूजित होकर अमरत्व लाभ किया ॥ १८ ॥

इत्युक्तवचनं वायुमर्जुनः प्रत्यभाषत ।
प्रतिपूज्य महाबाहो यत्तच्छृणु नराधिप ॥ १९ ॥

हे महाबाहो नरनाथ ! जब पवनने इतनी कथा कही, तब अर्जुनने उनकी पूजा करके जो उत्तर दिया, उसे सुनो ॥ १९ ॥

जीवाम्यहं ब्राह्मणार्थे सर्वथा सततं प्रभो ।
ब्रह्मणे ब्राह्मणेभ्यश्च प्रणमामि च नित्यशः ॥ २० ॥

हे प्रभु ! मैं सब प्रकारसे सदा ब्राह्मणोंके निमित्त जीवित हूं, मैं व्रतनिष्ठ होकर ब्राह्मणोंको प्रतिदिन प्रणाम किया करता हूं ॥ २० ॥

दत्तात्रेयप्रसादाच्च मया प्राप्तमिदं यशः ।
लोके च परमा कीर्तिर्धर्मश्च चरितो महान् ॥ २१ ॥

दत्तात्रेयके प्रसादसे मैंने यह बल पाया है और इस लोकमें मेरी परम कीर्ति हुई है तथा मैंने महान् धर्म प्राप्त किया है ॥ २१ ॥

अहो ब्राह्मणकर्माणि यथा मारुत तत्त्वतः ।
त्वया प्रोक्तानि कार्त्स्न्येन श्रुतानि प्रयतेन ह ॥ २२ ॥

हे मारुत ! तुमने जो ब्राह्मणोंके अद्भुत कर्म वर्णन किये, उसे मैंने सावधान होकर सुना है ॥ २२ ॥

वायुरुवाच—

ब्राह्मणान्क्षत्रधर्मेण पालयस्वेन्द्रियाणि च ।
भृगुभ्यस्ते भयं घोरं तत्तु कालाद्भविष्यति ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥ ६९५० ॥

वायु बोले– तुम ब्राह्मणोंकी रक्षा और इन्द्रियोंका संयम क्षत्रियधर्मके अनुसार करो। दीर्घ समयके अनुसार भृगुवंशियोंसे तुम्हें घोर भय प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४२ ॥ ६९५० ॥

: १४३ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्राह्मणानर्चसे राजन्सततं संशितव्रतान् ।
कं तु कर्मोदयं दृष्ट्वा तानर्चसि नराधिप ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे जननाथ ! आप उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंकी सदा अर्चना करते हैं, परन्तु कौनसा फलोदय देखके उनकी पूजा किया करते हैं ? ॥ १ ॥

कां वा ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा महाव्रत ।
तानर्चसि महाबाहो सर्वमेतद्वदस्व मे ॥ २ ॥

हे महाव्रतधारी महाबाहो ! ब्राह्मणपूजासे क्या फल दीखता है, जिससे आप उन लोगोंकी अर्चना करते हैं । यह सब वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन करिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

एष ते केशवः सर्वमाख्यास्यति महामतिः ।
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां दृष्टव्युष्टिर्महाव्रतः ॥ ३ ॥

भीष्म बोले– ब्राह्मणपूजाके फलदर्शी ये महान् व्रतधारी, महाबुद्धिमान् केशव श्रीकृष्ण तुमसे समस्त फलका विषय कहेंगे ॥ ३ ॥

बलं श्रोत्रे वाङ्मनश्चक्षुषी च ज्ञानं तथा न विशुद्धं ममाद्य ।
देहन्यासो नातिचिरान्मतो मे न चातितूर्णं सवितात्र याति ॥ ४ ॥

आज मेरा बल, दोनों कान, वाणी, मन, दोनों नेत्र और ज्ञान विशुद्ध नहीं है; जान पडता है शरीरत्यागमें अब अधिक विलम्ब नहीं है; सूर्य भी शीघ्र प्रयाण नहीं करता है ॥ ५ ॥

उक्ता धर्मा ये पुराणे महान्तो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां विशां च ।
पौराणं ये दण्डमुपासते च शेषं कृष्णादुपशिक्षस्व पार्थ ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! पुराणोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके जो महान् धर्म वर्णित हैं, और वे लोग जिस पौराणिक नियमकी उपासना करते हैं, वह मैंने तुम्हें कहा है; अब उसका शेषभाग श्रीकृष्णके निकट सीखो ॥ ५ ॥

अहं ह्येनं वेद्मि तत्त्वेन कृष्णं योऽयं हि यच्चास्य बलं पुराणम्।
अमेयात्मा केशवः कौरवेन्द्र सोऽयं धर्मं वक्ष्यति संशयेषु ॥ ६ ॥

मैं ही इन श्रीकृष्णको यथार्थ रीतिसे जानता हूं, इनका स्वरूप तथा इनका पुरातन बल मुझे अविदित नहीं है। हे कौरवेन्द्र! भगवान् केशव अमेयात्मा हैं, इसलिये येही तुम्हारे सन्देहके विषयमें धर्मका वर्णन करेंगे ॥ ६ ॥

कृष्णः पृथ्वीमसृजत्खं दिवं च वराहोऽयं भीमबलः पुराणः।
अस्य चाधोऽथान्तरिक्षं दिवं च दिशश्चतस्रः प्रदिशश्चतस्रः।
सृष्टिस्तथैवेयमनुप्रसूता स निर्ममे विश्वमिदं पुराणम् ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने ही पृथ्वी, आकाश और स्वर्गकी सृष्टि की है; येही अत्यंत बलवान् पुराण–पुरुष वराह रूप हैं; अन्तरिक्ष, स्वर्ग, चारों दिशाएं तथा चारों विदिशाएं– ये भगवान् श्रीकृष्णसे नीचे हैं; यह सृष्टि इन्हींसे प्रकट हुई है, इन्होंने ही इस दृश्यमान पुरातन जगत्को उत्पन्न किया है; ॥ ७ ॥

अस्य नाभ्यां पुष्करं संप्रसूतं यत्रोत्पन्नः स्वयमेवामितौजाः।
येनाच्छिन्नं तत्तमः पार्थ घोरं यत्तत्तिष्ठत्यर्णवं तर्जयानम् ॥ ८ ॥

इन्हींकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ था, जिससे अत्यन्त तेजस्वी स्वयं हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उत्पन्न हुए। हे पार्थ! जिन्होंने घोर अन्धकारको दूर किया है, वेही अतलस्पर्शी अपार समुद्रमें व्याप्त हो निवास कर रहे हैं ॥ ८ ॥

कृते युगे धर्म आसीत्समग्रस्त्रेताकाले ज्ञानमनुप्रपन्नः।
बलं त्वासीद्द्वापरे पार्थ कृष्णः कलावधर्मः क्षितिमाजगाम ॥ ९ ॥

सत्ययुगमें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण धर्मरूप, त्रेतायुगमें विवेक रूपमें प्रबल हुए थे, द्वापर युगमें बलरूपकी प्रधानतामें स्थित थे। हे पार्थ! कलिकालमें पृथ्वीपर अधर्म रूपसे आयेंगे ॥ ९ ॥

स पूर्वदेवो निजघान दैत्यान्स पूर्वदेवश्च बभूव सम्राट्।
स भूतानां भावनो भूतभव्यः स विश्वस्यास्य जगतश्चापि गोप्ता ॥१०॥

इन पहले देव श्रीकृष्णने ही दैत्योंको मारा, येही सम्राट् हुए थे; येही सब भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं, येही भूत–भविष्यत् और येही समस्त जगत्के रक्षाकर्त्ता हैं ॥ १० ॥

यदा धर्मो ग्लायति वै सुराणां तदा कृष्णो जायते मानुषेषु।
धर्मे स्थित्वा स तु वै भावितात्मा परांश्च लोकानपरांश्च याति ॥ ११ ॥

जिस समय धर्मका ह्रास होता है, उस समय श्रीकृष्ण देवताओं तथा मनुष्योंके कुलमें अवतार लेते हैं। येही विशुद्धस्वभाववाले भगवान् धर्ममें स्थित रहके पर और अपर लोकोंकी रक्षा किया करते हैं ॥ ११ ॥

त्याज्यांस्त्यक्त्वाथासुराणां वधाय कार्याकार्ये कारणं चैव पार्थ ।
कृतं करिष्यत्क्रियते च देवो मुहुः सोमं विद्धि च शक्रमेतम् ॥ १२ ॥

हे पार्थ ! ये त्याज्य वस्तुओंका परित्याग करके असुरोंके वधके निमित्त कारण बनते हैं। यह देव ही कार्य, अकार्य और कारण हैं; येही बारबार कृत, भविष्यत् और क्रियमाण रूप हैं; इन्हें ही चन्द्रमा तथा इन्द्र जानो ॥ १२ ॥

स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः स विश्वभृद्विश्वसृग्विश्वजिच्च ।
स शूलभृच्छोणितभृत्करालस्तं कर्मभिर्विदितं वै स्तुवन्ति ॥ १३ ॥

येही विश्वकर्मा, येही विश्वरूप, येही विश्वभृद्, येही विश्वस्रष्टा और येही विश्वजित् हैं; येही शूलधारी कराल रूप हैं; अनेक कर्मोंके द्वारा विख्यात होनेवाले इस देवकी सब कोई स्तुति किया करते हैं ॥ १३ ॥

तं गन्धर्वा अप्सरसश्च नित्यमुपतिष्ठन्ते विबुधानां शतानि ।
तं राक्षसाश्च परिसंवहन्ते रायस्पोषः स विजिगीषुरेकः ॥ १४ ॥

सैकड़ों गन्धर्व, अप्सराएं और देवता सदा इनकी उपासना करते हैं; राक्षसगण इन्हींका कीर्त्तन किया करते हैं, येही एकमात्र धनपोषक और विजिगीषु हैं ॥ १४ ॥

तमध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति रथंतरे सामगाश्च स्तुवन्ति ।
तं ब्राह्मणा ब्रह्ममन्त्रैः स्तुवन्ति तस्मै हविरध्वर्यवः कल्पयन्ति ॥ १५ ॥

यज्ञमें उद्गातृगण इनकी स्तुति करते हैं; सामगान करनेवाले रथन्तर सामके सहारे इनका गुणगान किया करते हैं; ब्राह्मण लोग ब्रह्ममन्त्रोंसे इनका स्तव करते हैं, अध्वर्युगण इन्हींके उद्देश्यसे यज्ञमें हवि प्रदान किया करते हैं ॥ १५ ॥

स पौराणीं ब्रह्मगुहां प्रविष्टो महीसत्रं भारताग्रे ददर्श ।
स चैव गामुद्दधाराग्र्यकर्मा विक्षोभ्य दैत्यानुरगान्दानवांश्च ॥ १६ ॥

येही पुरातनी गुहाके बीच प्रविष्ट ब्रह्म हैं। हे भरतकुलप्रदीप ! इन्होंने ही पहले पृथिवीका छादन और मज्जन दर्शन किया है। येही श्रेष्ठ कर्मशील पुरुष दैत्यों, असुरों और नागोंको विक्षोभित करके पृथ्वीका उद्धार करते हैं ॥ १६ ॥

तस्य भक्षान्विविधान्वेदयन्ति तमेवाजौ वाहनं वेदयन्ति ।
तस्यान्तरिक्षं पृथिवी दिवं च सर्वं वशे तिष्ठति शाश्वतस्य ॥ १७ ॥

इनको विविध प्रकारके भोजन अर्पित किये जाते हैं और इन्हें युद्धमें जय दिलानेवाले कहा करते हैं। इन सनातन पुरुषके वशमें आकाश, पृथ्वी और स्वर्गादि रहते हैं ॥ १७ ॥

स कुम्भरेताः ससृजे पुराणं यत्रोत्पन्नमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ।
स मातरिश्वा विभुरश्ववाजी स रश्मिवान्सविता चादिदेवः ॥ १८ ॥

इन्होंने ही प्राचीन मित्र और वरुणको— रेत कुम्भसे— उत्पन्न किया था, जिसमें उत्पन्न हुए ऋषिको लोग वसिष्ठ कहा करते हैं । येही सर्वव्यापी मातरिश्वा—वायु हैं, वेगवान् अश्व हैं, येही किरणधारी सूर्य और आदिदेव हैं ॥ १८ ॥

तेनासुरा विजिताः सर्व एव तस्य विक्रान्तैर्विजितानीह त्रीणि ।
स देवानां मानुषाणां पितॄणां तमेवाहुर्यज्ञविदां वितानम् ॥ १९ ॥

इन्हींके द्वारा सब असुर पराजित हुए हैं, इन्होंने ही त्रिपादविक्षेपसे त्रिभुवन जय किया है । येही देवताओं, मनुष्यों और पितरोंके आश्रय हैं । पण्डित लोग इन्हें ही यज्ञवित् पुरुषोंका यज्ञ कहा करते हैं ॥ १९ ॥

स एव कालं विभजन्नुदेति तस्योत्तरं दक्षिणं चायने द्वे ।
तस्यैवोर्ध्वं तिर्यगधश्चरन्ति गभस्तयो मेदिनीं तापयन्तः ॥ २० ॥

येही दिन और रात—कालका विभाग करके सूर्यरूपमें उदित होते हैं, इनकी दक्षिण और उत्तर, दोनों गतिको अयन कहा जाता है। इनकी समस्त किरण मेदिनीमण्डलको प्रकाशित करती हुई, ऊपर नीचे और तिर्यक् प्रदेशमें विचरती हैं ॥ २० ॥

तं ब्राह्मणा वेदविदो जुषन्ति तस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति ।
स मासि मास्यध्वरकृद्विधत्ते तमध्वरे वेदविदः पठन्ति ॥ २१ ॥

वेद जाननेवाले ब्राह्मण लोग इनकी ही सेवा किया करते हैं, सूर्य इनकी ही प्रभाको पाके प्रकाशित होता है । ये यज्ञकारी होकर प्रतिमासमें यज्ञका विधान करते हैं। वेद जाननेवाले ब्राह्मणगण यज्ञमें इन्हींकी स्तुति किया करते हैं ॥ २१ ॥

स एकयुक्चक्रमिदं त्रिनाभि सप्ताश्वयुक्तं वहते वै त्रिधामा ।
महातेजाः सर्वगः सर्वसिंहः कृष्णो लोकान्धारयते तथैकः ।
अश्नन्नश्नंश्च तथैव धीरः कृष्णं सदा पार्थ कर्तारमेहि ॥ २२ ॥

ये सर्दी, गर्मी, वर्षाका समय गर्भ त्रिनाभियुक्त संवत्सर चक्ररूपसे वर्णित होके सप्ताश्वयुक्त वर्षा, वात, उष्म, प्रकार तीनों धाम वहन करते हैं । येही महातेजस्वी और सर्वत्र व्याप्त होकर सर्वसिंह श्रीकृष्ण अकेले ही सब लोकोंको धारण करते हैं। हे पार्थ! ये ही खानेवाले, न खानेवाले तथा धीर हैं, इसलिये इन श्रीकृष्णको ही तुम सब कार्योंका कर्त्ता जानके इनका आसरा करो ॥ २२ ॥

स एकदा कक्षगतो महात्मा तृप्तो विभुः खाण्डवे धूमकेतुः ।
स राक्षसानुरगांश्चावजित्य सर्वत्रगः सर्वमग्नौ जुहोति ॥ २३ ॥
येही महात्मा किसी समयमें अग्निस्वरूप होकर खाण्डव वनकी सूखी लकड़ियोंमें व्याप्त हो तृप्त हुए थे; येही राक्षसों और उरगोंको पराजित करके सर्वत्रगामी होकर अग्निमें सबकी आहुति प्रदान करते हैं ॥ २३ ॥

स एवाश्वः श्वेतमश्वं प्रयच्छत्स एवाश्वानथ सर्वांश्चकार ।
त्रिवन्धुरस्तस्य रथस्त्रिचक्रस्त्रिवृच्छिराश्चतुरस्रश्च तस्य ॥ २४ ॥
येही अश्व हैं; इन्होंने धनञ्जयको सफेद घोड़ा प्रदान किया था; इन्होंने ही सब घोड़ोंकी सृष्टि की थी। येही तीन बन्धनोंवाले संसाररथकी योजना करनेवाले हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण इस रथके चक्र हैं; ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकमें इस रथकी गति है; काल, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा और संकल्प—ये चार उनके रथके घोड़े हैं ॥ २४ ॥

स विहायो व्यदधात्पञ्चनाभिः स निर्ममे गां दिवमन्तरिक्षम् ।
एवं रम्यानसृजत्पर्वतांश्च हृषीकेशोऽमितदीप्ताग्नितेजाः ॥ २५ ॥
येही पञ्चभूतोंका अवलम्बन है, इसलिये पञ्चनाभि कहाते हैं। इन्होंने ही पृथिवी, स्वर्ग और अन्तरिक्षकी सृष्टि की है; इसी प्रकार रम्य पर्वतोंको उत्पन्न किया है। वह विषये-न्द्रियोंका नियन्ता है, इसलिये हृषिकेश कहाता है और वही अपरिमित प्रदीप्त अग्निसदृश तेजस्वी है ॥ २५ ॥

स लङ्घयन्वै सरितो जिघांसन्स तं वज्रं प्रहरन्तं निरास ।
स महेन्द्रः स्तूयते वै महाध्वरे विप्रैरेको ऋक्सहस्रैः पुराणैः ॥ २६ ॥
वज्रका प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए देवराजको मारनेकी इच्छासे अनेक नदियोंको लांघकर उन्हें परास्त किया था; एकमात्र वेही बड़े यज्ञोंमें महेन्द्र रूपसे ब्राह्मणोंके द्वारा पुरातन ऋग्वेदके सहस्रों मन्त्रोंसे स्तुतियुक्त हुआ करते हैं ॥ २६ ॥

दुर्वासा वै तेन नान्येन शक्यो गृहे राजन्वासयितुं महौजाः ।
तमेवाहुर्ऋषिमेकं पुराणं स विश्वकृद्विदधात्यात्मभावान् ॥ २७ ॥
हे राजन् ! महातेजस्वी दुर्वासाको गृहमें निवास करानेके लिये इनके अतिरिक्त और कोई भी समर्थ न हुआ। पण्डित लोग उन्हें ही एकमात्र पुरातन ऋषि कहा करते हैं, वेही विश्व-कर्ता हैं, वेही अपने सहारे सब जीवोंका विधान करते हैं ॥ २७ ॥

वेदांश्च यो वेदयतेऽधिदेवो विधींश्च यश्चाश्रयते पुराणान् ।
कामे वेदे लौकिके यत्फलं च विष्वक्सेने सर्वमेतत्प्रतीहि ॥ २८ ॥
ये देवाधिदेव होकर वेदोंका अध्ययन करते हैं, और पुरातन विधियोंका आश्रय लेते हैं। पुरातन विधि, काम, वेद और लौकिक कर्मके जो कुछ फल होते हैं, वे सब विष्वक्सेन नारायण ही हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ २८ ॥

ज्योतींषि शुक्लानि च सर्वलोके त्रयो लोका लोकपालास्त्रयश्च ।
त्रयोऽग्नयो व्याहृतयश्च तिस्रः सर्वे देवा देवकीपुत्र एव ॥ २९ ॥
ये सब लोकोंमें सब शुक्लवर्ण ज्योतिके पदार्थ हैं; तीनों लोक, तीनों लोकपाल, तीनों अग्नि, तीनों व्याहृतियां, और समस्त देवगण देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं ॥ २९ ॥

संवत्सरः स ऋतुः सोऽर्धमासः सोऽहोरात्रः स कला वै स काष्ठाः ।
मात्रा मुहूर्ताश्च लवाः क्षणाश्च विष्वक्सेने सर्वमेतत्प्रतीहि ॥ ३० ॥
वेही संवत्सर, वेही ऋतु, वेही पक्ष, वेही अहोरात्र हैं; वेही कला, काष्ठा, मात्रा, मुहूर्त, लव और क्षण हैं। यह सब विष्वक्सेनका ही स्वरूप जानो ॥ ३० ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहनक्षत्रताराः सर्वाणि दर्शान्यथ पौर्णमास्यः ।
नक्षत्रयोगा ऋतवश्च पार्थ विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रसूतम् ॥ ३१ ॥
हे पार्थ! चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, सब पर्व, पौर्णमास, नक्षत्रयोग और ऋतु ये सब विष्वक्सेन नारायणसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ३१ ॥

रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च साध्या विश्वे मरुतां षड्गणाश्च ।
प्रजापतिर्देवमातादितिश्च सर्वे कृष्णादृषयश्चैव सप्त ॥ ३२ ॥
रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, विश्वेदेव, मरुद्गण, प्रजापति, देवमाता अदिति और सप्तर्षि श्रीकृष्णसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ३२ ॥

वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्वमग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः ।
आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं ब्रह्मा भूत्वा सृजते विश्वसंघान् ॥ ३३ ॥
वेही विश्वरूप श्रीकृष्ण वायु होकर जगत्‌को सम्भ्रान्त कर रहे हैं; वेही अग्नि होकर जगत्‌को जलाते हैं; वेही जल होके सबको डुबाते हैं और ब्रह्मा होके सबकी सृष्टि करते हैं ॥ ३३ ॥

वेद्यं च यद्वेदयते च वेदान्विधिश्च यश्चाश्रयते विधेयान् ।
धर्मे च वेदे च बले च सर्वं चराचरं केशवं त्वं प्रतीहि ॥ ३४ ॥
वेही वेद-प्रतिपाद्य वेद्यवस्तुओंका बोध कराते हैं और विधि होकर वेद तथा विधेय विषयोंका आश्रय करते हैं। धर्म, वेद, बल तथा चराचरात्मक सब विषयोंको केशवस्वरूप ही जानो! ॥ ३४ ॥

ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात्प्रकाशयन्प्रभया विश्वरूपः ।
अपः सृष्ट्वा ह्यात्मभूरात्मयोनिः पुराकरोत्सर्वमेवाथ विश्वम् ॥ ३५ ॥
जिसकी प्रभाके सहारे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है, वे विश्वरूप श्रीकृष्ण परम ज्योतिर्मय सूर्यरूप होकर पूर्व दिशामें प्रकाशित होते हैं, उस सर्व–भूतात्मा विश्वरूपने पहले जलकी सृष्टि करके अनन्तर सब विश्व निर्माण किया है ॥ ३५ ॥

ऋतूनुत्पातान्विविधान्यद्भुतानि मेघान्विद्युत्सर्वमैरावतं च ।
सर्वं कृष्णात्स्थावरं जङ्गमं च विश्वाख्याताद्विष्णुमेनं प्रतीहि ॥ ३६ ॥
सब ऋतु, उत्पात, विविध अद्भुत विषय, मेघमण्डल, बिजली, ऐरावत और स्थावरजङ्गम जगत्की उत्पत्ति इन्हींसे हुई है; तुम विश्व प्रख्यात इन्हींको विष्णु जानो ॥ ३६ ॥

विश्वावासं निर्गुणं वासुदेवं संकर्षणं जीवभूतं वदन्ति ।
ततः प्रद्युम्नमनिरुद्धं चतुर्थमाज्ञापयत्यात्मयोनिर्महात्मा ॥ ३७ ॥
पण्डित लोग उसे विश्वके निवास स्थान, निर्गुण, वासुदेव, सङ्कर्षण और जीवस्वरूप, प्रद्युम्न और चौथा अनिरुद्ध कहते हैं, वह आत्मयोनि महात्माही सबको अपनी आज्ञामें रखते हैं ॥ ३७ ॥

स पञ्चधा पञ्चजनोपपन्नं संचोदयन्विश्वमिदं सिसृक्षुः ।
ततश्चकारावनिमारुतौ च खं ज्योतिरापश्च तथैव पार्थ ॥ ३८ ॥
ये देव, असुर, मनुष्य, पितर और तिर्यक्, इन पांचों रूपसे पञ्चजनोत्पन्न पञ्चभूतयुक्त जगत्की सृष्टि करनेके लिये अभिलाषी होकर सबको अपने आधीन रखते हैं । हे पार्थ ! अनन्तर इन्होंने पृथ्वी, वायु, आकाश, तेज और जलकी सृष्टि की है ॥ ३८ ॥

स स्थावरं जङ्गमं चैवमेनच्चतुर्विधं लोकमिमं च कृत्वा ।
ततो भूमिं व्यदधात्पञ्चबीजां द्यौः पृथिव्यां धारयति भूरि वारि ।
तेन विश्वं कृतमेतद्धि राजन्स जीवयत्यात्मनैवात्मयोनिः ॥ ३९ ॥
वे इस स्थावरजङ्गमात्मक चतुर्विध लोकोंकी सृष्टि करके चतुर्विध भूतसमुदाय और कर्म इन पांचोंकी बीजरूप भूमिका निर्माण करते हैं। वेही आकाश स्वरूप बनकर भूमितलपर विपुल जल वर्षाते हैं । हे राजन् ! इन्होंने ही इस विश्वको बनाया है, वेही आत्मयोनि स्वयं ही सबको जीवित रखते हैं ॥ ३९ ॥

ततो देवानसुरान्मानुषांश्च लोकानृषींश्चाथ पितॄन्प्रजाश्च ।
समासेन विविधान्प्राणिलोकान्सर्वान्सदा भूतपतिः सिसृक्षुः ॥ ४० ॥
अनन्तर ये भूतपति देवता, असुर, मनुष्य, लोक, ऋषि, पितर, प्रजासमूह तथा अनेक प्रकारके प्राणियोंको संक्षेप रीतिसे उत्पन्न करनेके अभिलाषी होकर इनकी सृष्टि करते हैं ॥ ४० ॥

शुभाशुभं स्थावरं जङ्गमं च विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रतीहि ।
यद्वर्तते यच्च भविष्यतीह सर्वमेतत्केशवं त्वं प्रतीहि ॥ ४१ ॥

इसलिये जानना चाहिये कि विष्वक्सेन श्रीकृष्णसे शुभ-अशुभ और स्थावर-जङ्गमरूप यह सारा विश्व उत्पन्न हुआ है । जो वर्तमान है, जो होगा, तुम वह सब इस श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, यह जानो ॥ ४१ ॥

मृत्युश्चैव प्राणिनामन्तकाले साक्षात्कृष्णः शाश्वतो धर्मवाहः ।
भूतं च यच्चेह न विद्म किंचिद्विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रतीहि ॥ ४२ ॥

शाश्वत धर्मके रक्षक ही श्रीकृष्ण ही प्राणियोंके अन्तकालमें साक्षात् मृत्युस्वरूप होते हैं । इस लोकमें जो कुछ अतीत हुआ तथा जो विषय हम लोगोंको मालूम नहीं हैं, उन सबको भी विष्वक्सेन नारायण जानो ॥ ४२ ॥

यत्प्रशस्तं च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्यो विपरीतमतो भवेत् ॥ ४३ ॥

लोकोंमें जो कुछ उत्तम, पवित्र अथवा जो कुछ शुभ--अशुभ विषय हैं, वे सब अचिन्त्य केशवके ही रूप हैं; जो उससे भिन्न कोई वस्तु है, ऐसा सोचना वही विपरीत मानना होगा ॥ ४३ ॥

एतादृशः केशवोऽयं स्वयंभूर्नारायणः परमश्चाव्ययश्च ।
मध्यं चास्य जगतस्तस्थुषश्च सर्वेषां भूतानां प्रभवश्चाप्ययश्च ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥ ६१९४ ॥

भगवान् केशवका ऐसा ही प्रभाव है; इसही निमित्त ये स्वयंभू परम अव्यय नारायण हैं, येही जगत्के मध्यमें निवास करते हैं । येही सब भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं, इनका विनाश नहीं है; इन्हें जाननेकी इच्छा करो ॥ ४४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ तैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४३ ॥ ६१९४ ॥

: १४४ :

युधिष्ठिर उवाच—

ब्रूहि ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं त्वं मधुसूदन ।
वेत्ता त्वमस्य चार्थस्य वेद त्वां हि पितामहः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे मधुसूदन ! ब्राह्मणकी पूजा करनेसे क्या फल होता है ? उसे तुम वर्णन करो; तुम ही इस विषयके जाननेवाले हो और पितामह तुम्हें विशेष रीतिसे जानते हैं ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच—

शृणुष्वावहितो राजन्द्विजानां भरतर्षभ ।
यथातत्त्वेन वदतो गुणान्मे कुरुसत्तम ॥ २ ॥

वासुदेव बोले— हे कुरुसत्तम भरतकुलधुरन्धर राजन् ! मैं यथार्थ रीतिसे ब्राह्मणोंके गुणोंका वर्णन करता हूं, तुम मुझसे सावधान होकर सुनो ॥ २ ॥

प्रद्युम्नः परिपप्रच्छ ब्राह्मणैः परिकोपितः ।
किं फलं ब्राह्मणेष्वस्ति पूजायां मधुसूदन ।
ईश्वरस्य सतस्तस्य इह चैव परत्र च ॥ ३ ॥

मेरे पुत्र प्रद्युम्नने ब्राह्मणोंके द्वारा प्रकोपित होकर मुझसे पूछा, हे मधुसूदन ! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल होता है ? और इस लोक तथा परलोकमें किस निमित्त उनका ईश्वरत्व हुआ है ? ॥ ३ ॥

सदा द्विजातीन्संपूज्य किं फलं तत्र मानद ।
एतद्ब्रूहि पितः सर्वं सुमहान्संशयोऽत्र मे ॥ ४ ॥

हे मानद ! सर्वदा द्विजातियोंकी पूजा करनेसे क्या फल है ? पिताजी आप स्पष्ट रीतिसे मेरे समीप उसका उपदेश करिये; इस विषयमें मुझे बहुत ही सन्देह हुआ है ॥ ४ ॥

इत्युक्तवचनस्तेन प्रद्युम्नेन तदा त्वहम् ।
प्रत्यब्रुवं महाराज यत्तच्छृणु समाहितः ॥ ५ ॥

हे महाराज ! जब प्रद्युम्नने ऐसा कहा, तब मैंने उसे जो उत्तर दिया था, उसे सावधान होके सुनो ॥ ५ ॥

व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां रौक्मिणेय निबोध मे ।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ ६ ॥
अस्मिँल्लोके रौक्मिणेय तथामुष्मिंश्च पुत्रक ।
ब्राह्मणप्रमुखं सौख्यं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ७ ॥

हे रुक्मिणीनन्दन ! ब्राह्मणोंकी पूजाका फल मेरे समीप सुनो । हे रुक्मिणीपुत्र ! ये सोमराज हैं, येही इस लोक और परलोकमें सुख दुःखके ईश्वर हैं; हे पुत्र ! ब्राह्मणोंसे कल्याण होता है, इस विषयमें मुझे कोई शंका नहीं है ॥ ६-७ ॥

ब्राह्मणप्रमुखं वीर्यमायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूर्वकाः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे वीर्य, आयु, कीर्ति, यश और बलकी वृद्धि होती है; सब लोक और लोकेश्वर ब्राह्मणोंके पूजक हैं ॥ ८ ॥

तत्कथं नाद्रियेयं वै ईश्वरोऽस्मीति पुत्रक ।
मा ते मन्युर्महाबाहो भवत्वत्र द्विजान्प्रति ॥ ९ ॥

हे पुत्र ! मैं ईश्वर होके भी किस हेतु ब्राह्मणोंका समादर न करूंगा ? हे महाबाहो ! द्विजोंके विषयमें तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतमस्मिँल्लोके परत्र च ।
भस्म कुर्युर्जगदिदं क्रुद्धाः प्रत्यक्षदर्शिनः ॥ १० ॥

इस लोक और परलोकमें ब्राह्मण ही महान् माने गये हैं; सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले ब्राह्मण लोग क्रुद्ध होनेसे इस जगत्को भस्म कर सकते हैं ॥ १० ॥

अन्यानपि सृजेयुश्च लोकाँल्लोकेश्वरांस्तथा ।
कथं तेषु न वर्तेय सम्यग्ज्ञानात्सुतेजसः ॥ ११ ॥

दूसरे लोकों तथा लोकेश्वरोंकी सृष्टि भी वे कर सकते हैं। इसलिये तेजस्वी मनुष्य ब्राह्मणोंके श्रेष्ठत्वको उत्तम रीतिसे जानकर उनके साथ अच्छा बर्ताव क्यों न करेंगे ? ॥ ११ ॥

अवसन्मद्गृहे तात ब्राह्मणो हरिपिङ्गलः ।
चीरवासा बिल्वदण्डी दीर्घश्मश्रुनखादिमान् ।
दीर्घेभ्यश्च मनुष्येभ्यः प्रमाणादधिको भुवि ॥ १२ ॥

हे तात ! मेरे गृहमें चिथडे पहननेवाला, बेलका दण्ड धारण करनेवाला, बढी हुई मूछे और नखवाला, हरित–पिङ्गलवर्ण वाला एक ब्राह्मण वास करता था । भूलोकमें जो सब बडे मनुष्य हैं, वह उन सबसे अधिक बडा था ॥ १२ ॥

स स्म संचरते लोकान्ये दिव्या ये च मानुषाः ।
इमा गाथा गायमानश्चत्वरेषु सभासु च ॥ १३ ॥

वह मनुष्यलोक तथा समस्त दिव्य लोकोंमें विचरता था; वह धर्मशाला और सभाओंके बीच यह गाथा गाता था ॥ १३ ॥

दुर्वाससं वासयेत्को ब्राह्मणं सत्कृतं गृहे ।
परिभाषां च मे श्रुत्वा को नु दद्यात्प्रतिश्रयम् ।
यो मां कश्चिद्वासयेत न स मां कोपयेदिह ॥ १४ ॥

कि दुर्वासा ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक कौन अपने गृहमें वास करा सकता है ? मेरा वचन सुनके कौन मुझे आश्रय देगा ? जो कोई मुझे गृहमें वास करावेगा, वह मुझे प्रकोपित न कर सकेगा ॥ १४ ॥

×

तं स्म नाद्रियते कश्चित्ततोऽहं तमवासयम् ॥ १५ ॥

दुर्वासा ब्राह्मणके ऐसी कथा प्रचार करते रहनेपर जब किसीने भी उनका आदर न किया; तब मैंने उन्हें निज गृहमें वास कराया ॥ १५ ॥

स स्म भुङ्क्ते सहस्राणां बहूनामन्नमेकदा ।
एकदा स्माल्पकं भुङ्क्ते न वैति च पुनर्गृहान् ॥ १६ ॥

उन्होंने एक ही बार सहस्र लोगों तथा उससे भी अधिक लोगोंका अन्न भोजन किया; किसी बार थोडा ही भोजन किया; पुनर्वार गृहमें न आये ॥ १६ ॥

अकस्माच्च प्रहसति तथाकस्मात्प्ररोदिति ।
न चास्य वयसा तुल्यः पृथिव्यामभवत्तदा ॥ १७ ॥

वे सहसा जोरसे हंसे तथा कभी अकस्मात् रोदन करनेमें प्रवृत्त हुए । उस समय पृथ्वीपर उनके तुल्य अवस्थावाला पुरुष न था ॥ १७ ॥

सोऽस्मदावसथं गत्वा शय्याश्चास्तरणानि च ।
कन्याश्चालंकृता दग्ध्वा ततो व्यपगतः स्वयम् ॥ १८ ॥

अनन्तर उन्होंने हमारे ठहरनेके स्थानपर जाके वहां बिछाई हुई शय्याओं, बिछौनो और अलंकृत कन्याओंको जलाकर भस्म करके, स्वयं वहांसे प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

अथ मामब्रवीद् भूयः स मुनिः संशितव्रतः ।
कृष्ण पायसमिच्छामि भोक्तुमित्येव सत्वरः ॥ १९ ॥

अन्तमें वह कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि मुझसे फिर बोले, हे कृष्ण ! मैं शीघ्र ही पायस भोजन करनेकी इच्छा करता हूं ॥ १९ ॥

सदैव तु मया तस्य चित्तज्ञेन गृहे जनः ।
सर्वाण्येवान्नपानानि भक्ष्याश्चोच्चावचास्तथा ।
भवन्तु सत्कृतानीति पूर्वमेव प्रचोदितः ॥ २० ॥

मैं उनका मन जानता था, इसलिये पहलेसे ही परिजनोंको सब प्रकारके अन्न-पान तथा अनेक प्रकारकी भक्ष्यवस्तु आदरपूर्वक तय्यार रखनेको कहा था ॥ २० ॥

ततोऽहं ज्वलमानं वै पायसं प्रत्यवेदयम् ।
तद् भुक्त्वैव तु स क्षिप्रं ततो वचनमब्रवीत् ।
क्षिप्रमङ्गानि लिम्पस्व पायसेनेति स स्म ह ॥ २१ ॥

अनन्तर मैंने उन्हें उष्ण पायस प्रदान किया, वह उसे भोजन करके शीघ्र ही मुझसे बोले, तुम्हारे सारे शरीरमें शीघ्र ही पायस लगाओ ॥ २१ ॥

अविमृश्यैव च ततः कृतवानस्मि तत्तथा ।
तेनोच्छिष्टेन गात्राणि शिरश्चैवाभ्यमृक्षयम् ॥ २२ ॥

मैंने उनके वचनमें कुछ भी विचार न करके वैसा ही किया; वह जूठा पायस मेरे शरीर और मस्तकमें लगा दिया ॥ २२ ॥

स ददर्श तदाभ्याशे मातरं ते शुभाननाम् ।
तामपि स्मयमानः स पायसेनाभ्यलेपयत् ॥ २३ ॥

उन्होंने उस समय तुम्हारी शुभानना जननीको देखा और हंसके उसके शरीरमें भी उन्होंने पायस लगाया ॥ २३ ॥

मुनिः पायसदिग्धाङ्गीं रथे तूर्णमयोजयत् ।
तमारुह्य रथं चैव निर्ययौ स गृहान्मम ॥ २४ ॥

उस समय मुनिने पायसलिप्ताङ्गी तुम्हारी माताको शीघ्र ही रथमें जोत दिया और उस रथपर चढके मेरे गृहसे बाहिर निकले ॥ २४ ॥

अग्निवर्णो ज्वलन्धीमान्स द्विजो रथधुर्यवत् ।
प्रतोदेनातुदद्बालां रुक्मिणीं मम पश्यतः ॥ २५ ॥

उस जलते हुए अग्निके समान तेजस्वी धीमान् ब्राह्मणने मेरे सम्मुखमें ही रथके घोडोंपर जैसे कोडे चलाये जाते हैं उसी प्रकार बालिका रुक्मिणीको कोडेसे मारा ॥ २५ ॥

न च मे स्तोकमप्यासीद्दुःखमीर्ष्याकृतं तदा ।
ततः स राजमार्गेण महता निर्ययौ बहिः ॥ २६ ॥

उस समय मुझे ईर्षाजनित अल्पमात्र भी दुःख नहीं हुआ; अनन्तर वह बाहर आकर प्रशस्त राजपथसे चलने लगे ॥ २६ ॥

तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यं दाशार्हा जातमन्यवः ।
तत्राजल्पन्मिथः केचित्समाभाष्य परस्परम् ॥ २७ ॥

दाशार्हगण उस महत् आश्चर्यको देखकर क्रुद्ध हुए, उनके बीच कोई कोई आपसमें वार्तालाप करते हुए जल्पना करने लगे ॥ २७ ॥

ब्राह्मणा एव जायेरन्नान्यो वर्णः कथंचन ।
को ह्येनं रथमास्थाय जीवेदन्यः पुमानिह ॥ २८ ॥

जगतमें ब्राह्मण ही पैदा हों, दूसरा वर्ण किसी प्रकारसे पैदा न हो । यहां दूसरा कौन पुरुष इस रथपर चढके जीवित रहनेमें समर्थ होगा ? ॥ २८ ॥

आशीविषविषं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णतरं विषम् ।
ब्रह्माशीविषदग्धस्य नास्ति कश्चिच्चिकित्सकः ॥ २९ ॥

आशीविष सर्पका विष तीक्ष्ण है, ब्राह्मण उससे भी अधिक तीक्ष्ण है; जो पुरुष ब्राह्मणरूपी विषसे जलाया जाता है, उसका कोई चिकित्सक नहीं है ॥ २९ ॥

तस्मिन्व्रजति दुर्धर्षे प्रास्खलद्रुक्मिणी पथि ।
तां नामर्षयत श्रीमांस्ततस्तूर्णमचोदयत् ॥ ३० ॥

उस दुर्द्धर्ष दुर्वासाके रथसे गमन करते रहनेपर मार्गमें रुक्मिणी लड़खड़ाकर गिर पड़ी, श्रीमान् मुनि उस बातको सहन नहीं कर सके; उन्होंने शीघ्र ही उसे हांकना शुरू किया ॥३०॥

ततः परमसंक्रुद्धो रथात्प्रस्कन्द्य स द्विजः ।
पदातिरुत्पथेनैव प्राधावद्दक्षिणामुखः ॥ ३१ ॥

अनन्तर वह द्विजवर अत्यन्त क्रुद्ध होकर रथसे कूदकर उतरके पादचारी हुए और बिना रास्तेके ही दक्षिणकी ओर दौड़े ॥ ३१ ॥

तमुत्पथेन धावन्तमन्वधावं द्विजोत्तमम् ।
तथैव पायसादिग्धः प्रसीद भगवन्निति ॥ ३२ ॥

उनके बिना रास्तेसे दौड़नेपर मैं उस द्विजवरके पीछे पीछे उस ही भांति पायसमण्डित रहके दौड़ने लगा और उनसे कहा, 'हे भगवन् ! प्रसन्न होइये' ॥ ३२ ॥

ततो विलोक्य तेजस्वी ब्राह्मणो मामुवाच ह ।
जितः क्रोधस्त्वया कृष्ण प्रकृत्यैव महाभुज ॥ ३३ ॥

अनन्तर उस तेजस्वी ब्राह्मणने मुझे देखकर कहा, हे महाभुज श्रीकृष्ण ! तुमने स्वभावसे ही क्रोधको जीत लिया है ॥ ३३ ॥

न तेऽपराधमिह वै दृष्टवानस्मि सुव्रत ।
प्रीतोऽस्मि तव गोविन्द वृणु कामान्यथेप्सितान् ।
प्रसन्नस्य च मे तात पश्य व्युष्टिर्यथाविधा ॥ ३४ ॥

हे सुव्रत ! इस विषयमें मैंने तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं देखा है । हे गोविन्द ! इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम अभिलषित कामनाएं मांगो । हे तात ! मेरे प्रसन्न होनेसे जो फल होता है, उसे यथावत् देखो ॥ ३४ ॥

यावदेव मनुष्याणामन्ने भावो भविष्यति ।
यथैवान्ने तथा तेषां त्वयि भावो भविष्यति ॥ ३५ ॥

जबतक मनुष्योंकी अन्नमें अभिलाष रहेगी, तबतक जैसा अन्नके प्रति उनका भाव वैसा ही तुम्हारे प्रति भी बना रहेगा ॥ ३५ ॥

यावच्च पुण्या लोकेषु त्वयि कीर्तिर्भविष्यति ।
त्रिषु लोकेषु तावच्च वैशिष्ट्यं प्रतिपत्स्यसे ।
सुप्रियः सर्वलोकस्य भविष्यसि जनार्दन ॥ ३६ ॥

और लोकोंके बीच जबतक तुम्हारी पुण्यकीर्ति रहेगी; उतने समयतक तीनों लोकोंके बीच तुम्हें विशिष्टता प्राप्त होगी । हे जनार्दन ! तुम सब लोकोंमें अत्यन्त ही प्रिय होओगे ॥३६॥

यत्ते भिन्नं च दग्धं च यच्च किंचिद्विनाशितम् ।
सर्वं तथैव द्रष्टासि विशिष्टं वा जनार्दन ॥ ३७ ॥

हे जनार्दन ! तुम्हारा जो कुछ टूटा, जला या नष्ट हुआ है, उन सब वस्तुओंको तुम वैसी ही तथा उससे भी उत्कृष्ट अवस्थामें देखोगे ॥ ३७ ॥

यावदेतत्प्रलिप्तं ते गात्रेषु मधुसूदन ।
अतो मृत्युभयं नास्ति यावदिच्छा तवाच्युत ॥ ३८ ॥

हे मधुसूदन ! हे अच्युत ! तुम्हारे शरीरमें जितने अंगोंमें जहांतक पायस लिप्त हुआ है, वहांके अंगोंमें चोटसे तुम्हें मृत्युका भय नहीं है । तुम जबतक इच्छा करोगे, यहां अमर बनोगे ॥ ३८ ॥

न तु पादतले लिप्ते कस्मात्ते पुत्रकाद्य वै ।
नैतन्मे प्रियमित्येव स मां प्रीतोऽब्रवीत्तदा ।
इत्युक्तोऽहं शरीरं स्वमपश्यं श्रीसमायुतम् ॥ ३९ ॥

हे वत्स ! तुमने अपने दोनों पादतलोंमें यह पायस नहीं लगाया है, तुमने ऐसा क्यों किया ? यह तुम्हारा कार्य मुझे प्रिय नहीं है । उन्होंने प्रसन्न होकर उस समय मुझसे ऐसा वचन कहा था । जब उन्होंने ऐसा कहा, तब मैंने अपने शरीरको श्रीसम्पन्न देखा ॥ ३९ ॥

रुक्मिणीं चाब्रवीत्प्रीतः सर्वस्त्रीणां वरं यशः ।
कीर्तिं चानुत्तमां लोके समवाप्स्यसि शोभने ॥ ४० ॥

अनन्तर वह प्रसन्न होके रुक्मिणीसे बोले– हे सुन्दरी ! लोकके बीच तुम सब स्त्रियोंसे श्रेष्ठ यश और कीर्ति लाभ करोगी ॥ ४० ॥

न त्वां जरा वा रोगो वा वैवर्ण्यं चापि भामिनि ।
स्प्रक्ष्यन्ति पुण्यगन्धा च कृष्णमाराधयिष्यसि ॥ ४१ ॥

हे भामिनी ! तुम्हें जरा, रोग अथवा वैवर्ण्य आदि दोष स्पर्श न कर सकेंगे । तुम पवित्र और सुगन्धयुक्त होकर श्रीकृष्णकी आराधना करोगी ॥ ४१ ॥

षोडशानां सहस्राणां वधूनां केशवस्य ह ।
वरिष्ठा सहलोक्या च केशवस्य भविष्यसि ॥ ४२ ॥

केशवकी सोलह हजार स्त्रियोंके बीच तुम सबसे वरिष्ठा होगी और श्रीकृष्णके सह लोकोंमें निवास करोगी ॥ ४२ ॥

तव मातरमित्युक्त्वा ततो मां पुनरब्रवीत् ।
प्रस्थितः सुमहातेजा दुर्वासा वह्निवज्ज्वलन् ॥ ४३ ॥

हे पुत्र ! तुम्हारी मातासे इतनी बात कहके प्रस्थान करनेमें उद्यत महातेजस्वी दुर्वासाने अग्निकी भांति महाप्रज्वलित होके मुझसे फिर कहा ॥ ४३ ॥

एषैव ते बुद्धिरस्तु ब्राह्मणान्प्रति केशव ।
इत्युक्त्वा स तदा पुत्र तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४४ ॥

हे केशव ! ब्राह्मणोंके विषयमें तुम्हारी ऐसी ही बुद्धि रहे । वह विप्रवर उस समय इतनी कथा कहके उस ही स्थानमें अन्तर्हित हुए ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नन्तर्हिते चाहमुपांशुव्रतमादिशम् ।
यत्किंचिद्ब्राह्मणो ब्रूयात्सर्वं कुर्यामिति प्रभो ॥ ४५ ॥

हे प्रभावी पुत्र ! उनके अन्तर्द्धान होनेपर मैंने अस्पष्ट वाणीमें धीरेसे यह व्रत लिया—कोई ब्राह्मण जो कुछ कहेगा, मैं वह सब करूंगा ॥ ४५ ॥

एतद्व्रतमहं कृत्वा मात्रा ते सह पुत्रक ।
ततः परमहृष्टात्मा प्राविशं गृहमेव च ॥ ४६ ॥

हे पुत्र ! तुम्हारी माताके सहित मैंने यही प्रतिज्ञा करके अन्तमें परम हृष्टचित्तसे गृहमें प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

प्रविष्टमात्रश्च गृहे सर्वं पश्यामि तन्नवम् ।
यद्भिन्नं यच्च वै दग्धं तेन विप्रेण पुत्रक ॥ ४७ ॥

हे पुत्र ! अनन्तर निज भवनमें प्रविष्ट होकर उस विप्रके द्वारा जो कुछ भिन्न वा भस्म हुआ था उन सबको मैंने नूतन रूपसे देखा ॥ ४७ ॥

ततोऽहं विस्मयं प्राप्तः सर्वं दृष्ट्वा नवं दृढम् ।
अपूजयं च मनसा रौक्मिणेय द्विजं तदा ॥ ४८ ॥

हे रुक्मिणीनन्दन ! मैं सब वस्तुओंको नवीन तथा सुदृढ रूपमें देखके विस्मित हुआ और उस समय मैंने ब्राह्मणकी मनहीमन पूजा की ॥ ४८ ॥

इत्यहं रौक्मिणेयस्य पृच्छतो भरतर्षभ ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यस्य सर्वमाख्यातवांस्तदा ॥ ४९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय रुक्मिणीपुत्रके पूछनेपर मैंने श्रेष्ठ विप्रका यही सब माहात्म्य कहा था ॥ ४९ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय ब्राह्मणान्सततं प्रभो ।
पूजयस्व महाभागान्वाग्भिर्दानैश्च नित्यदा ॥ ५० ॥

हे प्रभु कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार आप भी महाभाग ब्राह्मणोंकी सदा मधुर वचन बोलकर और विविध दानोंके सहारे पूजा करिये ॥ ५० ॥

एवं व्युष्टिमहं प्राप्तो ब्राह्मणानां प्रसादजाम् ।
यच्च मामाह भीष्मोऽयं तत्सत्यं भरतर्षभ ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुश्चत्वरिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥ ६२४५ ॥

मैंने ब्राह्मणोंके प्रसादसे ही इस प्रकार उत्तम फल पाया है। हे भरतर्षभ ! भीष्मने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है ॥ ५१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४४ ॥ ६२४५ ॥

: १४५ :

युधिष्ठिर उवाच—

दुर्वाससः प्रसादात्ते यत्तदा मधुसूदन ।
अवाप्तमिह विज्ञानं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे मधुसूदन ! दुर्वासाके प्रसादसे उस समय तुम्हें जो विज्ञान प्राप्त हुआ था, मेरे समीप तुम्हें उसकी व्याख्या करनी योग्य है ॥ १ ॥

महाभाग्यं च यत्तस्य नामानि च महात्मनः ।
तत्त्वतो ज्ञातुमिच्छामि सर्वं मतिमतां वर ॥ २ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! उन महात्माके महान् भाग्य और नामोंको यथार्थरूपसे अभिलाष करता हूं ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा कपर्दिने ।
यदवाप्तं महाराज श्रेयो यच्चार्जितं यशः ॥ ३ ॥

वासुदेव बोले– हे महाराज ! अच्छा, मैंने जो कुछ कल्याणका लाभ तथा यशका उपार्जन किया है, मैं जटाजूटधारी शंकरको नमस्कार करके वह सब विषय आपके समीप वर्णन करता हूं ॥ ३ ॥

प्रयतः प्रातरुत्थाय यदधीये विशां पते ।
प्राञ्जलिः शतरुद्रीयं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥

हे नरनाथ ! मैं प्रातःकालमें उठकर पवित्र होकर तथा हाथ जोडकर जो अध्ययन किया करता हूं, वह शतरुद्रीय आपके निकट कहता हूं, सुनिये ॥ ४ ॥

प्रजापतिस्तत्ससृजे तपसोऽन्ते महातपाः ।
शंकरस्त्वसृजत्तात प्रजाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

हे तात ! महातपस्वी प्रजापतिने तपस्याकी समाप्तिमें उस शतरुद्रियकी रचना की है और शङ्करने इस स्थावर–जङ्गममय समस्त प्रजाकी सृष्टि की है ॥ ५ ॥

नास्ति किंचित्परं भूतं महादेवाद्विशां पते ।
इह त्रिष्वपि लोकेषु भूतानां प्रभवो हि सः ॥ ६ ॥

हे नरनाथ! तीनों लोकोंमें महादेवसे श्रेष्ठ कोई देवता नहीं है; कारण कि वे सब भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं ॥ ६ ॥

न चैवोत्सहते स्थातुं कश्चिदग्रे महात्मनः ।
न हि भूतं समं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ७ ॥

उस महात्माके आगे कोई भी खडा रहनेका उत्साह नहीं कर सकता । तीनों लोकोंके बीच उनके समान कोई भी विद्यमान नहीं है ॥ ७ ॥

गन्धेनापि हि संग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः ।
विसंज्ञा हतभूयिष्ठा वेपन्ति च पतन्ति च ॥ ८ ॥

उनके क्रुद्ध होनेपर संग्राममें शत्रुगण उनकी गन्धके द्वाराही संज्ञारहित तथा बहुतेरे मृतप्राय होकर कांपते वा गिरते हैं ॥ ८ ॥

घोरं च निनदं तस्य पर्जन्यनिनदोपमम् ।
श्रुत्वा विदीर्येद्धृदयं देवानामपि संयुगे ॥ ९ ॥

समरमें बादल गर्जनेकी भांति उनका घोर शब्द सुनके देवताओंका भी हृदय विदीर्ण होता है ॥ ९ ॥

यांश्च घोरेण रूपेण पश्येत्क्रुद्धः पिनाकधृक् ।
न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न पन्नगाः ।
कुपिते सुखमेधन्ते तस्मिन्नपि गुहागताः ॥ १० ॥

पिनाकधारी क्रुद्ध होके जिन्हें घोर रूपसे देखते हैं, उनके भी हृदय विदीर्ण हो जायँ। लोकोंके बीच उनके कुपित होनेपर देवता, असुर, गन्धर्व और नाग गुफामें प्रविष्ट होके भी सुख लाभ करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ १० ॥

प्रजापतेश्च दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ ।
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्भयस्तु भवस्तदा ।
धनुषा बाणमुत्सृज्य सघोषं विननाद च ॥ ११ ॥

यजमान प्रजापति दक्षके विस्तृत यज्ञका आरम्भ होनेपर क्रुद्ध हुए महादेवने निर्भय होकर अपने बाणोंसे विद्ध किया था, और धनुषसे बाण छोडकर घोर निनाद किया ॥ ११ ॥

ते न शर्म कुतः शान्तिं विषादं लेभिरे सुराः ।
विद्रुते सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे ॥ १२ ॥

उस शब्दको सुनके देवता दुःखित हुए; फिर उन्हें सुख और शान्ति कहां ? यज्ञमें सहसा महेश्वरके क्रुद्ध होनेपर वे सब भाग गये ॥ १२ ॥

तेन ज्यातलघोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः ।
बभूवुरवशाः पार्थ विषेदुश्च सुरासुराः ॥ १३ ॥

उस धनुषकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे सब लोग व्याकुल तथा अवश हुए। हे पार्थ! देव और असुर सब कोई विषण्ण हुए ॥ १३ ॥

आपश्चुक्षुभिरे चैव चकम्पे च वसुंधरा ।
व्यद्रवन्गिरयश्चापि द्यौः पफाल च सर्वशः ॥ १४ ॥

जल उथलने लगा और पृथ्वी कांपने लगी। सब पर्वत पिघलने लगे और आकाशमण्डल सब ओरसे विशीर्ण हो गया ॥ १४ ॥

अन्धेन तमसा लोकाः प्रावृता न चकाशिरे ।
प्रनष्टा ज्योतिषां भाश्च सह सूर्येण भारत ॥ १५ ॥

सब लोक भयंकर अन्धकारसे आवृत होके प्रकाशरहित हुए। हे भारत! सूर्यके सहित ज्योतिवाले पदार्थोंकी प्रभा नष्ट हुई ॥ १५ ॥

भृशं भीतास्ततः शान्तिं चक्रुः स्वस्त्ययनानि च ।
ऋषयः सर्वभूतानामात्मनश्च हितैषिणः ॥ १६ ॥

अनन्तर सर्व भूतोंका तथा आत्म-हितैषी ऋषिगण अत्यन्त भयभीत होकर शान्ति और स्वस्त्ययन आदि कर्म करने लगे ॥ १६ ॥

ततः सोऽभ्यद्रवद्देवान्क्रुद्धो रौद्रपराक्रमः ।
भगस्य नयने क्रुद्धः प्रहारेण व्यशातयत् ॥ १७ ॥

अनन्तर रौद्रपराक्रमी क्रुद्ध रुद्रदेव देवताओंकी ओर दौडे; उन्होंने क्रुद्ध होकर प्रहरके द्वारा भगके दोनों नेत्र विनष्ट किये ॥ १७ ॥

पूषाणं चाभिदुद्राव परेण वपुषान्वितः ।
पुरोडाशं भक्षयतो दशनान्वै व्यशातयत् ॥ १८ ॥

और अत्यन्त रोपित तथा शरीरधारी होकर पूषाकी ओर दौडे। पूषाके उस समय पुरोडाश भक्षण करते रहनेपर रुद्रदेवने उसके सब दांतोंको उखाड दिया ॥ १८ ॥

ततः प्रणेमुर्देवास्ते वेपमानाः स्म शंकरम् ।
पुनश्च संदधे रुद्रो दीप्तं सुनिशितं शरम् ॥ १९ ॥

अनन्तर उन देवताओंने कम्पित होकर शङ्करको प्रणाम किया; रुद्रदेवने फिर प्रदीप्त तीक्ष्ण बाणका सन्धान किया ॥ १९ ॥

×

रुद्रस्य विक्रमं दृष्ट्वा भीता देवाः सहर्षिभिः ।
ततः प्रसादयामासुः शर्वं ते विबुधोत्तमाः । ॥ २० ॥

ऋषियोंके सहित सब देवता महादेवका पराक्रम देखके भयभीत हुए । अनन्तर उन श्रेष्ठ देवताओंने शङ्करको प्रसन्न किया ॥ २० ॥

जेपुश्च शतरुद्रीयं देवाः कृत्वाञ्जलिं ततः ।
संस्तूयमानस्त्रिदशैः प्रससाद महेश्वरः ॥ २१ ॥

देवगण उस समय हाथ जोडके शतरुद्री जप करने लगे; महेश्वर देवताओंके द्वारा सब प्रकारसे स्तुतियुक्त होकर प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

रुद्रस्य भागं यज्ञे च विशिष्टं ते त्वकल्पयन् ।
भयेन त्रिदशा राजञ्शरणं च प्रपेदिरे ॥ २२ ॥

राजन् ! देवताओंने रुद्रदेवके यज्ञभागकी विशिष्टरूपसे कल्पना की । देववृन्द डरकर महादेवकी शरणमें गये ॥ २२ ॥

तेन चैवातिकोपेन स यज्ञः संधितोऽभवत् ।
यद्यच्चापि हतं तत्र तत्तथैव प्रदीयते ॥ २३ ॥

महादेवने उससे तथा क्रोधित होकर उस यज्ञको पूर्ण किया; उस यज्ञमें जो जो वस्तु नष्ट हुई थी, उन सबको उसही भांति उन्होंने फिर कर दिया ॥ २३ ॥

असुराणां पुराण्यासंस्त्रीणि वीर्यवतां दिवि ।
आयसं राजतं चैव सौवर्णमपरं तथा ॥ २४ ॥

आकाशमें वीर्यवान् असुरोंके लोहमय, रजतमय और तीसरा स्वर्णमय– ये तीन पुर थे ॥ २४ ॥

नाशकत्तानि मघवा भेत्तुं सर्वायुधैरपि ।
अथ सर्वेऽमरा रुद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः ॥ २५ ॥

इन्द्र समस्त अस्त्र शस्त्रोंसे भी उन्हें भेद करनेमें समर्थ नहीं हुए । अनन्तर देववृन्द पीडित होकर महारुद्रके शरणागत हुए ॥ २५ ॥

तत ऊचुर्महात्मानो देवाः सर्वे समागताः ।
रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ।
जहि दैत्यान्सह पुरैर्लोकांस्त्रायस्व मानद । ॥ २६ ॥

समागत महानुभाव सब देवगण बोले– हे रुद्रदेव ! पशुगण सब कर्मोंमेंही अत्यन्त भयङ्कर होते हैं । हे मानद ! इसलिये त्रिपुरोंके सहित दैत्योंका संहार करके सब लोगोंका परित्राण करिये ॥ २६ ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा विष्णुं कृत्वा शरोत्तमम् ।
शल्यमग्निं तथा कृत्वा पुङ्खं वैवस्वतं यमम् ।
वेदान्कृत्वा धनुः सर्वाञ्ज्यां च सावित्रिमुत्तमाम् ॥ २७ ॥

उन्होंने देवताओंका वचन सुनके कहा, " ऐसा ही होगा "; इतनी बात कहके विष्णुको श्रेष्ठ बाण, अग्निको शल्य, वैवस्वत यमको पुङ्ख, सब वेदोंको धनुष, सावित्रीको उत्तम रोदा ॥ २७ ॥

देवान्रथवरं कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः ।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तेन तानि बिभेद सः ॥ २८ ॥

और देवताओंका श्रेष्ठ रथ करके सबके संयोग तथा कालक्रमसे त्रिपर्वयुक्त तीन शल्यवाले बाणके सहारे उन तीनों पुरोंको विदीर्ण किया ॥ २८ ॥

शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धा रुद्रेण भारत ॥ २९ ॥

हे भारत ! रुद्रदेवने प्रलयकालकी अग्निसदृश तेजसम्पन्न आदित्यवर्ण शरके सहारे तीनों पुरोंके सहित असुरोंको जलाया ॥ २९ ॥

तं चैवाङ्कगतं दृष्ट्वा बालं पञ्चशिखं पुनः ।
उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयमित्यब्रवीत्तदा ॥ ३० ॥

फिर वेही पांच शिखावाले बालकरूपसे अङ्कगत हुए, तब उमाने देवताओंसे पूछा, " ये कौन हैं ? " ॥ ३० ॥

असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः ।
सवज्रं स्तम्भयामास तं बाहुं परिघोपमम् ॥ ३१ ॥

उस समय देवराज असूया करते हुए उस बालरूपर वज्रसे प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए, तब उन्होंने इन्द्रकी परिघसदृश भुजाको वज्रके सहित स्तम्भित किया ॥ ३१ ॥

न संबुबुधिरे चैनं देवास्तं भुवनेश्वरम् ।
सप्रजापतयः सर्वे तस्मिन्मुमुहुरीश्वरे ॥ ३२ ॥

सब देवगण और प्रजापति उस भुवनेश्वरको नहीं पहचान सके, सब कोई उन ईश्वरके विषयमें मोहित हुए थे ॥ ३२ ॥

ततो ध्यात्वाथ भगवान्ब्रह्मा तममितौजसम् ।
अयं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तमुमापतिम् ॥ ३३ ॥

अनन्तर भगवान् ब्रह्माने उस अत्यन्त तेजस्वी रुद्रदेवको ध्यानके सहारे जान लिया, और " येही सबसे श्रेष्ठ देवता हैं, " ऐसा जानके उन्होंने उमापतिकी वन्दना की ॥ ३३ ॥

ततः प्रसादयामासुरुमां रुद्रं च ते सुराः ।
बभूव स तदा बाहुर्बलहन्तुर्यथा पुरा ॥ ३४ ॥
अनन्तर उन देवताओंने उमादेवी और रुद्रदेवको प्रसन्न किया, तब बलनिषूदन देवराजकी भुजा पहलेकी भांति हो गई ॥ ३४ ॥

स चापि ब्राह्मणो भूत्वा दुर्वासा नाम वीर्यवान् ।
द्वारवत्यां मम गृहे चिरं कालमुपावसत् ॥ ३५ ॥
उस ही वीर्यवान् रुद्रदेवने दुर्वासा नामक ब्राह्मण होकर द्वारकापुरीमें मेरे गृहके बीच बहुत समयतक वास किया था ॥ ३५ ॥

विप्रकारान्प्रयुङ्क्ते स्म सुबहून्मम वेश्मनि ।
तानुदारतया चाहमक्षमं तदथ दुःसहम् ॥ ३६ ॥
उन्होंने मेरे गृहमें अनेक प्रकारके दुःसह व्यवहार किये, तोभी मैंने उदारताके सहित उन दुःसह व्यवहारोंको क्षमा किया था ॥ ३६ ॥

स देवेन्द्रश्च वायुश्च सोऽश्विनौ स च विद्युतः ।
स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ॥ ३७ ॥
वेही इन्द्र और वायु हैं, वेही अश्विनीकुमार और विद्युत् हैं; वेही चन्द्रमा, वेही ईशान, वेही सूर्य और वेही वरुण हैं ॥ ३७ ॥

स कालः सोऽन्तको मृत्युः स तमो राञ्यहानि च ।
मासार्धमासा ऋतवः संध्ये संवत्सरश्च सः ॥ ३८ ॥
वेही काल, वेही अन्तक तथा मृत्यु हैं; वेही तम, वेही रात्रि और दिवस हैं। वेही महीना, पक्ष, ऋतु, दोनों सन्ध्या और संवत्सर हैं; ॥ ३८ ॥

स धाता स विधाता च विश्वकर्मा स सर्ववित् ।
नक्षत्राणि दिशश्चैव प्रदिशोऽथ ग्रहास्तथा ।
विश्वमूर्तिरमेयात्मा भगवानमितद्युतिः ॥ ३९ ॥
वेही धाता, वेही विधाता, वेही विश्वकर्मा और वेही सर्ववित् हैं; वेही सब नक्षत्र, चारों दिशा, विदिशा और ग्रह हैं। वेही विश्वमूर्त्ति, अमेयात्मा तथा परम तेजस्वी भगवान् हैं ॥ ३९ ॥

एकधा च द्विधा चैव बहुधा च स एव च ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥ ४० ॥
वेही ब्रह्मरूपसे एक प्रकार और जीव ब्रह्म भेदसे दो प्रकार हैं, प्रपञ्चरूपसे अनेक प्रकार, सैकडों, सहस्र प्रकार तथा लाखों प्रकारके हैं ॥ ४० ॥

ईदृशः स महादेवो भूयश्च भगवानतः ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥ ६२८६ ॥

वह भगवान् जन्मरहित महादेव ऐसे ही प्रभावशाली हैं; इतनाही नहीं इससे भी बढकर हैं, सैकडों वर्षोंमें भी उनके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ पैतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४५ ॥ ६२८६ ॥

: १४६ :

वासुदेव उवाच—
युधिष्ठिर महाबाहो महाभाग्यं महात्मनः ।
रुद्राय बहुरूपाय बहुनाम्ने निबोध मे ॥ १ ॥

वासुदेव बोले— हे महाबाहु युधिष्ठिर ! अनेक रूप और अनेक नामयुक्त महानुभाव रुद्रदेवका जो माहात्म्य है, वह मेरे समीप सुनो ॥ १ ॥

वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम् ।
एकाक्षं त्र्यम्बकं चैव विश्वरूपं शिवं तथा ॥ २ ॥

महेश्वर महादेवको अग्नि, स्थाणु, एकाक्ष, त्र्यम्बक, विश्वरूप और शिव कहते हैं ॥ २ ॥

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः ।
घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः ॥ ३ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मण लोग उस देवकी द्विविध देह कहा करते हैं, उनमेंसे एक मूर्त्ति घोरा और दूसरी शिवा है; येही दोनों मूर्त्तियां अनेक प्रकारकी हुआ करती हैं ॥ ३ ॥

उग्रा घोरा तनूर्यास्य सोऽग्निर्विद्युत्स भास्करः ।
शिवा सौम्या च या तस्य धर्मस्त्वापोऽथ चन्द्रमाः ॥ ४ ॥

जो उग्र तथा घोरमूर्त्ति है, वही अग्नि, बिजली और सूर्य है; उसकी शिव तथा सौम्यमूर्त्ति धर्म, जल और चन्द्रमा है ॥ ४ ॥

आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निरुच्यते भरतर्षभ ।
ब्रह्मचर्यं चरत्येष शिवा यास्य तनुस्तथा ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! महादेवके शरीरका आधा भाग अग्नि कहा गया है; उनकी शिवामूर्त्ति ब्रह्मचर्य अवलम्बन करती है ॥ ५ ॥

यास्य घोरतमा मूर्तिर्जगत्संहरते तथा।
ईश्वरत्वान्महत्त्वाच्च महेश्वर इति स्मृतः ॥ ६ ॥

और अत्यंत घोरा मूर्त्ति प्रलयकालमें जगत्का संहार किया करती है। ईश्वरत्व और महत्त्व-युक्त होनेसे उनका महेश्वर नाम हुआ है ॥ ६ ॥

यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत्प्रतापवान्।
मांसशोणितमज्जादो यत्ततो रुद्र उच्यते ॥ ७ ॥

जो जलाके निःशेष करता तथा जो तीक्ष्ण, उग्र और प्रतापवान् है और प्रलयाग्नि रूपसे मांसशोणित–मज्जा भक्षण करता है, उसे रुद्र कहा जाता है ॥ ७ ॥

देवानां सुमहान्यच्च यच्चास्य विषयो महान्।
यच्च विश्वं महत्पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥ ८ ॥

जो देवताओंमें अत्यंत महान् है, जिसका विषय महान् है, जो महत् विश्वका पालन करता है, वही महादेव नामसे स्मृत होता है ॥ ८ ॥

समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थान्सर्वकर्मभिः।
शिवमिच्छन्मनुष्याणां तस्मादेष शिवः स्मृतः ॥ ९ ॥

वह सदा मनुष्योंके कल्याणकी कामना करते हुए, सबकी सब कर्मोंके सहारे उन्नति करता है; इस ही निमित्त उसका नाम शिव है ॥ ९ ॥

दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणोत्पत्तिः स्थितिश्च यत्।
स्थिरलिङ्गश्च यन्नित्यं तस्मात्स्थाणुरिति स्मृतः ॥ १० ॥

वह ऊर्ध्वमें स्थित रहके मनुष्योंके प्राणोंको दहन करता है और जो सदा प्राणियोंकी उत्पत्ति और स्थितिका कारण है, और जो स्थिरलिङ्ग है, इस ही निमित्त स्थाणु नामसे स्मृत हुआ करता है ॥ १० ॥

यदस्य बहुधा रूपं भूतं भव्यं भवत्तथा।
स्थावरं जङ्गमं चैव बहुरूपस्ततः स्मृतः ॥ ११ ॥

स्थावर, जङ्गम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान भेदसे उसके अनेक प्रकारके रूप हैं, इसीलिये वह बहुरूप नामसे प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

धूम्रं रूपं च यत्तस्य धूर्जटीत्यत उच्यते।
विश्वे देवाश्च यत्तस्मिन्विश्वरूपस्ततः स्मृतः ॥ १२ ॥

उनकी जटाका रूप धूम्र वर्णका है, इसलिये उसे धूर्जटि कहते हैं। सब देवगण उसका आश्रय कर रहे हैं, इसलिये उसका विश्वरूप नाम है ॥ १२ ॥

सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोक्षिमयोऽपि वा ।
चक्षुषः प्रभवस्तेजो नास्त्यन्तोऽथास्य चक्षुषाम् ॥ १३ ॥

उसके नेत्रोंसे तेज प्रकट होता है तथा उसके नेत्रोंका अन्त नहीं है, इस ही निमित्त उसे सहस्राक्ष, अयुताक्ष और सर्वतोक्षिमय कहा जाता है ॥ १३ ॥

सर्वथा यत्पशून्पाति तैश्च यद्रमते पुनः ।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात्पशुपतिः स्मृतः ॥ १४ ॥

वह सब प्रकारसे पशुओंको पालन करता है, फिर उनके सङ्ग क्रीडा करता है और उनका अधिपति होनेसे पशुपति नामसे प्रसिद्ध है ॥ १४ ॥

नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यदा स्थितम् ।
महयन्त्यस्य लोकाश्च महेश्वर इति स्मृतः ॥ १५ ॥

यदि सदा ब्रह्मचर्यव्रतमें रत रहकर स्थिर शिवलिङ्गकी पूजा करे तो इसके महान् लोकोंको पाते हैं, इसही निमित्त इसे महेश्वर कहा जाता है ॥ १५ ॥

विग्रहं पूजयेद्यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः ।
लिङ्गं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते ॥ १६ ॥

जो उस महानुभावके विग्रह अथवा लिङ्गकी पूजा करता है, वह लिङ्गपूजक सदा महती समृद्धिका भोग किया करता है ॥ १६ ॥

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
लिङ्गमेवार्चयन्ति स्म यत्तदूर्ध्वं समास्थितम् ॥ १७ ॥

ऋषिवृन्द, देवगण, अप्सराएं और गन्धर्वगण उस ऊर्ध्वस्थित लिंगकी ही अर्चना करते हैं ॥ १७ ॥

पूज्यमाने ततस्तस्मिन्मोदते स महेश्वरः ।
सुखं ददाति प्रीतात्मा भक्तानां भक्तवत्सलः ॥ १८ ॥

लिङ्गके सदा पूजित होनेसे महेश्वर प्रमुदित होते हैं और भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्नचित्त होकर भक्तोंको सुख प्रदान करते हैं ॥ १८ ॥

एष एव श्मशानेषु देवो वसति नित्यशः ।
यजन्ते तं जनास्तत्र वीरस्थाननिषेविणम् ॥ १९ ॥

वह देव श्मशानके बीच सदा निवास किया करता है । श्मशानके बीच जो वीरस्थानमें निवास करनेके योग्य उसकी पूजा करते हैं, उनको उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

विषमस्थः शरीरेषु स मृत्युः प्राणिनामिह ।
स च वायुः शरीरेषु प्राणोऽपानः शरीरिणाम् ॥ २० ॥

वही प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाले और मृत्यु स्वरूप है, और वही शरीरधारियोंके शरीरमें प्राण तथा अपान वायुस्वरूप है ॥ २० ॥

तस्य घोराणि रूपाणि दीप्तानि च बहूनि च ।
लोके यान्यस्य पूज्यन्ते विप्रास्तानि विदुर्बुधाः ॥ २१ ॥

उसके रूप घोर, प्रकाशमान तथा अनेक प्रकारके हैं । लोकमें उसके जो सब रूप पूजित होते हैं, उसे विद्वान् ब्राह्मण लोग जानते हैं ॥ २१ ॥

नामधेयानि वेदेषु बहून्यस्य यथार्थतः ।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात्कर्मभिस्तथा ॥ २२ ॥

उसकी महत्ता, व्यापकता और कर्मोंके अनुसार वेदोंमें उसके बहुतसे यथावत् नाम प्रचलित हैं ॥ २२ ॥

वेदे चास्य विदुर्विप्राः शतरुद्रीयमुत्तमम् ।
व्यासादनन्तरं यच्चाप्युपस्थानं महात्मनः ॥ २३ ॥

वेदके बीच उनका उत्तम शतरुद्रिय पाठ है, और अनन्तर वेदव्यासने उस महात्माके जो सब नाम वर्णन किये हैं उसे भी ब्राह्मण लोग जानते हैं ॥ २३ ॥

प्रदाता सर्वलोकानां विश्वं चाप्युच्यते महत् ।
ज्येष्ठभूतं वदन्त्येनं ब्राह्मणा ऋषयोऽपरे ॥ २४ ॥

वह सब लोगोंके सुखप्रदाता विश्व और महत् रूपसे वर्णित होते हैं; ब्राह्मण लोग तथा दूसरे ऋषिवृन्द इन्हें सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रथमो ह्येष देवानां मुखादग्निरजायत ।
ग्रहैर्बहुविधैः प्राणान्संरुद्धानुत्सृजत्यपि ॥ २५ ॥

वेही देवताओंके बीच आदिपुरुष हैं; उन्होंने ही अपने मुखसे अग्निको उत्पन्न किया था । वे अनेक प्रकारके ग्रहोंसे ग्रस्त प्राणियोंको दुःखसे छुटकारा देते हैं ॥ २५ ॥

स मोचयति पुण्यात्मा शरण्यः शरणागतान् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वित्तं कामांश्च पुष्कलान् ॥ २६ ॥

वे पुण्यात्मा और शरण्य हैं और शरणागत पुरुषोंको वे मुक्त करते हैं; वेही मनुष्योंको आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन और सम्पूर्ण कामनाएं ॥ २६ ॥

स ददाति मनुष्येभ्यः स एवाक्षिपते पुनः ।
शक्रादिषु च देवेषु तस्य चैश्वर्यमुच्यते ॥ २७ ॥

प्रदान करते हैं; फिर वेही आक्षेपपूर्वक उन्हें छिन लेते हैं । इन्द्रादि देवताओंमें उसका ही दिया हुआ ऐश्वर्य वर्णित होता है ॥ २७ ॥

स एवाभ्यधिको नित्यं त्रैलोक्यस्य शुभाशुभे ।
ऐश्वर्याच्चैव कामानामीश्वरः पुनरुच्यते ॥ २८ ॥

वह तीनों लोकोंके शुभाशुभ विषयोंका सदा फल देनेके लिये तत्पर रहते हैं । वह ऐश्वर्यके हेतु सब कार्योंका ईश्वर कहा जाता है ॥ २८ ॥

महेश्वरश्च लोकानां महतामीश्वरश्च सः ।
बहुभिर्विविधै रूपैर्विश्वं व्याप्तमिदं जगत् ।
तस्य देवस्य यद्वक्त्रं समुद्रे वडवामुखम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥ ६३१५ ॥

वह सब लोकोंका महेश्वर है और महद्भूतोंका भी ईश्वर है । उसके अनेक भांतिके रूपोंसे यह विश्व जगत् व्याप्त हो रहा है; उस देवका मुख ही समुद्रमें वडवानल है ॥ २९ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४६ ॥ ६३१५ ॥

: १४७ :

वैशंपायन उवाच—

इत्युक्तवति वाक्यं तु कृष्णे देवकिनन्दने ।
भीष्मं शांतनवं भूयः पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— देवकीनन्दन श्रीकृष्ण जब इतनी कथा कह चुके, तब युधिष्ठिरने शान्तनुनन्दन भीष्मसे फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

निर्णये वा महाबुद्धे सर्वधर्मभृतां वर ।
प्रत्यक्षमागमो वेति किं तयोः कारणं भवेत् ॥ २ ॥

हे सर्वधर्मज्ञश्रेष्ठ महाप्राज्ञ ! धर्मविषयका निर्णय करनेके लिये प्रत्यक्ष प्रमाणका उपयोग करना चाहिये या आगमका ? इन दोनोंमें कौनसा प्रमाण निर्णयमें कारण होता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच—

नास्त्यत्र संशयः कश्चिदिति मे वर्तते मतिः ।
शृणु वक्ष्यामि ते प्राज्ञ सम्यक्त्वमनुपृच्छसि ॥ ३ ॥

भीष्म बोले— हे प्राज्ञ ! इस विषयमें कुछ सन्देह नहीं है, मेरे मनमें ऐसी धारणा है, कि तुमने सम्यक् प्रश्न किया है; मैं यह विषय कहता हूं, सुनो ॥ ३ ॥

संशयः सुगमो राजन्निर्णयस्त्वत्र दुर्गमः ।
दृष्टं श्रुतमनन्तं हि यत्र संशयदर्शनम् ॥ ४ ॥

हे राजन् ! इसमें संशय उपस्थित करना सुगम है परन्तु निर्णय करना अत्यन्त कठिन है; प्रत्यक्ष और आगम दोनोंका कोई अन्त नहीं है, दोनोंमें संशय दीखते हैं ॥ ४ ॥

×

प्रत्यक्षं कारणं दृष्टं हैतुकाः प्राज्ञमानिनः ।
नास्तीत्येवं व्यवस्यन्ति सत्यं संशयमेव च ।
तदयुक्तं व्यवस्यन्ति बालाः पण्डितमानिनः । ॥ ५ ॥

अपनेको प्राज्ञ समझनेवाले हेतुवादी लोग प्रत्यक्ष कारणको देखकर परोक्ष वस्तुका अभाव मानते हैं; संशयको सत्य जानके 'नास्ति' ऐसा वचन कहा करते है, जो पण्डिताभिमानी बालकवृन्द ऐसा कहते हैं, वह युक्तिसिद्ध नहीं हैं ॥ ५ ॥

अथ चेन्मन्यसे चैकं कारणं किं भवेदिति ।
शक्यं दीर्घेण कालेन युक्तेनातन्द्रितेन च ।
प्राणयात्रामनेकां च कल्पयानेन भारत ॥ ६ ॥

यदि ऐसा समझो, कि ब्रह्म जगत्का एक मात्र कारण कैसे होता है, तो बहुत समयतक निरालस तथा तन्मनस्क होनेसे उसे जान सकोगे । हे भारत ! अपने जीवनका अनेक प्रकारके उपायसे निर्वाह करे ॥ ६ ॥

तत्परेणैव नान्येन शक्यं ह्येतत्तु कारणम् ।
हेतूनामन्तमासाद्य विपुलं ज्ञानमुत्तमम् ।
ज्योतिः सर्वस्य लोकस्य विपुलं प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

इसलिये जो तत्पर पुरुष प्रयत्नशील रहता है, वही इस तत्त्वका कारण दे सकता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता । कारणोंका अन्त जाननेसे विपुल उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है; वही ज्ञान सब जगत्की उत्तम ज्योति है ॥ ७ ॥

तत्त्वेनागमनं राजन्हेत्वन्तगमनं तथा ।
अग्राह्यमनिबद्धं च वाचः संपरिवर्जनम् ॥ ८ ॥

हे महाराज ! कारणोंका केवल ज्ञान और अन्तका बोध ज्ञान नहीं है; अग्राह्य और असंबद्ध विषयोंका प्रतिपादन त्यागना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्रत्यक्षं लोकतः सिद्धं लोकाश्चागमपूर्वकाः ।
शिष्टाचारो बहुविधो ब्रूहि तन्मे पितामह ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पितामह ! लोकमें प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है; लौकिक और आगमपूर्वक शिष्टाचार ये प्रमाण अनेक प्रकारके हैं, इसलिये आप मेरे समीप उसे ही वर्णन करिये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच—

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः
संस्था यत्नैरपि कृता कालेन परिभिद्यते ॥ १० ॥

भीष्म बोले– हे युधिष्ठिर ! बलवान् दुरात्माओंके द्वारा जब धर्मकी हानि होती है, तब यत्न-पूर्वक धर्म–रक्षाकी व्यवस्था कालक्रमसे नष्ट होती है ॥ १० ॥

अधर्मो धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः ।
ततस्तैर्भिद्यते वृत्तं शृणु चैव युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

तृणसे ढके हुए कूएंकी भांति अधर्मी धार्मिकताका रूप धारण करके सामने आते हैं और वे सदाचारकी मर्यादा तोड डालते हैं ॥ ११ ॥

अवृत्त्या ये च भिन्दन्ति श्रुतत्यागपरायणाः ।
धर्मविद्वेषिणो मन्दा इत्युक्तास्ते न संशयः ॥ १२ ॥

जो लोग शिष्टाचारविहीन और वेदोंका त्याग करनेवाले हैं, वे धर्मविद्वेषी तथा नीच कहके वर्णित हुए हैं और शिष्टाचारका भंग करते हैं, वैसे प्रत्यक्षानुमानचारी पुरुषोंमें सन्देह होता है ॥ १२ ॥

अतृप्यन्तस्तु साधूनां य एवागमबुद्धयः ।
परमित्येव संतुष्टास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १३ ॥

जो साधुओंके संगके लिये आतुर रहकर, उससे तृप्त नहीं होते, जिनकी बुद्धि आगमको ही प्रमाण मानती है तथा जो लोग सदा सन्तुष्ट हैं और धर्मको उत्तम समझते हैं, उन्हींकी उपासना करो और उन्हींसे अपना संदेह पूछो ॥ १३ ॥

कामार्थौ पृष्ठतः कृत्वा लोभमोहानुसारिणौ ।
धर्म इत्येव संबुद्धास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १४ ॥

जो लोभमोहका अनुसरण करनेवाले काम और अर्थकी उपेक्षा करके धर्मकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना करो, उनसे पूंछो; ॥ १४ ॥

न तेषां भिद्यते वृत्तं यज्ञस्वाध्यायकर्मभिः ।
आचारः कारणं चैव धर्मश्चैव त्रयं पुनः । ॥ १५ ॥

उनके चरित्र, यज्ञ और स्वाध्याय आदि कर्म कभी खंडित नहीं होते । उनमें चरित्र—शौच आदि आचार, वेद तथा धर्म— इन तीनोंकी एकता होती है ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पुनरेवेह मे बुद्धिः संशये परिमुह्यते ।
अपारे मार्गमाणस्य परं तीरमपश्यतः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले— अपार पथकी खोज करनेवाले पार न पाके जिस प्रकार दीखते हैं, वैसेही फिर मेरी बुद्धि सन्देहसे मुग्ध होती है ॥ १६ ॥

वेदाः प्रत्यक्षमाचारः प्रमाणं तत्त्रयं यदि ।
पृथक्त्वं लभ्यते चैषां धर्मश्चैकस्त्रयं कथम् ॥ १७ ॥

वेद, प्रत्यक्षदृष्ट चरित्र और आचार, ये तीनों ही यदि धर्मविषयमें प्रमाण हुए, तौभी इनमें पृथक्त्व मालूम होता है, और धर्म एक है; अनन्तर ये तीनों धर्म किस प्रकार हो सकते हैं? ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच—

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः ।
यद्येवं मन्यसे राजंस्त्रिधा धर्मविचारणा ॥ १८ ॥

भीष्म बोले— हे राजन् ! बलवान् दुष्टात्माओंके द्वारा जिसे हानि पहुंचायी है, उस धर्मके सम्बन्धमें यदि तुम इस तरह प्रमाणभेदसे तीन प्रकारका मानते हो, ऐसी शङ्का करते हो, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मकी विवेचना तीन प्रकारसे होती है ॥ १८ ॥

एक एवेति जानीहि त्रिधा तस्य प्रदर्शनम् ।
पृथक्त्वे चैव मे बुद्धिस्त्रयाणामपि वै तथा ॥ १९ ॥

तीनों प्रमाणोंके संवादसे एकही धर्मका दर्शन होता है। धर्मदर्शन त्रिविध होनेपर भी धर्म एक ही है; तीनों प्रमाणोंके पृथक् होनेपर भी प्रमेय धर्म पृथक् नहीं है; तीनों प्रमाण पृथक् पृथक् रीतिसे धर्मके प्रतिपादक नहीं होते, तीनोंके मिलनेसे एकमात्र धर्म हुआ करता है, ऐसा मैं मानता हूं ॥ १९ ॥

उक्तो मार्गस्त्रयाणां च तत्तथैव समाचर ।
जिज्ञासा तु न कर्तव्या धर्मस्य परितर्कणात् ॥ २० ॥

उक्त तीनों प्रमाणोंके द्वारा जो धर्म पथ वर्णित हुआ है, उसका उस ही प्रकार आचरण करो; धर्मविषयमें तर्क करके जिज्ञासा करना योग्य नहीं है ॥ २० ॥

सदैव भरतश्रेष्ठ मा ते भूदत्र संशयः ।
अन्धो जड इवाशङ्को यद्ब्रवीमि तदाचर ॥ २१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें तुम्हें कभी संशय नहीं होना चाहिये; और जडकी भांति शंका-रहित होके मैं जैसा कहता हूं, वैसाही आचरण करो ॥ २१ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम् ।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः ॥ २२ ॥

हे अजातशत्रु ! अहिंसा, सत्य, क्रोधहीनता और दान—तुम इन चारोंकी सेवा करो, यह सनातन धर्म है ॥ २२ ॥

ब्राह्मणेषु च वृत्तिर्या पितृपैतामहोचिता ।
तामन्वेहि महाबाहो स्वर्गस्यैते हि देशिकाः ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! ब्राह्मणोंके विषयमें तुम्हारे पिता पितामह आदिने जैसा बर्ताव किया है, उस-हीका तुम अनुसरण करो; क्योंकि येही स्वर्गके उपदेशक हैं ॥ २३ ॥

प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो नरः ।
न स प्रमाणतामर्हो विवादजननो हि सः ॥ २४ ॥
जो अज्ञानी मनुष्य प्रमाणको अप्रमाण करता है, उसकी बातको प्रमाण नहीं मानना चाहिये; कारण वह केवल विवाद करनेवाला है ॥ २४ ॥

ब्राह्मणानेव सेवस्व सत्कृत्य बहुमन्य च ।
एतेष्वेव स्थिमे लोकाः कृत्स्ना इति निबोध तान् ॥ २५ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥ ६३४० ॥
ब्राह्मणोंका सम्मान करते हुए अधिक आदरके सहित उनकी सेवा करो; यह जान रखो, कि ब्राह्मणोंसे ही ये सब लोक प्रतिष्ठित हो रहे हैं ॥ २५ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ सैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४७ ॥ ६३४० ॥

ः १४८ ः

युधिष्ठिर उवाच—
ये च धर्ममसूयन्ति ये चैनं पर्युपासते ।
ब्रवीतु भगवानेतत्क्व ते गच्छन्ति तादृशाः ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले— जो लोग धर्मकी निन्दा करते हैं और जो मनुष्य धर्मकी सेवा किया करते हैं, वे लोग किन स्थानोंमें जाते हैं ? आप मेरे निकट इस विषयको वर्णन करिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—
रजसा तमसा चैव समवस्तीर्णचेतसः ।
नरकं प्रतिपद्यन्ते धर्मविद्वेषिणो नराः ॥ २ ॥
भीष्म बोले— जिनका चित्त रजोगुण और तमोगुणसे ढंका है, वे धर्मविद्वेषी मनुष्य नरकमें गमन किया करते हैं ॥ २ ॥

ये तु धर्मं महाराज सततं पर्युपासते ।
सत्यार्जवपराः सन्तस्ते वै स्वर्गभुजो नराः ॥ ३ ॥
हे महाराज ! जो सत्य और सरलतामें तत्पर रहनेवाले लोग सब प्रकारसे सदा धर्मकी उपासना करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गभोग किया करते हैं ॥ ३ ॥

धर्म एव रतिस्तेषामाचार्योपासनाद्भवेत् ।
देवलोकं प्रपद्यन्ते ये धर्मं पर्युपासते ॥ ४ ॥
आचार्यकी उपासनाके कारण उनकी धर्मके प्रति ही प्रीति होगी; जो धर्मकी उपासना करते हैं, उन्हें देवलोक प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

मनुष्या यदि वा देवाः शरीरमुपताप्य वै ।
धर्मिणः सुखमेधन्ते लोभद्वेषविवर्जिताः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अथवा देवगण शरीरको कष्ट देकर भी धर्मका अनुसरण करते रहते हैं, वे लोभ-द्वेषसे रहित होकर सुखी होते हैं ॥ ५ ॥

प्रथमं ब्रह्मणः पुत्रं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
धर्मिणः पर्युपासन्ते फलं पक्वमिवाशयः ॥ ६ ॥

मनीषिगण धर्मको ब्रह्माका ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं; जैसे भोक्ताका मन पके हुए फलको पसंद करता है, वैसे ही धार्मिक लोग धर्मकी उपासना किया करते हैं ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—
असतां कीदृशं रूपं साधवः किं च कुर्वते ।
ब्रवीतु मे भवानेतत्सन्तोऽसन्तश्च कीदृशाः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले— दुष्टोंका क्या लक्षण है ? साधु लोग कौनसा कर्म करते हैं ? साधु और दुष्टजन कैसे होते हैं ? यह सब आप मेरे निकट वर्णन करिये ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच—
दुराचाराश्च दुर्धर्षा दुर्मुखाश्चाप्यसाधवः ।
साधवः शीलसंपन्नाः शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

भीष्म बोले— दुष्ट लोग दुराचारी, दुर्धर्ष और दुर्मुख होते हैं और साधुजन शीलसम्पन्न होते हैं । अब शिष्टाचारका लक्षण कहता हूं ॥ ८ ॥

राजमार्गे गवां मध्ये गोष्ठमध्ये च धर्मिणः ।
नोपसेवन्ति राजेन्द्र सर्गं मूत्रपुरीषयोः ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! धार्मिक मनुष्य राजमार्गपर, गोसमूहके बीचमें और खेतमें लगे हुए धान्यके बीच मल-मूत्र परित्याग नहीं करते हैं ॥ ९ ॥

पञ्चानामशनं दत्त्वा शेषमश्नन्ति साधवः ।
न जल्पन्ति च भुञ्जाना न निद्रान्त्यार्द्रपाणयः ॥ १० ॥

साधु लोग देव, पितर, भूत, अतिथि और कुटुम्ब—इन पांचोंको अन्नदान करके शेषमें स्वयं भोजन करते हैं; वे लोग भोजन करते करते बातचीत नहीं करते और भीगे हाथ लेकर सोते नहीं ॥ १० ॥

चित्रभानुमनड्वाहं देवं गोष्ठं चतुष्पथम् ।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं ते कुर्वन्ति प्रदक्षिणम् ॥ ११ ॥

जो लोग अग्नि, वृषभ, देवता, गोशाला, चौराहा, ब्राह्मण, धार्मिक और देवालयोंकी प्रदक्षिणा करते हैं ॥ ११ ॥

वृद्धानां भारतप्तानां स्त्रीणां बालातुरस्य च ।
ब्राह्मणानां गवां राज्ञां पन्थानं ददते च ते ॥ १२ ॥

जो लोग बड़े-बूढ़े, भारसे थके हुए मनुष्यों, स्त्रियों, बालकों, ब्राह्मणों, गौओं और राजाओंको जानेके लिये मार्ग देते हैं, वेही साधु हैं ॥ १२ ॥

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च ।
तथा शरणकामानां गोप्ता स्यात्स्वागतप्रदः ॥ १३ ॥

साधुको अतिथि, सेवक, स्वजनों और शरणागत पुरुषोंका रक्षक तथा स्वागत करनेवाला होना चाहिये ॥ १३ ॥

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासविधिर्हि सः ॥ १४ ॥

देवताओंने सायंकाल और सवेरे मनुष्योंके लिये भोजन करनेका विधान किया है; बीचमें भोजन करनेके विधि नहीं देखी जाती । इस नियमका पालन करनेसे उपवासका फल मिलता है ॥ १४ ॥

होमकाले यथा वह्निः कालमेव प्रतीक्षते ।
ऋतुकाले तथा नारी ऋतुमेव प्रतीक्षते ।
न चान्यां गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्यं हि तत्स्मृतम् ॥ १५ ॥

जैसे होमकालमें अग्नि होम-समयकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसेही ऋतुकालमें स्त्री ऋतुकी प्रतीक्षा करती है; ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें जो स्त्रीसंग नहीं करता, वही उसका ब्रह्मचर्य कहाता है ॥ १५ ॥

अमृतं ब्राह्मणा गाव इत्येतत्त्रयमेकतः ।
तस्माद्गोब्राह्मणं नित्यमर्चयेत यथाविधि ॥ १६ ॥

अमृत, ब्राह्मण और गौवें, ये तीनोंही एक स्थानसे प्रकट हुए हैं; इसलिये ब्राह्मण और गौकी सदा विधिपूर्वक पूजा करे ॥ १६ ॥

यजुषा संस्कृतं मांसमुपभुञ्जन्न दुष्यति ।
पृष्ठमांसं वृथामांसं पुत्रमांसं च तत्समम् ॥ १७ ॥

यजुर्वेद मंत्रोंसे संस्कारयुक्त मांस भक्षण करनेमें दोष नहीं होता; पृष्ठमांस, वृथामांस और पुत्रमांस, ये तीनोंही समान हैं ॥ १७ ॥

स्वदेशे परदेशे वाप्यतिथिं नोपवासयेत् ।
कर्म वै सफलं कृत्वा गुरूणां प्रतिपादयेत् ॥ १८ ॥

निज देश तथा परदेशमें अतिथिको उपवासी न रखे; गुरुका कार्य सफल करके उन्हें सूचित करे ॥ १८ ॥

गुरुभ्य आसनं देयमभिवाद्याभिपूज्य च ।
गुरूनभ्यर्च्य वर्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ १९ ॥

बड़े लोग—गुरुको प्रणाम करे और विधिवत् पूजा करके उन्हें बैठनेके लिये आसन देना योग्य है। गुरुजनोंकी पूजा करनेसे परमायु, यश और श्रीके सहित वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

वृद्धान्नातिवदेज्जातु न च संप्रेषयेदपि ।
नासीनः स्यात्स्थितेष्वेवमायुरस्य न रिष्यते ॥ २० ॥

वृद्धोंकी कदापि निन्दा न करे और उन्हें किसी कार्यके निमित्त भेजना योग्य नहीं है। बड़े लोगोंके खड़े रहनेपर बैठा न रहे, इस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्यकी आयु नहीं घटती है ॥ २० ॥

न नग्नामीक्षते नारीं न विद्वान्पुरुषानपि ।
मैथुनं सततं गुप्तमाहारं च समाचरेत् ॥ २१ ॥

वस्त्ररहित स्त्रीकी ओर न देखे, विद्वान् पुरुषोंकी ओर भी न देखे; सदा गुप्तभावसे मैथुन और आहार करे ॥ २१ ॥

तीर्थानां गुरवस्तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचि ।
दर्शनानां परं ज्ञानं संतोषः परमं सुखम् ॥ २२ ॥

गुरुजन सब तीर्थोंके भी तीर्थस्वरूप हैं, सब पवित्र पदार्थोंके बीच हृदय ही अत्यन्त पवित्र है; दर्शनोंके बीच परमार्थ तत्त्वका ज्ञानही परम श्रेष्ठ है और सन्तोष ही परम सुख है ॥ २२ ॥

सायं प्रातश्च वृद्धानां शृणुयात्पुष्कला गिरः ।
श्रुतमाप्नोति हि नरः सततं वृद्धसेवया ॥ २३ ॥

सन्ध्या और सबेरेके समय वृद्ध पुरुषोंकी बातें पूर्णतया सुने; सदा वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य शास्त्रीय ज्ञानसे संपन्न होता है ॥ २३ ॥

स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ।
यच्छेद्वाङ्मनसी नित्यमिन्द्रियाणां च विभ्रमम् ॥ २४ ॥

वेदपाठ—स्वाध्याय और भोजनके समय दाहिना हाथ उठावे अर्थात् यज्ञोपवीती होवे; वाणी, मन और इन्द्रियोंको सदा संयत करे ॥ २४ ॥

संस्कृतं पायसं नित्यं यवागूं कृसरं हविः ।
अष्टकाः पितृदैवत्या वृद्धानामभिपूजनम् ॥ २५ ॥

संस्कार किया हुआ पायस, हलुआ, खिचडी और हविके सहारे देवताओं तथा पितरोंका अष्टका श्राद्ध और वृद्धोंकी पूजा करे ॥ २५ ॥

श्मश्रुकर्मणि मङ्गल्यं क्षुतानामभिनन्दनम् ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुषः प्रतिनन्दनम् ॥ २६ ॥

श्मश्रुकर्ममें मङ्गलवचन कहे, छींकनेवालेको शतजीव इत्यादि वचनसे आशीर्वाद देना, पीडित पुरुषोंकी परमायुके निमित्त प्रार्थना करते हुए अभिनन्दन करना ॥ २६ ॥

न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम् ।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ।
अवराणां समानानां शिष्याणां च समाचरेत् ॥ २७ ॥

आपद्ग्रस्त होनेपर कदापि महान् पुरुषको "तुम" न कहे; विद्वान्को तुम कहना और बध करना इन दोनोंमें विद्वान् कोई अन्तर नहीं मानते । कनिष्ठ लोगों, बराबर वालों और शिष्योंको तुम कहना योग्य है ॥ २७ ॥

पापमाचक्षते नित्यं हृदयं पापकर्मिणाम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ २८ ॥

पापकर्म करनेवाले मनुष्योंका हृदय ही सदा उनके पापको प्रकट करता है; अर्थात् कर्मके सहारे उनका हृदय जाना जाता है । महाजनोंके निकट अपने कृतकर्मोंको—पापोंको गोपन करनेसे वे कर्म विनष्ट होते हैं ॥ २८ ॥

ज्ञानपूर्वं कृतं कर्म च्छादयन्ते ह्यसाधवः ।
न मां मनुष्याः पश्यन्ति न मां पश्यन्ति देवताः ।
पापेनाभिहतः पापः पापमेवाभिजायते ॥ २९ ॥

दुष्ट लोग ही जान बूझकर कृतकर्मोंको गोपन किया करते हैं । मुझे पाप करते समय मनुष्य नहीं देखते हैं और देवता भी नहीं देखते हैं; ऐसा ही समझके पापसे परिपूरित पापाचारी मनुष्य पाप योनिमें ही जन्म लेता है ॥ २९ ॥

यथा वार्धुषिको वृद्धिं देहभेदे प्रतीक्षते ।
धर्मेणापिहितं पापं धर्ममेवाभिवर्धयेत् ॥ ३० ॥

जैसे वृद्धिजीवी—सूदखोर मनुष्य देहभेदसे वृद्धिकी प्रतिक्षा करता है, वैसे ही धर्मसे ढका हुआ पाप धर्मकी वृद्धि किया करता है ॥ ३० ॥

यथा लवणमम्भोभिराप्लुतं प्रविलीयते ।
प्रायश्चित्तहतं पापं तथा सद्यः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
जैसे नमक जलमें पडनेसे गल जाता है, वैसे ही प्रायश्चित्तके द्वारा पापकर्म उस ही समय विनष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

तस्मात्पापं न गूहेत गूह्यमानं विवर्धते ।
कृत्वा तु साधुष्वाख्येयं ते तत्प्रशमयन्त्युत ॥ ३२ ॥
इसलिये अपने पापकर्मको न छिपावे, छिपानेसे ही वह बढता है; कभी पाप करनेपर साधुओंके निकट कहनेसे, वे उस पापको नष्ट किया करते हैं ॥ ३२ ॥

आशया संचितं द्रव्यं यत्काले नोपभुज्यते ।
अन्ये चैतत्प्रपद्यन्ते वियोगे तस्य देहिनः ॥ ३३ ॥
आशाके सहारे संचित किया हुआ द्रव्य कालक्रमसे उपभुक्त होता है; जो मनुष्य सञ्चय करता है, उसके वियोगमें दूसरे लोग उसे प्राप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि धर्ममेव समासते ॥ ३४ ॥
मनीषीवृन्द सब जीवोंके मानसको ही धर्म कहते हैं, इसलिये सब जीव धर्मकाही आसरा कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

एक एव चरेद्धर्मं न धर्मध्वजिको भवेत् ।
धर्मवाणिजका ह्येते ये धर्ममुपभुञ्जते ॥ ३५ ॥
एक मात्र धर्मका ही आचरण करे, धर्मध्वजी (धर्मका दिखावा करनेवाला) न होवे; जो लोग धर्मको जीविकाका साधन करते हैं, वे धर्मवणिक् हैं ॥ ३५ ॥

अर्चेद्देवानदम्भेन सेवेतामायया गुरून् ।
निधिं निदध्यात्पारत्र्यं यात्रार्थं दानशब्दितम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥ ६३७६ ॥

दम्भरहित होकर देवताओंकी पूजा करे, निष्कपट होके गुरुकी सेवा करे; परलोककी यात्राके लिये दान नामक निधिका संचय करे ॥ ३६ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४८ ॥ ६३७६ ॥

: १४९ :

युधिष्ठिर उवाच—

नाभागधेयः प्राप्नोति धनं सुबलवानपि ।
भागधेयान्वितस्त्वर्थान्कृशो बालश्च विन्दति ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— भाग्यहीन मनुष्य अत्यन्त बलवान् होनेपर भी धनवान् नहीं होता और भाग्यवान् मनुष्य कृशित तथा बालक होनेपर भी अर्थ लाभ करता है ॥ १ ॥

नालाभकाले लभते प्रयत्नेऽपि कृते सति ।
लाभकालेऽप्रयत्नेन लभते विपुलं धनम् ।
कृतयत्नाफलाश्चैव दृश्यन्ते शतशो नराः ॥ २ ॥

जब तक धन मिलनेका समय नहीं रहता, तब तक प्रयत्न करनेपर भी कुछ नहीं प्राप्त होता और मिलनेके समयमें बिना यत्नके ही बहुतसा धन मिलता है । ऐसे सैकडों लोग दीखते हैं, जो कि यत्न करके निष्फल हुए हैं ॥ २ ॥

यदि यत्नो भवेन्मर्त्यः स सर्वं फलमाप्नुयात् ।
नालभ्यं चोपलभ्येत नृणां भरतसत्तम ॥ ३ ॥

यदि यत्न करनेसे सफलता मिलनीही चाहिये तो मनुष्यको उस ही समय फल प्राप्त होता । हे भरतसत्तम ! मनुष्यको न मिलनेवाली वस्तु प्राप्त नहीं होती ॥ ३ ॥

यदा प्रयत्नं कृतवान्दृश्यते ह्यफलो नरः ।
मार्गन्नयशतैरर्थानमार्गश्चापरः सुखी ॥ ४ ॥

यह देखा जाता है, कि प्रयत्न करनेपर भी बहुतेरे मनुष्य निष्फल होते हैं । कोई सैकडों नीतिवचनके सहारे धन चाहते हैं । कोई कुमार्गपर चलकर ही धनसे सुखी होते हैं ॥ ४ ॥

अकार्यमसकृत्कृत्वा दृश्यन्ते ह्यधना नराः ।
धनयुक्तास्त्वधर्मस्था दृश्यन्ते चापरे जनाः ॥ ५ ॥

देखनेमें आता है, कितने लोग बार बार दुष्कर्म करके निर्द्धन ही रह जाते हैं और दूसरे लोग अधार्मिक कर्मोंमें रत होके धनवान् होते हैं ॥ ५ ॥

अधीत्य नीतिं यस्माच्च नीतियुक्तो न दृश्यते ।
अनभिज्ञश्च साचिव्यं गमितः केन हेतुना ।
विद्यायुक्तो ह्यविद्यश्च धनवान्दुर्गतस्तथा ॥ ६ ॥

कोई पुरुष नीतिशास्त्रोंको पढके भी नीतियुक्त नहीं देखा जाता और क्या कारण है, कि कोई नीतिसे अनभिज्ञ होनेपर भी मन्त्रीके पदपर नियुक्त होता है ? विद्वान् और मूर्ख दोनों एक समान धनवान् होते हैं; तो कभी दरिद्र ॥ ६ ॥

यदि विद्यामुपाश्रित्य नरः सुखमवाप्नुयात् ।
न विद्वान्विद्यया हीनं वृत्त्यर्थमुपसंश्रयेत् ॥ ७ ॥

यदि विद्या पढकर मनुष्य सुखी होता, तो विद्वान् मनुष्यको जीविकाके निमित्त मूर्खका आसरा लेना नहीं पडता ॥ ७ ॥

यथा पिपासां जयति पुरुषः प्राप्य वै जलम् ।
दृष्टार्थो विद्ययाप्येवमविद्यां प्रजहेन्नरः ॥ ८ ॥

जैसे मनुष्य जल पाके प्यास बुझाता है, वैसेही इष्ट वस्तुकी प्राप्ति विद्याके सहारे हो सकती, तो मनुष्य अज्ञानताका त्याग करता ॥ ८ ॥

नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि ।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ ९ ॥

जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह, सैकडों बाणोंसे विद्ध होनेपर भी नहीं मरता; और जिसका काल पहुंच गया है, वह तृणकी नोकसे छुए जानेपर भी जीवित नहीं रहता ॥९॥

भीष्म उवाच—
ईहमानः समारम्भान्यदि नासादयेद्धनम् ।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति ॥ १० ॥

भीष्म बोले– कार्योंकी चेष्टा तथा प्रयत्न करते हुए भी यदि अर्थ लाभ न होवे, तो उग्र तपस्यामें प्रवृत्त होना चाहिये; क्योंकि बिना बीजके बोये कदापि अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता ॥१०॥

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया ।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ ११ ॥

मनीषिवृन्द कहा करते हैं, कि दान करनेसे मनुष्य भोगवान् होता है, वृद्धोंकी सेवा करनेसे मेधावी हुआ करता है और अहिंसासे महादीर्घायु होता है ॥ ११ ॥

तस्माद्दद्यान्न याचेत पूजयेद्धार्मिकानपि ।
स्वाभाषी प्रियकृच्छुद्धः सर्वसत्त्वाविहिंसकः ॥ १२ ॥

इसलिये दान करे, याचना करना योग्य नहीं है। धार्मिक लोगोंकी पूजा करे, उत्तम बचन कहे; प्रियकारी, शुद्ध और सब प्राणियोंके विषयमें अहिंसक होवे ॥ १२ ॥

यदा प्रमाणप्रभवः स्वभावश्च सुखासुखे ।
मशकीटपिपीलानां स्थिरो भव युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥ ६३८९ ॥

हे युधिष्ठिर ! जब कर्म और स्वभाव डांस, कीट तथा चींटी प्रभृतिके सुख–दुःख प्राप्ति विषयमें प्रमाण हैं, तब अपने विषयमें भी वैसा ही जानके, तुम्हें स्थिर होना चाहिये ॥१३॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ १४९ ॥ ६३८९ ॥

: १५० :

भीष्म उवाच—

कार्यते यच्च क्रियते सच्चासच्च कृतं तत: ।
तत्राश्वसीत सत्कृत्वा असत्कृत्वा न विश्वसेत् ॥ १ ॥

भीष्म बोले– जो सत् वा असत् कर्म किया जाता तथा कराया जाता है; किंवा कृत वा अकृत हो; उसके बीच सत्कर्म करके उसपर विश्वास करे और असत् कार्योंमें विश्वास न करना चाहिये ॥ १ ॥

काल एवात्र कालेन निग्रहानुग्रहौ ददत्।
बुद्धिमाविश्य भूतानां धर्मार्थेषु प्रवर्तते ॥ २ ॥

यही कालही सदा निग्रह–अनुग्रह प्रदान करता हुआ प्राणियोंकी बुद्धिमें आविष्ट होकर धर्म और अर्थका फल देता है ॥ २ ॥

यदा त्वस्य भवेद्बुद्धिर्धर्म्या चार्थप्रदर्शिनी ।
तदाश्वसीत धर्मात्मा दृढबुद्धिर्न विश्वसेत् ॥ ३ ॥

जिस समय धर्मार्थ प्रदर्शन हेतु पुरुषकी बुद्धिमें धर्मकी श्रेष्ठताका बोध होता है, उस समय धर्मात्मा मनुष्य धर्ममें आश्वस्त होता है, जबतक धर्ममें बुद्धि दृढ नहीं होती, तबतक उसपर कोई विश्वास नहीं करता ॥ ३ ॥

एतावन्मात्रमेतद्धि भूतानां प्राज्ञलक्षणम् ।
कालयुक्तोऽप्युभयविच्छेषमर्थं समाचरेत् ॥ ४ ॥

इसलिये प्राणियोंको धर्मफलमें विश्वास करके, उसी प्रकार आचरण करना चाहिये, यही उनकी बुद्धिमत्ताकी पहचान है; जो कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य दोनोंको जानता है, वह समयके अनुसार प्रतिकूल परिस्थितिमें भी जैसा उचित होता है, वैसा ही योग्य अर्थ प्राप्तिके लिये आचरण किया करे ॥ ४ ॥

यथा ह्युपस्थितैश्वर्याः पूजयन्ते नरा नरान् ।
एवमेवात्मनात्मानं पूजयन्तीह धार्मिकाः ॥ ५ ॥

जैसे ऐश्वर्यशाली मनुष्य रजोगुणसे युक्त सन्तान उत्पन्न नहीं करते, धर्मका पालन करते हैं, और इस प्रकार इस लोकमें धार्मिक पुरुष आप ही अपने प्रयत्नसे महान् पदको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

न ह्यधर्मतया धर्मं दद्यात्कालः कथंचन ।
तस्माद्विशुद्धमात्मानं जानीयाद्धर्मचारिणम् ॥ ६ ॥

काल कदापि दुःखके हेतु स्वरूपसे धर्मको अधर्म नहीं करता; इसलिये धर्मचारी मनुष्यको पवित्र आत्माही समझे ॥ ६ ॥

स्प्रष्टुमप्यसमर्थो हि ज्वलन्तमिव पावकम् ।
अधर्मः सततो धर्मं कालेन परिरक्षितम् ॥ ७ ॥
अधर्म कालके द्वारा सदा जलती हुई अग्निसदृश परिरक्षित तेजस्वी धर्मको स्पर्श करनेमें भी समर्थ नहीं है ॥ ७ ॥

कार्यावेतौ हि कालेन धर्मो हि विजयावहः ।
त्रयाणामपि लोकानामालोककरणो भवेत् ॥ ८ ॥
विशुद्धता और पापके स्पर्शका अभाव— ये दोनों कालके कार्य हैं; क्योंकि धर्म ही विजयकी प्राप्ति करनेवाला है; धर्म ही तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ ८ ॥

तत्र कश्चिन्नयेत्प्राज्ञो गृहीत्वैव करे नरम् ।
उह्यमानः स धर्मेण धर्मे बहुभयच्छले ॥ ९ ॥
इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥ ६३९८ ॥
वहाँ कोई बुद्धिमान् पुरुष किसी मनुष्यको हाथसे पकड़के धर्ममें प्रवृत्त कर सकता; परन्तु वह धर्मभय तथा लोकभयके छलसे उसे धर्मानुष्ठानके निमित्त प्रेरण करता है, अर्थात् प्राज्ञ पुरुषोंके द्वारा लोकभय प्रभृति छलसे प्रेरित होकर मनुष्य धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होता है ॥ ९ ॥
महाभारतके अनुशासनपर्वमें एकसौ पचासवां अध्याय समाप्त ॥ १५० ॥ ६३९८ ॥

: १५१ :

युधिष्ठिर उवाच—
किं श्रेयः पुरुषस्येह किं कुर्वन्सुखमेधते ।
विपाप्मा स भवेत्केन किं वा कल्मषनाशनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले— इस लोकमें पुरुषके लिये कल्याण क्या है ? क्या करनेसे मनुष्यको सुख मिलता है ? किन कर्मोंके सहारे पुरुष निष्पाप होता है और किन प्रकार कर्म पापोंको नाश करता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच—
अयं दैवतवंशो वै ऋषिवंशसमन्वितः ।
द्विसंध्यं पठितः पुत्र कल्मषापहरः परः ॥ २ ॥
भीष्म बोले— हे तात ! ऋषिवंशयुक्त इस देववंशका द्विसन्ध्या पाठ करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पाता है ॥ २ ॥

देवासुरगुरुर्देवः सर्वभूतनमस्कृतः ।
अचिन्त्योऽथाप्यनिर्देश्यः सर्वप्राणो ह्ययोनिजः ॥ ३ ॥
देवासुरगुरु, सर्वभूतनमस्कृत, अचिन्त्य, अनिर्देश्य, सर्वप्राण, अयोनिज देव ॥ ३ ॥

पितामहो जगन्नाथः सावित्री ब्रह्मणः सती ।
वेदभूरथ कर्ता च विष्णुर्नारायणः प्रभुः ॥ ४ ॥

जगत्के ईश्वर, पितामह, उन ब्रह्माकी पत्नी सती सावित्री, वेदोंके कर्त्ता, जगत् कर्ता, विष्णु नारायण, प्रभु, ॥ ४ ॥

उमापतिर्विरूपाक्षः स्कन्दः सेनापतिस्तथा ।
विशाखो हुतभुग्वायुश्चन्द्रादित्यौ प्रभाकरौ ॥ ५ ॥

उमापति विरूपाक्ष, सेनापति स्कन्द, विशाख, अग्नि, वायु, प्रकाश फैलानेवाले चन्द्रमा और सूर्य, ॥ ५ ॥

शक्रः शचीपतिर्देवो यमो धूमोर्णया सह ।
वरुणः सह गौर्या च सह ऋद्धया धनेश्वरः ॥ ६ ॥

शचीपति इन्द्र, यम, उनकी पत्नी धूमोर्णा, अपनी पत्नी गौरीके सहित वरुण और ऋद्धिके सहित कुबेर, ॥ ६ ॥

सौम्या गौः सुरभिर्देवी विश्रवाश्च महानृषिः ।
षट्कालः सागरो गङ्गा स्रवन्त्योऽथ मरुद्गणाः ॥ ७ ॥

सौम्य गौ सुरभीदेवी, महर्षि विश्रवा, षट्काल, सागर, गङ्गा प्रभृति नदियाँ, मरुद्गण, ॥७॥

वालखिल्यास्तपःसिद्धाः कृष्णद्वैपायनस्तथा ।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ ८ ॥

तपसे सिद्ध बालखिल्य ऋषि, श्रीकृष्णद्वैपायन, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, ॥८॥

तुम्बरुश्चित्रसेनश्च देवदूतश्च विश्रुतः ।
देवकन्या महाभागा दिव्याश्चाप्सरसां गणाः ॥ ९ ॥

तुम्बरु, चित्रसेन, प्रख्यात देवदूत, महाभागा देवकन्याएं, दिव्य अप्सरावृन्द, ॥ ९ ॥

उर्वशी मेनका रम्भा मिश्रकेशी अलम्बुषा ।
विश्वाची च घृताची च पञ्चचूडा तिलोत्तमा ॥ १० ॥

उर्वशी, मेनका, रम्भा, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, विश्वाची, घृताची, पञ्चचूडा, तिलोत्तमा, ॥१०॥

आदित्या वसवो रुद्राः साश्विनः पितरोऽपि च ।
धर्मः सत्यं तपो दीक्षा व्यवसायः पितामहः ॥ ११ ॥

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, पितर, धर्म, सत्य, तप, दीक्षा, व्यवसाय, पितामह, ॥ ११ ॥

शर्वर्यो दिवसाश्चैव मारीचः कश्यपस्तथा ।
शुक्रो बृहस्पतिर्भौमो बुधो राहुः शनैश्चरः ॥ १२ ॥
रात्रि, दिवस, मारीच, कश्यप, शुक्र, बृहस्पति, मङ्गल, बुध, राहु, शनैश्चर, ॥ १२ ॥

नक्षत्राण्यृतवश्चैव मासाः संध्याः सवत्सराः ।
वैनतेयाः समुद्राश्च कद्रुजाः पन्नगास्तथा ॥ १३ ॥
सब नक्षत्र, सब ऋतु, मास, संध्या, संवत्सर, वैनतेय—गरुड, समुद्र, कद्रुके पुत्र सर्पगण, ॥ १३ ॥

शतद्रूश्च विपाशा च चन्द्रभागा सरस्वती ।
सिन्धुश्च देविका चैव पुष्करं तीर्थमेव च ॥ १४ ॥
शतद्रु, विपाशा, चन्द्रभागा, सरस्वती, सिन्धु, देविका, पुष्कर तीर्थ, ॥ १४ ॥

गङ्गा महानदी चैव कपिला नर्मदा तथा ।
कम्पुना विशल्या च करतोयाम्बुवाहिनी ॥ १५ ॥
गङ्गा, महानदी, कपिला, नर्मदा, कम्पुना, विशल्या, करतोया, अम्बुवाहिनी, ॥१५॥

सरयूर्गण्डकी चैव लोहित्यश्च महानदः ।
ताम्रारुणा वेत्रवती पर्णाशा गौतमी तथा ॥ १६ ॥
सरयू, गण्डकी, महानद लोहित्य, ताम्रा, अरुणा, वेत्रवती, पर्णाशा, गौतमी, ॥ १६ ॥

गोदावरी च वेण्णा च कृष्णवेणा तथाद्रिजा ।
दृषद्वती च कावेरी वंक्षुर्मन्दाकिनी तथा ॥ १७ ॥
गोदावरी, वेण्या, कृष्णवेणा, अद्रिजा, दृषद्वती, कावेरी, वंक्षु, मन्दाकिनी, ॥ १७ ॥

प्रयागं च प्रभासं च पुण्यं नैमिषमेव च ।
तच्च विश्वेश्वरस्थानं यत्र तद्विमलं सरः ॥ १८ ॥
प्रयाग, प्रभास, पवित्र नैमिषक्षेत्र, विमल सरोवर जहांपर विश्वेश्वरका स्थान है, ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थैश्च कलिलं कुरुक्षेत्रं प्रकीर्तितम् ।
सिन्धूत्तमं तपोदानं जम्बूमार्गमथापि च ॥ १९ ॥
पुण्यतीर्थोंसे युक्त उत्तम कुरुक्षेत्र, उत्तम समुद्र, तप, दान, जम्बूमार्ग, ॥ १९ ॥

हिरण्वती वितस्ता च तथैवेक्षुमती नदी ।
वेदस्मृतिर्वेदसिनी मलयासाश्च नद्यपि ॥ २० ॥
हिरण्यवती, वितस्ता, इक्षुमती नदी, वेद,– स्मृति,– वैदसिनी, मलवासा नदी, ॥ २० ॥

भूमिभागास्तथा पुण्या गङ्गाद्वारमथापि च ।
ऋषिकुल्यास्तथा मेध्या नदी चित्रपथा तथा ॥ २१ ॥
भूमिके समस्त पवित्र स्थान, गङ्गाद्वार, पवित्र ऋषिकुल्या, चित्रपथा नदी, ॥ २१ ॥

कौशिकी यमुना सीता तथा चर्मण्वती नदी ।
नदी भीमरथी चैव बाहुदा च महानदी ।
महेन्द्रवाणी त्रिदिवा नीलिका च सरस्वती ॥ २२ ॥

कौशिकी, यमुना, सीता, चर्मण्वती नदी, भीमरथी नदी, महानदी, बाहुदा, महेन्द्रवाणी, त्रिदिवा, नीलिका, सरस्वती, ॥ २२ ॥

नन्दा चापरनन्दा च तथा तीर्थं महाह्रदम् ।
गयाथ फल्गुतीर्थं च धर्मारण्यं सुरैर्वृतम् ॥ २३ ॥

नन्दा, अपरनन्दा, महाह्रद तीर्थ, गया, फल्गुतीर्थ, देवताओंसे परिपूरित धर्मारण्य, ॥ २३ ॥

तथा देवनदी पुण्या सरश्च ब्रह्मनिर्मितम् ।
पुण्यं त्रिलोकविख्यातं सर्वपापहरं शिवम् ॥ २४ ॥

पुण्या देवनदी, ब्रह्मनिर्मित तीनों लोकोंमें विख्यात सब पापोंको हरनेवाला कल्याणकारी पुण्यसरोवर, ॥ २४ ॥

हिमवान्पर्वतश्चैव दिव्यौषधिसमन्वितः ।
विन्ध्यो धातुविचित्राङ्गस्तीर्थवानौषधान्वितः ॥ २५ ॥

दिव्य ओषधियोंसे युक्त हिमालय पर्वत, अनेक धातुओं, तीर्थों, औषधियोंसे शोभित विन्ध्य, ॥ २५ ॥

मेरुर्महेन्द्रो मलयः श्वेतश्च रजतान्वितः ।
शृङ्गवान्मन्दरो नीलो निषधो दर्दुरस्तथा ॥ २६ ॥

मेरु, महेन्द्र, मलय, रौप्ययुक्त श्वेत पर्वत, शृङ्गवान्, मन्दर, नील, निषध, दर्दुर, ॥ २६ ॥

चित्रकूटोऽञ्जनाभश्च पर्वतो गन्धमादनः ।
पुण्यः सोमगिरिश्चैव तथैवान्ये महीधराः ।
दिशश्च विदिशश्चैव क्षितिः सर्वे महीरुहाः ॥ २७ ॥

चित्रकूट, अञ्जनाभ, गन्धमादन पर्वत, पवित्र सोमगिरि इनके अतिरिक्त अन्य समस्त पर्वत, दिशा, विदिशा, सारी पृथ्वी, समस्त वृक्ष, ॥ २७ ॥

विश्वेदेवा नभश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पान्तु वः सततं देवाः कीर्तिताकीर्तिता मया ॥ २८ ॥

विश्वेदेवगण, आकाश, नक्षत्रगण, ग्रहगण और ये समस्त देवगण जो मेरे द्वारा कीर्तित अथवा अकीर्तित हुए हैं, वे सब कोई सदा हमारी रक्षा करें ॥ २८ ॥

×

कीर्तयानो नरो ह्येतान्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
स्तुवंश्च प्रतिनन्दंश्च मुच्यते सर्वतो भयात् ।
सर्वसंकरपापेभ्यो देवतास्तवनन्दकः ॥ २९ ॥

मनुष्य इन्हीं नामोंके पाठ करनेसे सब पापोंसे छूटता है, इन सबकी स्तुति तथा अभिनन्दन करनेसे मनुष्य समस्त भयसे मुक्त हुआ करता है ॥ २९ ॥

देवतानन्तरं विप्रांस्तपःसिद्धांस्तपोधिकान् ।
कीर्तितान्कीर्तयिष्यामि सर्वपापप्रमोचनान् ॥ ३० ॥

जो देवताओंकी स्तुति और अभिनन्दन करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है [देवताओंके अनन्तर तपसे सिद्ध, अधिक तपस्यायुक्त सब पापोंके नाशक, विख्यात ब्राह्मणोंका नाम वर्णन करता हूं] ॥ ३० ॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च कक्षीवानौशिजस्तथा ।
भृग्वङ्गिरास्तथा कण्वो मेधातिथिरथ प्रभुः ।
बर्ही च गुणसंपन्नः प्राचीं दिशमुपाश्रिताः ॥ ३१ ॥

यवक्रीत, रैभ्य, कक्षीवान्, औशिज, भृगु, अङ्गिरा, कण्व, शक्तिमान् मेधातिथि और गुणसम्पन्न बर्ही, ये पूर्वदिशामें रहते हैं ॥ ३१ ॥

भद्रां दिशं महाभागा उल्मुचुः प्रमुचुस्तथा ।
मुमुचुश्च महाभागः स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

दक्षिण दिशामें निवास करनेवाले महाभाग उल्मुचु, प्रमुचु, महाभाग मुमुचु, वीर्यवान् स्वस्त्यात्रेय, ॥ ३२ ॥

मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान् ।
दृढायुश्चोर्ध्वबाहुश्च विश्रुतावृषिसत्तमौ ॥ ३३ ॥

मित्रावरुणके पुत्र प्रतापवान् अगस्त्य, विख्यात दोनों ऋषिसत्तम दृढायु और ऊर्ध्वबाहु हैं ॥ ३३ ॥

पश्चिमां दिशमाश्रित्य य एधन्ते निबोध तान् ।
उषद्गुः सह सोदर्यैः परिव्याधश्च वीर्यवान् ॥ ३४ ॥

जो पश्चिम दिशामें रहकर अभ्युदय शील होते हैं, उनके नाम सुनो। सहोदरभाईयोंके सहित उषद्गु, वीर्यवान् परिव्याध, ॥ ३४ ॥

ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव गौतमः कश्यपस्तथा ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ।
अत्रेः पुत्रश्च धर्मात्मा तथा सारस्वतः प्रभुः ॥ ३५ ॥

ऋषि दीर्घतमा, गौतम, काश्यप, महर्षि एकत, द्वित और त्रित, तथा अत्रिके धर्मात्मा पुत्र दुर्वासा और शक्तिमान् सारस्वत ॥ ३५ ॥

उत्तरां दिशमाश्रित्य य एधन्ते निबोध तान्।
अत्रिर्वसिष्ठः शक्तिश्च पाराशर्यश्च वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

जो उत्तरदिशाका आश्रय लेकर अपनी उन्नति करते हैं, उनके नाम सुनो। अत्रि, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर पुत्र शक्तिशाली व्यास, ॥ ३६ ॥

विश्वामित्रो भरद्वाजो जमदग्निस्तथैव च।
ऋचीकपौत्रो रामश्च ऋषिरौद्दालकिस्तथा ॥ ३७ ॥

विश्वामित्र, भरद्वाज, जमदग्नि, ऋचीकपौत्र राम, उद्दालकि ऋषि, ॥ ३७ ॥

श्वेतकेतुः कोहलश्च विपुलो देवलस्तथा।
देवशर्मा च धौम्यश्च हस्तिकाश्यप एव च ॥ ३८ ॥

श्वेतकेतु, कोहल, विपुल, देवल, देवशर्मा, धौम्य, हस्तिकाश्यप, ॥ ३८ ॥

लोमशो नाचिकेतश्च लोमहर्षण एव च।
ऋषिरुग्रश्रवाश्चैव भार्गवश्च्यवनस्तथा ॥ ३९ ॥

लोमश, नाचिकेत, लोमहर्षण, उग्रश्रवा ऋषि, भार्गव, च्यवन ॥ ३९ ॥

एष वै समवायस्ते ऋषिदेवसमन्वितः।
आद्यः प्रकीर्तितो राजन्सर्वपापप्रमोचनः ॥ ४० ॥

हे राजन्! यह सब पापोंका नाशक आद्य ऋषि और देवताओंका समुदाय संक्षेपसे प्रकीर्तित हुआ है ॥ ४० ॥

नृगो ययातिर्नहुषो यदुः पूरुश्च वीर्यवान्।
धुन्धुमारो दिलीपश्च सगरश्च प्रतापवान् ॥ ४१ ॥

नृग, ययाति, नहुष, यदु, वीर्यवान् पूरु, धुन्धुमार, दिलीप, प्रतापवान् सगर, ॥ ४१ ॥

कृशाश्वो यौवनाश्वश्च चित्राश्वः सत्यवांस्तथा।
दुःषन्तो भरतश्चैव चक्रवर्ती महायशाः ॥ ४२ ॥

कृशाश्व, यौवनाश्व, चित्राश्व, सत्यवान्, दुष्यन्त, महायशस्वी चक्रवर्ती भरत, ॥ ४२ ॥

पवनो जनकश्चैव तथा दृढरथो नृपः।
रघुर्नरवरश्चैव तथा दशरथो नृपः ॥ ४३ ॥

पवन, जनक, राजा दृढरथ, नरश्रेष्ठ रघु, राजा दशरथ, ॥ ४३ ॥

रामो राक्षसहा वीरः शशबिन्दुर्भगीरथः।
हरिश्चन्द्रो मरुत्तश्च जह्नुर्जाह्नविसेविता ॥ ४४ ॥

राक्षसोंके नाशक वीरश्रेष्ठ रामचन्द्र, शशबिन्दु, भगीरथ, हरिश्चन्द्र, मरुत्त, जाह्नवि सेविता जह्नु, ॥ ४४ ॥

महोदयो ह्यलर्कश्च ऐलश्चैव नराधिपः ।
करंधमो नरश्रेष्ठः कध्मोरश्च नराधिपः ॥ ४५ ॥

महोदय, अलर्क, नरनाथ ऐल, नरश्रेष्ठ करंधम, नराधिप कध्मोर, ॥ ४५ ॥

दक्षोऽम्बरीषः कुकुरो रवतश्च महायशाः ।
मुचुकुन्दश्च राजर्षिर्मित्रभानुः प्रियंकरः ॥ ४६ ॥

दक्ष, अम्बरीष, कुकुर, महायशस्वी रवत, राजर्षि मुचुकुन्द, प्रिय करनेवाले मित्रभानु ॥४६॥

त्रसदस्युस्तथा राजा श्वेतो राजर्षिसत्तमः ।
महाभिषश्च विख्यातो निमिराजस्तथाष्टकः ॥ ४७ ॥

राजा त्रसदस्यु, राजर्षिसत्तम श्वेत, विख्यात महाभिष, राजा निमि, अष्टक, ॥ ४७ ॥

आयुः क्षुपश्च राजर्षिः कक्षेयुश्च नराधिपः ।
शिबिरौशीनरश्चैव गयश्चैव नराधिपः ॥ ४८ ॥

आयु, राजर्षि क्षुप, नरनाथ कक्षेयु, शिबिर, औशीनर, नराधिप गय, ॥ ४८ ॥

प्रतर्दनो दिवोदासः सौदासः कोसलेश्वरः ।
ऐलो नलश्च राजर्षिर्मनुश्चैव प्रजापतिः ॥ ४९ ॥

प्रतर्दन, दिवोदास, कोसलराज सौदास, ऐल, राजर्षि नल, प्रजापति मनु, ॥ ४९ ॥

हविध्रश्च पृषध्रश्च प्रतीपः शंतनुस्तथा ।
कक्षसेनश्च राजर्षिर्ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ५० ॥

हविध्र, पृषध्र, प्रतीप, शन्तनु और राजर्षि कक्षसेन, ये तथा इनके अतिरिक्त जो वर्णित नहीं हुए हैं ॥ ५० ॥

मा विघ्नं मा च मे पापं मा च मे परिपन्थिनः ।
ध्रुवो जयो मे नित्यं स्यात्परत्र च परा गतिः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वाणि एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥ ६४४९ ॥

इन देवताओं, देवर्षियों और राजर्षियोंकी स्तुति तथा स्मरण करनेसे मुझे विघ्न प्राप्त न हो, मुझसे पाप न हो और मेरे शत्रु न होवें; मुझे सदा चिरस्थायी जय प्राप्त होवे और परलोकमें परम गति प्राप्त होवे ॥ ५१ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५१ ॥ ६४४९ ॥

: १६२ :

वैशम्पायन उवाच—

तूष्णींभूते तदा भीष्मे पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा व्यासः सत्यवतीसुतः ।
नृपं शयानं गाङ्गेयमिदमाह वचस्तदा ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर पितामह भीष्मके पटपर अङ्कित किये हुए चित्रके समान चुप होनेपर सत्यवतीपुत्र व्यासदेव मुहूर्तभर ध्यान करके उस समय सोये हुए नरनाथ गङ्गानन्दन भीष्मसे बोले ॥ १ ॥

राजन्प्रकृतिमापन्नः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पार्थिवैश्चानुयायिभिः ॥ २ ॥

हे राजन् ! कुरुराज युधिष्ठिर सब अनुयाई भाइयों और राजाओंके सहित प्रकृतिस्थ—संदेह रहित हुए हैं ॥ २ ॥

उपास्ते त्वां नरव्याघ्र सह कृष्णेन धीमता ।
तमिमं पुरयानाय त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे नरनाथ ! युधिष्ठिर बुद्धिमान् श्रीकृष्णके सहित आपकी सेवा कर रहे हैं; अब आप इन्हें नगरमें जानेके लिये अनुमति दे सकते हैं ॥ ३ ॥

एवमुक्तो भगवता व्यासेन पृथिवीपतिः ।
युधिष्ठिरं सहामात्यमनुजज्ञे नदीसुतः ॥ ४ ॥

पृथ्वीपति गङ्गानन्दन भीष्मदेवने भगवान् वेदव्यासका ऐसा वचन सुनके मन्त्रियोंके सहित युधिष्ठिरको जानेकी अनुमति दी ॥ ४ ॥

उवाच चैनं मधुरं ततः शांतनवो नृपः ।
प्रविशस्व पुरं राजन्व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५ ॥

अनन्तर शन्तनुनन्दन भीष्मने राजा युधिष्ठिरसे यह मधुर वचन कहा, हे राजन् ! अब तुम नगरमें जाओ; तुम्हारी मानसिक चिन्ता विनष्ट होवे, ॥ ५ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बह्वन्नैः स्वाप्तदक्षिणैः ।
ययातिरिव राजेन्द्र श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम ययातिकी भांति श्रद्धायुक्त और दान्त होकर बहुतसे अन्न और विपुल दक्षिणाओंसे युक्त विविध यज्ञोंके द्वारा यजन करो ॥ ६ ॥

क्षत्रधर्मरतः पार्थ पितॄन्देवांश्च तर्पय ।
श्रेयसा योक्ष्यसे चैव व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ७ ॥

हे पार्थ ! तुम क्षत्रियधर्ममें रत रहके पितरों और देवताओंको तृप्त करो; ऐसा करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा । तुम्हारा मानसिक दुःख नष्ट होवे, ॥ ७ ॥

रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय ।
सुहृदः फलसत्कारैरभ्यर्चय यथार्हतः ॥ ८ ॥

तुम सब प्रजाओंको संतुष्ट रखो, प्रकृतिगण—मन्त्रि आदि—को सब प्रकारसे धीरज दो; फल और सत्कारके सहारे सुहृदोंकी यथायोग्य संमानना करो ॥ ८ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा ।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः ॥ ९ ॥

हे तात ! मन्दिरके आसपासके स्थानमें स्थित फलयुक्त वृक्षका जैसे पक्षीवृन्द आश्रय किया करते हैं, वैसे ही तुम्हारे मित्र और सुहृद्जन तुम्हें अवलम्बन करके जीवन-निर्वाह करें ॥ ९ ॥

आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव ।
विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ॥ १० ॥

हे नृप ! सूर्य दक्षिणायनसे निवृत्त तथा उत्तरायणमें प्रवृत्त होनेपर मेरा समय उपस्थित होगा, उस समय तुम मेरे समीप आना ॥ १० ॥

तथेत्युक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽभिवाद्य पितामहम् ।
प्रययौ सपरीवारो नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥

फिर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर 'ऐसा ही करूंगा' इतना वचन कहके पितामहको प्रणाम करके परिवारके सहित हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च पतिव्रताम् ।
सह तैर्ऋषिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः केशवेन च ॥ १२ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ महाराज ! उन राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्र और पतिव्रता गान्धारीको आगे करके समस्त ऋषियों, भाइयों, श्रीकृष्ण, ॥ १२ ॥

पौरजानपदैश्चैव मन्त्रिवृद्धैश्च पार्थिवः ।
प्रविवेश कुरुश्रेष्ठ पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥ ६४६२ ॥

॥ समाप्तं दानधर्मपर्व ॥

पुरवासी और जनपदवासी लोगों तथा बूढे मन्त्रियोंके सहित हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ १३ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ बावनवां अध्याय समाप्त ॥ दानधर्मपर्व समाप्त ॥१५२॥६४६२॥

वैशम्पायन उवाच—

: १६७ :

ततः कुन्तीसुतो राजा पौरजानपदं जनम्।
पूजयित्वा यथान्यायमनुजज्ञे गृहान्प्रति ॥ १ ॥
श्रीवैशम्पायन मुनि बोले—अनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने पुरवासी और जनपदवासियोंका यथारीतिसे सम्मान करके उन्हें अपने घर जानेके निमित्त अनुमति दी ॥ १ ॥

सान्त्वयामास नारीश्च हतवीरा हतेश्वराः।
विपुलैरर्थदानैश्च तदा पाण्डुसुतो नृपः ॥ २ ॥
उस समय पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने जिन स्त्रियोंके पति और वीर पुत्र युद्धमें मारे गये थे, उन सबको बहुतसा धन देकर धीरज दिया ॥ २ ॥

सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः प्राप्य राज्यं युधिष्ठिरः।
अवस्थाप्य नरश्रेष्ठः सर्वाः स्वप्रकृतीस्तदा ॥ ३ ॥
महाप्राज्ञ नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने राज्याभिषेक होनेके बाद अपना राज्य पाके मन्त्री आदि सब प्रकृतियोंको अपने-अपने पदपर स्थापित किया ॥ ३ ॥

द्विजेभ्यो बलमुख्येभ्यो नैगमेभ्यश्च सर्वशः।
प्रतिगृह्याशिषो मुख्यास्तदा धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥
धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने पुरुषश्रेष्ठ वेदशास्त्र जाननेवाले, ब्राह्मणों और सेनापतियोंसे उत्तम आशीर्वाद ग्रहण किया ॥ ४ ॥

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान्पञ्चाशन्नगरोत्तमे।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥
फिर उस उत्तम नगरके बीच पचास रात्रि बास करके श्रीमान् पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिरको कौरवोंमें अग्रगण्य भीष्मदेवके बताये हुए समयका स्मरण हुआ ॥ ५ ॥

स निर्ययौ गजपुराद्याजकैः परिवारितः।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ॥ ६ ॥
सूर्यको दक्षिणायनसे निवृत्त और उत्तरायणमें प्रवृत्त देखकर वे याजकोंके बीच घिरकर हस्तिपुरसे बाहिर हुए ॥ ६ ॥

घृतं माल्यं च गन्धांश्च क्षौमाणि च युधिष्ठिरः ।
चन्दनागरुमुख्यानि तथा कालगरूणि च ॥ ७ ॥
प्रस्थाप्य पूर्वं कौन्तेयो भीष्मसंसाधनाय वै ।
माल्यानि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मदेवके दाह-संस्कारके निमित्त पहले ही घृत, माला, गन्ध, पटवस्त्र, चन्दन, अगरु प्रभृति कालागरु आदि, तथा महामूल्यवान् मालाएं और विविध रत्न भेज दिये थे ॥ ७-८ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
मातरं च पृथां धीमान्भ्रातृंश्च पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

धीमान् पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्र, यशस्विनी गान्धारी, माता पृथादेवी और भाइयोंको आगाडी करके ॥ ९ ॥

जनार्दनेनानुगतो विदुरेण च धीमता ।
युयुत्सुना च कौरव्यो युयुधानेन चाभिभो ॥ १० ॥

जनार्दन श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् विदुर, युयुत्सु और सात्यकिको साथ लेकर पीछेसे चल रहे थे ॥ १० ॥

महता राजभोग्येन परिबर्हेण संवृतः ।
स्तूयमानो महाराज भीष्मस्याग्नीननुव्रजन् ॥ ११ ॥

हे महाराज ! वे राजाओंके योग्य उत्तम उपकरण और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण थे; तथा स्तूयमान होते थे; वे भीष्मके संस्कारके अग्निका अनुगमन करते थे ॥ ११ ॥

निश्चक्राम पुरात्तस्माद्यथा देवपतिस्तथा ।
आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शांतनवं नृपम् ॥ १२ ॥

वे देवराजकी भांति उस नगरसे बाहिर हुए। अनन्तर वे कुरुक्षेत्रमें राजा शान्तनुपुत्र भीष्मके समीप उपस्थित हुए ॥ १२ ॥

उपास्यमानं व्यासेन पाराशर्येण धीमता ।
नारदेन च राजर्षे देवलेनासितेन च ॥ १३ ॥

हे राजर्षि ! उस समय पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासदेव, नारद और असित देवल, ऋषि उनके पास बैठे थे ॥ १३ ॥

हतशिष्टैर्नृपैश्चान्यैर्नानादेशसमागतैः ।
रक्षिभिश्च महात्मानं रक्ष्यमाणं समन्ततः ॥ १४ ॥

और मरनेसे बचे हुए अनेक देशोंके समागत राजा रक्षक बनकर महात्मा भीष्मको चारों ओरसे रक्षा करते थे ॥ १४ ॥

शयानं वीरशयने ददर्श स नृपतिस्ततः ।
ततो रथादवारोहद्भ्रातृभिः सह धर्मराट् ॥ १५ ॥

वीरशय्यापर सोये हुए भीष्मदेवको राजाने देखा; अनन्तर धर्मराज भाइयोंके सहित रथसे उतर पडे ॥ १५ ॥

अभिवाद्याथ कौन्तेयः पितामहमरिंदमम् ।
द्वैपायनादीन्विप्रांश्च तैश्च प्रत्यभिनन्दितः ॥ १६ ॥

शत्रुदमन कुरुश्रेष्ठ पितामहको कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने अभिवादन किया तथा द्वैपायन व्यास प्रभृति ब्राह्मणोंको प्रणाम किया; उन सब लोगोंने उन्हें अभिनन्दित किया ॥ १६ ॥

ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च भ्रातृभिश्च सहाच्युतः ।
आसाद्य शरतल्पस्थमृषिभिः परिवारितम् ॥ १७ ॥
अब्रवीद्भरतश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सह कौरव्य शयानं निम्नगासुतम् ॥ १८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ब्रह्माके समान तेजस्वी ऋत्विग्गण, भाइयों और श्रीकृष्णके सहित, ऋषियोंसे घिरकर शरशय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ गंगानन्दन भीष्मदेवसे भाईयों सहित इस प्रकार बोले— ॥ १७–१८ ॥

युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवीसुत ।
शृणोषि चेन्महाबाहो ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १९ ॥

हे नरनाथ जाह्नवीनन्दन ! मैं युधिष्ठिर आपको प्रणाम करता हूं । हे महाबाहो ! यदि आप सुनते हो, तो कहिये मैं आपका कौनसा कार्य करूं ? ॥ १९ ॥

प्राप्तोऽस्मि समये राजन्नग्नीनादाय ते विभो ।
आचार्या ब्राह्मणाश्चैव ऋत्विजो भ्रातरश्च मे ॥ २० ॥

हे राजन् ! विभु ! मैं अग्नि लेकर आपके समयपर उपस्थित हुआ हूं । आचार्य, ब्राह्मणगण, ऋत्विग्गण, मेरे सब भाई ॥ २० ॥

पुत्रश्च ते महातेजा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः
उपस्थितः सहामात्यो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥

आपके पुत्र महातेजस्वी प्रजानाथ धृतराष्ट्र मन्त्रियोंके सहित उपस्थित हैं; और वीर्यवान् श्रीकृष्ण भी यहां आये हुए हैं ॥ २१ ॥

हतशिष्टाश्च राजानः सर्वे च कुरुजाङ्गलाः ।
तान्पश्य कुरुशार्दूल समुन्मील्य लोचने ॥ २२ ॥

युद्धमें मरनेसे बचे हुए सब राजा और कुरुजाङ्गलके सब लोग आये हैं । हे कुरुश्रेष्ठ ! इस लिये आप दोनों नेत्र उघारके इन सबको देखिये ॥ २२ ॥

×

यच्चेह किंचित्कर्तव्यं तत्सर्वं प्रापितं मया ।
यथोक्तं भवता काले सर्वमेव च तत्कृतम् ॥ २३ ॥

इस समय जो कुछ कर्तव्य है, वह सब मैंने संग्रह किया है; समयपर आपने जो कुछ कहा था, वह सब कर्म मैंने सिद्ध किया है ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः कुन्तीपुत्रेण धीमता ।
ददर्श भारतान्सर्वान्स्थितान्संपरिवार्य तम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रका ऐसा वचन सुनके गङ्गानन्दन भीष्मदेवने नेत्र उघारके देखा, कि सब भारतगण उन्हें घेरकर खडे हैं ॥ २४ ॥

ततश्चलवलिर्भीष्मः प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।
ओघमेघस्वरो वाग्मी काले वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

अनन्तर हिलचाल करके वाग्मी भीष्मदेव युधिष्ठिरकी विशाल भुजा हाथमें लेकर मेघसदृश गम्भीर स्वरसे समयोचित बोले ॥ २५ ॥

दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर ।
परिवृत्तो हि भगवान्सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥ २६ ॥

हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! प्रारब्धसे ही तुम मन्त्रियोंके सहित उपस्थित हुए हो; भगवान् सहस्र किरणधारी दिवाकर अब उत्तरायणमें परिवृत्त हुए हैं ॥ २६ ॥

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥ २७ ॥

चोखे अग्र भागवाले बाणोंकी शय्यापर आज अट्ठावन रात्रिपर्यन्त मैं सोया हूं; परन्तु बोध होता है, मानो सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं ॥ २७ ॥

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः पुण्यो युधिष्ठिर ।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥ २८ ॥

हे युधिष्ठिर ! यह पुण्यमय माघ मास प्राप्त हुआ है, यह शुक्लपक्ष चल रहा है; इस महीनेका तीन भाग इस समय शेष है ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा तु गाङ्गेयो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
धृतराष्ट्रमथामन्त्र्य काले वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

भीष्मदेवने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे इतना वचन कहके धृतराष्ट्रको आमन्त्रण करके उस समयके अनुसार वचन कहने लगे ॥ २९ ॥

राजन्विदितधर्मोऽसि सुनिर्णीतार्थसंशयः ।
बहुश्रुता हि ते विप्रा बहवः पर्युपासिताः ॥ ३० ॥

हे राजन् ! तुम धर्मज्ञ हो, तुमने अर्थतत्त्वका उत्तम रीतिसे निर्णय किया है; शास्त्रोंके जाननेवाले बहुतेरे ब्राह्मणोंकी तुमने सेवा की है ॥ ३० ॥

वेदशास्त्राणि सर्वाणि धर्मांश्च मनुजेश्वर ।
वेदांश्च चतुरः साङ्गान्निखिलेनावबुध्यसे ॥ ३१ ॥

हे मनुजेश्वर ! तुम सूक्ष्म वेदशास्त्र, सब धर्मों और चारों वेदोंका रहस्य सम्पूर्ण रीतिसे जानते हो ॥ ३१ ॥

न शोचितव्यं कौरव्य भवितव्यं हि तत्तथा ।
श्रुतं देवरहस्यं ते कृष्णाद्वैपायनादपि ॥ ३२ ॥

हे कौरव ! इसलिये तुम्हें शोक करना उचित नहीं है; जो होनहार था, वह हुआ है । तुमने श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे वेदरहस्य भी सुना है ॥ ३२ ॥

यथा पाण्डोः सुता राजंस्तथैव तव धर्मतः ।
तान्पालय स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतान् ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! ये पाण्डव जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही धर्मसे तुम्हारे भी पुत्र ही हैं; इसलिये तुम धर्ममें तत्पर रहके उन गुरुजनोंकी सेवा करनेवाले पाण्डुपुत्रोंका अपने पुत्रवत् पालन करो ॥ ३३ ॥

धर्मराजो हि शुद्धात्मा निदेशे स्थास्यते तव ।
आनृशंस्यपरं ह्येनं जानामि गुरुवत्सलम् ॥ ३४ ॥

शुद्धचित्त धर्मराज तुम्हारे आज्ञावर्ती रहेंगे, ये बहुत दयालु स्वभाववाले हैं और ये गुरुजनोंके प्रति प्रेम रखते हैं ॥ ३४ ॥

तव पुत्रा दुरात्मानः क्रोधलोभपरायणाः ।
ईर्ष्याभिभूता दुर्वृत्तास्तान्न शोचितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पुत्र अत्यंत दुरात्मा, क्रोधी, लोभी, ईर्षायुक्त और दुराचारी थे; इसलिये उनके निमित्त तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतावदुक्त्वा वचनं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
वासुदेवं महाबाहुमभ्यभाषत कौरवः ॥ ३६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कौरवश्रेष्ठ भीष्मदेव, मनीषी धृतराष्ट्रसे इतनी कथा कहके, फिर महाबाहु भगवान् वासुदेवसे कहने लगे ॥ ३६ ॥

भगवन्देवदेवेश सुरासुरनमस्कृत ।
त्रिविक्रम नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ॥ ३७ ॥

हे देवदेवेश्वर सुरासुरनमस्कृत शङ्खचक्रगदाधारी त्रिविक्रम भगवन् ! तुम्हें नमस्कार है ॥ ३७॥

अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ।
रक्ष्याश्च ते पाण्डवेया भवान्ह्येषां परायणम् ॥ ३८ ॥

हे वैकुण्ठ ! पुरुषोत्तम ! श्रीकृष्ण ! मुझे जानेकी अनुमति दो, आप जिनके परम आश्रय हैं, उन पाण्डवोंकी सदा रक्षा करिये ॥ ३८ ॥

उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं पुरा ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३९ ॥

पहले मैंने दुर्बुद्धि मूर्ख दुर्योधनसे कहा था, कि जिस पक्षमें श्रीकृष्ण हैं, वहां ही धर्म है; जहां धर्म है, उस ही पक्षमें जय है ॥ ३९ ॥

वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः ।
संधानस्य परः कालस्तवेति च पुनः पुनः ॥ ४० ॥

हे तात ! भगवान् वासुदेवकी सहायतासे पाण्डवोंके संग सन्धि स्थापित करो; यह सन्धि करनेके लिये उत्तम समय आया है । मेरे बार बार ऐसा कहनेपर भी ॥ ४० ॥

न च मे तद्वचो मूढः कृतवान्स सुमन्दधीः ।
घातयित्वेह पृथिवीं ततः स निधनं गतः ॥ ४१ ॥

मन्दबुद्धि मूढ दुर्योधनने मेरा वचन न माना । इस पृथ्वीके सब राजाओंको मरवाकर स्वयं मृत्युको प्राप्त हुआ है ॥ ४१ ॥

त्वां तु जानाम्यहं वीर पुराणमृषिसत्तमम् ।
नरेण सहितं देवं बदर्यां सुचिरोषितम् ॥ ४२ ॥

हे वीर ! मैं तुम्हें बदरिकाश्रममें नरके सहित बहुत कालतक निवास करनेवाले पुराण ऋषि-सत्तम नारायण करके जानता हूं ॥ ४२ ॥

तथा मे नारदः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ।
नरनारायणावेतौ संभूतौ मनुजेष्विति ॥ ४३ ॥

नारद मुनि और महातपस्वी व्यासदेवने मुझसे कहा था, कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन सत्यथ नारायण और नर मनुष्य लोकमें अवतार लिये हैं ॥ ४३ ॥

वासुदेव उवाच—

अनुजानामि भीष्म त्वां वसूनाप्नुहि पार्थिव ।
न तेऽस्ति वृजिनं किंचिन्मया दृष्टं महाद्युते ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र बोले— हे राजन् भीष्म ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं, तुम्हें समस्त वसुलोक प्राप्त हों । हे महातेजस्वी ! इस लोकमें तुम्हारा तनिक भी पाप मैंने देखा नहीं है ॥ ४४ ॥

पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः ।
तेन मृत्युस्तव वशे स्थितो भृत्य इवानतः ॥ ४५ ॥

हे राजर्षे ! तुम द्वितीय मार्कण्डेय सदृश पितृभक्त हो, क्योंकि मृत्यु दासीकी भांति सिर झुकाके तुम्हारे वशमें हो रही है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रमुखांश्चापि सर्वान्ससुहृदस्तथा ॥ ४६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— गंगानन्दन भीष्मदेव श्रीकृष्णका ऐसा वचन सुनके पाण्डव तथा धृतराष्ट्र प्रभृति समस्त सुहृदोंसे कहने लगे ॥ ४६ ॥

प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छामि तन्मानुज्ञातुमर्हथ ।
सत्ये प्रयतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम् ॥ ४७ ॥

" मैं प्राण परित्याग करनेके लिये अभिलाषी हुआ हूं; तुम सब लोग मुझे आज्ञा करो । तुम लोग सदा सत्यमें यत्नवान् रहना, सत्य ही परम श्रेष्ठ बल है ॥ ४७ ॥

आनृशंस्यपरैर्भाव्यं सदैव नियतात्मभिः ।
ब्रह्मण्यैर्धर्मशीलैश्च तपोनित्यैश्च भारत ॥ ४८ ॥

हे भारत ! तुम लोग सदा दयालुतापरायण, नियतचित्त, ब्रह्मनिष्ठ, धर्मशील और तपमें रत होना " ॥ ४८ ॥

इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान्संपरिष्वज्य चैव ह ।
पुनरेवाब्रवीद्धीमान्युधिष्ठिरमिदं वचः ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान् भीष्मदेव सब सुहृदोंसे इतनी कथा कहके सबको आलिङ्गन करके फिर युधिष्ठिरसे यह वचन बोले ॥ ४९ ॥

ब्राह्मणाश्चैव ते नित्यं प्राज्ञाश्चैव विशेषतः ।
आचार्या ऋत्विजश्चैव पूजनीया नराधिप ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥ ६५१२ ॥

हे प्रजानाथ ! ब्राह्मणगण, विशेषतः प्राज्ञजन, आचार्य और ऋत्विग्गण सदा सर्वदा तुम्हारे पूजनीय हैं ॥ ५० ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ तिरपनवां अध्याय समाप्त ॥ १५३ ॥ ६५१२ ॥

*

: १६८ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान्भीष्मः शांतनवस्तदा ।
तूष्णीं बभूव कौरव्यः स मुहूर्तमरिंदम ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे अरिदमन कुरुनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ शान्तनुपुत्र भीष्मने उस समय सब कौरवोंसे इसी प्रकार कहके मुहूर्तभर मौनावलम्बन किया ॥ १ ॥

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम् ।
तस्योर्ध्वमगमन्प्राणाः संनिरुद्धा महात्मनः ॥ २ ॥

अनन्तर यथाक्रमसे मूल धारादि अधिष्ठानमें मनके सहित प्राणादि वायुको धारण करनेसे उस महात्माका प्राणादिवायु सम्यक् निरुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी हुए ॥ २ ॥

इदमाश्चर्यमासीच्च मध्ये तेषां महात्मनाम् ।
यद्यन्मुञ्चति गात्राणां स शंतनुसुतस्तदा ।
तत्तद्विशल्यं भवति योगयुक्तस्य तस्य वै ॥ ३ ॥

उन सब महात्माओंके बीच उनके देखते रहनेपर एक आश्चर्य हुआ । शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय जिस जिस अवयवोंके प्राणोंको परित्याग करने लगे, उस योगयुक्त महानुभावका वह अङ्ग विशल्य हुआ ॥ ३ ॥

क्षणेन प्रेक्षतां तेषां विशल्यः सोऽभवत्तदा ।
तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे वासुदेवपुरोगमाः ।
सह तैर्मुनिभिः सर्वैस्तदा व्यासादिभिर्नृप ॥ ४ ॥

हे राजन् ! क्षणभरमें सबके सम्मुखमें ही वह विशल्य हुए । भगवान् वासुदेव प्रभृति व्यासादि मुनियोंके सहित सब कोई उसे देखकर विस्मित होरहे ॥ ४ ॥

संनिरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै ।
जगाम भित्त्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात च ॥ ५ ॥

उन्होंने सब अवयवोंमें प्राणसंयुक्त मनको निरोध करके मस्तक भेदकर स्वर्गमें गमन किया ॥ ५ ॥

महोल्केव च भीष्मस्य मूर्धदेशाज्जनाधिप ।
निःसृत्याकाशमाविश्य क्षणेनान्तरधीयत ॥ ६ ॥

हे प्रजानाथ ! भीष्मदेवका प्राण उनके मस्तकसे महान् उल्काकी भांति निकलकर आकाशमें प्रवेश करते हुए क्षणभरके बीच अन्तर्हित हुआ ॥ ६ ॥

एवं स नृपशार्दूल नृपः शांतनवस्तदा ।
समयुज्यत लोकैः स्वैर्भरतानां कुलोद्वहः ॥ ७ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! इस ही प्रकार वह भरतकुलधुरन्धर नरनाथ शान्तनुनन्दन उस समय अपने लोकोंमें संयुक्त हुए ॥ ७ ॥

ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान्बहून् ।
चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा ।
युयुत्सुश्चापि कौरव्यः प्रेक्षकास्त्वितरेऽभवन् ॥ ८ ॥

अनन्तर महानुभाव पाण्डव, विदुर और युयुत्सुने बहुतसा काष्ठ और विविध सुगन्धि लाकर चिता बनाई, और सब लोग देखने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरस्तु गाङ्गेयं विदुरश्च महामतिः ।
छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवम् ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर और अत्यन्त श्रेष्ठ महाबुद्धिमान् विदुर इन दोनोंने कुरुश्रेष्ठ भीष्मको रेशमी वस्त्रों और मालाओंसे आच्छादित किया ॥ ९ ॥

धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम् ।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ ।
उष्णीषे पर्यगृह्णीतां माद्रीपुत्रावुभौ तदा ॥ १० ॥

युयुत्सुने उनके ऊपर उत्तम छत्र धारण किया । भीमसेन और अर्जुन, दोनों सफेद चवंर लेकर डुलाने लगे । माद्रीपुत्र नकुल और सहदेवने पगडी उनके मस्तकपर रखी ॥१०॥

स्त्रियः कौरवनाथस्य भीष्मं कुरुकुलोद्भवम् ।
तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्समन्ततः ॥ ११ ॥

कौरवराजकी स्त्रियां कुरुकुलधुरन्धर भीष्मदेवके शरीरपर सब ओरसे तालका पंखा सञ्चालन करने लगीं ॥ ११ ॥

ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः ।
याजका जुहुवुश्चाग्निं जगुः सामानि सामगाः ॥ १२ ॥

अनन्तर सबने उस महात्माका विधिपूर्वक पितृमेध कर्म सम्पन्न किया; याजकोंने अग्निमें यजन किया; सामगान करनेवाले ब्राह्मण सामगन्त्रोंका गान करने लगे ॥ १२ ॥

ततश्चन्दनकाष्ठैश्च तथा कालेयकैरपि ।
कालागरुप्रभृतिभिर्गन्धैश्चोच्चावचैस्तथा ॥ १३ ॥

अनन्तर धृतराष्ट्र प्रभृति राजाओंने चन्दनकी लकडी और कालेयक, कालागरु आदि अनेक प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओंसे ॥ १३ ॥

समवच्छाद्य गाङ्गेयं प्रज्वाल्य च हुताशनम् ।
अपसव्यमकुर्वन्त धृतराष्ट्रमुखा नृपाः ॥ १४ ॥

गङ्गानन्दनको आच्छादित करके अग्नि जलाकर, सबने चिताकी प्रदक्षिणा की ॥ १४ ॥

संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः ।
जग्मुर्भागीरथीतीरमृषिजुष्टं कुरूद्वहाः ॥ १५ ॥

कुरुश्रेष्ठ भीष्मका दाह संस्कार करके कुरुकुलधुरन्धर कुरुसत्तमगण ऋषियोंसे सेवित पवित्र भागीरथीके तटपर गये ॥ १५ ॥

अनुगम्यमाना व्यासेन नारदेनासितेन च ।
कृष्णेन भरतस्त्रीभिर्ये च पौराः समागताः ॥ १६ ॥

महर्षि व्यासदेव, नारद, श्रीकृष्ण, भरतकुलकी स्त्रियां और जो सब पुरवासी वहांपर इकट्ठे हुए थे, वे सब कोई उनका अनुगमन करने लगे ॥ १६ ॥

उदकं चक्रिरे चैव गाङ्गेयस्य महात्मनः ।
विधिवत्क्षत्रियश्रेष्ठाः स च सर्वो जनस्तदा ॥ १७ ॥

अनन्तर वहां पहुंचकर उन क्षत्रियश्रेष्ठ और दूसरे सब लोगोंने विधिपूर्वक महात्मा भीष्म देवका तर्पण किया ॥ १७ ॥

ततो भागीरथी देवी तनयस्योदके कृते ।
उत्थाय सलिलात्तस्माद्रुदती शोकलालसा ॥ १८ ॥

अनन्तर गङ्गादेवी अपने पुत्र भीष्मका तर्पण होनेपर उस जलके ऊपर प्रकट हुई और रोदन करती हुई शोकसे विह्वल होकर ॥ १८ ॥

परिदेवयती तत्र कौरवानभ्यभाषत ।
निबोधत यथावृत्तमुच्यमानं मयानघाः ॥ १९ ॥

विलाप करते करते कौरवोंसे बोली, हे निष्पापगण ! जो घटना हुई है उसे मैं कहती हूं, सब कोई सुनो ॥ १९ ॥

राजवृत्तेन संपन्नः प्रज्ञयाभिजनेन च ।
सत्कर्ता कुरुवृद्धानां पितृभक्तो दृढव्रतः ॥ २० ॥

मेरा पुत्र राजचरित्रसे सम्पन्न, प्रज्ञा और श्रेष्ठ कुलसे सम्पन्न था; कुरुकुल वृद्ध पुरुषोंका सत्कार करनेवाला पितृभक्त और दृढव्रती था ॥ २० ॥

जामदग्न्येन रामेण पुरा यो न पराजितः ।
दिव्यैरस्त्रैर्महावीर्यः स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ २१ ॥

पहले जमदग्निपुत्र परशुराम अपने दिव्य अस्त्रोंसे जिस मेरे महापराक्रमी पुत्रको पराजित नहीं कर सके, आज वही शिखण्डीके द्वारा मारा गया ॥ २१ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम पार्थिवाः ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं यत्र दीर्यति मेऽद्य वै ॥ २२ ॥

हे नृपगण ! मेरा हृदय निश्चयही पाषाण और लोहेका बना हुआ है, क्योंकि उस मेरे प्रिय पुत्रको न देखकर जो आज विदीर्ण हुआ है ॥ २२ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां स्वयंवरे ।
विजित्यैकरथेनाजौ कन्यास्ता यो जहार ह ॥ २३ ॥

काशीपुरीके बीच स्वयंवरमें इकट्ठे हुए समस्त क्षत्रिय राजाओंको एक रथसेही युद्धमें जीतकर जिसने तीनों कन्याओंको हरण किया था ॥ २३ ॥

यस्य नास्ति बले तुल्यः पृथिव्यामपि कश्चन ।
हतं शिखण्डिना श्रुत्वा यन्न दीर्यति मे मनः ॥ २४ ॥

पृथ्वीपर जिसके समान बलशाली और कोई भी न था, वह पुत्र शिखण्डीके हाथसे मारा गया है, इस बातको सुनके मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हुआ ! ॥ २४ ॥

जामदग्न्यः कुरुक्षेत्रे युधि येन महात्मना ।
पीडितो नातियत्नेन निहतः स शिखण्डिना ॥ २५ ॥

कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें जामदग्न्य राम जिस महात्माके द्वारा सहजमें ही पीडित हुए थे, आज वह शिखण्डीके द्वारा मारा गया ॥ २५ ॥

एवंविधं बहु तदा विलपन्तीं महानदीम् ।
आश्वासयामास तदा साम्ना दामोदरो विभुः ॥ २६ ॥

महानदी गङ्गाके उस समय इस ही प्रकार बहुत विलाप करते रहनेपर, भगवान् श्रीकृष्णने उसे सान्त्वना वाक्यसे धीरज दिया ॥ २६ ॥

समाश्वसिहि भद्रे त्वं मा शुचः शुभदर्शने ।
गतः स परमां सिद्धिं तव पुत्रो न संशयः ॥ २७ ॥

हे प्रियदर्शने भद्रे ! तुम धीरज धरो, शोक मत करो; तुम्हारा वह पुत्र परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ २७ ॥

वसुरेष महातेजाः शापदोषेण शोभने ।
मनुष्यतामनुप्राप्तो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २८ ॥

हे शोभने ! यह भीष्म महातेजस्वी वसु थे, वसिष्ठके शापदोषसे इन्हें मनुष्यत्व प्राप्त हुआ था; इसलिये इनके निमित्त शोक करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ २८ ॥

स एष क्षत्रधर्मेण युध्यमानो रणाजिरे ।
धनंजयेन निहतो नैष नुन्नः शिखण्डिना ॥ २९ ॥

यह क्षत्रियधर्मके अनुसार रणभूमिमें संग्राम करते हुए अर्जुनके द्वारा मारे गये हैं। शिखण्डीने उनको निश्चित नहीं मारा है ॥ २९ ॥

भीष्मं हि कुरुशार्दूलमुद्यतेषुं महारणे ।
न शक्तः संयुगे हन्तुं साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ३० ॥

कुरुश्रेष्ठ भीष्मदेवके महायुद्धमें बाण उद्यत करके स्थित होनेपर साक्षात् शतक्रतु इन्द्र भी उनको मारनेमें समर्थ नहीं थे ॥ ३० ॥

स्वच्छन्देन सुतस्तुभ्यं गतः स्वर्गं शुभानने ।
न शक्ताः स्युर्निहन्तुं हि रणे तं सर्वदेवताः ॥ ३१ ॥

हे शुभानने ! तुम्हारे पुत्र स्वेच्छासे ही स्वर्गमें गये हैं, युद्धमें समस्त देवता भी उनको मारनेमें समर्थ नहीं थे ॥ ३१ ॥

तस्मान्मा त्वं सरिच्छ्रेष्ठे शोचस्व कुरुनन्दनम् ।
वसूनेव गतो देवि पुत्रस्ते विज्वरा भव ॥ ३२ ॥

हे सरिताओंमें श्रेष्ठ गंगादेवि ! इसलिये तुम कुरुनन्दन भीष्मके निमित्त शोक मत करो। ये तुम्हारे पुत्र वसुलोकमें गये हैं । हे देवि ! तुम शोकरहित हो जाओ ॥ ३२ ॥

इत्युक्ता सा तु कृष्णेन व्यासेन च सरिद्वरा ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज स्वं वार्यवततार ह ॥ ३३ ॥

हे महाराज ! नदियोंमें श्रेष्ठ जाह्नवी, श्रीकृष्ण और व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके शोक-रहित होके अपने जलमें उतर गयी ॥ ३३ ॥

सत्कृत्य ते तां सरितं ततः कृष्णमुखा नृपाः ।
अनुज्ञातास्तया सर्वे न्यवर्तन्त जनाधिपाः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥
॥ समाप्तं भीष्मस्वर्गारोहणपर्व ॥ ६५४६ ॥ समाप्तमनुशासनपर्व ॥

श्रीकृष्ण प्रभृति सब कोई उस समय उन गंगाका सत्कार करके तथा उनकी आज्ञा लेकर वहांसे निवृत्त हुए ॥ ३४ ॥

महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक सौ चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ १५४ ॥
॥ भीष्म स्वर्गारोहणपर्व समाप्त ॥ ६५४६ ॥

अनुशासनपर्व सम्पूर्ण